जैन धर्म में दान

एक समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

सम्पादक

श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक

श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय

श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय पुष्प : ८८

राजस्थानकेशरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन समारोह
के उपलक्ष्य मे प्रकाशित

☐ जैनधर्म मे दान एक समीक्षात्मक अध्ययन

☐ लेखक
उपाध्याय श्री पुष्करमुनि

☐ भूमिका
श्री विजयमुनि शास्त्री

☐ सम्पादक
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

☐ पृष्ठ सख्या ५९६

☐ प्रथमावृत्ति
वि० स० २०३४, आश्विन शुक्ला चतुर्दशी
अक्टूबर १९७७

☐ मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–४

☐ अभिनन्दन समारोह के उपलक्ष्य मे प्राप्त सहयोग से रियायती मूल्य
मात्र बीस रुपये
Rs. 20/ Only

प्रकाशक की ओर से

अपने विचारशील पाठकों के पाणि-पद्मों में "जैन धर्म में दान : एक समीक्षात्मक अध्ययन" प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है।

'दान' दो अक्षरों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण शब्द है जो हृदय को विराट् बनाता है, मन को विशाल बनाता है और जीवन को निर्मल बनाता है। भारतीय धर्म-दर्शन, और संस्कृति में दान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। दान धर्म का प्रवेश द्वार है। बिना दान दिये धर्म में प्रवेश नहीं हो सकता। दान से आत्मा का अन्धकार नष्ट होता है। अन्तर के अन्धकार को नष्ट करने के लिए दान सूर्य के समान है। कलियुग में दान से बढ़कर धर्म नहीं है। एक पाश्चात्य विचारक ने लिखा है—They who scatter with one hand, gather with two; Nothing multiplies so much as kindness. अर्थात् जो एक हाथ से बाँटता है वह दोनों हाथों से प्राप्त कर लेता है, दया-दान की तरह वृद्धि पाने वाली अन्य वस्तु नहीं है। विश्व में दान के सदृश अन्य कोई वस्तु नहीं है जिसका गुणाकार होता हो। एक अन्य विचारक ने भी कहा है—The hand that gives, gathers अर्थात् जो अपने हाथ से दान देता है वह इकट्ठा करता है। अतः दान का गहरा महत्त्व है।

परमश्रद्धेय उपाध्याय अध्यात्मयोगी प्रसिद्धवक्ता श्री पुष्कर मुनि जी महाराज वर्तमान युग के एक प्रसिद्ध विचारक सन्त हैं। ध्यानयोग तथा साधना के क्षेत्र में उनकी विशिष्ट उपलब्धि है। वे गम्भीर विद्वान्, गहन आत्मज्ञानी, ओजस्वी वक्ता, प्रखर कवि, विशिष्ट चिन्तक और सुलेखक हैं। आपश्री की प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर है। जब किसी भी विषय पर आप बोलते हैं तो श्रोता आपके अमृतोपम वचनों को सुनते हुए कभी भी थकावट या व्यग्रता का अनुभव नहीं करते। गम्भीर से गम्भीर विषय को इतना सुन्दर, सरस, सरल और मधुर बनाकर प्रस्तुत करते हैं कि श्रोता झूम उठते हैं।

धर्म का कल्पवृक्ष, श्रावक धर्मदर्शन, संस्कृति के स्वर, रामराज्य, मिणखपणा रो मोल, ओंकार एक अनुचिन्तन आदि आपश्री के प्रवचनों की अनूठी पुस्तकें हैं जिनमें विविध विषयों का सांगोपांग विवेचन है। उनका सम्पादन श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री द्वारा हुआ है जो सोने में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आपश्री के द्वारा समय-समय पर किये गये दान सम्बन्धी प्रवचनों का संकलन, आकलन और सम्पादन है। जहाँ एक ओर गम्भीर विश्लेपण है

वहाँ दूसरी ओर रूपक, दृष्टान्त आदि के द्वारा विषय को स्पष्ट किया गया है। प्रत्येक प्रवचन मे आपश्री की गम्भीर विद्वत्ता झलक रही है। दान के सम्बन्ध में बहुत प्रचलित भ्रांतियाँ और अज्ञानमूलक धारणाओं का निरसन किया है। और दान के सम्बन्ध मे अपने मौलिक विचार भी रखे हैं जो नयी पीढ़ी के विचारशील युवकों के लिए पठनीय और मननीय है। दान के सम्बन्ध मे आज तक जो कुछ लिखा गया संक्षिप्त ही था, किन्तु दान के सम्बन्ध मे सर्वांगीण दृष्टिकोण से आज तक लिखने का प्रयत्न नहीं हुआ। वस्तुत यह अपने विषय का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है—यदि यह कह दिया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक हैं देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री जो गुरुदेव श्री के प्रधान अन्तेवासी हैं। और दूसरे सम्पादक हैं श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' जो सम्पादन कला मे दक्ष हैं। इन सम्पादकों ने तो इन प्रवचनो का विस्तारपूर्ण सम्पादन कर इसे एक शोध प्रबन्ध का ही रूप दे दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन मे स्नेहमूर्ति मुनि श्री नेमिचन्द्र जी का भी हार्दिक सहयोग मिला है।

प्रसिद्ध विचारक सन्त श्री विजय मुनि जी शास्त्री ने महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखकर ग्रन्थ की गरिमा मे वृद्धि की है, हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे हमे जिन दानी महानुभावो का आर्थिक सहयोग सम्प्राप्त हुआ है, उसे भी हम विस्मृत नहीं हो सकते जिसके कारण ग्रन्थ शीघ्र मुद्रित हो सका है। हम उन सभी का हार्दिक आभार मानते हैं जिसके कारण ग्रन्थ प्रकाश मे आ सका।

पूज्य गुरुदेव श्री की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के सुनहले अवसर पर श्री तारक गुरु ग्रन्थालय ने महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठ ग्रन्थो का प्रकाशन कर अपने श्रद्धा के सुमन प्रस्तुत किये हैं। उसी लडी की कडी मे प्रस्तुत ग्रन्थरत्न भी है। इस सुनहरे अवसर पर गुरुदेव श्री की कथाएँ, काव्य, निबन्ध और प्रवचन साहित्य का प्रकाशन करना हमारा लक्ष्य है। और हमे आह्लाद है कि हम अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ रहे हैं। जैन कथाओ के तीस भाग, ज्योतिर्धर जैनाचार्य, विमल विभूतियाँ, जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा, शूली और सिंहासन, सोना और सुगन्ध, जम्बूस्वामी, ऋषभदेव एक परिशीलन, अमर ज्योति आदि ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। तथा अन्य अनेक ग्रन्थ प्रेस मे हैं जो शीघ्र ही प्रकाशित होंगे।

आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थरत्न का सर्वत्र स्वागत होगा—इसी आशा और विश्वास के साथ यह ग्रन्थरत्न समर्पित कर रहे हैं।

मन्त्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

सम्पादकीय

भगवान महावीर का प्रथम समवसरण मध्यमपावापुरी में हुआ। भारतवर्ष के दिग्गज वैदिक विद्वान इन्द्रभूति गौतम विजिगीषु बनकर समवसरण में आये। जैसे-जैसे वे प्रभु के निकट आये विनम्र होते गये। श्रमण भगवान महावीर ने गौतम के अन्तर् मन में छुपे सन्देह का निराकरण करते हुए कहा—'गौतम ! जीव के अस्तित्व के विषय में क्या तुम अभी भी सन्देहशील हो ? जबकि तुम्हारे अधीत वेद व उपनिषद् के वाक्य स्पष्ट ही उसका अस्तित्व घोषित करते हैं।' उदाहरण देकर महावीर ने बताया—'उपनिषद् के एक प्रसंग में कहा है—देव-असुर-मनुष्यों ने मिलकर एक बार ब्रह्मा से पूछा—हमें कर्तव्य-ज्ञान दीजिए। हम क्या करें ?"

ब्रह्मा ने 'द' 'द' 'द' की ध्वनि की देवताओं ने इसका आशय समझा 'इन्द्रिय-दमन' करो। असुरों ने इसका अर्थ लगाया—जीवों पर 'दया' करो। मनुष्यों को बोध प्राप्त हुआ—'दान' करो (बांटकर खाओ)।

"गौतम ! दमन, दया और दान—कौन करेगा ? अगर जीव (आत्मा) न होगा।"......प्रसंग लम्बा है, अन्त में प्रवुद्ध गौतम महावीर के शिष्य बन गये।

इस प्रस्तावना के बाद हम कहना चाहते हैं कि मनुष्यों के लिए 'दान' का उपदेश सृष्टि का सर्वप्रथम उपदेश माना गया है। 'दान' मनुष्य के सहअस्तित्व, सामाजिकता और अन्तर् मानवीय सम्बन्धों का मूल घटक है। कहीं वह 'संविभाग', कहीं 'सम-विभाग' कहीं त्याग, और कहीं 'सेवा' के रूप में प्रकट होता है। 'दान' इसलिए नहीं दिया जाता कि इससे व्यक्ति बड़ा बनता है, प्रतिष्ठा पाता है, या उसके अहंकार की तृप्ति होती है, अथवा परलोक में स्वर्ग, अप्सराएँ तथा समृद्धि मिलती है। किन्तु 'दान' में आत्मा की करुणा, स्नेह, सेवा, बंधुत्व जैसी पवित्र भावनाएँ लहराती हैं, दान में मनुष्य की मनुष्यता तृप्त होती है, देवत्व की जागृति होती है और ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति जगती है।

यह कहना कि 'दान' का महत्व भारतवर्ष में ही अधिक है, गलत होगा। संसार के प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय अथवा धार्मिक आस्था से रहित समाज में भी दान की परम्परा है, रही है और इसकी आवश्यकता तथा उपयोगिता मानी जाती है। हाँ, चूंकि भारतीय मनीषा प्रारम्भ से ही चिन्तनशील व वैज्ञानिक रही है, अतः वह किसी भी वस्तु को धर्म मानकर उसका अन्धानुकरण नहीं करती, अपितु उस पर दार्शनिक और तार्किक दृष्टि से भी विचार करती है। उसके स्वरूप प्रक्रिया, विधि, देश-कालानुसार उपयोगिता, गुण-दोष आदि समस्त पहलुओं पर चिन्तन कर धर्म-अधर्म का

निर्णय करने मे भारतीय चिन्तन विश्व मे सदा अग्रणी रहे हैं। 'दान' जैसे जीवन और जगत् से अटूट सम्बन्ध रखने वाले विषय पर भी भारतीय विचारकों ने और खासकर जैन मनीषियों ने व्यापक चिन्तन किया है, तर्क-वितर्क कर उसमे गुत्थियाँ पैदा भी की हैं और उन्हें सुलझाई भी है।

'दान' को अमृत और मुक्ति का प्रथम सोपान कहने वाले जैन आचार्यों ने 'दान' के सम्बन्ध में जो चिन्तन प्रस्तुत किया है जो बहुमुखी विचार-चर्चाएँ की हैं वह भारतीय विचार साहित्य की अद्वितीय निधि कही जा सकती है। वैसे तो अनेकांतवादी जैन मनीषियों का यह जन्मसिद्ध विचार है—"अनेकधर्मात्मक वस्तु" वस्तु, पदार्थ के अनेक पहलू होते हैं, तब फिर यह सहज ही है कि वे प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलुओ पर विचार करें, उसे अनेक दृष्टिकोणो से परखें, पहचानें और गहराई तक जाकर उसकी छानबीन कर सभी स्वरूपों का विवेचन करे—एक निष्ठावान वैज्ञानिक की भाँति।

उपाध्याय अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी श्री पुष्कर मुनि जी महाराज जैन धर्म और दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् महान् चिन्तक हैं। जैन समाज आपश्री के शील-स्वभाव और गम्भीर विद्वत्ता से भलीभाँति परिचित हैं। आपश्री अपने युग के सुप्रसिद्ध दार्शनिक, विचारक और तत्वचिन्तक हैं। आपश्री जब किसी भी विषय पर बोलते हैं या लिखते हैं तो साधिकार लिखते हैं, उस विषय के अन्तस्तल तक पहुँचते हैं, और अन्तस्तल तक पहुँचकर अपनी प्रखर प्रतिभा से देखते हैं कि इसमें तर्कसंगत कितना तथ्य है और तर्कहीन कितना। तर्कहीन की उपेक्षा कर तर्कसंगत सत्य और तथ्यों को अभिव्यक्ति देते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे गुरुदेवश्री के द्वारा समय समय पर दिये गये दान सम्बन्धी प्रवचनो का सकलन है। और कुछ उनके निबन्ध तथा दान के सम्बन्ध म लिखे गये उनकी डायरियो के नोट्स के आधार पर विवेचन तैयार किया गया है। इस प्रकार दान सम्बन्धी सम्पूर्ण विचारधारा जो सद्गुरुदेवश्री की थी, उसका आकलन इसमे किया गया है। सद्गुरुदेवश्री के विचारो को व उनके गम्भीर चिन्तन को व्यवस्थित रूप देना हमारा कार्य रहा है। इस सम्पादन कार्य म पण्डित प्रवर स्नेह सौजन्यमूर्ति मुनिश्री नेमिचन्द्र जी म० का अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ है। अत. हम उन्हें भी साधुवाद प्रदान करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड मे दान के विविध लाभ, उसकी गौरव गरिमा आदि विषयो पर विचार किया गया है। जैन एव जैनेतर विचारको ने दान की महिमा पर भरपूर लिखा है। उन्होंने विविध लाभो पर चिन्तन करते हुए पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय हितो पर भी विचार करते हुए यह बताया है कि दान सम्पूर्ण मानव जाति का आधारभूत तत्त्व है। मानव का ही नहीं, पशु-पक्षियो का भी वह जीवन तत्त्व है। दान के बिना उनकी जीवन गति ही अवरुद्ध

हो जाती है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा—दान देना ही आमदनी का एकमात्र द्वार है। पाश्चात्य चिन्तक विक्टर ह्यूगो ने लिखा है—ज्यों-ज्यों धन की थैली दान में खाली होती है दिल भरता जाता है—As the purse is emptied the heart is filled. अतः Give without a Thought. "कुछ भी विचार किये बिना देते जाओ।" प्रार्थना मन्दिर में जाकर प्रार्थना के लिए सौ बार हाथ जोड़ने के बजाय एक बार दान के लिए हाथ ऊपर उठाना अधिक महत्त्वपूर्ण है

द्वितीय खण्ड में दान की परिभाषा और उसके भेदोपभेद पर विचार किया गया है। भगवान महावीर से लेकर वर्तमान तक दान की जितनी महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ की गयी हैं उन पर व्यापक दृष्टि से चिन्तन-मनन प्रस्तुत किया गया है और उनके गम्भीर रहस्यों को भी उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। दान के भेद-प्रभेद के सम्बन्ध में भी जैनाचार्यों ने विशेष कर दिगम्बराचार्यों ने बहुत ही विस्तारपूर्वक चर्चाएँ की हैं। आचार्य जिनसेन, आचार्य अमितगति, आचार्य वसुनन्दि आदि ने इस विषय पर विस्तृत चिन्तन प्रस्तुत किया है। यहाँ पर सद्गुरुवर्य ने दोनों ही परम्पराओं के आचार्यों का चिन्तन प्रस्तुत किया है, जिससे पाठक अपनी-अपनी दृष्टि से उन पर सोच सकें।

तृतीय खण्ड में पात्र, विधि और द्रव्य—दान के तीन महत्त्वपूर्ण अंगों पर विविध दृष्टि विन्दुओं को सामने रखकर चर्चा की गयी है। दान का सम्पूर्ण दर्शन इन तीन ही तत्त्वों पर टिका हुआ है। और इस विषय में परम्परागत विचार भेद भी कई हैं। सद्गुरुदेव का प्रयत्न यह रहा है, साम्प्रदायिक भेदों को महत्त्व न देकर शास्त्रीय व व्यावहारिक दृष्टि से उस पर चिन्तन किया जाय। सिर्फ व्यक्ति-विशेष तक दान को सीमित न रखकर सम्पूर्ण प्राणि जगत् के लिए इस अमृत (दानामृत) का उपयोग होना चाहिए।

दान जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर गुरुदेव श्री का तैयार किया हुआ प्रस्तुत विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुरुदेव श्री के प्रवचन तथा विवेचन की शब्द सज्जा व काट-छाँट आदि का दायित्व हमें सौंपा गया, यह उनका आत्मीय स्नेह तथा सद्भाव है जो हमारी प्रसन्नता का विषय है। हम अपने दायित्व को निभाने में कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय प्रबुद्ध पाठकों के हाथ में है। यदि शास्त्रीय दृष्टि से कहीं पर स्खलना, वैचारिक भूल या कहीं पर अपूर्णता रही हो तो पाठक स्नेह सद्भावना के साथ हमें सूचित करें ताकि भूल का परिष्कार किया जा सके।

गुरुदेव श्री का अन्य प्रवचन साहित्य भी हम शीघ्र ही सम्पादित कर प्रस्तुत करेंगे जिससे पाठक गुरुदेव श्री के विराट् व विमल विचारों से परिचित हो सकें।

दिनांक २१-१०-७७
विजया-दशमी

—देवेन्द्रमुनि
—श्रीचन्द सुराना

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन में अर्थ सहयोगी

श्रीमान धर्मप्रेमी सुश्रावक
फूलचन्द जी प्रतापचन्द जी
भग्गा जी रायगांधी आईपुरा वाले
C/o भूरमल फूलचन्द, दीवान सराफा लेन
चिकपेट,, बेंगलोर-५६००५३
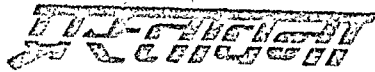
भारतीय साहित्य में दान की महिमा

—विजय मुनि, शास्त्री

भारत के समस्त धर्मों में, इस तथ्य में किसी भी प्रकार का विवाद नहीं है, कि 'दान' एक महान् धर्म है। दान की व्याख्या अलग हो सकती है, दान की परिभाषा विभिन्न हो सकती है, और दान के भेद-प्रभेद भी विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, परन्तु 'दान' एक प्रशस्त धर्म है' इस सत्य में जरा भी अन्तर नहीं है। दान धर्म, उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी मानव-जाति है। मानव-जाति में, दान कब से प्रारम्भ हुआ? इसका उत्तर सरल न होगा। परन्तु यह सत्य है, कि दान का पूर्व रूप सहयोग ही रहा होगा। संकट के अवसर पर मनुष्यों ने एक-दूसरे को पहले सहयोग देना ही सीखा होगा। सहअस्तित्व के लिए परस्पर सहयोग आवश्यक भी था। सहयोग के अभाव में समाज में सुदृढ़ता तथा स्थिरता कैसे आ पाती? समाज में सभी प्रकार के मनुष्य होते थे—दुर्बल भी और सबल भी। अशक्त मनुष्य अपने जीवन को कैसे धारण कर सकता है? जीवन धारण करने के लिए भी शक्ति की आवश्यकता है। शक्तिमान् मनुष्य ही अपने जीवन को सुचारू रूप से चला सकता था, और वह दुर्बल साथी को सहयोग भी कर सकता था। यह 'सहयोग' समानता के आधार पर किया जाता था, और बिना किसी प्रकार की शर्त के किया जाता था। न तो सहयोग देने वाले में अहंभाव होता था, और न सहयोग पाने वाले में दैन्य भाव होता था। भगवान महावीर ने अपनी भाषा में, परस्पर के इस सहयोग को 'संविभाग' कहा था। संविभाग का अर्थ है—सम्यक् रूप से विभाजन करना। जो कुछ तुम्हें उपलब्ध हुआ है, वह सब तुम्हारा अपना ही नहीं है, तुम्हारे साथी का तथा तुम्हारे पड़ौसी का भी उसमें सहभाव तथा सहयोग रहा हुआ है। महावीर के इस 'संविभाग' में न अहंकार भाव है, और न दीनता भाव। इसमें एकमात्र समत्व भाव ही विद्यमान है। लेने वाले के मन में जरा भी ग्लानि नहीं है, क्योंकि वह अपना ही हक ग्रहण कर रहा है, और देने वाला भी यही समझ रहा है, कि मैं यह देकर कोई उपकार नहीं कर रहा हूँ। लेने वाला मेरा अपना ही भाई है, कोई दूसरा नहीं है। तो, यह संविभाग शब्द अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

बाद में आया 'दान' शब्द। इसमें न 'सहयोग' की सहृदयता है, और न संविभाग की व्यापकता एवं दार्शनिकता ही है। आज के युग में 'दान' शब्द काफी बदनाम हो चुका है। देने वाला दाता देता है, अहंकार में भरकर और लेने वाला

ग्रहीता लेता है, सिर नीचा करके । देने वाला अपने को उपकारी मानता है और लेने वाला अपने को उपकृत । लेने वाला बाध्य होकर लेता है, और देने वाला भी दबाव से ही देता है । आज के समाज की स्थिति ही इस प्रकार की हो गई है, कि लेना भी पड़ता है, और देना भी पड़ता है । न लेने वाला प्रसन्न है, और न देने वाला ही । यही कारण है, कि 'दान' शब्द से पूर्व कुछ विशेषण जोड़ दिए गए हैं—"करुणा दान, अनुकम्पादान एवं कीर्तिदान आदि ।"

'दान' शब्द का अर्थ है—देना । क्या देना ? किसको देना ? क्यों देना ? इसका कोई अर्थ बोध दान शब्द से नही निकल पाता । शायद, इन्ही समस्याओं के समाधान के लिए 'दान' शब्द को युग युगान्तर मे परिभाषित करना पड़ा है । परन्तु कोई भी परिभाषा 'दान' शब्द को बाँधने मे समर्थ नही हो सकी । 'दान' शब्द के सम्बन्ध मे भेद-प्रभेद होते ही रहे हैं, मत-मतान्तर चलते ही रहे हैं, वाद-विवाद बढ़ते ही रहे हैं । धर्म के भवन मे, मतवाद की जो भयकर आग एक बार भभक उठती है, वह कभी भी बुझ नही पाती ।

दान की मान्यता पर मतभेद

दान की मान्यता के सम्बन्ध मे, जो मतवाद की आग कभी प्रज्वलित हुई थी, उसके तीन विस्फोटक परिणाम सामने आए—(१) दान पुण्य का कारण है, (२) दान पाप का कारण है और (३) दान धर्म का कारण है । जो लोग दान को शुभ भाव मानते हैं, उनके अनुसार दान से पुण्य होगा और पुण्य से सुख । जो दान को अशुभ भाव मानते हैं, उनके अनुसार दान से पाप होगा, पाप से दु ख । शुभ उपयोग पुण्य का हेतु है और अशुभ उपयोग पाप का । पुण्य और पाप—दोनों आस्रव हैं, ससार के कारण हैं । उनसे कभी धर्म नहीं हो सकता । धर्म है, सवर । धर्म है, निर्जरा । सवर और निर्जरा—दोनो ही मोक्ष के हेतु हैं, ससार के विपरीत, मोक्ष के कारण हैं । तब, दान से ससार ही मिला, मोक्ष नहीं । दान का फल मोक्ष कैसे हो सकता है ? इस मान्यता के अनुसार दान, दया, व्रत और उपवास आदि पुण्य बन्ध के ही कारण हैं । क्योंकि ये सब शुभ भाव हैं ।

इसके विपरीत एक दूसरी मान्यता भी रही है, जिसके अनुसार दान भी और दया भी—दोनो पाप के कारण हैं । पाप के कारण तभी हो सकते हैं, जबकि दोनो को अशुभ भाव माना जाए । अत उनका तर्क है, कि दया सावद्य होती है । जो सावद्य है, वह अशुभ होगा ही । जो अशुभ है, वह निश्चय ही पाप का कारण है । दान के सम्बन्ध मे, उनका कथन विभज्यवाद पर आश्रित है । उन लोगो का तर्क है, कि दान दो प्रकार का हो सकता है—सयतदान और असयतदान । साधु को दिया गया दान, धर्म दान है । अतएव उसका फल मोक्ष है । क्योंकि साधु को देने से निर्जरा होती है, और निर्जरा का फल मोक्ष ही हो सकता है, अन्य कुछ नही । परन्तु असयत दान, अधर्म दान है । उसका फल पाप है । पाप, कभी शान्ति का कारण नहीं हो सकता । यह पापवाद की मान्यता है ।

पुण्यवाद और पापवाद के अतिरिक्त, एक धर्मवाद की मान्यता भी रही है। इसके अनुसार दान भी धर्म है, और दया भी धर्म है। दान, यदि पाप का कारण होता, तो तीर्थंकर दीक्षा से पूर्व वर्षीदान क्यों करते ? दान परम्परा की स्थापना न करके निषेध ही करते। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरों ने दान दिया था। उन लोगों का तर्क यह है, कि दान की क्रिया ममता और परिग्रह को कम करती है। ममता और परिग्रह का अभाव ही तो धर्म है। जितना दिया, उतनी ममता कम हुई, और जितना दिया, उतना परिग्रह भी कम ही हुआ है। अतः दान से धर्म होता है। ममता और परिग्रह को कम करने से तथा उसका अभाव करने से, दान धर्म ही हो सकता है, पाप कभी नहीं। यह धर्मवादी मान्यता है।

पुण्यवाद, पापवाद और धर्मवाद की गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझाने का समय-समय पर प्रयास हुआ है, परन्तु कोई भी मान्यता जब रूढ़ हो जाती है, तब वह मिट नहीं पाती। किसी भी मान्यता को मिटाने का प्रयास भी स्तुत्य नहीं कहा जा सकता। मानव-जाति के विचार के विकास की यह भी एक कड़ी है, उसकी अपनी उपयोगिता है, अपना एक महत्त्व है।

भारत के वैदिक षड्दर्शनों में एक मीमांसा दर्शन ही पुण्यवादी दर्शन कहा जा सकता है। उसकी मान्यता है कि यज्ञ से पुण्य होता है, पुण्य से स्वर्ग मिलता है, स्वर्ग में सुख है। पुण्य क्षीण होने पर फिर संसार है। मोक्ष की स्थिति में उसे जरा भी रुचि नहीं है। यज्ञ से, तप से, जप से और दान से पुण्य होता है, यह इसी मीमांसा दर्शन की मान्यता रही है। यज्ञ नहीं करोगे, तो पाप होगा और यज्ञ करोगे, तो पुण्य होगा। पाप और पुण्य की मीमांसा करना ही, मीमांसा दर्शन का प्रधान ध्येय रहा है। दान पर सबसे अधिक बल भी इसी दर्शन ने दिया है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार ब्राह्मण को दान देने से सबसे बड़ा पुण्य होता है। श्रमण परम्परा के दोनों सम्प्रदाय—जैन और बौद्ध, कहते हैं कि ब्राह्मण को दिया गया दान, पुण्य का कारण नहीं है। वह पाप दान है, वह धर्म दान नहीं हो सकता। मीमांसा-दर्शन भी जैन श्रमणों को और बौद्ध भिक्षुओं को दिये गये दान को पाप का कारण मानता है, धर्म का नहीं। इस प्रकार की मान्यताओं ने दान की पवित्रता को नष्ट कर डाला। अपनी मान्यताओं में आबद्ध कर दिया। अपनों को देना धर्म, और दूसरों को देना पाप, इसी का परिणाम है।

वेद-विरोधी दर्शनों में एक चार्वाक दर्शन ही यह कहता है, कि न पुण्य और न पाप। न दान करने से पुण्य होता है, और नहीं करने से न पाप होता है। पाप और पुण्य—यह लुब्धक लोगों की परिकल्पना है, अन्य कुछ नहीं। न पाप है, न पुण्य है, न लोक है, और न परलोक है। जो कुछ है, यहीं है, अभी है, आज ही है, कल कुछ भी नहीं। उसकी इस मान्यता के कारण ही चार्वाक दर्शन में दान पर कुछ मीमांसा नहीं हो सकी। दान पर विचार का अवसर ही वहाँ पर उपलब्ध नहीं है। वर्तमान भोग ही वहाँ जीवन है।

वैदिक षडदर्शनों में दान-मीमांसा

वेदगत परम्परा के षड्दर्शनो मे साख्यदर्शन और वेदान्तदर्शन ज्ञान-प्रधान रहे हैं। दोनो मे ज्ञान को अत्यन्त महत्त्व मिला है। वहाँ आचार को गौण स्थान मिला है। साख्य भेदविज्ञान से मोक्ष मानता है। प्रकृति और पुरुष का भेदविज्ञान ही साधना का मुख्य तत्त्व माना गया है। वहाँ प्रकृति और पुरुष—इन दो तत्त्वो का ही विश्लेषण किया गया है। इन दोनो का सयोग ही ससार है, इन दोनो का वियोग ही मोक्ष है। प्रकृति मोक्ष-शून्य है, तो पुरुष कर्तृत्व-शून्य है। इस दर्शन मे कहीं पर भी आचार को महत्त्व नहीं मिला। करना कुछ भी नही है, जो कुछ है, जानना है और समझना है। आचार पक्ष की गौणता होने के कारण 'दान' की मीमासा नहीं हो सकी। दान का सम्बन्ध करने से है, आचार से है क्रिया और कर्म से सम्बद्ध माना गया है।

वेदान्त दर्शन की स्थिति भी यही रही है। कुछ मौलिक भेद अवश्य है। साख्य द्वैतवादी है, तो वेदान्त अद्वैतवादी रहा है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। यदि कुछ भी प्रतीत होता है, तो वह मिथ्या ही है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस भावना से समग्र बन्धन परिसमाप्त हो जाते हैं। वस्तुत बन्धन है ही कहाँ ? उसकी तो प्रतीति मात्र हो रही है। अपने को प्रकृति और जीव न समझकर, एकमात्र ब्रह्म समझना ही विमुक्ति है। इस दर्शन मे भी ज्ञान की प्रधानता होने से आचार की गौणता ही है। शम तथा दम आदि कुछ साधनो की चर्चा अवश्य की गई है, परन्तु वे साधना के अनिवार्य अग नहीं हैं। यही कारण है कि वेदान्तदर्शन में भी दान की मीमासा नही हो पाई। दान का सम्बन्ध चारित्र से है, और उसकी वहाँ गौणता है।

न्यायदर्शन म तथा वैशेषिकदर्शन मे, पदार्थ-ज्ञान को ही मुक्ति का कारण कहा गया है। वैशेषिकदर्शन म सप्त पदार्थों का तथा न्यायदर्शन मे षोडश पदार्थों का अधिगम ही मुख्य माना गया है। न्याय-शास्त्र मे तो पदार्थ भी गौण है, मुख्य है, प्रमाणो की मीमासा। वैशेषिक की पदार्थ मीमासा और न्याय की प्रमाण-मीमासा प्रसिद्ध है। साधना अथवा आचार का वहाँ कुछ भी स्थान नही है। फिर दान की मीमांसा को वहाँ स्थान मिलता भी कैसे ? अतः वहाँ पर दान का कोई विशेष महत्त्व नहीं कहा जा सकता। उसका कोई दार्शनिक आधार नही है। न्यायदर्शन ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने मे लिए समग्र शक्ति लगा दी, और वैशेषिक ने परमाणु को सिद्ध करने के लिए। जीवन की व्याख्या वहाँ नहीं हो पाई।

योगदर्शन ज्ञान-प्रधान न होकर क्रिया-प्रधान अवश्य है। आचार का वहाँ विशेष महत्त्व माना गया है। मनुष्य के चित्त की वृत्तियो का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसकी साधना का मुख्य लक्ष्य है—समाधि की सम्प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान को साधन के

रूप में स्वीकार किया गया है। यमों में अपरिग्रह और नियमों में सन्तोष का ग्रहण किया गया है। परन्तु दान की मीमांसा को कहीं पर भी अवसर नहीं मिला। दान का साधन के रूप में कहीं उल्लेख नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि वेद मूलक षड्-दर्शनों में एक मीमांसा दर्शन को छोड़कर शेष पाँच दर्शनों में दान का कोई महत्त्व नहीं है। न उसका विधान है, और न उसकी व्याख्या ही की गई है।

श्रमण-परम्परा में दान-मीमांसा

वेद विरुद्ध श्रमण परम्परा के तीन सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—जैन, बौद्ध और आजीवक। आजीवक परम्परा का प्रवर्तक गोशालक था। वह नियतिवादी के रूप में भारतीय दर्शनों में बहुचर्चित एवं विख्यात था। उसकी मान्यता थी, कि जो भाव नियत हैं, उन्हें बदला नहीं जा सकता। संसार के किसी भी चेतन अथवा अचेतन पदार्थ में कोई मनुष्य किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता। सब अपने आप में नियत हैं। आज के इस वर्तमान युग में, आजीवक सम्प्रदाय का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः दान के सम्बन्ध में गोशालक के क्या विचार थे? कुछ भी कहा नहीं जा सकता। उसके नियतिवादी सिद्धान्त के अनुसार तो उसकी विचार-धारा में दान का कोई फल नहीं है। दान से कोई लाभ नहीं, और नहीं देने से कोई हानि भी नहीं।

बौद्ध-परम्परा में आचार की प्रधानता रही है। प्रज्ञा और समाधि का महत्त्व भी कम नहीं है, फिर भी प्रधानता शील की ही है। शील शब्द यहाँ व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मनुष्य जीवन के उत्थान के लिए जितने भी प्रकार के सत्कर्म हैं वे सब शील में समाहित हो जाते हैं। बुद्ध ने शील को बहुत ही महत्त्व दिया है। तत्त्व पर इतना जोर नहीं दिया गया, जितना शील पर दिया गया है, जितना सदाचार पर दिया गया है। दान भी एक सत्कर्म है, अतः यह भी शील की ही सीमा के अन्दर आ जाता है। बौद्ध धर्म में बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए जिन दशपारमिताओं का वर्णन किया गया है, उनमें से एक पारमिता दान को भी माना गया है। दान की पूर्णता भी बुद्धत्व लाभ का एक मुख्य कारण माना गया है। दान के सम्बन्ध में बुद्ध ने 'दीघनिकाय' में कहा है, कि "सत्कार पूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, दोष रहित पवित्र दान दो।" इस कथन में दान के विषय में चार बातें कही गई हैं—दान सत्कारपूर्वक हो, अपने हाथ से दिया गया हो, भावना पूर्वक दिया हो और दोष। शून्य हो। इस प्रकार के दान को पवित्र दान कहा गया है। 'संयुत्तनिकाय' में भी बुद्ध ने कहा है—"श्रद्धा से दिया गया दान, प्रशस्त दान है। दान से भी बढ़कर धर्म के स्वरूप को समझाया है।" इस कथन में स्पष्ट है, कि यदि दान में श्रद्धा भाव नहीं है, तो वह दान, तुच्छ दान है। जो भी देना हो, जितना भी देना हो, वह श्रद्धा से दिया जाना चाहिए, तभी देने की सार्थकता कही जा सकती है। हीन भाव से [illegible] अथवा अनादर से दिया गया दान, प्रशस्त

नहीं कहा जा सकता। 'धम्मपद' में भी दान के सम्बन्ध में बुद्ध ने बहुत सुन्दर कहा है—"धर्म का दान, सब दानों से बढ़कर है। धर्म का रस, सब रसों से श्रेष्ठ है।" धर्म विमुख मनुष्य को धर्मपथ पर लगा देना भी एक दान ही है।

बौद्ध परम्परा में अनेक व्यक्तियों ने संघ को दान दिया था। अनाथपिण्ड ने जेतवन का दान बौद्ध संघ को दिया था। राजगृह में, वेणुवन भी दान में ही मिला है। वैशाली में, आम्रपाली ने अपना उपवन बुद्ध को दान में दे दिया था। सम्राट् अशोक ने भी हजारों विहार बौद्ध भिक्षुओं के आवास के लिए दान में दे डाले थे। बौद्ध परम्परा का इतिहास दान की महिमा से और दान की गरिमा से भरा पड़ा है। बौद्ध धर्म में दान को एक महान् सद्धर्म माना गया है। यह एक महान् धर्म है। यही कारण है, कि इस धर्म में दान को बहुत बड़ा महत्त्व मिला है।

जैन परम्परा में भी दान को एक सद्धर्म माना गया है। जैन धर्म न एकान्त क्रियावादी है, न एकान्त ज्ञानवादी है और न एकान्त श्रद्धावादी ही है। श्रद्धा, ज्ञान और आचरण—इन तीनों के समन्वय से ही मोक्ष की सम्प्राप्ति होती है। फिर भी जैन धर्म को आचार प्रधान कहा जा सकता है। ज्ञान कितना भी ऊँचा हो, यदि साथ में उसका आचरण नहीं है, तो जीवन का उत्थान नहीं हो सकता। जैन परम्परा में, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा गया है। दान का सम्बन्ध चारित्र से ही माना गया है। आहारदान, औषधदान और अभयदान आदि अनेक प्रकार के दानों का वर्णन विविध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। भगवान महावीर ने 'सूत्रकृतांग' सूत्र में अभयदान को सबसे श्रेष्ठ दान कहा है—"अभयदान ही सर्व-श्रेष्ठ दान है।" दूसरों के प्राणों की रक्षा ही अभयदान है। आज की भाषा में इसे ही जीवन दान कहा गया है। दान के सम्बन्ध में, महावीर ने, 'स्थानांग सूत्र' में कहा है—'मेघ चार प्रकार के होते हैं—एक गर्जना करता है, पर वर्षा नहीं करता। दूसरा वर्षा करता है, पर गर्जना नहीं करता। तीसरा गर्जना भी करता है, और वर्षा भी करता है। चौथा न गर्जना करता है, और न वर्षा करता है।" मेघ के समान मनुष्य भी चार प्रकार के हैं—कुछ बोलते हैं, देते नहीं। कुछ देते हैं, किन्तु कभी बोलते नहीं। कुछ बोलते भी हैं, और देते भी हैं। कुछ न बोलते हैं, न देते ही हैं। महावीर के इस कथन से दान की महिमा एवं गरिमा स्पष्ट हो जाती है। जैन परम्परा में धर्म के चार अंग स्वीकार किये हैं—दान, शील, तप एवं भाव। इनमें दान ही मुख्य एवं प्रथम है। "सुखविपाक सूत्र" में दान का ही गौरव गाया गया है।

ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में दान-विचार

वेद-परम्परा के साहित्य में भी दान की मीमांसा पर्याप्त हुई है। मूल वेदों में भी यत्र-तत्र दान की महिमा है, उपनिषदों में ज्ञान-साधना की प्रधानता होने से आचारों को गौण स्थान मिला है। परन्तु आचारमूलक ब्राह्मण साहित्य में आरण्यक

साहित्य में और स्मृति साहित्य में दान के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। आरण्यक में कहा गया है कि "सभी प्राणी दान की प्रशंसा करते हैं, दान से बढ़कर अन्य कुछ दुर्लभ नहीं है। इस वाक्य में दान को दुर्लभ कहा गया है, जिसका अभिप्राय है, कि दान करना आसान काम नहीं है। हर कोई दान नहीं कर सकता है। सम्पत्ति बहुतों के पास हो सकती है, पर उसका मोह छोड़ना सरल नहीं है। वस्तु पर से जब तक ममता न छूटे, तब तक दान नहीं किया जा सकता। ममता को जीतना ही दान है। एक-दूसरे स्थान पर भी 'आरण्यक' में कहा गया है—"दान से शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, दान में सब कुछ प्रतिष्ठित है।" इस वाक्य में दान को जीवन का आधार माना गया है, और दान की व्यापक व्याख्या की गई है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में दान का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। पाराशर स्मृति में दान के सम्बन्ध में कहा है—"ग्रहीता के पास स्वयं जाकर दान देना, उत्तम दान है। उसे अपने पास बुलाकर देना, मध्यम दान है। उसके बार-बार माँगने पर देना, अधम दान है। उससे खूब सेवा कराकर देना, निष्फल दान है।" इसमें दान के चार प्रकार कहे गये हैं। चतुर्थ प्रकार के दान को हीन कोटि का कहा गया है। देना भी, पर परेशान करके देना, सेवा कराकर देना, उसे लज्जित करके देना। दान की घोषणा करके देना, पर देना कुछ भी नहीं।

गीता के १७वें अध्याय के श्लोक २०, २१ एवं २२ में तीन प्रकार के दानों का कथन किया है—"सात्त्विक दान, राजस दान और तामस दान।" जो दान कर्तव्य समझकर, उदात्त भाव से दिया जाता है, तथा जो देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है, जो दान अनुपकारी को दिया जाता है, उसे गीता में श्रेष्ठ दान, उत्तम दान एवं सात्विक दान कहा गया है। किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा, जिसमें न हो, जो दान के लिए ही दान हो। जो दान क्लेशमूलक हो, फल की आशा रखकर दिया गया हो, फल को दृष्टि में रखकर दिया गया हो, वह दान मध्यम है, उसे राजस दान कहा गया है। जो दान, बिना सत्कार के दिया गया हो, अपमान के साथ दिया गया हो, देश, काल और पात्र का विचार किये बिना दिया गया हो, जो दान किसी कुपात्र को दिया हो, यह अधम दान है, वह दान तामसदान कहा गया है। इस प्रकार गीता में तीन श्लोकों में, दान की जो मीमांसा की गई है, वह दान की दार्शनिक व्याख्या है। इन श्लोकों में दान की केवल गरिमा तथा महिमा का वर्णन नहीं किया गया है, बल्कि दान की व्याख्या, दान की परिभाषा और दान की मीमांसा की गई है। कहा गया है, कि अपनी वस्तु भर किसी को दे डालना दान नहीं कहा जा सकता। उसमें दाता के भाव का भी मूल्य है, देश और काल की परिस्थिति पर भी विचार किया जाना चाहिए। दान किसको दिया जा रहा है, उस पात्र की, उस ग्रहीता की योग्यता पर विचार करना चाहिए। किसी को कुछ देने भर से ही दान नहीं हो जाता। गीताकार ने दान की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। अतः यह व्याख्या अत्यन्त सुन्दर रही है। मनुष्य के चित्त में उठने वाले सत्त्वभाव, रजोभाव और तमो-

भाव के आधार पर दान के परिणाम भी तीन प्रकार के बताए गये हैं। सत्त्वभाव से दिया गया दान दाता और पात्र दोनों के लिए हितकर है। रजोभाव से दिया गया दान, चित्त मे चचलता ही उत्पन्न करता है। तमोभाव से दिया गया दान, चित्त में मूढता ही उत्पन्न करता है।

भगवान् महावीर ने बहुत सुन्दर शब्दो का प्रयोग किया है—मुधादायी और मुधाजीवी। दान, वही श्रेष्ठ दान है, जिससे दाता का भी कल्याण हो, और ग्रहीता का भी कल्याण हो। दाता स्वार्थ रहित होकर दे, और पात्र भी स्वार्थ शून्य होकर ग्रहण करे। भारतीय साहित्य मे इन दो शब्दो से सुन्दर शब्द, दान के सम्बन्ध मे अन्यत्र उपलब्ध नही होते। दाता और ग्रहीता तथा दाता और पात्र—शब्दों में वह गरिमा नही है, जो मुधादायी और मुधाजीवी मे है। 'मुधा' शब्द का अभिधेय अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ है—व्यर्थ। परन्तु लक्षणा के द्वारा इसका लक्ष्यार्थ होगा—स्वार्थ रहित। व्यञ्जना के द्वारा व्यग्यार्थ होगा—वह दान, जिसके देने से दाता के मन मे अहभाव न हो, और लेने वाले के मन मे दैन्यभाव न हो। इस प्रकार का दान विशुद्ध दान है, यह दान ही वस्तुत मोक्ष का कारण है। न देने वाले को किसी प्रकार का भार और न लेने वाले को किसी प्रकार की ग्लानि। यह एक प्रकार का धर्मदान कहा जा सकता है। शास्त्रो मे जो दान की महिमा का कथन किया गया है, वह इसी प्रकार के दान का है। यह भव-बन्धन काटने वाला है। यह भव-परम्परा का अन्त करने वाला दान है।

रामायण-महाभारत में दान की महिमा

सस्कृत साहित्य के इतिहास में, जिसे इतिहासविद विद्वानों ने महाकाव्य काल कहा है, उसमें भी दान के सम्बन्ध मे उदात्त विचारो की झलक मिलती है। महाकाव्य काल के काव्यो मे सबसे महान् एव विशाल काव्य दो हैं—रामायण और महाभारत। अन्य महाकाव्यो के प्रेरणा स्रोत ये ही महाकाव्य हैं आचार्य आनन्द वर्धन ने अपने प्रसिद्ध काव्यशास्त्र ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' मे कहा है—'रामायण' महाकाव्य है, करुण रस उसका मुख्य रस है, अन्य रस, उसके अगभूत हैं। 'महाभारत' भी एक महाकाव्य है, शान्त रस, उसका प्रधान रस है। शान्त रस अगी है, और अन्य रस उसके अग हैं। कथित दोनो महाकाव्यो मे यथाप्रसग अनेक स्थानो पर दान के सम्बन्ध वर्णन उपलब्ध होते हैं। कुछ प्रसग तो अत्यन्त हृदयस्पर्शी कहे जा सकते हैं। 'रामायण' मे एक प्रसंग है—राजा दशरथ अपनी रानी कैकेयी को राम के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में समझा रहे हैं। राम के गुणों का वर्णन करते हुए दशरथ कह रहे हैं—"सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, नम्रता, विद्या और गुरुजनों की सेवा—ये सब गुण राम मे निश्चित रूप से विद्यमान हैं।" यही राम का व्यक्तित्व है। इन गुणो मे दान की भी परिगणना की है। यह कथन 'अयोध्या काण्ड' मे किया गया है। दान मे सर्वजन-प्रियता उपलब्ध होती है। राम अपने मित्रो के प्रति ही उदार नही थे, अपने विरुद्ध

आचरण करने वालों के प्रति भी उदार थे। उदार व्यक्ति में ही दाता होने की क्षमता होती है। राम के दान गुण का रामायण में अनेक स्थलों पर वर्णन प्राप्त होता है। एक प्रसंग पर राम ने कहा है, कि दान देना हो, तो मधुर वचन के साथ दो।

'महाभारत' में विस्तार के साथ दान का वर्णन अनेक प्रसंगों पर किया गया है। 'महाभारत' में कर्ण, 'दानवीर' के रूप में प्रसिद्ध है। अपने द्वार पर आने वाले किसी भी व्यक्ति को वह निराश नहीं लौटने देता। अपनी कितनी भी हानि हो, पर याचक को वह निराश नहीं लौटा सकता। धर्मराज युधिष्ठिर का भी जीवन अत्यन्त उदार वर्णित किया गया है। महाभारत में एक प्रसंग पर कहा गया है—"तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता, सर्वभूतों पर दया—सन्तों ने स्वर्ग के ये सात द्वार कहे हैं।" इस कथन में भी दान की महिमा गाई गई है। एक अन्य प्रसंग पर कहा गया है—"धन का फल दान और भोग है।" धन प्राप्त करके भी जिसने अपने जीवन में न तो दान ही दिया और न उसका उपभोग ही किया है, उसका धन प्राप्त करना ही निष्फल कहा गया है। महाभारत में युधिष्ठिर और नागराज के संवाद में कहा गया है—"सत्य, दम, तप, दान, अहिंसा, धर्म-परायणता आदि सद्गुण ही मनुष्य की सिद्धि के हेतु हैं, उसकी जाति और कुल नहीं।" इस कथन से फलित होता है, कि दान आदि मनुष्य की महानता के मुख्य कारण रहे हैं। किसी जाति में जन्म लेना और किसी कुल में उत्पन्न होना, उसकी महानता के कारण नहीं हैं। इस प्रकार महाभारत में स्थान-स्थान पर दान की गरिमा और दान की महिमा का प्रतिपादन किया गया है। दान भव्यता का द्वार है, दान स्वर्ग का द्वार है, दान मोक्ष का द्वार है। दान से महान् अन्य कौन-सा धर्म होगा? इन महाकाव्यों में दान का वर्णन व्याख्या रूप में ही नहीं, आख्यान रूप में भी किया गया है। कथाओं के आधार पर दान का गौरव बताया गया है।

संस्कृत महाकाव्यों में दान पर विचार

संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों को दो विभागों में विभक्त किया गया है—लघुत्रयी और बृहत्त्रयी। लघुत्रयी में महाकवि कालिदास कृत तीन काव्यों की गणना की गई है—'रघुवंश, 'कुमार सम्भव' और 'मेघदूत'। मेघदूत एक खण्ड काव्य है शृंगार प्रधान काव्य है। काव्यगत गुणों की दृष्टि से वह श्रेष्ठ काव्य माना गया है। उसमें दान की महिमा के प्रसंग अत्यन्त विरल रहे हैं, फिर भी शून्यता नहीं रही। काव्य का नायक यक्ष अपने मित्र मेघ से कहता है—हे मित्र! याचना करनी हो, तो महान् व्यक्ति से करो, भले ही निष्फल हो जाए, परन्तु नीच व्यक्ति से कभी कुछ न माँगो। भले ही वह सफल भी हो जाए।' इसमें कहा गया है कि महान् व्यक्ति से ही दान की माँग करो, हीन व्यक्ति से नहीं। इस कथन में कालिदास ने दान का महान् रहस्य प्रकट कर दिया है।

'कुमार सम्भव' महाकाव्य में महाकवि कालिदास ने शिव और पार्वती का वर्णन किया है। यथाप्रसंग जीवन के अनेक रहस्यों के मर्म का प्रकाशन भी किया

है। शिव को कवि ने आशुतोष कहा है। शिव सबको वरदान देते है, किसी को भी अभिशाप नही। कवि ने अनेक स्थलों पर शिव की दान-वीरता का मधुर भाषा में वर्णन किया है। शिव ने अपनी योग साधना मे विघ्न डालने वाले कामदेव को जब तृतीय नेत्र से भस्म कर दिया, तो उसकी पत्नी रति विलाप करती हुई, शिव के समक्ष उपस्थित होकर, अपने पति का पुन जीवन का वरदान माँगती है। रति के शोक से अभिभूत होकर शिव उसे जीवनदान का वरदान दे बैठते हैं। यह कवि की अलकृत भाषा है। परन्तु इस कथन से शिव की दान शीलता का स्पष्ट चित्रण हो जाता है, यही अभीष्ट भी है।

कवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवश मे रघुवश के राजाओ का विस्तार से वर्णन किया है। दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम और लव कुश आदि का कवि ने प्रस्तुत काव्य के अनेक सर्गों मे रघुवशीय राजाओ की दानशीलता का वर्णन किया है। एक स्थल पर कहा गया है—'जैसे मेघ पृथ्वी से पानी खीच कर, फिर वर्षा के रूप मे उसे वापिस लौटा देता है वैसे ही रघुवशीय राजा अपने प्रजाओ से कर लेकर, दान के रूप मे वापिस लौटा देते हैं।' रघुवश काव्य मे ही एक दूसरा सुन्दर प्रसग है—'वरतन्तु का शिष्य कौत्स, अपने गुरु को दक्षिणा देने का सकल्प करता है। वह याचना करने के लिए राजा रघु के द्वार पर पहुँचा पर पता लगा, कि राजा सर्वस्व का दान कर चुका है। निराश लौटने को तैयार, पर रघु लौटने नहीं देता। तीन दिनो तक रुक जाने की प्रार्थना करता है। राजा रघु उसकी इच्छा पूरी करके उसे गुरु के आश्रम म भेजता है।' रघुवश महाकाव्य का यह प्रसंग अत्यन्त सुन्दर हृदयस्पर्शी और मार्मिक बन पडा है। दान की गरिमा का और दान की महिमा का इससे सुन्दर चित्रण अन्यत्र दुर्लभ ही है।

महाकवि कालिदास भारतीय सस्कृति के मधुर उद्गाता कवि हैं। अपने तीन नाटको में—शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय म—भी अनेक स्थलों पर दान के सुन्दर प्रसगो की चर्चा की हैं, कही सकेत देकर ही आगे बढ गये हैं। इस प्रकार कालिदास के महाकाव्यो मे और नाटको म दान के सम्बन्ध मे काफी कहा गया है। यहाँ पर अधिक विस्तार म न जाकर सक्षेप में ही उल्लेख किया गया है।

सस्कृत महाकाव्यो म बृहत्त्रयी मे तीन का समावेश होता है—किराता-र्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधचरित। महाकवि भारवि ने अपने काव्य 'किरातार्जुनीय, मे किरातरूपधारी और अर्जुन के युद्ध का वर्णन किया है। शिव के वरदान का और उसकी दानशीलता का काव्यमय भव्य वर्णन किया है। महाकवि माघ ने 'शिशुपाल वध' में अनेक स्थलों पर दान का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। माघ स्वय भी उदार एव दानी माने जाते रहे हैं। कोई भी याचक द्वार से खाली हाथ नही लौट पाता था। कवि का यह दान गुण उनके समस्त काव्य मे परिव्याप्त है। श्री हर्ष ने अपने प्रसिद्ध काव्य नैषध मे राजा नल और दमयन्ती का वर्णन किया है, जिसमें राजा नल की उदारता और दान शीलता का भव्य वर्णन किया गया है।

संस्कृत के पुराण साहित्य में दान

संस्कृत के पुराण साहित्य में, दान का विविध वर्णन विस्तार से किया गया है व्यास रचित अष्टादशपुराणों में से एक भी पुराण इस प्रकार का नहीं है, जिसमें दान का वर्णन नहीं किया गया हो। दान के विषय में उपदेश और कथाएँ भरी पड़ी हैं। रूपक तथा कथाओं के माध्यम से दान के सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन किया गया है। जैन-परम्परा के पुराणों में—आदिपुराण, उत्तर पुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि में दान सम्बन्धी उपदेश तथा कथाएँ प्रचुर मात्रा में आज भी उपलब्ध हैं, जिनमें विस्तार के साथ दान की महिमा वर्णित है। इसके अतिरिक्त धन्यचरित्र, शालिभद्रचरित्र तथा अन्य चरित्रों में दान की महिमा, दान का फल और दान के लाभ बताए गए हैं। बौद्ध परम्परा के जातकों में दान सम्बन्धी कथाएँ विस्तार के साथ वर्णित हैं। बुद्ध के पूर्व-भवों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध है। बुद्ध ने अपने पूर्व भवों में दान कैसे दिया और किसको दिया, कितना दिया और कब दिया आदि विषयों का उल्लेख जातक कथाओं में विशदरूप में किया गया है। जैन-परम्परा के आगमों की संस्कृत टीकाओं में तथा प्राकृत टीकाओं में तीर्थंकरों के पूर्वभवों का जो वर्णन उपलब्ध है, उसमें भी दान के विषय में विस्तार से वर्णन मिलता है। आहार दान, पात्रदान, वस्त्रदान और औषध दान के सम्बन्ध में कहीं पर कथाओं के आधार से तथा कहीं पर उपदेश के रूप में दान की महिमा का उल्लेख बहुत ही विस्तार से हुआ है। इन दानों में विशेष उल्लेख योग्य है—शास्त्र दान। हजारों श्रावक एवं भक्त जन साधुओं को लिखित शास्त्रों का दान करते रहे हैं। अन्य दानों की अपेक्षा इस दान का विशेष महत्त्व माना जाता था। शिष्य दान का भी उल्लेख शास्त्रों में आया है। पुराणों में आश्रम दान, भूमिदान और अन्नदान का स्थान-स्थान पर उल्लेख उपलब्ध है। जैन-परम्परा के श्रमण, मुनि और तपस्वी आश्रम और भूमि को दान के रूप में ग्रहण नहीं करते थे। रजत और सुवर्ण आदि का दान भी वे ग्रहण नहीं करते थे। परन्तु संन्यासी, तापस और बौद्ध भिक्षु इस प्रकार के दानों को सहर्ष स्वीकार करते रहे हैं, और दाताओं की खूब प्रशंसा भी करते रहते थे।

संस्कृत-साहित्य के पुराणों में भागवत पुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है, उसमें कृष्ण जीवन पर बहुत लिखा गया है, साथ ही दान के विषय में विस्तार से लिखा गया है। भागवत के दशम स्कन्ध के पञ्चम अध्याय में, दान की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है—"दान न करने से मनुष्य दरिद्र हो जाता है, दरिद्र होने से वह पाप करने लगता है, पाप के प्रभाव से वह नरकगामी बन जाता है, और बार-बार दरिद्र तथा पापी होता रहता है।" दान न देने के कितने भयंकर परिणाम भोगने पड़ते हैं। दान के अभाव में, मनुष्य का कैसा एवं कितना पतन हो जाता है। फिर उससे अगले ही श्लोक में, दान के सद्भाव का वर्णन किया गया है—"सत्पात्र को

दान देने से मनुष्य धन सम्पन्न हो जाता है, धनवान होकर वह पुण्य का उपार्जन करता है, फिर पुण्य के प्रभाव से स्वर्गगामी बन जाता है, और फिर बार-बार धनवान और दाता बनता रहता है।" इसमे बताया गया है, कि दान का परिणाम कितना सुखद और कितना सुन्दर होता है। दान न करने से क्या हानि हो सकती है और दान करने से क्या लाभ हो सकता है? गुण-दोषो का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है। अन्य पुराणों मे भी दान के सम्बन्ध मे यथाप्रसग काफी लिखा गया है। कहीं पर उपदेश के द्वारा, तो कही पर कथा के द्वारा दान की गरिमा तथा दान की महिमा का विशद निरूपण किया गया है। सत्पात्र को देने से पुण्य और अपात्र को देने से पाप होता है, इसका भी उल्लेख किया गया है। दाता की प्रशसा और अदाता की निन्दा भी की है।

संस्कृत के नीति काव्यों में दान की गरिमा

जैन-परम्परा के कथात्मक नीति ग्रन्थो मे दान का बहुत विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। महाकवि धनपाल द्वारा रचित 'तिलकमञ्जरी' मे जीवन से सम्बद्ध प्राय सभी विषयो का वर्णन सुन्दर और मधुर शैली मे तथा प्राञ्जल भाषा मे हुआ है। उसमे दान की महिमा का वर्णन अनेक स्थलो पर किया गया है। दान का फल क्या है। दान कैसे देना चाहिए। दान किसको देना चाहिए? इन विषयों पर विस्तार से लिखा गया है। आचार्य सोमदेवसूरि कृत 'यशस्तिलकचम्पू' मे धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अध्यात्म भावों का बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण हुआ है। संस्कृत साहित्य मे यह ग्रन्थ अद्वितीय एव अनुपम माना जाता है। मनुष्य जीवन से सम्बद्ध बहुविध सामग्री उसमे उपलब्ध होती है। साधु जीवन और गृहस्थ जीवन के सुन्दर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। भाव-भाषा और शैली सुन्दर ही है। उसमे यथाप्रसग अनेक स्थलो पर दान की महिमा का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य काव्य ग्रन्थों मे, कथात्मक ग्रन्थो मे और चरित्रात्मक ग्रन्थो मे भी दान की गरिमा का और दान की महिमा का कहीं पर सक्षेप मे और कहीं पर विस्तार में वर्णन किया है। जैन-परम्परा के नीति प्रधान उपदेश ग्रन्थों मे तथा सस्कृत और प्राकृत के सुभाषित ग्रन्थो मे और धर्मग्रन्थो में भी दान का बहुमुखी वर्णन उपलब्ध होता है। कुछ ग्रन्थ तो केवल दान के सम्बन्ध मे ही लिखे गये हैं। अत दान के विषय पर लिखे गये ग्रन्थो की बहुलता रही है। नीतिवाक्यामृत और अर्हन्नीति जैसे ग्रन्थों में अन्य विषयों के प्रतिपादन के साथ-साथ दान के विषय में भी काफी प्रकाश डाला गया है, जो आज भी उपलब्ध होता है।

सस्कृत साहित्य के नीति प्रधान ग्रन्थो मे भर्तृहरिकृत शृ गार शतक, वैराग्य-शतक तथा नीतिशतक जैसे मधुर नीति काव्यो मे मनुष्य जीवन को सुन्दर एव सुखद बनाने के लिए बहुत कुछ लिखा गया है। भर्तृहरि ने अपने दीर्घ-जीवन के अनुभवों के आधार पर जो कुछ भी लिखा था, वह आज भी उतना सत्य एव जनप्रिय माना जाता है। उनके शतक त्रय मे दान के सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा गया है।

उन्होंने दान को अमृत भी कहा है। दान मनुष्य जीवन का एक श्रेष्ठ गुण कहा गया है। मनुष्य के आचरण से सम्बन्ध रखने वाले गुणों में दान सबसे ऊँचा गुण माना गया है। एक स्थल पर कहा गया है—"मनुष्य के धन की तीन ही गति हैं—दान, भोग और नाश। जो मनुष्य न दान करता हो, न उपभोग करता हो, उसका धन पड़ा-पड़ा नष्ट हो जाता है। संस्कृत के नीति काव्यों में 'कविकण्ठाभरण' भी बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। उसमें दान के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है। "सुभाषित रत्नभाण्डागार" एक विशालकाय महाग्रन्थ है, जिसमें दान के विषय में अनेक प्रकरण हैं। 'सूक्ति सुधा संग्रह' सुभाषित वचनों का एक सुन्दर संग्रह किया गया है, उसमें भी दान के सम्बन्ध में बहुत लिखा गया है। 'सुभाषित सप्तशती' में भी दान के विषय बहुत सुभाषित कथन मिलते हैं। 'सूक्ति त्रिवेणी' ग्रन्थ भी सूक्तियों का एक विशालकाय ग्रन्थ है। जिसमें संस्कृत, प्राकृत और पालि ग्रन्थों से संग्रह किया गया है। इसमें दान के विषय में अद्भुत सामग्री प्रस्तुत की गयी है। वैदिक, जैन और बौद्ध परम्परा के धर्मग्रन्थ और अध्यात्मग्रन्थों में दान के विषय में काफी सुन्दर संकलन किया गया है। प्रवक्ता, लेखक और उपदेशकों के लिए एक सुन्दर कृति कही जा सकती है। एक ही ग्रन्थ में तीन परम्पराओं के दान सम्बन्धी विचार उपलब्ध हो जाते हैं। अपने-अपने युग में वैदिक, जैन और बौद्ध आचार्यों ने लोककल्याण के लिए, लोक मंगल के लिए और जीवन उत्थान के लिए बहुत-से सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। उनमें से दान भी एक मुख्य सिद्धान्त रहा है। प्रत्येक परम्परा ने दान के विषय में अपने देश और काल के अनुसार दान की मीमांसा की है, दान पर विचार-चर्चा की है और दान पर अपनी मान्यताओं का विश्लेषण भी किया है। दान की मर्यादा, दान की सीमा, दान की परिभाषा और दान की व्याख्या सबकी एक जैसी न भी हो, परन्तु दान को भारत की समस्त परम्पराओं ने सहर्ष स्वीकार किया है, उसकी महिमा की है।

हिन्दी कवि और दान

हिन्दी साहित्य की नीति-प्रधान कविताओं में भी दान के विषय में काफी लिखा गया है। 'तुलसी दोहावली', 'रहीम दोहावली' और 'बिहारी सतसई' तथा सूर के पदों में भी दान की गरिमा का और दान की महिमा का विस्तार से उल्लेख हुआ है। तुलसी का 'रामचरितमानस' तो एक प्रकार का सागर ही है, जिसमें दान के विषय में अनेक स्थलों पर बहुत कुछ लिखा गया है। हिन्दी के अनेक कवियों ने इस प्रकार के जीवन चरितों की रचना भी की है, जिनमें विशेष रूप से दान की महिमा का ही वर्णन किया गया है। राम भक्त कवियों ने, कृष्ण भक्त कवियों ने और प्रेममार्गी सूफी कवियों ने अपने काव्य ग्रन्थों में, दान के विषय में यथाप्रसंग काफी लिखा है। दान की कोई भी उपेक्षा नहीं कर सका है। कबीर ने भी अपने पदों में और दोहों में दान के विषय में यथाप्रसंग बहुत लिखा है। अपने एक दोहे

मे कबीर ने कहा है—'यदि नाव मे जल बढ जाए और घर मे दाम बढ जाए तो उसे दोनो हाथो से बाहर निकाल देना चाहिए, बुद्धिमानो का यही समझदारी का काम है।' तुलसी दोहावली में भी दान के विषय मे कहा गया है—सरिता में से, जो भर कर बह रही है, यदि पक्षी उसमें से थोडा जल पान कर लेता है, तो उसका पानी क्या कम पड जाएगा ? ठीक इसी प्रकार दान देने से भी धन घटता नही है।' स्वामी रामतीर्थ ने दान के सम्बन्ध मे कहा है—'दान देना ही धन पाने का एकमात्र द्वार है।' सन्त विनोबा ने कहा है—'बुद्धि और भावना के सहयोग से जो क्रिया होती है, वही सुन्दर है। दान का अर्थ—फेंकना नही, बल्कि बोना ही है।'

भारत के धर्मों के समान बाहर से आने वाले धर्म ईसाई और मुस्लिम धर्मों मे भी दान का बडा ही महत्त्व माना गया है। दान के सम्बन्ध मे बाइबिल और कुरान में भी ईसा और मुहम्मद ने अनेक स्थलों पर दान की महिमा का यथाप्रसग वर्णन ही नही किया, बल्कि दान पर बल भी डाला है। दान के अभाव मे ईसा मनुष्य का कल्याण नहीं मानते थे। ईसा ने प्रार्थना और सेवा पर विशेष बल दिया था, पर दान को भी कम महत्त्व नहीं दिया। बाइबिल मे दान के विषय मे कहा गया है—'तुम्हारा दाँया हाथ जो देता है, उसे बाँया हाथ न जान सके, ऐसा दान दो।' इस कथन का अभिप्राय इतना ही है, कि दान देकर उसका प्रचार मत करो। अपनी प्रशसा मत करो। जो दे दिया, सो दे दिया। उसका कथन भी न करो। कुरान में दान के सम्बन्ध मे बहुत ही सुन्दर कहा गया है—'प्रार्थना ईश्वर की तरफ आधे रास्ते तक ले जाती है। उपवास महल के द्वार तक पहुँचा देता है, और दान से हम अन्दर प्रवेश करते हैं।' इस कथन मे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जीवन मे दान का कितना महत्त्व रहा है। प्रार्थना और उपवास से भी अधिक महत्त्व यहाँ पर दान का माना गया है। मुसलिम विद्वान् शेखसादी ने कहा है—'दानी के पास धन नहीं होता और धनी कभी दानी नही होता।' कितनी सुन्दर बात कही गई है। जिसमे देने की शक्ति है, उसके पास देने को कुछ भी नही, और जिसमे देने की शक्ति न हो वह सब कुछ देने को तैयार रहता है। अत. दान देना, उतना सरल नही है, जितना समझ लिया गया है। दान से बढकर, अन्य कोई पवित्र धर्म नही है। जो अपनी सम्पदा को जोड-जोडकर जमा करता रहता है। उस पाषाण हृदय को क्या मालूम कि दान में कितनी मिठास है। जो बिना माँगे ही देता हो, वही श्रेष्ठ दाता है। एक कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है—'दान से सभी प्राणी वश में हो जाते हैं, दान से शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया भी अपना हो जाता है। अधिक क्या कहें, दान सभी विपत्तियो का नाश कर देता है।' कवि के इस कथन मे दान की गरिमा और दान की महिमा स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार समग्र साहित्य दान की महिमा से भरा पडा है। ससार मे न कभी दाताओ की कमी रही है, और न दान लेने वाले लोगो की ही कमी रही है। दान की परम्परा ससार में सदा चलती ही रहेगी।

आचार-शास्त्र में दान की मीमांसा

जैन-परम्परा के आचार-शास्त्र के ग्रन्थों में, फिर भले ही वे ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हों, अथवा प्राकृत भाषा में हों, कुछ ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में भी लिखे गए हैं। इन सब ग्रन्थों में आचार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कहीं पर संक्षेप में और कहीं पर विस्तार में किया गया है। साधु जीवन के आचार का भी वर्णन किया गया है। परन्तु इस प्रकार के ग्रन्थों की भी बहुत सी संख्या है, जिनमें केवल श्रावक के आचार का ही वर्णन किया गया है। केवल साधु के आचार के सिद्धान्तों का प्रति-पादन करने वाले ग्रन्थ भी पर्याप्त हैं। श्रमण और श्रावक के आचार का संयुक्त प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ भी बहुत हैं। किन्तु केवल श्रावक के आचार एवं व्रतों का वर्णन करने वाले ग्रन्थ भी कम नहीं हैं। उन ग्रन्थों में, सागारधर्मामृत, वसुनन्दी श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, उपासकाऽध्ययन, ज्ञानार्णव, योग-शास्त्र तथा उपासकदशांग सूत्र मुख्य कहे जा सकते हैं। इनमें आचार के सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकार के भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है। त्यागी जीवन से सम्बद्ध सभी बातों का समावेश इन ग्रन्थों में कर दिया गया है। उनकी साधना का क्रम, उनकी साधना के प्रकार और उनकी साधना के फल आदि का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। उनके तप, त्याग और व्रतों के स्वरूप को स्पष्ट करके उनके पालन से लाभ और उनके पालन नहीं करने से हानि का भी वर्णन किया गया है। श्रावक जीवन से सम्बद्ध कोई भी बात शेष नहीं बच सकी है।

श्रावक के इस आचार में दान का भी समावेश हो जाता है। प्रत्येक ग्रन्थ मे दान की गरिमा और दान की महिमा का वर्णन किया गया है। उसकी उपयोगिता का प्रतिपादन किया गया है। बताया गया है, कि दान देना क्यों आवश्यक है? देना, जीवन के विकास का एक अनिवार्य सिद्धान्त है। दान देने से किस गुण की अभि-वृद्धि होती है। दान किस प्रकार का होना चाहिए। दान का स्वरूप क्या है? दान के प्रकार कितने हैं? दाता के भाव कैसे रहने चाहिए, दान देते समय दान लेने वाला पात्र अथवा ग्रहीता कैसा होना चाहिए? जो वस्तु दी जा रही है, वह कैसी होनी चाहिए। दान देने की विधि क्या है? इस प्रकार दान के सम्बन्ध में बहुमुखी विचार इन ग्रन्थों में किया गया है।

जैन-परम्परा के आचार्यों में, जिन्होंने आचार ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें आचार्य अमितगति एक प्रसिद्ध आचार्य हैं। उनका ग्रन्थ है—"अमितगति श्रावकाचार।" इसमें बड़े ही विस्तार के साथ दान की मीमांसा की गई है। यह ग्रन्थ पञ्चदश परिच्छेदों में विभक्त है। उसके नवम, दशम और एकादश परिच्छेदों में दान से सम्बद्ध समस्त सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन किया है। अन्य विषयों की अपेक्षा, दान का विचार बहुत ही लम्बा है। दान के सम्बन्ध में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किए गए हैं। दान का इतना विस्तार, अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होगा।

ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि सम्भवत. यह ग्रन्थ आचार्य ने दान की महिमा के लिए ही लिखा हो ?

नवम परिच्छेद के प्रारम्भ मे ही आचार्य ने कहा है—दान, पूजा, शील और उपवास भवरूप वन को भस्म करने के लिए, ये चारो ही आग के समान है। पूजा का अर्थ है—जिनदेव की भक्ति। भाव के स्थान पर पूजा का प्रयोग आचार्य किया है। दान क्रिया के पाँच अग माने गए है—दाता, देयवस्तु, पात्र, विधि और मति। यहाँ पर मति का अर्थ है—विचार। बिना विचार के, बिना भाव के दान कैसे दिया जा सकता है ? आचार्य अमितगति ने दाता के सात भेदो का उल्लेख किया है—भक्तिमान् हो, प्रसन्नचित्त हो, श्रद्धावान् हो, विज्ञान सहित हो, लोलुपता रहित हो, शक्तिमान् हो और क्षमावान् हो। 'विज्ञान वाला हो' से अभिप्राय यह है कि दाता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञाता हो। अन्यथा, दान की क्रिया निष्फल हो सकती है, अथवा दान का विपरीत परिणाम भी हो सकता है। दाता के कुछ विशेष गुणो का भी आचार्य ने अपने ग्रन्थ मे उल्लेख किया है—विनीत हो, भोगों में निःस्पृह हो, समदर्शी हो, परीषह सही हो, प्रियवादी हो, मत्सररहित हो, सघवत्सल हो और वह सेवा परायण भी हो। दान की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है—'जिस घर मे से योगी को भोजन न दिया गया हो, उस गृहस्थ के भोजन से क्या प्रयोजन ? कुबेर की निधि भी उसे मिल जाए, तो क्या ? योगी की शोभा ध्यान से होती है, तपस्वी की शोभा सयम से होती है, राजा की शोभा सत्यवचन मे और गृहस्थ की शोभा दान से होती है।" आचार्य ने यह भी कहा है—जो भोजन करने से पूर्व साधु के आगमन की प्रतीक्षा करता है। साधु का लाभ न मिलने पर भी वह दान का भागी है।'

दान के चार भेद किए हैं—अभयदान, अन्नदान, औषधदान और ज्ञान दान। अन्नदान को आहारदान भी कहा गया है, और ज्ञानदान को शास्त्रदान भी कहते हैं। पञ्च महाव्रत धारक साधु को उत्तम पात्र कहा है, देशव्रत धारक श्रावक को मध्यम पात्र कहा है, अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा है। दशम परिच्छेद के प्रारम्भ मे पात्र, कुपात्र और अपात्र की व्याख्या की है। विधि सहित दान का महत्त्व बताते हुए आचार्य ने कहा—"विधिपूर्वक दिया गया थोड़ा दान भी महाफल प्रदान करता है। जिस प्रकार धरती मे बोया गया छोटा-सा वट-बीज भी समय पर एक विशाल वृक्ष के रूप मे चारो ओर फैल जाता है, जिसकी छाया मे हजारों प्राणी सुख भोग करते हैं, उसी प्रकार विधि सहित छोटा दान भी महाफल देता है।" दान के फल के सम्बन्ध मे, आचार्य ने बहुत सुन्दर कहा है—"जैसे मेघ से गिरने वाला जल एक रूप होकर भी नीचे आधार को पाकर अनेक रूप मे परिणत हो जाता है, वैसे ही एक ही दाता से मिलने वाला दान विभिन्न उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रों को पाकर विभिन्न फल वाला हो जाता है।" कितनी सुन्दर उपमा दी गई है। अपात्र को दिए गए दान के सम्बन्ध मे आचार्य ने कहा है—"जैसे कच्चे घड़े में

डाला गया जल, अधिक देर तक नहीं टिक पाता और घड़ा भी फूट जाता है, वैसे ही विगुण अर्थात् अपात्र को दिया गया दान भी निष्फल हो जाता है, और लेने वाला नष्ट हो जाता है।" इस प्रकार आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार ग्रन्थ में और उसके दशम परिच्छेद में दान, दान का फल आदि विषय पर बहुत ही विस्तार के साथ विचार किया है।

एकादश परिच्छेद में आचार्य ने विस्तार के साथ अभयदान, अन्नदान, औषध दान और ज्ञानदान—इन चार प्रकार के दानों का वर्णन किया है। वस्तुतः देने योग्य जो वस्तु है, वे चार ही होती हैं, अभय, अन्न, औषध और ज्ञान अर्थात् विवेक। अभय को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। अभय से बढ़कर अन्य कोई इस जगत् में हो नहीं सकती। मौत को अभय देना ही परमदान है। अन्न अर्थात् आहार देना भी एक दान है। यह शरीर, जिससे मनुष्य धर्म की साधना करता है, बिना अन्न के कैसे टिक सकता है ? संयमी को, त्यागी को भी अपने संयम को स्थिर रखने के लिए अन्न की आवश्यकता पड़ती है। अन्न के अभाव में साधना भी कब तक चल सकती है। कितना भी बड़ा तपस्वी हो, कितना भी लम्बा तप किया जाए। आखिर, अन्न की शरण में तो जाना ही पड़ता है। स्वस्थ शरीर से ही धर्म और कर्म किया जा सकता है। रुग्ण काय से मनुष्य न धर्म कर सकता है, और न कोई शुभ या अशुभ कर्म ही कर सकता है। आरोग्य परम सुख है। उसका साधन है, औषध। अतः शास्त्रकारों ने औषध को भी दान में परिगणित किया है, देय वस्तुओं में उसकी गणना की है। ज्ञान, आत्मा का गुण है। वह तो सदा ही संप्राप्त रहता है। अतः ज्ञान का अर्थ है, विवेक। विवेक का अर्थ है—करने योग्य और न करने योग्य का निर्णय करना। यह शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है। जिसने शास्त्र नहीं पढ़े, उसे अन्धा कहा गया है। विधि और निषेध का निर्णय शास्त्र के द्वारा ही होता है। अतः शास्त्र को भी दान कहा गया है।

इतिहास के संदर्भ में दान-विचार

[illegible]भारत देश एक धर्म-प्रधान देश रहा है। भारत के जन-जन के जीवन में धर्म के संस्कार [illegible]र अमिट हैं। यहाँ का मनुष्य अपने कर्म को, धर्म की कसौटी पर [illegible] भारत का मनुष्य धन को, जन को, परिवार को, समाज को [illegible]ड़ सकता है, परन्तु अपने धर्म को नहीं छोड़ सकता। धर्म, [illegible] धर्म के व्याख्याकार ऋषि एवं मुनि सदा नगर से दूर [illegible]कुल और आश्रमों की स्थापना नगरों में नहीं, दूर वनों [illegible] आश्रमों में हजारों छात्र तथा हजारों साधक रहा करते [illegible]दि की व्यवस्था का प्रश्न बड़ा जटिल था। छात्रों के [illegible]विघ्न न हो, और साधकों की साधना में किसी प्रकार [illegible] और सेठ-साहूकार गुरुकुलों को और आश्रमों को

ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि सम्भवतः यह ग्रन्थ आचार्य ने दान की महिमा के लिए ही लिखा हो ?

नवम परिच्छेद के प्रारम्भ में ही आचार्य ने कहा है—दान, पूजा, शील और उपवास भवरूप वन को भस्म करने के लिए, ये चारो ही आग के समान हैं। पूजा का अर्थ है—जिनदेव की भक्ति। भाव के स्थान पर पूजा का प्रयोग आचार्य ने किया है। दान क्रिया के पाँच अंग माने गए हैं—दाता, देयवस्तु, पात्र, विधि और मति। यहाँ पर मति का अर्थ है—विचार। बिना विचार के, बिना भाव के दान कैसे दिया जा सकता है ? आचार्य अमितगति ने दाता के सात भेदों का उल्लेख किया है—भक्तिमान् हो, प्रसन्नचित्त हो, श्रद्धावान् हो, विज्ञान सहित हो, लोलुपता रहित हो, शक्तिमान् हो और क्षमावान् हो। विज्ञान वाला हो' से अभिप्राय यह है कि दाता द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञाता हो। अन्यथा, दान की क्रिया निष्फल हो सकती है, अथवा दान का विपरीत परिणाम भी हो सकता है। दाता के कुछ विशेष गुणों का भी आचार्य ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है—विनीत हो, भोगों में निःस्पृह हो, समदर्शी हो, परीषह सही हो, प्रियवादी हो, मत्सररहित हो, सधवत्सल हो और वह सेवा परायण भी हो। दान की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है— जिस घर में से योगी को भोजन न दिया गया हो, उस गृहस्थ के भोजन से क्या प्रयोजन ? कुबेर की निधि भी उसे मिल जाए, तो क्या ? योगी की शोभा ध्यान से होती है, तपस्वी की शोभा संयम से होती है, राजा की शोभा सत्यवचन से और गृहस्थ की शोभा दान से होती है।" आचार्य ने यह भी कहा है—जो भोजन करने से पूर्व साधु के आगमन की प्रतीक्षा करता है। साधु का लाभ न मिलने पर भी वह दान का भागी है।'

दान के चार भेद किए हैं—अभयदान, अन्नदान, औषधदान और ज्ञान दान। अन्नदान को आहारदान भी कहा गया है, और ज्ञानदान को शास्त्रदान भी कहते हैं। पञ्च महाव्रत धारक साधु को उत्तम पात्र कहा है, देशव्रत धारक श्रावक को मध्यम पात्र कहा है, अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा है। दशम परिच्छेद के प्रारम्भ में पात्र, कुपात्र और अपात्र की व्याख्या की है। विधि सहित दान का महत्त्व बताते हुए आचार्य ने कहा—"विधिपूर्वक दिया गया थोड़ा दान भी महाफल प्रदान करता है। जिस प्रकार धरती में बोया गया छोटा सा वट बीज भी समय पर एक विशाल वृक्ष के रूप में चारो ओर फैल जाता है, जिसकी छाया में हजारो प्राणी सुख भोग करते हैं, उसी प्रकार विधि सहित छोटा दान भी महाफल देता है।" दान के फल के सम्बन्ध में, आचार्य ने बहुत सुन्दर कहा है— जैसे मेघ से गिरने वाला जल एक रूप होकर भी नीचे आधार को पाकर अनेक रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही एक ही दाता से मिलने वाला दान विभिन्न उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रों को पाकर विभिन्न फल वाला हो जाता है। कितनी सुन्दर उपमा दी गई है। अपात्र को दिए गए दान के सम्बन्ध में आचार्य ने कहा है—'जैसे कच्चे घड़े में

डाला गया जल, अधिक देर तक नहीं टिक पाता और घड़ा भी फूट जाता है, वैसे ही विगुण अर्थात् अपात्र को दिया गया दान भी निष्फल हो जाता है, और लेने वाला नष्ट हो जाता है।" इस प्रकार आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार ग्रन्थ में और उसके दशम परिच्छेद मे दान, दान का फल आदि विषय पर बहुत ही विस्तार के साथ विचार किया है।

एकादश परिच्छेद में आचार्य ने विस्तार के साथ अभयदान, अन्नदान, औषध दान और ज्ञानदान—इन चार प्रकार के दानों का वर्णन किया है। वस्तुतः देने योग्य जो वस्तु है, वे चार ही होती हैं, अभय, अन्न, औषध और ज्ञान अर्थात् विवेक। अभय को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। अभय से बढ़कर अन्य कोई इस जगत् में हो नहीं सकती। जीव को अभय देना ही परमदान है। अन्न अर्थात् आहार देना भी एक दान है। यह शरीर, जिससे मनुष्य धर्म की साधना करता है, बिना अन्न के कैसे टिक सकता है ? संयमी को, त्यागी को भी अपने संयम को स्थिर रखने के लिए अन्न की आवश्यकता पड़ती है। अन्न के अभाव में साधना भी कब तक चल सकती है। कितना भी बड़ा तपस्वी हो, कितना भी लम्बा तप किया जाए। आखिर, अन्न की शरण में तो जाना ही पड़ता है। स्वस्थ शरीर से ही धर्म और कर्म किया जा सकता है। रुग्ण काय से मनुष्य न धर्म कर सकता है, और न कोई शुभ या अशुभ कर्म ही कर सकता है। आरोग्य परम सुख है। उसका साधन है, औषध। अतः शास्त्रकारों ने औषध को भी दान मे परिगणित किया है, देय वस्तुओं मे उसकी गणना की है। ज्ञान, आत्मा का गुण है। वह तो सदा ही संप्राप्त रहता है। अतः ज्ञान का अर्थ है, विवेक। विवेक का अर्थ है—करने योग्य और न करने योग्य का निर्णय करना। यह शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है। जिसने शास्त्र नहीं पढ़े, उसे अन्धा कहा गया है। विधि और निषेध का निर्णय शास्त्र के द्वारा ही होता है। अतः शास्त्र को भी दान कहा गया है।

इतिहास के संदर्भ में दान-विचार

भारत देश एक धर्म-प्रधान देश रहा है। भारत के जन-जन के जीवन में धर्म के संस्कार गहरे और अमिट हैं। यहाँ का मनुष्य अपने कर्म को, धर्म की कसौटी पर कस के देखता है। भारत का मनुष्य धन को, जन को, परिवार को, समाज को अपने जीवन को भी छोड़ सकता है, परन्तु अपने धर्म को नही छोड़ सकता। धर्म, उसे अत्यन्त प्रिय रहा है। धर्म के व्याख्याकार ऋषि एवं मुनि सदा नगर से दूर वनों में रहा करते थे। गुरुकुल और आश्रमों की स्थापना नगरों में नहीं, दूर वनों में की गई थी। गुरुकुल और आश्रमों में हजारों छात्र तथा हजारों साधक रहा करते थे। भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था का प्रश्न बड़ा जटिल था। छात्रों के अध्ययन में किसी प्रकार का विघ्न न हो, और साधकों की साधना में किसी प्रकार की बाधा न पड़े इसलिए राजा और सेठ-साहूकार गुरुकुलों को और आश्रमों को

दान दिया करते थे। दान के बिना संस्थाओं का चलना कैसे सम्भव हो सकता था? दान का प्रारम्भ इन गुरुकुलों और आश्रमों से ही हुआ था। फिर मन्दिर आदि धर्म-स्थानों को तथा तीर्थभूमि को भी दान की आवश्यकता पड़ी। दान के क्षेत्रों का नया नया विकास होता रहा और दान की सीमा का विस्तार भी धीरे-धीरे आगे बढ़ता ही रहा।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत म तीन विश्वविद्यालय थे—नालन्दा, तक्षशिला और विक्रमशिला। इन विश्वविद्यालयों मे हजारों छात्र अध्ययन करते थे और हजारो अध्यापक अध्यापन कराते थे। ये सब विद्यालय भी दान पर ही जीवित थे, दान पर ही चला करत थ। दान के बिना इन संस्थाओं का जीवित रहना ही सम्भव नहीं था। राजा और सेठ साहूकारों के उदार दान से ही ये सब चलते रहते थ। साहित्य रचनाओं मे भी दान की आवश्यकता पड़ती थी। अजन्ता की गुफाओं का निर्माण, आबू मे कलात्मक मन्दिरों का निर्माण बिना दान के कैसे हो सकता था। दान एक व्यक्ति का हो, या फिर अनेक व्यक्तियों के सहयोग से मिला हो, पर सब था, दान पर अवलम्बित ही। कवि को यदि रोटी की चिन्ता बनी रहे, तो वह काव्य की रचना कर ही नही सकता। कलाकार यदि जीवन की व्यवस्था में ही लगा रहे, तो कैसे कला का विकास होगा? कवि को, दार्शनिक को, शिल्पी को और कलाकार को चिन्ताओं से मुक्त करना ही होगा, तभी वह निर्माण कर सकता है। इन समस्याओं के समाधान में से ही दान का जन्म हुआ है। व्यक्ति अकेला जीवित नही रह सकता, वह समाजगत होकर ही अपना विकास कर सकता है। अत दान की प्रतिष्ठा समाज के क्षेत्र मे निरन्तर बढ़ती रही है। आज भी संस्थाओं को दान की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कभी पहले थी। संस्था कैसी भी हो, धार्मिक, सामाजिक हो और चाहे राष्ट्रीय हो। सब को दान की आवश्यकता रही है, और आज भी उसकी उतनी ही उपयोगिता है। शान्तिनिकेतन, अरविन्द आश्रम, विवेकानन्द आश्रम और गांधी जी के आश्रम—इन सब का जीवन ही दान रहा है। जिसके दान का स्रोत सूख गया, उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। अत दान की आवश्यकता आज भी उतनी है, जितनी कभी पहले रही है। भारत क इतिहास मे अनेक सम्राटों का वर्णन आया है, जिन्होंने जनकल्याण के लिए अपना सर्वस्व का दान कर दिया था। सम्राट अशोक के दान का उल्लेख स्तूपों पर और चट्टानों पर अंकित है। सम्राट् हर्ष प्रति पञ्चवर्ष के बाद अपना सब कुछ दान कर डालते थे। सन्यासी, तपस्वी, मुनि और भिक्षुओं को सत्कारपूर्वक दान दिया जाता था। ब्राह्मणों को भी दान दिया जाता था। साधु, सन्यासी, भिक्षु और ब्राह्मण—ये चारों परोप जीवी रहे हैं। दान पर ही इनका जीवन चलता रहा है। आज भी दान पर ही ये सब जीवित हैं। दान की परम्परा विलुप्त हो जाए, तो सब समाप्त हो जाए। स्मृति मे कहा गया है, कि गृहस्थ जीवन धन्य है, जो सबके भार को उठाकर चल रहा है।

गृहस्थ जीवन पर ही सब संस्थाएँ चल रही हैं। अन्य सब दानोपजीवी हैं, एकमात्र गृहस्थ ही दाता है।

प्रस्तुत पुस्तक : लेखक : सम्पादक

प्रस्तुत पुस्तक का नाम है—"जैनधर्म में दान।" यह तीन भागों में विभक्त है—प्रथम अध्याय है—'दान : महत्त्व और स्वरूप।' इसमें एकादश परिच्छेद हैं—मानव जीवन का लक्ष्य, मोक्ष के चार मार्ग, दान जीवन के लिए अमृत, दान कल्याण का द्वार आदि। द्वितीय अध्याय है—'दान : परिभाषा और प्रकार।' इसमें उन्नीस परिच्छेद हैं—दान की व्याख्याएँ, दान और संविभाग, अधर्मदान और धर्मदान, दान के विविध पहलू, दान के चार भेद, अभयदान महिमा और विश्लेषण। तृतीय अध्याय है—'दान: प्रक्रिया और पात्र।' इसमें चौदह परिच्छेद हैं—दान की कला, दान की विधि, दान के दूषण और भूषण, दान और भावना, दाता के गुण-दोष और दान और भिक्षा आदि। इस प्रकार दान के समस्त विषयों को समेट लिया गया है। व्याख्याता का दृष्टिकोण विशाल और उदार रहा है। सामग्री का संचय बहुमुखी रहा है। मैंने पुस्तक का विहंगम दृष्टि से अवलोकन किया है, जिस पर से मेरा मत बना है कि दान विषय पर यह एक अधिकृत पुस्तक कही जा सकती है। विद्वान लेखक ने विविध दृष्टियों से दान पर व्यापक चिन्तन प्रस्तुत किया है। स्वयं का चिन्तन तो है ही, किन्तु उसकी पुष्टि में श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के सैकड़ों ग्रन्थों के संदर्भ, उदाहरण और इतर ग्रन्थों के भी अनेक उद्धरण देने में लेखक ने दानशील-वृत्ति का ही परिचय दिया है। इतिहास एवं लोक-जीवन की घटनाओं के प्रकाश में दान विषयक अनेक उलझे हुए प्रश्नों को बड़ी सरलता से सुलझाने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक की भाषा और शैली सुन्दर एवं मधुर है। विषय का प्रतिपादन विस्तृत तथा अभिरोचक है। अध्येता को कहीं पर भी नीरसता की अनुभूति एवं प्रतीति नहीं होती। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं के शास्त्रों से यथाप्रसंग प्रमाण उपस्थित किए गए हैं। इससे लेखक की बहुश्रुतता अभिव्यक्त होती है, और साथ ही विचार की व्यापकता भी। विषय का वर्गीकरण भी सुन्दर तथा आधुनिक बन पड़ा है। बीच-बीच में विषय के अनुरूप रूपक, दृष्टान्त और कथाओं का प्रयोग करके विषय की दुरूहता और शुष्कता का सहज ही परिहार कर दिया गया है। इतना ही नहीं, विषय का प्रस्तुतीकरण भी सरस, सरल एवं सुन्दर हो गया है। आबाल वृद्ध सभी इसके अध्ययन का आनन्द उठा सकते हैं। आज तक दान पर जिन पुस्तकों का प्रकाशन हुआ, यह पुस्तक उन सबमें उत्तम, सुन्दर तथा संग्रहणीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक अथवा व्याख्याता पण्डितप्रवर, उपाध्याय श्रीपुष्कर मुनिजी हैं। उपाध्यायजी का व्यक्तित्व प्रभावक एवं मधुर है। उनका जीवन ज्ञान और कर्म का सुन्दर समन्वय [illegible] है। उनमें एक साथ अनेक गुणों

प्रकटीकरण हुआ है—वे विचारक हैं, तत्वद्रष्टा हैं, शास्त्रों के पण्डित हैं, मधुर प्रवक्ता हैं, भावो के व्याख्याता हैं और साथ ही साधक भी हैं। 'ध्यान और जप' साधना मे उपाध्यायजी को प्रारम्भ से ही विशेष रस रहा है। स्वभाव से मधुर है, प्रकृति से सरल हैं, कर्म से पटु हैं और ज्ञान से गम्भीर हैं। सबसे मिलकर चलना आपके जीवन का व्यावहारिक सूत्र है। साहित्य रचना मे अथवा ग्रन्थ निर्माण मे आपको अपने अध्ययन काल मे रुचि रही है, जो आज विविध विषय के ग्रन्थो के लेखन और प्रकाशन से प्रकट हो रही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक द्वय हैं, स्वनामधन्य प्रसिद्ध लेखक पण्डितप्रवर श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री तथा प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस'। आप दोनो ही विद्वान् सपादको की साहित्य साधना नित्यप्रति निखर रही हैं। वर्षों से साहित्य की सर्जना कर रहे हैं। अनेकों विषयो पर शताधिक ग्रन्थो का लेखन और सम्पादन आप कर चुके हैं, आज भी आप सरस्वती के भण्डार को भरने मे सलग्न हैं। आपकी लेखनी का लोहा, समाज के मूर्धन्य विद्वान लेखक भी स्वीकार कर चुके हैं। सस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा के अनेक ग्रन्था का सम्पादन करके आपने अपनी कला की सार्थकता सिद्ध कर दी है। आपने इस ग्रन्थ का सम्पादन एव प्रकाशन करके अपनी बहुश्रुतता का ता परिचय दिया ही है, साथ मे लोक भोग्य ग्रन्थो का प्रकाशन करके आप सामान्य जनता पर अत्यन्त उपकार भी कर रहे हैं।

मेरा निवेदन

मैं अपनी भूमिका के सम्बन्ध मे क्या कहूँ। अवकाश, मुझे जरा भी नही था। अन्य कार्यों मे बहुत व्यस्त भी था। परन्तु 'सरस' जी का स्नेहमय अत्यन्त आग्रह था, कि मैंने उनकी माग को स्वीकार कर लिया। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक एव व्याख्याता उपाध्याय जी महाराज के साथ भी मेरे मधुर सम्बन्ध रहे हैं। आज भी उनके मधुर जीवन की स्नेहमयी स्मृतियाँ मेरी स्मृति मे सचित हैं। बस, इन्ही कारणो से मैंने भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया। भूमिका मे, मैंने अपने विचार मात्र दिये हैं, उद्धरणो से मैं बच कर चला हूँ। क्योकि काफी उद्धरण ग्रन्थ मे दे दिये गये हैं। मैं इस तथ्य को स्वीकार करता हूँ, कि यह पुस्तक अपने आप मे बहुत सुन्दर सिद्ध होगी।

—विजय मुनि शास्त्री

जैन भवन, मोतीकटरा आगरा
२ अक्टूबर, १९७७

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

दान : महत्व और स्वरूप (१-१६५)

द्वितीय अध्याय

दान : परिभाषा और प्रकार (१६७ ४०६)

तृतीय अध्याय
दान : प्रक्रिया और पात्र (४११-५४५)

प्रथम अध्याय

दान :
महत्व और स्वरूप

1

मानव जीवन का लक्ष्य

व्यापार के विषय में अनभिज्ञ एक श्रेष्ठीपुत्र, अपने पिता से आग्रह करके पिता की अनुमति लेकर अपने मुनीम के साथ बम्बई पहुँचा। पिता ने उसे बम्बई भेजा तो था माल खरीद कर शीघ्र ही वापिस लौटने के लिए; किन्तु वह मनमौजी, नौसिखिया एवं अनुभवहीन श्रेष्ठीपुत्र बम्बई की चकाचौंध देख कर, विविध मनोहारिणी वस्तुओं से सजी हुई दूकानें, विविध प्रकार के आकर्षक आमोद-प्रमोद के स्थान और नाट्य-शालाओं में होने वाले रम्य नाटकों को देखकर मुग्ध और लुब्ध हो गया। उसे पता ही नहीं चला कि किस प्रकार एक के बाद एक दिन बीतते चले गये? उसे यह भान ही नहीं रहा कि मैं यहाँ किसलिए आया था? मुझे पिताजी ने किस कार्य के लिए भेजा था? मुझे क्या करना चाहिए? कार्यसिद्धि के लिए कहाँ-कहाँ जाना चाहिए? वैसे उसका मुनीम उसे बार-बार याद दिला दिया करता था—"बाबू! आपको बड़े बाबूजी ने किस काम के लिए भेजा है? कितने दिन हो गए हैं?" पर, वह मुनीमजी को सदा टरका दिया करता—"अजी मुनीमजी! अभी तो बहुत दिन बाकी हैं। बम्बई पहलेपहल आये हैं तो जरा सैर-सपाटा कर लें, बम्बई के दर्शनीय स्थानों को देख लें। बार-बार बम्बई थोड़े ही आना होता है? यहाँ एक प्रसिद्ध नाटक चल रहा है, उसे भी पूरा देख लें। जी भरकर बम्बई के रमणीय पदार्थों का आस्वादन कर लें, कुछ आमोद-प्रमोद की वस्तुएँ भी खरीद लें।"

इस प्रकार श्रेष्ठीपुत्र अपने अभीष्ट कार्य को भूलकर अन्यान्य कार्यों में लग गया। अभीष्ट कार्यसिद्धि के लिए जहाँ जाना था, वहाँ न जाकर वह केवल सैरसपाटे और आमोद-प्रमोद के स्थलों में ही जाता था। किसी-किसी ने बीच-बीच में उससे पूछा भी था—"बाबूजी! कहाँ जाना है? आप तो किसी व्यापारी के लड़के मालूम होते हैं!" तब उसका घड़ाघड़ाया यही उत्तर होता—"मुझे चौपाटी, हैंगिंग गार्डन, फ्लोरा फाउन्टेन आदि स्थलों पर जाना है, बम्बई के दर्शनीय स्थानों और प्रेक्षणीय पदार्थों को देखने के लिए।"

आखिर एक महीना बीतते ही उसके पिता का तार आया—"मुनीमजी! बाबू को लेकर जल्दी लौट आओ।" मुनीम ने जब बाबू को तार पढ़ाया तो उसे एक-

दम झटका-सा लगा। वह सोचने लगा—'अभी कल परसों की बात है, बम्बई आए को हमें एक महीना हो गया। अरे! अभी तो हमने कुछ भी नहीं किया है? जिस कार्य के लिए हम बम्बई आये थे वह कार्य तो अभी कुछ नहीं हुआ है। क्या इतनी जल्दी ही वापिस लौटना पड़ेगा? हाँ, अब याद आया पिताजी ने मुझे एक महीना होते ही माल खरीद कर वापिस लौटने को कहा था। यहाँ आकर तो मैंने अभीष्ट कार्य के सम्बन्ध मे न किसी से बातचीत की, न कहीं मैं गया ही, न किसी से मिला। मुनीमजी! एक सप्ताह और ठहर जाइए न!"

मुनीम ने कठोर शब्दों में कहा—"बाबू! मैंने आपको कितनी ही बार सावधान किया था, अन्यत्र भटकते हुए आपको रोका था। अभीष्ट कार्य के लिए भी बार-बार चेतावनी दे दी थी, इसके बावजूद भी आपने मेरी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया, न अन्य किसी हितैषी की बात ही मानी। अब मैं क्या करूँ? सेठजी का आदेश आ गया है, जल्दी लौटने का! एक मास पूरा हो गया है, अब हमें वापिस लौटना ही होगा।'

सेठ का लड़का बहुत पछताया, पर अब क्या हो सकता था। माल लिये बिना खाली हाथ अपने पिता के पास वह वापिस लौट आया। पिताजी ने उसके चिन्तित चेहरे पर से ही अनुमान लगा लिया कि यह खाली हाथ आया मालूम होता है। मुनीमजी से सारी पूछताछ की, जिससे उन्हें पता लग गया कि लड़का बम्बई की भूलभुलैया म फँस गया, इस कारण कुछ भी माल (सौदा) नहीं खरीद सका और लौट आया।

यह एक रूपक है। इस रूपक का उद्देश्य—लक्ष्य के सम्बन्ध मे विचार करना है।

मानव भी एक व्यापारी पुत्र है। ससार की विविध योनियो और गतियों रूपी नगरो और राष्ट्रो मे घूम आया है। अब यह मानव रूपी व्यापारी का पुत्र बना है। अभी इसे पता ही नहीं है कि मानवगति मे, मनुष्ययोनि मे वह किसलिए आया है? वह यह भी भूल जाता है ससार नगर म उसे कौन सा माल खरीदना है? उस माल के लिए कहाँ-कहाँ किसके पास जाना है और वापिस कब लौटना है? ससार नगर में पहुँचा हुआ मानवपुत्र नगर की सासारिक चकाचौंध मे, इन्द्रिय-विषयों रूपी माल से सजी हुई दूकानो मे, कषायोत्तेजक दर्शनीय स्थलो मे, स्वैर विहार मे, अधर्म की गलियो मे इधर-उधर भटकता रहता है। उसे चलना था मोक्ष ले जाने वाले मार्गों पर, परन्तु चलने लगता है, पाप, अधर्म एव दुष्कृत्य की ओर ले जाने वाली 'राहो पर' उसे पहुँचना था, अपने लक्ष्य—मोक्षनगर को, लेकिन वह ससार नगर की भूलभुलैया मे, चक्करदार गलियो मे, विषयो की चकाचौंध म, और कषायो की धमाचौकडी मे ही भटक जाता है, उसी म रम जाता है। इसी मे उसका आयुष्य रूपी मास पूरा हो जाता है और मृत्यु (यमराज) का बुलावा आ जाता है। परन्तु वह आयुष्य पूर्ण होते समय

घबराता है, पश्चात्ताप करता है कि हाय ! मैंने संसार नगर में आ कर कुछ भी नहीं खरीदा, कोई भी चीज नहीं ली। किसी से भी नहीं मिला? इस प्रकार अभीष्ट लक्ष्य प्राप्ति के लिए जो सत्कार्य करने थे, उन्हें नहीं कर सका और खाली हाथ रह गया। मौत का वारण्ट आते ही उसे अपने कार्य की सुध आती है, पर अब क्या हो सकता है? और इस प्रकार लक्ष्यहीन मानवपुत्र हाथ मलते-मलते रह जाता है। अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो कार्य करने चाहिए, उन्हें नहीं कर पाता और जिन्हें नहीं करना चाहिए, उन कार्यों में प्रसन्नतापूर्वक जुट जाता है, उन्हें धड़ल्ले के साथ करता है। यही कारण है कि इस संसार में आकर मानव विषय कषायों और दुर्व्यवहारों में प्रवृत्त होकर अपने आपको, अपने लक्ष्य को और लक्ष्य के अनुरूप कार्यों को भूल जाता है।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को अपने जीवन का लक्ष्य, जो सर्वधर्मों एवं सर्वदर्शनों द्वारा मान्य है, जिसे सभी ऋषियों, मुनियों, तीर्थंकरों और अवतारों ने एक स्वर से स्वीकारा है, उसे इस संसार में आकर भूलना नहीं है। साथ ही, लक्ष्य से भटकाने वाले, लक्ष्य के अनुकूल कार्यों से विमुख करने वाले कार्यों से हटकर लक्ष्यानुकूल कार्यों में अहर्निश संलग्न रहना चाहिए।

इस जीवन का लक्ष्य नहीं है, विश्रान्ति भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस मंजिल पर जिसके आगे राह नहीं॥

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य क्या है? और लक्ष्य के अनुकूल प्रमुख कार्य क्या है? अपना स्वरूप क्या है? अपना असली स्थान कहाँ है? इसका जिस मानव-व्यापारी को पता नहीं, वह लक्ष्यविहीन होकर फुटबॉल की तरह इधर से उधर चक्कर काटता रहता है।

आचारांगसूत्र में भगवान् महावीर ने कहा है कि बहुत-से जीवों को यह पता ही नहीं होता कि, मैं पूर्व-दिशा से आया हूँ, पश्चिम दिशा से आया हूँ, उत्तर दिशा से आया हूँ या दक्षिण दिशा से आया हूँ?' मुझे कहाँ जाना है? क्या करना है? यह वे नहीं जानते।[१]

गृहस्थ साधक कवि श्रीमद् राजचन्द जी के शब्दों में कहें तो—

हुं कोण छूं? क्यां थी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे? राखुं के ए परिहरुं?
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो?
शुं कुटम्ब के परिवार थी वधवापणुं ए नय ग्रहो।······
वधवापणुं संसारनुं नर देह ने हारी जवो,
ऐनो विचार नहीं अहो हो, एक पल तमने हवो!

---

१. इहमेगेसिं नो सण्णा भवइ तं जहा... —आचारांग १।१।१

इन पंक्तियों का भाव स्पष्ट है। अधिकांश मनुष्यों को आज यह पता भी नहीं है कि मैं कौन हूँ ? हाँ, पूछने पर वे तपाक से यह तो कह देते हैं कि मैं प्रेमचन्द हूँ, पवनकुमार हूँ, विमलचन्द हूँ आदि। अथवा यों भी कह देते हैं—मैं वैश्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ अथवा डॉक्टर, वकील, इंजीनियर या व्यापारी हूँ। पर अपना असली स्वरूप, असली नाम वे नहीं जानते। इसी कारण वे संसार के रंग-महल में प्रविष्ट होकर अपना सब कुछ नाम, रूप भूल जाते हैं, और इन नकली, बनावटी नाम, रूपों, जातियों या पेशों के चक्कर में पड़ जाते हैं।

अधिकांश मनुष्यों को यह भी पता नहीं होता कि वे आये कहाँ से हैं ? कहाँ से या किस पुण्यकर्म से वे मनुष्य बने हैं ? उनके मनुष्य जन्म पाने के पीछे क्या रहस्य है ? ज्यादा पूछने पर वे यह कह देते हैं—हम अमुक माता-पिता से पैदा हुए हैं ? अमुक खानदान के हैं, अमुक वंश और कुल के हैं अथवा अमुक देश या नगर से आकर यहाँ बसे हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं होता कि वे मनुष्य गति से, तिर्यंचगति से, देवगति से या नरकगति से आए हैं ? कदाचित् वे शास्त्रों से सुनकर या किसी सन्मार्ग दर्शक गुरु के बता देने पर कुछ बातें यथार्थ बता देते हैं, लेकिन उनके दिल दिमाग में या संस्कारों में असली बात नहीं जम पाती। कई लोगों को अपने स्वरूप का भान नहीं रहता। वे मनुष्य जन्म पाकर भी अपने आत्मगुणों या अहिंसादि गुणों या स्वभाव के विपरीत हिंसादि दुष्कर्म करते रहते हैं। स्वार्थ-त्याग के बदले अति-स्वार्थ में फँसे हैं।

सारांश यह है कि लक्ष्यविहीन, निजस्वरूप के भान से रहित एवं कर्त्तव्य-बोध से भ्रष्ट मानव की यही दशा है। अतः मनुष्य को सर्वप्रथम अपने लक्ष्य का भान होना आवश्यक है।

यह तो हम प्रारम्भ में स्पष्ट कर आये हैं कि मानव जीवन का परमलक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का स्वरूप भी लगभग स्पष्ट है कि समस्त विकारों, कर्मों एवं वासनाओं से रहित हो जाना, कर्म और कर्मबंध के कारणों का पूर्ण अभाव हो जाना, सभी सांसारिक झमेलों से दूर हो जाना मोक्ष है।

अब प्रश्न यह है कि उस परमलक्ष्य—मोक्ष के प्राप्त करने के उपाय कौन-कौन-से हैं ? मोक्ष-प्राप्ति के साधन कौन-कौन-से हैं ? यह विषय बहुत ही गहन है। इसका स्पष्टीकरण हम अगले अध्याय में करेंगे। ☆

2

मोक्ष के चार मार्ग

एक भोलाभाला यात्री जा रहा था। यात्री सरल और जिज्ञासु था। उसे काशी पहुँचना था। अतः अपने पड़ाव से चलते ही एक महात्मा से उसने पूछा—"महात्माजी ! काशी जाने का रास्ता कौन-सा है ?"

महात्मा बोले—"भाई ! काशी जाने के चार मार्ग हैं। एक गंगानदी के किनारे-किनारे होकर जाता है, दूसरा रास्ता सड़क का है, तीसरा रेलपथ का है, जिस पर होकर ट्रेन जाती है और चौथा है—हवाई मार्ग, जो आकाश में होकर जाता है।

यात्री जिज्ञासु था, इसलिए सुनकर घबराया नहीं, उसने विनम्र भाव से पूछा—"मेरे लिए कौन-सा रास्ता आसान, अल्पव्ययसाध्य रहेगा ?"

महात्मा ने उसकी जिज्ञासु बुद्धि देखकर कहा—"देखो, हवाई मार्ग से बहुत जल्दी पहुँचा जा सकता है, परन्तु है वह बहुत ही खर्चीला; वह तुम्हारे बस का नहीं है, रहा जलमार्ग—वह भी कष्टपूर्ण है, तीसरा रेलमार्ग है, वह भी खर्चीला है। इसलिए सड़क का मार्ग ही तुम्हारे लिए आसान और सुलभ रहेगा। इस राजमार्ग पर जगह-जगह तुम्हें मार्गदर्शक पत्थर भी लगे हुए मिलेंगे, जिन पर काशी कितनी दूर है और कितनी दूर तक तुम चल चुके हो, यह भी अंकित रहेगा। दोनों ओर सघन पेड़ों की ठण्डी छाया मिलेगी। जगह-जगह तुम्हें कई सहयात्री भी मिल जायेंगे। विश्रामस्थल भी स्थान-स्थान पर मिलेंगे, जहाँ बैठ कर तुम अपनी थकान भी मिटा सकोगे, शीतल मधुर जल पीकर अपनी प्यास भी बुझा सकोगे।"

जिज्ञासु यात्री महात्मा की बात समझ गया और उसी सड़क पर चल पड़ा।

यही बात जीवन यात्री के सम्बन्ध में है। मानव को अपनी जीवन-यात्रा भी मोक्ष रूपी लक्ष्य की ओर करनी है। मोक्ष तक पहुँचने के भी महापुरुषों ने चार मार्ग बताये हैं। आचार्य विनय-विजयजी ने शान्त सुधारस भावना में इन्हीं चार मार्गों का इस प्रकार निरूपण किया है—

दान च शीलं च तपश्च भावो,
धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन ।
निरूपितो यो जगतां हिताय,
स मानसे मे रमतामजस्रम् ॥

दान, शील, तप और भाव ये चार मोक्ष के मार्ग हैं, धर्म के अंग है, वीतराग परमात्मा ने ससार के प्राणियो के कल्याण के लिए इनका निरूपण किया है। यह चतुर्विध मोक्षोपाय मेरे हृदय मे सतत रमण करे।

चारों मार्गों में सबसे आसान मार्ग—दान

ये चार मार्ग हैं—मोक्षोपाय हैं, जो मानवयात्री को अपनी मंजिल तक पहुँचा देते हैं, परन्तु यात्री के सामने फिर वही प्रश्न खड़ा होता है कि इन चारो मार्गों से कौन-सा मार्ग उसके लिए आसान, अल्पकष्टसाध्य, सुलभ और आरामदेह होगा।

जैसे उस जिज्ञासु यात्री को महात्मा ने सड़क का मार्ग सबसे आसान, अल्प-कष्ट-साध्य राजमार्ग बता दिया, वैसे ही यहाँ दान, शील, तप और भाव इन चारों मार्गों मे आसान और सर्वजनसुलभ मार्ग दान का है। क्योंकि तप प्रत्येक व्यक्ति के लिए आसान नही है, और लम्बा बाह्य तप सबके लिए अनुकूल भी नही होता और तप प्रतिदिन सम्भव भी नही है। इसलिए तप आवलवृद्ध सबके लिए इतना सुलभ नहीं है। और शील भी विषयासक्त मनुष्यो के लिए सुगम नही है। जो सामान्य गृहस्थ हैं, उनके लिए शीलपालन दुःशक्य है। फिर प्रत्येक गृहस्थ के लिए प्रतिदिन शीलपालन भी दुष्कर है। त्यागी मुनियों के लिए पूर्णरूपेण शील (ब्रह्मचर्य) का पालन विहित है, नव वाड (गुप्ति) पूर्वक ब्रह्मचर्य का विशुद्ध पालन अत्यन्त दुष्कर है।

जो व्यक्ति आरम्भ-समारम्भ में सलग्न रहते हैं, रात-दिन गृहकार्यों मे व्यापार व्यवसाय मे या खेती आदि मे अथवा कल-कारखाने आदि आजीविका के कार्यों में जुटे रहते हैं, उनके लिए शुद्ध भाव भी सुकर नही है। भाव तो हृदय की वस्तु है, जहाँ तक व्यक्ति आरम्भादि मे लगा रहता है, उसका दिल-दिमाग भी प्रायः उसी ओर लगा रहता है। प्रतिक्षण या प्रतिदिन भाव का लगातार बना रहना भी दुष्कर है। इसीलिए एक आचार्य ने इस विषय मे बताया है—

गृहस्थों के लिए तप करना सरल नहीं होता,[1] विषयासक्तो के द्वारा शील-पालन भी नही होता, और आरम्भयुक्त लोगो के हृदय मे शुभ भाव पैदा होना भी कठिन है, क्योकि भाव सदा मन-मस्तिष्क के स्वाधीन होने पर ही उत्पन्न होता है।

---

१ 'न तवो सुट्ठु गिहीण, विसयासत्ताण होइ न तु सील।
सारंभाण न भावो तो साहीणं सया भाव ॥
—अभिधान राजेन्द्रकोष

व्यापार आदि की चिन्ता में उलझे हुए मन-मस्तिष्क में उत्तम भाव कहाँ से उत्पन्न हो सकते हैं ?

इस पर से आप स्वयं समझ सकते हैं कि उपर्युक्त चतुर्विध मोक्षमार्ग में से कौन-सा मार्ग आसान और सर्वजन सुलभ है ? जब तप, शील और भाव सबके लिए सुगम और सुलभ नहीं हैं, तो फिर दान ही एक ऐसा मार्ग है, जो सुगम भी है, सर्वजनसुलभ भी है। दान एक छोटा-सा बालक भी कर सकता है, एक वृद्ध भी कर सकता है, एक युवक भी कर सकता है, एक महिला भी कर सकती है। भोगी एवं गृहस्थ सभी के लिए दान का मार्ग आसान है, अल्प कष्ट साध्य है, असम्भव भी नहीं है। दान एक ऐसा राजपथ है जिस पर आसानी से चलता हुआ मनुष्य अपनी मंजिल के निकट पहुँच सकता है। इसलिए दान का मार्ग संसार के सभी मानवों के लिए सुलभ है। दान के लिए तपस्या की तरह कोई कष्ट सहना नहीं पड़ता, न उसके लिए पूर्ण कठोर ब्रह्मचर्य-पालन की ही अनिवार्यता है, और न ही प्रतिक्षण उत्तम भावों से ओतप्रोत होने की आवश्यकता है। तप, शील और भाव सबसे प्रतिदिन नहीं हो सकते, तपस्या कोई करेगा, तभी किसी अमुक दिन या अमुक तिथियों को, उसके बाद उसे पारणा करना ही होगा, अन्न ग्रहण करना होगा, आजीवन तपस्या नहीं हो सकती, लेकिन दान तो प्रतिदिन हो सकता है; जिन्दगी भर हो सकता है। शील का पालन भी प्रत्येक गृहस्थ व्यक्ति के लिए प्रतिदिन सम्भव नहीं है, लेकिन दान तो बच्चे, बूढ़े महिला और युवक सभी के लिए प्रतिदिन सम्भव है। इसी प्रकार भावों का सातत्य भी सबके लिए आसान नहीं है, दान का सातत्य फिर भी सम्भव है, कम से कम प्रतिदिन तो दान का क्रम चल ही सकता है। इसलिए मोक्ष के चार मार्गों में दान सर्वसुलभ, आसान और अल्पकष्टसाध्य होने से मानव-यात्री के लिए सर्वश्रेष्ठ राजमार्ग है।

इसीलिए उपदेशतरंगिणी में दान को इस भूमण्डल में सर्वश्रेष्ठ बताया है—'पृथिव्यां प्रवरं दानम् ।'

धर्म के चार चरण

मोक्षमार्ग को प्राप्त करने के लिए धर्म ही उत्तम साधन है। क्योंकि धर्म के द्वारा व्यक्ति अपने संचित कर्मों का क्षय कर सकता है, दानादि गुणों को अपनाकर अपने मन, वचन, काया को पवित्र बना सकता है। दुर्गति में जाने से अपने आपको रोक सकता है। उस शुद्ध धर्म के[1] चार चरण महापुरुषों ने बताए हैं। जिनके आचरण से ही मनुष्य उपर्युक्त स्थिति प्राप्त कर सकता है। आचरण ही मनुष्य के

१ सो धम्मो चउभेओ उवइट्ठो सयलजिणवरिंदेहिं ।
दाणं सीलं च तवो भावो वि य, तस्सिमे भेया ॥"

जीवन को उन्नति के पथ पर ले जाता है। मगर धर्म का आचरण तीव्रगति से न हो तो व्यक्ति आगे नही बढ़ सकता, अपने अभीष्ट लक्ष्य को भी प्राप्त नही कर सकता। इसीलिए नीतिकारों ने कहा है—

'धर्मस्य त्वरिता गतिः, चत्वार. पादा.'

धर्म की गति तीव्र है, उसके चार चरण हैं।

नीतिकार तो इतनी-सी बात कहकर रह गए, अथवा ऊपर-ऊपर ही तैरते रह गए। मगर इसके तत्त्व की तह तक नही पहुँच सके। वास्तव मे धर्म के ये ही[1] चार चरण हैं—दान, शील, तप और भाव, जिनके सहारे से धर्म अभीष्ट लक्ष्य की ओर त्वरित गति कर सकता है।

यद्यपि धर्म के[2] चारो चरण महत्त्वपूर्ण हैं, धर्मरथ को चलाने के लिए इन चारो की समय-समय पर जरूरत पडती है। किन्तु दान न हो तो शेष तीनो अगो से काम नही चल सकता। दान के अभाव मे शेष तीनो चरणो से नम्रता और उदारता सक्रिय रूप नही ले सकती। दान मानव-जीवन मे स्वार्थ, लोभ, तृष्णा और लालसा का त्याग कराता है, मानवहृदय को वह करुणा, परोपकार और परदुख वृद्धि मे सहायता के लिए प्रेरित करता है। जैसे खेती करने से पहले किसान खेत की धरती पर उगे हुए कटीले झाड झखाडो, काटो, ककड-पत्थरो, फालतू घास आदि को उखाड कर उस धरती को साफ, समतल और नरम बना लेता है, तभी उसमे बोये हुए बीज अनाज की सुन्दर फसल दे सकते है। वैसे ही मानव की हृदयभूमि पर उगे हुए तृष्णारूपी घास, लालसा, स्वार्थ और अहतारूपी कांटो, कटीले झाड-झखाडो एव ककर-पत्थरो को उखाड कर उसे नम्र एव समरस बनाने के लिए दान की प्रक्रिया की जरूरत है, जिससे अन्य शील, तप आदि साधनाएँ भलीभांति हो सके, धर्म भावो की फसल तैयार हो सके। निष्कर्ष यह है कि हृदयभूमि को नम्र व समरस बनाकर बोये हुए दानबीज से धर्म की उत्तम फसल तैयार होती है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो धर्म के चार चरणो मे सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक चरण दान है, वही शेष तीनो चरणो मे तीव्र गति पैदा कर सकता है।

धर्म के चार अगों में दान प्रथम क्यों ?

मोक्षमार्ग के चार प्रकार बताये गये हैं, जिन्हे हम धर्म के चार अग कह

---

१ 'दान सील च तवो भावो एव चउविहो धम्मो।
सव्वजिणेहिं भणिओ, तहा दुहा सु आचरित्ते हिं॥'

—सप्ततिशतस्थान प्रकरण गा ९६.

२ दुर्गति-प्रपतज्जन्तु धारणाद् धर्म उच्यते।
दानशील-तपोभावभेदात् स तु चतुर्विध.॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित १।१।१५२

सकते हैं, उनमें दान को प्राथमिकता दी गई है। प्रश्न यह होता है कि इन चारों में से शील, तप या भाव को पहला स्थान न देकर दान को ही पहला स्थान क्यों दिया गया है? इसके पीछे भी कुछ न कुछ रहस्य है, जिसे प्रत्येक मानव को समझना अनिवार्य है।

दान को प्राथमिकता देने के पीछे रहस्य यह है कि शील, तप या भाव के आचरण का लाभ तो उसके आचरणकर्ता को ही मिलता है, अर्थात् जो व्यक्ति शील का पालन करेगा, उसे ही प्रत्यक्ष लाभ मिलेगा, इसी प्रकार तप और भाव का प्रत्यक्ष फल भी उसके कर्ता को ही मिलेगा, जबकि दान का फल लेने वाले और देने वाले दोनों को प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। यद्यपि शील, तप और भाव का फल परोक्ष रूप से कुटुम्ब या समाज को भी मिलता है, किन्तु प्रत्यक्ष फल इन्हें नहीं मिलता। जबकि दान देने से लेने वाले की क्षुधा शान्त होती है, पिपासा बुझ जाती है, उसकी अन्य आवश्यकताओं या इच्छाओं की पूर्ति होती है, उसके दुःख का निवारण होकर सुख में प्रत्यक्ष वृद्धि होती है और देने वाले को भी आनन्द, सन्तोष, औदार्य, सम्मान एवं गौरव प्राप्त होता है। यदि दान लेने वाले को कोई लाभ न होता तो वह उसे लेता ही क्यों? इसी प्रकार दान देने वाले को भी प्रत्यक्ष कोई लाभ न होता तो वह भी देता ही क्यों? दान का लाभ दाता और संगृहीता दोनों को साक्षात् प्राप्त होता है। कभी-कभी दान का प्रत्यक्ष लाभ समाज को या अमुक पीड़ित, शोषित या अभावग्रस्त मानव को भी मिलता है। इसी कारण दान को धर्म के चार अंगों में या मोक्ष के चतुर्विध मार्ग में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

दूसरी बात यह है कि शील का पालन या तप का आचरण कभी-कभी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, आम जनता सहसा नहीं जान पाती कि अमुक व्यक्ति ने तप किया है या अमुक आभ्यन्तर तप करता है, तथा अमुक व्यक्तिशील का पालन करता है या कुशील का सर्वथा त्याग कर दिया है। जबकि दान का आचरण सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। तप और शील कदाचित् सक्रिय नहीं भी होते, जबकि दान सदा सक्रिय होता है। और भाव तो सदा ही परोक्ष, अज्ञात और निष्क्रिय रहता है। भाव का प्रत्यक्ष दर्शन तो सिवाय मनःपर्यायज्ञानी या केवल ज्ञानी के और किसी को हो नहीं सकता। इस कारण भी दान को सबसे पहला नम्बर दिया गया है।

तीसरा कारण यह है कि मनुष्य जब से इस दुनिया में आँखें खोलता है, तब से आँखें मूंदने तक यानी मनुष्य-जीवन प्राप्त होने से मृत्युपर्यन्त दान की प्रक्रिया जीवन में चल सकती है, व्यक्ति दान दे सकता है, ले सकता है, जबकि शील, तप या भाव की प्रक्रिया इतनी लम्बी, दीर्घकाल तक या जन्म से लेकर मृत्यु तक नहीं चलती। शील की प्रक्रिया ज्यादा से ज्यादा चलती है तो समझदारी प्राप्त होने से लेकर देहान्त तक चल सकती है। जबकि दान की प्रक्रिया तो व्यक्ति के मरणोपरान्त भी उसके नाम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक चलती रहती है। तपश्चर्या की

प्रक्रिया भी ज्यादा से ज्यादा समझदारी प्राप्त होने से देहावसान तक चलती है, वह भी प्रतिदिन नही चलती और शरीर म रोग, मानसिक चिन्ता या शोक हो तो तप की प्रक्रिया ठप्प हो जाती है। दान का आचरण तो रोग, व्याधि, बुढापा, शोक आदि के होते हुए भी होता रहता है। और भावो की प्रक्रिया भी समझदारी— पक्की समझ प्राप्त होने से जीवनपर्यन्त चल सकती है, लेकिन बीच बीच मे रोग, चिन्ता या लोभादि अन्य कारण आ पडने पर उसकी धारा टूट भी जाती है। इसलिए दीर्घकाल तक जिन्दगी भर और कभी-कभी कई पीढियो तक दान की धारा ही अखण्डरूप से बह सकती है इस दृष्टि से भी दान को सर्वाधिक उपयोगी समझकर प्राथमिकता दी गई है।

चौथा कारण यह है कि बालको म या पारिवारिक व सामाजिक जीवन म उदारता, नम्रता, परदु खकातरता सेवा, सहानुभूति एव सहृदयता के सस्कार दान से ही जग सकते हैं, दान के आचरण से ही बालको म उदारता आदि के सुसस्कार बद्धमूल हो सकते हैं, परिवार एव समाज म भी दूर-दूर दानाचरण के पवित्र परमाणु अपना प्रभाव डालते हैं, सारे वायुमण्डल को दान का आचरण स्वच्छ बना देता है, जबकि तप, शील या भाव के सस्कार सहसा नही पडते, न ही छोटे बच्चे उन सस्कारों को ग्रहण कर सकते हैं। दान के आचरण से या बालक के हाथ से स्वय दान कराने से उसम बहुत ही शीघ्र उदारता, सहानुभूति आदि के सस्कार जड जमा लेते हैं। यही कारण है कि तप, शील या भाव को प्राथमिकता न देकर दान को इन चारों में प्राथमिकता दी गई।

पाँचवाँ कारण दान को प्राथमिकता देने का यह है कि दान से समाज को सहयोग मिलता है, समाजपर दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, बाढ, सूखा, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप आ पडने पर दान से ही उस आपत्ति का निवारण हो सकता है वह सकट मिट सकता है, जबकि तप, शील या भाव से समाज को ऐसे प्राकृतिक दु ख निवारण मे प्रत्यक्ष म उतना सहयोग या सहारा नही मिलता। समाज के अनाथ, अपाहिज, दीन दु खी या अभावग्रस्त व्यक्ति को दान से ही तुरन्त सहारा मिल सकता है, उनका सकट मिटाया जा सकता है। इसलिए दान को ही पहला स्थान दिया जाना उचित है।

छठा कारण दान को प्रथम स्थान मिलने का यह प्रतीत होता है कि समाज म व्याप्त विषमता, अभाव, शोषण या असमानता को मिटाने के लिए दान का होना अनिवार्य है। धनिका के धन का, यदि समाज म व्याप्त विषमता को कुछ अश तक कम करने के लिए दान के रूप म व्यय होता जाय अथवा समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने म उनकी धनराशि व्यय होती रहे, जैसे कि औषधालय, विद्यालय, अनाथालय आदि सस्थाओ को दिया जाता रहे तो समाज मे व्याप्त असन्तोष और प्रतिक्रिया दूर हो सकती है, समाज म सुव्यवस्था और सुख शान्ति

व्याप्त हो सकती है। इसी दृष्टिकोण से दान जितना समाज के लिए लाभदायक, सुख-शान्तिवर्द्धक एवं विषमतानाशक हो सकता है, उतने अन्य नहीं। अतः दान को उत्कृष्ट मानकर प्रथम स्थान दिया गया है। श्रमण भगवान् महावीर ने इसी दृष्टि से गृहस्थ साधकों के लिए अतिथि संविभागव्रत या यथासंविभागव्रत निश्चित किया है, ताकि गृहस्थ अपनी आय एवं साधनों में से यथोचित संविभाग उत्कृष्ट साधकों, सेवाव्रती संस्थाओं एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों के लिए करे।

एक और कारण है, दान को प्राथमिकता देने का, वह यह है कि गृहस्थ के जीवन में कूटने, पीसने, पकाने, पानी के घड़ों को भरने तथा सफाई करने आदि में अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ होते रहते हैं, अतः इनके जरिये घर में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्र एवं अतिथि आदि को देने पर पुण्य तथा निःस्वार्थ व उत्कट भावना से योग्य पात्र को देने पर धर्म का लाभ हो सकता है। इस दृष्टि से गृहस्थ के लिए दान अनिवार्य तथा प्रतिदिन की शुद्धि का कारण होने से उसे महाधर्म भी कहा है। पद्मनन्दि पंचविंशतिका में स्पष्ट कहा गया है—

नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जैः,
खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि।
उच्चैः फलं विदधतीह यथैकदाऽपि,
प्रीत्यातिशुद्धमनसा कृतपात्रदानम् ॥२।१३

—लोक में अत्यन्त विशुद्ध मन वाले गृहस्थ के द्वारा प्रीतिपूर्वक पात्र के लिए दिया गया दान जैसे उन्नत फल को देता है, वैसा फल घर की अनेक झंझटों से उत्पन्न हुए पापसमूहों के द्वारा कुबड़े यानी शक्तिहीन किये हुए गृहस्थ के व्रत नहीं देते।

इस विषय में आचार्यों ने और अधिक स्पष्टीकरण किया है—प्रश्न उठाया गया है कि[1] दानादि ही श्रावकों (गृहस्थों) का परमधर्म कैसे है? इसका उत्तर दिया है—"वह यों है कि ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय-कषाय के अधीन हैं, इस कारण इनके आर्तरौद्रध्यान उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए निश्चयरत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो इनके ठिकाना ही नहीं है, यानी अवकाश ही नहीं है।"

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ के द्वारा हुए आरम्भजनित पापों की शुद्धि के लिए दानधर्म जितना आसान होता है, उतना शील, तप और भाव नहीं। इसलिए दान को गृहस्थ के लिए परमधर्म कहा है, और यही कारण उसको प्राथमिकता देने का है।

---

१ कस्मात् स एव परमोधर्म इति चेत् निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति।

प टीका २।११

वैदिकधर्म के व्यवहारपक्ष का प्रतिपादन करने वाले मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में गृहस्थ के लिए प्रतिदिन दान की परम्परा चालू रखने हेतु 'पंच वैश्वदेवयज्ञ' का विधान है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा होने वाले आरम्भजनित दोषों को कम करने के लिए भोजन तैयार होते ही सर्वप्रथम गाय, कुत्ता, कौआ, अग्नि एवं अतिथि इन पांचों के लिए ग्रास निकाला जाय। शील, तप या भाव का विधान यहाँ सभी गृहस्थों के लिए नहीं किया गया है। इस दृष्टि से भी दान को प्रथम स्थान दिया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसीलिए परमात्मप्रकाश में स्पष्ट कहा है—गृहस्थों के लिए आहारदान आदि परमधर्म हैं।[1]

दान को प्राथमिकता देने का एक कारण यह भी सम्भव है कि जगत् में निःस्पृह, त्यागी साधु, सन्त या तीर्थंकर आदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र का उपदेश, प्रेरणा या मार्गदर्शन न देते या न दें तो मनुष्य दुर्लभबोधि, बर्बर, नरभक्षी या पिशाचवत् अतिस्वार्थी बना रहता, अमेरिका के नरभक्षी मनुष्यों को मानव (इन्सान) बनाने में वहाँ के साधुओं (पादरियों व धर्मगुरुओं) ने बहुत कष्टसाध्य तप किया है। परन्तु उनमें जो भिक्षाजीवी या गृहस्थों के दान पर आश्रित साधु, सन्त हैं, उनको जीवन की आवश्यक वस्तुएँ गृहस्थ लोग दान में देकर पूर्ति करें तभी वे साधु अपने शरीर, मन, बुद्धि आदि को स्वस्थ और सशक्त रखकर संघ (समाज) सेवा का उत्कृष्ट महान् कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार के मुनियों, श्रमणों या साधु-सन्तों को आहारादि दान देकर गृहस्थ को शेष अन्न को प्रसाद के रूप में सेवन करना चाहिए तथा ऐसे सत्पात्र को दान देना श्रावक का मुख्य धर्म बताया है। रयणसार में इसी बात का समर्थन स्पष्टरूप से किया गया है—

> जो मुणिभुत्तसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणवइ दिट्ठं।
> संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥[2]
> दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मे, ण सावया तेण विणा।[3]

अर्थात्—जो भव्यजीव मुनिवरों को आहार देने के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझ कर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तमसुखों को पाता है और क्रमशः उत्तम मोक्षसुख को भी प्राप्त कर लेता है।

सुपात्र को आहारादि चार प्रकार का दान देना श्रावक का मुख्य धर्म है, जो प्रतिदिन इन दोनों को मुख्य कर्तव्य मानकर पालन करता है, वही श्रावक है, धर्मात्मा व सम्यग्दृष्टि है। दान के बिना श्रावक श्रावक नहीं रहता।

---

१ गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मः।—परमात्म प्रकाश टीका २/१११
२ रयणसार २२
३ रयणसार ११

इस पर से जाना जा सकता है कि दान जब जीवन में अनिवार्य कर्तव्य है तो उसे प्राथमिकता दिया जाना कथमपि अनुचित नहीं है।

दान को पहला स्थान केवल इस लोक में ही नहीं, देवलोक में भी दिया जाता है। यहाँ से आयुष्य पूर्ण करके जो भी व्यक्ति स्वर्ग में पहुँचता है, उसके लिए पहला प्रश्न यह अवश्य पूछा जाता है—कि वा दच्चा, कि वा भुच्चा कि वा किच्चा, कि वा समायरित्ता ? अर्थात् यह मनुष्यलोक से स्वर्ग में आया हुआ जीव वहाँ क्या दान देकर, क्या उपभोग करके, क्या कार्य करके अथवा क्या आचरण करके आया है ? मतलब यह है कि देवलोक में पहुँचते ही सर्वप्रथम और बातों का स्मरण न करके दान के विषय में ही पूछा जाता है, दान की ही बात सबसे पहले याद की जाती है, अन्य बातें बाद में पूछी जाती हैं।

इससे आप अंदाजा लगा सकते हैं कि महापुरुषों ने दान को धर्म के चार अंगों या मोक्ष के चार मार्गों में पहला स्थान क्यों दिया है ? ☆

वैदिकधर्म के व्यवहारपक्ष का प्रतिपादन करने वाले मनुस्मृति आदि ग्रन्थो मे गृहस्थ के लिए प्रतिदिन दान की परम्परा चालू रखने हेतु 'पच वैश्वदेवयज्ञ' का विधान है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा होने वाले आरम्भजनित दोषो को कम करने के लिए भोजन तैयार होते ही सर्वप्रथम गाय, कुत्ता, कौआ, अग्नि एव अतिथि इन पाचो के लिए ग्रास निकाला जाय। शील, तप या भाव का विधान वहाँ सभी गृहस्थो के लिए नही किया गया है। इस दृष्टि से भी दान को प्रथम स्थान दिया गया हो तो कोई आश्चर्य नही। इसीलिए परमात्मप्रकाश मे स्पष्ट कहा है—गृहस्थो के लिए आहारदान आदि परमधर्म हैं।[1]

दान को प्राथमिकता देने का एक कारण यह भी सम्भव है कि जगत् मे नि स्पृह, त्यागी साधु, सन्त या तीर्थंकर आदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र का उपदेश, प्रेरणा या मार्गदर्शन न देते या न दें तो मनुष्य दुर्लभबोधि, बर्बर, नरभक्षी या पिशाचवत् अतिस्वार्थी बना रहता अफ्रीका के नरभक्षी मनुष्यों को मानव (इन्सान) बनाने मे वहाँ के साधुओ (पादरियो व धर्मगुरुओ) ने बहुत कष्टसाध्य तप किया है। परन्तु उनमें जो भिक्षाजीवी या गृहस्थो को दान पर आश्रित साधु, सन्त हैं, उनको जीवन की आवश्यक वस्तुएँ गृहस्थ लोग दान मे देकर पूर्ति करें तभी वे साधु अपने शरीर, मन, बुद्धि आदि को स्वस्थ और सशक्त रखकर सघ (समाज) सेवा का उक्त महान् कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार के मुनियो, श्रमणो या साधु-सन्तो को आहारादि दान देकर गृहस्थ को शेष अन्न को प्रसाद के रूप सेवन करना चाहिए तथा ऐसे सत्पात्र को दान देना श्रावक का मुख्य धर्म बताया है। रयणसार मे इसी बात का समर्थन स्पष्टरूप से किया गया है—

जो मुणिभुत्तसेस भुजइ सो भुजए जिणवइ दिट्ठं।
ससारसारसोक्ख कमसो णिव्वाणवरसोक्ख ॥[2]
दाण पूजामुक्ख सावय धम्मे, ण सावया तेण विणा।[3]

अर्थात्—जो भव्यजीव मुनिवरो को आहार देने के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझ कर सेवन करता है, वह ससार के सारभूत उत्तमसुखो को पाता है और क्रमश उत्तम मोक्षसुख को भी प्राप्त कर लेता है।

सुपात्र को आहारादि चार प्रकार का दान देना श्रावक का मुख्य धर्म है, जो प्रतिदिन इन दोनो को मुख्य कर्तव्य मानकर पालन करता है, वही श्रावक है, धर्मात्मा व सम्यग्दृष्टि है। दान के विना श्रावक श्रावक नही रहता।

---

१ गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्म।—परमात्म प्रकाश टीका २/१११
२ रयणसार २२
३ रयणसार ११

इस पर से जाना जा सकता है कि दान जब जीवन में अनिवार्य कर्तव्य है तो उसे प्राथमिकता दिया जाना कथमपि अनुचित नहीं है।

दान को पहला स्थान केवल इस लोक में ही नहीं, देवलोक में भी दिया जाता है। यहाँ से आयुष्य पूर्ण करके जो भी व्यक्ति स्वर्ग में पहुँचता है, उसके लिए पहला प्रश्न यह अवश्य पूछा जाता है—**कि वा दच्चा, किं वा भुच्चा किं वा किच्चा, किं वा समायरित्ता?** अर्थात् यह मनुष्यलोक से स्वर्ग में आया हुआ जीव वहाँ क्या दान देकर, क्या उपभोग करके, क्या कार्य करके अथवा क्या आचरण करके आया है? मतलब यह है कि देवलोक में पहुँचते ही सर्वप्रथम और बातों का स्मरण न करके दान के विषय में ही पूछा जाता है, दान की ही बात सबसे पहले याद की जाती है, अन्य बातें बाद में पूछी जाती हैं।

इससे आप अंदाजा लगा सकते हैं कि महापुरुषों ने दान को धर्म के चार अंगों या मोक्ष के चार मार्गों में पहला स्थान क्यों दिया है? ☆

3

दान से विविध लाभ

दान से क्या लाभ ?

कई लोग लाभवादी दृष्टिकोण के होते हैं, वे किसी काम को करने से पहले उसके हानि-लाभ के बारे में अवश्य सोचेंगे, एक बार नहीं, बार-बार। अगर उस काम से कुछ फायदा नजर आता है तो वे उस कार्य को करने में वे प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा हर्गिज नहीं। अगर उन्हें उस कार्य में जरा-सी हानि मालूम होती है तो वे उस कार्य को करने में हिचकिचाते हैं।

समझदारों की एक उक्ति है—*'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'* अर्थात् किसी भी काम में मूर्ख या मन्दबुद्धि भी तब तक प्रवृत्त नहीं होता, जब तक वह उस कार्य का प्रयोजन न जान ले अथवा उस कार्य का महत्त्व न समझ ले। मतलब यह है कि समझदार मनुष्य किसी उद्देश्य को सामने रखकर ही कार्य करता है।

दान के सम्बन्ध में भी यह बात तर्कशील व्यक्ति प्रस्तुत करते हैं कि दान हम क्यों दें ? एक तो हम अपनी चीज से वंचित हों, और फिर उसके देने से कोई प्रयोजन (मतलब) भी सिद्ध न होता हो, दान देने से तिजोरी या भण्डार खाली भी हो और बदले में कुछ भी लाभ न मिले, तो ऐसे दानकार्य में विवेकी व्यक्ति सहसा कैसे प्रवृत्त होगा ? क्योंकि दान में तो अपने स्वामित्व की कुछ-न-कुछ चीज निकाली या छोडी ही जाती है, अगर दान के रूप में किसी वस्तु को छोडने से कोई लाभ भी न हो, तब ऐसा घाटे का सौदा भला कौन बुद्धिमान करना चाहेगा।

दिया हुआ कुछ भी निष्फल नहीं जाता—

इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के उत्तर में नीतिकार कहते हैं—

> पात्रे धर्मनिबन्धनं तदितरे श्रेष्ठं दयाख्यापकम्,
> मित्रे प्रीतिविवर्धनं तदितरे वैरापहारक्षमम्,
> भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सम्मानसम्पादकम्,
> भट्टादौ सुयशस्करं वितरणं न क्वाऽप्यहो निष्फलम् ॥
>
> —सिन्दूर प्रकरण—८१

दान कहीं भी निष्फल नहीं जाता। देखो, सुपात्र को दान देने से वह धर्म

का कारण बनता है। दीन-दुःखी या अनुकम्पा योग्य पात्रों को देने से वह दाता की दया को बखानता है। मित्र को देने से परस्पर प्रेम बढ़ाता है, और शत्रु को दान देने से वह वैर भाव को नष्ट कर देने में समर्थ है। भृत्य (सेवक) को दान देने से उसके दिल में भक्ति का प्रवाह पैदा करता है। राजा को देने से सम्मान दिलाता है। चारण भाट आदि को देने से वह कीर्ति फैलाता है। सचमुच, दान कभी निष्फल नहीं जाता।

सुपात्रदान से एकान्त धर्म-प्राप्ति

वास्तव में दान कभी व्यर्थ नहीं जाता। दान से एकान्त धर्म-प्राप्ति होती है। एक सुपात्र महामुनि श्रमण या त्यागी साधु को दान देने से वह धर्म का कारण बनता है। बशर्ते कि उस दान के पीछे कोई नामना-कामना-लोभ या स्वार्थ की भावना न हो। विधिपूर्वक दिया हुआ दान संवर और निर्जरा का कारण बनता है।

उस दान में वस्तु महत्त्वपूर्ण नहीं होती, भाव ही महत्त्वपूर्ण होता है, भावों से ही कर्मों का क्षय होता है और भावों से ही आते हुए कर्मों का निरोध होता है। आचारांग सूत्र में इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से बताया गया है कि—"केवल ज्ञानी[1] (मतिमान) वर्द्धमान स्वामी ने बताया है, कि समनोज्ञ व्यक्ति, समनोज्ञ (सुविहित) साधु को अशन-पान-खादिम या स्वादिम आहार-वस्त्र-पात्रया शय्या प्रदान करे, उसे निमंत्रित करे, परम आदरपूर्वक उसकी वैयावृत्य (सेवा) करे तो वह धर्म का आदान (ग्रहण) करता है।"

सुबाहुकुमार ने सुदत्त अनगार को भक्ति बहुमानपूर्वक प्रासुक एषणीय आहार दिया था, जिसके फलस्वरूप उसे अपार ऐश्वर्य तथा अन्त में मोक्ष प्राप्त होगा। यानि तत्काल तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई, परन्तु उसके बाद वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनेगा। यह है सुपात्र दान का महाफल, जिसका महत्त्व जैन-वैदिक-बौद्ध आदि सभी धर्म-ग्रन्थों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

जैनागम भगवती सूत्र में तथारूप श्रमण या माहण को दिये गये दान को एकान्त निर्जरा-धर्म का कारण स्पष्ट रूप से बताया गया है।[2]

---

१ धम्ममायाणह, पवेदियं वद्धमाणेण मइमया, समणुण्णे समणुण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पायं वा सेज्जं वा पाएज्जा-णिमंतेज्जा कुज्जा-वेयावडियं परं आढायमाणे। —आचारांग १ श्रु० ८- अ. २ उ.

२ समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा, माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?
गोयमा ! एगंतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ।
—भगवती ८।६

'भगवन् ! श्रमणोपासक (सद्‌गृहस्थ) यदि तथारूप श्रमण या माहन को प्रासुक एषणीय आहार देता है तो उसे क्या लाभ होता है ?'

'गौतम ! वह एकान्त कर्म निर्जरा (धर्म प्राप्ति) करता है, किन्तु किञ्चित् भी पापकर्म नहीं करता।'

यह है दान से धर्म प्राप्ति रूप फल का ज्वलन्त प्रमाण ! इसीलिए चाणक्य ने कौटिल्य अर्थशास्त्र मे दान को धर्म (दान धर्म) स्पष्ट रूप से कहा है।

इससे आगे बढकर दान का फल समाधि प्राप्ति बताया है।

दान से समाधि प्राप्ति

जिस समाधि (मानसिक शान्ति, परम आनन्द) के लिए लोग जगलो मे खाक छानते हैं, पहाडो मे घूमते हैं यौगिक क्रियाएँ करते हैं, दीर्घ तप और त्याग करते हैं, फिर भी उन्हें वास्तविक समाधि प्राप्त नहीं होती। लेकिन भगवती सूत्र मे स्पष्ट कहा है कि त्यागी श्रमण माहनो को जो श्रमणोपासक (सद्‌गृहस्थ) उनके योग्य कल्प्य वस्तुओं का दान देकर उनको समाधि (सुखशान्ति) पहुँचाता है, उस समाधि कर्ता को समाधि प्राप्त कराने के कारण समाधि प्राप्त होती है।[१]

शालिभद्र ने पूर्व जन्म मे ग्वाले के पुत्र के रूप मे एक मासिक उपवास के तपस्वी मुनि को उत्कट भावो से दान देकर सुखसाता पहुँचाई थी। उसका फल उसे भी सुख शान्ति (साता वेदनीय) के रूप में मिला।

इटली की एक ऐतिहासिक घटना है। सर्दियो के दिन थे। लोग गर्म कपडे पहने हुए बाजारो मे घूम रहे थे। तभी एक बालक अपनी माँ के साथ बाजार आया बालक की आयु ७ वर्ष से अधिक न थी। सडक पर एक बूढा भिखारी बैठा था। वह भीख माग रहा था। बूढा शर्दी से ठिठुर रहा था। बेचारे के शरीर पर फटे-पुराने चिथडे थे। बालक की नजर भिखारी पर पडी। अपनी माँ की उँगली छोड कर वह बूढे को एकटक देखने लगा और अपनी माँ से कहा—"माँ ! इसे जरूर कुछ दो। बेचारा भूखा होगा। देखो न, बेचारा ठड से काँप रहा है।"

बूढे भिखारी की आँखो से खुशी के आँसू टपकने लगे। वह बोला—"यह बालक एक दिन बडा आदमी बनेगा। दु खियो के लिए इसके दिल मे बडा दर्द है। फिर बूढे ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए उसे आशीर्वाद दिया।

यही बालक बडा होने पर इटली का नेता—'मेजिनी' बना।

अत दु खियो और पीडितो को दान देकर उनके दु ख मिटाने से उनके हृदय

---

१ 'समणोवासएण तहारूव समण वा जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएति। समाहिकारएण तमेव समाहिं पडिलब्भई ॥

—भगवती सूत्र श ७ उ १

से भी आशीर्वाद के फूल बरस पड़ते हैं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वाति ने स्पष्ट कहा है—दान से सातावेदनीय (शारीरिक, मानसिक सुख-शान्ति और समाधि) की प्राप्ति होती है। अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति अनुकम्पा करना, वृत्ति (आजीविका) देना यथोचित रूप से दान देना—सराग संयम आदि का योग, क्षमा और शौच ये सातावेदनीय के बन्ध के कारण हैं।[1]

दान से दूसरों के हृदय को शान्ति और समाधि पहुँचती है, इस कारण दानदाता को उन दुःखितों और पीड़ितों के अन्तर की हजार-हजार दुआएँ और आशीषें मिलती हैं।

संसार में अनेक मनुष्य ऐसे हैं, जिनके पास अपना कहने को कोई मकान तो दूर रहा, पर सिर छिपाने को भी झोंपड़ा भी नहीं, जो फटेहाल हैं, जिनके तन पर पूरे कपड़े भी नहीं हैं सर्दी से शरीर ठिठुर रहा है, अनेक व्यक्ति ऐसे हैं, जिनके पास खाने के लिए एक जून की रोटी भी नहीं है, और न ही उनके पास पर्याप्त पैसा है। विश्व में कई लोग अन्धे, अपाहिज और अशक्त हैं, दरिद्र हैं, असाध्य रोग से ग्रस्त हैं, ऐसे जरूरतमन्द एवं दयनीय व्यक्तियों को अनुकम्पा-पात्र समझ कर दान देने से उनकी अन्तरात्मा में सन्तोष पैदा होता है, उनके अन्तर से ऐसे दाता के प्रति आशीर्वाद फूट पड़ता है। इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि दान मानव-जीवन में समाधि प्राप्त करने का उत्कृष्ट कारण है। जो जिसको साता पहुँचाता है, दानादि के द्वारा, उसे अवश्य ही सुखसाता मिलती है। उससे भी बढ़कर उसे हजारों-लाखों व्यक्तियों द्वारा आशीर्वाद, प्रशंसा और सद्भावना के शुभ शब्द सुनने को मिलते हैं।

दान : सद्भावना पैदा करने का करण

अगर ऐसे अनुकम्पापात्रों को समय पर दान न दिया जाय तो संसार में विषमता फैलती है, ऐसे दीन-हीन दुःखीजनों के हृदय में भयंकर प्रतिक्रिया पैदा होती है, कभी-कभी तो वह विद्रोह का रूप ले लेती है।

अतः इस प्रकार की गरीबी-अमीरी की विषमता, भयंकर प्रतिक्रिया, विद्रोह की भावना आदि उत्पातों को मिटाकर संसार में शान्ति और सुव्यवस्था, रखने के लिए सद्भावना पैदा करने के लिए दान ही ऐसा अमोघ परम मंत्र है। हरिभद्रसूरि ने अष्टक में इसी रहस्य का उद्घाटन किया है[2]—

"दान देने वाले और लेने वाले दोनों में शुभ आशय को पैदा करता है, धनसम्पन्न की धन के प्रति जो ममता और अहंता का अभिनिवेश (आग्रह) है, उसे वह

---

१ 'भूतवृत्त्यनुकम्पादानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य।'

२ "दानं शुभाशयकरं ह्येतदाग्रहच्छेदकारि च।
सदभ्युदयसाङ्गमनुकम्पाप्रसूति च॥"

तोड़ देता है, दान अभ्युदय की परम्परा को बढ़ाता है, धर्म का सारभूत (श्रेष्ठ) अंग है और हृदय में अनुकम्पा को जन्म देने वाला है।"

दान का यह लाभ क्या कम है ? एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, एक संस्था या समाज दूसरी संस्था या समाज को, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दुःख, कष्ट, अभाव, तंगी, प्राकृतिक प्रकोप, आफत या जरूरत के समय सद्भावना और सदाशयता बनाये रखने के लिए दान देता है। साथ ही समय पर दान देने से वहाँ की सुरक्षा व सुव्यवस्था बनी रहती है। इसलिए समाज या राष्ट्र आदि की सुव्यवस्था को टिकाए रखने के लिये तथा सुख-शान्ति के लिये भी दान की प्रवृत्ति जारी रखना अनिवार्य है। मान लो, किसी प्रान्त, या राष्ट्र पर आफत या संकट के समय उसे दान नहीं मिलेगा तो वह भूख या किसी अभाव से पीडित होकर अनीति, चोरी, हत्या, लूटपाट या अन्य बुराइयाँ करने पर उतारू हो जाएगा।

भारत का इतिहास साक्षी है कि जब-जब भारत के किसी प्रान्त में दुष्काल की छाया पड़ी है और मनुष्य त्राहि-त्राहि करके मरने लगा है, उस समय यातायात के साधनों के अभाव में या अन्य किसी कारणवश उस भूखी जनता को अन्नदान के रूप में सहायता नहीं पहुँचाई गई है तो वे चोरी करने पर, अपने स्वयं के दुधमुँहे बच्चों को मारकर खाने पर या लूटपाट आदि करने पर आमादा हो गये हैं। भूखा आदमी धर्म-कर्म को ताक में रख देता है, उस समय उसे सिवाय पेट भरने के और कुछ नहीं सूझता—'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्।' इसीलिए नीतिकार कहते हैं—भूखा आदमी कौन-सा पाप नहीं कर बैठेगा यह नहीं कहा जा सकता—'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' भूखा आदमी या पीडित व्यक्ति जब यह देखता है कि अमुक सम्पन्न व्यक्ति के कोठार में अनाज भरा पड़ा है, अमुक व्यक्ति अच्छा खाते पीते और पहनते हैं, और मैं भूख के मारे मरा जा रहा हूँ, कमाई कुछ होती नहीं, या शरीर से अशक्त या अपाहिज हूँ, तब वह लूटपाट और अपहरण करने पर उतारू हो जाता है, ऐसी स्थिति समाज या राष्ट्र में विषमता और अव्यवस्था को जन्म देती है। आखिर ऐसे दुःखी, दीनहीन एवं भूखे व्यक्ति अमुक समाज, व्यक्ति या संस्था को कोसते हैं, उनकी आँखों में धनवान और साधन-सम्पन्न के धन और साधन खटकने लगते हैं। वे फिर कम्युनिस्टों या नक्सलपंथियों की शरण में जाते हैं और वे हिंसा और मारपीट या जबरन लूट द्वारा समानता स्थापित करने की सलाह देते हैं।

पोचमपल्ली (हैदराबाद) में जब एक रात में साम्यवादियों की राय से कई जमींदारों का सफाया कर दिया गया, तो उस नृशंस हत्याकाण्ड को देखकर चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गई तो राष्ट्र सन्त विनोबाजी पैदल यात्रा करके वहाँ पहुँचे। सारी स्थिति का अध्ययन किया तो पता लगा कि जमींदारों ने गरीबों के पास रोटी का कोई साधन (जमीन) नहीं दिया है, बार बार चेतावनी देने के बावजूद भी ये जमींदार नहीं समझे, न उन्होंने अपनी जमीन में से गरीबों को रोटी का साधन दिया

और न ही उन्हें कही रोजगार धंधा दिया, फलतः साम्यवादियों से मिलकर उन्होंने एक ही रात में बहुत-से जमींदारों का कत्ल कर दिया है। विनोबाजी ने इसका अहिंसक हल खोज निकाला—'भूदान'। उन्होंने बताया कि दान ही वह संजीवनी औषध है, जो जमींदारों और गरीबों (भूमिहीनों) को जिला सकती है। उन्होंने अपनी सभा में उपस्थित लोगों के सामने 'भूमिदान' की मांग की "है कोई इन भूमिहीन गरीबों को भूमि देकर विषमता को मिटाने के लिए तैयार?"

सभा में से रामचन्द्रन् रेड्डी नामक एक जमींदार खड़ा हुआ और उसने अपनी जमीन में से १०० एकड़ जमीन भूमिहीनों में बांट देने की घोषणा की। बस, वहीं से भूदान की गंगा वह चली और सारे हिन्दुस्तान में फैल गई। स्वेच्छा से दिये गए भूदान के प्रभाव से जमींदारी अत्याचार बन्द हो गए, भूमिहीन लोग शान्त हो गए। भूमिधरों के हृदय में भी करुणा और सहानुभूति प्रगट हुई। कई जगह तो भूमिहीनों ने भूदाताओं को अन्तर से दुआ दी है।

इसीलिए भारतवर्ष में जब-जब किसी प्रान्त या प्रदेश में दुष्काल पड़ा है या बाढ़, भूकम्प आदि की आफत आई है, साधनसम्पन्न लोगों ने मुक्तहस्त से सद्भावना-पूर्वक दान दिया है, साधन जुटाएँ हैं।

गुजरात में जब भयंकर दुष्काल पड़ा था। जनता दाने-दाने को तरस रही थी। तभी गुजरात के खेमाशाह देदराणी जैसे कई शाहों ने मिलकर उस भयंकर दुष्काल-निवारण का जी-तोड़ प्रयत्न किया।

इसी प्रकार जगडूशाह ने अकेले ने विक्रम सम्वत् १३१२ के बाद ३ साल तक गुजरात में पड़े हुए भयंकर दुष्काल के निवारण के लिए मुक्तहस्त से अन्नादि देकर उस प्रदेश की सुखशान्ति और सुव्यवस्था कायम रखी। जगडूशाह की दानवीरता की प्रशंसा सुनकर अणहिलवाड़े के राजा वीसलदेव ने अपने मंत्री को भेजकर जगडूशाह को बुलाया। राजदरबार में जगडूशाह का बहुमान करने के बाद राजा ने उनसे पूछा—"सुना है, तुम्हारे पास ७०० गोदाम अन्न के हैं। अतः दुष्काल पीड़ितों की भूख की पीड़ा मिटाने के लिए तुमसे अन्न लेने के विचार से मैंने तुम्हें कष्ट दिया है।"

जगडूशाह ने राजा की बात सुनकर अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—"महाराज! वह अन्न प्रजा का ही है। यदि मेरे कथन पर विश्वास न हो तो गोदामों में लगे ताम्रपत्र देख लीजिए।" फौरन ताम्रपत्र मंगवाया गया। जिस पर लिखा था—

'जगडूः कल्पयामास रंकार्थं हि कणानमून्।'

—और ८ हजार मूड़े यानी ३२ हजार मन अन्न जगडूशाह ने महाराजा वीसलदेव को यह कहकर सौंप दिया—"अगर किसी का भी प्राण दुर्भिक्ष से गया तो मुझे भयंकर पाप लगेगा।" उस समय दुष्काल का प्रभाव लगभग सारे देश मे

था। इसलिए जगडूशाह ने सिन्धु देश के राजा हमीर को १२ हजार मूडे, मोइज्जुद्दीन को २१ हजार मूडे, काशी के राजा प्रतापसिंह को ३२ हजार मूडे और स्कंधिल के राजा को १२ हजार मूडे अन्न दुष्काल निवारण के लिए दिया। ११२ दानशालाएँ खुलवाई तथा कुलीन तथा मांगने मे शर्माने वाले व्यक्तियो के लिए करोड़ों सोने की दीनारें मोदक मे गुप्तरूप से रखकर भिजवाई।

इस पर से सहज ही समझा जा सकता है कि दुर्भिक्ष आदि के समय दान का कितना मूल्य है? उस समय भी निरहकारिता पूर्वक दान देने वाले जगडूशाह को कितना गौरव प्रत्यक्ष मे मिला, कितने अन्तर से आशीर्वाद मिले होंगे। और दानवृत्ति के साथ करुणाभावना के कारण कितना पुण्य, कितनी निर्जरा और संवररूप धर्म उपार्जित किया होगा! इसीलिए पचाशक-विवरण मे कहा है—

> दानात्कीर्ति: सुधा शुभ्रा दानात्सौभाग्यमुत्तमम्।
> दानात्कामार्थमोक्षा स्युर्दानधर्मो वरस्तत ॥

—दान से अमृत के समान उज्ज्वल कीर्ति फैलती है, दान से मनुष्य को उत्तम सद्भाग्य (पुण्य) प्राप्त होता है। दान से काम, अर्थ और मोक्ष का लाभ होता है। इसलिए दानधर्म श्रेष्ठ है।

जहाँ शक्ति और साधन होते हुए भी अगर दान न किया जाय तो उससे भयकर परिणाम आता है, यह प्राचीनकाल के इतिहास से भी प्रमाणित हो चुका है और वर्तमान मे भी कई जगह ऐसी घटनाएँ होती देखी जाती हैं।

जिस समय राष्ट्र एव समाज पर कोई आफत आती है, कई बार भूकम्प, बाढ़ या दूसरे राष्ट्र द्वारा आक्रमण का खतरा बढ जाता है, उस समय भारत के लोगो से जब-जब राष्ट्रीय सरकार ने अपील की है, तब-तब भारत के दीर्घदृष्टा उदारचेता लोगो ने राष्ट्र के आपद्‌ग्रस्त, बाढपीडित या भूकम्पग्रस्त मानवो को बचाने के लिए तन, मन, धन एव साधनो से जी-जान से मुक्तहस्त से दान दिया है, यहाँ की नारियों ने उदारहृदय से अपने गहने, खाने-पीने का सामान एव नकद रुपये भारत पर चीन एव पाकिस्तान के आक्रमण के समय दिये हैं। वास्तव मे, देश को बचाया है तो भारत की जनता के दान ने ही, बगलादेश को भी बचाया है तो भारत की जनता के उदारहृदय से दान के रूप मे सहायता ने ही।

दान से देश की सुरक्षा और शत्रुता का नाश

दान से किस प्रकार नगर, राष्ट्र या प्रदेश को शत्रु के द्वारा होने वाले विनाश एव लूटपाट से बचाया जाता है और वैरी को भी कैसे वश मे किया जा सकता है, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण पढिए—

अहमदाबाद उस समय घोर विपत्ति मे डूबा हुआ था। सूबेदार इब्राहीम कुलीखाँ और सिपहसालार हमीदखाँ का झगडा इस विपत्ति का कारण था। हमीदखाँ

निजाम-उल-मुल्क का चाचा था। उसके पास मराठा सेना थी। अहमदाबाद की रक्षा का भार इब्राहीम कुलीखाँ के हाथों में था। परन्तु वह हमीदखाँ के आगे टिक न सका। भद्र के किले को आँधी की तरह घेर लिया। इब्राहीम कुलीखाँ डर कर घर-किले में जा छिपा। अहमदाबाद का कोई रक्षक नहीं रहा ज्यों ही भद्र का किला टूटा, हमीदखाँ की सेना ने शहर में लूटपाट, हत्या, मारपीट, अग्निकाण्ड आदि करके विनाशलीला प्रारम्भ कर दी। सोचा—द्वार पर आए हुए इस विनाश को कैसे रोका जाय? जनता को जय-पराजय से कोई सरोकार नहीं था, वह शान्ति से सम्मान-पूर्वक जीना चाहती थी।

जब विनाशलीला किसी तरह न रुकी, तभी एक जैन वणिक, जैन-जीवन का सच्चा उपासक, कंधे पर दुशाला डाले आगे आया। नाम था—नगरसेठ खुशालचन्द्र! अनेक वर्षों से कई पीढ़ियों से अहमदाबाद की १८ जातियों की नगरसेठाई उसको मिली हुई थी। सेठ शान्तिदास के समय से उसे नगरसेठ पद मिला था। इसी कारण नगरसेठ का कर्तव्य होता था—विपत्ति से शहर की सुरक्षा करना, नष्ट होने से बचाना। वे यह बखूबी जानते थे कि शहर की समृद्धि की रक्षा के बिना अपनी समृद्धि की रक्षा हर्गिज नहीं हो सकती। निर्धन बने हुए शहर में धनिक व्यक्ति शान्ति से नहीं रह सकता। अपनी समृद्धि की रक्षा के लिए नगर की समृद्धि की रक्षा अनिवार्य है।' अतः नगरसेठ खुशालचन्द्र स्वयं उस आग से खेलने गए। समय ऐसा था कि आने-जाने वाला सुरक्षित नहीं था, तथापि वे सेनापति हमीदखाँ के पास सकुशल पहुँच गए। उन्होंने उससे विनम्र प्रार्थना की कि नगर को अराजकता से बचाकर शीघ्र सुव्यवस्था एवं अमनचैन किया जाय।'

सेनापति आरक्त नेत्रों से नगरसेठ की ओर घूरकर देखने लगा। अहमदाबाद की जरी की पगड़ी और स्वर्णकुण्डलों से सुशोभित सौम्याकृति से सेनापति प्रभावित हो गया। उसने कहा—"पहले धन का ढेर सामने रखो! उसके बिना सेना वापिस नहीं लौट सकती।" "धन दूँगा, मांगो जितना दूंगा; लेकिन सेना को वापिस लौटाओ। ये अग्नि की ज्वालाएँ, सम्पत्ति का सर्वनाश, दीनों के आश्रयस्थानों का सत्यानाश और निर्दोष नागरिकों की हत्याएँ मुझसे नहीं देखी जातीं।" नगरसेठ के शब्दों में हृदयद्रावकता थी। "अहमदाबादी बनिये! मांगू जितना धन देगा?" सेना-पति ने गरजकर कहा। "हाँ, अवश्य दूंगा।" नगरसेठ ने कहा। किन्तु 'हाँ' कहने वाला यह बनिया जानता था कि इस प्रकार सारा उत्तरदायित्व उसके अपने कन्धों पर आएगा। एक 'हाँ' के पीछे तिजोरी का पेंदा दिख जाएगा। फिर भी नगरसेठ अपने वचन पर दृढ़ रहे। अपनी सम्पत्ति बचा लेने का स्वार्थी विचार उनके मन को छू भी नहीं सका। "आदेश दो, सेना वापिस लौट जाए। आपके कथनानुसार रकम अभी ले आता हूँ।"

सेना को वापिस लौटाने की रणभेरी बजी। लूटमार करने वाली सेना उसी

समय शिविरो मे पहुँच गई। अग्नि से जले हुए मकान बुझाए गए। जनता ने निश्चिन्तता की ठण्डी साँस ली।

कुछ ही देर बाद ४ बैलो के सुन्दर रथ मे रुपयों की थैलियाँ आ गईं। सेनापति के सामने रुपयो का ढेर लग गया। सेनापति नगरसेठ की इस दानवीरता से प्रसन्न हो उठा। उसने नगरसेठ की प्रशसा करते हुए कहा—"सेठ! तुम्हारा नगर अब सुरक्षित है। तुम्हारे उदारतापूर्वक धनदान ने नगर को बचा लिया।"

नगरसेठ खुशालचन्द्र ने सन्तुष्ट होकर कहा—"मुझे धन की परवाह नही, मुझ चिन्ता थी कि किसी तरह शहर विनाश-लीला से बच जाय। धन तो समाज से ही कमाया है और समाज के चरणो मे—सकट से रक्षा के लिए इसे अर्पण करने मे मुझ अत्यन्त प्रसन्नता है।"

पीढियो से उपार्जित और सचित धन को एक विदेशी के द्वार पर उडेल दिया। कल हुडियाँ कैसे सिकरेंगी ? थोडी पूंजी से इतना बडा व्यापार कैसे चलेगा ? इसकी चिन्ता उन्हे नही थी। सोचा—"चलो, अच्छा हुआ। पैसा देना पडा, किन्तु शहर बच गया। विरोधी अपना बन गया, यह क्या कम हुआ !"

नगरसेठ घर पहुँचे। बात चारो ओर फैल गई—"अजी! नगरसेठ खुशालचन्द्र ने हमको—हमारे शहर को बचाया है। आज शहर की सम्मान रक्षा और लूटमार उपद्रव आदि से सुरक्षा सिपाहियो ने नही, सरदारो ने नही एक सेठ ने की। अपना सर्वस्व धन देकर। अत अब हमे अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। शहर के प्रमुख व्यापारी एकत्र हुए। उन्होने सर्वानुमति से यह निर्णय किया कि नगरसेठ के समक्ष हम सब बडे व्यापारी यह प्रतिज्ञापत्र लिखकर दें कि अहमदाबाद के बाजार में जितना माल काँट पर तुलेगा, उस पर चार आने प्रतिशत नगरसेठ को दिया जाएगा।" तुरन्त प्रतिज्ञापत्र लिखा गया। उस पर हिजरी सवत् ११३७, १० माह शाबान तारीख डाली गई। उस पर राजमुद्रा भी लगाई गई। किशोरदास, रणछोडदास आदि प्रसिद्ध व्यापारियो के हस्ताक्षर थे। तब से नगरसेठ को यह रकम बराबर मिलती गई।

यह है दान के द्वारा नगर की सुरक्षा और विरोधी को अपना बनाने की कला! जब मेवाड भूमि यवनो द्वारा पददलित होने से बचाई न जा सकी। हल्दीघाटी के युद्धत्याग के बाद महाराणा प्रताप मेवाड के पुनरुद्धार की इच्छा से वीरान जगलो मे भटक रहे थे। वे पेचीदा उलझन मे थे। महाराणा प्रताप निराश और असहाय होकर मेवाडभूमि को अन्तिम नमस्कार करके जाने वाले थे, उनके मन्त्री भामाशाह को यह पता लगा। उनकी आँखो मे आँसू छलक आए। उन्होने सोचा—धन तो मुझे फिर मिल सकता है, लेकिन खोई हुई मेवाडभूमि की स्वतन्त्रता फिर मिलनी कठिन है।" अत भामाशाह २५ लाख रुपये तथा २० हजार अशर्फियाँ लेकर राणा प्रताप के पास पहुँचे। उनसे भामाशाह ने कहा—"ओ अन्नदाता! आप ही

मेवाड़ भूमि को अनाथ छोड़कर चले जायेंगे तो उसका क्या हाल होगा ? "भामा ! क्या करूँ ! लड़ाई लड़ने के लिए मेरे पास सेना नहीं है, न सेना के लिए रसद है और न ही उन्हें वेतन देने के लिए रुपये हैं। मैं स्वयं थक कर निराश हो गया !" —राणा ने कहा। भामाशाह—"अन्नदाता ! इसकी चिन्ता न करें। ये लीजिए २५ लाख रुपये की थैलियाँ और २० हजार सोने की मुहरें। इनसे २५ हजार सैनिकों का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकेगा। आप मेवाड़ भूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मेरी यह तुच्छ भेंट (दान) स्वीकार करें।" महाराणा प्रताप भामाशाह द्वारा दिये गये इस दानस्वरूप धन को देखकर खुश हो गए। उनकी आँखों में चमक आ गई। उन्होंने भामाशाह को विश्वास दिलाया कि अब मैं पूरे जी-जीन से मेवाड़ की स्वतन्त्रता के लिए लडूँगा।

यह था दानवीर भामाशाह के दान का अद्भुत प्रभाव !

दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है

यह पहले कहा जा चुका है कि दान से बड़े-से बड़ा वैर-विरोध शान्त हो जाता है। इसका फलितार्थ यह भी होता है कि दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है। महापुरुषों द्वारा यह अनुभवसिद्ध बात है कि जब भी कोई व्यक्ति उदार बन जाता है, अपने शत्रु को शत्रु नहीं मानता, घर आने पर उसका दान-सम्मान से स्वागत करता है, उसके साथ मैत्रीभाव या बन्धुभाव रखता है तो वह दान—चाहे थोड़ी ही मात्रा में हो, शत्रु का हृदय बदल देता है, उसका शत्रुभाव मित्रभाव में परिणत हो जाता है। पद्मपुराण इस तथ्य का साक्षी है। वहाँ स्पष्ट बताया गया है—

'शत्रावपि गृहाऽऽयाते नास्त्यदेयं तु किञ्चन'

—अगर शत्रु भी घर पर आ जाय तो उसे भी कुछ न कुछ दो, अर्पण करो, दान-सम्मान से उसका स्वागत करो। किसी भी वस्तु के लिए उसे इन्कार मत करो, क्योंकि शत्रु के लिए भी कोई वस्तु अदेय नहीं है। देने से मधुरता बढ़ती है।

इस्लामधर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद पैगम्बर जिन दिनों मक्का में इस्लामधर्म का प्रचार कर रहे थे, उन दिनों धर्म और रूढ़ियों के नाम पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को जिंदा जला देता था। अरबस्तान में ऐसे व्यक्ति के लिए जिंदा रहना बहुत बड़ी समस्या थी, फिर धर्म का प्रचार करना तो और भी दुष्कर कार्य था। परन्तु हजरत मुहम्मद बड़े कष्टसहिष्णु और उदार थे। उन्हें लोगों को खुदा का पैगाम सुनाना था। इसलिए वे सभी विपत्तियों का धैर्य से सामना करने के लिए तैयार रहते थे। चाहे वे सहनशील थे, किसी व्यक्ति को पीड़ा नहीं पहुँचाते थे, फिर भी पुरानी परम्परा के बहुत-से लोग उनका विरोध करते थे।

एक बार एक विरोधी ने प्रण किया कि "मैं जब तक मुहम्मद का सिर नहीं काट लूँगा, तब तक खाना नहीं खाऊंगा और इस तलवार को भी तब तक म्यान

समय शिविरो मे पहुँच गई। अग्नि मे जले हुए मकान बुझाए गए। जनता ने निश्चिन्तता की ठण्डी साँस ली।

कुछ ही देर बाद ४ बैलो के सुन्दर रथ मे रुपयों की थैलियाँ आ गईं। सेनापति के सामने रुपयो का ढेर लग गया। सेनापति नगरसेठ की इस दानवीरता से प्रसन्न हो उठा। उसने नगरसेठ की प्रशसा करते हुए कहा—"सेठ! तुम्हारा नगर अब सुरक्षित है। तुम्हारे उदारतापूर्वक धनदान ने नगर को बचा लिया।"

नगरसेठ खुशालचन्द्र ने सन्तुष्ट होकर कहा—"मुझे धन की परवाह नही, मुझ चिन्ता थी कि किसी तरह शहर विनाश-लीला से बच जाय। धन तो समाज से ही कमाया है और समाज के चरणो म—सकट से रक्षा के लिए इसे अर्पण करने मे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है।"

पीढियो से उपार्जित और सचित धन को एक विदेशी के द्वार पर उडेल दिया। बस हुडियाँ कैसे सिकरेंगी? थोडी पूँजी से इतना बडा व्यापार कैसे चलेगा? इसकी चिन्ता उन्हे नही थी। सोचा—"चलो, अच्छा हुआ। पैसा देना पडा, किन्तु शहर बच गया। विरोधी अपना बन गया, यह क्या कम हुआ!"

नगरसेठ घर पहुँचे। बात चारो ओर फैल गई—"अजी! नगरसेठ खुशालचन्द्र ने हमको—हमारे शहर को बचाया है। आज शहर की सम्मान रक्षा और लूटमार उपद्रव आदि से सुरक्षा सिपाहियो ने नही, सरदारो ने नहीं एक सेठ ने की। अपना सर्वस्व धन देकर। अत अब हमे अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। शहर के प्रमुख व्यापारी एकत्र हुए। उन्होने सर्वानुमति से यह निर्णय किया कि नगरसेठ के समक्ष हम सब बडे व्यापारी यह प्रतिज्ञापत्र लिखकर दें कि अहमदाबाद के बाजार मे जितना माल काँटे पर तुलेगा, उस पर चार आने प्रतिशत नगरसेठ को दिया जाएगा। तुरन्त प्रतिज्ञापत्र लिखा गया। उस पर हिजरी सवत् ११३७, १० माह शाबान तारीख डाली गई। उस पर राजमुद्रा भी लगाई गई। किशोरदास, रणछोडदास आदि प्रसिद्ध व्यापारियो के हस्ताक्षर थे। तब से नगरसेठ का यह रकम बराबर मिलती गई।

यह है दान के द्वारा नगर की सुरक्षा और विरोधी को अपना बनाने की कला! जब मेवाड भूमि यवनो द्वारा पददलित होने से बचाई न जा सकी। हल्दीघाटी के युद्धयाग के बाद महाराणा प्रताप मेवाड के पुनरुद्धार की इच्छा से वीरान जगलो मे भटक रहे थे। वे पेचीदा उलझन म थे। महाराणा प्रताप निराश और असहाय होकर मेवाडभूमि को अन्तिम नमस्कार करके जाने वाले थे, उनके मन्त्री भामाशाह को यह पता लगा। उनकी आँखों म आँसू छलक आए। उन्होने सोचा—धन तो मुझे फिर मिल सकता है, लेकिन खोई हुई मेवाडभूमि की स्वतन्त्रता फिर मिलनी कठिन है।" अत भामाशाह २५ लाख रुपये तथा २० हजार अशर्फियाँ लेकर राणा प्रताप के पास पहुँचे। उनसे भामाशाह ने कहा—"ओ अन्नदाता! आप ही

मेवाड़ भूमि को अनाथ छोड़कर चले जायेंगे तो उसका क्या हाल होगा ? "भामा ! क्या करूँ ! लड़ाई लड़ने के लिए मेरे पास सेना नहीं है, न सेना के लिए रसद है और न ही उन्हें वेतन देने के लिए रुपये हैं। मैं स्वयं थक कर निराश हो गया !" —राणा ने कहा। भामाशाह—"अन्नदाता ! इसकी चिन्ता न करें। ये लीजिए २५ लाख रुपये की थैलियाँ और २० हजार सोने की मुहरें। इनसे २५ हजार सैनिकों का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकेगा। आप मेवाड़ भूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मेरी यह तुच्छ भेंट (दान) स्वीकार करें।" महाराणा प्रताप भामाशाह द्वारा दिये गये इस दानस्वरूप धन को देखकर खुश हो गए। उनकी आँखों में चमक आ गई। उन्होंने भामाशाह को विश्वास दिलाया कि अब मैं पूरे जी-जान से मेवाड़ की स्वतन्त्रता के लिए लड़ूँगा।

यह था दानवीर भामाशाह के दान का अद्भुत प्रभाव !

दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है

यह पहले कहा जा चुका है कि दान से बड़े-से बड़ा वैर-विरोध शान्त हो जाता है। इसका फलितार्थ यह भी होता है कि दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है। महापुरुषों द्वारा यह अनुभवसिद्ध बात है कि जब भी कोई व्यक्ति उदार बन जाता है, अपने शत्रु को शत्रु नहीं मानता, घर आने पर उसका दान-सम्मान से स्वागत करता है, उसके साथ मैत्रीभाव या बन्धुभाव रखता है तो वह दान—चाहे थोड़ी ही मात्रा में हो, शत्रु का हृदय बदल देता है, उसका शत्रुभाव मित्रभाव में परिणत हो जाता है। पद्मपुराण इस तथ्य का साक्षी है। वहाँ स्पष्ट बताया गया है—

'शत्रावपि गृहाऽऽयाते नास्त्यदेयं तु किञ्चन'

—अगर शत्रु भी घर पर आ जाय तो उसे भी कुछ न कुछ दो, अर्पण करो, दान-सम्मान से उसका स्वागत करो। किसी भी वस्तु के लिए उसे इन्कार मत करो, क्योंकि शत्रु के लिए भी कोई वस्तु अदेय नहीं है। देने से मधुरता बढ़ती है।

इस्लामधर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद पैगम्बर जिन दिनों मक्का में इस्लामधर्म का प्रचार कर रहे थे, उन दिनों धर्म और रूढ़ियों के नाम पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को जिंदा जला देता था। अरबस्तान में ऐसे व्यक्ति के लिए जिंदा रहना बहुत बड़ी समस्या थी, फिर धर्म का प्रचार करना तो और भी दुष्कर कार्य था। परन्तु हजरत मुहम्मद बड़े कष्टसहिष्णु और उदार थे। उन्हें लोगों को खुदा का पैगाम सुनाना था। इसलिए वे सभी विपत्तियों का धैर्य से सामना करने के लिए तैयार रहते थे। चाहे वे सहनशील थे, किसी व्यक्ति को पीड़ा नहीं पहुँचाते थे, फिर भी पुरानी परम्परा के बहुत-से लोग उनका विरोध करते थे।

एक बार एक विरोधी ने प्रण किया कि "मैं जब तक मुहम्मद का सिर नहीं काट लूंगा, तब तक खाना नहीं खाऊंगा और इस तलवार को भी तब तक म्यान

समय शिविरो मे पहुँच गई। अग्नि से जले हुए मकान बुझाए गए। जनता ने निश्चिन्तता की ठण्डी साँस ली।

कुछ ही देर बाद ४ बैलो के सुन्दर रथ मे रुपयो की थैलियाँ आ गईं। सेनापति के सामने रुपया का ढेर लग गया। सेनापति नगरसेठ की इस दानवीरता से प्रसन्न हो उठा। उसने नगरसेठ की प्रशसा करते हुए कहा—"सेठ! तुम्हारा नगर अब सुरक्षित है। तुम्हारे उदारतापूर्वक धनदान ने नगर को बचा लिया।"

नगरसेठ खुशालचन्द्र ने सन्तुष्ट होकर कहा—"मुझे धन की परवाह नही, मुझे चिन्ता थी कि किसी तरह शहर विनाश लीला से बच जाय। धन तो समाज से ही कमाया है और समाज के चरणो म—सकट से रक्षा के लिए इसे अर्पण करने मे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है।"

पीढियो से उपार्जित और सचित धन को एव विदेशी के द्वार पर उडेल दिया। कल हुडियाँ कैसे सिकरेंगी? थोडी पूंजी से इतना बडा व्यापार कैसे चलेगा? इसकी चिन्ता उन्ह नही थी। सोचा—"चलो, अच्छा हुआ। पैसा देना पडा, किन्तु शहर बच गया। विरोधी अपना बन गया, यह क्या कम हुआ!"

*नगरसेठ घर पहुँचे। बात चारो ओर फैल गई—"अजी! नगरसेठ खुशाल*चन्द्र ने हमको—हमारे शहर को बचाया है। आज शहर की सम्मान रक्षा और लूटमार उपद्रव आदि से सुरक्षा सिपाहियो ने नहीं, सरदारो ने नही एक सेठ ने की। अपना सर्वस्व धन देकर। अत अब हम अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। शहर के प्रमुख व्यापारी एकत्र हुए। उन्होने सर्वानुमति से यह निर्णय किया कि नगरसेठ के समक्ष हम सब बडे व्यापारी यह प्रतिज्ञापत्र लिखकर दें कि अहमदाबाद के बाजार मे जितना माल काँटे पर तुलेगा, उस पर चार आने प्रतिशत नगरसेठ को दिया जाएगा।" तुरन्त प्रतिज्ञापत्र लिखा गया। उस पर हिजरी सवत् ११३७, १० माह शाबान तारीख डाली गई। उस पर राजमुद्रा भी लगाई गई। किशोरदास, रणछोडदास आदि प्रसिद्ध व्यापारियो के हस्ताक्षर थे। तब से नगरसेठ को यह रकम बराबर मिलती गई।

यह है दान के द्वारा नगर की सुरक्षा और विरोधी को अपना बनाने की कला! जब मेवाड भूमि यवनो द्वारा पददलित होने से बचाई न जा सकी। हल्दीघाटी के युद्धयाग के बाद महाराणा प्रताप मेवाड के पुनरुद्धार की इच्छा से वीरान जगलो मे भटक रहे थे। वे पेचीदा उलझन मे थे। महाराणा प्रताप निराश और असहाय होकर मेवाडभूमि को *अन्तिम नमस्कार करके जाने वाले थ, उनके मन्त्री* भामाशाह को यह पता लगा। उनकी आँखो मे आँसू छलक आए। उन्होने सोचा—धन तो मुझे फिर मिल सकता है, लेकिन खोई हुई मेवाडभूमि की स्वतन्त्रता फिर मिलनी कठिन है।" अत भामाशाह २५ लाख रुपये तथा २० हजार अशर्फियाँ लेकर राणा प्रताप के पास पहुँचे। उनसे भामाशाह ने कहा—"ओ अन्नदाता! आप ही

मेवाड़ भूमि को अनाथ छोड़कर चले जायेंगे तो उसका क्या हाल होगा ? "मामा ! क्या करूँ ! लड़ाई लड़ने के लिए मेरे पास सेना नहीं है, न सेना के लिए रसद है और न ही उन्हें वेतन देने के लिए रुपये हैं। मैं स्वयं थक कर निराश हो गया !" —राणा ने कहा। भामाशाह—"अन्नदाता ! इसकी चिन्ता न करें। ये लीजिए २५ लाख रुपये की थैलियाँ और २० हजार सोने की मुहरें। इनसे २५ हजार सैनिकों का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकेगा। आप मेवाड़ भूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मेरी यह तुच्छ भेंट (दान) स्वीकार करें।" महाराणा प्रताप भामाशाह द्वारा दिये गये इस दानस्वरूप धन को देखकर खुश हो गए। उनकी आँखों में चमक आ गई। उन्होंने भामाशाह को विश्वास दिलाया कि अब मैं पूरे जी-जीन से मेवाड़ की स्वतन्त्रता के लिए लडूँगा।

यह था दानवीर भामाशाह के दान का अद्भुत प्रभाव !

दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है

यह पहले कहा जा चुका है कि दान से बड़े-से बड़ा वैर-विरोध शान्त हो जाता है। इसका फलितार्थ यह भी होता है कि दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है। महापुरुषों द्वारा यह अनुभवसिद्ध बात है कि जब भी कोई व्यक्ति उदार बन जाता है, अपने शत्रु को शत्रु नहीं मानता, घर आने पर उसका दान-सम्मान से स्वागत करता है, उसके साथ मैत्रीभाव या बन्धुभाव रखता है तो वह दान—चाहे थोड़ी ही मात्रा में हो, शत्रु का हृदय बदल देता है, उसका शत्रुभाव मित्रभाव में परिणत हो जाता है। पद्मपुराण इस तथ्य का साक्षी है। वहाँ स्पष्ट बताया गया है—

'शत्रावपि गृहाऽऽयाते नास्त्यदेयं तु किञ्चन'

—अगर शत्रु भी घर पर आ जाय तो उसे भी कुछ न कुछ दो, अर्पण करो, दान-सम्मान से उसका स्वागत करो। किसी भी वस्तु के लिए उसे इन्कार मत करो, क्योंकि शत्रु के लिए भी कोई वस्तु अदेय नहीं है। देने से मधुरता बढ़ती है।

इस्लामधर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद पैगम्बर जिन दिनों मक्का में इस्लामधर्म का प्रचार कर रहे थे, उन दिनों धर्म और रूढ़ियों के नाम पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को जिंदा जला देता था। अरबस्तान में ऐसे व्यक्ति के लिए जिंदा रहना बहुत बड़ी समस्या थी, फिर धर्म का प्रचार करना तो और भी दुष्कर कार्य था। परन्तु हजरत मुहम्मद बड़े कष्टसहिष्णु और उदार थे। उन्हें लोगों को खुदा का पैगाम सुनाना था। इसलिए वे सभी विपत्तियों का धैर्य से सामना करने के लिए तैयार रहते थे। चाहे वे सहनशील थे, किसी व्यक्ति को पीड़ा नहीं पहुँचाते थे, फिर भी पुरानी परम्परा के बहुत-से लोग उनका विरोध करते थे।

एक बार एक विरोधी ने प्रण किया कि "मैं जब तक मुहम्मद का सिर नहीं काट लूँगा, तब तक खाना नहीं खाऊँगा और इस तलवार को भी तब तक म्यान

समय शिविरो मे पहुँच गई। अग्नि मे जले हुए मकान बुझाए गए। जनता ने निश्चिन्तता की ठण्डी साँस ली।

कुछ ही देर बाद ४ बैलो के सुन्दर रथ मे रुपयो की थैलियाँ आ गई। सेनापति के सामने रुपयो का ढेर लग गया। सेनापति नगरसेठ की इस दानवीरता से प्रसन्न हो उठा। उसने नगरसेठ की प्रशसा करते हुए कहा—"सेठ! तुम्हारा नगर अब सुरक्षित है। तुम्हारे उदारतापूर्वक धनदान ने नगर को बचा लिया।"

नगरसेठ खुशालचन्द्र ने सन्तुष्ट होकर कहा—"मुझे धन की परवाह नही, मुझे चिन्ता थी कि किसी तरह शहर विनाश-लीला से बच जाय। धन तो समाज से ही कमाया है और समाज के चरणो म—सकट से रक्षा के लिए इसे अर्पण करने मे मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है।"

पीढियो से उपार्जित और सचित धन को एक विदेशी के द्वार पर उडेल दिया। कल हुडियाँ कैसे सिकरेंगी? थोडी पूंजी से इतना बडा व्यापार कैसे चलेगा? इसकी चिन्ता उन्हे नही थी। सोचा—"चलो, अच्छा हुआ। पैसा देना पडा, किन्तु शहर बच गया। विरोधी अपना बन गया, यह क्या कम हुआ!"

नगरसेठ घर पहुँचे। बात चारो ओर फैल गई—"अजी! नगरसेठ खुशालचन्द्र ने हमको—हमारे शहर को बचाया है। आज शहर की सम्मान रक्षा और लूटमार उपद्रव आदि से सुरक्षा सिपाहियो ने नही, सरदारो ने नही एक सेठ ने की। अपना सर्वस्व धन देकर। अत अब हम अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। शहर के प्रमुख व्यापारी एकत्र हुए। उन्होने सर्वानुमति से यह निर्णय किया कि नगरसेठ के समक्ष हम सब बडे व्यापारी यह प्रतिज्ञापत्र लिखकर दें कि अहमदाबाद के बाजार मे जितना माल काँटे पर तुलेगा, उस पर चार आने प्रतिशत नगरसेठ को दिया जाएगा।" तुरन्त प्रतिज्ञापत्र लिखा गया। उस पर हिजरी सवत् ११३७, १० माह शाबान तारीख डाली गई। उस पर राजमुद्रा भी लगाई गई। किशोरदास, रणछोडदास आदि प्रसिद्ध व्यापारियो के हस्ताक्षर थे। तब से नगरसेठ को यह रकम बराबर मिलती गई।

यह है दान के द्वारा नगर की सुरक्षा और विरोधी को अपना बनाने की कला! जब मेवाड भूमि यवनो द्वारा पददलित होने से बचाई न जा सकी। हल्दीघाटी के युद्धयाग के बाद महाराणा प्रताप मेवाड के पुनरुद्धार की इच्छा से वीरान जगलो मे भटक रहे थे। वे पेचीदा उलझन म थे। महाराणा प्रताप निराश और असहाय होकर मेवाडभूमि को अन्तिम नमस्कार करके जाने वाले थ, उनके मन्त्री भामाशाह को यह पता लगा। उनकी आँखो मे आँसू छलक आए। उन्होने सोचा—धन तो मुझे फिर मिल सकता है, लेकिन खोई हुई मेवाडभूमि की स्वतन्त्रता फिर मिलनी कठिन है।" अत भामाशाह २५ लाख रुपये तथा २० हजार अशर्फियाँ लेकर राणा प्रताप के पास पहुँचे। उनसे भामाशाह ने कहा—"ओ अन्नदाता! आप ही

मेवाड़ भूमि को अनाथ छोड़कर चले जायेंगे तो उसका क्या हाल होगा ? "भामा ! क्या करूँ ! लड़ाई लड़ने के लिए मेरे पास सेना नहीं है, न सेना के लिए रसद है और न ही उन्हें वेतन देने के लिए रुपये हैं। मैं स्वयं थक कर निराश हो गया !" —राणा ने कहा। भामाशाह—"अन्नदाता ! इसकी चिन्ता न करें। ये लीजिए २५ लाख रुपये की थैलियाँ और २० हजार सोने की मुहरें। इनसे २५ हजार सैनिकों का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकेगा। आप मेवाड़ भूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मेरी यह तुच्छ भेंट (दान) स्वीकार करें।" महाराणा प्रताप भामाशाह द्वारा दिये गये इस दानस्वरूप धन को देखकर खुश हो गए। उनकी आँखों में चमक आ गई। उन्होंने भामाशाह को विश्वास दिलाया कि अब मैं पूरे जी-जीन से मेवाड़ की स्वतन्त्रता के लिए लड़ूँगा।

यह था दानवीर भामाशाह के दान का अद्भुत प्रभाव !

दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है

यह पहले कहा जा चुका है कि दान से बड़े-से बड़ा वैर-विरोध शान्त हो जाता है। इसका फलितार्थ यह भी होता है कि दान से शत्रु भी मित्र बन जाता है। महापुरुषों द्वारा यह अनुभवसिद्ध बात है कि जब भी कोई व्यक्ति उदार बन जाता है, अपने शत्रु को शत्रु नहीं मानता, घर आने पर उसका दान-सम्मान से स्वागत करता है, उसके साथ मैत्रीभाव या बन्धुभाव रखता है तो वह दान—चाहे थोड़ी ही मात्रा में हो, शत्रु का हृदय बदल देता है, उसका शत्रुभाव मित्रभाव में परिणत हो जाता है। पद्मपुराण इस तथ्य का साक्षी है। वहाँ स्पष्ट बताया गया है—

'शत्रावपि गृहाऽऽयाते नास्त्यदेयं तु किञ्चन'

—अगर शत्रु भी घर पर आ जाय तो उसे भी कुछ न कुछ दो, अर्पण करो, दान-सम्मान से उसका स्वागत करो। किसी भी वस्तु के लिए उसे इन्कार मत करो, क्योंकि शत्रु के लिए भी कोई वस्तु अदेय नहीं है। देने से मधुरता बढ़ती है।

इस्लामधर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद पैगम्बर जिन दिनों मक्का में इस्लामधर्म का प्रचार कर रहे थे, उन दिनों धर्म और रूढ़ियों के नाम पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को जिंदा जला देता था। अरबस्तान में ऐसे व्यक्ति के लिए जिंदा रहना बहुत बड़ी समस्या थी, फिर धर्म का प्रचार करना तो और भी दुष्कर कार्य था। परन्तु हजरत मुहम्मद बड़े कष्टसहिष्णु और उदार थे। उन्हें लोगों को खुदा का पैगाम सुनाना था। इसलिए वे सभी विपत्तियों का धैर्य से सामना करने के लिए तैयार रहते थे। चाहे वे सहनशील थे, किसी व्यक्ति को पीड़ा नहीं पहुँचाते थे, फिर भी पुरानी परम्परा के बहुत-से लोग उनका विरोध करते थे।

एक बार एक विरोधी ने प्रण किया कि "मैं जब तक मुहम्मद का सिर नहीं काट लूँगा, तब तक खाना नहीं खाऊँगा और इस तलवार को भी तब तक म्यान

मे नही डालूंगा।" वह व्यक्ति दोपहर मे ही रेगिस्तान पार करता हुआ मक्का आ धमका। उसने एक मकान के पास किसी को बैठा देखकर पूछा—"क्यो भाई! मुहम्मद यहाँ कहाँ रहता है?" उस व्यक्ति ने कहा—"भाई! तुम बहुत ही घबराये हुए हो, अतः पहले सुस्ता लो, फिर मुहम्मद की तलाश करना।"

आगन्तुक—"मैं जब तक मुहम्मद का सिर नहीं काट लूँगा, तब तक और कुछ नही करूगा।" "तुम इतनी तेज धूप मे आए हो, पहले जरा ठडे हो लो, फिर मुहम्मद को बतला देंगे, और तब तुम उसका सिर काट लेना। मालूम होता है, तुम बहुत ही भूखे-प्यासे हो।" उस व्यक्ति ने पुनः सहानुभूति बतलाई। विरोधी ने कहा—"चाहे मुझे कितनी ही भूख-प्यास हो, मगर पहले अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी है।" आगन्तुक को समझा-बुझाकर ठहराया, और वह अपने घर मे गए। अपनी बीबी से बची हुई रोटी ली, और बकरी के दूध मे चूर कर तथा पानी का गिलास लेकर बाहर आए। समझाने पर आगन्तुक ने पानी पीकर खाना शुरू किया। आगन्तुक इस प्रकार के दान-सम्मान से बहुत प्रभावित होकर आभार स्वरूप कहने लगा—"भाई! तुम कितने भले हो! उस मुहम्मद के गाँव में तुम कैसे रहते होंगे?" जब उसने खा-पी लिया, तब पूछा—"हाँ, अब ले चलो, मुझे मुहम्मद के पास।"

उस आदमी ने मुस्करा कर कहा—"मुहम्मद सामने ही हाजिर है, सिर उतार लो।"

"अरे! यह क्या? मुहम्मद और इतना उदार व दयालु! तो क्या यह भोजन और ठडा जल मुहम्मद ने ही दिया है? क्या मैं अभी तक मुहम्मद से ही बातें कर रहा था?" आगन्तुक ने पूछा।

मुहम्मद ने कहा—"हाँ, भाई! मुहम्मद यही है। यही आपकी खिदमत में हाजिर था।" यह सुनते ही विरोधी पानी-पानी हो गया। उसके हाथ से तलवार छूट गई उसने नतमस्तक होकर हजरत मुहम्मद से क्षमा मागी और कहा—आज से मुझे अपना मित्र और सेवक समझें।" मुहम्मदसाहब ने उसे गले लगाया और उसे अपना पट्ट शिष्य बनाया।

वास्तव में मुहम्मदसाहब के उदारतापूर्वक दान, सम्मान का ही यह प्रभाव था, कि शत्रु भी मित्र बन गया।

दान: मैत्री का अग्रदूत

भारतवर्ष में जब-जब इस प्रकार के प्राकृतिक प्रकोप या सकट आए हैं, तब-तब जनता ने और नरपतियों ने दिल खोलकर भरसक सहायता दान के रूप मे की है। उन्होंने मुक्तहस्त से अपना अन्न भडार खोल दिया है, कई लोगो ने अपनी हैसियत के अनुसार दुष्काल के समय क्षुधापीड़ितो को किसी भी प्रकार के जाति पाँति या धर्म-कौम के भेदभाव के बिना अपनी सम्पत्ति एव साधन दिए हैं।

कई बार शासक अपनी प्रजा को किसी संकट से पीड़ित देखकर दयार्द्र होकर अपनी सम्पत्ति का सहायता के रूप में या अन्न के रूप में दान देता था। भागवत-पुराण में राजा रंतिदेव की कथा आती है कि उन्होंने यह प्रणकर लिया था कि जब तक एक भी व्यक्ति मेरे राज्य में भूख से पीड़ित होगा, तब तक मैं स्वयं आहार नहीं लूंगा। कहते हैं, ४६ दिन तक वे निराहार रहे। अपने अन्न के भंडार भूखी जनता के लिए उन्होंने खुलवा दिये जिससे शीघ्र ही दुष्काल मिट गया। महाराजा रंतिदेव का दान एक महान् चमत्कार बन गया।

हिरात का शेख अब्दुला अन्सार अपने शिष्यों से कहा करता था—"शिष्यो ! आकाश में उड़ना कोई चमत्कार नहीं है, क्योंकि गंदी से गंदी मक्खियाँ भी आकाश में उड़ सकती हैं। पुल या नौका के बिना नदियों को पार कर लेना भी कोई चमत्कार नहीं, क्योंकि एक साधारण कुत्ता भी ऐसा कर सकता है, किन्तु दुःखी हृदयों को दान देकर सहायता करना एक ऐसा चमत्कार है, जिसे पवित्रात्मा ही कर सकते हैं।"

दान : प्रीति और मैत्री का संवर्द्धक

दान प्रीतिवर्द्धक है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। वास्तव में शास्त्र की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है—

"जहुधा वि समासेण साधूण पीतिक्कारओ पुरिसो।
इह य परत्थाय पावति, पीवीओ पीवतराओ ॥[1]

—सारी बात का निचोड़ यह है कि दान से मनुष्य साधुओं का भी प्रीतिपात्र बन जाता है। जिसके फलस्वरूप वह दानी व्यक्ति इस लोक में भी जनता का प्रेम सम्पादन कर लेता है और परलोक में भी अतिशय प्रीतिभाजन बनता है।"

साथ ही दान से सर्वत्र मित्र बन जाते हैं, यहाँ तक कि विरोधी शत्रु भी मित्र बन जाता है, दान के प्रभाव से वह मैत्री परलोक में भी जाती है, वहाँ भी सभी उसके मित्र, सुहृदय और अनुकूल बन जाते हैं। इसलिए—तथागत बुद्ध ने कहा है—

"ददं मित्तानि गंथति"[2]

—दान से मित्र गाढ़ बन जाते हैं।

अत्रिसंहिता में भी इसी बात का समर्थन किया गया है—

'नास्ति दानात् परं मित्रमिह लोके परत्र च।'

—दान के समान इस लोक और परलोक में कोई मित्र नहीं है।

---

१ निशीथचूर्णि
२ सुत्तनिपात १।१०।७

दान : एक वशीकरण मंत्र

इससे भी आगे बढ़कर कहें तो दान एक वशीकरण मंत्र है, जो सभी प्राणियों को मोह लेता है, पराया (शत्रु) भी दान के कारण बन्धु बन जाता है, इसलिए सतत दान देना चाहिए।[१] दान की देवता मनुष्य और ब्राह्मण सभी प्रशंसा करते हैं। दान से मनुष्य उन समस्त मनोवाञ्छित वस्तुओं को प्राप्त कर लेता है, जिनकी वह कामना करता है।[२]

राजस्थान में एक लौकिक कहावत है—'हाथ पोलो तो जगत गोलो' यह भी इसी कथन की पुष्टि करती है। वस्तुतः दान से शत्रु ही नहीं, क्रूर पशु पक्षी भी वश में किये जा सकते हैं। कुत्ता, गाय, भैंस, घोड़ा आदि सब पशु दान से ही मालिक के वश में हो जाते हैं, मालिक की सेवा वफादारीपूर्वक करते हैं। दान का पशुओं पर इतना जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है कि वे मालिक के द्वारा खाने पीने को कुछ दिये जाने पर अपनी संतान की इतनी परवाह नहीं करते, जितनी अपने मालिक की वफादारी-पूर्वक सेवा का ध्यान रखते हैं। इसी दृष्टि से एक विचारक ने कहा है—

पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं,
मन्यो पशोरपि विवेक विवर्जितस्य।
दत्ते खलेन निखिलं खलु येन दुग्धं,
नित्यं ददाति महिषी ससुताऽपि पश्य॥

—मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि विवेकरहित पशु को भी अपने पुत्र से भी बढ़कर प्रिय दान है। देखिये, भैंस मालिक के द्वारा खल, बिनौले आदि देने पर अपने पुत्र (पाडे) के होते हुए भी प्रतिदिन सारा का सारा दूध अपने मालिक को दे देती है।

दया एवं दान से आयु बढ़ती है

महाराष्ट्र में महिला जागरण के अग्रदूत महर्षि कर्वे को पत्रकार परिषद् में प्रश्न पूछा गया कि 'आपकी शतायु का रहस्य क्या है? लोग अनुमान ही अनुमान में गुम हैं कि आप नियमित व्यायाम करते होंगे या दूध और फल पर रहते होंगे, इस कारण आपकी आयु सौ साल की होगी।"

उत्तर में कर्वे ने कहा—"मेरे यहाँ कई दशकों पहले एक नौकरानी रहती थी। वह एक दिन अपने पति के ऑपरेशन के लिए एक हजार रुपये माँगने आई। पति के स्वस्थ हो जाने पर रुपये वापस लौटाने की बात थी। परन्तु दुर्भाग्य से ऑप-रेशन काल में उसके पति का देहान्त हो गया। वह नौकरानी रोती हुई मेरे पास

---

१ दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति, दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानात्, तस्माद्धि दानं सततं प्रदेयम्॥ —धर्मरत्न

२ दानं देवा प्रशंसन्ति मनुष्याश्च तथा द्विजा।
दानेन कामानाप्नोति यान्काश्चिन्मनसेच्छति॥

आई और आँसू बहाते हुए बोली—"मुझे सबसे अधिक वेदना तो इस बात की हो रही है कि मैं अब आपके रुपये कैसे चुका सकूंगी ? अब तो मेरे वेतन में से आप प्रतिमास काटते रहना ।"

"मैंने (कर्वे ने) गद्‌गद होकर कहा—"बहन तेरे इतने महान् दुःख के सामने इन मुट्ठीभर (१०००) रुपयों का क्या मूल्य है ? मुझे वे रुपये तुमसे बिलकुल नहीं लेने हैं । वे रुपये मैंने तुम्हें अपनी बहन मानकर दे दिये, समझ लो ।" आभारवश हर्षाश्रुओं से पूर्ण आंखें ऊँची करते हुए वह विधवा नौकरानी, जिसकी आँतें ठंडी हो गई थीं, बोली—"भाई ! तू सौ वर्ष का हो ।"

कर्वे आगे कहने लगे—"चिकित्सा विज्ञान भले ही मेरे शतायु होने का कारण दूध-फल खाना और नियमित घूमना बताए, परन्तु मैं सौ वर्ष जीया हूँ, उसका कारण मुझे तो निःसहाय नौकरानी जैसी कई बहनों व दीन-दुखी भाइयों के अन्तर से मिला हुआ आशीर्वाद ही मालूम होता है और जिसे भी मैंने इस प्रकार से दान के रूप में सहायता दी, वह मेरे वश हो गया, मेरा अपना बनकर जिन्दगी भर तक रहा ।'

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह भी फलित होता है कि दान करने से मनुष्य दीर्घायु होता है । इसीलिए नीतिकारों ने बताया 'दानादायुर्विवर्धते'दान देने से आदाता की ओर से हार्दिक आशीषें मिलती हैं, जिससे आयु का बढ़ना स्वाभाविक है । जापान के शिंटोमत के देवता 'इतिभान' ने तो स्पष्ट कहा है, अपने भक्तों से—"पुजारियो ! तुम दरिद्रता और कोढ़ से कुहकुहाते मानवों के प्रति दया और करुणा का व्यवहार करो । इन निरीह प्राणियों की भी रक्षा करो । जो दया करते हैं और दान देते हैं, उनकी आयु बढ़ती है । जैनशास्त्र में भी इसी बात की पुष्टि मिलती है—यहाँ बताया गया है—'श्रमणेभ्यो प्रासुकदानेन दीर्घायुरिति' अर्थात् श्रमणों को प्रासुक (निर्दोष) आहार का दान देने से गृहस्थ दीर्घायु होता है ।

इन सबका निष्कर्ष यह है कि दान शत्रु को मित्र बनाने वाला, प्रीतिवर्द्धक, वैर भाव को मिटाने वाला, धर्म लाभ का कारण, आयुष्यवर्द्धक सम्मान और यश का सम्पादक एवं वशीकरण मंत्र है, वह कभी निष्फल नहीं जाता ।

दान : समाज में व्याप्त विषमता का निवारक

समाज में दान का प्रवाह जारी रहने से गरीबी-अमीरी की जो खाई है, वह चौड़ी नहीं होती, और न ही गरीब में हीन-भावना पनपती है और अमीर में अहंकार की भावना आती है । जिस समाज में या जाति में ऐसी भावना होती है, वहाँ विषमता या शोषण की भावना प्रायः नहीं पनपती । वहाँ निर्धन को प्रचुर धन सम्पन्न न होने पर भी अपनी निर्धनता नहीं अखरती, वह यही समझता है कि मुझे अधिक धन रख कर करना क्या है ? जितना और जब मुझे जरूरत होता है, उतना मुझे अपने धन्धे से मिल जाता है, तथा आपातकाल में या किसी आकस्मिक संकट के समय धनिक स्वेच्छा से दे ही देता है, मुझे संचित करके या सहेज कर रखने की चिन्ता, चोरों से

बचाने की चिन्ता या अन्य अनेक चिन्ताएँ नही करनी पडती, मैं इन चिन्ताओ से बरी रहता हूँ। इस प्रकार धनिक को वह अपना रिजर्व बैंक समझता है कि जहाँ से जब चाहे और जितना आवश्यक हो, उसे मिल ही जाता है। अत धनिक का धन निर्धन की आँखो मे इसलिए नहीं खटकता कि वह वक्त जरूरत पर निर्धनो को देता रहता है, उनकी अतिरिक्त आवश्यकताओ या बीमारी, दुख सकट या असुरक्षा के खतरे के समय वह उदार दिल से दान द्वारा मदद करता रहता है।

भारतवर्ष मे ऐसी कई कौमे हैं, जिनमे दरिद्रता नाम की कोई चीज नही मिलती। मुसलमानो मे बोहरा कौम ऐसी है, जिनमे अगर किसी व्यक्ति की स्थिति बिगडने लगती है, अथवा कोई आकस्मिक सकट, बेरोजगारी या बेकारी आ जाती है तो जाति के सभी व्यक्ति मिलकर उसे चन्दा करके सहायता पहुँचा देते हैं और अपने बराबर का व्यापारी बना देते हैं या अन्य किसी उपयुक्त व्यवसाय मे लगा देते हैं। उसे दान देकर भी यह महसूस नही होने देते कि मैं दीन हीन हूँ या निर्धन हूँ।

इसी प्रकार की परिपाटी पारसी कौम मे है। पारसी लोग अपनी बिरादरी मे किसी व्यक्ति को निर्धन या साधनहीन नही रहने देते। उनमे यह विशेषता है कि वे जब भी किसी भाई को सकटग्रस्त देखते हैं तो उसे कोई न कोई रोजगार धन्धा दे या दिलाकर उसकी दरिद्रता को मिटा देते हैं।

प्राचीनकाल के ओसवाल जैन बन्धुओ मे भी इसी प्रकार की दान-परम्परा थी, जिसे वे दान कहकर अपने अहकार का प्रदर्शन नही करते थे, बल्कि समाज या जाति मे व्याप्त होने वाली विषमता को मिटाने के हेतु, वे अपनी सम्पत्ति का इस प्रकार सहायता के रूप म उपयोग करते थे, जो सामूहिक दान का ही एक प्रकार होता था। कभी कभी ऐसा दान प्रयोग सामूहिक न होकर व्यक्तिगत भी होता था।

निजाम हैदराबाद स्टेट के एक शहर मे एक उदार पूँजीपति थे। वे अपनी पूंजी को समाज की धरोहर समझते थे। इसलिए पूंजी के साथ-साथ उनका हृदय बडा उदार और दानशील था। उनकी इच्छा थी कि राजस्थान मे बहुत पिछडापन और गरीबी है, इसलिए कुछ अच्छे कर्मठ लोगो को कुछ सहायता देकर यहाँ बसाया जाय, उन्हे उनकी रुचि के अनुसार कपडे, अनाज आदि की दूकान करा दी जाय। अपनी उदार भावना के अनुसार राजस्थान से कुछ गरीब और बेरोजगार भाइयो को उन्होंने बुलाया और जो भी आता, कुछ कार्य करने की इच्छा प्रगट करता, उसे उसकी इच्छानुसार वे कपडे, अनाज आदि की दूकान करवा देते, प्रत्येक व्यक्ति को लगभग पाँच-सात सौ रुपयो की मदद कर देते और उसे कहते—देखो, यह दूकान सभालो, न्याय नीति से व्यापार करके पैसा कमाओ और अपनी कमाई मे से अमुक हिस्सा हमे बराबर देते रहा करना। जब दो-तीन साल मे उसकी दूकान जम जाती तो सेठ अपना हिस्सा निकाल लेते और पिछली जो कुछ हिस्से की रकम उन्होंने उस नये व्यापारी से ली थी, उसे वापिस उसे दे देते। इस प्रकार वह स्वतन्त्र रूप से सेठजी द्वारा दी

हुई उक्त सहायता (दान की रकम) से कार्य करने लगता और फलता-फूलता था। इस तरह उन्होंने अपने शहर में करीब १५० परिवारों को बसाया, व्यवसाय के लिए अर्थ-सहयोग दिया और उन्हें अच्छी स्थिति में पहुँचाकर उनका हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त किया। सेठजी को समाज की विषमता (दान द्वारा) मिटाने का सन्तोष हुआ और आदाता की दरिद्रता समाप्त हुई। इसीलिए दान के लिए चाणक्यनीति में स्पष्ट कहा गया—

'दारिद्र्यनाशनं दानम्'

दान वास्तव में दरिद्रता को नष्ट करता है।

विषमता मिटाने का इससे भी बढ़कर सामूहिक दान का ज्वलन्त उदाहरण है—माण्डवगढ़ का। वर्षों पहले की बात है। माण्डवगढ़ के जैन बन्धुओं ने यह निश्चय किया कि हम जैसे धर्म से समान हैं, वैसे ही अर्थ से भी सबको समान रखेंगे। हमारे नगर में बसने वाला कोई धनवान भी नहीं कहलाएगा और न कोई निर्धन कहलाएगा।" जो भी जैनबन्धु यहाँ बसने के लिए आता उसका आतिथ्य प्रत्येक घर से एक-एक रुपया और एक-एक ईंट देकर किया जाता। यानी इस प्रकार के सामूहिक दान से प्रत्येक आगन्तुक को वहाँ बसे हुए एक लाख घरों से एक लाख रुपये व्यापार के लिए और एक लाख ईंटें घर बनाने के लिए दी जातीं। मांडवगढ़ के जैनों के इस दान के नियम ने उन्हें और नगर को अमर बना दिया। आज भी नालछाप से लेकर माण्डवगढ़ तक की ६ मील लम्बी खण्डहर के रूप में एक सरीखे मकानों की पंक्ति इस सामूहिक दान की कहानी कह रही है। इसलिए अनेक प्रमाणों और अनुभवों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दान ही वह वज्र है, जो अमीरी और गरीबी की, विषमता और विभेद की दीवारें तोड़ सकता है। दान की अमोघ वृष्टि ही, मानव जाति में प्रेम, मैत्री, सद्भाव और सफलता की शीतल धारा प्रवाहित कर सकती है। ☆

[4]

दान का माहात्म्य

दान के लाभ और उसके सुपरिणाम के विषय मे कुछ चर्चा पिछले प्रकरण मे की गई है। वास्तव मे दान वह शतशाखी या सहस्रशाखी कल्पवृक्ष है जिसके सुपरिणाम सुफल हजारो रूप मे प्रकट होते हैं।

जैसे वर्षा की बूंद धरती पर जहाँ भी गिरती है वहाँ ही हरियाली, वनस्पति, फल, फूल, वृक्ष आदि अगणित वस्तुएँ पैदा कर देती है वैसे ही सद्भावपूर्वक दिये गये दान की बूंदें हजारो-हजार रूप मे नये-नये विचित्र फल पैदा करती है। दान की अचिन्त्य महिमा का विषय बहुत ही विशाल है, आज भी हम इस विषय पर चिन्तन करेंगे।

प्राप्त करने के लिए दान ही अचूक उपाय

धरती से अनाज की फसल प्राप्त करने के लिए किसान को सर्वप्रथम धरती को बीजवपन के रूप मे, पानी के रूप मे, खाद तथा सेवा के रूप मे देना पड़ता है, बिना दिये धरती एक दाने से हजार दाने नहीं देती, इसी प्रकार जगत् का यह अचूक नियम है कि यदि प्राप्त करना चाहते हो तो अर्पित करना सीखो। दान ही प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। दान प्रीजर्व (रक्षित करना) नही, अपितु ग्रो (सवर्द्धन वृद्धि करना) है। कोल्डस्टोरेज मे यदि मौसम मे आम रख दिये जायं तो वे सुरक्षित रहते हैं, और जितने रखे हैं उतने के उतने मौसम बीतने पर निकालते समय निकलते हैं, यह प्रीजर्व है, किन्तु उन्ही आमो को बो दिये जाते हैं, तो उनमे से अकुर फूटते हैं, टहनियाँ, फूल आदि के बाद प्रत्येक आम के पेड मे हजारो आम लगते हैं, यह सब सवर्द्धन='ग्रो' है। इसी प्रकार दान किया धन सवर्द्धन—'ग्रो' का कारण बनता है। इसीलिए नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने कहा था—

यदि तुम प्राप्त करना चाहते हो तो अर्पित (दान) करना सीखो !!

बैंक मे रुपये जमा कर देने पर जैसे सुरक्षित भी रहते हैं और जब चाहे तब व्यक्ति को वे रुपये ब्याज सहित मिल जाते हैं, वैसे ही दान भी पुण्य रूपी बैंक में जमा किया हुआ सुरक्षित धन है, समय आने पर वह धन भी अनेकों गुनी पुण्यवृद्धि होने से ब्याज सहित प्राप्त हो जाता है। साधारण मनुष्य को विश्वास नही होता कि दिया

गया दान निधि में सुरक्षित रहेगा और समय आने पर कई गुना अधिक मिलेगा। किन्तु जिस व्यक्ति का विश्वास होता है, वह मुक्त मन से दान के बीज बोता है। चाहे वह नकद धन के रूप में मिले, या पुण्यवृद्धि के कारण सुख-साधन प्राप्ति के रूप में मिल जाता है।

ईरान का महादानी राजा साइरस अपने दान के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। वह प्रतिदिन राजभण्डार से बहुत-सा धन दान दे दिया करता था। एक दिन उनके यहाँ दूसरे देश का एक अति धनाढ्य राजा आया। उसने साइरस की यह दानप्रवृत्ति देखी तो उसे बहुत बुरा लगा। उसने कहा—"अगर आप इस तरह अपना धन लुटाते रहे तो एक दिन खजाना खाली हो जाएगा। वक्त जरूरत पर आपको कौन मदद देगा ?"

साइरस बोला—"मुझे पक्का विश्वास है कि मुझे जब और जितने रुपयों की जरूरत होगी, तब उतने ही रुपये प्रजा अवश्य देगी। अगर आपको विश्वास न हो तो मैं कल ही आपको बताऊँ।" अतिथि राजा बोला—"आप एक लाख खर्ब रुपये माँगिए।"

राजा ने घोषणा करवाई कि 'कल मुझे एक लाख खर्ब रुपयों की जरूरत है।' बस, घोषणा की देर थी। तुरन्त ही प्रजाजनों ने अपने प्रिय राजा के लिए अपनी थैलियाँ खाली करनी शुरू कर दी। बहुत-से लोगों ने राजा के लिए हीरे, पन्ने, माणक, मोती और सोने के आभूषण भेंट दिये। कुछ ही दिनों में जब सबकी जोड़ लगाई गई तो रकम एक लाख खर्ब से ऊपर पहुँच चुकी थी। राजा साइरस ने अतिथि राजा से कहा—देखिये, राजन् ! मेरी प्रजा ने मेरी माँग पूरी कर दी है। यह रकम एक लाख खर्ब रुपयों से काफी अधिक है। अगर मैं प्रतिदिन की लाखों की आमदनी संचित करके रखता तो मुझे उसके संचय, रक्षा व व्यय की कितनी चिन्ता करनी पड़ती। फिर प्रजाजन मुझसे ईर्ष्या करते। इस दान ने तो मुझे निश्चिन्त बना दिया है।" साइरस ने प्रजा के द्वारा दी गई वह सम्पत्ति भी दान कर दी।

यह है, निश्चिन्तता, और समय पर अर्थप्राप्ति के अमोघ उपाय—दान का माहात्म्य।

दान : धन की सुरक्षा का रिजर्व बैंक

इसीलिए नीतिकार दान को धन की सुरक्षा का सर्वोत्तम उपाय बतलाते हैं—

> उपार्जितानामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम्।
> तड़ागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम्॥ —पंचतन्त्र २।१५५

—उपार्जित किये (कमाये) हुए धन का दान करते रहना ही उसकी रक्षा है। जैसे—तालाब के पानी का बहते रहना ही उसे गन्दा न होने देने का कारण है।

महाकवि नरहरि सम्राट् अकबर के दरबार में प्रसिद्ध कवि थे। एक बार उन्होंने दिल्ली से अपने पुत्र हरिनाथ के पास विपुल धनराशि भेजी। हरिनाथ ने वह सारा धन गरीब ब्राह्मणों को दान कर दिया।

कुछ समय बाद जब नरहरि घर आए तो उन्होंने अपने पुत्र से पूछा—'बेटा हरिनाथ ! मेरा भेजा हुआ धन तुमने कहाँ रखा है ?"

हरिनाथ ने विनयपूर्वक कहा—"पिताजी ! आप निश्चिन्त रहें। मैंने उसे पूर्णतया सुरक्षित कोष में जमा कर दिया है। शाम को दिखाऊँगा।"

नरहरि सुनकर चुप हो गए।

हरिनाथ ने उन सब ब्राह्मणों को कहला भेजा कि आप लोग सायकाल जब आएँ तो जिस जिसको मैंने जो जो द्रव्य वस्त्र आदि आपको मैंने दान दिए हैं, उन्हें साथ लेकर आवें।"

सायकाल ब्राह्मणों को अपनी गद्दी पर सामान साथ में लिए हुए उपस्थित होने पर हरिनाथ ने अपने पिता नरहरि से कहा—"पिताजी ! चलिए अपनी सम्पत्ति देख लीजिए। मैंने उसे कितने अच्छे सुरक्षित कोष में जमा कर रखा है।"

नरहरि ने जब ब्राह्मणों को साधन-सामग्री पाने से हर्षयुक्त देखा तो वे एकदम अवाक् हो गये। ब्राह्मणों की विदा करके उन्होंने हरिनाथ से कहा—"बेटा ! किया तो तूने खूब ! जन्म जन्मान्तर के लिए सम्पत्ति को सुरक्षित रखने का इससे बढकर और कोई सुन्दर तरीका नहीं हो सकता। परन्तु यह सब दान अपनी कमाई से करते तो अच्छा रहता !"

कहते हैं, अपने पिताजी के इस अन्तिम वाक्य से तेजस्वी पुत्र के हृदय को बहुत चोट पहुँची। वह घर छोडकर चला गया। उसने अपनी विद्वत्ता से लाखों रुपये कमाए और जरूरतमन्दों और दीनदुखियों को दान कर दिये।

जलाशय में पानी संचित होकर पड़ा रहे तो वह गन्दा हो जाता है, उस पानी का बहते रहना जरूरी है, इसी प्रकार धन का भी बहते रहना अच्छा है, अगर दान का प्रवाह बहता रहता है, तब तो धन अनेक हाथों में जाकर सुरक्षित हो जाता है। दान के साथ ही पुण्यरूपी धन की भी सुरक्षा हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो दान पुण्य का रिजर्व बैंक है। इसमें पुण्यरूपी धन सुरक्षित हो जाता है। नकद रुपयों के रूप में भले ही धन दान देने से कम होता प्रतीत होता हो, लेकिन ईरान के राजा साइरस की तरह दाता चाहे तो नकद के रूप में भी उसे मिल सकता है, कई गुना अधिक मिल सकता है, क्योंकि ऐसा उदार दानी व्यक्ति लोकप्रिय हो जाता है। इसलिए उसके लिए किसी बात की कमी आने पर नहीं रहती। बशर्ते कि उसमें अपने दान के प्रति अटल विश्वास हो। इसीलिए तथागत बुद्ध ने कहा—

'दिन्न होति सुनीहित'

दिया हुआ दान ही चिरकाल तक निधि रूप में सुरक्षित रहता है।

दिया गया दान ही वास्तविक धन है

बहुत-से लोग यह सोचते हैं कि दान देने से तो हमारी तिजोरी खाली हो जाएगी, हमें तो तिजोरी भरी हुई देखने में सन्तोष होता है। परन्तु विचारणीय बात तो यह है कि द्रव्य का अगर दान नहीं दिया जाएगा तो उसकी दो गति होगी—या तो वह खाने (उपभोग) में खर्च होगा, अथवा उसका नाश किसी न किसी रूप में हो जाएगा। एक विचारक ने कहा है—

[1]प्रदत्तस्य प्रभुक्तस्य दृश्यते महदन्तरम्।
दत्तं श्रेयांसि संसूते, विष्ठा भवति भक्षितम्॥

दिये हुए एवं खाये हुए द्रव्य में बड़ा-भारी अन्तर है। दिया गया द्रव्य श्रेय अर्जित करता है, पुण्योपार्जन करता है और खाये हुए का मल बनता है।

इस प्रकार से आप समझ सकते हैं कि प्राप्त पदार्थ का स्वयं सर्वस्व उपभोग कर लेने की अपेक्षा दूसरों को देना अभीष्ट है। जो दूसरों को दिया जाता है, वही वास्तविक धन है, क्योंकि वही परलोक में साथ आने वाला है, और इहलोक में भी पुण्यवृद्धि करके मनुष्य को सुख पहुँचाने वाला है। इसीलिए अत्रिसंहिता में भारतीय ऋषि का अनुभवगिरा चिन्तन फूट पड़ा—

'नास्ति दानात्परं मित्रमिहलोके परत्र च'

दान के समान इहलोक और परलोक में कोई मित्र नहीं है। दान इस लोक में भी मित्र की तरह पुण्यवृद्धि होने से सुख-सुविधा और सुख-सामग्री प्राप्त करा देता है, सुख पहुँचाता है और परलोक में भी दान मित्रवत् पुण्य उपार्जित कराकर प्राणी को उत्तम सुख व सामग्री जुटा देता है। इसलिए दान मित्र से भी बढ़कर है।

हाँ, तो खा जाना तो दान के फल को या सुकृत को खो देना है, और दान देना सुकृत का अर्जन है। इसी से मिलती-जुलती एक कहावत लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है—

'खा गया, सो खो गया, दे गया, सो ले गया।
जोड़ गया, सिर फोड़ गया, गाड़ गया, झख मार गया॥'

इसका तात्पर्य यह है कि इस संसार में व्यक्ति ने जो कुछ भी धनादि साधन जुटाए हैं, उन्हें स्वयं खाने वाला सब कुछ खो देता है, वह सुकृत के सुन्दर अवसर को हाथ से गँवा देता है, और जो धन आदि पदार्थ कमा-कमा कर जोड़ता है, न खाता है, न खर्च करता है, न दान देता है, ऐसा व्यक्ति सारे के सारे पदार्थ जोड़-जोड़कर रख जाता है, उसने अपने उपार्जित द्रव्य से कुछ भी सुकृत नहीं कमाया, और न ही

---

१ चन्दचरित्रम्, पृ० ७१

महाकवि नरहरि सम्राट् अकबर के दरबार मे प्रसिद्ध कवि थे। एक बार उन्होंने दिल्ली से अपने पुत्र हरिनाथ के पास विपुल धनराशि भेजी। हरिनाथ ने वह सारा धन गरीब ब्राह्मणो को दान कर दिया।

कुछ समय बाद जब नरहरि घर आए तो उन्होंने अपने पुत्र से पूछा—'बेटा हरिनाथ ! मेरा भेजा हुआ धन तुमने कहाँ रखा है ?

हरिनाथ ने विनयपूर्वक कहा—"पिताजी ! आप निश्चिन्त रहे। मैंने उसे पूर्णतया सुरक्षित कोष म जमा कर दिया है। शाम को दिखाऊँगा।"

नरहरि सुनकर चुप हो गए।

हरिनाथ ने उन सब ब्राह्मणों को कहला भेजा कि आप लोग सायकाल जब आएँ तो जिस जिसको मैंने जो जो द्रव्य वस्त्र आदि आपको मैंने दान दिए हैं, उन्हें साथ लेकर आवें।'

सायकाल ब्राह्मणो को अपनी गठी पर सामान साथ मे लिए हुए उपस्थित होने पर हरिनाथ ने अपने पिता नरहरि से कहा—"पिताजी ! चलिए अपनी सम्पत्ति देख लीजिए। मैंने उसे कितने अच्छे सुरक्षित कोष में जमा कर रखा है।"

नरहरि ने जब ब्राह्मणा को साधन-सामग्री पाने से हर्षयुक्त देखा तो वे एकदम अवाक हो गये। ब्राह्मणो को विदा करके उन्होंने हरिनाथ से कहा—"बेटा ! किया तो तूने खूब ! जन्म-जन्मातर के लिए सम्पत्ति को सुरक्षित रखने का इससे बढ़कर और कोई सुन्दर तरीका नहीं हो सकता। परन्तु यह सब दान अपनी कमाई से करते तो अच्छा रहता !'

कहते हैं, अपने पिताजी के इस अन्तिम वाक्य से तेजस्वी पुत्र के हृदय को बहुत चोट पहुँची। वह घर छोड़कर चला गया। उसने अपनी विद्वत्ता से लाखो रुपये कमाए और जरूरतमन्दो और दीनदुखियो को दान कर दिये।

जलाशय मे पानी सचित होकर पडा रहे तो वह गन्दा हो जाता है, उस पानी का बहते रहना जरूरी है, इसी प्रकार धन का भी बहते रहना अच्छा है, अगर दान का प्रवाह बहता रहता है, तब तो धन अनेक हाथो मे जाकर सुरक्षित हो जाता है। दान के साथ ही पुण्यरूपी धन की भी सुरक्षा हो जाती है। दूसरे शब्दो मे कहे तो दान पुण्य का रिजर्व बैंक है। इसमे पुण्यरूपी धन सुरक्षित हो जाता है। नकद रुपयो के रूप म भले ही धन दान देने से कम होता प्रतीत होता हो लेकिन ईरान के राजा साइरस की तरह दाता चाहे तो नकद के रूप मे भी उसे मिल सकता है, कई गुना अधिक मिल सकता है, क्योकि ऐसा उदार दानी व्यक्ति लोकप्रिय हो जाता है। इसलिए उसके लिए किसी बात की कमी आने पर नही रहती। बशर्ते कि उसमे अपने दान के प्रति अटल विश्वास हो। इसीलिए तथागत बुद्ध ने कहा—

'दिन्न होति सुनीहित

स्वय उपभोग किया, उसके पल्ले तो सिर्फ जोडने और सहेज कर रखने की माथाकूट ही पडी, इतनी सिरफोडी करके भी वह कुछ भी लाभ नही उठा सका। जो दूसरो की पूंजी को हजम कर जाता है या गाड जाता है, वह तो व्यर्थ ही झख मारता है। इसलिए मनुष्य का वास्तविक धन तो वही है, जो वह दूसरो को दान दे देता है। उसकी वही पुण्य की पूंजी परलोक मे उसके साथ जाने वाली है।

इन्दौर के सर सेठ हुक्मीचन्दजी से किसी ने पूछा—"आपके पास कुल सम्पत्ति कितनी है? लोगो को आपके धन की थाह ही नही मिल रही है। आप लक्ष्मीपुत्र हैं। जनता अनुमान ही अनुमान मे गुम है। कोई दस करोड रु० का अनुमान लगाते हैं, कोई बीस करोड रुपये का। वास्तविक स्थिति क्या है?" सेठ मुस्कराते हुए बोले—"मेरी सम्पत्ति बहुत थोडी है। आपको सुनकर आश्चर्य होगा—२७½ लाख।"

प्रश्नकर्ता ने अविश्वास की मुद्रा मे कहा—"क्यो फुसलाते हैं, आप! पचास लाख रुपये का तो केवल शीशमहल ही होगा। इसके सिवाय मिले वगैरह हैं सो अलग।"

सेठ बोले—"आप मेरे कहने का आशय नही समझे। अभी तक इन हाथो से सिर्फ २७॥ लाख ही दिये जा सके हैं। जो इन हाथो से दिये गये हैं और जनता के हित मे जिनका उपयोग हुआ है, वे ही केवल मेरे हैं। कितनी थोडी-सी पूंजी है मेरी।" इसलिए हाथ से दिया गया दान ही अपना धन है।

दान में दिया हुआ धन ही साथ जायगा

इसीलिए नीतिकार कहते हैं कि "किसी विशिष्ट कार्य के लिए जिसे धन तू देगा, या जिसका उपभोग प्रतिदिन करेगा, उसे ही मैं तुम्हारा धन मानता हूँ। फिर बाकी का धन किसके लिए रखकर जाते हो?"[१]

व्यक्ति की वास्तविक पूंजी तो वही है, जो उसके हाथ मे दान मे दी गई है, जो केवल गाड कर रखी गई है, वह पूंजी तो यही रह जाने वाली है, वह धूल या पत्थर के समान है। इसलिए दान दिया हुआ धन ही परलोक मे पुण्य के रूप मे साथ जाता है, अन्य धन या साधन तो यही पडा रह जाता है।

प्रत्येक मनुष्य प्राय इस बात को भली-भांति जानता है कि मेरे मरने के बाद यह सम्पत्ति मेरे साथ आने वाली नहीं है, यह यही पडी रहेगी। मेरे साथ मेरे द्वारा किये हुए अच्छे बुरे कर्म साथ चलेंगे। फिर भी भ्रान्तिवश वह यह सोचकर संग्रह करता रहता है कि मेरे मरने के बाद धन मेरे पीछे, आएगा या ठाठबाठ से मेरा दाहसस्कार किया जाएगा। मगर मरने के बाद उस धन को परलोक मे ले जाया

---

१ "यद् ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने।
तत्ते वित्तमहं मन्ये, शेष कस्यापि रक्षसि॥"

नहीं जा सकता। केवल धन को देख-देखकर जीते-जी मनुष्य अपने मन को भले ही आश्वासन दे दे, पर वह धन भी कभी-कभी आँख-मिचौनी कर जाता है, मनुष्य के साथ। इसलिए सर्वोत्तम उपाय यही है कि उस धन का जितना हो सके, अपने हाथ से दान कर दे। जो धन दान कर दिया जाता है वही साथ में चलता है।

सिकंदर बादशाह ने मरने तक आधी दुनिया की दौलत इकट्ठी कर ली थी, और आधी दुनिया का राज जीत लिया था। किन्तु जिस समय वह मरने लगा तो अपने दरबारियों को बुलाकर कहा—"मेरे धन का मेरे सामने ढेर लगा दो, जिससे मैं देखकर संतुष्ट हो सकूँ और साथ में ले जा सकूं।" उन्होंने तथा बड़े-बड़े विद्वानों ने कहा—"जहाँपनाह! इसमें से जमीन या पदार्थ का जरा-सा कण भी, एक तागा भी आपके साथ आने वाला नहीं, है, यह धन और धरती यहीं पड़े रह जाएंगे, किसी के साथ में जाते नहीं।" कहते हैं—सिकंदर को यह जानकर बहुत ही अफसोस हुआ, वह रोने लगा कि "हाय! मैंने व्यर्थ ही लोगों को सताकर, उखाड़-पछाड़ करके इतनी दौलत इकट्ठी की और इतनी धरती पर कब्जा किया। यह तो यहीं धरी रह जायेगी।" अन्ततः उसे एक विचार सूझा और उसने चोबदारों से कहा—"मेरी अर्थी निकाली जाय, उस समय मेरे दोनों हाथ उस जनाजे (अर्थी) से बाहर रखे जायें, ताकि दुनिया यह नसीहत ले सके कि इतना धन या जमीन अपने कब्जे में करने पर भी इन्सान मरने के बाद खाली हाथ जाता है। साथ में कुछ नहीं ले जा सकता।" उन्होंने ऐसा ही किया। निष्कर्ष यह है कि जो धन अपने हाथों से दान में दे दिया जाता है, वही सार्थक है, वही अपना है।

"जो लक्ष्मी पानी में उठने वाली तरंगों के समान चंचल है, दो-तीन दिन ठहरने वाली है, उसका सदुपयोग यही है कि दयालु होकर योग्य पात्र को दान दिया जाय। ऐसा न करके जो मनुष्य लक्ष्मी का केवल संचय ही करता रहता है, न उसे जघन्य, मध्यम और उत्तम पात्रों में दान देता है, वह अपनी आत्मवंचना करता है। उसका मनुष्य जन्म पाना वृथा है।"[१]

इसीलिए क्रियाकोषकार ने तो बहुत ही कठोर शब्दों में उसे फटकारा है, जो धन को दान न देकर, यों ही पड़ा रखता है या गाड़े रखता है—

"जानों गृद्ध-समान ताके सुतदारादिका।
जो नहीं करे सुदान, ताके धन आमिष समा॥"

---

१ लच्छी दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण।
[illegible] चिट्ठेइ ॥१२॥

जो दान नहीं करता, उसका धन मांस के समान है, और उस धन का उपभोग करने वाले पुत्र-स्त्री आदि गिद्धों की मंडली के समान हैं।

दान देने से ही जीवन व धन सफल

उसी मनुष्य का जीवन सफल है जो समाज से अर्जित धन एवं साधनों का दान करता है, जरूरतमंदों को बिना हिचक के दे देता है। जो व्यक्ति अपने धन से चिपटा रहता है, रात-दिन ममत्वपूर्वक उसका संग्रह करता रहता है, समय आने पर उसका दान नहीं करता, उसका जीवन पशु-पक्षियों या कीड़े-मकोड़ों की तरह निष्फल है। इसी सन्दर्भ में कार्तिकेयानुप्रेक्षा में सुन्दर चिन्तन दिया है—

—"जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करके पृथ्वी के गहरे तल में उसे गाड़ देता है, वह उस लक्ष्मी को पत्थर के समान कर देता है जो मनुष्य अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मी का निरन्तर धर्मकार्यों में दान कर देता है, उसकी ही लक्ष्मी सदा सफल है, और पण्डितजन भी उसकी प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य जान कर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है और बदले में प्रत्युपकार की वांछा नहीं करता उसका जीवन सफल है।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है, उसी व्यक्ति का धन और जीवन सफल होता है, जिसने धन या साधनों को जोड़-जोड़ कर पत्थरों की तरह जमीन में न गाड़ कर भूखे-प्यासे अनाथ, अपाहिज दयापात्रों या गरीब धर्मात्मा व्यक्तियों को मुक्तहस्त से दिया है। इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक कहता है—Life means-giving' जीवन का अर्थ है—दान देना। इस सम्बन्ध में जगडूशाह का उदाहरण पहले दिया जा चुका है, जिसने देश पर आई हुई दुष्काल की आफत को दूर करने के लिए जी-जान से दिल खोलकर अपना धन एवं साधन लुटाया!

गुजरात में जैसे जगडूशाह हुए हैं, वैसे महाराष्ट्र में शिराल सेठ भी दानवीर हुए हैं। एक बार जब १२ वर्ष का दुष्काल पड़ा तो उन्होंने अपने धन और अन्न के भंडार खोलकर लाखों अभावग्रस्त लोगों को धन और अन्न मुक्तहस्त से दिया, इससे उन लाखों लोगों को जीवनदान मिला और शिराल सेठ ने अपने धन और जीवन को सफल किया।

---

१ जो संचिऊण लच्छि धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छि पाहाण-सामाणियं कुणदि ॥१४॥
जो वड्ढमाण लच्छि अणवरयं देदि धम्मकज्जेसु।
सो पंडियेहिं थुव्वदि तस्स वि सहला हवे लच्छी ॥१६॥
एवं जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्मजुत्ताणं
निरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीवियं सहलं ॥२०॥

जब सिरालसेठ की दानवीरता की बात मुगल बादशाह के कानों में पहुँची, तो, उन्होंने दरबार में बुलाकर उनका बहुत सत्कार-सम्मान किया और कहा—"कुछ मांगो।" सिरालसेठ को अपने दान के बदले में किसी वस्तु के लेने की इच्छा नहीं थी, किन्तु बादशाह के द्वारा बार-बार आग्रह करने पर उन्होंने साढ़े तीन घड़ी के लिए राज्य मांगा। बादशाह ने उन्हें ३॥ घड़ी के लिए राज्य दे दिया। उतने ही समय में उन्होंने जगह-जगह सदावर्त खोले, कोई भी बेकार न रहे, इसका प्रबन्ध कराया। मन्दिर, मस्जिद और धर्मस्थानों के लिए दी हुई जमीन के साथ वर्षासन कायम कराए। कई पाठशालाएँ खुलवाईं।

बादशाह ने उनकी सब बातें मान्य की और उन्हें बड़ी जागीरी दी। आज भी श्रावण सुदी ६ को किसी-किसी गाँव में सिरालसेठ की स्मृति में उत्सव—मेला मनाया जाता है।

जो व्यक्ति अपने धन और जीवन को सफल बनाना चाहता है, वह धन से या साधनों से ममतापूर्वक चिपटता नहीं है। उसकी वृत्ति मुक्त-हस्त से दान कर देने की होती है।

देशबन्धु चित्तरंजनदास के जीवन की एक घटना है। रविवार का दिन था। प्रातःकाल वे अपने विशाल 'रिसालदन पुस्तकालय' में बैठकर कोर्ट के कुछ महत्त्वपूर्ण कागज देख रहे थे। इसी समय चपरासी ने हॉल में प्रविष्ट होकर बाहर मिलने के लिए आये हुए किसी आगन्तुक का विजिटिंग कार्ड उनके हाथ में दिया। उस पर नाम लिखा था—'उपेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय'—सम्पादक 'वसुमति'। नाम पढ़ते ही दास बाबू ने चपरासी से कहा—'कार्ड देने वाले को आने दो।' चपरासी बाहर गया और उपेन्द्रबाबू को भीतर आने दिया। तुरन्त दास बाबू ने उनसे पूछा—"कहिए क्या आज्ञा है?"

"आज्ञा तो कुछ नहीं है। प्रत्येक रविवार को प्रातःकाल आप दान देते हैं। अतः मैं दान लेने आया हूँ।" वसुमति के सम्पादक ने कहा।

"मैं कौन हूँ, जो दान कर सकता हूँ! मुझमें दान देने का सामर्थ्य नहीं है। हम तो वकील हैं, देने का नहीं, लेने का धन्धा करते हैं। लोगों को लड़ाना और पैसे कमाना, हमारा धन्धा है।" चित्तरंजन बाबू ने कहा।

उपेन्द्रनाथ—"आपको मेरी बात उपहास के योग्य लगती है। पर सच बात यह है कि मैं आपसे दान लेने को ही आया हूँ। आपको कदाचित् मालूम होगा कि कतिपय उच्च साहित्यकारों की सुन्दर पुस्तकें मूल्य अधिक होने के कारण जनता के हाथों में नहीं पहुँच पातीं। अतः इस स्थिति को दूर करने और आम जनता को उत्तम साहित्य सस्ते दामों में देने के लिए वसुमति कार्यालय ने एक योजना बनाई है। और ८०० पृष्ठों की पुस्तक सिर्फ डेढ़ रुपये में देने को हम तैयार हैं। यह पुस्तक देखिये—यों कहकर उपेन्द्रनाथ ने उनके हाथ में पुस्तक थमा दी। दासबाबू ने

जो दान नही करता, उसका धन मास के समान है, और उस धन का उपभोग करने वाले पुत्र-स्त्री आदि गिद्धो की मडली के समान हैं।

दान देने से ही जीवन व धन सफल

उसी मनुष्य का जीवन सफल है जो समाज से अर्जित धन एव साधनों का दान करता है, जरूरतमदो को बिना हिचक के दे देता है। जो व्यक्ति अपने धन से चिपटा रहता है, रात दिन ममत्वपूर्वक उसका सग्रह करता रहता है, समय आने पर उसका दान नही करता, उसका जीवन पशु-पक्षियो या कीडे-मकोडो की तरह निष्फल है। इसी सन्दर्भ में कार्तिकेयानुप्रेक्षा म सुन्दर चिन्तन दिया है—

—"जो मनुष्य लक्ष्मी का सचय करके पृथ्वी के गहरे तल मे उसे गाड देता है, वह उस लक्ष्मी को पत्थर के समान कर देता है जो मनुष्य अपनी बढती हुई लक्ष्मी का निरन्तर धर्मकार्यों मे दान कर देता है, उसकी ही लक्ष्मी सदा सफल है, और पण्डितजन भी उसकी प्रशसा करते हैं। इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य जान कर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियो को देता है और बदले मे प्रत्युपकार की वाछा नहीं करता उसका जीवन सफल है।[१]

उपर्युक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है, उसी व्यक्ति का धन और जीवन सफल होता है, जिसने धन या साधनो को जोड-जोड कर पत्थरो की तरह जमीन मे न गाड कर भूखे-प्यासे अनाथ, अपाहिज दयापात्रो या गरीब धर्मात्मा व्यक्तियो को मुक्तहस्त से दिया है। इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक कहता है—Life means giving' जीवन का अर्थ है—दान देना। इस सम्बन्ध में जगडूशाह का उदाहरण पहले दिया जा चुका है, जिसने देश पर आई हुई दुष्काल की आफत को दूर करने के लिए जी-जान से दिल खोलकर अपना धन एव साधन लुटाया।

गुजरात मे जैसे जगडूशाह हुए हैं, वैसे महाराष्ट्र मे शिराल सेठ भी दानवीर हुए हैं। एक बार जब १२ वर्ष का दुष्काल पडा तो उन्होंने अपने धन और अन्न के भडार खोलकर लाखो अभावग्रस्त लोगों को धन और अन्न मुक्तहस्त से दिया, इससे उन लाखों लोगों को जीवनदान मिला और शिराल सेठ ने अपने धन और जीवन को सफल किया।

---

१ जो सचिऊण लच्छि धरणियले सठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो त लच्छि पाहाण-सामाणिय कुणदि ॥१४॥
जो वड्ढमाण लच्छि अणवरय देदि धम्मकज्जेसु।
सो पडिएहि थुव्वदि तस्स वि सहला हवे लच्छी ॥१६॥
एव जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्मजुत्ताण
निरवेक्खो त देहि हु तस्स हवे जीविअ सहल ॥२०॥

जब शिरालसेठ की दानवीरता की बात मुगल बादशाह के कानों में पहुँची। तो, उन्होंने दरबार में बुलाकर उनका बहुत सत्कार-सम्मान किया और कहा—"कुछ मांगो।" शिरालसेठ को अपने दान के बदले में किसी वस्तु के लेने की इच्छा नहीं थी, किन्तु बादशाह के द्वारा बार-बार आग्रह करने पर उन्होंने साढ़े तीन घड़ी के लिए राज्य मांगा। बादशाह ने उन्हें ३॥ घड़ी के लिए राज्य दे दिया। उतने ही समय में उन्होंने जगह-जगह सदाव्रत खोले, कोई भी बेकार न रहे, इसका प्रबन्ध कराया। मन्दिर, मस्जिद और धर्मस्थानों के लिए दी हुई जमीन के साथ वर्षाशन कायम कराए। कई पाठशालाएँ खुलवाईं।

बादशाह ने उनकी सब बातें मान्य कीं और उन्हें बड़ी जागीरी दी। आज भी श्रावण वदी ६ को किसी-किसी गाँव में शिरालसेठ की स्मृति में उत्सव—मेला मनाया जाता है।

जो व्यक्ति अपने धन और जीवन को सफल बनाना चाहता है, वह धन से या साधनों से ममतापूर्वक चिपटता नहीं है। उसकी वृत्ति मुक्त-हस्त से दान कर देने की होती है।

देशबन्धु चित्तरंजनदास के जीवन की एक घटना है। रविवार का दिन था। प्रातःकाल वे अपने विशाल 'सेवासदन पुस्तकालय' में बैठकर कोर्ट के कुछ महत्त्वपूर्ण कागज देख रहे थे। इसी समय चपरासी ने हॉल में प्रविष्ट होकर बाहर मिलने के लिए आये हुए किसी आगन्तुक का विजिटिंग कार्ड उनके हाथ में दिया। उस पर नाम लिखा था—'उपेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय'—सम्पादक 'वसुमति'। नाम पढ़ते ही दास बाबू ने चपरासी से कहा—'कार्ड देने वाले को आने दो।' चपरासी बाहर गया और उपेन्द्रबाबू को भीतर आने दिया। तुरन्त दास बाबू ने उनसे पूछा—"कहिए, क्या आज्ञा है?"

"आज्ञा तो कुछ नहीं है। प्रत्येक रविवार को प्रातःकाल आप दान देते हैं। अतः मैं दान लेने आया हूँ।" वसुमति के सम्पादक ने कहा।

"मैं कौन हूँ, जो दान कर सकता हूँ! मुझमें दान देने का सामर्थ्य नहीं है। हम तो वकील हैं, देने का नहीं, लेने का धन्धा करते हैं। लोगों को लड़ाना और पैसे कमाना, हमारा धन्धा है।" चित्तरंजन बाबू ने कहा।

उपेन्द्रनाथ—"आपको मेरी बात उपहास के योग्य लगती है। पर सच बात यह है कि मैं आपसे दान लेने को ही आया हूँ। आपको कदाचित् मालूम होगा कि कतिपय उच्च साहित्यकारों की सुन्दर पुस्तकें मूल्य अधिक होने के कारण जनता के हाथों में नहीं पहुँच पातीं। अतः इस स्थिति को दूर करने और आम जनता को उत्तम साहित्य सस्ते दामों में देने के लिए वसुमति कार्यालय ने एक योजना बनाई है। और ८०० पृष्ठों की पुस्तक सिर्फ डेढ़ रुपये में देने को हम तैयार हैं। यह पुस्तक देखिये—यों कहकर उपेन्द्रनाथ ने उनके हाथ में पुस्तक थमा दी।

पुस्तक हाथ मे ली। उसके पृष्ठो को एक-दो मिनट तक उलट-पलट कर कहा—"यह तो घाटे का व्यापार है।"

"नही, ऐसा नही है। अगर इस पुस्तक की एक साथ १० हजार प्रतियाँ छपाई जाएँ तो घाटा नही है। परन्तु १० हजार प्रतियाँ छपवाने के लिए मेरे पास रुपये नही हैं। अत ईश्वरीय प्रेरणा होते ही मैं आपके पास आया हूँ।" उपेन्द्रबाबू ने कहा। चित्तरजन बाबू—"लेकिन इसके सम्बन्ध मे मेरी ख्याति नही है। उसमे मैं यश भी नही चाहता। कलकत्ता मे लगभग २०० जमींदार दानवीर हैं, उन्हें क्यो नही पकड़ते?"

उपेन्द्रबाबू—"उनके हृदय चित्तरजन बाबू जैसे विशाल और उदार नही हैं। उनके मकानो के जीने चढ़ते-चढ़ते जूतो के तलिये घिस गए हैं।"

दासबाबू—"कलकत्ते के धनवानो के लिए ऐसा मत कहिए।"

यो कहते हुए उन्होंने टेबल की दराज मे से चैक बुक निकाल कर उसमे कुछ लिखकर एक चैक उपेन्द्रबाबू के हाथ मे दे दिया। उपेन्द्रबाबू चैक पढ़ते ही क्षणभर स्तब्ध रह गए। फिर उन्होंने कहा—"यह तो ५० हजार रु० का चैक है। इतनी बड़ी रकम के लिए धन्यवाद! परन्तु यह रकम वापिस कब देनी होगी? रकम का ब्याज भी निश्चित हो जाय और दस्तावेज भी लिखा लिया जाय।" "यह सब खटपट रहने दो। मुझे न रकम वापिस चाहिए, न ब्याज और दस्तावेज की जरूरत है।" दासबाबू ने कहा।

उपेन्द्रनाथ सिर्फ ५ मिनट मे ५० हजार का चैक दान के रूप मे पाकर देखते ही रह गए। इस अर्थराशि से उन्होंने रवीन्द्र ग्रन्थावली, रमेशचन्द्र ग्रन्थावली, योगेन्द्र ग्रन्थावली वगैरह ३६ ग्रन्थावली प्रकाशित कराकर सस्ते दामो मे आम जनता को दी।

यह है धन के सदुपयोग द्वारा जीवन को सफल बनाने का ज्वलन्त उदाहरण! सचमुच, हमारे देश मे ऐसे अनेक उदार महानुभाव हुए हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व देकर देश का और अपना गौरव बढ़ाया है।

दान सिर्फ दान नहीं, हृदय मे अनेक गुणो का आदान भी है

विदेशी साहित्यकार विक्टर ह्यूगो ने एक दिन ठीक ही कहा था—'ज्योंही पर्स रिक्त होता है, मनुष्य का हृदय समृद्ध होता है।'

वास्तव मे दान देना, केवल देना ही नही होता, अपितु देने के साथ-साथ हृदय करुणा, मैत्री, बन्धुता, सेवा, सहानुभूति, परोपकार एवं आत्मीयता के गुणों से परिपूर्ण एवं समृद्ध होता जाता है। अव्यक्त रूप से दानी व्यक्ति मे इन भावो के सस्कार सुदृढ होते जाते हैं। इसलिए एक अग्रेज विचारक का यह कथन अनुभव की कसौटी पर सही उतरता है—'The hand that gives, gathers' "जो मानव

अपने हाथ से दान देता है, वह देता ही नहीं, वरन् अपने हाथ से इकट्ठा (गुण, यश आदि) करता है।"

शक्ति होते हुए भी दान न दे, उसका धन धूल समान

इसके विपरीत जिसके पास धन है, फिर भी वह दान नहीं देता है तो उसका धन धूल के समान है। उस धन में और पड़ी हुई धूल में कोई अन्तर नहीं। धूल तो फिर भी किसी के काम आ जाती है, किन्तु पड़ी हुई तिजोरी में बन्द, सम्पत्ति किसी काम में नहीं आती, वह पड़ी-पड़ी सड़ती रहती है, और अनेक चिन्ताओं का कारण भी बन जाती है।

एक बात और भी है, जब मनुष्य शक्ति होते हुए भी दान नहीं देता तो उसके हृदय में जिन उदारता, सहृदयता, करुणा, आत्मीयता आदि गुणों का संवर्द्धन होना चाहिए था, वह नहीं हो पाता, उसके हृदय के कपाट गुणों के लिए अवरुद्ध हो जाते हैं।

इसलिए शक्ति होने पर भी दान न देने वाले का जीवन और धन दोनों निष्फल जाते हैं। कई बार तो ऐसे व्यक्तियों को, जो शक्ति होने पर भी दान नहीं देते, अभाव-ग्रस्तों को एवं भूखों को सहायता नहीं करते, साधारण-सा प्रतीत होने वाला मानव-प्रेरणा दे देता है।

बगदाद का एक खलीफा (शासक) बहुत ही कंजूस था। रैयत भूखों मरती हो तो भी उसके हाथ से धन छूटता नहीं था। एक बार गुरुनानक बगदाद आए। उन्हें यह पता चल गया कि यहाँ का खलीफा बहुत कृपण है, भूखी जनता को देख कर भी उसके दिल में दान की भावना नहीं पैदा होती। संयोगवश खलीफा स्वयं गुरुनानक से मिलने आया। गुरुनानक ने खलीफा को सौ कंकर देते हुए कहा—"खलीफा साहब! ये सौ कंकर लीजिए और इन्हें मेरी अमानत समझ कर अपने पास रख लीजिए। जब मैं इन्हें माँगू तब मुझे वापिस सौंप देना।"

खलीफा ने पूछा—"आप इन कंकरों को कब तक वापस ले जाएँगे।"

गुरु नानक—"मुझे कोई उतावल नहीं है। आपके पास ये रह जायें तो भी कोई हर्ज नहीं। वर्ना कयामत के दिन वापस दे दीजिएगा।"

खलीफा—"परन्तु.......कयामत के दिन खुदा के दरबार में मैं इसे कैसे ले जा सकूँगा। मैं तो मरने के बाद कोई भी चीज साथ में नहीं ले जा सकूँगा, फिर इन कंकरों को मैं कैसे ले जाऊँगा?"

गुरु नानक ने अवसर देखकर कहा—"बस, यही बात तो मैं आपको समझाना चाहता था, कि ये कंकर तो आप वहाँ साथ नहीं ले जा सकेंगे, पर अपना संग्रह किया हुआ विपुल धन का खजाना तो साथ में ले जा सकोगे न?"

खलीफा की आँखें यह सुनते ही खुल गई। उसने चौंक कर कहा—"ऐं! यह क्या कहा, आपने? मैं तो धन का खजाना क्या, एक तागा भी साथ मे नही ले जा सकूंगा।"

"तो फिर इतना धन किसके लिए सग्रह करके रखे जा रहे हैं? आप खुद अच्छी तरह खाते नही, न किसी जरूरतमन्द को देते हैं, यहाँ तक कि आपकी रैयत भूखो मरती हो तो भी आप उसके लिए एक भी पैसा खर्च नहीं करते! धन को कयामत के दिन नही ले जा सकते, तब फिर क्या होगा, इसका?" गुरु नानक ने कहा। खलीफा ने अपनी गलती मजूर की, उसे अन्दर की सच्ची दौलत मिल गई, और उसी दिन से खलीफा ने अपना सारा धन जनता के चरणो मे रख दिया।

जो व्यक्ति सब प्रकार के साधन होते हुए भी अपने देश मे अभाव से पीड़ित, भूखे नगे, फटेहाल व्यक्तियों को देकर उनका दु ख नहीं मिटाता, उसका जन्म वृथा है, उसका धन या साधन भी मिट्टी के समान है, उसकी माता उसे जन्म देकर व्यर्थ ही बोझ मरी।

कई बार राजाओ की आँखें वैभव-विलास के मद मे चूर होकर उन दीन-हीनो को देख नहीं पाती, वे राज्य की बाहरी चमक-दमक और जी-हजूरियो की ठकुरसुहाती देख-सुनकर उसकी एव जनता की वास्तविक स्थिति से परिचित नही होते। इसी कारण उन्हें ऐसे अभावग्रस्तो की पीड़ा को देखकर भी सहायता के रूप मे दान देने की प्रेरणा नहीं होती।

धारानगरी का राजा भोज अपनी साहित्यप्रियता और दानवीरता के लिए प्रसिद्ध था। सरस्वती और लक्ष्मी दोनो का उसमे अदभुत सगम था। एक दिन राजा अपनी स्फुरणा से घोड़े पर चढा हुआ जनता के दु ख का स्वय अन्दाजा लगाने के लिए उद्यान की ओर जा रहा था। जब उसका घोडा धानमडी से गुजर रहा था, तो उसने देखा कि 'एक भिखारी धूल मे पडे हुए अनाज के दानो को बीन-बीन कर खा रहा है। कृशकाय एव दरिद्रता की मूर्ति भिक्षुक को देखकर राजा भोज विचार में पड गया—"मेरी राजधानी में ऐसी भुखमरी!" भुखमरी के कारणो पर विचार करते करते राजा इस निर्णय पर पहुँचा कि 'जनसख्या बढ़ जाने के कारण ही ऐसी हालत होती है। क्यो माताएँ ऐसे पुत्रो को जन्म दे देती हैं?' इस पर वह बोल उठा —'जननी! ऐसो ना जणों भोंय पडया कण खाय।'

राजा भोज के व्यग्यमिश्रित दोहे की ध्वनि भिक्षुक के कानो में पडी। सहसा उसने ऊपर दृष्टि फेंकी। वैभव के नशे मे चूर राजा भोज द्वारा दरिद्र पर कसे हुए ताने को सुनकर उसका हृदय व्यथित हो गया। भिखारी सोचने लगा—'वैभव के नशे मे चूर व्यक्ति हमारे पेट की ज्वाला को क्या जाने? गरीबों पर कैसी बीत रही है, इसे तो हम ही जानते हैं! पेट की ज्वाला को बुझाने के लिए धूल सने कण मुँह मे डाल रहा हूँ, यह भी इसे खटकते हैं। स्वय बादाम पिश्ते चबाते हैं और चने चबाने वाले

पर दोष मढ़ते हैं। राजा ने मेरी माता को दोष दिया है, इसका उत्तर तो मुझे देना ही पड़ेगा। दोहा भी तो आधा है। वह आधी लाइन और जोड़ देता है—'इते योग दुःख ना हरे, ऐसो न जणियो माय।' माता ! ऐसे पुत्र को पैदा करने की भूल मत करना, जो सम्पत्ति होने पर भी जनता के दुःख-दारिद्रय को दूर करने की चेष्टा नहीं करता, उसकी वह सम्पत्ति अगर समाज या राष्ट्र के काम में नहीं आती है, तो उसका मूल्य धूल से अधिक नहीं है। धूल तो अमीर-गरीब सबके लिए समान है। किन्तु शक्ति होने पर भी किसी अभाव से पीड़ित की दान के रूप में सहायता नहीं की, तो वह सम्पत्ति किस काम की ?

दान न देने वाला बाद में पछताता है

दान का अवसर पूर्वजन्म के किसी प्रबल पुण्य से ही मिलता है। बहुत लोगों को तो दान देने की कभी भावना ही नहीं होती, उन्हें यह सूझ ही नहीं पड़ती कि संसार में ऐसे भी मानवबन्धु हैं, जिनके पास खाने-पीने की सुविधा नहीं है, रहने को झौंपड़ी भी नहीं है, अथवा रोग, बाढ़, भूकम्प या अन्य किसी प्राकृतिक प्रकोप से पीड़ित हैं। उनके प्रति भी हमारा कुछ कर्त्तव्य है।' इसके आगे बढ़कर कई लोग ऐसे भी हैं, जिनके सामने दान की महिमा या दान की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत होती है, किन्तु उनके सामने अवसर नहीं आते, अथवा यों कहना चाहिए, वे दान के अवसरों को जान नहीं पाते, अथवा दान के पात्र उनके पास नहीं पहुँचते। किन्तु सबसे ज्यादा दयनीय स्थिति उस व्यक्ति की है, जिसके सामने दान के अवसर आते हैं, वह स्पष्ट रूप से उन्हें पहिचानता भी है, उसकी हैसियत भी दूसरों को देने की है, उसके पास इतने साधन हैं कि वह चाहे तो दान के पात्रों को दे सकता है, किन्तु वह उन अवसरों को हाथ से जाने देता है, सोचता है, ऐसे अवसर तो अनेक बार आये हैं, और भविष्य में आएँगे, परन्तु उन अवसरों को खो देने के बाद फिर पछताता है, जब या तो दान देने की स्थिति में नहीं रहता, अथवा वह दान देने के लिए इस लोक में ही नहीं रहता।

जो लोग रात-दिन यह सोचा करते हैं कि इतना दान देने से इतना पैसा कम हो जायगा, अथवा अभी तो नहीं, फिर दान दे दूंगा, इतनी जल्दी क्या है ? वे अन्त में हाथ मलते रह जाते हैं और अन्तिम समय में कोई ऐसी अड़चन आ जाती है कि वे सोचा हुआ दान नहीं दे पाते। उनके मनसूबे मन में ही धरे रह जाते हैं।

एक धनी सज्जन थे। उनके गाँव में एक सार्वजनिक संस्था का निर्माण हो रहा था। वे उस संस्था के भवन-निर्माण के कार्य को इधर से उधर गुजरते हुए प्रतिदिन देखा करते थे। कभी-कभी उस संस्था के लिए दान करने का मन भी होता, पर दूसरे ही क्षण वे हिसाब लगाने लगते कि इस दान से मेरी पूंजी में जो कमी होगी, उसे कैसे पूरी की जाएगी ? इस तरह से वे उस मकान के पास आते, कुछ सोचते,

खलीफा की आँखें यह सुनते ही खुल गईं। उसने चौंक कर कहा—"ऐं ! यह क्या कहा, आपने ? मैं तो धन का खजाना क्या, एक तागा भी साथ में नहीं ले जा सकूंगा।"

"तो फिर इतना धन किसके लिए सग्रह करके रखे जा रहे हैं ? आप खुद अच्छी तरह खाते नहीं, न किसी जरूरतमन्द को देते हैं, यहाँ तक कि आपकी रैयत भूखों मरती हो तो भी आप उसके लिए एक भी पैसा खर्च नहीं करते ! धन को कयामत के दिन नहीं ले जा सकते, तब फिर क्या होगा, इसका ?" गुरु नानक ने कहा। खलीफा ने अपनी गलती मजूर की, उसे अन्दर की सच्ची दौलत मिल गई, और उसी दिन से खलीफा ने अपना सारा धन जनता के चरणों मे रख दिया।

जो व्यक्ति सब प्रकार के साधन होते हुए भी अपने देश म अभाव से पीडित, भूख नगे, फटेहाल व्यक्तियो को देखकर उनका दु ख नहीं मिटाता, उसका जन्म वृथा है, उसका धन या साधन भी मिट्टी के समान है, उसकी माता उसे जन्म देकर व्यर्थ ही बोझ मरी।

कई बार राजाओ की आँखें वैभव विलास के मद मे चूर होकर उन दीन-हीनो को देख नहीं पाती, वे राज्य की बाहरी चमक दमक और जी-हजूरियो की ठकुरसुहाती देख-सुनकर उसकी एव जनता की वास्तविक स्थिति से परिचित नहीं होते। इसी कारण उन्हें ऐसे अभावग्रस्तो की पीडा को देखकर भी सहायता के रूप से दान देने की प्रेरणा नहीं होती।

धारानगरी का राजा भोज अपनी साहित्यप्रियता और दानवीरता के लिए प्रसिद्ध था। सरस्वती और लक्ष्मी दोनो का उसमे अद्भुत सगम था। एक दिन राजा अपनी स्फुरणा से घोड पर चढा हुआ जनता के दु ख का स्वय अन्दाजा लगाने के लिए उद्यान की ओर जा रहा था। जब उसका घोड़ा धानमडी से गुजर रहा था, तो उसने देखा कि 'एक भिखारी धूल में पड़े हुए अनाज के दानो को बीन बीन कर खा रहा है। कृशकाय एव दरिद्रता की मूर्ति भिक्षुक को देखकर राजा भोज विचार म पड गया—'मेरी राजधानी मे ऐसी भुखमरी !" भुखमरी के कारणों पर विचार करते-करते राजा इस निणय पर पहुँचा कि 'जनसख्या बढ़ जाने के कारण ही ऐसी हालत होती है। क्यो माताएँ ऐसे पुत्रो को जन्म दे देती हैं ? इस पर वह बोल उठा — जननी ! ऐसो मा जणो भोंय पडया कण खाय।'

राजा भोज के व्यग्यमिश्रित दोहे की ध्वनि भिक्षुक के कानो में पडी। सहसा उसने ऊपर दृष्टि फेंकी। वैभव के नशे मे चूर राजा भोज द्वारा दरिद्र पर कसे हुए ताने को सुनकर उसका हृदय व्यथित हो गया। भिखारी सोचने लगा—'वैभव के नशे में चूर व्यक्ति हमारे पेट की ज्वाला को क्या जाने ? गरीबो पर कैसी बीत रही है, इसे तो हम ही जानते हैं ! पेट की ज्वाला को बुझाने के लिए धूल सने कण मुँह मे डाल रहा हूँ, यह भी इसे खटकते हैं। स्वय बादाम पिस्ते चबाते हैं और चने चबाने वाले

पर दाग मँढ़ते हैं। राजा ने मेरी माता को दोष दिया है, इसका उत्तर तो मुझे देना ही पड़ेगा। दोहा भी तो आधा है। यह आधी लाइन और जोड़ देता है—'छते योग दुःख ना हरे, ऐसो न जणियो माय।' माता! ऐसे पुत्र को पैदा करने की भूल मत करना, जो सम्पत्ति होने पर भी जनता के दुःख-दारिद्र्य को दूर करने की चेष्टा नहीं करता, उसकी वह सम्पत्ति अगर समाज या राष्ट्र के काम में नहीं आती है, तो उसका मूल्य धूल से अधिक नहीं है। धूल तो अमीर-गरीब सबके लिए समान है। किन्तु शक्ति होने पर भी किसी अभाव से पीड़ित को दान के रूप में सहायता नहीं की, तो वह सम्पत्ति किस काम की?

दान न देने वाला बाद में पछताता है

दान का अवसर पूर्वजन्म के किसी प्रबल पुण्य से ही मिलता है। बहुत लोगों को तो दान देने की कभी भावना ही नहीं होती, उन्हें यह सूझ ही नहीं पड़ती कि संसार में ऐसे भी मानवबन्धु हैं, जिनके पास खाने-पीने की सुविधा नहीं है, रहने को झोंपड़ी भी नहीं है, अथवा रोग, बाढ़, भूकम्प या अन्य किसी प्राकृतिक प्रकोप से पीड़ित हैं। उनके प्रति भी हमारा कुछ कर्त्तव्य है।' इसके आगे बढ़कर कई लोग ऐसे भी हैं, जिनके सामने दान की महिमा या दान की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत होती है, किन्तु उनके सामने अवसर नहीं आते, अथवा यों कहना चाहिए, वे दान के अवसरों को जान नहीं पाते, अथवा दान के पात्र उनके पास नहीं पहुँचते। किन्तु सबसे ज्यादा दयनीय स्थिति उस व्यक्ति की है, जिसके सामने दान के अवसर आते हैं, वह स्पष्ट रूप से उन्हें पहिचानता भी है, उसकी हैसियत भी दूसरों को देने की है, उसके पास इतने साधन हैं कि वह चाहे तो दान के पात्रों को दे सकता है, किन्तु वह उन अवसरों को हाथ से जाने देता है, सोचता है, ऐसे अवसर तो अनेक बार आये हैं, और भविष्य में आएँगे, परन्तु उन अवसरों को खो देने के बाद फिर पछताता है, जब या तो दान देने की स्थिति में नहीं रहता, अथवा वह दान देने के लिए इस लोक में ही नहीं रहता।

जो लोग रात-दिन यह सोचा करते हैं कि इतना दान देने से इतना पैसा कम हो जायगा, अथवा अभी तो नहीं, फिर दान दे दूंगा, इतनी जल्दी क्या है? वे अन्त में हाथ मलते रह जाते हैं और अन्तिम समय में कोई ऐसी अड़चन आ जाती है कि वे सोचा हुआ दान नहीं दे पाते। उनके मनसूबे मन में ही धरे रह जाते हैं।

एक धनी सज्जन थे। उनके गाँव में एक सार्वजनिक संस्था का निर्माण हो रहा था। वे उस संस्था के भवन-निर्माण के कार्य को इधर से उधर गुजरते हुए प्रतिदिन देखा करते थे। कभी-कभी उस संस्था के लिए दान करने का मन भी होता, पर दूसरे ही क्षण वे हिसाब लगाने लगते कि इस दान से मेरी पूंजी में जो कमी होगी, उसे कैसे पूरी की जाएगी? इस तरह से वे उस मकान के पास आते, कुछ सोचते

फिर एक चक्कर लगा कर वापिस लौट जाते। एक मन होता कि कुछ करना चाहिए, दूसरा मन उस विचार को दबा देता। इसी तरह सोचते-सोचते वे इस दुनिया से चल बसे। उनकी सारी सम्पत्ति और खजाना धरा का धरा रह गया। वे कुछ दान देने की बात सोचते ही रह गए।

इस धनी सज्जन की तरह संसार में बहुत-से लोग हैं, जो मन में दान देने के मनसूबे बांधते रहते हैं, लेकिन अवसर आने पर कुछ दान कर गुजरने की उनकी भावना मर जाती है। इसलिए सिद्धान्त यह निकला कि दान देने की भावना उठते ही, या दान का अवसर आते ही 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार झटपट दान दे डालो। आगे-पीछे कुछ न सोचो। भगवान् महावीर का प्रेरणासूत्र यही सन्देश देता है—

'मा पडिबंधं करेह'

शुभ कार्य में जरा भी ढील न करो। दान जैसे शुभ कार्य में प्रमाद करने पर बाद में उस अवसर के खोने का पश्चात्ताप होगा।

कई लोग यह सोचा करते हैं, दान तो दे दूं। पर आपत्काल में पास में पैसा न हुआ तो मेरी क्या हालत होगी! अतः दान न देकर आपत्काल के लिए धन को सुरक्षित रखना चाहिए। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि दुर्दैवात् जब कभी आपत्काल आएगा तो क्या संचित पूंजी भी नष्ट नहीं हो जाएगी? इसलिए संकटकाल के लिए धन को गाड़कर या संचित करके रखना व्यर्थ है। दान का अवसर आने पर प्राप्त-विक्ता दान को देनी चाहिए, यही श्रेयस्कर है धर्मलाभ का कारण है। संचित करके रखी हुई सम्पत्ति कौन-सी श्रेयस्कारिणी या धर्मलाभ की कारण बनेगी?

इस प्रकार संचित करके आपत्काल के निमित्त सम्पत्ति को रखने से भी मनुष्य को बाद में पश्चात्ताप करना पड़ता है कि हाय! मैं उस समय दान के लिए आए हुए पात्र को दे देता तो अच्छा रहता।

धारानगरी का राजा भोज बड़ा दानवीर था। दान देते समय वह आगा-पीछा नहीं सोचता था, न दान देने के बाद पश्चात्ताप या किसी प्रकार का और विचार ही करता था। उसका प्रेरणा सूत्र यही चिन्तन था—'Give without a thought' दो, पर किसी प्रकार का विचार किये बिना दो। उसके मन्त्री ने सोचा—'राजा अगर इसी तरह दान देता रहेगा तो एक दिन खजाना खाली हो जाएगा। इसलिए उसने कागज पर श्लोक की एक लाइन लिख कर राजा की शय्या के सामने दीवार पर टांग दी। उस पर लिखा था—'आपदर्थे धनं रक्षेत्' आपत्तिकाल के लिए धन बचाकर रखना चाहिए।' राजा की दृष्टि श्लोक की इस लाइन पर पड़ी, उसने मन ही मन सोचा—मुझे दान से रोकने के लिए शायद यह पंक्ति लिखकर टांगी गई है। अतः उसने उस पंक्ति के नीचे लिख दिया—'श्रीमतामापदः कुतः' भाग्यशालियों को आपत्ति कहां है? दूसरे दिन मन्त्री अपने लिखित श्लोक की पंक्ति की प्रतिक्रिया जानने की दृष्टि से राजा के पास आया और उसने राजा के द्वारा लिखी हुई उक्त

पंक्ति देखी तो सोचा—अभी तक राजा के मन पर कोई असर नहीं हुआ है। अतः उसने राजा की लिखी हुई पंक्ति के नीचे एक पंक्ति फिर लिख दी—'कदाचित् कुपितो दैवः' अगर भाग्य ही कभी कुपित हो गया तो......? राजा ने उसे देखा और मन ही मन मुस्कराकर उसके नीचे यह लाइन लिख दी—'संचितोऽपि विनश्यति' यानि संचित की हुई सम्पत्ति भी दैव के कुपित होने पर नष्ट हो जाती है, इसलिए धन का संचय करके रखने के बजाय दान करते रहना चाहिए। भविष्य में धन काम आएगा, इस लिहाज से अच्छे कार्य में दान न करने वालों के लिए राजा के ये विचार मननीय हैं।

निष्कर्ष यह है कि धन का संचय करने की अपेक्षा उसका दान करना बेहतर है, क्योंकि दान करने से बाद में पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं आएगा। स्वेच्छा से दिया गया दान मन को सन्तुष्टि और शान्ति प्रदान करता है।

इस सम्बन्ध में चाणक्यनीति[1] का यह श्लोक बहुत ही प्रेरणाप्रद है—

देयं भो ! ह्यधने धनं सुकृतिभिर्नो संचयस्तस्य वै।
श्रीकृष्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्याऽपि कीर्तिः स्थिता॥
अस्माकं मधु दान-भोगरहितं नष्टं चिरात्संचितम्।
निर्वेदादिति नैजपादयुगलं घर्षन्त्यहो ! मक्षिकाः॥

मधु-मक्खियों का कहना है—'पुण्यात्माओं को धन का केवल संग्रह न करके निर्धनों को दान देते रहना चाहिए। क्योंकि उसी (दान) के कारण कर्ण राजा, बलि-राजा और विक्रमादित्य आदि राजाओं का यश आज तक विद्यमान है। आह ! देखो, हमने जो शहद चिरकाल से संचित किया था, उसे न तो किसी को दान दिया और न स्वयं उपयोग किया, इस कारण वह नष्ट हो गया। इसी दुःख से हम मधुमक्खियाँ अपने दोनों पैरों को घिस रही हैं।'

इसी तरह जब दान और भोग से रहित संचित धन नष्ट हो जाता है, तो व्यक्ति मधुमक्खी की तरह सिर धुनकर हाथ मलता हुआ पश्चात्ताप करता है। इसके विपरीत जो उदारचेता होते हैं, वे राजा कर्ण की तरह देने में आनन्द की अनुभूति करते हैं। इसलिए धन संचित करके रखना, दान देने से वंचित करना है। पश्चात्ताप को न्योता देना है। गुजरात के प्रसिद्ध कवि दलपतराय ने ऐसे लोगों को चेतावनी दी है—

"माखिए मध संचय कीधुं, नवि खाधुं नवि दानज दीधुं।
लूटन हाराए लूटी लीधुं रे, पामरप्राणी, चेते तो चेताऊं तने रे॥"

समय पर दान न मिलने का परिणाम : आत्महत्या

संसार में कई इतने कठोर हृदय व्यक्ति होते हैं कि उनके पास धन और

---

1 चाणक्यनीति ११।१

साधन प्रचुर मात्रा मे होने पर भी वे किसी जरूरतमद को देना नही चाहते, उसके पास कोई योग्य पात्र आता है तो वे उसे पहिचान नही पाते, उस पर चोर-उचक्के की शका करके उसे अपमानित करके निकाल देते हैं, लेकिन उसका नतीजा कभी-कभी इतना भयकर आता है कि बाद म उसे अत्यन्त पश्चात्ताप करना पडता है, दान के योग्य पात्र को समय पर दान न मिलने के कारण वह स्वाभिमानवश आत्म-हत्या भी कर बैठता है। वास्तव मे, ऐसी आत्महत्या के लिए जिम्मेदार वे लोग हैं, जो शक्ति होते हुए भी योग्य पात्र मिलने पर भी उसे कुछ नहीं देते, इतना ही नहीं, अपनी मानवता को ताक मे रखकर उसे दुत्कार देते हैं, अपमानित करके निकाल देते हैं। इसलिए दान के महत्त्व को समझकर हृदय को उदार बनाना चाहिए। मांगने वाले या दयापात्र व्यक्ति की परिस्थिति तथा मन स्थिति को समझकर देश-काल के अनुसार मुंह से नही, बल्कि हाथ से ही उत्तर देना चाहिए अर्थात् दान वृत्ति का परिचय देना चाहिए।

5

दान : जीवन के लिए अमृत

दान को मानवजीवन के लिए अमृत कहा है। अमृत में जितने गुण होते हैं, उतने ही बल्कि उससे भी बढ़कर गुण दान में हैं।

भारतीय संस्कृति के एक विचारक ने कहा है—

> 'दानामृतं यस्य करारविन्दे, वाक्यामृतं यस्य मुखारविन्दे।
> दयाऽमृतं यस्य मनोऽरविन्दे, त्रिलोकवन्द्योहि नरो वरोऽसौ॥'

जिसके करकमलों में दानरूपी अमृत है, जिसके मुखारविन्द में वाणी की सरस सुधा है, जिसके हृदयकमल में दया का पीयूषनिर्झर बह रहा है, वह श्रेष्ठ मनुष्य तीन लोक का वन्दनीय-पूजनीय है।

कर का महत्त्व कम नहीं, परन्तु कर का महत्त्व दान देने से है, अन्य उपर्युक्त व्यर्थ के कार्यों से कर का महत्त्व नहीं बढ़ता। कर कमल बने, तभी दान अमृत बनता है। यों कोरा दान, जिसके साथ मधुर अमृतयुक्त वाणी न हो, हृदय में आत्मीयता से ओतप्रोत दया का अमृत निर्झर न बहता हो; अमृत नहीं बनता। कहने का आशय यह है कि दान तभी अमृत बनता है जब हाथ के साथ वाणी और हृदय एकजुट होकर दान दें। कर तभी कमल बनता है, जब उसमें दान की मनमोहक महक उठती है।

इसलिए दानामृत जिसके करकमल में हो, वह मनुष्य इतनी उच्च स्थिति पर पहुँच जाता है, वह विश्ववन्दनीय और जगत्पूज्य बन जाता है। ऐसा दानरूपी अमृत हजारों-लाखों मनुष्यों को जिला देता है, रोते हुओं को हँसा देता है, रुग्णशय्या पर पड़े हुए रोगियों को स्वस्थ एवं रोगमुक्त कर देता है; पीड़ितों में नई जान डाल देता है, बुभुक्षितों और तृषितों की भूख-प्यास मिटाकर उन्हें नया जीवन दे देता है, संकटग्रस्तों को संकट मुक्त करके हर्ष से पुलकित कर देता है। सचमुच दान संजीवनी-बूटी है, अमृतमय रसायन है, रोगनाशिनी अमृतधारा है, अद्भुत शक्तिवर्द्धक टॉनिक है, दरिद्रतानाशक कल्पतरु है, मनोवाञ्छित पूर्ण करने वाली कामधेनु है। दान में आश्चर्यजनक चमत्कार है, यह वशीकरण मंत्र है, आकर्षक तंत्र है और प्रेमवर्द्धक यंत्र है।

हड्डियो का दान करने वाले महर्षि दधीचि को विश्व याद करता है या नही ? एव शरणागत कबूतर की रक्षा के लिए अपनी काया को समर्पित करने वाले शिवि राज (या मेघरथ) का स्मरण लोग करते हैं या नहीं ? पृथ्वी का दान करने वाले बलि अमर हैं या नही ? इसी प्रकार दुष्काल पीडित भूखी जनता के लिए अन्नदान देने वाले राजा रतिदेव का नाम अमर है या नही, महाराज ?"

"जरूर है महामन्त्रीजी ?" राजा ने उत्सुकतापूर्वक कहा।

महामन्त्री—'तो महाराज ! सच्चा अमरत्व तो सृष्टि के पीडित मानवो के कल्याणार्थ अपने आपको समर्पित कर देने, अपना सर्वस्व दीनदु खियो, अभावग्रस्तो को दान कर देने और अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु परहितार्थ अर्पण कर देने वाले को मिलता है। इस दानरूपी अमृत से ही आप सच्चा अमरत्व प्राप्त कर सकेंगे। यही सच्चा अमृत है।"

राजा—'तब फिर मैं क्या करूँ ?" 'आपके पास जो अपार धन है, सत्ता है उसे करोडो लोगो के हित के लिए लाखो अनाथो, अपाहिजो, असहायो, अभावग्रस्तो एव पीडितो की सेवा मे खर्च कीजिए। जीवन का प्रतिक्षण विश्वकल्याण मे योगदान दीजिए। महाराज ! यही (दान ही)सच्चा अमृत है। जिसे क्रियान्वित करके आप अमर हो जाएँगे। इस अमृत को ढोल दीजिए।" इस बार विरोध मे एक भी स्वर न उठा। राजा ने वह अमृत वही का वही गिरा दिया और सच्चा अमृत प्राप्त करने के लिए दानशालाएँ खुलवा दी।

निष्कर्ष यह है कि अमृत को पीने से मनुष्य कदाचित् अमर बन जाता होगा लेकिन दानरूपी अमृत का सेवन करने वाला निश्चय ही अमर हो जाता है, दान लेने वाला भी दानामृत पाकर अमर हो जाता है।

इसीलिए ऋग्वेद मे, ऋषियो ने एक स्वर से इसी बात का समर्थन किया है—

'दक्षिणावन्तोऽमृत भजन्ते'

दान देने वाले और दान लेने वाले दोनो अमृत को प्राप्त करते हैं।

दान वास्तव मे मानव-जीवन के लिए अमृत है। जब मनुष्य भूख से पीडित हो, प्यास से छटपटा रहा हो, बाढ या भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोपों से व्यथित हो, उस समय उसे मिला हुआ दान क्या अमृत से कम है ? वह दान मानव को अमृत की तरह सजीवित कर देता है।

पीडितो और पददलितो के लिए तो दान अमृत से भी बढकर काम करता है। एक बार गांधीजी दक्षिण भारत के गुरुवापुर से कालीकट होकर उत्तरी मलाबार में गए और वहां से पुन कालीकट आकर वे कालीकट से ५० मील दूर, सुन्दर पर्वतीय प्रदश से युक्त कुलपटा पहुँचे। इस तालुके मे पर्वतीय अछूतो की सख्या ४२ हजार करीब है। इनमे १३ उपजातियाँ हैं। जिनमें परस्पर छुआ-छूत का भाव पाया

जाता है। ये लोग खेतों और काफी के बगीचों में उस जमाने में ३ पैसे प्रति दिन पर मजदूरी करते थे। गांधीजी की सभा में ये लोग सबके साथ बैठे थे। इन लोगों के पास बैठना भी साहस का काम था। कपड़े मैले से काले हो गए थे, बाल बहुत बढ़े हुए थे, मैला शरीर, भयंकर बदबू आ रही थी। इन लोगों की दशा सुधारने के लिए इसी गांव के एक दानशील जैन बन्धु श्री सुवैया गोंडन नामक जमींदार ने कमर कसी और वे जब तक जिंदा रहे, तब तक इन गरीबों की खूब सेवा करते रहे। मरते समय उन्होंने अपनी १०० एकड़ खेत की जमीन, एवं ६५ एकड़ का बाग इन पीड़ितों एवं पददलितों को दे दी। महात्मा गांधीजी ने इस जैनबन्धु के दान की प्रशंसा करते हुए कहा था—"यह कोई ऐसा-वैसा दान नहीं है, यह तो महादान है, जो ऐसे पिछड़े एवं पददलितों के लिए अमृत रूप बना। नहीं तो ऐसे जंगली प्रदेश में कौन इन पीड़ितों की पुकार सुनता ?" क्या यह दान पीड़ितों के लिए वरदान रूप अमृत नहीं है ? क्या इस दान से सुवैया गोंडन अमर नहीं हो गया ? इस दान से पीड़ितों में नई जान आ गयी।

कभी-कभी ऐसे मौके पर थोड़े-से दान का सहारा अमृत रूप बन जाता है। कई बार व्यक्ति अभाव से ग्रस्त होकर चिन्ता ही चिन्ता में भयंकर रोग का शिकार बन जाता है। अगर उस समय दानामृत मिल जाता है तो वह मरते हुए व्यक्ति को जिला देता है, रोते हुए को हँसा देता है।

जर्मनी में एक अत्यन्त दयालु राजा हो चुका है—सम्राट् जोसेफ। वह जनता के दुःख देखकर पिघल उठता था। कभी-कभी तो वह साधारण-सी पोशाक पहनकर अकेला ही अपने नगर में जनता की हालत देखने निकल पड़ता था।

एक बार वह शहर की सड़क पर साधारण वेष में घूम रहा था, तभी उसे एक छोटा-सा बालक मिला। उसे देखकर सम्राट जोसेफ रुक गये तो वह बोला—"भाई साहब ! मेरी सहायता कीजिए। मैं गरीब बालक हूँ।"

सम्राट् ने उसकी सूरत शक्ल देखकर अनुमान लगाया कि यह कोई कुलीन घर का विपत्तिग्रस्त लड़का है। अतः सम्राट् ने उससे कहा—"बेटा ! तू भिखारी का लड़का तो मालूम नहीं होता, क्योंकि तुझे भीख मांगने की कला नहीं आती। मालूम होता है, कुछ ही दिनों से तूने भीख माँगनी शुरू की है।"

यह सुनकर लड़के की आँखों में आंसू आ गये। वह रोते-रोते बोला—हाँ, भाई साहब ! मैंने तो क्या, मेरे कुल में भी किसी ने भीख नहीं माँगी, किन्तु दिन फिरते क्या देर लगती है ! समय आने पर मनुष्य को सब कुछ करना पड़ता है।" लड़का यह सब कहता जाता और आंसुओं से सम्राट् के चरण धोता जाता था। सम्राट् ने उसे प्यार से पूछा—"बेटा ! जरा बताओ तो सही, तुम्हें भीख क्यों मांगनी पड़ रही है ?"

बालक ने विनयपूर्वक कहा—"भाई साहब ! कुछ दिन हुए मेरे पूज्य पिता

का देहान्त हो गया। मुझे वे बहुत प्यार करते थे। हम दो भाई हैं। एक मुझसे छोटा है। हमारे पास खाने के लिए इस समय कुछ भी नहीं है। माताजी सख्त बीमार हैं। जो कुछ हमारे पास था, वह सब माताजी की बीमारी मे खर्च हो चुका। हमारी मदद करने वाला भी इस समय कोई नहीं रहा। जो अपने थे, वे सीधें मुँह बात नही करते, सहायता की तो बात ही दूर रही। अब तो पेट भरना भी कठिन हो रहा है। दवाई के लिए अब एक पैसा भी नही रहा। डॉक्टर बिना पैसे के बात ही नही करते। मेरी माँ कई दिनो से बिलकुल भूखी है। हम दोनो भाई भी दो दिनो से भूखे हैं। हमे छोटे बालक जानकर कोई मेहनत-मजदूरी के काम पर भी नही रखता। इसलिए विवश होकर आज मैं भीख माँगने निकला हूँ।"

बालक की करुणापूर्ण कहानी सुनकर सम्राट् की आँखो मे आँसू छलछला आए। सम्राट् ने लडके के हाथ मे कुछ रुपये देकर कहा—"जल्दी जाओ। डॉक्टर को बुलाकर अपनी माँ का इलाज करवाओ।" लडका खुशी से फूला न समाया। वह अपनी माँ के लिए डॉक्टर को बुलाने चल पडा।

जर्मन के सम्राट् ने डॉक्टर की पोशाक पहनी और वे पूछते पूछते उस गरीब बालक के घर पहुँच गये। वहाँ जाकर उसकी रुग्ण माता का हाल पूछा तथा डॉक्टर की तरह उसके रोग की जाँच की। अन्त मे कहा—"कोई चिन्ता न करो, सब ठीक हो जायगा।" लडके की माँ बोली—"डॉक्टर साहब! कोई ऐसी दवा दीजिए, जिससे मैं जल्दी स्वस्थ हो जाऊँ और कुछ काम-धन्धा करके इन दोनो बालको का पालन कर सकूँ। आज दुखी होकर मैंने लडके को भीख माँगने के लिए भेजा है। न जाने वह कहाँ-कहाँ धक्के खा रहा होगा।" यह कहते कहते उसका जी भर आया और वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसकी इस दशा को देखकर सम्राट् की आँखो में भी आँसू उमड पडे, किन्तु वे उन्हे पलको की बाँधो मे रोक कर बोले—"माता! घबराओ मत! मैं ऐसी दवा दूंगा, जिससे तुम्हारा सब दुख जाता रहेगा। किन्तु दवा लिखने के लिए एक कागज चाहिए।"

गरीब लडके की माँ ने कागज का एक टुकडा सम्राट् के आगे बढ़ा दिया। सम्राट् ने उस पर बडी उदारता से दवाई का नाम लिख दिया—"दवाई—इस दुखी परिवार को शाही खजाने से शीघ्र ही दस हजार रुपये सहायता के रूप मे दिये जाय।"

हस्ताक्षर
'सम्राट जोसेफ'

यह नुस्खा लिखकर रुग्ण महिला की खाट पर रख दिया और सम्राट् चल दिये। बाहर से भीख माँगकर जब उसका लडका लौटा तो उसकी माँ ने कहा—"बेटा! यह लो रोग की दवाई। अभी अभी डॉक्टर साहब लिखकर गए हैं। जाओ, भीख से कुछ पैसे मिले हो तो झटपट दवा ले आओ, बेटा!"

लड़के ने वह कागज उठाकर पढ़ा तो उसका रोम-रोम खिल उठा। वह झट बोल उठा—"माँ ! यह नुस्खा लिखने वाला कोई साधारण डॉक्टर नहीं, वह तो स्वयं सम्राट् जोसेफ थे, जिन्होंने लिखा है—फौरन दस हजार रुपये शाही खजाने से दे दिये जाँय।"

यह बात सुनते ही उसकी बुढ़िया माँ प्रसन्नता से उछल पड़ी और उसके रोम-रोम से आशीर्वाद बरस पड़े।

सचमुच इस दवा के मिल जाने के बाद उस सारे परिवार का दुःख सदा के लिए समाप्त हो गया। उस परिवार में नये जीवन का संचार हो गया।

इसीलिए दान को अमृत कहा है। दानामृत से रुग्ण, अभाव-पीड़ित परिवार में नई चेतना आ गयी, सम्राट् जोसेफ के दान ने अमृत का काम किया।

इसी प्रकार दान ऐसा अमृत है कि मुर्झाए, उदास और व्यथाग्रस्त चेहरे में नये प्राण फूंक देता है। एक बार जब दान से गिरा हुआ, मृत-प्राय व्यक्ति ऊपर उठ जाता है तो फिर उसमें नई ताकत आ जाती है। वह अपने आपको संभाल लेता है।

दान का अमृत पाकर मृतप्राय व्यक्ति में भी जान आ जाती है। पीड़ित व्यक्ति के मुरझाए हुए प्राणों में नवजीवन का संचार हो जाता है।

इस प्रकार दान मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में नई आशा, नई चेतना और नई उत्साहतरंग पैदा कर देता है। वह जीवन के हर मोड़ पर अमृत का-सा अद्भुत कार्य करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

दान से हृदयपरिवर्तन

प्रायः यह देखा जाता है कि मनुष्य जब किसी अभाव से पीड़ित होता है, अथवा किसी प्रकार के प्राकृतिक प्रकोप या विपत्ति का शिकार बन जाता है, तब उसकी बुद्धि डांवाडोल हो जाती है, उस समय उसकी बुद्धि को स्थिर करने और उसके हृदय को बदलने में समर्थ दान ही हो सकता है। जब उक्त विपद्ग्रस्त व्यक्ति को कोई सहायता नहीं मिलती है, वह सब ओर से निराश हो जाता है, तब उसकी वृत्ति अन्याय, अनीति या चोरी जैसे अनाचरणीय दुष्कर्म करने पर उतारू हो जाती है। बंगला में एक कहावत प्रसिद्ध है—

'अभावे स्वभाव'

—अर्थात् अभाव में आदमी का स्वभाव बदल जाता है।

अभाव के समय अपने स्वभाव में स्थिर रखने वाला दान ही है। कई दफा बाहर से अभाव न होने पर भी मानसिक अभाव मनुष्य के मन में पैदा हो जाता है, वह दूसरों की बढ़ती देखकर मन में अभाव या हीनता को महसूस करता है, अगर उस समय उसकी विकृत वृत्ति को कोई बदल सकता है तो दान ही।

मोरवी (सौराष्ट्र) के प्रसिद्ध विद्वान् पं० शंकरलाल माहेश्वर सौराष्ट्र के जाने-

माने विद्वानो मे से एक थे। उनकी विशेषता तो यह थी कि विद्वत्ता के साथ-साथ उनमे हृदय की उदारता भी थी। उनका यह मानना था कि मनुष्य पढ़ने के साथ-साथ अपने जीवन मे धर्माचरण भी करे।

एक दिन शास्त्री जी अन्दर के कमरे मे बैठे गीतापाठ कर रहे थे। तभी एक ब्राह्मण भिक्षुक द्वार पर आया और 'लक्ष्मीनारायण प्रसन्न हूरे !' कहता हुआ आटा मागने आया। कुछ देर तक प्रतीक्षा मे खडा रहा। जब घर मे से कोई उसे आटा देने न आया तो उसने सोचा—घर मे कोई नही होगा। शास्त्रीजी उसकी दृष्टि मे नही आए। अत उसने इधर उधर देखा और घर की खिडकी के पास नीचे के जीने पर टट्टी जाने का एक पीतल का लोटा पडा था, उसे उठाया और चट से अपनी झोली मे डाल दिया। फिर आटा लेने के लिए कुछ देर खडा रहा। कमरे के एक कोने मे गीतापाठ करके उठते हुए शास्त्री जी की दृष्टि अकस्मात् सामने की खिडकी पर पडी, उन्होने ब्राह्मण भिक्षुक को लोटा उठा कर झोली मे डालते देख लिया। किन्तु हल्ला नही मचाया। सोचा— बेचारे को जरूरत होगी। भूखा होगा, इसलिए लोटा उठा लिया होगा। दूसरा होता तो डाटता-फटकारता, मारपीट करता और पुलिस के सुपुर्द कर देता, मगर शास्त्रीजी ने गीता का समत्वयोग अपने मे रमा लिया था। उन्होने तुरन्त अपने नौकर को बुलाकर बाजार से एक नई थाली, एक लोट और एक कटोरी लाने को कहा। नौकर को उधर भेजकर शास्त्रीजी उस ब्राह्मण भिक्षुक से प्रेमपूर्वक बाते करने लगे। कुछ ही देर मे नौकर उक्त तीनो चीजें लेकर आ गया। शास्त्रीजी ने थाली मे आटा लोटे मे घी और कटोरी मे दाल भर कर तीनो चीजें भिक्षुक ब्राह्मण के चरणो मे रख कर कहा—"लो, महाराज ! ये लोटा थाली और कटोरा ले लो और जो पीतल का टट्टी जाने का गंदा लोटा आपकी झोली मे पडा है, उसे निकाल कर वही रख दो।'

ब्राह्मण भिक्षुक तो भौचक्का-सा हो गया, उसे काटो तो खून नही। शर्म के मारे उसका मुंह नीचा हो गया। उसने धीरे से वह लोटा निकाल कर पहले जहाँ पडा था, वही चुपचाप रख दिया। शास्त्रीजी ने उसे प्रेम से कहा—"भूदेव ! आप भी ब्राह्मण कुलोत्पन्न हैं, मैं भी उसी कुल का हूँ। हम सब बन्धु हैं। इसलिए आप किसी बात का सकोच न करें, जिस चीज की आपको जरूरत हो, मुझे कहें। परन्तु ऐसा कार्य कदापि न करना, जिससे हमारा कुल कलकित हो। ऐसा करने से ब्राह्मण जाति बिगडती है। क्या आपके पास लोटा नहीं था ?"

भिक्षुक ने आँखो मे आसू लाते हुए कहा—मुझे क्षमा करें। मुझसे बहुत बडी गलती हो गई। मेरे पास लोटा नही था, ऐसी बात नही है। किन्तु मेरी वृत्ति चोरी की हो गई। परन्तु आपकी उदारता ने, आपके इस दान ने मेरे हृदय को झकझोर दिया। मैं आज से आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ, कि कभी इस प्रकार से चोरी नही करूंगा। अगर किसी चीज की जरूरत होगी तो मैं आपसे कहूँगा।"

पण्डितजी ने उस भिक्षुक को वात्सल्य भाव से विदा किया। शास्त्रीजी इतने धन-सम्पन्न नहीं थे, परन्तु उदारहृदय और दानी थे। उनके दान और प्रेमपूर्ण वचन ही भिक्षुक का हृदय बदल दिया।

यह है दान से हृदय परिवर्तन का ज्वलन्त प्रमाण ! मनुष्य कल्पना ही नहीं कर सकता कि दान में इतनी बड़ी शक्ति है, पापी, अनीतिमान या चोर-डकैतों के हृदय को बदलने की ! संत एकनाथ ने भी अपनी सम्पत्ति को ले जाने देकर चोरों का हृदय बदल दिया। इसी तरह कविवर प० बनारसीदास जी ने भी घर पर चोरी करने आये हुए चोरों की वृत्ति बदल दी, इसी दानवृत्ति के कारण।

सन्त एकनाथ अपने गृहमन्दिर में रात को अकेले ही बैठे परमात्मा का स्मरण कर रहे थे। घर में कोई नहीं है, यह सोचकर एक चपल चोर घर में घुसा। एकनाथ ने चोर को देख लिया, परन्तु चोर ने एकनाथ को नहीं देखा। इसलिए घर में जो कुछ माल हाथ लगा, उसे इकट्ठा करने लगा। जब सब माल ढूंढ़-ढूंढ़ कर उसने एकत्र करके गठड़ी में बांध लिया और उसे ले जाने की तैयारी में था तभी संत एकनाथ जो बैठे-बैठे यह भी विचार कर रहे थे कि इस बेचारे को गहनों की बहुत जरूरत मालूम होती है, मेरे लिए तो यह अंगूठी भाररूप ही है; अतः अंगुली में पहनी हुई अंगूठी निकाल कर चोर को देते हुए बोले—"ले भाई ! एक चीज और रह गई है, इसे भी लेता जा। मुझे इसकी बिलकुल जरूरत नहीं है। तेरे काम आएगी।" चोर यह बात सुनकर एकदम चौंक पड़ा 'इतनी चीजें मैं चुराकर ले जा रहा हूँ, इसके लिए कोई शोरशराबा नहीं और ऊपर से यह अंगूठी का दान ! एक चोर के लिए दान और ऊपर से सहानुभूति के शब्द !' चोर घबराने लगा। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। उसे घबराते देख संत ने कहा—'घबराओ मत ! इसमें तुम्हारे हिस्से का जो कुछ है, वही तो तुम ले जा सकते हो ! विश्व का यह अटल नियम है— जो अपना है, उसे ले जाने की किसी में ताकत नहीं।' चोर को ऐसा अमृतोपम वचन कहने वाला व्यक्ति कभी नहीं मिला था। उसके विचारों ने पलटा खाया—"इस देवतुल्य पुरुष के गहने बेचकर पैसे कमाऊँ, इसकी अपेक्षा तो जिंदगी भर इनके पास ही रहकर अपना जीवन सफल बनाऊँ तो कितना अच्छा हो !" यों सोचकर वह संत एकनाथ के चरणों में गिर पड़ा और माफी मांगने लगा। संत ने उसे हृदय से लगाया। उसे बिठाकर सुख-दुःख का हाल पूछा। भोजन कराया और फिर उसे विदा किया। चोर ने जाते समय कहा—"आज से चोरी करना हराम है। मैं मेहनत करके अपना जीवन चलाऊँगा।"

इस प्रकार संत एकनाथ के दान ने चोर का जीवन सदा के लिए बदल दिया।

श्रावक जिनदास के विषय में भी कहानी प्रसिद्ध है कि वह जब रात्रि में सामायिक करने बैठा हुआ था तब कुछ चोरों ने मौका देखकर उसके घर में चोरी

की। पर श्रावक अपने आत्मचिन्तन में लीन रहा और चोरी के कारण—गरीबी संग्रहखोरी पर ही विचार करता रहा। प्रातः जब उसे मालूम हुआ कि चोर रंगे हाथों पकड़े गये हैं, वे जेल में बंद हैं तो राजा से प्रार्थना कर चोरों को छुड़वाया और चुराया हुआ सब धन उन्हें सौंपकर कहा—तुम गरीबी के कारण चोर बने हो, इसलिए यह धन लो, और आज से चोरी छोड़ दो। चोर की माँ तो गरीबी है, वही मनुष्य को चोर डाकू के रूप में जन्म देती है। दान की शक्ति उसी चोर की माँ—गरीबी, संग्रहखोरी को समाप्त करती है।

निःसन्देह, दान हृदयपरिवर्तन में चमत्कारी ढंग से सहयोगी होता है। इसलिए बौद्धधर्म ग्रन्थ विसुद्धिमग्गो (६।३९) में स्पष्ट कहा है—

अदन्तदमनं दानं, दानं सब्बत्थसाधकं

दान अदान्त (दमन न किये हुए व्यक्ति) का दमन करने वाला तथा सर्वार्थसाधक है। दान से केवल चोरों का ही नहीं, लुटेरों, बदमाशों, वेश्याओं का भी जीवन बदला है, उनके जीवन में दान से नया प्रकाश आया है, जीवन में व्याप्त पुरानी आदतें दुर्व्यसन और बुराइयाँ नष्ट होकर वे अच्छाइयों के रास्ते पर चल पड़े हैं। दान ने उन्हें अपने आपको बदलने को बाध्य कर दिया, वे दान देना प्रारम्भ करने से पहले अपने जीवन को माँजने में प्रवृत्त हो गए। यह दान का ही अद्भुत प्रभाव था कि राजसी ठाटबाट से रहने वाले राजा हरिश्चन्द्र को ऋषि विश्वामित्र को राज्य दान देने के बाद अपने जीवन को अत्यन्त श्रमनिष्ठ, सादगी और संयम से ओतप्रोत बनाना पड़ा।

अमेरिका के धनकुबेर डेल कार्नेगी ने जब दान प्रवृत्ति शुरू की तो स्वयं तमाम मादक द्रव्यों का परित्याग कर दिया। उन्होंने स्वयं एक बार कहा था—"मेरा मादकनिषेध भाषण सब प्रभावशाली एवं सर्वोत्तम हुआ, जबकि मैंने स्वयं मद्यत्याग करके अपनी जागीर की आय में से सभी मादक द्रव्यों का सर्वथा परित्याग करने वाले सभी श्रमिकों को दश प्रतिशत पुरस्कार वृत्ति देने की घोषणा की थी।" इसलिए दान जीवन परिवर्तन का अचूक उपाय है।

दान से जीवन शुद्धि और सन्तोष

एक वेश्या थी। उसके पास सौन्दर्य था। जवानी थी और वैभव का भी कोई पार न था। सैकड़ों युवक उसके इशारे पर नाचते थे। परन्तु उसे अपनी वेश्यावृत्ति से सन्तोष नहीं था, उसके दिल में अशान्ति थी। वह दुनिया का शिकार करती थी, लेकिन वास्तव में दुनिया ही उसका शिकार करती थी। उसने तथागत बुद्ध के चरणों में पहुँचकर शान्ति और सन्तोष का मार्ग पूछा तो उन्होंने कहा—"शान्ति और सन्तोष का मार्ग तुम्हें तभी प्राप्त हो सकता है, जब तुम अपने तन-मन-धन को इस वेश्यावृत्ति से मुक्त कर दो, जब तक तुम अपने तन, मन और धन को इसी प्रकार के कसब कमाने और अपने शरीर को बेचने में लगाये रखोगी, तब

तक तुम्हें शान्ति का वह सात्विक मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता।" ब
उसने अपनी वेश्यावृत्ति छोड़ दी और सादगी से जीवन बिताने ल
वह पुन: तथागत बुद्ध के चरणों में पहुँची और उनसे निवेदन कि
अब मैं अपना शरीर बेचने का धंधा छोड़ चुकी हूँ। सात्विक जी
मुझे ऐसा मार्ग बताइए, जिससे शान्ति मिले।" बुद्ध ने उसे बताया वि
से दान का मार्ग ही ऐसा उत्तम है, जिसे अपनाने पर तुम्हारे त
मिलेगी, तुम्हारा धन शुभकार्यों में लगेगा, जिससे तुम्हें सन्तोष प्राप्त

बस, उसी दिन से उस भूतपूर्व वेश्या ने दानशालाएँ खुल
कई जगह यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ आदि बनवादीं
एवं अनाथ स्त्रियों के खानपान का प्रबन्ध कर दिया। गरीबों को
अन्य आवश्यक वस्तुएँ देती रहती। मध्यमवर्गीय कुलीन लोग, जं
हाथ नहीं पसार सकते थे, उन्हें वह चुपचाप मदद करती थी। इस
मार्ग ग्रहण करने से पहले उसका जीवन शुद्ध बन गया और दान के
धर्माचरण में जीवन रंग गया। इस दानप्रवृत्ति से उसे बहुत ही स
शान्ति मिलने लगी। दानप्रवृत्ति के कारण घर-घर में उसका
इतिहास में वह आम्रपाली वेश्या के नाम से प्रसिद्ध हुई। बाद में उ
के चरणों में अपनी सारी सम्पत्ति अर्पित कर दी, और भिक्षुणी बनव
की पूर्णतया शुद्धि करली।

इस प्रकार दान से व्यक्ति की जीवन शुद्धि और आत्मशान्ति
व्यक्ति अपने तन-मन-धन को दानप्रवृत्ति में लगाकर परम स
करता है।

दान से सारे प

आप और हम देखते हैं—परिवारों में अक्सर स्वार्थभाव
लोभवृत्ति के कारण आए दिन चख-चख होती रहती है, जरा-ज
महाभारत मच जाता है, किन्तु उसी परिवार में अगर किसी व्य
दूसरों को अपनी ओर से देने की वृत्ति-प्रवृत्ति हो, स्वार्थ त्याग की
उसका असर संघर्ष और कलह करने वालों पर भी पड़ता है, किसी
हुआ गृहकलह भी शान्त हो जाता है और सारे परिवार में सुव्य
शान्ति बढ़ जाती है। और गृहस्थ जीवन में पारस्परिक प्रेमवृद्धि
भी आकर अपने बसेरा वहीं कर लेती है। इस तरह दान परिवार
सुधार में भी महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा करता है।

एक बड़ा परिवार था। उसमें पति-पत्नी, ५ पुत्र, दो पुत्रि
वधुएँ थीं। परन्तु परिवार में आए दिन काम के लिए बहुओं में पर

अशान्ति का राज्य था। सबसे छोटी बहू ने शादी के बाद कुछ ही दिन हुए इस घर मे प्रवेश किया तो वह प्रतिदिन के गृहकलह और अशान्ति को देखकर घबरा उठी। वह बहू सुशिक्षित सुसस्कारी और उदार थी। उसने मन ही मन भगवान् से प्रार्थना की—"भगवन्! मैं इस अशान्तिमय वातावरण मे कैसे रहूँगी, कैसे जीवन जीऊँगी? कोई रास्ता बताइए, जिससे मैं शान्ति से रह सकूँ।" प्रार्थना करते-करते उसकी आँखों से अश्रुधारा बह चली, अचानक उसके हृदय मे अपने प्रश्न का समुचित उत्तर स्फुरित हुआ—"इस घर के अशुद्ध वातावरण को बदलने के लिए ही तू इस परिवार मे आई है, अत स्वार्थत्याग, श्रम, धन एव वस्त्रादि के दान का मार्ग ही तेरे लिए सर्वोपरि है, इसी से परिवार में शान्ति हो सकती है।" बस, उसे पारिवारिक अशान्ति के निवारण की असली कुँजी मिल गई। उसने सास से विनयपूर्वक कह-सुनकर सुबह शाम रसोई बनाने और तथा घर के अन्य कार्य अपने जिम्मे ले लिए। उसकी सास और जिठानियो ने जब उससे पूछा कि तू अकेली सारे कार्य अपने ऊपर क्यों लेती है? तब उसने यही कहा कि "मुझे श्रम से कार्य करने मे आनन्द आता है, आलस्य निवारण भी हो जाता है।"

जिठानियाँ अपनी छोटी देवरानी के द्वारा श्रमदान की प्रवृत्ति देख देख कर प्रसन्न होती, उनके मन मे देवरानी की उदारता को देख कर विचार आया कि हम तो काम करने मे आनाकानी करतीं या बहाना बनाती मगर यह अकेली सारा कार्य स्फूर्ति से कर लेती है। धीरे-धीरे उसकी जिठानियो ने भी परस्पर झगडा करना बन्द करके स्वयमेव श्रम के कार्य करने लगी। एक बार उसके ससुर प्रत्येक बहू को देने के लिए १२-१२ साडियाँ लाए। उसने अपने हिस्से की बारहो साडियाँ अपनी जिठानियो और ननदो को आग्रहपूर्वक दे दी। पूछने पर कहा—"मेरे पास बहुत साडियाँ पडी हैं, मुझे जरूरत नही है। फिर बढ़िया साडी पहिनने से मेहनत के काम करने का जी नही होता। छोटी बहू की इस उदारवृत्ति का भी जिठानियो पर बहुत प्रभाव पडा। दूसरे ही साल व्यापार मे अच्छी कमाई होने से उसके ससुर ने सब बहुओ के लिए गहने बनवाए। परन्तु छोटी बहू ने अपने हिस्से के सब गहने अपनी जिठानियो को दे दिये। इससे और भी ज्यादा प्रभाव उन पर पडा। अब क्या था? छोटी बहू की इस प्रकार की उदारता और अपनी चीज जिठानियो को दे देने की प्रवृत्ति ने उनके हृदय को बदल दिया। जिठानियो मे अब स्वार्थ त्याग एव मेहनत के काम करने की वृत्ति बढ़ गई, और एक ही वर्ष मे घर का वातावरण शान्तिमय, प्रेममय और उदार बन गया।

छोटी बहू ने अपने परिवार में ही इस प्रकार की दानप्रवृत्ति चलाई हो थी, आस-पास के क्षेत्र मे भी भूखो, पीडितो एव दु खियो को खुले हाथो अन्न वस्त्र आदि का दान भी करती थी। परन्तु उसके इस पारिवारिक क्षेत्र के दान ने सास तथा जेठानी व ननद के जीवन मे अचक परिवर्तन कर दिया। उनका पारस्परिक मनोमालिन्य,

झगड़ा और बात-बात में किसी काम के लिए चखचख अथवा तू-तू-मैं-मैं अब नहीं होती। कोई भी बहू काम से जी नहीं चुराती। घर की व्यवस्था अच्छी हुई, घर में सुख-शान्ति का राज्य हो गया। इस पारिवारिक शांति का रहस्य क्या है ? आप अगर अपने मन से ही इसका उत्तर पूछेंगे तो आत्मा से एक तेज आवाज उठती सुनाई देगी, स्वार्थत्याग। अपने स्वार्थ और सुख का त्याग कर डालना ही तो उत्तम दान है, और उसी से पारिवारिक शांति का राजमार्ग खुलता है। यह है दान से परिवार में सुधार का उदाहरण !

दान से गृहकलह और दारिद्र्य का निवारण

दान में अनेक गुण निहित हैं। दान से गृहकलह भी शांत हो जाता है। प्रायः देखा गया है कि गृहकलह रूप बीमारी की जड़ गरीबी है। दारिद्रय प्रभवा दोषाः—कलह, अशांति और झगड़े का मूल दरिद्रता है। आवेश के कारण परिवार में दरिद्रता को लेकर कई बार गृहकलह छिड़ जाता है, परिवार के सदस्य एक-दूसरे को कोसने लगते हैं और मारपीट तक की नौबत आ जाती है। उस समय दान की शीतल वारि-धारा ही उस गृहकलह की आग को बुझा सकती है।

राजा भोज के राज्य में एक गरीब ब्राह्मण रहता था। वह निर्धन होने पर भी स्वाभिमानी और संतोषी था। धन-संग्रह करने के उद्देश्य से वह कभी किसी से मांगता नहीं था, न अपमानित होकर भिक्षा लेता। प्रायः भिक्षा पर निर्वाह करता था। घर में तीन प्राणी थे—वह, उसकी पत्नी और माता। पर्याप्त भिक्षा न मिलने पर कभी-कभी भूखे पेट रह जाना पड़ता था।

एक दिन की बात है। ब्राह्मण बहुत घूमा, थक गया, लेकिन कहीं भिक्षा न मिली। अतः खाली हाथ वापस लौट आया। ब्राह्मण ने सोचा—"भूख बहुत जोर की लगी है। स्त्री ने कुछ बचाया होगा तो वह खिलाएगी।" यों सोच कर घर लौट आया। इधर उसकी माता और पत्नी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। मगर ब्राह्मण को खाली हाथ देख निराश हो गयी। ब्राह्मण ने आते ही पत्नी से कहा—"लाओ, कुछ हो तो खाने को दो।" पत्नी—"कुछ लाए हो तो बना दूं। घर में तो कुछ भी नहीं है।" ब्राह्मण बोला—"मैं तो रोज लाता ही हूँ। आज नहीं मिला तो क्या हुआ ? क्या स्त्री होकर एक दिन का भी भोजन नहीं दे सकती ?"

ब्राह्मणी जरा गर्म होकर बोली—"कभी एक दिन से ज्यादा का भोजन लाये हो तो मुझसे कहो कि संभाल कर क्यों नहीं रखा ? लाकर देना नहीं, मांगना और ऊपर से तकरार, यह भी कोई बात है। अगर खिलाने की हिम्मत नहीं थी तो विवाह किए बिना कौन-सा काम अटकता था। ब्राह्मण तमतमाता हुआ बोला—"शंखिनी ! मेरे घर में तेरे जैसी आई तो अब खाने को कैसे मिलता ? कोई सुलक्षणी आती तो कमा लाता। मगर तू अभागिनी ऐसी मिली कि भटकते-भटकते हैरान हो गया। चार दाने अन्न न मिल सका। तू अर्द्धांगिनी है, तुझे भी कुछ करना मेहनत-मजदूरी करके

तुझे भी कुछ बचाकर रखना चाहिए। कदाचित् कोई आतिथ आ जाय तो ' ब्राह्मणी का पारा गर्म हो गया। वह बोली—' बस, बहुत हो गया। अपनी जीभ बन्द कर लो। धिक्कार है, उन सासूजी को, जिन्होंने तुम्हें जन्म दिया। मैं अभागिनी थी तो सही, पर तुम्हारी माता तो भाग्यशालिनी है उसके भाग्य से भी कुछ मिला होता। दरअसल, वही अभागिनी है, जिसने तुम सरीखे सपूत पैदा किए। मैं कष्ट पा रही हूँ।" ब्राह्मण अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोला—"तेरे माँ-बाप ने तुझे कब पैदा किया है, जो अपनी सास के लिए ऐसे शब्द बोलती है। निर्लज्जे ! कुछ शर्म भी नहीं।" यों कहकर ब्राह्मण पत्नी को पीटने लगा। ब्राह्मणी चिल्लाई—"हाय ! बचाओ बचाओ, दौड़ो कोई।" ब्राह्मणी के सिर से खून बहने लगा। स्त्री की पुकार सुनकर पुलिस आ गई। उसने पूछताछ की तो ब्राह्मणी बोली—' देखो, इन्होंने कितना मारा है, मेरे सिर से खून निकल आया। घर में खाने को है नहीं, मुझसे खाना मांगते हैं ! इस राज्य में ऐसे भी लोग बसते हैं, जो विवाह कर लेते हैं, पर स्त्री की मिट्टी पलीद करते हैं। पूछ लो उनसे।"

पुलिस ने दोनों ओर की जाच करके कहा—"तुमने निर्दोष स्त्री पर अत्याचार किया है, इसलिए पकड़े जाते हो।" पुलिस ने ब्राह्मण को गिरफ्तार करके कोतवाल के सामने पेश किया। ब्राह्मण ने सोचा—' मैंने क्रोध में आकर पत्नी को पीट तो दिया, लेकिन अब कहूँगा क्या ? पुलिस या कोतवाल के सामने अपनी कष्टकथा कहने से सिवाय लज्जित होने को और लाभ भी क्या है ? अत राजा के सिवाय किसी से कुछ भी न कहूँगा।" कोतवाल ने जब ब्राह्मण से कहा कि "अपने बयान लिखाओ, तुमने क्या किया ? किस अपराध में पकड़े गए हो ?' इस पर ब्राह्मण बोला— "मैं राजा भोज को छोड़कर किसी के सामने बयान न दूंगा।" कोतवाल ने बहुत डाटा-फटकारा, लेकिन वह टस से मस न हुआ। आखिर ब्राह्मण को जिद्दी समझकर महाराजा भोज के सामने उसे पेश किया।

राजा भोज राजसभा में सिंहासन पर बैठे थे। क्रमश अपराधी उनके सामने पेश किये जाते थे। संयोगवश आज सबसे पहला नम्बर इसी ब्राह्मण का था। राजा ने ब्राह्मण के मामले में सारी बात सरकारी कर्मचारी से पूछताछ करके ब्राह्मण से पूछा—' क्या यह बात ठीक है ?" ब्राह्मण बोला—और सब बात तो ठीक है, पर मुझे ये ब्राह्मण बता रहे हैं, पर मैं ब्राह्मण नहीं चाण्डाल हूँ। भीतरी बात का इन्हें पता नहीं। जो ब्राह्मण होगा, वह आपके सामने अभियुक्त बनकर नहीं आएगा। मुझ में चांडाल के लक्षण हैं, महाराज !" राजा ने कहा—"तुम ब्राह्मण हो या चाण्डाल, जो अपराध करेगा, वह दण्ड पाएगा। बोलो तुमने अपनी स्त्री को क्यों मारा ?' ब्राह्मण पढ़ा लिखा था। वह बोला—"राजन् ! मेरी बात आप सुन लीजिए, फिर जिसका कसूर हो, उसे दण्ड दीजिए।"

राजा—"क्या कहना चाहते हो, कहो।'

ब्राह्मण बोला—

"अम्बा तुष्यति न मया, न तया, साऽपि नाम्बया न मया।
अहमपि न तया न तया, वद राजन्! कस्य दोषोऽयम्॥"

—मेरी माँ न मुझसे खुश है न पत्नी से, पत्नी भी न माँ से खुश है न मुझसे, और मैं भी उन दोनों से खुश नहीं हूँ, राजन्! आप ही सोच लें, इसमें किसका दोष है?

राजा ब्राह्मण की बात से बहुत प्रभावित हुआ। बोला—"मैं सब समझ गया।" शीघ्र ही राजा ने भंडारी को आज्ञा दी—"इस ब्राह्मण को एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ दे दो।" राजाज्ञा सुनकर भंडारी आश्चर्य में पड़ गया। सोचा—"स्त्री को पीटा, जिसके बदले एक हजार मुहरें!" राजा भण्डारी की मुखमुद्रा देखकर भाव ताड़ गए। बोले—"तुम्हें क्या शंका है? आश्चर्य क्यों है? कहो!" भण्डारी—"स्त्री को पीटने के बदले एक हजार मुहरें देने की बात नगर में फैल जाएगी, तो बेचारी स्त्रियों पर घोर संकट टूट पड़ेगा। राज्य का खजाना खाली होने का अवसर आ जाएगा। सभी इनाम लेने दौड़ेंगे।" राजा—"मेरी बात तुम्हारी समझ में नहीं आई। जो आदमी खाता-पीता और सुखी है, वह अगर स्त्री को पीटेगा तो जरा भी रियायत नहीं की जाएगी, चाहे मेरा पुत्र ही क्यों न हो। मैं स्त्री को पीटने के बदले ब्राह्मण को मुहरें नहीं दिलवा रहा हूँ, अपितु जिसका अपराध है, उसे ही दण्ड दे रहा हूँ। अगर कानून के अनुसार इसे कैद कर लूंगा तो हालत और भी खराब हो जायगी। अभी तो लड़ते हुए भी माँ-बेटा, पत्नी तीनों एक साथ रहते हैं, फिर सब एक दूसरे को छोड़ जाएँगे। भण्डारी! तुम इस ब्राह्मण की स्थिति पर विचार करो तुम्हें स्पष्ट प्रतीत होगा कि अपराध ब्राह्मण का या इसकी पत्नी का नहीं, अपराध दरिद्रता का है, उसी का मैंने दण्ड दिया है, ये मुहरें दिलाकर।" भण्डारी का भ्रम दूर हो गया। उसने मन ही मन राजा की प्रशंसा की और एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ ब्राह्मण के सामने लाकर रख दीं। राजा ने ब्राह्मण से कहा—"जिसका अपराध था, उसे दण्ड दिया गया है, लेकिन इस काण्ड की पुनरावृत्ति हुई तो फिर मैं तुम्हें भारी दण्ड दूंगा।"

ब्राह्मण—"आपके उचित निर्णय की प्रशंसा करने को मेरे पास शब्द नहीं हैं। भविष्य में अपराध हो तो मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े करवा देना।" ब्राह्मण स्वर्ण-मुद्राओं की थैली लेकर चला।

उधर घर में सास-बहू के बीच कलह हो रहा था। सास कह रही थी—"तूने उससे ऐसा क्यों कहा?" बहू कह रही थी—"उन्होंने मुझसे ऐसा क्यों कहा?" बस, इन्हीं मूलसूत्रों पर भाष्य और टीका हो रही थी। इतने में ही दूर से थैली लिये आता हुआ ब्राह्मण दिखाई दिया। उसे देखकर सास-बहू दोनों शान्त हो गईं। दोनों को तसल्ली हुई कि आज तक कभी इतना अनाज घर में नहीं आया था, आज गृहस्वामी बोरी भर कर ला रहा है। नजदीक आने पर बोरी में कुछ गोल-गोल चीजें दिखाई दीं। दोनों ने सोचा—"इतने पैसे हों, तो भी बहुत हैं। अब दोनों की लड़ाई बन्द हो चुकी। दोनों की विचारधारा[illegible] सास कहने लगी—"बेटे को वजन लग रहा

होगा, मैं थैली ले लूं।" बहू बोली—"आप बुड्ढी हैं, रहने दें, माँ ! मैं ले लेती हूँ।" सास बोली—"बहू ! तुम्हारे सिर म चोट लगी है, तुम रहने दो।" बहू मुस्कराकर बोली—"इस मार मे क्या है ? पति की मार और घी की नाल बराबर है।' आखिर सास-बहू दोनों थैली लेने के लिए दौड़ीं।

दोनो को सामने बढते देख ब्राह्मण ने कहा—"तुम दोनो कष्ट मत करो। यह बोझ मेरे ही सिर पर रहने दो। अपने अपराध का भार मुझे ही उठाने दो।" यो कहता हुआ ब्राह्मण थैली लेकर घर म प्रविष्ट हुआ। थैली नीचे रखी तो उसकी माँ और पत्नी दोनो इतनी स्वण मुद्राएँ देखकर भौंचक्की सी रह गई। माँ बोली—"बेटा ! मरे जैसी कठोर हृदया माता नही, तुझ-सा सपूत बेटा नही। मैं सदा साँपिनी रही। तुझसे सीधे मुँह बात न की अपना कर्तव्यपालन न किया, मुझे क्षमा करना।"

तभी गिड़गिड़ाकर पत्नी बोली—"यह कसूर तो मेरा ही है, माँ ! मैं जब से इस घर म आई, तब स सबको कष्ट म पड़ना पड़ा। मैंने पति और सास की सदैव अवज्ञा की। प्रिय वचन तक न कहा, मुझे क्षमा करना।"

ब्राह्मण न कहा—'माँ और प्रिये ! तुम दोनों मुझे क्षमा करना। मेरा कर्तव्य था—तुम्हारा पालन करना। सपूत बेटा वृद्धावस्था मे माँ की सेवा करता है, सच्चा पति सदैव अपनी पत्नी की रक्षा करता है। पर मैंने दोनो मे से एक भी कर्तव्य का पालन न किया। इस प्रकार तीनो ने अपनी-अपनी गलती स्वीकार करके एक-दूसरे से क्षमा माँगी। ब्राह्मण ने अन्त मे कहा—"अब भूतकाल की बात भूल जाओ। गुण गाओ राजा भोज के, जिन्होंने अपना असली दुःख जान लिया और एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दान देकर अपना दरिद्रता का दुःख मिटा दिया।

इस प्रकार वह ब्राह्मण कुटुम्ब शीघ्र ही सुधर गया। इसके पश्चात् उनमें परस्पर कलह कभी नही हुआ। तीनो बड़े प्रेम से रहने लगे और धर्माराधन करने लगे।

सचमुच, दान मे इतनी आकर्षण शक्ति है कि इसके कारण वर्षों पुराने झगड़े, दरिद्रता के कारण होने वाला गृहकलह, परस्पर की खींचातानी और स्वार्थ भावना शीघ्र ही मिट जाती है और दरिद्रता देवी तो दान को देखते ही पलायित हो जाती है। कितनी गजब की शक्ति है, दान में।

जिस बात को लेकर कलह का सूत्रपात होता है, अगर उसका मूल पकड़ कर दान के रूप मे उदारता की जाती है, तो कलह को शान्त हो ही जाता है, उससे भी आगे बढ़कर परस्पर प्रेमभाव, उदारता और सहयोग की भावना बढ़ती है। कषायो और राग द्वेषो के भड़कने के कारण जो अशुभ कर्मों का बन्ध प्रतिदिन होता रहता था, वह भी बन्द हो जाता है। घर म शान्ति और सुख बढ़ता है तो सम्पत्ति (लक्ष्मी) भी बढती है, दरिद्रता भी दूर हो जाती है। तथा पारस्परिक ऐक्य और पारिवारिक सगठन के कारण बड़ी से बड़ी विपत्ति आने पर सब मिलकर उसे निवारण कर सकते

है। धर्माचरण करने का उत्साह भी मर जाता है, चिन्ता और कलह के वातावरण में धर्मध्यान नहीं होता, प्रायः आर्तध्यान ही होता है। इसके अतिरिक्त परिवार में सुख-शान्ति और परस्पर प्रीति होने से उसका असर समाज पर भी पड़ता है और उस परिवार की प्रतिष्ठा में चार चाँद लग जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

दान से पापों का प्रायश्चित्त और उच्छेद

दान से जब हृदय परिवर्तन होता है, तब पूर्वकृत पापों का नाश हो जाता है, और भविष्य में अनीति, चोरी आदि पापकर्म करने की वृत्ति समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त पापकर्मों के प्रायश्चित्त के रूप में दान देता है, तब भी पापकर्मों का उच्छेद हो जाता है। इसलिए समझदार और विचारक व्यक्ति प्रायः यही सोचता है कि मैं दान देकर किसी पर एहसान नहीं कर रहा हूँ, न वह दान देने का गर्व करता है, बल्कि समतावादी विचारक तो यही सोचता है कि मुझे किसी प्रकार का ढिंढोरा पीटे बिना एवं विज्ञापन किये बिना अपने पापकर्म के प्रायश्चित्त स्वरूप दान करना चाहिए। अगर मैंने दान नहीं किया तो मेरा पापकर्म रूपी फोड़ा बढ़ता जाएगा, और एक दिन मेरे जीवन को ही ले डूबेगा, इसलिए पापकर्म रूपी फोड़े को दान का नश्तर लगाकर उसे फोड़ डालना ही मेरे लिए हितावह है। इसलिए रूस के 'पीटर दि ग्रेट' ने अनुभव की आँच में तपी हुई बात कही है—

'दान असंख्य पापों का छेदन करने वाला है।'

इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए, रॉकफेलर का जीवन प्रसंग प्रस्तुत किया जाता है—

'जॉन डी. रॉकफेलर' अमेरिका का एक धनाढ्य व्यक्ति था। उसने अनैतिकता से व्यापार में बहुत ही धन कमाया था। वह अपने नौकरों को बहुत सताता और उनसे कस कर काम लेता था। गरीबों की वह कभी दो पैसे की मदद नहीं करता था। वह इतना हृदयहीन था कि कभी किसी दुःखी, भूखे या अभावग्रस्त को देखकर उसके हृदय में करुणा, दया या सहानुभूति नहीं पैदा होती थी, न वह कभी किसी को दान देता था।

एक बार रॉकफेलर बीमार पड़ा। उसके इलाज के लिए डॉक्टर पर डॉक्टर आने लगे। मगर कोई भी डॉक्टर उसे स्वस्थ न कर सका। ज्यों-ज्यों इलाज करते गए, मर्ज बढ़ता ही गया। रोग धीरे-धीरे सारे शरीर में फैल गया। रॉकफेलर पीड़ा के मारे कराहता, बेचैन रहता, मगर परिवार, समाज या डॉक्टर या और कोई उसे शान्ति न दे सका, वह अशान्त रहने लगा। उसके माता-पिता ने यह घोषणा कर दी कि "जो कोई इस बीमारी को मिटा देगा, उसे मैं अपनी सारी सम्पत्ति का मालिक बना दूंगा।"

रॉकफेलर ने भी कहा—"चाहे जितना धन ले लो, मेरा रोग मिटा दो।" परन्तु रोग यों चाहने से मिट नहीं सकता था। वह तो पापकर्म का—असाता-वेदनीय

कर्म का—फल था। उस फल को स्वयं भोगे बिना कोई चारा नहीं था। हाँ, इतना जरूर है कि असातावेदनीय कर्म का क्षय या उपशम करने से अथवा सातावेदनीय कर्म की प्रबलता होने से भयकर रोग का दुःख मिट सकता था। रॉकफेलर की पत्नी, बच्चे सब उसकी शय्या के पास खड़े-खड़े आँखो से अश्रुधारा बहाते, सहानुभूति भी दिखाते, पर रोग को मिटा नहीं सकते और न ही दुःख या पीड़ा मे हिस्सेदार बन सकते थे, न रोग को कम कर सकते थे। एक दिन रॉकफेलर के मन मे अपने प्रति ग्लानि, आत्मनिन्दा और पश्चात्ताप की भावना पैदा हुई। उसने सोचा—मैंने अपने जीवन मे कितने पापकर्म कमाए, मैंने पैसे को जीवन का सर्वस्व समझा। एक रातभर मे मैंने लाखो कमाए, पर किसी को एक पाई का भी दान नहीं दिया, आज तक मैंने धन इकट्ठा ही इकट्ठा किया। जिस धन के पीछे मुझे गर्व था कि मैं इससे दुनिया के सभी कार्य कर सकता हूँ, वह आज मिथ्या साबित हो चुका है, वह धन मुझे अपने रोग से मुक्ति नहीं दिला सका। रत्नाकरपच्चीसी की भाषा मे वह अब पछताने लगा—

'दत्त न दान, परिशीलित च, न शक्ति शील, न तपो न तप्तम्।
शुभो न भावोऽप्यभवद् भवेऽस्मिन् विभो! मया भ्रान्तमहो मुधैव॥'

—मैंने न तो किसी को कभी दान दिया, न ही यथाशक्ति शील का हृदय से पालन किया, न ही तपस्या की ओर न ही शुभ भाव पैदा हुए। अत विभो! मैं व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता रहा। अपनी जिंदगी मे कोई भी अच्छा कार्य नहीं किया। मैं इस भ्रम म ही रहा कि मेरे पास धन ही धन है, फिर दुःख कहाँ टिकेगा, परन्तु मेरी सभी धारणाएँ निर्मूल सिद्ध हुईं। प्रभो! मैंने अपने जीवन मे भयकर लूट मचाई, परन्तु किसी भी दुःखी या पीड़ित के आँसू नहीं पोंछे, न ही किसी को सुख शान्ति पहुँचायी। पैसे को ही मैंने परमेश्वर समझा। किसी को दान देकर मैंने न किसी का दुःख मिटाया। इस रोग ने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मुझे यह भान हो गया कि मैं अगर किसी को सुख-शान्ति पहुँचाता तो मुझे आज सुख शान्ति मिलती। मैंने तो दूसरों के काटे ही चुभोए, अब मुझे फूल कैसे मिल सकते हैं? अगर मैंने किसी दूसरे की आतो को ठडक पहुँचाई होती तो मुझे आज ठण्डक मिलती। यदि मैं दूसरे की राह का रोड़ा न बनता तो मेरी सुख शान्ति की राह मे आज रोड़े न होते।"

इस प्रकार पश्चात्ताप की धारा मे बहते रॉकफेलर ने अपने आँसुओ के साथ ही बहुत-सा कालुष्य धो डाला। उसने मन ही मन सकल्प किया—"यदि मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा या बच जाऊँ तो अपनी सारी सम्पत्ति दान मे दे दूँगा। बस, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।" यों सोचते सोचते रॉकफेलर को अच्छी नींद आ गई। वह सुबह जागा तो अपने आपको स्वस्थ और स्फूर्ति मान महसूस करने लगा। उसकी पत्नी ने कहा—"आज तो आपको सुख की नींद आई थी? ऐसी गाढ निद्रा इस

बीमारी के बाद मैंने पहली दफा देखी है। मालूम होता है—डॉक्टर की दवा का प्रभाव हुआ है।"

रॉकफेलर—"प्रिये, तुम क्या कह रही हो ? अब तो मेरा रोग ही समाप्त हो गया है। मेरे रोग पर किसी भी डाक्टर की दवा का असर नहीं हुआ है। मेरे शुभ-भावरूपी डॉक्टर की दान रूपी औषध का प्रभाव हुआ है। इस दान की भावना से मेरे अधिकांश कलुषित कर्म—अशुभकर्म हट गए, नष्ट हो गए, मेरे पुण्य कर्म प्रबल होते गए, और वास्तविक शान्ति हो गई। दूसरों को दान देकर शान्ति पहुँचाने की भावना आई और स्वयं को शान्ति मिल गई।"

रॉकफेलर प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर बैठा ही था कि उसके मैनेजर का फोन आया—"हम जो मुकद्दमा लड़ रहे थे, उसमें हार गए हैं। लाखों रुपये बर्बाद हो गए हैं।" मैनेजर सोच रहा था कि रॉकफेलर यह सुन कर बहुत ही क्रुद्ध होगा, लेकिन उसकी आशा के विपरीत रॉकफेलर बोला—'कोई बात नहीं। जो कुछ हुआ सो ठीक है।" मैनेजर को विश्वास नहीं हुआ कि यह रॉकफेलर बोल रहा है या और कोई ! उसने पूछा—"आप कौन बोल रहे हैं ?"

रॉकफेलर—"मैं खुद रॉकफेलर बोल रहा हूँ।" मैनेजर को बड़ा आश्चर्य हुआ, इस आकस्मिक परिवर्तन पर। वह घर पर आकर रॉकफेलर से रूबरू मिला तब भी रॉकफेलर ने वही बात कही। परन्तु रॉकफेलर ने विशेष बात यह कही कि "जो आया है, वह तो जाने वाला ही है। तुम एक काम करो। यहाँ जितनी भी संस्थाएँ हैं, उन सबकी लिस्ट बना कर मुझे दो। मैं सबको थोड़ा-थोड़ा दान देना चाहता हूँ।" मैनेजर सभी संस्थाओं की सूची बनाकर लाया। रॉकफेलर ने उस सूची के अनुसार सभी संस्थाओं को चैक लिख कर भिजवा दिये। फिर रॉकफेलर ने अपने मैनेजर से कहा—"मैंने अपनी जिंदगी में जो आनन्द अभी तक प्राप्त नहीं किया था, वह आज इस दान के कारण मुझे प्राप्त हुआ है। मुझे इतनी आनन्द की अनुभूति होती है कि मैं रात-दिन दान देता ही रहूँ। एक मिनट भी दान के बिना खाली न रहूँ।"

मैनेजर यह सुनकर स्तब्ध रह गया। उसे यह लगा कि 'मालिक को आज हो क्या गया ? पहले तो एक पाई भी यह किसी को नहीं देते थे, किन्तु आज लाखों का दान ! इतना परिवर्तन कैसे आया ?"

परन्तु अफसोस ! रॉकफेलर के चैक जिन-जिन संस्थाओं के पास गए उन सब संस्थाओं ने उन्हें वापस कर दिए। कोई भी संस्था रॉकफेलर का पैसा लेने को तैयार न हुई। चैक वापस करने के साथ उन्होंने पत्र में लिखा कि "यह अन्याय-अनीति से कमाया हुआ पैसा हम अपने पास नहीं रख सकते। इससे हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी।"

कर्म का—फल था। उस फल को स्वय भोगे बिना कोई चारा नही था। हाँ, इतना जरूर है कि असातावेदनीय कर्म का क्षय या उपशम करने से अथवा सातावेदनीय कर्म की प्रबलता होने से भयकर रोग का दु ख मिट सकता था। रॉकफेलर की पत्नी, बच्चे सब उसकी शय्या के पास खडे-खडे आँखो से अश्रुधारा बहाते, सहानुभूति भी दिखाते पर रोग को मिटा नही सकते और न ही दु ख या पीडा मे हिस्सेदार बन सकते थे, न रोग को कम कर सकते थे। एक दिन रॉकफेलर के मन मे अपने प्रति ग्लानि, आत्मनिन्दा और पश्चात्ताप की भावना पैदा हुई। उसने सोचा—मैंने अपने जीवन में कितने पापकर्म कमाए, मैंने पैसे को जीवन का सर्वस्व समझा। एक रातभर मे मैंने लाखो कमाए, पर किसी को एक पाई का भी दान नही दिया, आज तक मैंने धन इकट्ठा ही इकट्ठा किया। जिस धन के पीछे मुझे गर्व था कि मैं इससे दुनिया के सभी कार्य कर सकता हूँ, वह आज मिथ्या साबित हो चुका है, वह धन मुझे अपने रोग से मुक्ति नही दिला सका। रत्नाकरपच्चीसी की भाषा मे वह अब पछताने लगा—

> 'दत्त न दान, परिशीलित च न शक्ति शील, न तपो न तप्तम्।
> शुभो न भावोऽप्यभवद् भवेऽस्मिन् विभो ! मया भ्रान्तमहो मुधैव ॥'

—मैंने न तो किसी को कभी दान दिया, न ही यथाशक्ति शील का हृदय से पालन किया, न ही तपस्या की ओर न ही शुभ भाव पैदा हुए। अत विभो ! मैं व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता रहा। अपनी जिंदगी मे कोई भी अच्छा कार्य नहीं किया। मैं इस भ्रम म ही रहा कि मेरे पास धन ही धन है, फिर दु ख कहाँ टिकेगा, परन्तु मेरी सभी धारणाएँ निर्मूल सिद्ध हुईं। प्रभो ! मैंने अपने जीवन मे भयकर लूट मचाई, परन्तु किसी भी दु खी या पीडित के आँसू नहीं पोंछे, न ही किसी को सुख शान्ति पहुँचायी। पैसे को ही मैंने परमेश्वर समझा। किसी को दान देकर मैंने न किसी का दु ख मिटाया। इस रोग ने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मुझे यह भान हो गया कि मैं अगर किसी को सुख-शान्ति पहुँचाता तो मुझे आज सुख शान्ति मिलती। मैंने तो दूसरो के काटे ही चुभोए, अब मुझे फूल कैसे मिल सकते हैं ? अगर मैंने किसी दूसरे की आतो को ठडक पहुँचाई होती तो मुझे आज ठण्डक मिलती। यदि मैं दूसरे की राह का रोडा न बनता तो मेरी सुख-शान्ति की राह मे आज रोडे न होते।"

इस प्रकार पश्चात्ताप की धारा मे बहते रॉकफेलर ने अपने आँसुओ के साथ ही बहुत-सा कालुष्य धो डाला। उसने मन ही मन सकल्प किया—"यदि मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा या बच जाऊँ तो अपनी सारी सम्पत्ति दान मे दे दूँगा। बस, यह मेरा दृढ निश्चय है।" यों सोचते सोचते रॉकफेलर को अच्छी नींद आ गई। वह सुबह जागा तो अपने आपको स्वस्थ और स्फूर्ति मान महसूस करने लगा। उसकी पत्नी ने कहा—"आज तो आपको सुख की नींद आई थी ? ऐसी गाढ निद्रा इस

बीमारी के बाद मैंने पहली दफा देखी है। मालूम होता है—डॉक्टर की दवा का प्रभाव हुआ है।"

रॉकफेलर—"प्रिये, तुम क्या कह रही हो ? अब तो मेरा रोग ही समाप्त हो गया है। मेरे रोग पर किसी भी डाक्टर की दवा का असर नहीं हुआ है। मेरे शुभ-भावरूपी डॉक्टर की दान रूपी औषध का प्रभाव हुआ है। इस दान की भावना से मेरे अधिकांश कलुषित कर्म—अशुभकर्म हट गए, नष्ट हो गए, मेरे पुण्य कर्म प्रबल होते गए, और वास्तविक शान्ति हो गई। दूसरों को दान देकर शान्ति पहुँचाने की भावना आई और स्वयं को शान्ति मिल गई।"

रॉकफेलर प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर बैठा ही था कि उसके मैनेजर का फोन आया—"हम जो मुकद्दमा लड़ रहे थे, उसमें हार गए हैं। लाखों रुपये बर्बाद हो गए हैं।" मैनेजर सोच रहा था कि रॉकफेलर यह सुन कर बहुत ही क्रुद्ध होगा, लेकिन उसकी आशा के विपरीत रॉकफेलर बोला—'कोई बात नहीं। जो कुछ हुआ सो ठीक है।" मैनेजर को विश्वास नहीं हुआ कि यह रॉकफेलर बोल रहा है या और कोई ! उसने पूछा—"आप कौन बोल रहे हैं ?"

रॉकफेलर—"मैं खुद रॉकफेलर बोल रहा हूँ।" मैनेजर को बड़ा आश्चर्य हुआ, इस आकस्मिक परिवर्तन पर। वह घर पर आकर रॉकफेलर से रूबरू मिला तब भी रॉकफेलर ने वही बात कही। परन्तु रॉकफेलर ने विशेष बात यह कही कि "जो आया है, वह तो जाने वाला ही है। तुम एक काम करो। यहाँ जितनी भी संस्थाएँ हैं, उन सबकी लिस्ट बना कर मुझे दो। मैं सबको थोड़ा-थोड़ा दान देना चाहता हूँ।" मैनेजर सभी संस्थाओं की सूची बनाकर लाया। रॉकफेलर ने उस सूची के अनुसार सभी संस्थाओं को चैक लिख कर भिजवा दिये। फिर रॉकफेलर ने अपने मैनेजर से कहा—"मैंने अपनी जिंदगी में जो आनन्द अभी तक प्राप्त नहीं किया था, वह आज इस दान के कारण मुझे प्राप्त हुआ है। मुझे इतनी आनन्द की अनुभूति होती है कि मैं रात-दिन दान देता ही रहूँ। एक मिनट भी दान के बिना खाली न रहूँ।"

मैनेजर यह सुनकर स्तब्ध रह गया। उसे यह लगा कि 'मालिक को आज हो क्या गया ? पहले तो एक पाई भी यह किसी को नहीं देते थे, किन्तु आज लाखों का दान ! इतना परिवर्तन कैसे आया ?"

परन्तु अफसोस ! रॉकफेलर के चैक जिन-जिन संस्थाओं के पास गए उन सब संस्थाओं ने उन्हें वापस कर दिए। कोई भी संस्था रॉकफेलर का पैसा लेने को तैयार न हुई। चैक वापस करने के साथ उन्होंने पत्र में लिखा कि "यह अन्याय-अनीति से कमाया हुआ पैसा हम अपने पास नहीं रख सकते। इससे हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी।"

रॉकफेलर को बड़ा दु:ख हुआ कि "हाय ! कोई मेरा पैसा लेना नहीं चाहता। कितना खराब है मेरा पैसा ? मैं भी अब उसे अपने पास कैसे रख सकता हूँ। उसने संस्था के अधिकारियों से कहा—"आप समझ रहे हैं, वैसा अब मैं नहीं रहा। मैं तो अपने पापों का प्रायश्चित्त समझकर इस धन को दे रहा हूँ। मुझे इस दान के बदले में अपनी नामवरी या प्रसिद्धि की भी चाह नहीं है। मैं इस धन को नम्रभाव से संस्था के चरणों में अर्पित कर रहा हूँ। संस्था इसे स्वीकार कर मुझे उपकृत करे।" इतना कहने पर भी कोई संस्था लेने को तैयार न हुई। आखिरकार रॉकफेलर ने अपने एक मित्र को बुलाया, जिसका जीवन प्रामाणिक और न्यायनीतिपूर्ण था। रॉकफेलर ने उस मित्र से कहा—"मुझे इतने रुपये दान में देने हैं, अपने पापों के प्रायश्चित्त के रूप में। मुझे नाम नहीं चाहिए। अतः तुम ये रुपये ले जाओ और अपने नाम से अमुक-अमुक संस्थाओं को दे दो, और मुझे अपने पाप के बोझ से हलका करो।' उसके मित्र ने वह सारा धन उन संस्थाओं को दे दिया। अब संस्थाओं ने उस धन को स्वीकार कर लिया। रॉकफेलर को इस दान से बहुत आनन्द आया।

इस प्रकार दान प्रायश्चित्त के रूप में पापों के विच्छेद (नाश), आत्मशान्ति और आनन्द का कारण बना।

आप देख चुके हैं कि दान का अमृत जीवन में किस प्रकार से सुख, शांति, समता और आनन्द का स्रोत बहाता है समाज में व्याप्त, विषमता, दरिद्रता दैन्य और दुखों के जहर को नष्ट करता है। और मानव को सचमुच में अमर जीवन प्रदान करने में समर्थ होता है।

आनन्द नहीं मिला, जो आज इस नि.स्वार्थ दान से मिला है।" इसलिए दान आनन्द का अनुभव सिद्ध उपाय है।

रॉकफेलर के जीवन को स्वस्थ, शान्त एव आनन्द से परिपूर्ण बनाने वाला दान ही था, जिसे उसने पाप के भार से मुक्त होने के लिए पापो का प्रायश्चित्त के रूप मे अपनाया था।

दान से मनुष्य को हार्दिक आनन्द कैसे प्राप्त होता है, इस सम्बन्ध मे एक सच्ची घटना प्रस्तुत है—

सन् १९६८ के नवम्बर की बात है। एक विदेशी मद्रास शहर के बाहरी ग्रामीण इलाको में मुक्तहस्त से रुपये बाँट रहा था। लोगो मे इससे बडी उत्तेजना फैली। अपने दान के बदले वह किसी से कुछ प्रतिदान भी नही माँगता था। अपनी काले रग की कार मे बैठकर वह विभिन्न प्रकार के नोटो के पुलिन्दे हाथ मे लिए हुए घूमता और खेतो मे काम करने वाली या सडको पर चलती हुई जो भी महिला उसे मिल जाती, उसके हाथ मे बिना गिने ही कई नोट थमा कर चल देता था। तीन दिनो मे उसने काफी दूरी तय कर ली—पुन्नमलै, तिरुतन्नी, तिरुवल्लूर से आरकोनम तक। अधिकाश महिलाएँ ही उसके दान से लाभान्वित हुईं। एक महिला के हाथ में उसने सौ-सौ के बारह नोट रख दिये, जो उसने जिन्दगी भर में नहीं देखे थे। उक्त विदेशी से लोगो ने परिचय जानना चाहा, मगर उसने मुस्कराने के सिवाय अपना कोई परिचय नही दिया। दान देते समय उसके चेहरे पर प्रसन्नता और आनन्द की लहरें दौड़ जाती थी। वह अपने आप मे बडा आनन्दित दिखाई देता था।

कहा जाता है—बाइबिल मे उल्लिखित एक दानशील व्यक्ति के चरित्र को उसने २०वी शताब्दी मे चरितार्थ करके दिखा दिया। मद्रास के पुलिस इन्स्पैक्टर जनरल एम० आर० महादेव ने बताया कि उक्त विदेशी की मूल भावना दान देकर आनन्द प्राप्त करने की थी और दान करना कोई अपराध नही है। इस पर से दान को आनन्द का मूल स्रोत कहा जा सकता है।

जैसे माता अपने बच्चे को वात्सल्य भाव से अपना सर्वस्व देकर, आनन्द प्राप्त करती है, वैसे ही वात्सल्यहृदय व्यक्ति भी परिवार, समाज, राष्ट्र और नगर को अपना तन, मन, धन, साधन आदि देकर आनन्द प्राप्त करे, इसमे कोई अत्युक्ति नहीं है।

जून १९३५ मे समाचार पत्रो में एक सच्ची घटना प्रकाशित हुई थी, वह भी वात्सल्यमय हृदय से दान देकर आनन्द प्राप्त करने के तथ्य को प्रकाशित करती है—

लन्दन के एम्ब्रेकमेण्ट मे एक पचास वर्ष की प्रौढ़ महिला वर्ष मे चार बार अमुक दिनों मे रात के नौ बजे से बारह बजे तक प्रतिदिन अपूर्व रूप से आती थी और निराधार, अनाथ, दीन, दुःखी और गरीबों को अन्न, वस्त्र और नकद धन दान

देती थी। दान देने से पहले वह सबको एक जगह एकत्रित कर लेती थी और उनके सामने हृदय को रुला देने वाला गायन बड़े करुण स्वर में गाती थी। जब आँसू उसके कलेजे को शीतल कर देते, तब प्रसन्न और आनन्दित होकर वह सबको क्रमशः दान देती। इस तरह वह वर्ष भर में ५०० से १००० पौण्ड तक दान देती थी। वह कहाँ रहती है? कौन है? उसे धन कहाँ से मिलता है? उसने अपनी युवावस्था कैसे बिताई? यह कोई नहीं जानता।

जान पड़ता है, उसके जीवन में ऐसी कोई करुण घटना घटित हुई है, जिसने उसके जीवन क्रम को ही बदल दिया है। वह दान देने के समय हृदय में करुणा और वात्सल्यभावों से ओतप्रोत होकर अपने दिल को एकदम हल्का बना देती है, तब आनन्द की मस्ती में झूम उठती है। यह दान का ही अद्‌भुत प्रभाव है, जिससे उसे अपने जीवन में सन्तोष और आनन्द का अनुभव होता है।

सचमुच, दान का आनन्द अनोखा ही होता है। एक बार तो दान कृपण से कृपण व्यक्ति के दिल में भी आनन्द की अनुभूति पैदा कर देता है। कृपण के दिल में भी दान से प्रसिद्धि की फसल देखकर गुदगुदी पैदा हो जाती है और एक दिन कृपण समझा जाने वाला वह व्यक्ति दान देकर उदार हृदय बन जाता है। उसके हृदय में धन संचय करने और न देने के आनन्द से कई गुना अधिक आनन्द दान देने से प्रादुर्भूत होता है।

एक अतुल सम्पत्ति वाला मनुष्य था, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध था कि उसने अपनी जिन्दगी में किसी को एक कौड़ी भी दान में नहीं दी। एक बार उसके एक परम मित्र ने, जो उस समय दुष्काल पीड़ितों के लिए चन्दा इकट्ठा कर रहा था, उससे कहा—'मित्र! तुम मुझे एक पैसा नगद मत दो, सिर्फ दस हजार रुपयों का एक चैक दे दो, जिसे दिखाकर मैं दुःखी जनता के लिए औरों से अधिक रुपया प्राप्त कर सकूँगा। फिर कल ही चाहोगे तो तुम्हारा चैक मैं वापस कर दूंगा।'

कंजूस धनिक बड़े संकोच में पड़ा, फिर भी यह सोचकर कि कल मुझे चैक वापस न मिला तो मैं बैंक को भुगतान न करने की सूचना दे दूंगा, अपने मित्र को १० हजार रुपये का क्रास चैक काट कर दे दिया।

उस भले आदमी ने उसी दिन नगर के महाजनों की एक विशाल सभा का आयोजन करके वह दस हजार रुपये का चैक सबको दिखाया। फलस्वरूप उसे बहुत-से रुपये मिले, जो उसने तुरन्त दुष्कालनिधि में जमा करने के लिए भेज दिए।

दूसरे दिन जब वह परोपकारी मनुष्य अपने कंजूस मित्र के पास चैक वापस लेकर पहुँचा तो कंजूस धनिक की बात सुनकर दंग रह गया। कंजूस धनी ने कहा—भाई! आज तक मैंने दान की महिमा नहीं जानी थी, कल शाम से बहुत रात बीते तक मेरे यहाँ लोगों का तांता लगा रहा; और जो भी आता, वही मेरी प्रशंसा करता था। कल रात मुझे इतना अधिक आनन्द आया, जितना आज तक कभी नहीं

आया था। कल मैं ऐसी सुख की नींद सोया, जैसी नींद पहले कभी नहीं सोया था। दान की इस प्रत्यक्ष महिमा को जानकर भी यदि मैं यह चैक वापस ले लूँ तो मुझसे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ? दुःखी जनता के लिए मुझसे दस हजार का एक चैक और ले जाओ।' और सचमुच उसने दस हजार रुपये का एक चैक और काटकर अपने मित्र को दे दिया। तब से वह एक परम उदार दानी के रूप मे प्रसिद्ध हो गया और दान द्वारा वह परम आनन्द खरीदता रहा।

क्या अब भी कोई सन्देह रह जाता है, दान से आनन्द प्राप्ति के सम्बन्ध मे ? निःसन्देह दान आनन्द का एक व्यापार है, जिससे कई गुना आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

कभी-कभी दान के आनन्द की मधुर अनुभूति मनुष्य को तब होती है, जब वह सब ओर से दुःखी हो जाता है, उसके पास दान के सिवाय तब आनन्द प्राप्ति का कोई उपाय नही रह जाता। सचमुच वह आनन्द ऐसा ही है, जैसे अत्यन्त तपन के बाद वर्षा होने पर सुखद और मधुर आनन्द होता है। ऐसे समय मे वह व्यक्ति रुपया-पैसा, समय, श्रम, साधन, परामर्श, आश्वासन या और किसी भी वस्तु से दान के रूप मे दूसरो को सहायता पहुँचाकर आनन्द का अनुभव कर लेता है।

एक नवयुवक व्यापारी था। बड़ा ही उत्साही और महत्वाकांक्षी ! वह अपने व्यापार मे इतना व्यस्त रहता था कि एक क्षण के लिए भी वह किसी दूसरी ओर ध्यान नही देता था। परिणाम यह हुआ कि तनाव, व्याकुलता और उद्विग्नता के लक्षण उसके जीवन मे प्रतीत होने लगे। उसकी प्रगति बुझ गई। वह निराश और उदास-सा रहने लगा। एक दिन वह प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक सतराम बी० ए० के पास परामर्श के लिए आया और कहने लगा—'मुझे यह बताइए कि मैं अब अपने जीवन मे पहले की तरह प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव क्यो नहीं कर पाता ?' संतराम ने उनके कारणो का सर्वेक्षण किया, जिनसे आनन्द उत्पन्न होता है। उन्होंने यह भी मालूम करने का प्रयत्न किया कि वह ऐसे कितने कार्यों मे भाग लेता है, जिनसे उसे कोई लाभ नही मिलता। अन्त मे, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह व्यक्ति अपने ही स्वार्थों के सीमित दायरे मे बन्द रहता है, इसलिए इसे आनन्द नहीं प्राप्त होता। सतराम जी ने उससे कहा—"आपको आनन्द प्राप्त न होने का मुख्य कारण यह है कि आप अपने घरवालो के सिवाय और किसी को कुछ नहीं देते।' आप जिस चर्च मे जाते हैं, वहाँ भी नाममात्र को ही चन्दा देते हैं और जहाँ तक मनोयोग और सहानुभूति का प्रश्न है वह आप किसी को नही देते। यही कारण है कि आप अपने जीवन मे प्रसन्नता और आनन्द प्राप्त नहीं कर पाते। आपके गिरे हुए और बुझे हुए रहने का कारण यही है कि प्रत्येक वस्तु आपके भीतर तो प्रविष्ट होती जा है, मगर बाहर नही निकल पाती। आप उस सागर के सदृश हैं, जिसमे

जल प्रवेश के मार्ग तो अनेक हैं, लेकिन निकासी का मार्ग एक भी नहीं। इसी का परिणाम है—आध्यात्मिक और मानसिक तनाव और गतिहीनता।'

उसने संतरामजी से पूछा—"तो फिर आप कोई योजना सुझाइए, जिससे मुझे पुनः आनन्द और उल्लास प्राप्त हो सके।" संतरामजी ने उसके सामने निम्नोक्त योजना प्रस्तुत की—

(१) भगवान् के कार्यों के लिए गिरजाघर को वह अपनी आय का दशांश दे।

(२) वह अपने घरबार और मित्रमंडली के बाहर ऐसे लोगों की खोज करे, जो सहायता (दान) के पात्र हों, ये लोग ऐसे होने चाहिए, जो इस सहायता के बदले में स्वयं उसकी कभी सहायता न कर सकें। सहायता (दान) का रूप कोई भी हो सकता है—धन, साधन, उपदेश, सहानुभूति, समय या केवल दिलचस्पी।

(३) जो लोग उसके साथ काम करते हैं, या जिनसे उसकी मुलाकात होती रहती है, उनसे उसका सम्बन्ध केवल कारबार तक ही सीमित न हो, अपितु उसे उनके साथ मानवता और सहायकता का सम्बन्ध बनाना चाहिए। कारखाने के निकट खड़ा पुलिस का सिपाही, चपरासी या अखबार बेचने वाला आदि लोगों से भी उसे निकटतर हो जाना चाहिए।

(४) इसके अतिरिक्त रोगियों, अशक्तों, अपाहिजों और असहायों को अनिवार्य रूप से सहायता (दान) देनी चाहिए।' वह इस योजना की रूपरेखा सुनकर बोला—'पर इन सब दानों के रूप में सेवाएँ करने के लिए समय कहाँ से लाऊँगा ?'

उन्होंने उत्तर दिया—'यह ठीक है कि इन सब कामों में समय अवश्य लगेगा, लेकिन आपकी रुचि होगी तो समय भी निकल आएगा और वह समय सार्थक होगा। आपको केवल रुपया, सहानुभूति और परामर्श ही नहीं देना है, अपितु दूसरों को लाभान्वित करने के लिए समय दान भी करना है।' उसने इस योजना को कार्यान्वित किया और थोड़े ही समय में वह अपने पड़ौस में, अपने साथ काम करने वालों में, चर्च में, और विभिन्न समाजों में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। उसे अपना खोया हुआ आनन्द इस प्रकार के दान से पुनः मिल गया। उसका जीवन आनन्द से ओत-प्रोत हो गया।

सचमुच, दान में आनन्द को उपलब्ध कराने की एक विशिष्ट शक्ति निहित है।

यद्यपि मनुष्य वृक्ष, वनस्पति, अग्नि, जल आदि की भाषा नहीं जानता, इसलिए सहसा उनके भावों को समझना उसके लिए कठिन है। फिर भी कई व्यक्तियों में इतनी आत्मीयता होती है कि वे उसकी मूक भावना को पढ़ लेते हैं, और उससे अक्षय आनन्द का अद्भुत बोध प्राप्त कर लेते हैं। एक दिन कलिंग नरेश

आया था। कल मैं ऐसी सुख की नींद सोया, जैसी नींद पहले कभी नही सोया था। दान की इस प्रत्यक्ष महिमा को जानकर भी यदि मैं यह चैक वापस ले लूँ तो मुझसे बढकर मूर्ख और कौन होगा ? दु खी जनता के लिए मुझसे दस हजार का एक चैक और ले जाओ।' और सचमुच उसने दस हजार रुपये का एक चैक और काटकर अपने मित्र को दे दिया। तब से वह एक परम उदार दानी के रूप मे प्रसिद्ध हो गया और दान द्वारा वह परम आनन्द खरीदता रहा।

क्या अब भी कोई सन्देह रह जाता है, दान से आनन्द प्राप्ति के सम्बन्ध मे ? नि सन्देह दान आनन्द का एक व्यापार है, जिससे कई गुना आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

कभी कभी दान के आनन्द की मधुर अनुभूति मनुष्य को तब होती है, जब वह सब ओर से दु खी हो जाता है, उसके पास दान के सिवाय तब आनन्द प्राप्ति का कोई उपाय नही रह जाता। सचमुच वह आनन्द ऐसा ही है, जैसे अत्यन्त तपन के बाद वर्षा होने पर सुखद और मधुर आनन्द होता है। ऐसे समय मे वह व्यक्ति रुपया-पैसा, समय, श्रम, साधन, परामर्श, आश्वासन या और किसी भी वस्तु से दान के रूप मे दूसरो को सहायता पहुँचाकर आनन्द का अनुभव कर लेता है।

एक नवयुवक व्यापारी था। बडा ही उत्साही और महत्वाकाक्षी ! वह अपने व्यापार मे इतना व्यस्त रहता था कि एक क्षण के लिए भी वह किसी दूसरी ओर ध्यान नही देता था। परिणाम यह हुआ कि तनाव, व्याकुलता और उद्विग्नता के लक्षण उसके जीवन मे प्रतीत होने लगे। उसकी प्रगति बुझ गई। वह निराश और उदास सा रहने लगा। एक दिन वह प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक सतराम बी० ए० के पास परामश के लिए आया और कहने लगा—'मुझे यह बताइए कि मैं अब अपने जीवन मे पहले की तरह प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव क्यो नही कर पाता ?' संतराम ने उनके कारणो का सर्वेक्षण किया, जिनसे आनन्द उत्पन्न होता है। उन्होंने यह भी मालूम करने का प्रयत्न किया कि वह ऐसे कितने कार्यों मे भाग लेता है, जिनसे उसे कोई लाभ नहीं मिलता। अत में, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह व्यक्ति अपने ही स्वार्थों के सीमित दायरे मे बन्द रहता है, इसलिए इसे आनन्द नही प्राप्त होता। सतराम जी ने उससे कहा—'आपको आनन्द प्राप्त न होने का मुख्य कारण यह है कि आप अपने घरवालो के सिवाय और किसी को कुछ नही देते।' आप जिस चर्च मे जाते हैं, वहाँ भी नाममात्र को ही चन्दा देते हैं और जहाँ तक मनोयोग और सहानुभूति का प्रश्न है वह आप किसी को नहीं देते। यही कारण है कि आप अपने जीवन म प्रसन्नता और आनन्द प्राप्त नही कर पाते। आपके गिरे हुए और बुझे हुए रहने का कारण यही है कि प्रत्येक वस्तु आपके भीतर तो प्रविष्ट होती जा है, मगर कोई वस्तु बाहर नहीं निकल पाती। आप उस सागर के सदृश हैं जिसमे

जल प्रवेश के मार्ग तो अनेक हैं, लेकिन निकासी का मार्ग एक भी नहीं। इसी का परिणाम है—आध्यात्मिक और मानसिक तनाव और गतिहीनता।'

उसने संतरामजी से पूछा—"तो फिर आप कोई योजना सुझाइए, जिससे मुझे पुनः आनन्द और उल्लास प्राप्त हो सके।" संतरामजी ने उसके सामने निम्नोक्त योजना प्रस्तुत की—

(१) भगवान् के कार्यों के लिए गिरजाघर को वह अपनी आय का दशांश दें।

(२) वह अपने घरबार और मित्रमंडली के बाहर ऐसे लोगों की खोज करे, जो सहायता (दान) के पात्र हों, ये लोग ऐसे होने चाहिए, जो इस सहायता के बदले में स्वयं उसकी कभी सहायता न कर सकें। सहायता (दान) का रूप कोई भी हो सकता है—धन, साधन, उपदेश, सहानुभूति, समय या केवल दिलचस्पी।

(३) जो लोग उसके साथ काम करते हैं, या जिनसे उसकी मुलाकात होती रहती है, उनसे उसका सम्बन्ध केवल कारबार तक ही सीमित न हो, अपितु उसे उनके साथ मानवता और सहायकता का सम्बन्ध बनाना चाहिए। कारखाने के निकट खड़ा पुलिस का सिपाही, चपरासी या अखबार बेचने वाला आदि लोगों से भी उसे निकटतर हो जाना चाहिए।

(४) इसके अतिरिक्त रोगियों, अशक्तों, अपाहिजों और असहायों को अनिवार्य रूप से सहायता (दान) देनी चाहिए।' वह इस योजना की रूपरेखा सुनकर बोला—'पर इन सब दानों के रूप में सेवाएँ करने के लिए समय कहाँ से लाऊँगा ?'

उन्होंने उत्तर दिया—'यह ठीक है कि इन सब कामों में समय अवश्य लगेगा, लेकिन आपकी रुचि होगी तो समय भी निकल आएगा और वह समय सार्थक होगा। आपको केवल रुपया, सहानुभूति और परामर्श ही नहीं देना है, अपितु दूसरों को लाभान्वित करने के लिए समय दान भी करना है।' उसने इस योजना को कार्यान्वित किया और थोड़े ही समय में वह अपने पड़ोस में, अपने साथ काम करने वालों में, चर्च में, और विभिन्न समाजों में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। उसे खोया हुआ आनन्द इस प्रकार के दान से पुनः मिल गया। उसका जीवन आनन्द से ओत-प्रोत हो गया।

सचमुच, दान में आनन्द को उपलब्ध कराने की [illegible] निहित है।

यद्यपि मनुष्य वृक्ष, वनस्पति, अग्नि, जल आदि [illegible] इसलिए सहसा उनके भावों को समझना उसके [illegible] व्यक्तियों में इतनी आत्मीयता होती है कि वे उसकी [illegible] उससे अक्षय आनन्द का अद्भुत बोध प्राप्त [illegible]

उद्यान क्रीडा करने जा रहे थे। तभी उन्होने एक फलभार-नम्र वृक्ष से आम तोडा। राजा का अनुकरण प्रजाजनो ने किया। सध्या को जब राजा वापिस लौटे तो वहाँ एक ठूंठमात्र देखकर वे बडे सतप्त हुए। वृक्ष राजा की व्यथा को पहचान गया। वह बोला—"राजन् ! जैसे प्रात कालीन वैभव अनन्त नही था, वैसे ही सायकाल का पतन भी अनन्त नही है। अनन्त तो है यह काल, जो मेरे फलो की भेंट (दान) लेकर इस अवारण सुख-दु ख (वैभव से सुख और पतन से दु ख की कल्पना) से हमे मुक्त करता है। मैं इसी मुक्ति से होने वाले सहज आनन्द का दाता हूँ। अपनी जीवन शक्ति को प्रतिवर्ष मीठे फलो मे फलित करते हुए, जब एक दिन मैं इस प्रकार का दान करके पूर्णत क्षीण हो जाऊँगा, तब मुक्ति के रूप मे जीवन साफल्य के अक्षय आनन्द को प्राप्त कर लूंगा। राजा ने वृक्ष से बोध प्राप्त किया और उसी क्षण से दान के द्वारा आत्मानन्द प्राप्ति मे लीन रहने लगा।

वास्तव म समृद्धि मे सुख और पतन मे दु ख की कल्पना से मुक्त होकर अक्षय और अविचल आनन्द को प्राप्त करने का सच्चा नुस्खा दान ही है।

जिस तरह माँ अपने पुत्र के लिए स्वय कष्ट सहकर, भूखी प्यासी रहकर दुग्धदान करती है, उसके पालन पोषण मे अपना सर्वस्व दान करती है, और उस दान के बदले आनन्द पाती है, वैसे ही स्वय कष्ट सहकर किये गए दान से मानव को असीम आनन्द की अनुभूति होती है।

रूस की राजकुमारी कैथराइन बहुत ही उदारहृदय और वात्सल्यमयी थी। माता-पिता बहुत धनिक थे इसका जरा भी अभिमान उसे नही था। परन्तु उसके दिल म रह-रहकर गरीबो और अभावपीडितो के लिए विचार आता। वे बेचारे कैसे रहते होंगे ? उनकी कौन सुध लेता होगा ?' इन विचारो से प्रेरित होकर माता-पिता के न चाहते हुए भी वह अकेली घर से बाहर निकल पडती और जिस किसी व्यक्ति को गरीबी, अभाव एव दु ख से त्रस्त देखती, तुरन्त मदद दे देती थी। कभी-कभी तो उसके कहने की अपेक्षा भी नही रखती थी।

एक दिन कैथराइन सुन्दर रेशमी कपडे पहनकर शहर मे घूम रही थी, तभी सामने से एक गरीब भिखारी आता दिखाई दिया। जिसके शरीर पर पहनने को बिलकुल कपडे नही थे। ठड से उसका रोम-रोम काप रहा था। उसने कैथराइन से कहा—'मुझे तीन दिन से कुछ भी खाने को नही मिला। कुछ हो तो दो।' कैथराइन को उसकी दशा देखकर दया आई। उसने अपनी जेब मे हाथ डाला और जितने भी सिक्के थे, वे सब उस दयनीय भिखारी को दे दिये और कहा— इससे खाने की चीज ले लेना।' वह आशीषें देता हुआ चल पडा। उसके चले जाने पर कैथराइन ने सोचा—'बेचारे के शरीर पर भी तो कोई कपडा नही है।' अत उसे आवाज देकर वापस बुलाया और अपने कीमती कपडे उतारकर दे दिये।

कैथराइन ने सोचा—'देश मे बहुत गरीबी है। गरीबो के लिए उसके हृदय

में बहुत दया थी। इसलिए वह प्रतिदिन गरीबों की झोंपड़ियों में जाकर उनके सुख-दुःख के समाचार पूछती और जिसे सहायता करना आवश्यक समझती, उसे सहायता करती थी। परन्तु गरीब लोग उसकी बढ़िया कीमती पोशाक देखकर उससे मिलने में झिझकते थे। उसके सामने अपना दिल खोलने से डरते थे। अतः कैथराइन ने बढ़िया कपड़े पहनने छोड़ दिये, अब वह मोटे खुरदरे सादे कपड़े पहनकर गरीबों से मिलने जाती। परन्तु सुन्दरता तो कपड़ों से छिप नहीं सकती थी। गरीब किसान उसका सौन्दर्य देखकर पहिचान जाते थे। कैथराइन के मन में बड़ा विचार आया—'मैं कैसी अभागिन हूँ, मेरी सुन्दरता के कारण ये गरीब मुझसे दूर भागते हैं।' अतः उसने सुन्दरता को नष्ट करने के लिए अपने मुँह पर तेजाब छिड़क लिया। इससे उसका चेहरा एवं शरीर जगह-जगह से जल गया, काले धब्बे भी पड़ गये अब उसे सहसा पहचानना कठिन हो गया। अब किसान और मजदूर उससे बिना किसी झिझक से मिलते और निःसंकोच अपनी कष्टकथा सुनाते। कैथराइन दिल खोलकर उन्हें अन्न, वस्त्र, धन आदि दान देकर सहायता करती। कैथराइन को इस दान से बड़ा आनन्द आया। उसे अपनी सुन्दरता खोने का जरा भी पश्चात्ताप नहीं था।

सचमुच, दान से प्राप्त होने वाले आनन्द को पाकर व्यक्ति सौन्दर्य खोने या कष्ट पाने का दुःख भूल जाता है।

दान के प्रभाव से दिव्यता की प्राप्ति

भारतीय संस्कृति के एक मननशील मेधावी सन्त ने कहा—'जो अर्पण करता है, वह देवता है, 'देवै सो देवता'। जो दूसरों को देता है, वह देव है। मराठी में दान को 'देव' कहा जाता है। जिसके अन्तर में देवत्व विद्यमान रहता है, वह देता है। सूर्य निरन्तर प्रकाश देता रहता है, इसलिए वह देव है। इसी तरह चन्द्रमा और तारे भी प्रकाशदाता होने के कारण देव हैं। वायु भी निरन्तर बहकर सब प्राणियों को जीवनदान देती है, इसलिए भारत के चिन्तकों ने देव न होते हुए भी देव माना है। इसी तरह अग्नि, पानी, नदी, मेघ आदि सब अपनी-अपनी चीजों का दान करते रहते हैं, इसलिए देव माने जाते हैं। वनस्पति भी संसार को जीवन शक्ति देती है, इसलिए वह भी देवता मानी जाती है। वनस्पति के अन्तर्गत पेड़-पौधे, फल-फूल, जड़ी-बूटी आदि सब आ जाते हैं। मतलब यह है कि जिसमें भी निरन्तर अर्पण करने की शक्ति है, वह देव है। जैनशास्त्र में पांच प्रकार के देव बताये गए हैं—उसमें साधु को धर्मदेव और तीर्थंकर को देवाधिदेव बताया है। साधु भी संसार को कल्याण का मार्ग बताता है, इसलिए देव है, और तीर्थंकर के लिए तो 'नमुत्थुणं' के पाठ में चक्षुदाता, मार्गदाता, बोधिदाता धर्मदाता, अभयदाता, शरणदाता, जीवनदाता आदि अनेक विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं, इसलिए वे अत्यधिक दानशील होने से देवों के भी देव हैं।

वास्तव में दान देने वाले का हृदय इतना उदार और नम्र हो जाता है कि

उसमे क्षमा, दया, सहनशीलता, सन्तोष आदि दिव्य गुण स्वत ही प्रगट हो जाते हैं। मनुष्यो के लिए वेदों मे 'अमृतस्य पुत्रा' कहा गया है। भगवान् महावीर और श्रमण ने ऐसे दिव्य गुणशाली गृहस्थ के लिए 'देवानुप्रिय' (देवो का प्यारा) शब्द का प्रयोग किया है। फलितार्थ यह है कि दान देने से व्यक्ति मे उदारता आदि दिव्यगुण स्वत विकसित होते जाते हैं और वह देव बन जाता है। वह अपने खर्च मे कटौती करके, स्वय कष्ट उठाकर भी दूसरों को कुछ न कुछ देता रहता है। ऐसा व्यक्ति कजूस नहीं, विवेकी देव है।

श्री रजनीकान्त मोदी बम्बई के एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र के कार्यालय मे काम करने वाले मित्रो के साथ बीच-बीच मे मिलने वाले विश्रामावकाश के समय चाय पीने जाया करते थे। वहाँ जो कर्मचारी आते थे, उनमें उनका एक मित्र सुरेश कभी उनके साथ चाय पीने नहीं आता था, जबकि सुरेश को सबसे अधिक वेतन मिलता था। सभी कर्मचारी उसे कजूस समझते थे। इसका कारण जानने के लिए एक दिन रजनीकान्त मोदी ने सुरेश से एकान्त में पूछा—'मित्र सुरेश! घर म आगे-पीछे तुम्हारा कोई नही है, इतने पर भी तुम खाने-पीने मे इतनी कजूसी करते हो, यह किसी को कैसे उचित लगेगा? तुम हमारे साथ चाय पीने क्यो नही आया करते?'

सुरेश ने इस पर गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—'तुम लोगो के साथ चाय पीने मे अधिक खर्च आ जाता है, जिसे मैं सहन नही कर सकता। यद्यपि मेरे परिवार मे आगे पीछे कोई नहीं है, तथापि मैं समाज को अपना परिवार मानता हूँ। मैं अपने मुँह से अपना बखान करना नही चाहता। फिर भी आज तुमने पूछ ही लिया है तो सारी बात बता देता हूँ। मैं अपने वेतन मे से तीन-चार निर्धन छात्रो को सहायता देता हूँ। उनम एक छात्र का जो कि मेडिकल लाइन मे पढ़ रहा है, बहुत खर्च बढ़ गया है। इधर मेरे पास आमदनी का अन्य कोई जरिया नहीं है। इसलिए अपने खानपान के खर्च मे से कटौती करके उस मेडिकल कॉलिज मे पढने वाले छात्र के खर्च की पूर्ति करता हूँ। यदि ऐसे समय मे उसे मदद न करूँ तो उसका भविष्य अन्धकारमय बन जाएगा। उसकी पढ़ाई अधूरी ही न छूट जाए, इस लिहाज से मैंने ४५) वाले भोजनालय मे भोजन करना बन्द करके २८) रु० मासिक वाले भोजनालय मे भोजन करना शुरू कर दिया है। तुम्हारे साथ चाय पीने मे तीन आने प्रति कप खर्च आता है। इसलिए मैं तुम्हारे साथ न आकर अकेला ही एक आने कप वाली चाय ले लेता हूँ।'

'लेकिन इससे कहीं तुम्हारा स्वास्थ्य बिगड गया तो?' रजनीकान्त के इस प्रश्न के उत्तर मे मुस्कराते हुए सुरेश ने कहा—'जिसकी पढाई मे मैं मदद कर रहा हूँ, वह डाक्टर ठीक कर देगा।'

रजनीकान्त ने निरुत्तर होकर उसके सामने सिर झुका दिया। कहा—

'सुरेश ! तुम कंजूस नहीं, देव हो। तुममें दिव्यता के गुण हैं, जो तुम्हारी दानशीलता से प्रकट हुए हैं।'

दान से गौरव की प्राप्ति

दान मानवजीवन के गौरव को बढ़ाने वाला है। व्यक्ति चाहे अन्य गुणों में हीन हो, परन्तु अगर उसमें दान का गुण प्रबल है, तो वह उस गुण के द्वारा प्रसिद्ध हो जाता है, पूजा जाता है, सर्वत्र सत्कार-सम्मान पाता है, दान के गुण से अन्य गुणों की कमी भी धीरे-धीरे दूर होती जाती है। इसीलिए 'दानषट्त्रिंशिका' में दान-दाता की महिमा सबसे अधिक बताई गई है—

दातुर्वारिधरस्य मूर्द्धनि तडिद् गांगेयशृंगारणा,
वृक्षेभ्यः फलपुष्पदायिनि मधौ मत्तालि वंदिश्रुतिः।
भीतत्रातरि वृत्तिदातरि गिरौ पूजा क्षरैश्चामरैः,
सत्कारोऽयमचेतनेष्वपि विधेः किं दातृषु ज्ञातृषु ॥१॥

—जलदाता बादल के सिर पर स्वर्गंगा का शृंगार की हुई विद्युत् चमकती है, फलपुष्पदायी वृक्षों का स्तुतिगान फलपुष्पदायी वसन्त ऋतु में मस्त भ्रमररूपी वंदिजनों द्वारा होता है। भयभीत की रक्षा करने वाले एवं आजीविकादाता पर्वतों की पूजा झरने रूपी चामरों के द्वारा होती है। जब अचेतन दाताओं का भी विधि के द्वारा इतना सत्कार होता है तो जो चेतन हैं, ज्ञाता दाता हैं, उनका सत्कार-सम्मान क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा।

यह निर्विवाद है कि दान देने वाले का स्थान हमेशा ऊँचा रहता है, सभा-सोसाइटियों में हम प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं कि वहाँ दानवीर, दाता या दानशील व्यक्ति का स्थान प्रायः सर्वोपरि होता है। सभापति का आसन प्रायः दानवीर ही सुशोभित करते हैं। इस उच्च स्थान प्राप्ति का कारण दान है। जिस व्यक्ति का हृदय उदार होता है, जिसके जीवन में दान की धारा सतत प्रवाहित होती रहती है, उसके लिए सभी के हृदयों में गौरवपूर्ण स्थान क्यों न होगा ? इसी दृष्टि से एक विचारक ने कहा है—

'भूमि में समस्त अन्नों को उत्पन्न करने की, जल में सभी बीजों की सिंचने की, अग्नि में आहार की शक्ति है, इन्द्र में प्रभुत्व की शक्ति है, सत्पुरुष में गुण ग्रहण करने की शक्ति है, किन्तु याचकों के हृदय में गौरवपूर्ण स्थान जमाने की शक्ति दानदाता में ही है।'

इसलिए दान से ही गौरवपूर्ण उच्च स्थान प्राप्त होता है, धन जोड़-जोड़कर रखने वाले कृपण को कोई गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं होता, चाहे उसके पास सोने-चांदी के पहाड़ ही क्यों न हों। केवल धन या सोना-चांदी पास में होने मात्र से कोई गौरवशाली नहीं बन जाता। लाख योजन का मेरुपर्वत सारा का सारा सोने

का है वैताढ्य पर्वत चादी से भरा हुआ है, रोहणाचल पर हीरे की खान है, ताम्र पर्णी पर मोती हैं, तथा हीरे-पन्ने की सब खानो मे हीरे पन्ने भरे पड़े हैं, इनके पास इन बहुमूल्य पदार्थों के होने का कोई मूल्य नहीं है, क्योकि ये किसी को इन पदार्थों का दान नही देते, न दे सकते हैं, जबकि दाता अपने पास में जो भी धन है, उसे परोपकार के लिए दे देता है, उसी के धन का मूल्य है। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

गौरव प्राप्यते दानान्नतु वित्तस्य सचयात्।
स्थितिरुच्चै पयोदानां पयोधीनामध स्थिति ॥

—"मनुष्य दान से ही गौरव प्राप्त करता है, उच्चस्थान पाता है, किन्तु धन (या प्राप्त साधन) के सचय करने से नही पाता। प्रत्यक्ष देखिये, अपना सर्वस्व जल मुक्तहस्त से लुटाने वाले दानी मेघों का स्थान ऊपर है, जबकि अपने जल रूपी धन को सचित करके रखने वाले समुद्रा का स्थान नीचे है। एक कवि ने कल्पना की है—"इस कराल कलिकाल मे समस्तोपकारक कल्पवृक्ष आदि भी लोकोपकार नही करते, और न ही वे दिखाई देते हैं। इन्द्रादि अपने-अपने विषयसुखो मे लीन हैं, पूर्वजगण चले गये, और वे भी सर्प बनकर पीडा देते हैं, उनसे दानी सत्पुरुषो की उपमा देना उचित नही है, इस कलियुग मे तो जलधर ही समस्त पृथ्वीतल को अपने जलदान द्वारा उपकृत करते हैं, इसलिए उनसे ही सत्पुरुषो की उपमा देना उचित है।"

वास्तव मे मेघ दानी हैं, इसीलिए उन्हे देखकर सभी प्राणी हर्षित होते हैं। चक्रवाक सूर्य को, चकोर चन्द्रमा को, हाथी विन्ध्याचल को, देवता मेरुपर्वत को देखकर हर्षित होते हैं, लेकिन बादलो को देखकर तो मोर, चातक, पशु, पक्षी मनुष्य, कीट आदि सभी हर्षित होते हैं, क्योकि वे सर्वस्व दाता हैं। इसी प्रकार ससार मे जो दानशील होता है, उसे पशु पक्षी, कीट-पतगे, मनुष्य आदि सभी चाहते हैं, सभी उसे देखकर आल्हादित होते हैं।

दूसरी बात यह है कि जो दान देता है, वह मधुर होता है, उसका व्यवहार मधुर होता है, उसकी वाणी मे मिठास होती है, उसके मन मे माधुर्य, औदार्य और मृदुत्व होता है। बादलो के पानी मे भी अत्यन्त मधुरता होती है, उनका गम्भीर गर्जन भी मधुर लगता है, मयूर तो बादलो का गर्जन सुनते ही नाच उठता है और अपने मधुर केकारव से उसकी स्तुति करने लगता है, चातक भी मेघजल का दान लेने के लिए आतुर रहता है। किन्तु उधर समुद्र भी जल से परिपूर्ण है, लेकिन वह अपना पानी किसी को देता नही है, बल्कि नदियो से व मेघो से लेता ही रहता है, इस कारण उसका स्थान भी नीचा है और उसका जल भी खारा है, जो किसी के पीने लायक नहीं, किसी की प्यास नहीं बुझा सकता, किसी तृषित पेड़-पौधे को हरा-भरा नहीं कर सकता।

किशोर ने अपने जीवन मे पहली बार समुद्र देखा था। प्यास बुझाने के लिए

उसने ज्यों ही अंजलि भर कर पानी मुह में लिया, त्यों ही मारे कड़आहट के वह गले से नीचे ही न उतर सका और वह थू-थू करने लगा। उसने पास ही खड़े अपने पिताजी से पूछा—'पिताजी ! आप तो कहते थे कि सभी नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं, किन्तु इतना मीठा पानी लेने पर भी समुद्र खारा क्यों है ?"

'बेटे ! समुद्र लेता ही लेता है, देता एक बूंद भी नहीं, इस कारण इसका पानी खारा है। जो केवल संचय ही संचय करता है, उसमें कड़वाहट के अतिरिक्त और होगा ही क्या !' पिताने समाधान करते हुए कहा।

किशोर—'और यह इतना उद्विग्न क्यों हो रहा है, पिताजी ?'

पिता—'इसने जीवन भर लिया ही लिया है, दिया कुछ भी नहीं, इसी आत्मग्लानि के कारण।'

किशोर—'आप तो कहते थे कि समुद्र का पानी सूर्य सोखता रहता है, वही पानी बादल बन कर बरसता है। फिर आप यह कैसे कहते हैं कि समुद्र कुछ देता नहीं।'

पिता—'छीने जाने और स्वयं देने में आकाश-पाताल का अन्तर है, बेटे ! तुम्हारे पैसे कोई छीन लेता है, तो यह देना नहीं हुआ, देने की भावना से दिया गया ही देना कहलाता है।' किशोर का समाधान हो गया। वह यह जान गया कि देने वाला मधुर रहता है, नहीं देने वाला खारा रहता है।

यह एक रूपक है। इसके द्वारा हम यह स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं कि दान देने वाले और संचित करके रखने वाले के गौरव, महत्त्व, गुण और स्थान में कितना अन्तर है ?

दिया व्यर्थ नहीं !

महाराजा भोज की राजसभा के वरिष्ठ कवि कालिदास वैशाख की एक दुपहरी में किसी आवश्यक कार्य से उज्जयिनी के बाजार में जा रहे थे। जब वे बाजार से वापस लौट रहे थे कि उन्होंने एक दुर्बल और गरीब व्यक्ति को तवे-सी तपी हुई जमीन पर लड़खड़ाते हुए कदमों से चलते देखा। गर्मी से उसके पैर जल रहे थे, जिसके कारण कभी-कभी वह दौड़ कर रास्ता तय कर रहा था। जब दौड़ता था, तब हांफ जाने के कारण एक लम्बी सांस छोड़कर आह भरता था। उसकी दयनीय स्थिति देखकर कवि का कोमल हृदय करुणा से भर आया। वह उसकी दयनीय दशा को अधिक देर तक न देख सका। कवि ने अपने पैर के जूते खोले और उस गरीब को पहनने को दे दिए। तप्त धरती के ताप से बचने के लिए जूते देख उसका हृदय प्रसन्नता से उछल पड़ा। उसने कवि को हृदय से आशीर्वाद दिया और कहा—मेरी समस्या तो हल हो गई, पर आप अब क्या करेंगे ? आपके पैर भी तो जलेंगे ? इसलिए कृपा करके आप इस समय इन्हें पहनकर ही जाएँ। मैं अपने स्वार्थ के लिए आपके

पैर जलाना नहीं चाहता। दरिद्र व्यक्ति के हृदय के विचार वैभव को देखकर कवि के हृदय मे उसके प्रति आदर भाव बढ़ने लगा। कवि ने कहा—'तुम मेरी चिन्ता मत करो। मेरा घर निकट ही है। मैं अभी ५ मिनट मे पहुँच जाऊँगा। यदि तुम इन्हें नही लोगे तो मैं भी अब इन्हे नहीं पहनूंगा। नगे पैर चल कर अनुभव करूगा कि उज्जयिनी की गरीब जनता को नगे पैर चलने मे कितना कष्ट होता है।' कवि की हार्दिक सहानुभूति और स्नेहभरे आग्रह को वह टाल न सका। उसने जूते पहने और बिना किसी रुकावट एव कष्ट के वह रास्ता नापने लगा।

इधर कवि भी अपने पथ पर चल पडा। किन्तु गर्मी से तपी हुई जमीन पर चलना उनके लिए कठिन हो रहा था। पैरों में छाले पडने लगे, फिर भी उनके मन मे परहित दान के कारण प्रसन्नता थी, ग्लानि नहीं। एक अनूठी प्रसन्नता उनके चेहरे पर झलक रही थी। राजकवि थोडी दूर चले ही थे कि उन्ह राजा का महावत हाथी पर जाते हुए मिल गया। उसने राजकवि को हाथी पर बैठने की प्रार्थना की। कवि ने सहजभाव से कहा—'तुम चलो ! हम तो अभी पहुँच जाएँगे।'

'आपके पैर जल रहे हैं, इसलिए हाथी पर बैठ जाइए। मैं अब आपको एक कदम भी नगे पैर नहीं चलने दूंगा।' महावत ने आग्रहपूर्वक कहा। कवि ने मुस्कराते हुए कहा—'अरे ! हाथी के भी तो पैर जलते होंगे, फिर मैं इस पर अधिक बोझ क्यों डालूं ?'

महावत ने कवि की एक न मानी। वह नीचे उतरा और कवि का हाथ पकड कर उन्हें हाथी पर बैठा ही लिया। जब राजमहल के निकट पहुँचे तो महल के बरामदे मे टहलते हुए महाराजा भोज ने कालिदास को हाथी पर बैठे देखकर विनोद में चुटकी लेते हुए कहा—'महाकवि ! तुमको आज हाथी कहाँ से मिल गया ?' कवि ने मुस्कराते हुए निम्नोक्त श्लोक में उत्तर दिया—

'उपानह मया दत्त जीर्णं कर्णविवर्जितम्।
तत्पुण्येन गजारूढो, न दत्तं हि तद् विनश्यति॥'

—"मैंने अपने पुराने और कन्नी टूटे हुए जूते दान मे दे दिये, उसके पुण्य से मुझे हाथी पर चढ़ने का गौरव मिला है। वास्तव म दिया हुआ दान व्यर्थ नही जाता।

यह है दान से गौरवास्पद उच्चपद पाने का ज्वलन्त उदाहरण ! यह तो विश्वविश्रुत है कि प्रत्येक क्षेत्र म जो उदारतापूर्वक दान देता है, उसे गौरवास्पद स्थान मिलता है उसके प्रति जनता की सद्भावना बढ जाती है और इसे उच्चपद भी मिलता है। जनता उसके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करके उसके गौरव को बढाती है।

सचमुच दान के प्रतिदान के रूप मे कई गुना गौरव मिलता है। आदर-सत्कार का तो कहना ही क्या ? दानी या उसके परिवार का कोई भी व्यक्ति कही जायगा तो वहाँ उसका गौरव, सत्कार सम्मान किये बिना लोग नहीं रहते। इसलिए किसी

मी रूप में दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता। परन्तु जो किसी को कुछ देता नहीं, अपने ही स्वार्थ एवं ऐश-आराम में मशगूल रहता है, उसे या उसके पारिवारिक जनों को न तो कहीं गौरव मिलता है, और न ही सत्कार-सम्मान।

एक वणिक्पत्नी बहुत ही आलसी, स्वार्थी, लोभी और विलासितापरायण थी। उसका पति बड़ा व्यापारी होने से उसके यहाँ आसपास के गाँवों से बहुत-से छोटे व्यापारी माल खरीदने या अन्य किसी कारण से आते रहते थे। परन्तु बनियानी आने वालों को भोजन का तो दरकिनार, पानी तक का भी नहीं पूछती थी। बनिये की अपनी पत्नी के सामने कुछ पेश नहीं चलती थी। इसलिए बनिया केवल मीठे वचनों से आगन्तुकों का स्वागत-सत्कार कर दिया करता था। वह जब कभी किसी गाँव में कर्जवसूली के लिए जाता तो ग्रामीण लोग भी उसे खाने-पीने की नहीं पूछते थे। या तो वह भूखा रहता, या परांवठे बनवा कर अपने साथ ले जाता, उन्हें खा कर पेट भर लेता। इसी बीच बनिये की पत्नी गुजर गई। घर का सारा भार उसकी पुत्रवधू के हाथ में आ गया। वह बड़ी उदार, दानशील, सुघड़, सुशिक्षित और चतुर थी। उसका इतना उदार स्वभाव था कि किसी भी समय किसी भी गाँव से कोई आढ़तिया या दूकानदार सेठ की दूकान पर आ जाता तो वह उसे भोजन किये बिना जाने नहीं देती थी।

एक दिन सेठ (ससुर) को किसी दूसरे गाँव कर्जवसूली के लिए जाना था, इसलिए अपनी पुत्रवधू से कहा—"बेटी ! मुझे आज फलां गाँव जाना है, इसलिए साथ में खाने के लिए भाता बांध देना।"

पुत्रवधू बोली—"पिताजी ! वह तो मैंने पहले से भेज दिया है। आपको साथ में ले जाने की आवश्यकता नहीं। वहाँ जाते ही मिल जाएगा।"

सेठ आश्चर्यचकित होकर पुत्रवधू की बात पर विश्वास करके उगाही के लिए चल पड़े। वे जिस गाँव में गए, वहाँ के लोगों ने कहा—"सेठ जी ! आज तो हमारे यहाँ ठहरना पड़ेगा। आपका भोजन हमारे यहाँ होगा, कोई कहता—'नाश्ता मेरे यहाँ होगा।' कोई आग्रहपूर्वक कहता—'शाम का भोजन किये बिना नहीं जाने देंगे।' इसके बाद वह सेठ जितनी बार जहाँ-जहाँ भी जाते, लोग उनका स्वागत-सत्कार करते, उनकी पुत्रवधू का गुणगान करते और प्रेमपूर्वक भोजन कराते। पुत्रवधू की उदारता और गरीबों को अन्न, वस्त्र आदि से सहायता करने की दानवृत्ति के कारण पुत्रवधू के साथ-साथ उसके श्वसुर, पति आदि को भी गौरव एवं सम्मान मिलता था।

कई बार बड़े कहलाने वाले व्यक्ति ऐसे उदारचेता दानी के गौरव को सहन नहीं कर पाते और जरा-सी बात में वे ईर्ष्या से उत्तेजित होकर दानी के गौरव को भंग करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन दानी का उन लाखों गरीबों एवं पीड़ितों के हृदय में इतना ऊँचा और स्थायी स्थान हो जाता है कि वे किसी तथाकथित बड़े आदमी

वे मुंह से उस दानी की निन्दा या गौरवहीनता के शब्द सुनकर भी उस पर विश्वास नहीं करते और न ही दानी के विरुद्ध कही हुई बात को मानते हैं। उन लाखों दीन-दुखियो के दिलो मे उस उदारचेता का गौरव पत्थर पर लकीर की तरह अखड रूप से अकित हो जाता है।

गुजरात के चौलुक्यवशीय महाराजा श्रीकुमारपाल ने एक बार अपने महामंत्री आम्रभट को पुरस्कारस्वरूप एक करोड स्वर्ण मुद्राए, तीन सोने के कलश, २४ उच्च-जातीय घोडे इत्यादि दिये। किन्तु आम्रभट मन्त्री स्वयं इतने उदार थे कि याचकों को अपना असीम धन दे डालने मे जरा भी विचार नही करते थे। याचक भी भारी सख्या में उन्हें घर लेते और उनसे मुँहमाँगा दान ले लेते थे।

आज भी जब महामन्त्री पुरस्कार लेकर राजसभा से बाहर निकल रहे थे, तभी याचको की बडी भारी भीड उनके सामने आ डटी। अत. उन्होंने घर पहुँचने से पहले ही मिला हुआ सारा पुरस्कार गरीबो, याचको, दुखियो एव अपाहिजो मे बाँट दिया। इधर इनाम पाया और उधर दान मे दे डाला। इस प्रकार के दान से आम्र-भट की जगह-जगह प्रशसा होने लगी, दूर-सुदूर प्रदेशो म लोग उनका गुणगान करने लगे, उनकी कीर्ति चारो ओर फैल गई। खासतौर से दीन-हीनो एव दुखियो के हृदय मे उनका गौरव अकित हो गया।

राज्य मे कुछ विघ्नसन्तोषी लोग भी थे, उन्होंने ईर्ष्यावश राजा कुमारपाल के कानों मे जहर उड़ल दिया—"पृथ्वीनाथ! आम्रभट ने तो राजसभा मे ही आपके सामने एक लाख दान दे डाला। क्या यह उचित है! ऐसा करके मन्त्री ने आपका गौरव घटाया है।" राजा ने कुपित होकर मन्त्री को बुलाया और उक्त बात की यथार्थता के बारे मे पूछा। आम्रभट तुरन्त समझ गए कि किसी ने द्वेषवश राजा के कान भरे हैं। उन्होंने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"स्वामिन्! आप तो १२ गाँवो के स्वामी त्रिभुवनपाल के पुत्र हैं और मैं १८ देशो के स्वामी (आप) का पुत्र हूँ। अत मेरा यह दान बहुत ही कम है।" आगे और स्पष्ट किया कि "इतना दान आप नही दे सकते, मैं दे सकता हूँ। क्योंकि आप तो १२ ग्रामो के स्वामी के पुत्र हैं, जबकि मैं १८ देशो के स्वामी का पुत्र हूँ।' यह सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए।

सच है, निःस्वार्थदाता को अपने मुँह से कुछ भी कहने की आवश्यकता नही होती। उसे स्वय को गौरव पाने या उदार कहलाने की इच्छा नहीं होती। दीन दुखी आम जनता अपने आप ही उसकी उदारता के गीत गाती रहती है तथा उसे प्रत्येक सभा, मीटिंग, गोष्ठी आदि म उच्च स्थान या पद देती रहती है। लक्ष्मी को पाकर अहकार या गर्व मे आकर नाचते और भोग विलास मे उडाने वाला महामूर्ख होता है, जबकि लक्ष्मी को पाकर उदारतापूर्वक दान करने वाला देने मे आनन्द मानता है, देते समय, देने के बाद और देने से पहले खुशी से उछल पड़ता है, वह बुद्धिमान होता है, ऐसे ही व्यक्ति गौरवास्पद होते हैं, समाज और राष्ट्र के रत्न होते हैं।

इतना ही नहीं, धन, साधन या अन्य पदार्थों के दान के अलावा जो माता-बहनें अपनी सन्तान के अतिरिक्त दूसरे की सन्तानों को दुग्धदान देती हैं, दूध पिलाकर पालती-पोसती और सुसंस्कार देती हैं, उन्हें भी वह गौरव प्राप्त होता है, जो एक पूज्य पुरुष को प्राप्त होता है, उनको दुग्धदान आदि के बदले में हजारों गुना गौरव प्राप्त होता है।

आज से कई वर्षों पूर्व आसाम के ग्वालपाड़ा शहर में पश्चिम के बहुत-से हिन्दू-मुस्लिम परिवार पास-पास प्रेम से रहते थे। उनमें मजहबी पागलपन नहीं था। एक दिन नीरु नामक मुस्लिम की औरत के बच्चा हुआ। दुर्भाग्य से बच्चा होने के कुछ देर बाद उसकी माँ चल बसी। नीरु अधीर हो कर रोने लगा। घर में उस नवजात शिशु और उसके सिवाय और कोई नहीं था। जूट के व्यवसाय में घाटा लगने के कारण आर्थिक स्थिति अत्यन्त खराब थी। डाक्टर-वैद्य आदि किसी भी उपाय से उस बच्चे को बचा लेना कठिन था। नीरु को अधीर होकर रोते देख बाजार के हिन्दू-मुस्लिम स्त्री-पुरुष उसे समझाने लगे, लेकिन नीरु को शान्ति नहीं मिली। उसका रुदन लगातार जारी रहा। नीरु के घर के पड़ोस में ही एक ब्रजवासी ग्वाले का घर था। ग्वाला कहीं बाहर गया हुआ था। उसकी पत्नी घर पर ही थी। उसे भी पाँच दिन पहले पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। नीरुभाई का रुदन सुनकर वह बहुत दुःखी हो रही थी। किन्तु सद्यःप्रसूता होने के कारण घर से बाहर जाने में वह असमर्थ थी। अतः उसने अपनी दाई से कहा—"तुम जाकर नीरुभाई से कहो, वे घबरायें नहीं। उस बच्चे को दूध पिलाने तथा उसकी सारी देखभाल करने का भार मुझ पर रहेगा। उस बच्चे को किसी तरह लाकर मेरे पास रख दो। मैं समझूंगी कि मेरे एक नहीं, दो बच्चे एक साथ हुए हैं।" दाई के मुँह से उस दयालु व वात्सल्यमयी युवती का विचार सुनकर सभी धन्य-धन्य कहने लगे। नीरु को विलक्षण शान्ति और सान्त्वना मिली; उसका रोना बन्द हो गया। दाई के साथ नीरु ने अपने बच्चे को उस दयालु बहन के यहाँ भेजते समय कहा—"इस बहन ने संकट के समय अपनी वत्सलता का परिचय देकर प्रशंसनीय कार्य किया है, मैं तो इसे भगवान् की दया समझता हूँ कि मुझे ऐसी बहन का पड़ोस मिला।"

दाई ने नीरु के बच्चे को ले जाकर उस ग्वालिन के पास लिटा दिया। ग्वालिन उस नवजात शिशु को बड़े स्नेह से दूध पिलाने और पालने-पोसने लगी। ग्वालिन का पति भी अच्छे व उदार विचारों का था। उसने भी अपनी पत्नी के कार्य की प्रशंसा की। नीरु अपने बच्चे के पालन-पोषण के बदले में ग्वालिन बहन को कभी कुछ वस्तु देना चाहता तो वह बिगड़ बैठती कि क्या मुझे इस लड़के की धाय माता समझ लिया है! मैं कुछ नहीं लूंगी।" नीरु कहता—"बहन! मैं आपको धाय नहीं, इस बालक की पूर्वजन्म की माता तो अवश्य समझता हूँ। आप दोनों के इस उपकार का बदला मैं हजारों जन्मों में नहीं चुका सकूँगा।" समय जाते देर नहीं लगती। नीरु का लड़का अब चलने-फिरने लगा। वह दूध-पीना छोड़कर अन्न खाने लगा।

इधर व्यवसाय मन्द पड जाने के कारण न चाहते हुए भी नीरू को अपने देश चले जाना पडा। परन्तु परदेश से विदा होते समय ग्वालिन और पुत्रसहित नीरू को रोते देखकर लोग आश्चर्य से कहने लगे—'जान पडता है, ये पाँचो पूर्वजन्म मे किसी एक ही परिवार के थे। किन्ही कारणवश इन्हें पृथक् हो जाना पडा और अब सयोग-वश पुन सब एकत्र हो गए हैं।" उन लोगों से बडी मुश्किल से विदा लेकर नीरू अपने पुत्रसहित घर चला आया। किन्तु घर आने पर भी वह रह-रहकर ग्वाला-दम्पती को याद करता था, और अपने लडके को उनके द्वारा पालने-पोसने की मधुर कथा सुनाया करता था। वह कहता—"बेटा! तेरी माता तो तुझे जन्म देते ही मर गई थी और मैं तो तेरा नाममात्र का ही पिता हूँ, तेरे सच्चे माता पिता तो वे ग्वाले ग्वालिन हैं। तू सपने मे भी कभी उन्हें भूलना मत। वह पहले तुझे दूध पिलाकर फिर अपने बच्चे को पिलाती थी। हजारो मिन्नतें करने पर भी एक पैसा या मुट्ठीभर अन्न भी नही लिया।"

अप्रेल १९६६ की बात है। वात्सल्यमूर्ति ग्वालिन की छाती मे घाव हो गया। अनेक डाक्टरो से इलाज करवाया, लेकिन घाव ठीक नही हुआ। अत निरुपाय होकर हवा पानी बदलने की दृष्टि से ग्वाला अपनी दूकान बन्द करके सपरिवार देश चला आया। अपने गाँव के समीप सदर हॉस्पिटल, मथुरा मे ग्वाला अपनी पत्नी का घाव दिखाने लाया। डॉक्टर ने घाव देखकर कहा—'इसके शरीर मे रक्त नही रहा। अत इसे कम से कम एक सेर खून चढाने की जरूरत है।" ग्वाले ने कहा—"मैं अपना रक्त दे सकता हूँ।" इस पर डॉक्टर ने कहा—"तुम्हारे रक्त से काम नही चलेगा, किसी युवक या युवती का रक्त होना चाहिए, और वह भी ऐसा हो, जो इसके रक्त से मेल खाता हो।"

फिर डॉक्टर ने पूछा—'क्या पुत्रजन्म के समय इसे दूध के स्थान पर कोई खराबी हुई थी?' ग्वालिन—"जी नही, पर एक बात मुझे याद है, जिस समय मेरे बच्चा हुआ, उसके दो तीन दिन बाद ही हमारे पडौस मे रहने वाली मुस्लिम बाई के हुआ था, लेकिन वह उसे जन्म देते ही मर गई थी। उस बच्चे के पिता को रोते देख, मैंने बच्चे को अपने पास मँगवा लिया और अपने बच्चे के साथ-साथ उस बच्चे को भी दूध पिलाती रही। कई वर्षों तक वे दोनो मेरा दूध पीते रहे। पर दोनो लडको को दूध पिलाने के कारण कभी-कभी बेचैनी होती थी, पर घाव नहीं हुआ था।" 'अच्छा, मैं समझ गया। रक्त चढाए बिना घाव ठीक न होगा। रक्त देने वाले को न कोई पीडा होती है, न वह मरता है, थोडी सी कमजोरी आती है, वह दवा देने से ठीक हो जाती है।'

डॉक्टर की बात सुनकर वहाँ के कम्पाउण्डर ने, जो इनकी बातचीत सुन रहा था, कहा—'मैं अपना रक्त देने को तैयार हूँ। दो सौ रुपये लूंगा।' डॉक्टर ने उसका खून टैस्ट करके पसन्द कर लिया, तब ग्वाले से कहकर उक्त कम्पाउण्डर को दो सौ

रुपये दिला दिये। चिकित्सा प्रारम्भ की गई। रक्त चढ़ाया गया। कुछ ही दिनों में घाव अच्छा हो गया। ग्वाले ने प्रसन्न होकर अस्पताल के कर्मचारियों को इनाम दिया और अपने घर चला आया। फिर कुछ दिन रहकर वह पुनः सपरिवार ग्वालपाड़ा अपने व्यवसाय को देखने चला गया।

ग्वालपाड़ा पहुँचने के दस दिन बाद ही ग्वाले के नाम से एक हजार रुपये की एक बीमा आई। साथ में एक पत्र भी मिला जिसमें लिखा था—

परमपूज्य पिताजी एवं परमपूज्य माताजी !

चरणों में सभक्ति प्रणाम,

आगे आपके लिए रक्त देने वाला मैं मीरू का लड़का, मैं आपका पाला-पोसा हुआ पुत्र हूँ। मैं ही कम्पाउण्डर का काम करता हूँ। रुपये लेकर खून देने का कारण यह था कि मुफ्त में आप खून न लेते। मेरा पूर्ण परिचय प्राप्त करना चाहते। सम्भव था, परिचय प्राप्त हो जाने पर स्नेहवश आप रक्त न लेते और दूसरा इतना रक्त देता कौन ? फिर आपका घाव कैसे अच्छा होता ? इसलिए मैंने आपसे रुपये लेकर परिचय न दिया। अब मैं जो ये १००० रुपये भेज रहा हूँ, इनमें से २०० रुपये तो आपके हैं ही। शेष ८०० रुपये मेरी माँ के संयम-पूर्वक पथ्यादि के लिए हैं। ध्यान रहे—यदि किसी बहाने से आपने ये रुपये लौटा दिये तो आपका यह पालित पुत्र निश्चय ही प्राण-त्याग कर देगा। एक बात और—वृन्दावन निकट होने तथा आप दोनों के द्वारा प्रतिपालित शुद्ध दूध व पवित्र अन्न से मेरे शरीर में जो शुद्ध रक्त है, वह कहीं गन्दा (अपवित्र) न हो जाय, इसलिए मैंने प्याज, लहसुन, शराब, ताड़ी, माँस, मछली आदि निषिद्ध वस्तुओं का खानपान तो दूर रहा, देखना तक भी छोड़ दिया है। आपके घर में तो मैं अपवित्र वस्तुओं के खानपान से सर्वथा अछूता रहा हूँ। लिखने का अभि-प्राय यह है कि मैंने जो रक्त आपके शरीर में प्रवेश कराने के लिए दिया है, वह पवित्र है, शुद्ध है; कहीं भी अपवित्र नहीं है। मैं गीतापाठ रोज करता हूँ। आगे भगवान् की कृपा।'

—आपका प्यारा पुत्र
अहमद कम्पाउण्डर

पत्र पढ़कर दम्पती अवाक् हो गए। उनकी आँखों से अश्रुधारा बह चली। ग्वाले ने पत्र का उत्तर लिखा—

प्रिय पुत्र अहमद !

शुभाशीर्वाद,

हम यहाँ सकुशल हैं। तुम्हारी कुशलता परमात्मा से चाहते हैं। तुम्हारे भेजे हुए पत्र तथा एक हजार रुपये प्राप्त हुए। प्रिय पुत्र ! यह तुमने ठीक ही

लिखा है, मुफ्त मे हम रक्त न लेते । हम तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहते और परिचय प्राप्त होने पर तो हम किसी भी हालत में तुम्हारा रक्त न लेते। तुम्हारा सात्विक जीवन, पवित्र स्वभाव एव भगवच्चरणों में स्नेह सुनकर हमारा हृदय आनन्द परिपूर्ण है। तुम सा विचारवान् पुत्र पाकर हम दोनों का जन्म सफल हो गया। अभी हमे रुपयो की आवश्यकता नही थी, किन्तु हम तुम्हारा दिल दुखाना नही चाहते । अत रुपये हमने रख लिए हैं। प्यारे पुत्र! लोग कहा करते हैं—माता के दूध का बदला पुत्र द्वारा हजारो जन्मो मे भी नहीं चुकाया जा सकता। पर तुमने तो कमाल कर दिया। इसी जन्म मे ही दूध का विलक्षण बदला चुकाया है।.. ..'

इस सत्य घटना पर से यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि पराये पुत्र को दुग्धदान देकर पालन पोसने वाली माता को कितना गौरवास्पद स्थान मिला, कितनी पूज्य दृष्टि से उसे देखा गया और दुग्धदान के बदले सम्मान सहित कितना प्रतिदान मिला। यह सब प्रभाव दान का ही है, जिसने इतना गौरव उस ग्वालिन माता को दिलाया।

दूसरी तरफ से देखें तो भी दान देने वाले का हाथ सदा लेने वाले से ऊपर ही रहता है और वही हाथ गौरवपूर्ण होता है, जो याचक के हाथ से ऊपर हो। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस दिशा मे स्पष्ट प्रेरणा दी है—

"तुलसी' कर पर कर करो, करतर करो न कोय।
जा दिन कर तर कर करो, ता दिन मरण भलो य।

वास्तव मे दाता के हाथ सदा ऊपर ही रहते हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े कलाकारो, पण्डितों, विद्वानो एव वैज्ञानिको के हाथ भी दानियो के गौरवशील हाथ के नीचे ही रहते हैं। यहाँ तक कि बड़े बड़े मुनिरत्नों, तीर्थंकरो के हाथ भी दानदाता के हाथ से नीचे रहता है। इसीलिए दानपट्त्रिंशिका मे दान की महिमा बताते हुए कहा है—

यो बभाम ससभ्रमप्रणतभूपालेन्द्र पृष्ठस्यसौ,
विश्व वात्सरिक प्रवर्न्ति सुधया प्रोज्जीवयामास य ।
य साध्वाद्यनवद्य सघशिरसि कोटोचित सोऽर्हत ।
पाणि स्याद् यदनुग्रहाद् गृहिकराघस्तां स्तुमो दानताम् ॥'

—जिस तीर्थंकर ने स्वय एक वर्ष तक लगातार दान देकर दानरूपी अमृत से सारे ससार को जिलाया, वही तीर्थंकर दीक्षा लेने के बाद जब भिन्न भिन्न देश-प्रदेशों मे विचरण करने लगे तो जिनके पीछे भक्तिवश हड़बड़ा कर राजा और इन्द्र तक नतमस्तक हो गए थे। तथा जो साधु आदि पवित्र चतुर्विध सघ के शिरोमणि त्रिभुवन-स्वामी तीर्थंकर हैं ऐसे तीर्थंकर का भी हाथ जिस दान के अनुग्रह से गृहस्थ (दाता) के हाथ से नीचे रहता है उस दान की हम स्तुति करते हैं।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक चक्रवर्ती भरत, मान्धाता, दुष्यन्त, हरिश्चन्द्र, पुरुरवा, ऐल, नल, नघुष, राम, कर्ण, युधिष्ठिर आदि अनेक श्लाघनीय दानी हुए हैं, परन्तु वे सबके सब दानी के दान द्वारा प्राप्त कीर्ति से ही अमर हुए। इसलिए उनके दान ने उन्हें इतना गौरव दिलाया कि वे जनता के हृदय में चिरस्थायी हो गए।

दान के प्रभाव से मनुष्य को इस जन्म में ही नहीं, अगले जन्मों में भी गौरव मिलता है।

आपसे पूछा जाय कि आप किसको चाहते हैं? कृपण को या दाता को? किसका नाम प्रातःकाल लेना चाहते हैं, कृपण का या दाता का? तब आप चट से कह देंगे—कृपण को तो कोई नहीं चाहता और न ही प्रातःकाल कोई उसका नाम लेना चाहता है। प्रातः स्मरणीय वही होता है, जो उदार हो दानी हो। जो स्वार्थी और लोभी बनकर धन जोड़-जोड़ कर रखता हो, उसका तो कोई नाम भी नहीं लेना चाहता। यही कारण है कि लोग प्रातःकाल दानी राजा कर्ण, हरिश्चन्द्र एवं तीर्थंकर आदि दानवीरों का नाम ही लेना चाहते हैं। वे पुरुष गौरवान्वित होते हैं, जो अपनी सुख-सामग्री, सम्पत्ति एवं शक्ति दूसरों को लुटाते हैं, देते हैं।

दान से वंश निर्बीज नहीं

दान को 'अमृत' कहा गया है, उसके कई रूप आपके सामने आ गये, दान से आनन्द मिलता है, प्रसन्नता मिलती है, समाज में गौरव मिलता है, परलोक में सुख एवं वैभव मिलता है। इस लोक में पद-पद पर यश, सहयोग, सेवा, प्रतिफल तथा धन-परिवार आदि की समृद्धि भी मिलती है।

दान का इतना अद्‌भुत प्रभाव है कि दान देने वाले की वंश-परम्परा खण्डित नहीं होती, वह अविच्छिन्न रूप से चालू रहती है। उसका कारण यह है कि उसका दान जिन भूखों, दुःखियों, बाढ़, भूकम्प या दुष्काल से पीड़ितों को मिलता है, उनकी अन्तरात्मा से उन्हें शुभाशीर्वाद मिलता है। राजस्थान में इन आशीर्वाद के सूचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है—'दूधां जीओ, पूतां फलो' इस प्रकार की हृदय से आशिषें पाकर दानी व्यक्ति क्यों सन्तान हीन होगा? तामिलनाडु के वेद कुरल में इस विषय में स्पष्ट कहा है—

> "परनिन्दाभयं यस्य विना दानं न भोजनम्।
> कृतिनस्तस्य निर्बीजो वंशोनैव कदाचन ॥"

—जो परनिन्दा से डरता है और दान दिये बिना भोजन नहीं करता, उसका वंश कभी निर्बीज नहीं होता।

बूंदी (राजस्थान) के तत्कालीन राव सन्तानहीन थे। वे सदैव चिन्तातुर रहते थे कि मेरे कोई सन्तान नहीं है। पुत्र के बिना मेरा उत्तराधिकारी कौन होगा?

उत्तराधिकारी के बिना मेरा राज्य धूल मे मिल जाएगा, अराजकता छा जाएगी।" राजदरबारी लोग भी इसके कारण चिन्तित रहा करते थे। एक दिन रावसाहब से किसी ने कहा—"महाराज ! यहाँ जीवनजी नामक जैन साधु हैं, उन्हे वचनसिद्धि प्राप्त है। उनके दर्शन करने पधारिये। अगर उन्होंने कह दिया—'पुत्रवान्भव' तो अवश्य ही पुत्र होगा" रावजी को यह सुनकर आशा की किरण मिल गई। वे बहुत प्रसन्न हुए और जीवनजी मुनि के दर्शनो के लिए चल पड़े। जब वे धर्मस्थानक मे पहुँचे तो किसी ने कहा—"वे अभी शौच के लिए पहाड़ो की ओर जा रहे होंगे, अच्छा हो कि आप भी उधर ही पधारें। यह मौका बहुत अच्छा है।"

सुबह का समय था, रावसाहब ने साधुजी के दर्शन किये और उनके चरणो में गिर पड़े। साधुजी म० ने कहा—'दया पालो, राजाजी !' फिर पूछा—'कहिए रावजी ! आज कैसे आना हुआ, इतनी सुबह-सुबह ?' राव साहब ने अपनी मनोव्यथा व्यक्त की। अन्त में कहा—'महाराज ! मेरे कोई सन्तान नही है। आपका आशीर्वाद प्राप्त करने आया हूँ।"

साधुजी ने उन्हें उपदेश दिया—'देखो, रावजी ! हम साधु हैं, ससार से विरक्त, हम किसी को शाप, आशीर्वाद या अनुग्रह नही देते। हम तो धर्म की प्रेरणा करते हैं। मैं आपको चार बाते, जो धर्म से सम्बन्धित हैं बता देता हूँ—

'धन चाहे तो धर्म कर, राज्य चाहे तो तप।
पुत्र चाहे दया-दान कर, सुख चाहे तो जप॥'

यो कहकर रावसाहब को साधुजी ने ये चारों बातें भलीभांति समझा दी। रावसाहब सभी बातें समझकर प्रसन्नतापूर्वक महल को लौटे। उसी दिन से वे दया और दान के कार्य करने लगे। नगर के सभी कसाईखाने बन्द करा दिये। शहर के बाहर दानशाला खुलवादी, भूखे-प्यासो को अन्नपानी दिया जाने लगा, जो अभावग्रस्त पीड़ित, अपाहिज, अनाथ एव असहाय थे, उन्हें आवश्यकतानुसार दान दिया जाने लगा।' दया-दान के प्रभाव से सयोगवश रावजी के पुत्ररत्न हुआ। राज्यभर मे प्रसन्नता की लहर दौड गई। रावजी ने खूब धूमधाम से पुत्रजन्मोत्सव किया। जैन-साधुओ के प्रति रावजी के मन मे गाढ़ श्रद्धा हो गई। और उन्होने दया, दान और सेवा के अनेक कार्य अपने जीवन मे किये। यह है—वशपरम्परा की अविच्छिन्नता का अमोघ उपाय दान का चमत्कार !

दान : हाथ का आभूषण

दान की भावना चाहे हृदय से होती हो, दान की योजना चाहे मस्तिष्क से तैयार होती हो और दान देने का उत्साह चाहे मन मे पैदा होता हो, लेकिन दान का सक्रिय आचरण हाथ से ही होता है। मस्तिष्क, हृदय और मन चाहे दान का आदेश देने वाले हो, दान के उपदेश को चाहे कान सुन लेते हो, दान मे दी जाने वाली चीजो को या दान देने के तरीके को चाहे आँखें देख लेती हों, वाणी चाहे दान देने का आदेश

कर देती हो या दान की महिमा का गुणगान कर लेती हो, लेकिन दान को क्रियान्वित करने वाले, देय वस्तु को दाता के हस्तगत कराने वाले, दान का लाभ दान के पात्र को दिलाने वाले तो हाथ ही हैं। परन्तु इन हाथों का महत्त्व दूसरे का धन छीन लेने, चुरा लेने, छिपा देने या अपना धन गाड़ देने, संचित करके रखने या दबा या छिपा देने में नहीं है, ऐसा करने वाले हाथों का गौरव बढ़ाते नहीं हैं, अपितु हाथों का गौरव घटाते हैं, उन हाथों को कलंकित करते हैं, बदनाम कराते हैं। इन हाथों से दान के सिवाय अन्य कुकर्म करने वाले या हाथों से दूसरों के थप्पड़ मारने वाले, दूसरों को धक्का देने वाले अथवा शस्त्रादि चलाकर दूसरों को भयभीत करने वाले, दूसरों को सताने या पीड़ित करने वाले भी हाथ की गरिमा को क्षीण करते हैं, हाथ से दान के द्वारा प्राप्त हो सकने वाले यश से वंचित कर देते हैं। इस हाथ में दान देने की जो अपार शक्ति संचित है, उसे व्यर्थ के कार्यों में नष्ट करके वे लोग हाथ की क्रियाशक्ति को, हाथ के द्वारा सम्भव होने वाले जादू को खत्म कर देते हैं। इसीलिए एक मनीषी ने प्रत्येक मानव के लिए यह प्रेरणा सूत्र प्रस्तुत किया है—

'हाथ दिये कर दान रे'

'मानव ! तेरे प्रबल पुण्य बल से अथवा ईश्वर कर्तृत्व की दृष्टि से कहें तो ईश्वर ने तुझे हाथ दिये हैं, उनसे दान कर।'

कितनी सुन्दर प्रेरणा भर दी है, इस छोटे-से वाक्य में !

एक पाश्चात्य विचारक ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'प्रार्थना मन्दिर में प्रार्थना के लिए सौ बार हाथ जोड़ने के बजाय, दान के लिए एक बार हाथ खोलना अधिक महत्त्वपूर्ण है।'[1]

कितना सुनहरा प्रेरणा वाक्य है ! इसका रहस्य यह है कि प्रार्थना करने वाला प्रार्थी सौ बार हाथ जोड़कर भगवान् से प्रायः कुछ न कुछ मांगेगा, इसके बजाय किसी से कुछ न मांग कर अपने अन्दर निहित दान शक्ति को खुले हाथों से प्रगट करना अधिक बेहतर है। इससे बिना मांगे ही हजारों की मूक आशीषें, दुआएँ मिलेंगी। देवगण भी इस कार्य को देख कर प्रसन्न होंगे। दान जैसे शुभ कार्यों को देखकर वे जितने प्रसन्न होंगे, उतने प्रसन्न केवल मनौती करने से नहीं होंगे। इस दृष्टि से प्रार्थना के लिए हाथ जोड़ने की अपेक्षा दोनों हाथों से दान देना श्रेष्ठ बतलाया गया है।

बाइबिल में भी इसी बात का समर्थन किया गया है—

'तीन सद्गुण हैं—आशा, विश्वास और दान।
इन तीनों में दान सबसे बढ़कर है।'

---

1 One hand opened in charity is worth a hundred in prayer.

दान को इन तीनो म सबसे बढकर इसलिए बताया गया कि यह हाथ से होता है। इस कारण सारे ससार के लोग इसे प्रत्यक्ष जान सकते हैं, दान देने म सक्रिय होना पडता है, अपने हाथो को दाता के हाथ से ऊपर करने होते हैं, जबकि आशा और विश्वास, ये दोनों बौद्धिक व्यायाम हैं, हार्दिक उडानें हैं मन की हवाई कल्पनाएँ हैं, चित्त की वैचारिक भागदौड हैं।

एक विचारक ने तो दान के लिए यहाँ तक कह दिया है—

> पानी बाढ़ो नाव मे, घर मे बाढ़ो दाम,
> दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम।'

अगर नौका मे पानी बढ़ जाय और उस हाथो से उलीच कर बाहर न निकाला जाय तो नौका के डूब जाने का खतरा पैदा हो जाता है, वैसे ही घर में धन बढ जाय तो परिवार मे विभाग या उपभोग के लिए परस्पर झगडा पैदा हो जाता है, या सतान द्वारा उसे फिजूल के कामो म उडाने की आशका पैदा हो जाती है, अथवा चोरों, डकैतों द्वारा हरण किये जाने या सरकार द्वारा करो के माध्यम से खींचे जाने का खतरा पैदा हो जाता है। इसलिए उस बढे हुए धन को भी दोनो हाथों से झटपट दान दे देना ही बुद्धिमानी का काम है।

दानवीर जगडूशाह

युग बीत गये, सदियाँ व्यतीत हो गईं लेकिन जगडूशाह का अपने हाथो से किया दान आज भी अपनी असाधारण विशेषताओ के कारण इतिहास का प्रेरक सत्य बना हुआ है। एक बार ५ वर्ष का भयकर दुष्काल पडा। लाखो पशु भूख से मर गये। हजारों मनुष्य अन्न के दाने दाने के लिए तरस कर प्राण छोड बैठे। मानव-करुणा से प्रेरित होकर जगडूशाह नामक जैन श्रावक ने गाँव-गाँव में ११२ दानशालाएँ खोल दी। बिना किसी भेदभाव के भूखों को अन्न दिया जाने लगा। जगडूशाह स्वय दानशाला म बैठकर अपने हाथो से दान दिया करते थे। वे धन को अपना न समझ कर, समाज की धरोहर समझते थे। और उनका यह दृढ विश्वास था कि घर में पैसा बढ़ने पर उसे दान के जरिये हाथो से निकाल देना ही बेहतर है इस कारण वे स्वय अपने हाथो से दान देने मे अपना अहोभाग्य समझते थे। जगडूशाह ने जब यह देखा कि उच्च घरानों के कुलीन व श्रेष्ठ व्यक्तियो को परिस्थितियों के बहाव ने दर-दर की ठोकरें खाने लायक बना दिया है, वे सामने आकर मागने मे या प्रत्यक्ष मे हाथ के नीचे हाथ करने म शरमाते हैं तो जगडूशाह ने दानमण्डप म एक पर्दा डलवा दिया। जगडूशाह उस पर्दे के भीतर बैठकर दान देता था। दान लेने वाला आकर बाहर से भीतर की ओर अपना हाथ फैला देता। जगडूशाह मागने वाले के हाथ पर से उसकी स्थिति का आकलन कर पर्दे की खिडकी में से चुपचाप उसके हाथ मे कुछ न कुछ रख देता था। किसको दे रहा है? कौन ले रहा है? न कुछ देखना और न कुछ पूछना! बिना किसी शोर शराबे के मौन जगडूशाह के दान की गगा बह रही थी। फूल की

महक की तरह जगडूशाह की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई। तत्कालीन राजा वीसलदेव ने भी दुष्काल के समय अपनी प्रजा को राहत पहुँचाने के लिए कुछ अन्न सत्र खोले थे, लेकिन अन्न के अभाव में वे शीघ्र ही बन्द हो गए। उसने जगडूशाह के उदार व निःस्पृह दान की बात सुनी। साथ ही यह भी सुना कि लेने वाले का मुंह देखे बिना और हाल पूछे बिना याचक को अपनी आवश्यकतानुसार पर्दे के पीछे बैठा हुआ वह अपने हाथ से दान दे देता है। इस बात की परीक्षा के लिए वीसलदेव एक भिखारी का वेष बनाकर जगडूशाह की दानशाला में पहुँच गया और पर्दे की खिड़की में से भीतर हाथ फैलाया। जगडूशाह ने उसके हाथ पर अपनी बहुमूल्य हीरे की अँगूठी निकालकर रख दी। बहुमूल्य हीरे की अँगूठी देखकर वीसलदेव आश्चर्य में डूब गए। उन्होंने अपना दूसरा हाथ भीतर फैलाया तो जगडूशाह ने अपनी दूसरी अँगूठी भी रख दी। राजा वीसलदेव दोनों अँगूठियाँ लेकर अपने राजमहलों में पहुँचे। दूसरे दिन उन्होंने जगडूशाह को बुलाया। जगडूशाह आए तो वीसलदेव ने पूछा—"शाहजी ! सुना है, तुम दान देते समय किसी का चेहरा नहीं देखते और न किसी से पूछते हो ?"

जगडूशाह—'हाँ, महाराज ! इसके लिए चेहरा देखने और पूछने की क्या जरूरत है ? मैं सिर्फ मानव का हाथ देखकर ही दान देता हूँ, उसकी अपनी आवश्यकता और स्थिति के अनुसार।'

वीसलदेव—'तो क्या तुम हस्त सामुद्रिक शास्त्र जानते हो ?'

जगडूशाह—'महाराज ! हस्तरेखाएँ पढ़ लेना ही सामुद्रिक नहीं है। हाथ की बनावट, सुकुमारता आदि अपने आप याचक का परिचय दे देते हैं, और उसी के अनुसार मैं दान कर देता हूँ। योग्यतानुसार रुपये वाले को रुपया और स्वर्ण मुद्रा वाले को स्वर्णमुद्रा मिल जाती है।'

राजा ने दोनों अंगूठियाँ दिखाते हुए कहा—'तुमने क्या समझ कर मुझे ये अंगूठियाँ दीं ?' जगडूशाह ने बड़ी संजीदगी से कहा—'यह हाथ देखा तो मैंने सोचा कि कोई उच्च खानदान का व्यक्ति है। संकट का मारा यहाँ मांगने आया है, तो इसे इतना दे दिया जाय कि दुबारा न आना पड़े, आवश्यकता की पूर्ति हो जाये।' राजा वीसलदेव ने जगडूशाह की उदारता, निःस्पृहता और अपने हाथ से दान देने कि वृत्ति देखी तो बहुत ही प्रसन्नता प्रगट की। उसने जगडूशाह का बहुत सम्मान किया और हाथी पर बिठाकर ससम्मान घर भेजा।

वास्तव में जगडूशाह ने अपने हाथों से दान देकर हाथों को सार्थक कर लिया हाथों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया, उसने अपने उपभोग के लिए कम से कम इस्तेमाल करके दूसरों को देने में ही हाथों का उपयोग किया। उन्हीं हाथों से विपुल द्रव्य कमाया और उसे हाथ का मैल समझ कर उन्हीं हाथों से गरीबों, असहायों, जरूरत-

मन्दों और असमर्थों को बिना किसी नामना-कामना और प्रसिद्धि के दान दिया। वैदिक ऋषि की वह महान् उक्ति जगडूशाह ने चरितार्थ कर दिखाई—

'अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः'

—'मेरा यह हाथ भगवान है और यह हाथ भगवान् से भी बढ़कर है।'

भगवान् से बढ़कर हाथ तभी होता है, जब उस हाथ को तीर्थंकर भगवान् के हाथ से ऊपर रखा जाय। यानी, उस हाथ से सतत दान दिया जाय। जब दान दिया जायगा, तभी तो हाथ भगवत्तर बनेगा।

किन्तु जो इन हाथों से अपनी सम्पत्ति का दान नहीं करता, धन जोड़-जोड़ कर रखता है, वह भगवान् बनने के बदले मरकर कुत्ता बनता है। अंग्रेजी में ईश्वर को god (गॉड) कहते हैं, किन्तु जब ईश्वरीय कार्य से उलटा कार्य करता है तो गॉड का उलटा dog (डॉग) हो जाता है, जिसका अर्थ होता है—कुत्ता।

एक जगह एक कुत्ता घर में घुसा। और ज्यों ही वह भोजन-सामग्री में मुंह लगाने लगा कि घर के मालिक की निगाह पड़ गई। उसने कुत्ते की कमर में जोर से लकड़ी मारी। लकड़ी की मार से कुत्ता कूं-कूं करके रोता-चिल्लाता हुआ बाहर निकला। उसे देखकर एक ज्ञानी सन्त ने कहा—

'अब क्यों रोवें कूतरे! माल बेगाना जोय।
थी जब हाथां दो नहीं, अब क्या रोया होय?
अब क्या रोयां होय, टूक जो मिले सो खाओ।
देख पराई चोपड़ी न तुम यों जी ललचाओ॥
कहे ज्ञानी संत तूने जब घणा दिया था धुत्ता।
जिससे मरकर हो गया, अब दर-दर का कुत्ता।"

सन्त की इस उक्ति में कितना कटु सत्य भरा हुआ है! कुत्ता जब मनुष्य था तब उसके दोनों हाथ दान देने लायक थे, तब उसने हाथों से दान देकर अपने हाथ सार्थक नहीं किये, इसलिए अब मरकर कुत्ता बना, जिससे न तो वैसे दान के योग्य हाथ मिले, न दान देने की बुद्धि मिली। मनुष्य जन्म में दान देकर वह गॉड बन सकता था, किन्तु दान न देने से वह मरकर डॉग बना।

हाथ की शोभा-दान

हाथ की शोभा दान से है। लोग कहते हैं कि हाथ तो आभूषणों से शोभा देता है, परन्तु जो हाथ दान नहीं देते, कोरे आभूषण पहनकर सजा कर रहते हैं, उन हाथों की शोभा इन बनावटी आभूषणों से नहीं होती। उनके हाथों की शोभा दान से है। दान ही हाथों का आभूषण है। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

'हस्तस्य भूषणं दानं सत्यं कण्ठस्य भूषणम्।
श्रोत्रस्य भूषणं शास्त्रं, भूषणैः किं प्रयोजनम्?'

—हाथ का आभूषण दान है, कंठ का आभूषण सत्य है और कान का आभूषण शास्त्र है। ये आभूषण हों तो, दूसरे बनावटी आभूषणों से क्या प्रयोजन है?

जिसके हाथ से सतत दान का प्रवाह जारी हो, उस हाथ के लिए दान ही आभूषण रूप बन जाता है। ऐसे व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व या सौन्दर्य के प्रदर्शन के लिए सोने-चाँदी के आभूषणों की जरूरत नहीं पड़ती।

बंगाल में सतीशचन्द्र विद्याभूषण एक महान् दार्शनिक और लेखक हो गये हैं। एक दूर के यात्री ने उनकी प्रशंसा सुनी और वह उनके घर पहुँचा। असल में, वह आगन्तुक उस महान् दार्शनिक की माता के दर्शन करने आया था और यह भावना लेकर आया था कि उस आदर्श माता के दर्शन पाकर अपने नेत्रों को सफल करूँ, जिसकी ममतामयी गोद में विद्याभूषण का जीवन प्रकाशमान बना है।

परन्तु वहाँ पहुँच कर उसने देखा तो हक्का-बक्का रह गया। पहले तो वह कल्पना भी नहीं कर सका कि क्या यह महिला उस विश्व विश्रुत दार्शनिक की माँ हो सकती है? परन्तु पूछने पर मालूम हुआ कि—यही उस प्रतिभासम्पन्न पुत्र की माता हैं, जो अति साधारण वस्त्र पहने हुए हैं और जिसके हाथों में पीतल के कड़े शोभायमान हैं। फिर भी वह सहसा अपने कानों पर विश्वास नहीं कर सका कि एक ऐश्वर्य-सम्पन्न पुत्र की माता इस दरिद्रावस्था में रहती है? क्या पुत्र अपनी माता की जरा भी परवाह नहीं करता? इस प्रकार कई तरह की कल्पनाएँ चलचित्रों की तरह घूम गईं। अन्ततः उसने सोचा कि जरा देखूं तो सही, दोनों का स्नेह कैसा है? बात करने पर उसे अनुभव हुआ कि दोनों में प्रगाढ़ स्नेह है। माता अपने पुत्र की प्रशंसा करते हुए गद्गद हो उठी। उसके मन का कण-कण नाच उठा।

आखिर आगन्तुक अपना कोई अन्य समाधान न पाकर पूछ बैठा—आप ऐश्वर्यसम्पन्न सतीशचन्द्र की माँ होकर भी पीतल के कड़े पहनी हुई हैं। यह आपके लिए, आपके सतीश के लिए तथा बंगाल के लिए गौरव की चीज नहीं है।"

सतीश की माँ ने कहा—'तुमने मुझे परखने में भूल की है। मेरा गौरव इसमें नहीं है कि मैं सोने के आभूषणों के बोझ से लदी फिरूं। मेरा हाथ सोने के गहनों से नहीं वह तो मुक्तहस्त से दान देने से ही सुशोभित होगा। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि—जब बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा था। मनुष्य भूख से छटपटा कर मर रहे थे। बहुत-से आदमियों के लिए अन्न का दाना भी नहीं मिल रहा था। ऐसी विकट परिस्थिति में सतीश के दान ने, जो मेरे इन्हीं हाथों द्वारा दिया गया था, सारे बंगाल में नवजीवन फूंक दिया। अतः मेरे हाथों की शोभा इन कृत्रिम आभूषणों को पहन कर वैभव-प्रदर्शन करने में नहीं है, अपितु बंगाल के दुःखितों और पीड़ितों को इन हाथों से दान देकर सेवा करने में है। हाथ का आभूषण दान है, गहने नहीं।'

हाँ, तो सतीशचन्द्र विद्याभूषण की माता के जीवन में 'हस्तस्य भूषणं दानम्'

हाथ का आभूपण या हाथ की शोभा दान है' यह उक्ति चरितार्थ हुई थी। दान ही इन करकमलो मे यश की सौरभ भर सकता है, जीवन की सहज स्फूर्त दानवृत्ति ही हाथ को वास्तविक चमक-दमक और शोभा प्रदान कर सकती है।

बहनों को सोने और चादी के आभूपण बहुत प्रिय होते हैं। वे गहनों को सौन्दर्य प्रसाधन की चीज समझती हैं, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो जीवन क वास्तविक सौन्दर्य का प्रसाधन इन कृत्रिम आभूपणो से नही, दान से ही होता है। दान जब मानव के हृदय का हार बन जाता है हाथों का उदार अनुष्ठान हो जाता है, दु खितो के प्रति आत्मीयता और सहानुभूति का कर्णफूल बन जाता है, तब दूसरे आभूपणो की जरूरत नही रहती। वे ही उनके वास्तविक आभूपण बन जाते हैं।

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भोजन कर रहे थे। उस समय एक अतिथि याचक उनके द्वार पर आया। ईश्वरचन्द्र दानशील तो थे, मगर उस समय उनके पास कुछ भी नही था। उन्होने अपनी मा से कहा—"माता जी! बाहर कोई याचक आया है, आप अपनी चूडी दे दें, ताकि मैं उसे गिरवी रखकर कुछ रूपय लाकर उसे दे दूँ, और विदा करूँ।"

माँ—'बेटा! तू तो मरे सभी गहने निकलवा कर ही रहेगा।'

ईश्वरचन्द्र—'माँ! बडा होऊँगा, तब तुम्हारे सभी गहने बनवा दूँगा।'

ईश्वरचन्द्र की माँ ने सोने की चूडी निकालकर उन्हे दे दी। ईश्वरचन्द्र ने वह चूडी किसी के यहाँ गिरवी रखी और कुछ रुपये लेकर आए, और उस याचक को देकर सन्तुष्ट किया।

माँ ने घर आने पर ईश्वरचन्द्र से पूछा—'बेटा! उस याचक का दुःख दूर हुआ?'

ईश्वरचन्द्र—'हाँ, माताजी, यह सन्तुष्ट होकर गया।'

माता ने कहा—'बेटा! दान ही सच्चा गहना है। सोने के गहने की अपेक्षा दानरूपी आभूपण से जीवन की शोभा अधिक बढ़ती है।

गहनों के बारे में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की माता के जो विचार थे, वे ही विचार धीरे धीरे अवस्था परिपक्व होने के साथ ईश्वरचन्द्र के बन गए। वे आभूपण की अपेक्षा दान को अधिक महत्त्व देते थे। जैसा बेटा था, वैसी ही उसकी माँ थी।

सचमुच, सच्चा आभूपण दान है, जिससे जीवन सर्वांगीण रूप से अलङ्कृत हो उठता है।

जो व्यक्ति यह समझता है कि आभूपणों से शरीर की सुन्दरता बढती है, वह भ्रम मे है। क्योकि आज आभूपण जिन्दगी के लिए खतरा बन गया है। आभूपण से सौन्दर्य वृद्धि तो बाद म होगी, गरीब लोगो में द्वेष और ईर्ष्या की वृद्धि तो पैदा हो ही जाएगी। जिसका परिणाम होगा—पारस्परिक कटुता, संघर्ष और छीना-

सकती। इसलिए आभूषण बनवाने की अपेक्षा दान के द्वारा जीवन के वास्तविक सौन्दर्य में वृद्धि करनी चाहिए। उससे विषमता मिटेगी, अमीर-गरीब का भेद मिटेगा, और गरीब एवं पीड़ित लोगों में दानी लोगों के प्रति सच्ची सहानुभूति और आत्मीयता पैदा होगी। महात्मा गाँधीजी मानव-मानव के बीच विषमता की इस दीवार को मिटाने के लिए कृतसंकल्प थे। वे जहाँ भी जाते, बहनों को हरिजनों के लिए गहने दान दे देने की प्रेरणा किया करते थे। वे समझते थे कि इन कृत्रिम आभूषणों का परित्याग कर देने से हरिजनों और सवर्णों के बीच जो खाई है, वह पट जाएगी। दोनों में एक-दूसरे के प्रति सद्भावना पैदा होगी। और दोनों मिलकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए लड़ सकेंगे।

एक बार गांधीजी जब त्रिवेन्द्रम् में थे, तो एक १७ वर्षीय लड़की उनके दर्शनों के लिए आई। गांधीजी ने उससे पूछा—'तुम कौन हो?' उसने कहा—'मैं एक छोटी-सी लड़की हूँ।"

'पर एक छोटी-सी लड़की का इन गहनों से क्या प्रयोजन है?" गांधीजी ने उसके शरीर पर बहुत-से जेवर लदे हुए देखकर कहा।

मीनाक्षी ने जवाब दिया—"मैं चाहती हूँ कि ऐसी ही छोटी-सी लड़की बनी रहूँ।"

गांधीजी ने कहा—'तब तो तुम्हें गहने नहीं पहनने चाहिए। देखो, कौमुदी तो तुमसे एक वर्ष छोटी है, १६ साल की है, तो भी उसने तमाम गहने उतार कर मुझे दे दिये।'

मीनाक्षी की आँखें चमक उठीं। उसने कहा—'तो मैं भी अपने सारे गहने उतार कर दे देना चाहती हूं।'

गांधीजी—'तुमने अपने माता-पिता की आज्ञा तो ले ली है न?'

मीनाक्षी—'आज्ञा तो मिल ही जाएगी।'

गांधीजी—'मैं जानता हूँ मलाबार-कन्या स्वतन्त्र प्रकृति की होती है। इसलिए तुम्हें विश्वास हो तो हरिजनों के लिए मुझे ये गहने दे दो। मैं तुम्हें इस पर सोचने और अपने माता-पिता से परामर्श करने के लिए एक रात का समय देता हूँ। दूसरे दिन मीनाक्षी अपने माता-पिता के साथ गांधीजी के पास आई और उन्हें अपनी सोने की चूड़ी और गले का हार दो चीजें उतार कर दे दीं। इसके बाद मीनाक्षी ने आजीवन गहनों को न छूने की प्रतिज्ञा कर ली। गांधीजी ने उसकी माँ से आशीर्वाद देने को कहा तो पहले कुछ आनाकानी की, लेकिन बाद में समझाने पर उसने भी मीनाक्षी को आशीर्वाद दे दिया। उस समय का दृश्य बड़ा हृदयद्रावक था। गाँधीजी ने मीनाक्षी के आभूषणत्याग की प्रशंसा करते हुए कहा—'ईश्वर करे, कौमुदी और

मीनाक्षी का यह आदर्शत्याग प्रकाशरूप होकर उस अज्ञानान्धकार को हटाने में हमारा सहायक हो, जो अस्पृश्यता जैसे महापाप का अस्तित्व बनाए हुए हैं।'

इससे यह समझा जा सकता है कि महात्मा गांधीजी कृत्रिम आभूषणों की अपेक्षा दानरूप आभूषण अपनाने की प्रेरणा महिला समाज को सतत देते रहते थे। इसीलिए नीतिकार ने इस बात का स्पष्ट रूप से समर्थन किया है—

दानेन पाणिर्नतु कंकणेन

—'हाथ दान से सुशोभित होते हैं, कंकण से नहीं।'

जो महिला इस बात को हृदयगम कर लेती है, वह सतीशचन्द्र विद्याभूषण की या ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की माता की तरह अपने हाथों से मनचाहा दान देकर हाथ की ही नहीं, जीवन की शोभा बढ़ाती है। ऐसी गृहलक्ष्मियों के हाथ सदा दानरत रहते हैं, वे सदैव दीन-दुखियों के आंसू पोंछती रहती हैं, और उनकी मूक आशीषें प्राप्त करती हैं। दान से नवनीत-सा कोमलता जैसे उनके हृदय मे हो जाती है, वैसे ही उनके हाथों मे भी कोमलता हो जाती है। दुखित जनों को देखकर उनकी आँखें दयार्द्र हो जाती हैं उनके कान सदैव ऐसे दीन-हीनों की पुकार सुनने को उत्सुक रहते हैं, और उनके पैर भी उन दीन दुखियों के दुख निवारण के लिए दौड पडते हैं।

संस्कृत साहित्य म माघकवि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भारत के इने गिने संस्कृत कवियों मे वे माने जाते हैं। उनकी कविता की भाँति उनकी उदारता की जीवनगाथाएँ भी बड़ी मूल्यवान हैं। उन्हे कविता से लाखो का धन मिलता था, लेकिन उनका यह हाल था कि इधर आया, उधर दे दिया। अपनी इस दानवृत्ति के कारण वे जीवनभर गरीब रहे। कभी-कभी तो ऐसी स्थिति आ जाती कि आज तो है, कल के लिए नहीं रहेगा। अत उन्हे भूखे ही सोना पडता था। ऐसी स्थिति मे, भी माघकवि यही कहा करते थे—'माघ का गौरव पाने मे नहीं, देने मे है।'

एक बार वह अपनी बैठक मे बैठे थे। जेठ की सख्त गर्मी मे, दोपहर के समय एक गरीब ब्राह्मण उनके पास आया। माघकवि अपनी कविता का संशोधन करने मे मग्न थे। ज्योंही ब्राह्मण नमस्कार करके इनके सामने खड़ा हुआ, इनकी दृष्टि उस पर पड़ी। उसके चेहरे पर गरीबी की छाया, थकान और परेशानी झलक रही थी। कवि ने ब्राह्मण से पूछा—'कहो भैया! एसी धूप मे आने का कष्ट कैसे किया?'

ब्राह्मण—'जी, और तो कोई बात नहीं, मैं एक आशा लेकर आपके पास आया हूँ। मेरे एक कन्या है, वह युवती हो गई है, उसका विवाह करना है, परन्तु साधन पास म कुछ भी नहीं है। अर्थाभाव के कारण उद्विग्न हूँ। आपका नाम सुनकर बड़ी दूर से चला आ रहा हूँ।'

माघकवि ब्राह्मण की अभ्यर्थना सुनकर विचार मे पड गए। यह स्वाभाविक

ही था, क्योंकि उस समय उनके पास एक जून खाने को भी नहीं बचा था। मगर गरीब ब्राह्मण आशा लेकर आया है, अतः कवि की उदार प्रकृति से रहा नहीं गया। उन्होंने ब्राह्मण को आश्वासन देते हुए कहा—'अच्छा भैया ! बैठो, मैं अभी आता हूँ।' यों कहकर वे घर में गए। इधर-उधर देखा, पर वहाँ देने योग्य कुछ भी न मिला। कवि के हृदय में पश्चात्ताप का पार न था। सोचा—'माघ ! क्या तू आए हुए याचक को खाली हाथ लौटाएगा ? इसे तेरी प्रकृति सह नहीं सकती। पर क्या किया जाय? कुछ हो भी तो देने को ?' माघ विचार में डूबे इधर-उधर देख रहे थे। कुछ उपाय नहीं सूझता था। आखिर एक किनारे सोई हुई पत्नी की ओर उनकी दृष्टि गई। उसके हाथों में कंगन चमक रहे थे। सम्पत्ति के नाम पर यही कंगन उसकी सम्पत्ति थे। माघ ने सोचा—'कौन जाने, माँगने पर दे, या न दे शायद इन्कार कर दे। इसके पास यह ही तो आभूषण बचा है। अतः अच्छा अवसर है, चुपचाप निकाल लिया जाय।'

माघ दो कंगनों में एक को निकालने लगे। कंगन सरलता से निकला नहीं और जब जोर लगाया तो थोड़ा झटका लग गया। इससे पत्नी की निद्रा भंग हो गई। वह चौंक कर उठी और पति को सामने खड़े देखकर बोली—'आप क्या कर रहे थे ?'

माघ—'कुछ तो नहीं, यों ही कोई चीज ढूंढ़ रहा था।'

पत्नी—'नहीं, सच कहिए। मेरे हाथ के झटका किसने लगाया ?'

माघ—'मैंने ही लगाया था।'

पत्नी—'तो आखिर बात क्या है ? क्या आप कंगन निकालना चाहते थे ?'

माघ—'हाँ, तुम्हारी बात सही है ?

पत्नी के द्वारा कारण पूछे जाने पर उन्होंने कहा—'एक गरीब ब्राह्मण कभी से आशा लगाए द्वार पर बैठा है।'

मैंने देखा—घर में कुछ भी नहीं है, जो उसे दिया जा सके। इतने में तुम्हारा कंगन नजर आ गया। यही खोलकर मैं उसे दे देना चाहता था। मैंने तुम्हें जगाया इसलिए नहीं कि शायद तुम कंगन देने से इन्कार कर दोगी।'

पत्नी—'तो आप चोरी कर रहे थे न ?'

माघ—'हाँ, बात तो ऐसी ही थी। पर करता क्या, और कोई चारा ही नहीं था।'

पत्नी—'मुझे आपके साथ रहते इतने वर्ष हो गए, लेकिन मालूम होता है, आप मुझे पहचान न सके। आप तो एक कंगन की सोच रहे थे, कदाचित् मेरा सर्वस्व ले जाते तो भी मैं इन्कार नहीं करती, तुरन्त दे देती। अब एक काम करिए। मैंने नीतिकार के वचन सुने हैं कि हाथ की शोभा दान से है, कंकण से नहीं।' अतः उसे

भेजिए यहाँ यह कंगन मैं अपने हाथ से उस ब्राह्मण को दूंगी, जो मुसीबत में पड़ा हुआ है।'

और माघ ने झट से बाहर आकर उस ब्राह्मण को अन्दर बुलाया और कहा —"देखो! मेरे घर में इस समय और कुछ नहीं मिल रहा है, जो आपको दे सकूं। यह एक कंगन है, जो आपकी पुत्री हाथ में पहिनी हुई थी, उसी की ओर से मैं आपको यह भेंट कर रहा हूँ। मेरे पास देने को कुछ भी नहीं है।' ब्राह्मण सुनकर गद्गद हो गया। उसने वह कंगन ले लिया और आशीर्वाद देता हुआ हर्षित होकर चला गया।

भारतवर्ष में ऐसी भी बहनें हुई हैं, जिन्होंने अपनी मुसीबत के समय भी आशा लेकर घर पर आए हुए किसी याचक को खाली हाथ नहीं लौटाया। मानो उनका जीवनसूत्र बन गया था—'दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।' निःसंदेह दान हाथ का आभूषण है, वही हाथ को सुशोभित करता है। और उसी शोभा से मनुष्य की अन्तरात्मा प्रसन्न होती है, आनन्दविभोर होती है। आनन्द का सच्चा स्रोत दान की पर्वतमाला से ही प्रवाहित होता है।

दान : कल्याण का द्वार

दान रूप कल्पवृक्ष के हजारोंहजार शुभ फल लगते हैं, जिनका कुछ वर्णन पिछले पृष्ठों में किया गया है।

प्रारम्भ में ही यह बताया जा चुका है कि दान मोक्ष का द्वार है, कल्याण का कोष है, धर्म, सम्यक्त्व और आनन्द की प्राप्ति का राजमार्ग है।

दान से सम्यक्त्व, जो मोक्ष प्राप्ति का मूल मन्त्र—बीज मन्त्र है, उसकी प्राप्ति होती है, लौकिक और पारलौकिक अगणित सुख-वैभव का खजाना खोलने के लिए दान ही वह दिव्य चाबी है। धर्म रूप महल का शिलान्यास दान से ही होता है।

दान से सम्यक्त्व की उपलब्धि

आगम साहित्य का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि दान के दिव्य प्रभाव से ही प्रायः महापुरुषों को सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई है। कोई कह सकता है कि जैन सिद्धान्त के तत्त्व की दृष्टि से सम्यक्त्व का कारण आत्मा के शुद्ध परिणाम हैं, और दान एक क्रिया है, उसका सम्यक्त्व से क्या सम्बन्ध है? इसलिए दान को सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण मानना ठीक नहीं है। हाँ, यह बात ठीक है कि सम्यक्त्व का सम्बन्ध आत्मा के शुद्ध परिणामों से है, लेकिन वे परिणाम भी किसी न किसी निमित्त को लेकर ही होते हैं, कई जीवों के परिणाम ऐसे भी होते हैं, जिनमें कोई बाह्य निमित्त नहीं होता। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यग्दर्शन दो प्रकार का बताया है—

'तन्निसर्गादधिगमाद् वा'

वह सम्यग्दर्शन निसर्ग (स्वभाव) से तथा अधिगम (गुरु का उपदेश, शास्त्र या अन्य किसी वस्तु के निमित्त) से होता है। जहाँ सम्यग्दर्शन पूर्वजन्म के संस्कारवश स्वाभाविक रूप से होता है, वहाँ तो कोई बात ही नहीं, पर जहाँ किसी न किसी महापुरुष के उपदेश आदि निमित्त को लेकर सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ दान सम्यग्दर्शन का मुख्य बहिरंग कारण बनता है। दान के निमित्त से किसी न किसी महापुरुष से उपदेश, प्रेरणा या बोध प्राप्त होता है। दान महापुरुषों के निकट लाने का एक बहुत बड़ा माध्यम है। क्योंकि जैन श्रमण आहारादि दान के सिवाय और किसी सेवा

की अपेक्षा प्राय: गृहस्थ श्रावक से नहीं रखते। इसलिए दान ही एक ऐसा प्रबल माध्यम है, जिससे महापुरुषों का सम्पर्क होता है, और सम्पर्क होने पर सरल और नम्र आत्मा रूपी क्षेत्र में बोधि बीज (सम्यक्त्व बीज) पड़ते देर नहीं लगता। इसलिए दान सम्यक्त्व की उपलब्धि में एक महत्त्वपूर्ण निमित्त है।

भगवान् महावीर को सर्वप्रथम 'नयसार' के भव में सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई थी। नयसार वन विभाग का अधिकारी था। कोई कहते हैं—चोट्टपाल (कोतवाल) था। एक बार नयसार जगल में लकड़ियाँ इकट्ठी करा रहा था। तभी एक उत्तम साधु आते हुए दिखाई दिए। वे मार्ग भूल गए थे और इधर-उधर भटकते हुए अनायास ही वहाँ आ पहुँचे थे। नयसार ने जब उन्हें दूर ही से देखा, उसके सरल और स्वच्छ हृदय में महामुनि के प्रति सद्भावना जगी, वह सामने गया और उन्हे वन्दन-नमन करके कहा—"पधारो मुनिराज ! हमारे डेरे पर।"

मुनिवर बोले—"भाई ! मुझे अमुक नगर में जाना था, परन्तु मैं रास्ता भूल गया हूँ। रास्ता ढूंढते-ढूंढते समय भी काफी हो चुका है, मगर अभी तक उसका पता नहीं लगा है।"

पर गुरुदेव ! भिक्षा लिये बिना आपको कैसे जाने दूँ। आप थके हुए भी है, भूखे भी हैं, इसलिए आप हमारे डेरे पर पधारें। आपके योग्य सात्त्विक आहार-पानी तैयार है। आप उसे स्वीकारें और सेवन करें।" नयसार की हार्दिक भक्ति और धर्म स्नेहपूर्वक आग्रह देखकर मुनिवर उसके डेरे पर पधारे। नयसार ने मुनिवर को पवित्र एवं उत्कट भावो से आहार-पानी दिया। मुनिराज ने आहार किया, कुछ देर विश्राम किया और पुन. विहार करने को तैयार हुए। नयसार उन्हें दूर-दूर तक रास्ता बताने को साथ में गया। मुनिराज ने भी एक वृक्ष के नीचे कुछ देर विश्राम लेकर नयसार को श्रेयमार्ग का सक्षिप्त उपदेश दिया। तृषित चातक की तरह उसने उपदेशामृत का पान किया। इस उपदेश से वस्तुतत्त्व का बोध हो गया। और भावी जीवन सुन्दर और उन्नत बनाने के लिए सम्यक्त्व का बीजारोपण हो गया।

इस प्रकार दान के प्रबल निमित्त से भगवान महावीर को नयसार के जन्म में सर्वप्रथम सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई।

इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव को भी धन्नाश्रेष्ठी के भव में दान से सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई।[1]

---

१ आवश्यक निर्युक्ति (गा. १६८) इस बात की साक्षी है—
धण सत्थवाह घोसण, जइगमण, अडविवास ठाणं च।
बहु वोलीणे वासे, चिन्ता घयदाणमासि तया।

इसी प्रकार कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र और भी अधिक स्पष्ट रूप से कहते हैं—

'उस समय धन्ना सार्थवाह (ऋषभदेव के पूर्व भव के जीव) ने साधु-सन्तों को दान देने के प्रभाव से मोक्षतरु के बीजरूप सुदुर्लभ बोधि बीज (सम्यक्त्व) प्राप्त किया।'[1]

आवश्यक भाष्य भी इसी बात को स्पष्ट करता है—

दाणऽन्नपंथनयणं, अणुकंप गुरुण कहण समत्तं।

—धन्ना सार्थवाह ने मुनिवर को दान दिया, उन्हें सही मार्ग पर ले गया। गुरुदेव ने अनुकम्पा लाकर उन्हें उपदेश दिया, जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

इससे यह जाना जा सकता है कि दान मोक्ष का द्वारपाल है। मोक्ष का प्रथम द्वार सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व को प्राप्त कराना दानरूपी द्वारपाल के हाथ में है। मनुष्य अगर महापुरुष बनना चाहता है तो किसी महापुरुष—साधुसन्त को दान देना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्र में बताया है—

—'मुनिवरों के दर्शनमात्र से दिन में किया हुआ पाप नष्ट होता है, तो फिर जो उन्हें दान देता है, उससे जगत् में कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो प्राप्त न हो। यहाँ तक कि सम्यक्त्व की उपलब्धि भी दान के निमित्त से प्राप्त होती है।'[2]

पद्मनन्दिपंचविंशति में इस सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत किया है—

—'जगत् में जिस आत्मस्वरूप के ज्ञान से शुद्ध आत्मा के पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, वह आत्मा (परमात्मा) का बोध (ज्ञान) गृह में स्थित मनुष्यों को अकसर कहाँ प्राप्त हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। किन्तु चार प्रकार के दान से, तथा पात्र के आनुषंगिक फल रूप यह आत्म-बोध (सम्यक्त्व) सहज रूप से ही प्राप्त हो जाता है।'[3]

दान से अपरिमित सौख्य-सामग्री

दान से व्यक्ति सभी प्रकार के सांसारिक सुख, यही नहीं देवलोकों के सुख,

---

१ तदानीं सार्थवाहेन दानस्यास्य प्रभावतः।
लेभे मोक्षतरोर्बीजं बोधिबीजं सुदुर्लभम् ॥ —त्रिषष्टि० १।१।१४३

२ दंसणमित्तेण वि मुणिवराणं नासेइ दिणकयं पावं।
जो देई ताण दाणं तेण जए किं न सुविढत्तं ॥
—अभिधानराजेन्द्रकोष गा० १०३

३ प्रायः कुतो गृहगते परमात्म-बोधः,
शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः।
दानात्पुनर्ननु चतुर्विधतः करस्था,
सा लीलयैव कृतपात्रजनानुषंगात् ॥" —प० प० २।१५

समृद्धि और धनसम्पत्ति प्राप्त करता है। क्योंकि दान से पुण्यवृद्धि होती है और पुण्यवृद्धि के फलस्वरूप सभी प्रकार के सांसारिक सुखों की उपलब्धि होती है। बहुत से मनुष्य संसार में धन, उत्तम आज्ञाकारी पुत्र, अच्छा परिवार, अच्छा घरबार, अच्छे ढंग का व्यापार, या रोजगार, या अन्य सुसाधनों के लिए मारे-मारे फिरते हैं, रात-दिन तरसते रहते हैं, बहुत ही पुरुषार्थ करते हैं, ज्योतिर्विदो, मन्त्र-तन्त्र विशारदो चमत्कारियों, हस्तरेखाशास्त्रियों के दरवाजे खटखटाते हैं, धनिकों या कलाकारों अथवा शासनाधिकारियों की चापलूसी करते रहते हैं, फिर भी उन्हें उपर्युक्त सांसारिक सुख-सामग्री प्राप्त नहीं होती। और कुछ लोग ऐसे भी देखे जाते हैं, जिनके जरा-से प्रयास करने से लक्ष्मी की छनाछन हो जाती है, सुन्दर अनुकूल परिवार मिल जाता है, आज्ञाकारी विनयी सुपुत्र मिलते हैं, तथा अन्य सब सुख-सामग्री प्राप्त हो जाती है। इन दोनों के पीछे कौन-सा कारण है ? कारण है—दान न देना और मुक्तहस्त से दान देना। निष्कर्ष यह है कि दान ही एक ऐसा चामत्कारिक गुण है, जिसके प्रभाव से आकृष्ट होकर सभी सौख्यसामग्री मनुष्य के पास आ जाती है। रयणसार नामकग्रन्थ में पात्रदान का फल बताते हुए कहा है—

—'माता, पिता, मित्र, पत्नी आदि कुटुम्ब परिवार का सुख तथा धन, धान्य, वस्त्र-अलंकार, हाथी, रथ, मकान आदि से सम्बन्धित संसार का श्रेष्ठ सुख सुपात्र दान का फल है।[1]

पद्मनन्दिपंचविंशतिका में इसी बात का स्पष्टतः समर्थन किया गया है—

—'सौभाग्य, शूरवीरता, सुख, रूप, विवेक, बुद्धि आदि तथा विद्या, शरीर, धन, गृह, सुकुल में जन्म होना, यह सब निश्चय से पात्रदान के द्वारा ही प्राप्त होता है। फिर हे भव्यजनो ! इस पात्रदान के विषय में प्रयत्न क्यों नहीं करते ?[2]

दान के दिव्य प्रभाव से ही शालिभद्र ने दिव्य ऋद्धि एवं विपुल सम्पत्ति प्राप्त की। शालिभद्र का पूर्व जन्म का जीवन अत्यन्त दरिद्रता में बीता। बचपन में ही पिता चल बसे। जो कुछ जमीन या अन्य साधन था, सब बाढ़ आदि प्रकोप में समाप्त हो गया। माता धन्ना ग्वालिन बालक संगम को लेकर राजगृह चली आई।

---

१ मादु-पिदु-मित्त कलत्त-धण-धण्ण-वत्थु-वाहण-विसय।
संसारसारसोक्खं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥२०॥
सुकुल-सुरूव-सुलक्खण-सुमइ-सुसिक्खा-सुसील-सुगुणचारित्तं।
सुहलेसं सुहणाम सुहसादं सुपत्तदाणफलं ॥२१॥

२ सौभाग्य-शौर्य-सुख-रूप-विवेकिताद्या,
विद्या-वपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म।
सम्पद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात्,
तस्मात् किमत्र सततं क्रियते न यत्नः ॥४४॥

संगम का पालन-पोषण राजगृह में होने लगा। धन्ना आस-पास में धनिकों के घर के काम, सफाई, चौका-बर्तन, आटा पीसना, आदि कार्य करके अपना और बेटे का निर्वाह कर लेती थी।

उस समय आजकल की तरह मजदूरी अधिक नहीं मिलती थी। मजदूरी बहुत ही कम थी। इसलिए मुश्किल से माँ-बेटे का गुजारा चल पाता था। कुछ बड़ा हो जाने पर तो संगम भी कुछ धनिकों के गाय-बछड़ों को जंगल में चरा लाता था। फिर भी इतना अधिक पैसा नहीं मिल पाता था, जिससे कि कभी मिष्टान्न या खीर-पूड़ी आदि भी खा सके।

एक दिन कोई त्यौहार था। आस-पास के धनिकों के हमजोली लड़कों के साथ संगम प्रतिदिन की तरह खेलने गया। धनिकपुत्रों ने संगम से कहा—'आज तो हमारे यहाँ खीर बनेगी। बहुत स्वादिष्ट लगेगी। क्यों संगम ! तुम्हारी माँ आज क्या बनाएगी ?'

संगम ने खीर कभी देखी ही नहीं थी, खाना तो दूर रहा। अतः उसने पूछा—'क्यों मित्र ! खीर कैसे बनती है ? कैसी होती है ?'

बालकों ने बताया कि खीर सफेद होती है, दूध और चावल को पकाकर बनाई जाती है, उसमें मीठा डाला जाता है, और ऊपर से किशमिश, बादाम, पिस्ता आदि मेवे डाले जाते हैं, बहुत ही मधुर और स्वादिष्ट होती है।'

संगम के मन में खीर खाने की प्रबल इच्छा जागृत हो गई। उसे क्या पता था कि खीर के लिए पैसों का प्रबन्ध कैसे होगा ? घर में माँ के आते ही संगम ने कहा—'माँ ! आज तो हम खीर खाएँगे। खीर बनादे। सबके घरों में आज खीर बनेगी। हमारे यहाँ भी आज खीर ही बननी चाहिए।'

धन्ना एकदम सन्नाटे में आ गई। सोचने लगी—'मेरी कमाई तो इतनी है नहीं, बेटा खीर मांगता है। बेचारे ने कभी खीर खाई नहीं और आज ही पहली बार मांगी है। पर कहाँ से ला दूं ! मजदूरी तो बहुत ही कम मिलती है, इतने में तो हम दोनों का गुजारा भी मुश्किल से होता है। हाय ! वे दिन कैसे अच्छे थे। इसके पिता के रहते हम गांव में रहते थे, वहाँ दूध-घी की कोई कमी नहीं थी घर में। पर अब तो वे अच्छे दिन पलट गए। क्या करूँ, कहाँ खीर बना दूं ?' यों सोचकर धन्ना रोने लगी। संगम अपनी माँ को रोते देख उदास हो गया। पूछने लगा—'माँ ! तू रोती क्यों है ?' धन्ना ने संगम को संक्षेप में अपनी परिस्थिति समझाई और कहा कि 'फिर कभी खीर बनाएँगे, आज जाने दे।" पर संगम खीर के लिए मचल उठा। वह किसी भी तरह नहीं माना तो धन्ना यह कहकर चल दी कि अच्छा, मैं जाती हूँ, कहीं से मजदूरी करके खीर का सामान लाऊँगी।'

धन्ना की आँखों से आज सावन-भादों बरस रहा था। वह धनिकों के यहाँ सबकी परिचित थी। सेठानियाँ उसकी आँखों में आँसू देखकर पूछने लगीं—'धन्ना !

आज क्या हो गया है, तुम्हे ! तुम्हारी आँखो मे आँसू क्यो ? तुम्हें किस बात की चिन्ता है ? माँ-बेटा दो ही प्राणी तो हो घर मे ? क्या किसी का वियोग हो गया है ? धन्ना ने आँसू पोछते हुए कहा—'नही, सेठानिजी ! किसी का वियोग नहीं हुआ है लेकिन आज सगम खीर खाने के लिए मचल उठा है। कहने लगा—'खीर ही खाऊँगा, आज तो !' बताओ, मैं मेहनत-मजदूरी करने वाली स्त्री खीर कहाँ से ला दूँ ! गुजारा भी मुश्किल से चलता है।' 'इतनी-सी बात है ! इसमे क्यो तुम रो रही हो और क्यो अपने बच्चे को रुला रही हो ! ले जाओ खीर, हमारे यहाँ से बच्चे को दे देना और तुम भी खाना।' सेठानियो ने सहानुभूति बताते हुए कहा 'यों ले जाती, तब तो बात ही क्या थी ? मैं मुफ्त मे कोई चीज नहीं ले सकती मेरे हाथ पाँव चलते हैं, तब तक हमे मुफ्त मे लेने का अधिकार भी नही है। हम गृहस्थ हैं, गृहस्थ आमतौर पर मुफ्त मे लेने का आदी नहीं होता। अगर मैं मुफ्त मे चीज ले लूँगी, तो मेरे बच्चे मे मुफ्त म लेने की आदत पड जाएगी। मैं तो अपनी मेहनत से जो कुछ मिल जाय, उसी म ही अपना निर्वाह कर सकती हूँ।'

सेठानियाँ—'अच्छा ! बनी बनाई खीर नही लेती हो तो लो, हम तुम्हें चावल दूध और शक्कर आदि चीजें ला देती हैं। ये तो ले लो।'

धन्ना—'सेठानियो ! बिना मेहनत किये मैं किसी से कोई चीज मुफ्त मे नही ले सकती।'

सेठानियो ने कहा—'तो चलो, हम तुमसे घर का कोई काम करवा लेती हैं, उसके बदले मे तुम्हे चावल, दूध व शक्कर आदि चीजें दे देती हैं। फिर तो तुम खीर बनाओगी न अपने लाल के लिए।'

धन्ना न सेठानियों की बात मजूर कर ली और खीर बनाने का सामान लेकर घर पहुँची। घर पर सगम न देखा कि माँ खीर का सामान लेकर आई है तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। धन्ना न हडिया मे दूध गर्म करने को रखा और उसमे चावल एव मीठा डालकर जाने लगी। जाते जाते वह सगम से कह गई—मैं घरो म काम करके लगभग एक घण्टे मे आ जाऊँगी। जब खीर पक जाय तो हडिया नीचे उतार लेना और थाली में ठडी करके खा लेना। अच्छा, कर लेगा न ?' सगम ने स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया। और मा के चले जान के बाद खीर की हडिया के पास बैठ गया। खीर जब पक गई तो हडिया नीच उतार थाली में खीर परोस ली।

सगम अब खीर ठडी होने की प्रतीक्षा मे था, इतने मे ही मासिक उपवासी एक मुनि भिक्षा के लिए जा रहे थे। सगम ने मुनि को देखा तो उसके मन मे विचार आया कि ऐसे मुनियो को मैं सेठो के यहाँ अक्सर देखा करता हूँ, ये भिक्षा पर ही गुजारा करते हैं। तो आज मेरे यहाँ खीर बनी है, मै तो खा लूँगा, इनके पात्र मे पडेगी तो अच्छा है। वह उठकर अपनी कोठरी से बाहर निकला और मुनिवर को वन्दन-नमस्कार करके प्रार्थना की—'मुनिवर ! पधारो, मेरा घर पावन करो। मैं

आपको भिक्षा दूँगा।' मुनि ने संगम की भावना देखकर घर में प्रवेश किया और आहार के लिए पात्र रखा। संगम ने बहुत ही उत्कट भाव से मुनिराज के रोकते-रोकते सारी की सारी खीर उनके पात्र में उंडेल दी। आज संगम को मुनिराज को देने का बड़ा हर्ष था। बाद में थाली में जो खीर लगी बची थी, उसे वह चाटने लगा। उसको एक तरह से मानसिक तृप्ति थी। इतने में मां आई, बेटे को थाली चाटते देखकर वह समझी, बहुत भूख लगी होगी, इसलिए सारी खीर खा गया होगा। माता को कोई चिन्ता न थी, खुद को खीर न मिलने की। परन्तु संयोगवश उसी रात को संगम के उदर में अतिशय पीड़ा हुई और उसी में ही उसका शरीर छूट गया। अन्तिम समय में संगम की भावना बहुत अच्छी थी। इसलिए मरकर वह राजगृह नगर के अत्यन्त धनिक सेठ गोभद्र के यहाँ जन्मा। शालिभद्र नाम रखा गया। बहुत ही सुन्दर ढंग से उसका लालन-पालन हुआ। युवावस्था आते ही ३२ रूपवती कुलीन घर की कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। इसी बीच गोभद्र सेठ का स्वर्गवास हो चुका था। इसलिए शालिभद्र पर घर का सारा भार आ चुका था। परन्तु शालिभद्र इतना पुण्यशाली और सुख-सम्पन्न था कि घर का सारा कार्य माता भद्रा ही चलाती थी।

शालिभद्र को जो ऋद्धि, समृद्धि तथा सुख-सामग्री मिली वह सुपात्रदान का ही प्रभाव था।

किन्तु सुख-सामग्री मिलने के साथ यदि धर्म-बुद्धि न मिले तो वह जीव उस पौद्गलिक सुख में फँस जाता है। शालिभद्र को सुख-सामग्री के साथ तथा स्वर्गीय सम्पत्ति के साथ-साथ एक दिन धर्मबुद्धि पैदा हुई और तभी शालिभद्र ने चढ़ती जवानी में सारी सुख-सामग्री एवं पत्नियों को छोड़कर मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली।

यह था दान का चमत्कार जिसने संगम को दरिद्रावस्था में से उठाकर शालिभद्र के रूप में विपुल ऋद्धि एवं सुख-सामग्री से सम्पन्न बना दिया।

इसी प्रकार कयवन्ना सेठ को भी दान के प्रभाव से जहाँ भी जाता, सभी शुभ संयोग मिल जाते।

प्राचीन जैन कथा साहित्य को पढ़ने वाले और सुनने वाले जानते हैं कि दान के अचिन्त्य प्रभाव से अगणित आत्माओं ने सुख-सौभाग्य-समृद्धि-यश और आनन्द प्राप्त किया। विक्रम चरित्र में बताया गया है कि पृथ्वी को ऋणमुक्त करने वाले राजा विक्रमादित्य को स्वर्ण पुरुष की प्राप्ति हुई, जिसके बल पर कभी भी उसका खजाना खाली नहीं हुआ। उस स्वर्णपुरुष की प्राप्ति का कारण पूर्वभवों में दिया गया पात्र दान ही बताया गया है।[1]

दानी के हाथ का स्पर्श : मिट्टी सोना बन गई

जैन स्थापत्य कला को उच्च शिखर पर पहुँचाने वाले प्रसिद्ध जैन श्रावक

---

१ देखिए 'जैन कथाएँ' भाग २२ कथानक ८, पृष्ठ ४९

वस्तुपाल-तेजपाल गुजरात के राजा के महामन्त्री थे। दोनो भाई बड़े दानवीर, सप-, सेवक एव दु खियो के हमदर्द थे। इनके विषय मे कहा जाता है कि उन्हे दान के प्रभाव से ऐसा वरदान प्राप्त था कि जहाँ कही ठोकर मारते वही खजाना निकल आता।

इसी प्रकार मुर्शिदाबाद के जगत् सेठ भी बड़े दानपरायण थे। उनके विषय मे भी किंवदन्ती है कि वे जहाँ कही हाथ डालते, वही स्वर्णराशि पा लेते थे। एक बार वे नौका से नदी पार कर रहे थे, तभी किसी ने उनसे धन माँगा। उन्होने पानी मे हाथ फैलाकर मुट्ठी भरी कि जलधारा स्वर्णराशि बन गई। सम्भव है, इस कथन मे अतिशयोक्ति हो, परन्तु इतना जरूर है कि वे जिस क्षेत्र मे हाथ डालते, उसी मे वारे-न्यारे हो जाते थे। यह दान की महत्ता थी, जो जगत्सेठ को इस प्रकार की समृद्धि का वरदान मिला।

इन सबको देखते हुए नि सन्देह यह कहा जा सकता है कि दान से सम्पत्ति बढ़ती है सुख-सामग्री दान के बदले मे कई गुना अधिक प्राप्त होती है, दान देने वाला घाटे मे नहीं, नफे मे रहता है। बहुत-से लोग भ्रान्तिवश यह सोचा करते हैं कि दान दूंगा तो कगाल हो जाऊँगा। वास्तव मे दान से कगाली नहीं, खुशहाली बढ़ती है। कई दफा तो दान का चमत्कार यहीं का यहीं प्रत्यक्ष नजर आ जाता है, कई दफा परलोक मे प्राप्त होता है।

दान का हजार गुना फल

आकाश से पूर्णिमा का चन्द्रमा गरीब-अमीर के भेदभाव के बिना सर्वत्र चाँदनी छिटका रहा था। गरीबो के मोहल्ले मे कुछ दुःखी गरीब इकट्ठे होकर चर्चा कर रहे थे। चर्चा का विषय था—इस नगर मे सर्वश्रेष्ठ दाता कौन है? एक ने कहा—"अमुक सेठ दानियो का अवतार है। उसके यहाँ से कोई भी खाली हाथ नही लौटता। भोजन करने वाले थक जायें, पर इसके हाथ खिलाते हुए नही थकते।' दूसरे ने कहा—'अमुक सेठ का तो कहना ही क्या? यह तो राजा कर्ण का अवतार है। देने लगता है, तब जेब मे हाथ डालने पर मुट्ठी मे जो भी आए नि सकोच दे देता है। धन्य है, इसके माता-पिता को।

तीसरा बोला—'ये सब कर्ण के अवतार हैं सही, पर अपने गाँव मे धर्मवीर सेठ हठीभाई तो पारसमणि हैं। इन्हें कोई लोहा स्पर्श कराए तो, उसका सोना बन जाता है। ऐसे मे औढरदानी हैं। इनके एक बार के दान मे बन्दे का बेड़ा पार हो गया। कलियुग मे ऐसे दाता न हुए, न होंगे।'

दरिद्रो की इस बस्ती मे रहने वाली सतारा नाम की बुढिया के कान मे ये अन्तिम वाक्य पड़े। उसका इकलौता लड़का इलाज के अभाव मे रुग्णशय्या पर पड़ा तड़फ रहा था। पास मे पैसा था नही कि इलाज करा सके। बुढ़िया स्वय उसी पुत्र की आशा से जी रही थी। यो तो कहीं जाने की शक्ति बुढ़िया के शरीर मे नहीं रही

थी, किन्तु इन वाक्यों को सुनते ही बुढ़िया के दिल में आशा का संचार हुआ। उसने सारी शक्ति बटोर कर हाथ में लठिया ली और दूसरे हाथ में लोहे का टुकड़ा लेकर हाँफती, श्वास लेती, धीरे-धीरे लड़खड़ाती सेठ की हवेली पर पहुँची। विचारमग्न सेठ के दाहिने पैर से ज्योंही वह लोहे का टुकड़ा छुआया गया, त्यों ही सेठ एकदम चौंक उठे। बुढ़िया की यह विचित्र चेष्टा देखकर सेठ ने जरा नाराज होकर पूछा—'बुढ़िया माँ जी! यह क्या कर रही हो?'

बुढ़िया बोली—'मैंने सुना है कि आप पारसमणि हैं। आपके स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है। माफ करना, खुदा के वास्ते, मैं गरीब अभागिनी हूँ। जरूरतमंद हूँ। मुझमें ताकत नहीं है। इसी से आपके दरवाजे पर आई हूँ, लोहे का सोना बनाने के लिए। मेरा गुनाह माफ करना।'

सेठ ने बुढ़िया पर एक करुण दृष्टि डाली—निस्तेजित चेहरा, पीड़ा से भरी आँखें, मुख पर से टपकता आलस्य! यह सब देखते ही सेठ का हृदय करुणार्द्र हो गया। सेठ ने बुढ़िया से वह लोहे का टुकड़ा ले लिया और कहा—'माँजी! जाओ, जरा चबूतरे पर बैठ जाओ।' किन्तु बुढ़िया का साहस न हुआ। वह शान्त खड़ी-खड़ी तमाशा देखती रही। मन में अन्तर्द्वन्द्व चलने लगा। सेठ ने मुनीम को बुलाकर, वह लोहे का टुकड़ा तुलवाया तो पूरे २५ तोले का निकला। सेठ विचार में पड़ा—'मेरा आजकल भले ही हो तो वर्षा नहीं होती; पर नदी के सूख जाने पर भी सुजान पुरुष वहाँ गड्ढा खोदने पर थोड़ा-सा पानी मिल ही जाता है। चाहे मेरी स्थिति आज तंग है, फिर भी मुझे इसे अवश्य ही सोना देना ही चाहिए। कहा भी है—

चिड़ी चोंच भर ले गई, नदी न घटियो नीर।

यह देनदारी मुझ पर है। यद्यपि मेरी स्थिति आज तंग है, तथापि यह बुढ़िया मेरे यहाँ से खाली हाथ लौटे, यह मेरे लिए शोभास्पद नहीं है। इससे तो धर्म और कर्म दोनों बदनाम होंगे।' अतः सेठ ने मुनीम से कहा—'इस लोहे के बदले उस बुढ़िया को २५ तोला सोना तौल दो।' सेठ के कहने की देर थी, बुढ़िया का मन गद्गद हो गया।

सोने का टुकड़ा लेकर घर की ओर जाती हुई सत्तारा बुढ़िया की आँखों में हर्षाश्रु बह रहे थे। वह बुढ़िया मन ही मन आशीर्वाद दे रही थी—'अल्लाह इन्हें बरकत दे! लोग कहते हैं, उसमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। सचमुच सेठ पारसमणि हैं।'

कहते हैं, इस घटना के बाद कुछ ही महीनों में सेठ की सम्पत्ति का सूरज फिर से लाल-लाल किरणों से जगमगा उठा।

कई बार दान के प्रति अश्रद्धा हो जाने के कारण व्यक्ति सोचता है—पता नहीं, यह दान निष्फल चला गया तो! बदले में कुछ भी न मिला तो! यश और प्रतिष्ठा भी न मिली तो! इस प्रकार से विचार करने वाले संशय में पड़कर

नही दे पाते, परन्तु दान देने म साहसी, आत्मविश्वासी और उदार व्यक्ति जहाँ भी दयनीय करुणा पात्रो को देखता है, मुक्तहस्त से आगा-पीछा सोचे बिना दान देकर सकट से उन्हे उबार देता है।

दोब्रीवे के पिता ने जब उसे विदेश जाकर धनोपार्जन करने को कहा तो वह प्रसन्नतापूर्वक अपने जहाज मे माल लादकर रवाना हुआ। रास्ते मे एक तुर्की जहाज मिला, जिसमे से यात्रियो का करुण क्रन्दन सुनाई दे रहा था, दयालु दोब्रीवे से रहा न गया। उसने चिल्लाकर कप्तान से पूछा—'भाई! तुम्हारे जहाज मे लोग रो क्यो रहे हैं? क्या वे भूखे हैं या बीमार हैं? तुर्की कप्तान बोला—'नहीं, ये तो कैदी हैं। इन्हें हम गुलाम बनाकर बेचने को ले जा रहे हैं।' 'तो ठहरो हम आपस मे सौदा कर लें'—दोब्रीवे ने कहा। तुर्की कप्तान ने पास जाकर देखा तो पता चला कि दोब्रीवे व्यापार के लिए कही जा रहा है और उसका जहाज माल से लदा है। फलत वह अपना जहाज बदलने को तैयार हो गया। इस प्रकार उसने अपने जहाज का माल दान देकर बदले मे गुलामो को छुडाया।

दोब्रीवे तुर्की जहाज लेकर आगे चल पडा। कुछ दूर जाने पर उसने तुर्की कैदियो से अपने पते ठिकाने पूछे और जो जिस देश का था, उसे वही पहुँचा दिया। इसी प्रयत्न में एक सुन्दर कन्या और उसी के साथ रहने वाली एक बुढ़िया को ठिकाने नही पहुँचाया जा सका। उनका घर बहुत दूर था, तथा उस देश का रास्ता भी मालूम न था। कन्या ने कहा—मैं रूस के जार की पुत्री हूँ और यह बुढिया मेरी दासी है। मेरा घर लौट पाना कठिन है। इसलिए मैं विदेश मे ही रहकर अपनी रोजी कमाना चाहती हूँ।' दोब्रीवे सुन्दर और बुद्धिमान् था, साथ ही परोपकारी एव दानशील भी। अत कन्या ने उसके गुणो पर मुग्ध होकर दोब्रीवे को मनाकर उसके साथ विवाह कर लिया। दोनो का जीवन आनन्दमय हो गया।

इधर उसके पिताजी बन्दरगाह पर उससे मिलने की प्रतीक्षा मे थे। ज्यो ही जहाज बन्दरगाह पर आया, दोब्रीवे ने अपने पिताजी को प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक कहा—'पिताजी! मैंने आपके धन का सदुपयोग हजारो दुखियो को सुखी बनाने मे किया है और साथ म एक सुन्दर दुलहिन भी लाया हूँ, जिसके आगे हजारो जहाजो की कीमत भी कुछ नही।' इस पर उसके पिता बहुत बिगडे और दोब्रीवे को भला-बुरा कहा।

कुछ दिनो बाद यह समझकर कि मेरा बेटा अब ऐसी भूल न करने की समझदारी पा गया होगा, पिता ने दूसरी बार माल से जहाज लदवाकर उसे व्यापार करने भेज दिया। दोब्रीवे जब अपने जहाज पर बैठकर दूसरे बन्दरगाह पर पहुँचा तो उसने देखा कि सिपाही लोग कुछ गरीबो को जबरन पकडकर कैद कर रहे हैं, और उनके बाल-बच्चे बिछुड़ते देखकर बिलख बिलख कर रो रहे हैं—दोब्रीवे से यह करुण दृश्य देखकर न रहा गया। पूछताछ करने पर पता चला कि उन पर राज्य की ओर

से लगाये हुए टैक्स को न चुका सकने के अपराध में उन्हें कैद किया गया है। दोब्रीवे ने अपने जहाज का सारा माल बेच कर उन लोगों का टैक्स अपनी ओर से चुका दिया। इस अद्भुत दान से सभी कैदी बन्धन से छूट कर [illegible] गये और आनन्द से रहने लगे।

इधर घर लौटकर दोब्रीवे ने अपने पिताजी को सारा [illegible] बहुत नाराज हुए और उन्होंने उसकी पत्नी और बुढ़िया के सहित [illegible] दिया। किन्तु पड़ौसियों के समझाने पर फिर उन्हें घर में स्थान [illegible] बाद पिताजी ने उसे तीसरी बार व्यापार के लिए भेजते [illegible] यदि पहली दो यात्राओं में की गई मूर्खता की तरह फिर [illegible] को खाना न दूंगा, तुम्हें भूखे मरना होगा। व्यापार के लिए [illegible] आखिरी मौका दे रहा हूं।'

दोब्रीवे इस बार जहाज पर सवार होकर जिस [illegible] उसे दो पुरुष बादशाही पोशाक पहने हुए दिखाई दिये। [illegible] 'आपके हाथ की उंगली में जो अंगूठी है, वह जानी-पहचानी [illegible] लड़की भी ठीक ऐसी ही अंगूठी पहना करती थी। [illegible] मिली ? बताइए।

दोब्रीवे के मुंह से सारा वृत्तान्त सुनने पर बादशाह [illegible] निश्चय ही यह राजकन्या का पति है। अतः प्रसन्न होकर [illegible] का बादशाह जार आपका ससुर हूं। अपने परिवार [illegible] मैं आपको आधा राज्य सौंप दूंगा। आपके साथ मैं [illegible] आपको मेरे देश (रूस) का मार्ग बता देगा।' यह [illegible] मन्त्री और दोब्रीवे घर की ओर रवाना हुए।

इस बार उसके पिताजी ने सारी बातें सुन कर [illegible] फटकार नहीं बताई, बल्कि सारे परिवार सहित [illegible] जहाज में जा बैठे। जहाज रवाना हो गया। मन्त्री [illegible] लगी। इसलिए दोब्रीवे को बीच समुद्र में ही धकेल [illegible] बढ़ा जा रहा था। दोब्रीवे किनारे पहुँचने के लिए [illegible] था। सौभाग्य से एक समुद्री हिलोरे ने उसे [illegible] चट्टान पर बैठकर उसने विश्राम किया। तीन दिन [illegible] दिन एक मछुआ अपनी नौका लिए वहाँ निकला। [illegible] मछुए ने कहा—मैं आपको अपनी नौका में बिठा [illegible] कि रूस मे आपको मिलने वाली सम्पत्ति में से [illegible] ने उसकी शर्त मंजूर करली और उस नौका में बैठ [illegible] पहुँचा। वहाँ से वह सीधा राजमहल में पहुँच कर [illegible]

सकुशल आया देख जार की प्रसन्नता का पार न रहा। दोब्रीवे ने अपना वृत्तान्त ज्यो का त्यो सुनाकर प्रार्थना की कि मन्त्री के अपराध को क्षमा कर दिया जाय।' उसकी इस उदारता से बादशाह इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसने अपना सारा राज्य दोब्रीवे को सौंप दिया, और स्वय विरक्त होकर प्रभुभक्ति मे लग गया। जिस दिन दोब्रीवे के सिर पर मुकुट रखा गया, उसी दिन वह बूढा मछुआ सामने आकर खडा हुआ और अपने साथ हुए वादे की याद दिलाई। दोब्रीवे ने उसका स्वागत करते हुए कहा—'आइए महाशय ! मुझे अपना वचन भलीभाति याद है। राज्य का नक्शा देखकर हम आधा-आधा आपस मे बाट लें और इसके बाद चलकर खजाना भी बाट लें।' यह सुनते ही बूढ़े की बाछें खिल गईं। उसने दोब्रीवे की पीठ ठोकते हुए कहा—"शाबाश बेटे ! अपने जीवन मे इसी प्रकार दयालु, दानी और वचन के पक्के बने रहो। मैंने पहिचान लिया कि तुम मानव के आकार मे सच्चे देव हो, धर्मात्मा हो। यह जीवन परोपकार के लिए ही है।" यो कहकर बिना कुछ लिए ही वह बूढा चला गया। दोब्रीवे आनन्दपूर्वक राज्य करने लगा, किन्तु अपनी दानवृत्ति उसने चालू रखी।

वास्तव मे दान देने वाले को हजारो गुना अधिक मिलता है। दान देने से सम्पत्ति बढती ही है घटती नही। दान का यह प्रतिफल उसी को मिलता है, जो नि स्वार्थभाव से दान करता है। कभी कभी तो दान का ऐसा चमत्कार दिखाई देता है कि जो वस्तु दान दे दी गई है, देने के बाद उनकी गिनती करने पर सख्या मे उतनी की उतनी ही मिलती है।

दान का चमत्कार

सायला (सौराष्ट्र) मे एक लाला भक्त बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। वि० स० १८५६ मे लाला भक्त का जन्म सीधावदर मे हुआ। जब लालाभक्त ७ साल का बालक था, तभी एक दिन उसके पिताजी उसे दुकान पर बिठाकर कही बाहर चले गए। इसी दौरान १५ सन्यासियो को ठड से कापते हुए लाला भक्त ने देखे। लाला सस्कारी जीव था। उसे सन्यासियों को सर्दी से ठिठुरते देखकर दया आई तुरन्त उसने १५ गर्म कबल दुकान से निकालकर प्रत्येक साधु को एक एक कबल दे दिया। साधु वे कबल लेकर चल दिये। लाला ने सोचा—'पिताजी आएँगे, वे कबलें न देखकर क्या कहेगे ? ज्यादा से ज्यादा वे मुझे पीटेंगे। भले ही पीटलें। मैं मार सहन कर लूंगा। या सोचकर लाला भक्त बाहर चला गया। पीछे से पिताजी दूकान पर आए। पडोसी दुकानदारो ने लाला के पिताजी से कहा—'आज तो आपके लाला ने खूब व्यापार किया है, जरा कबल निकालकर गिनो तो सही।' यह सुनकर उन्होंने कबलें गिनी तो पूरी थीं एक भी कम न थी। प्रत्यक्षदर्शी पडौसियो को इस पर बडा आश्चर्य हुआ। उन्होने कहा—'हम आपसे झूठी बात नही कहते। हमने लाला को १५ कबलें साधुओ को देते देखा है। हमारे साथ चलो, हम तुम्हे प्रत्यक्ष बता देंगे।'

यह कह कर एक पड़ोसी दुकानदार लाला के पिता को उसी मार्ग से ले गया, जिधर वे साधु-संन्यासी गये थे। वहाँ जाकर देखा तो उन साधुओं के पास वे कंबलें थीं। इससे पिता को लाला की संस्कारिता और प्रभुभक्ति पर विश्वास हो गया। लाला भक्त अपने पिताजी से कोई बात गुप्त नहीं रखते थे। सत्यवादी और परमभक्त लाला के दान के और भी चमत्कार लोगों ने देखे।

सच है, दान दिया हुआ खाली नहीं जाता और प्रायः दान देने से द्रव्य घटता भी नहीं है। दान के लौकिक और लोकोत्तर लाभ के अतिरिक्त इहलौकिक और पारलौकिक लाभ भी कम नहीं है। दान दाता को अनेकों लौकिक (इहलोक में और परलोक में) लाभ प्राप्त होते हैं।

एक बार सिंह सेनापति ने तथागत बुद्ध से प्रश्न किया—'भंते ! दान से प्राणी को क्या लाभ होता है ?' इस पर तथागत बुद्ध ने कहा—'आयुष्मन् ! दान से ४ लौकिक लाभ हैं'[1]—

(१) दाता लोकप्रिय होता है; (२) सत्पुरुषों का संसर्ग प्राप्त होता है; (३) कल्याणकारी कीर्ति प्राप्त होती है। और (४) किसी भी सभा में वह विज्ञ की तरह जा सकता है और पारलौकिक लाभ यह है कि परलोक में वह स्वर्ग में जाता है, वहाँ भी दान के प्रभाव से ऋद्धि और वैभव पाता है। यह अदृष्ट लाभ हैं।

पिछले पृष्ठों में दान से पारिवारिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, नैतिक धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में क्या-क्या लाभ होते हैं ? इसकी विस्तृत चर्चा कर आए हैं। संक्षेप में, दान कामधेनु है, कल्पतरु है और अमृतफल है, जो भी व्यक्ति दान का सक्रिय आचरण, आसेवन और साक्षात्कार करता है उसे अपने जीवन में किसी प्रकार की कमी नहीं रहती, दान से सब प्रकार की पूर्ति हो जाती है। ❀

---

१ अंगुत्तर निकाय ५/३४-३६

8

दान : धर्म का प्रवेश द्वार

दान धर्म का प्रवेश द्वार है। कोई व्यक्ति किसी भवन मे द्वार से ही प्रवेश कर सकता है, इसीप्रकार धर्म रूपी भव्य भवन का प्रवेश द्वार दान है। क्योकि जब तक हृदय शुद्ध नही हो जाता, तब तक उसमे धर्म ठहर नही सकता[1] और हृदय शुद्धि उसी की होती है जिसमे सरलता हो, नम्रता हो, मृदुता हो। ये तीन गुण हृदय शुद्धि के लिए सर्वप्रथम आवश्यक हैं। परन्तु इन तीनो गुणो का उद्गम दान से ही होता है।

किसान बीज बोने से पहले खेत को रेशम की तरह मुलायम करता है, उसके पश्चात् उसमे बीज बोता है। हृदय रूपी खेत को भी दान से मुलायम किया जाता है। दान जीवन की एक अद्भुत कला है, जिसे सक्रिय करने से पहले दीन-दुखियो, गरीबो अपाहिजो, असहायो या पीडितो के प्रति अनुकम्पा, दया और करुणा के कारण हृदय नम्र बन जाता है, दानपात्रो के प्रति सहानुभूति और आत्मीयता के कारण हृदय मृदु और सरल बन जाता है। दान देने वाले मे जब अहकार नही रहता, एहसान करने की बुद्धि नही रहती, तभी दान सच्चा दान होता है। इसलिए दान से हृदय-रूपी खेत को मुलायम बनाकर ही व्रत या धर्म रूपी बीज बोया जा सकता है।

इस्लामधर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब ने कहा था—'प्रार्थना साधक को ईश्वर के मार्ग पर आधी दूर तक पहुँचाएगी, उपवास महल के द्वार तक पहुँचाएगा और दान महल में प्रवेश कराएगा।'

इसलिए दान धर्मरूपी भव्यभवन में प्रवेश करने के लिए प्रथम द्वार है क्योकि दान से हृदय कोमल होकर जीवन शुद्धि होती है और शुद्ध जीवन मे ही धर्म टिक सकता है। शुद्ध जीवन का प्रारम्भ दान से ही होता है, इसलिए दान को धर्म का प्रवेशद्वार कहने मे कोई अत्युक्ति नही।

'केकय देश की श्वेताम्बिका नगरी का राजा प्रदेशी अत्यन्त क्रूर और नास्तिक बना हुआ था। वह स्वर्ग नरक, आत्मा-परमात्मा और धर्मकर्म को बिलकुल नहीं

---

१ सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।—उत्तराध्ययन

मानता था। इन सबको वह धर्म का ढकोसला समझता था। उसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे। धर्म क्या है ? यह कभी जानने का उसने प्रयत्न ही नहीं किया। वह इतना कठोर और निर्दय था कि प्रजा उससे सदा भयभीत रहती थी। दूसरों को दुःख देना, उसके लिए मनोविनोद था। शरीर से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है, यह उसका दृष्टिकोण था। अभी तक कोई समर्थ पुरुष उसे नहीं मिला था, जो उसके दृष्टिकोण को बदल सके। प्रजाजन प्रदेशी राजा को साक्षात् यमराज समझते थे।

श्रावस्ती नृप जितशत्रु प्रदेशी नृप का अभिन्न मित्र था। एक बार प्रदेशी ने अपने अभिन्न मित्र श्रावस्ती नृप को एक सुन्दर उपहार देने के लिए अपने विश्वस्त एवं बुद्धिमान् मन्त्री चित्तसारथी को भेजा, साथ ही वहाँ की राजनैतिक गतिविधि का अध्ययन करने भी। उस समय श्रावस्ती में भगवान पार्श्वनाथ की शिष्यपरम्परा के समर्थ आचार्य केशीश्रमण पधारे हुए थे। चित्त ने उनकी कल्याणमयी वाणी का लाभ उठाया। चित्त को केशीश्रमण मुनि का प्रवचन सुनकर बहुत आनन्द आया, मानो उसे खोया हुआ धन मिल गया। उसने केशीश्रमण से श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये।

लौटते समय चित्त ने केशी श्रमण से श्वेताम्बिका पधारने की प्रार्थना की। किन्तु केशी श्रमण प्रदेशी नृप की क्रूरता तथा अधर्मशीलता से भलीभांति परिचित थे। उन्हें अपना भय न था, किन्तु धर्म और संघ की अवज्ञा न हो, इसकी उन्हें गहरी चिन्ता थी। इसलिये वे मौन रहे। चित्त ने दुबारा प्रार्थना की, फिर भी मौन रहे। तीसरी बार भी जब वे प्रार्थना के उत्तर में मौन रहे तो चित्तसारथी विनम्र एवं सतेज स्वर में बोला—"भंते ! आप किसी प्रकार का विचार न करें, श्वेताम्बिका अवश्य ही पधारें। आपके यहाँ पधारने से राजा, प्रजा तथा सभी को बहुत बड़ा लाभ होगा। धर्म की महती सेवा होगी।" केशीश्रमण विहार करते-करते श्वेताम्बिका पधार गये। और नगरी के उत्तर-पूर्व कोण में जो सुरभित व सुरम्य उपवन—मृगवन था, उसी में वे विराजमान हुए। प्रजाजन उनकी अमृत वाणी का लाभ उठाने लगे। उनकी प्रवचन शैली बहुत ही आकर्षक थी।

एक दिन चित्तसारथी अवसर देखकर प्रदेशी नृप को अश्व परीक्षा के बहाने मृगवन की ओर ले आया। शान्त होकर चित्त और प्रदेशी नृप मृगवन में चले गये। वहाँ केशीश्रमण जनता को धर्मोपदेश दे रहे थे। राजा ने घृणादृष्टि से एक बार केशीश्रमण की ओर देखा। परन्तु केशीश्रमण सामान्य सन्त नहीं थे। वे चार ज्ञान के धनी और देश-काल के ज्ञाता थे। केशीश्रमण के संयम और तप के अद्भुत तेज व प्रभाव से तथा चित्त की प्रेरणा से वह केशीश्रमण के चरणों में पहुँच गया। उनकी धर्मदेशना सुनकर राजा प्रभावित हुआ। उसने केशीश्रमण से ६ प्रश्न किये, जिनका तर्कपूर्ण और युक्तिसंगत समाधान पाकर वह प्रसन्न हो गया। उसके जीवन में आज यह चमत्कार था। उसकी चिरसंचित शंकाओं का आज मौलिक समाधान हो चुका।

जीवन की दिशा बदल गई। उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया। और केशीश्रमण को नमस्कार करके प्रस्थान करते समय उसने उनके समक्ष अपनी राज्यश्री के चार विभाग करने का सकल्प किया। उन चार विभागों में से एक विभाग से[1] विराट् दानशाला खोली, जहाँ पर जो भी श्रमण, माहण, भिक्षु, पथिक आदि आते उन्हें यह सहर्ष दान करने लगा।

इससे यह प्रतिफलित होता है कि प्रदेशी राजा अमगल से मगल, क्रूरता से कोमलता और अधर्म मे धर्म की ओर मुडा, इसमे उसकी दानशील वृत्ति भी परम कारण बनी। प्रदेशी की दानशाला से कई लोग लाभ उठाते थे, अब उसे लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे थे।

इस प्रकार प्रदेशी राजा के लिए दान धर्म का प्रवेश द्वार बन गया।

एक और दृष्टि से देखें तो भी दान धर्म का प्रवेश द्वार बनता है। धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। बुरी वृत्तियो, दुर्व्यसनो या बुराइयों को छोड़े बिना आत्मशुद्धि नही हो सकती। इसलिये बुरी वृत्तियो या बुराइया का दान कर देना, उनके त्याग का सकल्प कर देना भी धर्मरूपी प्रासाद म प्रवेश करने का द्वार बन जाता है। जिस आत्मा की शुद्धि होती है, वही धर्म मार्ग पर चल सकती है। इसलिए धर्म मार्ग पर चलने के लिए बुराइया या दुर्व्यसनो का दान (त्याग) कर देना भी धर्म मे प्रवेश करने का कारण है।

विदेश मे एक मजदूर को शराब पीने की आदत थी। जब उसने एक स्त्री के साथ विवाह किया तो लग्न के एक दिन पहले उसने एक कागज पर मदिरा पान कभी न करने की प्रतिज्ञा लिखी और उस प्रतिज्ञापत्र को सुन्दर फ्रेमयुक्त शीशे मे मढवाकर अपनी पत्नी को भेंट के रूप मे दान दे दिया। ऐसे मदिरा त्याग के दान से बढ़कर भेंट कौन सी हो सकती है? यह व्यसन त्याग का दान भी धर्म प्रवेश का कारण बना।

जीवन मे ऐसे अद्‌भुत दान—जो किसी दुर्व्यसन या बुराई के त्याग से सम्बन्धित होते हैं, आत्मशुद्धि के कारण होने से मानव को धर्मप्रवेश के योग्य बना देते हैं।

दान धर्म का शिलान्यास

दान को धर्म का शिलान्यास कह सकते हैं। इस शिलान्यास पर ही धर्म का सुहावना प्रासाद निर्मित हो सकता है जो व्यक्ति जीवन म धर्म की आराधना-साधना करना चाहते हैं, उन्हे सर्वप्रथम दान को अपनाना आवश्यक होता है। दान धर्म की

---

१ " • एगेण भागेण महई महालय कूडागार साल करिस्सामि, तत्थण बहूहिं पुरिसेहिं दिन्नभईभत्त वेयणेहिं विठल असण ४ उवक्खडावेत्ता बहूण समण-माहण-भिक्खूयाण पथिम-पहियाण पडिलाभेमाणे " —रायप्पसेणिय सुत्तं

नींव रखता है। धर्म की बुनियाद पर जो प्रवृत्ति होती है, वह पापकर्म का बन्ध करने वाली नहीं होती, धर्म की आधारशिला दान के द्वारा ही रखी जा सकती है। जब जीवन में दान की भावना आती है तो वह करुणा, दया, सेवा, सहानुभूति आत्मीयता आदि के रूप में अहिंसा की भावना को लेकर आती है, दान करते समय अपनी वस्तु का त्याग करके अपने आप पर संयम करना पड़ता है और कई बार दानी को अपनी इच्छाओं का निरोध, अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग एवं कष्ट सहन करना पड़ता है, यह सब तप के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म का शिलान्यास दान के द्वारा अनायास ही हो जाता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में दान को द्रव्य और भाव से स्पष्ट रूप से अहिंसा माना गया है—

—"अतिथि संविभागव्रत (दान) में परजीवों का दुःख, पीड़ा, चिन्ता आदि दूर करने के कारण द्रव्य-अहिंसा तो प्रत्यक्ष है ही, रही भाव-अहिंसा, वह भी लोभ-कषाय के त्याग की अपेक्षा से समझनी चाहिए।"[1]

अतः दान में अहिंसा, संयम और तप का समावेश होने के कारण भी दान धर्म की आधारशिला बन जाता है।

इंग्लैंड के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने एक सदय, सहृदय सज्जन के रूप में काफी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। उन्हें वैद्यकशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। बहुत-से रोगी उनके घर पर इलाज कराने के लिए आते थे। वे वैद्यक का धन्धा कमाई की दृष्टि से नहीं, मानव सेवा की दृष्टि से करते थे। एक बार एक गरीब महिला का पति बीमार हुआ। काफी इलाज कराने पर भी कोई लाभ न हुआ। आखिर किसी ने उसे महाकवि गोल्डस्मिथ से इलाज कराने की राय दी। वह महिला पूछती-पूछती महाकवि के यहाँ पहुँची और बोली—"मेरे पतिदेव कई महीनों से बीमार हैं। बहुत दवाइयाँ दी जा चुकी हैं, मगर बीमारी मिटने का नाम ही नहीं लेती। अब मैं आपकी शरण में आई हूँ। कृपया, मेरे साथ चलकर आप उनकी हालत का निरीक्षण कर लीजिए।" उस महिला की प्रार्थना सुनते ही कवि उसके साथ उसके घर पहुँचे। उसके पति की हालत देखी तो पता चला कि मानसिक अस्वस्थता ही उसके रोग का प्रधान कारण है। और मानसिक अस्वस्थता का कारण है—गरीबी। अतः महाकवि महिला से यह कहकर चले आये कि मैं रोगी के रोग को समझ चुका हूँ। घर जाते ही किसी के साथ दवा भिजवाता हूँ। घबराइए नहीं। मेरी दवा से उनका स्वास्थ्य ठीक हो जायगा।"

अपने घर पहुँच कर महाकवि ने एक छोटी-सी पेटी भेज दी, और उस पर लिख दिया—'आवश्यकता होने पर यह पेटी खोलें और भीतर रखी हुई दवा का

---

१ कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥'—१७४

प्रयोग करें।" गरीब महिला ने ज्यों ही पेटी खोली, त्यों ही उसके आश्चर्य का पार न रहा, क्योंकि उसमें दवा के बदले सोने की दस मुहरें थीं। उसके साथ एक चिट भी थी—'यह आपके रोग की दवा है, जो मैं अपनी ओर से दे रहा हूँ।' दम्पती ने मन ही मन महाकवि को उनकी उदारता के लिए प्रणाम किया।

वास्तव में रुग्ण पर दया करके गोल्डस्मिथ द्वारा दिया गया यह दान अहिंसा धर्म की नींव पर आधारित था। इसलिए दान को धर्म का शिलान्यास कहने में कोई अत्युक्ति नहीं।

दान गृहस्थ जीवन का सबसे प्रधान गुण

दान श्रावक के जीवन का प्रधान गुण है। कई धर्म ग्रन्थों में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। श्रावक का जीवन केवल तात्त्विक (विचार) दृष्टि से ही उदार न हो, अपितु सक्रिय आचरण की दृष्टि से भी विराट् हो, वह अपने सम्बन्धियों को ही नहीं, जितने भी दीनदु:खी, अतिथि मिलें, सबके लिए उसके घर का द्वार खुला रहे।[1] शास्त्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों के घर का द्वार सबके लिए सदा खुला बताया गया है—

ऊसिह फलिहे, अवगुअदुवारे।[2]

— जो भी अतिथि, अभ्यागत उनके द्वार पर आता, उसका वे हृदय से स्वागत करते थे और आवश्यक वस्तु प्रसन्नता से दे देते थे। देना ही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य होता था।

श्रावक के तीन मनोरथों में प्रथम मनोरथ यह है कि 'वह दिन मेरे लिए कल्याणकारी व धन्य होगा, जिस दिन मैं अपने परिग्रह को सुपात्र की सेवा में त्याग (दे) कर प्रसन्नता अनुभव करूँगा, ममता के भार से मुक्त बनूंगा।'

प्रत्येक गृहस्थ के लिए सभी धर्मशास्त्र एक स्वर से दान का विधान करते हैं। यहाँ तक कि कुछ भी दान देकर खाए, दान देने से पहले भोजन न करे यह गृहस्थ का नियम होता था। कई गृहस्थ इस प्रकार का नियम भी लेते थे कि बिना दान दिये मैं भोजन नहीं करूँगा। रयणसार ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

"दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावयातेण विणा।"

—'सुपात्र में चार प्रकार का दान देना और देव-गुरु शास्त्र की पूजा करना गृहस्थ श्रावक का मुख्य धर्म है। दान के बिना गृहस्थ श्रावक की शोभा नहीं है।

---

१ योगशास्त्र, श्राद्धगुणविवरण, धर्मबिन्दु एवं धर्मरत्न में इस बात का स्वीकार किया गया है।

२ भगवती सूत्र श २ उ ५।

जो इन दोनों को अपना मुख्य धर्म—कर्तव्य—मानकर पालन करता है, वही श्रावक है, वही धर्मात्मा है, वही सम्यग्दृष्टि है।

गृहस्थ श्रावक के लिए बारहवाँ व्रत इसी उद्देश्य को लेकर नियत किया गया है कि वह भोजन करने से पहले कुछ समय तक किसी सुपात्र, अतिथि, महात्मा या अनुकम्पा पात्र व्यक्ति को उसमें से देने की भावना करे। अतिथि (उपर्युक्त) की प्रतीक्षा करे।

दान : श्रावक का सबसे बड़ा व्रत

भगवान् महावीर के आनन्द, कामदेव, चुलिनीपिता, आदि दस प्रमुख गृहस्थ श्रावकों का जीवन उपासकदशांग सूत्र में पढ़ने से यह स्पष्ट फलित हो जाता है कि उनके जीवन में प्रतिदिन दान देने की कितनी उत्कट भावना थी! उन्होंने बारहवाँ अतिथि संविभागव्रत ग्रहण कर लिया था, जिसमें प्रतिदिन दान को वे जीवन का आवश्यक नियम मानते थे। वे यह मानते थे कि श्रावक के जीवन का यह मुख्य अंग है, प्रमुख धर्म अथवा गुण है।

गृहस्थ श्रावक के १२ व्रतों में जो अन्तिम व्रत है, जिसका नाम अतिथि संविभाग व्रत' या 'यथासंविभाग व्रत' है, वह दान का ही सूचक है। भगवान महावीर ने गृहस्थ श्रावक के लिए यह व्रत इसलिए रखा है कि अन्य व्रतों का सम्बन्ध या अन्य व्रतों का लाभ तो सिर्फ खुद से ही सम्बन्धित है, ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत या सामयिक, देशावकासिक या पौषध का लाभ तो व्यक्ति को स्वयं को मिलता है, उसका सम्बन्ध खुद व्यक्ति से होता है, जबकि बारहवें व्रत का लाभ दूसरे (आदाता) को भी मिलता है, उसमें दूसरे से भी सम्बन्ध जुड़ता है। इसलिए वह अन्य व्रतों की अपेक्षा अधिक सक्रिय, अधिक लाभदायक, प्रत्यक्ष लाभदर्शक एवं श्रावक की उदारता का दिग्दर्शक है। यही कारण है कि अतिथि संविभाग (दान) व्रत को सबसे बड़ा व्रत कहा है—

> अतिथि संविभागाख्यं व्रतमस्ति व्रतार्थिनाम्।
> सर्वव्रतशिरोरत्नमिहामुत्रसुखप्रदम् ॥'—(पं० राजमल)

'अतिथि संविभाग नाम का व्रत व्रतार्थियों (गृहस्थ श्रावकों) के लिए समस्त व्रतों में शिरोमणि है और इहलोक और परलोक में सुखदायक है।

इस व्रत को समस्त व्रतों का शिरोमणि कहने के उपर्युक्त कारण तो हैं ही, एक कारण यह भी हो सकता है, कि इस व्रत के पालन से अहिंसा एवं परिग्रह (लाभ) त्याग का लाभ तो है ही, सुपात्र साधु को दान देने से उनके दर्शकों का लाभ, तथा दर्शन लाभ से सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य-पालन की प्रेरणा मिल ही जाती है, तथा अन्य व्रतों के पालन की भी प्रेरणा समय-समय पर मिल जाती है। अतिथि-संविभागव्रत श्रावक की देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा को सुदृढ़ करने का भी कारण है। गुरु के दर्शन होते हैं तो उनसे देव का परिचय भी प्राप्त हो जाता है, धर्मपालन की

भी प्रेरणा हो जाती है। इसलिए यह कहने मे कोई अत्युक्ति नहीं है कि अतिथि सविभागव्रत सब व्रतो मे शिरोमणि है, सबसे बडा व्रत है। इहलोक और परलोक के लिए वह सुखप्रदायक है इसमें तो कोई सदेह ही नही।

दान-सविभाग है

भगवान् महावीर ने गृहस्थ श्रावक को ससार के दु खितो, पीडितो, भूखो, प्यासो और जरूरतमदो के साथ सहानुभूति, आत्मीयता और एकता स्थापित करने, और उनके सुख दु ख मे सविभागी बनने की दृष्टि से भी गृहस्थ श्रावक के लिए यह व्रत रखा है। इस दृष्टि से दान हृदय की उदारता का पावन प्रतीक है, मन की विराट्ता का द्योतक है और जीवन के माधुर्य का प्रतिबिम्ब है। श्रावक इतना स्वार्थी न हो कि केवल अपने ही जीने और सुख सामग्री का उपभोग करने का विचार करे। वह देखे, अन्तर्निरीक्षण और समाज निरीक्षण करे कि मेरे परिवार, कुटुम्ब, जाति, धर्म सघ और समाज मे कौन दु खी है ?, कौन भूखा-प्यासा है ? कौन किस अभाव से पीडित है ? कौन कौन प्राकृतिक प्रकोप (भूकम्प, बाढ, सूखा, दुष्काल आदि) से सतप्त है, किस पर क्या सकट है ? और मैं उसे किस रूप मे, कितनी सहायता देकर उसके दु ख या सकट को मिटा सकता हूँ ? इसी को शास्त्रीय परिभाषा मे कुटुम्ब जागरणा धर्म जागरणा और समाज-जागरणा कहते हैं। श्रावक के बारहवें व्रत के पीछे यही दृष्टिकोण निहित है। अन्यथा वहा सविभाग के बदले 'दान' शब्द का प्रयोग किया जाता। किन्तु 'सविभाग' का अर्थ दान होते हुए भी सविभाग शब्द का प्रयोग उसमें निहित रहस्य को सूचित करने के लिए किया है। दान शब्द रखने पर गृहस्थ को दान के साथ अहकार, महत्ता की भावना, प्रसिद्धि की लालसा आदि शायद चिपक सकती है और लेने वाले मे हीनभावना उत्पन्न हो सकती है, देने वाला उस पर एहसान जताकर देगा, सभव है, उसकी चापलूसी करने की वृत्ति भी दाता की हो जाती है, जबकि सविभाग मे तो देने वाला अपना कर्त्तव्य समझकर देगा और लेने वाला अपना अधिकार समझ कर लेगा। न एक में महत्ता की भावना आएगी, और न दूसरे म हीनता की। न दाता को एहसान करने की जरूरत होगी और न आदाता को दाता की चापलूसी करने की जरूरत होगी। इसलिए श्रावक को दूसरो के सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख समझकर दूसरो के प्रति आत्मीयता से ओतप्रोत होने और जिलाकर जीने की उदारता अपने मे लाने और स्वार्थ-त्याग करने की दृष्टि से बारहवें व्रत का पालन करना अनिवार्य है।

जैन मनीषियों ने प्राय 'दान' के स्थान पर 'सविभाग' शब्द का जो प्रयोग किया है, वह बडी सूझबूझ के साथ किया है। दान मे समत्वभाव, समता और निस्पृहता की अन्तरधारा बहती रहे यह आचार्यों का अभीष्ट रहा है जो ससार के अन्य चिन्तको से कुछ विशिष्टता रखता है। देना दान' है, किन्तु दान व्रत' या 'धर्म' तब बनता है जब देने वाले का हृदय निस्पृह, फलाशा से रहित और अहकार शून्य होकर लेने वाले के

प्रति आदर, श्रद्धा और सद्भाव से परिपूर्ण हो। सद्भाव तथा फलाशा-मुक्त दान को ही 'अतिथि संविभाग व्रत' कहा गया है। इसमें दाता लेने वाले को उसका 'भाग' देता है। यही कारण है कि बारहवां व्रत सक्रिय रूप से समभाव और दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मौपम्यभाव स्थापित करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वैचारिक समता, आत्मौपम्यभाव एवं उदारता को आचाररूप में परिणत करने का माध्यम दान का सूचक बारहवां व्रत है।

दान : सर्वगुण-संग्राहक, सर्वार्थ साधक

अपनी अद्भुत परिणाम-कारकता के कारण 'दान' सर्वगुण-संग्राहक है, सभी अर्थों (मानव-प्रयोजनों) का साधन है। दान से जीवन जीने के मार्ग में आ पड़ने वाले दुःख, दौर्भाग्य, वैमनस्य, चिन्ता, अशान्ति, शारीरिक पीड़ा, प्राकृतिक संकट आदि सब भाग जाते हैं। जीवन निष्कंटक, निश्चिन्त, निराकुल, शान्त और सुखी बन जाता है।

इसीलिए शास्त्रकारों ने दान को सर्व गुणसंग्राहक या सर्वार्थ साधक कहा है—

—'यदि मनुष्य के पास तीनों लोकों को वशीभूत करने के लिए अद्वितीय वशीकरण मंत्र के समान दान और व्रतादि से उत्पन्न हुआ धर्म विद्यमान है तो ऐसे कौन-से गुण हैं, जो उसके वश में न हो सकें, तथा वह कौन-सी विभूति है, जो उसके अधीन न हो, अर्थात् धर्मात्मा एवं दान-परायण के लिए सब प्रकार के गुण, उत्तम सुख और अनुपम विभूति भी उसे स्वयमेव प्राप्त हो जाती है।'[1]

संसार की ऐसी कोई विभूति या समृद्धि नहीं; कोई ऐसा गुण नहीं तथा किसी प्रकार की सुख-शान्ति की सामग्री नहीं, जो दान द्वारा प्राप्त न हो सके। पिछले पृष्ठों में विभिन्न उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है। कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने दान, उदारता और धर्मदलाली द्वारा ही आगामी जन्म में तीर्थंकरत्व प्राप्त कर लिया। वर्ष भर तक अविच्छिन्न रूप से दानधारा बहाने के कारण ही तीर्थंकर उत्तम विभूति प्राप्त कर पाते हैं। तीर्थंकरत्व से बढ़कर कौन-सी समृद्धि है? वह तीर्थंकरत्व सेवारूप दान के द्वारा ही प्राप्त होता है। दान से मनुष्य में दया, नम्रता, क्षमा, सेवा, करुणा, आत्मीयता आदि गुण अनायास ही आ जाते हैं, जिसके कारण वह स्वार्थत्याग, लोभत्याग आदि करता है और समस्त अनर्थों की जड़ और पापों का मूल लोभ और स्वार्थ है। उसका जब दान से उच्छेद हो जाता है, तब मनुष्य के दुर्गुण या पापादि तो नष्ट हो ही जाते हैं। वह सर्वगुण निधि बन जाता है। और सुख-शान्ति का तो दान स्रोत ही है। दान से मानसिक सुख-शान्ति मिलती है।

---

१ किं ते गुणाः किमिह तत्सुखमस्ति लोके,
सा किं विभूतिरथ या न वशं प्रयाति।
दानव्रतादिजनितो यदि मानवस्य,
धर्मो जगत्त्रयवशीकरणैकमंत्रः। —पद्मनन्दि पंचविंशति १९॥

शारीरिक सुख भी मिलता है, आयुवृद्धि, स्वास्थ्यलाभ, आदि भी दान के कारण आदाता द्वारा मिलने वाले आशीर्वाद से मिलते हैं। ऋग्वेद (१।१२५।६) मे स्पष्ट कहा है—

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा, दक्षिणावता दिवि सूर्यास।
दक्षिणावन्तो अमृत भजन्ते, दक्षिणावन्त प्रतिरन्त आयु ॥

—दानियो के पास अनेक प्रकार का ऐश्वर्य होता है दानी के लिए ही आकाश मे सूर्य प्रकाशमान है। दानी अपने दान से अमृत पाता है, दानी अतिदीर्घायु प्राप्त करता है। यह भी पिछले पृष्ठो मे हम विस्तार से बता आए हैं।

इसलिए यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि दान सर्वगुण सग्राहक है, सर्वार्थसाधक है, सर्वविभूति को आकर्षित करने वाला है।

दान देवताओं द्वारा प्रशसनीय

दानसर्वत्र प्रशसा पाता है क्या मनुष्य, क्या ब्राह्मण, क्या देव सभी दान की प्रशसा करते हैं। प्रशसा पाने की दृष्टि से नहीं, किन्तु दान मे निहित अनेक गुणो की दृष्टि से जो व्यक्ति नि स्वार्थभाव से दान देता है, उसकी प्रशसा मनुष्य ही नही, देवता भी करते हैं। शास्त्रो मे या जैनकथाओ मे जहाँ जहाँ किसी महान् आत्मा को दान देने का प्रसग आता है, वहाँ-वहाँ यह पाठ अवश्य आता है—

'अहो दाण, अहो दाण ति घुट्ठे'

—देवताओ ने 'अहो दान', अहो दान ! की घोषणा की। अर्थात् उस अनुपम दान की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

दान देवा प्रशसन्ति, मनुष्याश्च तथा द्विजा।

—देवता भी दान की प्रशसा करते हैं, मनुष्य और ब्राह्मण तो करते ही हैं।

देवता दान की प्रशसा क्यो करते हैं ? इसलिए करते हैं कि देवलोक मे दान की कोई प्रवृत्ति होती नहीं, देवलोक मे कोई महात्मा या सुपात्र ऐसा नही मिलता, जिसे दान दिया जाय। दान के लिए सुपात्र उत्तम साधुसन्त, नि स्पृही त्यागीपुरुष मनुष्यलोक मे ही मिल सकता है। इसलिए देवता दान के लिए तरसते हैं कि वे अपने हाथो से दान के योग्य किसी पात्र को दान नही द पाते। जब दान नही दे पाते हैं, तो दान से होने वाला विपुल लाभ भी प्राप्त नही कर सकते। इसी कारण देवता दान की महिमा जानते हुए भी स्वय दान न दे पाने के कारण जो दान देता है और उत्तम पात्र को दान देता है उसकी प्रशसा—उसका समर्थन-मुक्त-कण्ठ से करते हैं। वे उस व्यक्ति को महान् भाग्यशाली मानते हैं जो अपनी लोभसज्ञा को वश में करके दान देते हैं।

जिस समय भगवान महावीर ५ महीने और २५ दिन तक दीर्घतपस्या अभिग्रह के रूप म करके कौशाम्बी मे भ्रमण कर रहे थे, उस समय राजकुमारी

चन्दनबाला ने भगवान महावीर को उड़द के बाकुले आहार रूप में दिये। उस दान की देवों ने महती प्रशंसा की, 'अहो दानं' की घोषणा की। इस प्रकार के और भी अद्भुत दानों की प्रशंसा देवों ने की है।

सचमुच, दान देवों द्वारा प्रशंसनीय है। मनुष्य और ब्राह्मण स्वयं अपने हाथों से दान तो दे सकते हैं, लेकिन लोभसंज्ञा कम न होने से, अर्थाभाव या दारिद्र्य के कारण अथवा दान के प्रति अश्रद्धा के कारण अधिकांश मनुष्य या ब्राह्मण दान नहीं दे पाते। अथवा कई लोग देते भी हैं तो अपने स्वार्थ से, अपने किसी मतलब को गांठने के लिए दान देते हैं। वह दान भी वास्तविक दान न होने के कारण सच्चे दान की बराबरी नहीं कर सकता। इसलिए ऐसे मनुष्य या ब्राह्मण दान की महिमा जानते हुए भी किसी कारणवश दान न दे सकने के कारण दान की प्रशंसा करके रह जाते हैं। इस प्रकार दान मनुष्यों और ब्राह्मणों द्वारा प्रशंसनीय है।

इस प्रकार मानवजीवन में दान का महत्त्व किसी भी प्रकार से कम नहीं है। दान का मूल्यांकन वस्तु पर से नहीं, भावों पर से ही किया जाता है। देवता भावों को ही पकड़ते हैं, वस्तु या वस्तु की मात्रा को वे नहीं देखते। इसी कारण वे तुच्छ से तुच्छ वस्तु के अल्पमात्रा में दिये गए दान को महत्त्वपूर्ण मानकर उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाते। ☆

9

दान की पवित्र प्रेरणा

विश्व मे प्रकृति के जितने भी पदार्थ हैं, वे सबके सब अहर्निश सतत दान की प्रेरणा देते रहते हैं। क्या सूर्य, क्या चन्द्रमा, क्या नदी, क्या मेघ, क्या पेड़-पौधे और जगल की अगणित वनस्पतियाँ सब अपने-अपने पदार्थ को मुक्त हाथो से लुटा रही हैं। क्या नदी और मेघमाला अपना मीठा जल स्वयं पीती हैं? क्या सूर्य-चन्द्र अपना प्रकाश दूसरो को नही देते? क्या पेड, पौधे, फल, फूल, आदि अपने पदार्थों का स्वय उपभोग करते हैं? ये सब महादानी बनकर जगत् को दान की सतत प्रेरणा देते रहते हैं कि मनुष्य तेरे पास भी जो कुछ है, उसे दूसरों को दे, स्वयं अकेला किसी भी चीज का उपभोग न कर। इसीलिए नीतिकार एक छोटे-से श्लोक मे प्रकृति के तमाम वैभव का उपयोग दान (परोपकार) के लिए बताते हैं।

—"नदियाँ अपना जल स्वयं नही पीती, पेड़-पौधे अपने फलो का उपभोग स्वयं नही करते, दानी मेघ अपने जल से पैदा हुए धान्य को स्वय नही खाते। सज्जनो की विभूतियाँ (वैभव) भी परोपकार (दान) के लिए होती हैं।"[१]

फलदार पेड़ो के कोई पत्थर मारता है या कोई उनकी प्रशसा करता है, तो भी वे दोनो को फल देते हैं। नदियो मे कोई मैला डालता है या निन्दा करता है, तो भी वे मीठा पानी देती हैं, और कोई दूध से पूजा करता है, प्रशसा या स्तुति करता है तो भी वे मीठा पानी देती हैं।

एक बार नदी और तालाब मे परस्पर बहस छिड गई। तालाब नदी से कहने लगा—"तू कितनी पगली है! अपना सारा जल पेड़, पौधों, वनस्पतियो एव समुद्र को लुटा देती है। ये तुझे अपना जल वापस तो लौटाते नहीं, तुझे दरिद्र बना देते हैं, और समुद्र तेरा मीठा जल पाकर भी खारा का खारा रहता है। इसलिए मेरी सलाह है कि तू अपना जल-धन अपने पास ही रख।"

इस पर दान परायण नदी बोली—मुझे तेरे उपदेश की जरूरत नही। मेरा

---

१ पिबन्ति नद्य. स्वयमेव नाम्भः, स्वय न खादन्ति फलानि वृक्षा.।
नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहा', परोपकाराय सता विभूतयः॥

कर्त्तव्य ही है—अहर्निश दान देना। मुझे किसी से बदले में कुछ नहीं लेना है। मुझे दूसरों को देने और पेड़-पौधों आदि को समृद्ध देखने में ही आनन्द आता है।' नदी निरन्तर जलदान देती हुई बहती रही। किन्तु तालाब स्वार्थी और आसक्तियुक्त होने से अल्पसमय में ही सूख गया। उसका पानी दुर्गन्धयुक्त हो गया, उसमें कीड़े कुल-बुलाने लगे। परन्तु नदी निष्काम भाव से शीतल मधुर जल दान देती हुई ग्रीष्मऋतु में भी बहती रही। नदी की मूक प्रेरणा यही है मेरी तरह निष्काम भाव से अपने पास जो भी तन-मन-धन-साधन हैं, उन्हें दूसरों को दान देते हुए आगे बढ़ते रहो, ग्रीष्मऋतु में मेरी तरह क्षीण होने पर भी दान का प्रवाह सतत बहाते रहे, तुम्हारी प्रगति रुकेगी नहीं, तुम्हारा धन वर्षाऋतु में मेरी तरह पुनः बढ़ जाएगा, अन्यथा तालाब की तरह स्वार्थी और अपने धन में आसक्त बनकर बैठे रहोगे, उसे दूसरों को दोगे नहीं तो तालाब की तरह एक दिन सूख जाओगे।

नदी के जल की तरह दान प्रवाह बहता रहे

नदी का जल व्यक्तिगत नहीं होता, वैसे ही मानव अपने धन को व्यक्तिगत न समझे, उसे समाज में फैलाये। नदी का जल सतत आता-जाता (बहता) रहता है। इसी तरह चूंकि समाज से लेने का हमारा क्रम बराबर जारी है, इसलिए हमें समाज को देने का क्रम भी (प्रवाह) चालू रखना चाहिए।

ध्यान रहे कि हर नदी बहती (प्रवाहित) रहने पर ही शुद्ध रहती है। यदि तलैया तालाब की तरह उसका बहना बन्द हो जाय तो वह शुद्ध नहीं रह सकेगी। उसमें गड्ढे हो जायेंगे और उसमें गन्दगी व अशुद्धता ही बढ़ेगी। इसी तरह समाज में भी दान का प्रवाह जारी न रहा तो सामाजिक जीवन में भी सड़ान विषमता और दुर्गन्ध पैदा हो जाएगी। इसलिए समाज में दान की गंगा निरन्तर बहती और बढ़ती रहनी चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं, आजीवन दान देते रहना, प्रतिदिन नियमित रूप से दान करना क्या सम्भव है? इसके उत्तर में हम पूछते हैं, आजीवन भोजन करते रहना कैसे सम्भव है? मनुष्यों ने यह कठिन बात स्वीकार कर ली है कि हमें शरीर मिला है तो हम आजीवन—जन्म से मृत्यु पर्यन्त—भोजन करके इसका पोषण करेंगे।

वेदों में और जैनशास्त्रों में जहाँ-जहाँ व्रत ग्रहण करने का विधान है, वहाँ-'यावज्जीव' शब्द आता है कि मैं जीवनपर्यन्त इस व्रत का पालन करूंगा। श्वास-प्रश्वास का भी एक व्रत है, वेद में कहा है—'मरण न होने तक प्रतिज्ञापूर्वक श्वास लेते रहोगे'। इस व्रत को ग्रहण करने की बात वेद ने इसी उद्देश्य से कही है कि श्वास-प्रश्वास के साथ परमात्मा का नाम लेना होगा, ताकि वृथा श्वास न लिया जाय। इस प्रतिज्ञा का यही तात्पर्य है। हमारी आँखों ने आजीवन देखने का व्रत ग्रहण किया है। हमारे दोनों पैरों ने आजीवन चलने का व्रत ग्रहण किया है। ये व्रत उन्हें कठिन नहीं मालूम पड़ते। इसी तरह कानों ने सुनने का, नाक ने सूंघने का व्रत

ग्रहण किया है, जीभ ने चखने और दांतो ने चबाने का व्रत लिया है। वह जब उन्हें कठिन नही मालूम पडता तो हाथो को दान देने का व्रत क्यो कठिन मालूम होगा ? 'हाथ दिये कर दान रे' यह उक्ति इसीलिए कही गई है। ये व्रत उन-उन इन्द्रियो के लिए स्वाभाविक और नैसर्गिक हो गये हैं, वैसे ही हाथो के लिए आजीवन दान देने का व्रत भी कठिन और भारी नही मालूम होगा। घर-घर मे माताएँ इसी व्रत का पालन करती हैं। प्रत्येक माँ सन्तान को कितना अधिक प्यार करती है। बडा होने पर पुत्र माँ से विमुख हो जाता है पर माँ प्राय विमुख नही होती। इसलिए चाहे धनी हो, चाहे निर्धन दोनो के ही हाथ प्रतिदिन नियमित दान करने का जीवन-पर्यन्त व्रत ग्रहण करें, इसमे कोई कठिनाई नही है। केवल मन को समझाना है।

कुछ कार्य नित्य होते हैं, कुछ नैमित्तिक। भोजन, मलविसर्जन, सफाई आदि नित्य कार्य हैं, उसी तरह दान भी नित्य कार्य है। स्मृतियो मे गृहस्थ के लिए प्रतिदिन दान कर्म को षट्कर्मों मे अनिवार्य बताया है। और प्रतिदिन गोग्रास, कौए, कुत्ते, अग्नि आदि का ग्रास दान देने का विधान भी है। 'षट्कर्माणि दिने दिने' कहकर दान को प्रतिदिन करने का विधान है। इसलिए गृहस्थ जीवन म प्रतिदिन दान का प्रवाह बहता रहना चाहिए दान की परम्परा नदी के प्रवाह की तरह अखण्ड चालू रहनी चाहिए। उसे बद करना, जैन दृष्टि से दानान्तराय कर्मबन्ध करना है। दान की परम्परा बन्द करने से अनेक लोगो की वृत्ति का उच्छेद होता है। परन्तु कई लोग इस बात को न समझकर श्रद्धाहीन बनकर दान की परम्परा स्थगित कर देते हैं। यह बहुत ही खतरनाक है, जीवन के लिए।

एक महिला थी। वह प्रतिदिन गरीबो के घर जा कर दान दिया करती थी। कुछ दिनो बाद उसने दान का यह सिलसिला बन्द कर दिया। दूसरी एक महिला ने उससे पूछा—'बहन ! आजकल तुमने दान देना बद क्यो कर दिया ?" वह बोली—'अब मैं दान देना ठीक नही समझती, क्योकि जिन्हे मैं गरीब समझकर दान देती थी, उन गरीबों के लडकों को मैंने पेडे खाते हुए देखा तो मैंने सोचा कि इन गरीबो के बच्चे तो पेडे खाते हैं। तब से मैंने दान देना बन्द कर दिया है।" इस पर उक्त विवेकवती महिला ने कहा—"बहन ! इसमे तुम्हारा क्या बिगड गया ? क्या गरीबो के बच्चे पेडा नही खा सकते ? उनके माता-पिता कभी अपने बच्चों को मिठाई नहीं खिला सकते ? क्या तुम्हें ही मिठाई खाने का हक है, उन्हे नही ? यह तुम्हारा सोचना ही गलत है ! तुम यह सोचो कि हम तो आराम से रहे, पर हमारा नौकर या गरीब आराम से न रहे, कष्ट मे पडा रहे, क्या यह मानवता की दृष्टि से ठीक है ? कदापि नही। तुम दान दो, पर अश्रद्धा के साथ, या उन दरिद्रों या अभावग्रस्तो को हीन समझकर मत दो। इसलिए मेरी सलाह है कि तुम दान की यह परम्परा बन्द न करो।" परन्तु उस बहन ने इस विवेकवती महिला की एक भी न मानी। वह अपने विपरीत निर्णय पर अटल रही।

दान की परम्परा चालू रखो

दान की दैनिक परम्परा तभी चालू रह सकती है, जबकि देने वाला लेने वाले के द्वारा भी उसी रकम को किसी जरूरतमन्द को दिलाए। फिर वह जरूरतमन्द, जिसे वह रकम दी जाए, अपने पास आने वाले जरूरतमन्द को वह रकम दे। इस प्रकार दान का अखण्ड सिलसिला या प्रवाह जारी रहे।

बेंजामिन फ्रैंकलिन अपने प्रारम्भिक दिनों में एक अखबार चलाते थे, आगे चलकर वे उसके सम्पादक और प्रकाशक भी बने। उनके पास गृहस्थी का कोई अधिक सामान नहीं था। एक बार उन्हें कुछ रुपयों की जरूरत पड़ी। उन्होंने एक धनवान से २० डालर मांगे। उस परिचित व्यक्ति ने उन्हें तुरन्त २० डालर दे दिये। कुछ ही दिनों में बेंजामिन फ्रैंकलिन ने २० डालर बचाए और उन्हें उस भाई को वापस देने आए। जब उन्होंने २० डालर का एक सिक्का मेज पर रखा तो उनके धनाढ्य मित्र ने कहा—"मैंने तुम्हें कभी २० डालर उधार नहीं दिए।" फ्रैंकलिन ने उन्हें याद दिलाया कि अमुक समय में अमुक स्थिति में तुमने मुझे यह डालर दिया था।" उसने कहा—"हाँ, सचमुच २० डालर दिये तो थे।" फ्रैंकलिन बोला—इसीलिए तो मैं तुम्हें वापिस लौटाने आया हूँ।" वह बोला—"परन्तु वापस देने की बात तो कभी नहीं हुई। वापस लेने की बात तो मैं कभी सोच ही नहीं सकता।" फिर उस मित्र ने कहा—"इस सोने के सिक्के को अब तुम्हारे पास ही रहने दो। किसी दिन तुम्हारे जैसा कोई जरूरतमन्द तुम्हारे पास आ जाय तो उसे यह दे देना। अगर वह मनुष्य ईमानदार हो तो कभी न कभी वह तुम्हें उन डालरों को वापस देने आएगा; तभी तुम उससे कहना—'इन्हें तुम अपने पास रखो और जब तुम्हारे सरीखा कोई जरूरतमन्द तुमसे मांगने आए तो उसे दे देना।'

कहते हैं, २० डालर की वह स्वर्ण मुद्रा आज भी अमेरिका के संयुक्त प्रजातन्त्र में किसी न किसी की जरूरत पूरी करती हुई विविध हाथों में घूम रही है।

सचमुच बेंजामिन फ्रैंकलिन का यह अखण्ड दान प्रवाह सामाजिक जीवन में अभाव की बहुत कुछ पूर्ति करता है।

इसी प्रकार भावनगर के भू०पू० दीवान सर प्रभाशंकर पट्टणी ने एक विद्यार्थी को अध्ययन और पुस्तकों के लिए मदद दी। मदद के कुल रुपये लगभग दो हजार चुके थे। विद्यार्थी रुपयों का हिसाब लिखता रहा। आखिर वह स्नातक होकर एक अच्छी नौकरी पर लग गया। उसकी आमदनी अच्छी होने लगी। वह हर महीने रुपयों की बचत करने लगा। आखिर जब कुल रकम ब्याज सहित इकट्ठी हो गई तो वह उसे लेकर सर प्रभाशंकर पट्टणी के पास पहुँचा। उन्होंने उसे आदरपूर्वक बिठाया और कुशल प्रश्न के बाद पूछा—"कहो भाई! कैसे आए?" उसने कहा—"मैं आपके रुपये ब्याज सहित देने आया हूँ।"

पट्टणी—"मेरे कौन-से रुपये? मैंने तुम्हें कब रुपये दिये थे?"

आगन्तुक बोला—"साहब ! आपने मुझे अध्ययन के लिए सहायता देकर मेरी ऐसे समय मे मदद की है, जिसे मैं कभी भूल नहीं सकता। उसके लिए तो मैं आपका जन्म-जन्म ऋणी रहूँगा। वह रकम मैं आपके नाम से जमा करता रहा हूँ। कुल रकम और उसका ब्याज मिलाकर दो हजार रु० से ऊपर होते हैं। यह आपकी धरोहर लीजिए।" पट्टणी ने कहा—"मेरी सब रकम तुम-जैसे होनहार और अध्यवसायशील युवक को देखकर वसूल हो गई। तुम्हारी अच्छी नौकरी लग गई, इसकी मुझे प्रसन्नता है। अब यह रकम तुम्हारे पास ही रहने दो और जो भी तुम-जैसा विद्यार्थी आए, उसे इसमें से मदद देते रहो। मैं इस रकम को विद्यादान-खाते लिख चुका, अब वापिस नही ले सकता। इसी प्रकार तुम विद्यादान में मदद देते रह कर दान की परम्परा चालू रखो।" युवक बहुत ही प्रसन्न हुआ और आभार मानता हुआ, और दान की सुन्दर प्रेरणा के लिए कृतज्ञता प्रगट करता हुआ चला गया।

सचमुच ऐसी दान-परम्परा ही अनेक हृदयो मे दान के दीपक जला सकती है।

पेड़ पौधों से दान देने की सीख लो

यह तो हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि पेड़-पौधे, फल, फूल आदि सभी दान देने की प्रेरणा दे रहे हैं। इतना ही नहीं, इन्हे पत्थर मारने, पीटने, घोटने और तोड़ने पर भी ये अपनी वस्तु दान देते रहते हैं। मनुष्य कदाचित् अपना नुकसान करने वाले के प्रति कुपित होकर उसे कुछ भी देने से विमुख हो जाय, लेकिन ये (वृक्षादि) अपनी चीज देने से कभी इन्कार नहीं करते।

जगल का शान्त वातावरण ! हरे भरे लहलहाते खेत, आम और जामुन से लदे हुए वृक्ष ! प्रकृति दूर दूर तक हरी साड़ी पहनी हुई बहुत सुहावनी लग रही थी। कोकिल का पचम स्वर और शतलज का कल-कल करता हुआ प्रवाहमय मधुर सगीत वातावरण को और भी मधुर बना रहा था। मन्द मन्द मलयानिल तन्द्रा को हटा रहा था। मानव के मन-मस्तिष्क मे चेतना का सचार कर रहा था। सूर्य की बाल-किरणें धरती को आलोक से भरने के लिए चारो ओर बिखर रही थी। चारो ओर पक्षी चहचहा रहे थे। प्रकृति के सौन्दर्य का आनन्द लेने लिए पजाबकेशरी महाराजा रणजीतसिंह जी घोडे पर सवार होकर घूमने के लिए निकल पड़े। प्रकृति के सुहावने दृश्यो का अवलोकन करते-करते वे सिंह की तरह निर्भय घूम रहे थे। तभी अकस्मात् एक पत्थर उनके सिर पर आकर लगा। महाराज आश्चर्यचकित होकर इधर-उधर देखने लगे। यह पत्थर कैसे और कहाँ से आया ?' महाराजा रणजीतसिंह के दिमाग मे दो प्रश्न चक्कर काटने लगे—'पत्थर किसने और क्यो फैंका ?' महाराजा के अगरक्षक अपराधी को ढूँढ़ने के लिए चारो ओर दौड पडे और कुछ ही देर मे एक गरीब अधेड उम्र की स्त्री को पकड कर ले आए। उसकी गोद में एक बच्चा था। जिसके अन्दर धसते हुए पेट, चेहरे की उदासी और रोने की आवाज से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि वह भूखा है, भूख से परेशान है।" अगरक्षको ने महा-

राज से निवेदन किया—"इस शैतान औरत ने आप पर पत्थर फेंका है। इसे इसके अपराध की कठोर से कठोर सजा मिलनी चाहिए; जिससे आयन्दा ऐसा भयंकर अपराध करने का पुनः साहस न कर सके।" उधर वह विधवा स्त्री थर-थर कांप रही थी। उसकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। वह चिन्तित थी कि "न मालूम मुझे इस अपराध की कितनी कठोर सजा मिलेगी ?" इतने में शान्ति और मधुर स्वर में उसे आश्वस्त करते हुए महाराज ने पूछा—"घबड़ाओ मत, बहन ! बताओ, बात क्या है ? तुमने पत्थर क्यों फेंका ?"

उसने रोते-रोते अपनी दुःखगाथा सुनाते हुए कहा—"महाराजजी ! मैं विधवा हूँ। इधर-उधर मेहनत-मजदूरी का काम करते हुए अपना और अपनी आँखों के तारे-लाल का पालन-पोषण करती हूँ। पर, दुर्भाग्य से कल मुझे काम नहीं मिला। इस-लिए इसे भरपेट खाना भी न मिल सका। इसकी भूख मिटाने के लिए पत्थर मारकर जामुन तोड़ रही थी। मगर यह पत्थर जामुन की डाली पर न लगकर आपके ऊपर आ गिरा। मेरे मन में न तो आपको पत्थर मारने की भावना थी, और न मैंने आपके ऊपर पत्थर फेंका है। इसलिए मैं अपसे क्षमा चाहती हूँ। मुझे क्षमा करें।"

उस स्त्री की बात सुनकर महाराजा का चेहरा गम्भीर हो गया। उन्होंने अपनी जेब में हाथ डाला। उनके हाथ में सौ-सौ के दस नोट आए। उन्होंने दसों नोट अर्थात एक हजार रुपये उस विधवा के हाथ में दे दिये; और उसे कहा—"ये लो, और इनसे अपना एवं बच्चे का गुजारा चलाना। भविष्य में इसकी पढ़ाई की भी व्यवस्था कर देता हूँ।" यों कहकर एक कागज पर उस बालक को निःशुल्क शिक्षण देने का आदेश लिख दिया। विधवा का मुर्झाया हुआ चेहरा सूर्योदय होते ही खिल जाने वाले सूर्यमुखी कमल की तरह प्रसन्नता से खिल उठा। वह महाराजा के चरणों में गिर पड़ी। श्रद्धा से चरणस्पर्श किये और अन्तर से आशीर्वाद देकर चल दी। अंगरक्षक महाराजा के इस व्यवहार को देखकर आश्चर्य में डूब गए। वे सोचने लगे कि महाराजा यह क्या कर रहे हैं ? पत्थर मारने वाली महिला को दण्ड न देकर उपहार देना, यह कैसा न्याय ?" उनके मुख के भावों को पढ़कर महाराज ने कहा—"तुम लोग केवल पत्थर को देख रहे हो ? उसके दुःखदर्द एवं उसकी असहाय अवस्था को नहीं देखते। मेरे राज्य में जो लोग दुःख की चक्की के दो पाटों के बीच पिस रहे हैं, उनके लिए इससे (दान से) बढ़कर अच्छा न्याय क्या हो सकता है ? ये मूक पेड़-पौधे, जिनमें न चेतना का विकास ही है, न मधुर भावों का, वे भी पत्थर मारने वाले को अपने मधुर फल देते हैं, तो क्या मैं विकसित चैतन्यशील मनुष्य होते हुए भी इन वृक्षों से भी गया-बीता होकर नीचा व्यवहार करता ? मुझे तो इनसे बढ़कर फल देना चाहिए ? ये पेड़-पौधे तो किसी भी भूखे और दुःखी को खाली हाथ न लौटाएँ, और मैं पंजाब का राजा होकर भी अपने पर पत्थर मारने वाले दुःखी,

असहाय और भूख से पीडित व्यक्ति को खाली हाथ लौटा दूँ, यह कैसे हो सकता है ? क्या मेरी शोभा इसी मे है कि मेरी शरण मे आया हुआ व्यक्ति निराश होकर लौट जाए ?" वृक्षो से दान-प्रेरणा की महाराजा की न्याय युक्त बात सुनकर अगरदास निरुत्तर हो गए।

सचमुच, ये पेड-पौधे अपनी दानशीलता की प्रेरणा से सारे ससार को उत्प्रेरित कर रहे हैं। मनुष्य तो समझदार प्राणी है, उसे अपने स्वामित्व की वस्तु मे से योग्य पात्र को दान करने मे किसी प्रकार की झिझक नही होनी चाहिए।

इन पेड-पौधो की जिन्दगी की सार्थकता जब अपनी वस्तु दूसरो को अर्पण (दान) करने मे है, तो मनुष्य की जिन्दगी की सार्थकता दूसरो को देने मे क्यो नहीं होगी ? फूल अपनी सुगन्ध देकर समाप्त हो जाता है, वह अर्पण करने मे ही अपना जीवन सफल और धन्य समझता है।

एक अत्तार की दूकान मे घोटे जाते हुए गुलाब के फूलों से किसी ने पूछा—"आप लोग उद्यान मे फले फूले, फिर आपने ऐसा कौन सा अपराध किया, जिसके कारण आपको ऐसी असह्य वेदना उठानी पड रही है ? कुछ फूलो ने उत्तर दिया—"हमारा सबसे बडा अपराध यही है कि हम एकदम हँस पडे। दुनिया से हमारा यह हँसना न देखा गया। दुनिया दु खितो को देख कर समवेदना और सुखियो को देखकर ईर्ष्या करती है। उन्हे मिटाने को तैयार रहती है। यही दुनिया का स्वभाव है। कुछ फूलो ने कहा—"अपनी सुगन्ध देकर मर मिटने मे ही तो हमारे जीवन की सार्थकता है।" फूल पिस रहे थे, परन्तु उनके दान की महक उनमे से जीवित हो रही थी।

फूल जैसे अपनी सौरभ और रस अर्पण करने म अपने जीवन की सार्थकता समझता है, वैसे ही मनुष्य को अपना धन और साधन समाज को अर्पण करने मे जीवन की सार्थकता समझनी चाहिए। फूलो के जीवन मन्त्र—Life means giving (जीवन का अर्थ ही दान देना है) की तरह मनुष्यों का जीवनमन्त्र भी यही होना चाहिए।

दान देना समाज का ऋण चुकाना है

'देना' एक सीधी-सी क्रिया है, जिसमे मानव की मानवता भरी हुई है। यदि मानव देता नहीं है तो सच्चे माने मे मानव कहलाने योग्य नहीं है। पशु तो देना जानता ही नही, वह दूसरे का लेना चाहता है। सारांश यह है कि दूसरे को दान देने की क्रिया बिलकुल साधारण होते हुए भी महत्त्वपूर्ण होती है, इसमे ममत्वत्याग की भावना भरी है, जो पशु द्वारा नहीं हो सकती। जैसा कि नीतिकारो ने कहा है—

'दानेन पाणिनं तु कङ्कणेन'

—"मनुष्य के हाथो की सार्थकता या शोभा दान से है, सोने के कगन से

नहीं।" कोरा सोने का कंगन तो हाथ के लिए बोझरूप ही होगा। हाथ की सच्
शोभा तो दान है। दान मानवता का अलंकार है। हाथ को उसका भार क
महसूस नहीं होता। उससे सभी के आभार ही मिलते हैं और मानवता का बो
मिट जाता है।

मानव की यह दानवृत्ति बढ़ते-बढ़ते जब अखण्ड जीवनवृत्ति बन जाती
तब उसमें मनुष्यत्व से ऊपर का देवत्व पैदा हो जाता है। देव का अर्थ है—निरन्
देने वाला। इसके विपरीत यदि उसमें लगातार पशुता ही बढ़ने लगे और दूसरे
छीन-झपट कर उसे सदा अपने पास बनाए रखने की वृत्ति पैदा हो जाय तो समझ
चाहिए कि उसमें 'राक्षसत्व' उत्पन्न हो गया है। राक्षसत्व का अर्थ है—न देने वाल
निरन्तर सहेज कर रखने वाला।

जो मानव मानवता या देवत्व के विपरीत पशुत्व की वृत्ति अपनाकर निरन्
धन बटोरने में ही लगा रहता है अथवा जो राक्षसत्व की वृत्ति अपना कर छीनाझप
से, अन्याय-अत्याचार से एकमात्र धन संग्रह ही करता रहता है, वह समाज का ऋ
अपने सिर पर लादे फिरता है, समाज से लिये हुए को वह लौटा नहीं पाता। चूँ
मनुष्य ने आज तक अपने पूर्वजों से, ऋषि मुनियों से और समाज से जो ज्ञान-विज्ञ
पाया है, जो सुसंस्कार, सभ्यता और संस्कृति का धन पाया है, अथवा अपने बुजु
से जो सुरक्षा, सेवा और धनसम्पत्ति तथा विद्या-बुद्धि पाई है, उसे चुकाने का उप
दान के सिवाय और कौन-सा है? वह एक प्रकार से समाज से लिया हुआ कर्ज
जिसे उसको दान द्वारा चुकाना ही चाहिए।

जरा सोचें तो सही, जिस पैमाने पर मनुष्य इस सृष्टि से, अपने पूर्वजों
माता-पिता से, इष्ट-मित्रों, बन्धु बान्धवों या समाज से, यहाँ तक कि गाय-भैंस, बै
आदि सबसे प्रतिदिन लेता ही रहता है, क्या उसके दान को उस पैमाने पर देना क
जाएगा? हर्गिज नहीं। यानी मनुष्य समाज से जिस अनुपात में लेता रहा है अ
लेता है, उस अनुपात में शायद ही उसने दिया (लौटाया) हो। अधिकांश मनु
समाज से लेते अधिक हैं, देते कम हैं। इसलिए सतत और अधिक मात्रा में देना
इस ऋण को चुकाना है। इसी दृष्टिकोण को लेकर दान का एक अर्थ—लिए हुए
लौटाना भी है। और वास्तव में वह ठीक भी है। जो कभी मानव के द्वारा साधार
दान के माध्यम से कभी पूरा चुकता नहीं हो सकता, दान में उसे चुकता क
(लौटाने) का विनम्र प्रयत्न छिपा हुआ है।

दान, और वह भी विशिष्ट दान कुछ अंशों में समाज से लिया हुआ ऋ
चुकाना या लौटाना है, इसे भली-भाँति समझने के लिए जातक की एक कथा
रहे हैं—

एक ब्राह्मण ने श्रावस्ती में धान की खेती की। खेती बहुत अच्छी हुई। ज
फसल पक कर तैयार हो गई तो रखवाली के लिए उसने एक आदमी नियुक्त क

दिया, वह स्वयं शहर में रहने लगा। रखवाला खेत में मचान बांधकर रात-दिन वहीं रहने लगा। इसी बीच तोतों का एक झुंड फसल खाने के लिए आने लगा। यह झुंड समय पर आता और अनाज खाकर उड़ जाता। बेचारा रखवाला बहुत परेशान हुआ। तोतों का यह झुंड उसके काबू में नहीं आ रहा था। इस झुंड में एक तोता ऐसा था, जो सबका मार्ग दर्शन करता था। सारा झुंड उसके पीछे-पीछे आता और उसी के पीछे वापस जाता। जब वह तोता अपने झुंड के साथ रवाना होता तो अनाज की कुछ बालें मुंह में भर कर साथ ले जाता था। रखवाली करने वाले ने उसका यह ढंग देखकर परेशान होकर मालिक से शिकायत की। उसने आद्योपान्त सारी घटना मालिक को सुनाकर कहा—"फसल को बहुत नुकसान हो रहा है।" खेत के मालिक ने सारी घटना सुन कहा—"गुड़ होगा, वहाँ मक्खियाँ आएँगी ही। प्रभु कृपा से जो फसल तैयार हुई है, वह केवल मेरे लिए ही नहीं है, उसमें तोतों के उस झुण्ड का भी हिस्सा है। इसलिए उसे भी खाने दो। तब उस रखवाले ने कहा—"जहाँ तक खाने की बात है, वहाँ तक तो ठीक है, लेकिन उन तोतों में एक तोता ऐसा है, जो दो चार बालें अपनी चोंच में दबा कर भी ले जाता है। यह सुनकर मालिक ने कहा—'यदि ऐसी बात है, तब तो उसे पकड़ना चाहिए।' यह आदेश पाकर रखवाले ने खेत में जाल बिछा दिया। तोतों का झुण्ड आया। वह तोता, जो सबसे आगे था, ज्यों ही नीचे उतरा कि जाल में फस गया।

यह जातक की कथा है। तथागत बुद्ध कहते हैं कि 'उस तोते के जीवन में मैं ही था। मैं उस जाल में चुपचाप फँसा हुआ पड़ा रहा। अगर मैं हल्ला मचाता तो सभी तोते भूखे ही उड़ जाते इसलिए मैंने सोचा कि कम से कम उन्हें तृप्त तो हो जाने दूं। जब मैंने देखा कि सब खा चुके हैं, तब मैंने शोर मचाया। मेरी आवाज सुनकर तोतों ने सोचा—'हमारा राजा जाल में फस गया है, अतः सब तोते उड़ चले।"

रखवाले ने राजा तोते को मालिक के सामने पेश किया। मालिक ने जब उस तोते को देखा तो उसकी सुन्दरता देखकर मुग्ध हो गया। उसने सोचा—"ये तोते भी बेचारे भूख से पीड़ित होते हैं, पर ये खेती नहीं कर सकते। इसलिए हमारी फसल में इनका भी तो हिस्सा है। मैंने इसे जाल में फंसा कर अन्याय किया है।' यह सोचकर उसने उस तोते को बन्धन मुक्त कर दिया। फिर पूछा—"आखिर तुम्हें मुझ से इतना द्वेष क्यों है कि तुम मेरी फसल उजाड़ते हो? यदि तुम्हें भूख लगती है तो प्रेम से खाओ, किन्तु बालें तोड़ कर क्यों ले जाते हो?" तोते ने उत्तर दिया—"मैं जो कुछ कहूँगा, उस पर आप पूरा विश्वास करेंगे, ऐसी मुझे आशा है। बात यह है कि मुझ पर कुछ पुराना कर्ज है। उस कर्ज को उतारे बिना मुझे चैन नहीं होता। दूसरी बात यह है कि मैं आगे के लिए कर्ज दे रहा हूँ। और तीसरी बात यह है कि मैं अपना खजाना भर रहा हूँ।" यह सुनकर खेत के मालिक ने आश्चर्य के साथ

पूछा—"तुम्हारी बातें बहुत रहस्यमय मालूम होती हैं। यह बताओ कि तुमने किससे कर्ज लिया है ? और किसको कर्ज दे रहे हो ? तथा तुम्हारा खजाना क्या है ?"

तोते ने कहा—"मेरे बूढ़े मां-बाप जिंदा हैं। मैं बचपन में उनसे कर्ज लेता रहा। उन्होंने मुझे पाल-पोस कर बड़ा किया। अब वे अपंग हो गए हैं। उनका ऋण चुकाने के लिए मैं आपके खेत से बालें ले जाने के लिए बाध्य हूँ। इसी तरह मेरे बच्चे भी हैं, जिनके अभी तक पंख नहीं आए हैं, उन्हें मैं कर्ज देता हूँ। तीसरे, बहुत से तोते मेरे अतिथि बन कर आते रहते हैं, उन तोतों में से कोई रुग्ण भी हो जाता है, कोई अपंग हो जाता है, तो कोई उड़ नहीं सकता। उन सबके लिए मुझे कुछ न कुछ जुटाना पड़ता है। यही मेरी निधि है।" यह उत्तर सुनकर खेत का मालिक हर्ष से गद्गद हो गया। उसे एक तोते के मुंह से समाजदर्शन की सुन्दर व्याख्या सुनकर उस पर प्यार उमड़ा और प्रसन्न होकर उसने कहा—"आज से तुम स्वतन्त्र हो। जितना चाहो उतना अनाज मेरे खेत से ले जा सकते हो।"

इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य पर समाज का ऋण रहता है। परिवार, जाति, धर्मसंघ और राष्ट्र आदि सबका समावेश 'समाज' शब्द में हो जाता है। इस तोते की तरह पुराना ऋण उतारने के लिए, तथा कुछ को नया ऋण देने के लिए दान देना अत्यावश्यक है। दान देकर पुराना कर्ज कैसे चुकाया जाता है, इसके लिए एक उदाहरण और लीजिए—

एक चतुर और न्यायी राजा था। उसके राज्य में लाखों आदमी नौकर थे। हर माह सबको वेतन दिया जाता था। एक दिन राजा ने सोचा कि उसका खजांची बहुत दिनों से बीमार है, वह अब कार्य करने में अशक्त है अतः एक ऐसे खजांची को रखा जाय, जो राज्य की आमदनी को अच्छे ढंग से खर्च करे। राजा ने अपने समग्र राज्य में घोषणा करवा दी कि मुझे इस प्रकार का खजांची चाहिए। घोषणा सुनकर खजांची बनने के लोभ में दूर-दूर से हजारों आदमी आने लगे। सुबह से शाम तक तांता लगा रहता। सभी अपनी आमदनी का खर्च इस प्रकार बढ़ा-चढ़ाकर राजा को बताते थे कि राजा उन्हें अवश्य ही खजांची बना लेगा। लेकिन एक साल होने आए, अभी तक राजा को कोई खजांची के योग्य आदमी नहीं जचा। आखिर एक दिन एक माली राजदरबार में आया। वह बोला—"महाराज ! मुझे केवल २०) मासिक वेतन मिलता है। मैं दरबार के बाग में काम करता हूँ। अपनी आधी आमदनी मैं अपने खाने-पीने तथा घर की व्यवस्था में खर्च कर देता हूँ। चौथाई वेतन में अपना कर्ज चुकाता हूँ। और शेष चौथाई वेतन उधार दे देता हूँ।" चतुर राजा समझ गया कि यह माली बहुत होशियार है, इसकी बात में कुछ रहस्य है। राजा ने उससे पूछा—"तुम पर किसका कर्ज है ? और इतनी थोड़ी-सी आमदनी में से उधार पर रुपये कैसे दे पाते हो ?"

माली बोला—"महाराज ! मेरे माता-पिता ने मुझे पाला-पोसा था। समाज

"शतहस्त समाहर, सहस्रहस्तं सकिर ।"[१]

—अगर तुम सौ हाथों से धनादि साधनों को बटोरते हो, तो तुम्हारा कर्तव्य है, हजार हाथों से उसे (जरूरतमंदों मे) वितरित कर दो, बाट दो, दे दो।

सवत् १९५६ के दुष्काल की घटना है। जैनाचार्य पूज्य श्रीलालजी महाराज विचरण करते हुए सौराष्ट्र के एक गाँव मे पधारे, वहाँ झौंपड़े बने देखकर आचार्य श्री ने गाँव के लोगो से पूछा—"क्यो भाई! ये झौंपड़े यहाँ क्यो और किसने बनाये हैं?" ग्रामवासी लोगो ने कहा—"महाराज! इस साल इस इलाके मे भयकर दुष्काल पड़ा। ग्रामवासी लोग भूखों मरने लगे। हमारे गाँव के एक बोहराजी हैं, जो पहले अत्यन्त गरीबी में पले थे, उनकी माँ चक्की पीसकर गुजारा चलाती थी। किन्तु माँ के आशीर्वाद से और बोहराजी के सद्भाग्य से आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई। किसी शहर मे इन्होंने जमीन खरीदी थी, उस जमीन को खोदने से उसमे से हीरे, पन्ने, जवाहरात आदि निकले। बोहराजी के भाग्य खुल गये। बोहराजी ने गाँव पर आये हुए दुष्काल के सकट की बात सुनी तो वे स्वयं गाँव मे आये। दुखद स्थिति देखकर उनका करुणाशील हृदय पसीज उठा। उन्हें अपनी गरीबी के दिन याद आए। मन मे सोचा—"इस गाँव की सकटापन्न स्थिति देखकर भी मैं अकेला मौज से रहूँ और मेरे ग्रामवासी दुख मे रहें, यह स्थिति मेरे लिए असह्य है। मेरा कर्तव्य है कि गाँव वालो को कुछ देकर उनका सकट दूर करूँ। मेरे पास क्या था? गाँव वालो की सद्भावना से ही आज मैं दो पैसे वाला बन गया हूँ अत इस दुष्काल सकट को अकेले ही मुझे निवारण करना चाहिए। बस, क्या था। वे गाँव वालो से मिले। हाथ जोड़कर कहा—"आप मेरे भाई हैं। मैं अपना फर्ज अदा करने के लिए आप लोगो की कुछ सेवा भोजनादि से करना चाहता हूँ।" पहले तो गाँव वालों ने आनाकानी की। लेकिन बोहराजी की नम्रता देखकर लोगो ने उनका भोजन लेना स्वीकार किया। तब से बोहराजी ने दो कड़ाह चढ़ा रखे हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनो के लिए अलग-अलग रसोई होती है। यहाँ गाँव के लोग भी भोजन करते हैं, और अन्य गाँव के दुष्काल पीड़ित भी। बोहराजी ने दुष्काल पीड़ितो के रहने के लिए ये झौंपड़े भी बनवा दिये हैं। यह जो ऊँची हवेली है, यह बोहराजी की है। बोहराजी की माताजी जिस चक्की से आटा पीसती थी, वह चक्की सबसे ऊपरी मजिल मे माता की स्मृति मे और अपनी भूतपूर्व गरीब स्थिति की विस्मृति न हो, इसलिए रखी गई है। ग्रामवासी लोगो से बोहराजी की दानरूप म कर्तव्य की जागरूकता देखकर आचार्यश्री ने अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त की।

वास्तव मे, धनवान व्यक्ति को निर्धनो के प्रति अपने दानरूप कर्तव्य पर ध्यान देना चाहिए और उनके मांगे बिना ही दानरूप मे सहायता करनी चाहिए।

---

१ ऋग्वेद (३/२४/५)

10

दान : भगवान एवं समाज के प्रति अर्पण

भारत के ऋषियों का चिन्तन कहता है कि दान दो, पर लेने वाले को दीन-हीन समझ कर मत दो। यदि दीन-हीन समझकर दोगे तो उसमें अहंकार का विष मिल जाएगा, जो दान के ओज को नष्ट कर देगा। अतः लेने वाले को भगवान समझ कर दो। वैष्णव धर्म की परम्परानुसार भक्त भगवान के मन्दिर में पहुँचता है, मूर्ति के सामने मोहनभोग और नैवेद्य चढ़ाता है; वहाँ वह भगवान को दीन-हीन समझकर अर्पण नहीं करता, अपितु विश्वम्भर समझकर अर्पण करता है, देता है। उस समय उसकी भावना यही रहती है कि—"प्रभो ! यह सब तुम्हारा है, तुम्हें ही समर्पण कर रहा हूँ।[1]" यह कितनी गहरी और ऊँची भावना है।

अर्पण में कितना आनन्द और उल्लास है ! पुत्र पिता को भोजन अर्पण करता है, उसमें भी 'पितृदेवोभव' की भावना होती है, वैसे ही जैन दृष्टि से प्रत्येक आत्मा को परमात्मा समझकर दो। बादलों की तरह अर्पण करना सीखो बादल आकाश से पानी नहीं लाते, वे भूमण्डल से ही ग्रहण करते हैं। बादलों के पास जो एक-एक बूंद का अस्तित्व है, वह सब इसी भूमण्डल का है। इसी से लिया और इसी को अर्पण कर दिया। यही भगवदर्पण की तरह मेघों द्वारा भूमंडल को अर्पण है, भूमंडल की चीज भूमंडल को समर्पित है। इसमें एहसान किसी बात का नहीं, और न अहंकार है, बल्कि प्रेम और विनय है। बस, यही वृत्ति प्रत्येक मानव में होनी चाहिए कि वह प्रत्येक आत्मा को परमात्मा (प्रभु) समझकर अर्पण करे।

वैष्णव सम्प्रदाय के एक महान् आचार्य रामानुज के जीवन का प्रसंग है। उन्होंने धनुर्दास नामक एक निम्नवर्णीय व्यक्ति को अपना भक्त बनाया। वे मठ से कावेरी नदी जाते समय वृद्धावस्था के कारण एक ब्राह्मण भक्त का हाथ पकड़ कर चलते और वापस श्रीरंगम् के मन्दिर की ओर लौटते समय उसी धनुर्दास का हाथ पकड़कर चलते। इससे उच्च वर्णाभिमानी ब्राह्मण भक्तों में आचार्यश्री के इस कार्य पर छींटाकशी होने लगी। आचार्यश्री के कानों में बात पड़ी तो उन्होंने धनुर्दास की सर्वस्व भगवदर्पणता की विशेषता बताने की सोची। जब धनुर्दास आरती के समय मन्दिर

---

१ 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये।'

मे आया तो उसे रोककर अपने ब्राह्मणत्वाभिमानी शिष्यों का बुलाकर कहा, 'जाओ धनुर्दास की पत्नी हेमाम्बा (जो पहले वारांगना थी, किन्तु धनुर्दास को ही अब पति मानने लग गई थी, वैष्णव भक्ता हो गई थी) के सारे आभूषण उतार लाओ।' शिष्यो को आश्चर्य तो हुआ, लेकिन गुरु-आज्ञा पालन अनिवार्य समझकर ३-४ शिष्य रात्रि के समय धनुर्दास के घर म गए। हेमाम्बा को सोई देखकर वे जल्दी-जल्दी उसके शरीर पर से रत्नजटित आभूषण उतारने लगे। एक बाजू के गहने उतारे थे कि हेमाम्बा ने पासा फिराया तो शिष्यो ने सोचा—नींद उड गई है, ऐसा जानकर जितने गहने उतारे थे, उन्हे चुपचाप लेकर आचार्य के पास पहुँचे। उन्हे देखते ही आचार्य ने धनुर्दास से कहा, 'धनुर्दास! बहुत देर हो गई। अब अपने घर जाओ।' वह गया कि तुरन्त शिष्यो ने हेमाम्बा के शरीर से उतारे हुए वे गहने उनके सामने रखे। आचार्य ने कहा—'अच्छा! अब धनुर्दास के घर जाकर देखो कि वह क्या करता है? उसके घर मे इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है?' शिष्य पुन धनुर्दास के घर पहुँचे। बाहर से ही देखा कि घर मे दीपक जल रहा है। हेमाम्बा शय्या पर बैठी थी। उसे देखते ही धनुर्दास ने कहा—'आज यह कैसा वेष बनाया है, तुमने? शरीर पर एक ओर के गहने हैं दूसरी ओर के नही! इसका क्या अर्थ है?' 'इसका अर्थ है मेरा दुर्भाग्य, हेमाम्बा ने खिन्न स्वर मे कहा। आप आचार्य के पास बैठे थे, तब मैं सोई-सोई कुछ विचार कर रही थी, इतने में घर मे चोर घुसे। मैंने देखा कि वे सबके सब ब्राह्मण थे। सोचा बहुत दुर्दशा मे होंगे, तभी तो ब्राह्मण होकर चोरी करने में प्रवृत्त हुए हैं। इन्हें कुछ मदद देनी चाहिए, यह सोचकर मैंने सोने का बहाना किया। चोरो ने जब एक बाजू के गहने उतार लिए तब मैंने दूसरी बाजू के गहने भी दे देन के लिए पासा फिराया कि वे लोग, 'मैं जग गई हूँ' यह जानकर चल दिये। मेरा दुर्भाग्य कि बाकी के गहने मैं उन्हें न दे सकी।'

धनुर्दास ने कहा—'यह तेरा दुर्भाग्य है ही, साथ ही अज्ञान भी। आचार्य का उपदेश सुनकर भी तू यह मानती है कि ये गहने मेरे हैं। तू इन्हें ब्राह्मणों को देती है तो उन पर कुछ एहसान करती है? अरे! यह सर्वस्व, सारी सम्पत्ति, भगवान की है। तू कौन किसी को देकर उपकार करती है! यह छोटी-सी बात समझ सकी होती तो चुपचाप ज्यो की त्यो पडी रहती। चोरो को जो कुछ ले जाना होता, ले जाते। पर अब सोच करने से क्या? धैर्य रख, भगवान की इच्छा होगी तो बाकी के गहने दूसरे किसी के काम आएँगे। शिष्य अब वहाँ अधिक न रुके और मठ मे आकर आचार्यश्री से सारी बात कही। आचार्य रामानुज अर्थपूर्ण मुद्रा मे मुस्करा कर बोले—'अब तुम ही कहो, मैं भगवान क मन्दिर मे जाते समय किसका हाथ पकडूँ? अपना सर्वस्व दे देने वाले परम वैष्णव धनुर्दास का या चार अगुल कपडे के टुकडे के लिए झगडने वाले तुम जैसे कुलाभिमानी ब्राह्मणो का? तुम ही कहो, सच्चा वैष्णवत्व या ब्राह्मणत्व तुम म है या धनुर्दास मे?' सभी शिष्य लज्जा से नतशिर हो गए।

वास्तव में भगवदर्पण समझकर दान देने वाले व्यक्ति के जीवन में अद्भुत आनन्द और सन्तोष होता है।

मैं मानता हूँ कि भगवदर्पण की यह भावना भक्तिमार्ग की देन है। किन्तु दर्शन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं है। जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों ही दर्शन आत्मा में परमात्मस्वरूप या परमात्म अस्तित्व की निष्ठा रखते हैं। आत्मा परमात्मा है, जब हम किसी आत्मा की सेवा करते हैं, उसे कुछ अर्पण करते हैं तो एक दृष्टि से परमात्मा के लिए ही अर्पण किया जाना समझना चाहिए। अतः भक्ति-योग तथा ज्ञानयोग की दृष्टि से विचार करें तो चैतन्य के प्रति अर्पण ईश्वरार्पण ही है, आप जब किसी चेतन आत्मा को कुछ देते हैं तो उसके विराट् ईश्वर रूप पर दृष्टि टिकाइए कि इस देह में भगवान हैं, शरीर में आत्मा है, वही परमात्मा है मैं उसे ही दे रहा हूँ।' यह दान की विराट् दृष्टि है, क्षुद्र देह को न देखकर विराट् आत्मा को देखना और उनके प्रति अर्पण करना—यह दान का दर्शन है। दान की इस विराट दृष्टि से युक्त व्यक्ति सब कुछ भगवान का भगवद्मय मानकर चलता है।

दान : भगवान का हिस्सा निकालना है

दूसरी दृष्टि से सोचें तो इसी वैष्णव दर्शन के अनुसार दान एक तरह से भगवान का हिस्सा निकालना है। जो इस मान्यता के अनुसार अपनी कमाई में से अमुक अंश भगवान का समझकर निकालते हैं, उन्हें भी दान देने में न तो संकोच होता है, न अहंकार सताता है और न ही लोभवृत्ति हैरान करती है। उनके लिए दान, दान नहीं, भगवदर्पण या भगवान का हिस्सा भगवान को सौंपना हो जाता है। इस प्रकार का भगवदंश निकालकर वे लोग जब उस अंश को गरीबों, दीनों, अनाथों, अपाहिजों, दुःखियों या पीड़ितों की सेवा में खर्च करते हैं, उनकी परिस्थिति देखकर बिना मांगे ही दे देते हैं, तो वह प्रकारान्तर से भगवान को ही पहुँच जाता है। ऐसा समझ लेना चाहिए। फिर वह भगवदंश कहीं किसी एक मन्दिर या मठ में चढ़ाने की बात नहीं रहती, सारा विशाल भूमंडल ही भगवान का मन्दिर होता है, चारों दिशाएँ उस मन्दिर की दीवारें होती हैं, आकाश उस मन्दिर का गुम्बज होता है, पर्वत उस व्यापक मन्दिर के द्वारपाल होते हैं, नदियाँ उस विशाल मन्दिर में विराजमान असंख्य प्राणियों के चरण धोती हैं। असंख्य मानवादि प्राणी उसके पुजारी होते हैं। इस प्रकार मानकर वह परम वैष्णव (ब्रह्माण्डव्यापी भगवान का भक्त) अपनी आय में से निकाले हुए भगवदंश को अमुक-अमुक जरूरतमंदों को देकर या उनकी सेवा में लगा कर भगवान के ऋण से कुछ अंशों में मुक्त हो जाता है। ऐसे भगवदंश निकालने वाले व्यक्ति को किसी प्रकार की कमी नहीं रहती।

कई बार व्यक्ति अमुक हिस्सा भगवान का निकालने का संकल्प करके भी नीयत बिगाड़ लेता है और नीयत में फर्क आ जाने पर बरकत में भी फर्क आने लगता है। इसलिए व्यक्ति अपने संकल्प को दुर्बल न बनाए।

मनुष्य अपनी जिन्दगी मे जो भी कुछ कमाता है, उसे प्रभु की धरोहर मान कर चले और अपने व परिवार के लिए थोड़ा-सा रख कर बाकी का प्रभु के नाम से निकाल कर दान दे, आवश्यकता हो, वहाँ सत्कार्य मे व्यय करे तो सहज रूप से ही समाजवाद आ जाय। सरकार को समाजवाद का नारा लगाने की जरूरत ही न रहे। और इसी के साथ ही देने मे आत्मतुष्टि, लाभ में नम्रता और हानि मे धैर्य की वृत्ति बनती है। पर माई के लाल हैं, इस युग मे, जो भगवान् का हिस्सा निकाल कर इस प्रकार दानधर्मादि किया करते हैं।

गरीब से गरीब आदमी भी दृढ विश्वास के साथ ऐसा भगवदर्पण करता है, तो उसके व्यापार धन्धे मे बरकत हुई है। यह कोई मनगढन्त कहानी नहीं है, ठोस सत्य है। कोलगेट साबुन व टूथपेस्ट बनाने वाला विश्वविख्यात विलियम कोलगेट अमेरिका के अत्यधिक गरीब का लडका था। इसके माता-पिता घर पर ही साबुन बनाते और गरीबो के मोहल्ले मे बेचते थे। इसमे से जो थोडा-बहुत मिलता, उसी से गुजारा चलाते थे। एक दिन विलियम से पिता ने कहा—'बेटा! यो कब तक चलायेंगे, तू न्युयार्क जा और वहाँ अपना भाग्य अजमा।'

विलियम पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके गाँव की सीमा पर आया तो एक वृद्ध मिले। उन्होने पूछा—'विलियम! कहाँ जा रहा है?' 'चाचा! मैं अपना भाग्य अजमाने न्युयार्क जा रहा हूँ। वही साबुन का व्यवसाय करूँगा।' वृद्ध ने कहा—'ठीक! पर मेरी बातें ध्यान मे रखोगे तो बरकत होगी। वे ये हैं—(१) धन्धे मे प्रामाणिकता, (२) ग्राहको के साथ ईमानदारी, (३) माल मे मिलावट न करना, क्वालिटी ठीक रखना, तौलनाप मे पूरा देना, (४) परमात्मा की कृपा से मिले हुए मुनाफे मे से अमुक हिस्सा निकाल कर सत्कार्य मे दे देना।'

वृद्ध की बात विलियम को जच गई। रास्ते मे एक चर्च आया, उसमे जाकर विलियम ने वृद्ध की साक्षी से प्रार्थना की और इकरार भी किया—'मैं जो कुछ कमाऊँगा, उसमे से दसवाँ हिस्सा पुण्य का निकाल कर दानादि सत्कार्य मे खर्चूँगा।' न्युयार्क मे जाकर विलियम ने एक छोटा-सा साबुन का कारखाना खोला। पहले दिन उसे एक डालर मुनाफा रहा, उसमे से दशमांश निकाल कर सत्कार्य मे खर्च कर डाला। अब विलियम पर दिन-प्रतिदिन प्रभु का आशीर्वाद बरसता गया। नफे मे वृद्धि होने लगी। धन्धा जोरशोर से चलने लगा। ज्यो-ज्यो मुनाफा बढने लगा, वह पुण्य का हिस्सा भी बढ़ाता गया। इस प्रकार विलियम कोलगेट एक नामी धनिको मे हो गया।

सचमुच, दान ईश्वरीय अंश को सत्कार्य मे अर्पण करना है। जब मनुष्य दृढ श्रद्धा के साथ इसे अर्पण करता है तो उसका चमत्कार भी उसे दिखाई देता है। उसकी दृढ श्रद्धा के साथ उसे दान की बलवती प्रेरणा भी मिलती जाती है।

अपने भाग में से समाज का भाग देना सीखिए

आप जो भी अर्जित करते हैं, उसमें समाज का भी भाग है। और समाज को वह भाग देकर आपको अपने कर्तव्य से बरी होना चाहिए। जो व्यक्ति समाज का हिस्सा नहीं देता, उसे भगवद्गीता की भाषा में चोर कहा गया है—

'तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।'

—समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा दिये हुए साधनों को उनको (समाज के जरूरतमंदों को) न देकर जो स्वयं उपभोग करता है, वह चोर ही है।

महात्मा गांधी जी एक बार दिल्ली थे। दिल्ली में गांधीजी के प्रवचन बिड़ला धर्मशाला में होते थे। उन प्रवचनों को सुनकर एक वृद्ध महोदय के दिल में विचार आया कि मैं अगर अपनी पूंजी में से गरीबों का हिस्सा नहीं दूंगा तो चोर कहलाऊँगा, पर इस दान के योग्य गरीब पात्र कौन हैं? यह मैं नहीं जानता, इसलिए गांधीजी को ही यह पूंजी सौंप कर अपना कर्तव्य अदा करके निश्चिन्त हो जाऊँ।' अतः उसने श्री महादेवभाई के पास आकर कहा—'भाई! मैं कभी का महात्माजी के दर्शनों के लिए खड़ा हूँ। क्या मुझे आप गांधीजी के दर्शन करा देंगे? मुझे दो मिनट ही काफी हैं। मुझे उनके चरणों में एक हजार रुपये अर्पण करने हैं।' महादेव भाई को उसकी बात सुनकर आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—'आप रुपये साथ में लाये हैं या घर जाकर भेजेंगे?' इस पर वृद्ध बोला—'साथ ही लाया हूँ। गांधीजी उस समय बरामदे में बैठकर कुछ लिख रहे थे। महादेव भाई उस वृद्ध ग्रामवासी को गांधीजी के पास ले गए। वृद्ध ने तुरन्त अपनी कमरदार बंडी में से नोटों के दस बंडल निकाले और गांधी के समक्ष रखते हुए कहा—'महात्माजी! यह मेरी तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिए। यह गरीब से गरीब जरूरतमंद सुपात्र के लिए मैं दे रहा हूँ। आप ही उन्हें ज्यादा पहिचानते हैं।'

गांधीजी ने उसकी उदारवृत्ति देखकर पूछा—'बहुत अच्छा! यह तो बताइए यह आपकी कितने वर्षों की बचत है?' वृद्ध बोला—'बहुत वर्षों की है। गतवर्ष मैंने भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए १०० रु० भेजे थे, और चार वर्ष पहले किसानों के लिए इलाहाबाद पाँच सौ रुपये भेजे थे।'

गांधीजी—'आपको कितना वेतन मिलता था? अब कितना पैन्सन मिलता है? आप क्या काम करते थे?'

वृद्ध—'मैं स्कूल में अध्यापक था। बहुत वर्षों तक नौकरी करने के बाद जब मैं निवृत्त हुआ तो मुझे ५०) मासिक मिलते थे। मुझे पेन्शन तो नहीं मिला, किन्तु २७००) रुपये की थैली भेंट के रूप में दी गई थी। 'तुम्हें निवृत्त हुए कितने साल हुए?'—गांधीजी ने पूछा। वृद्ध बोला—'पाँच वर्ष।' 'अपने गुजारे के लिए आप कितने रुपये मासिक खर्च करते हैं?'

'मुझे अपने गुजारे के लिए ज्यादा खर्च नहीं करना पड़ता।' वृद्ध ने कहा। गाँधीजी—'फिर भी मनुष्य को जीने के लिए कुछ तो चाहिए। आपकी आवश्यकता कितनी है?' वृद्ध—'मुझे तो दाल-रोटी के लिए अधिक जरूरत नहीं है, केवल १०) रु० मासिक चाहिए।' मेरे स्त्री, पुत्र या परिवार नहीं है। मेरे भतीजे थे, उन्हें मैंने पढ़ा लिखाकर काम पर लगा दिया। अतः अब मैं अकेला ही हूँ। अधिकांश समय संस्कृत पाठशाला में बच्चों को पढ़ा कर व्यतीत करता हूँ।' गाँधीजी—'तब तो आपने अपनी सीमित आय में से जो कुछ हजार बचाए, वे सब गरीबों की सेवा में दान कर दिये। यह बहुत बड़ी बात है। आपसे लोग यह कला सीख लें तो कितना अच्छा हो।'

वृद्ध—'महात्माजी! मैंने अपने लिए तो बहुत कम खर्च किये हैं। कई दफा तो मैंने अपने पास जो कुछ था, वह गरीबों को दे दिया है। अभी मेरे पास कुछ और रुपये बचे हैं, जिन्हें मैं फिर कभी लाऊँगा। मुझे यह पता नहीं है कि कौन सुपात्र मेरी इस मामूली पूँजी के लिए योग्य है, इसलिए आपके पास चला आया, इन्हें देने। आप सुपात्र गरीबों को जानते हैं। आपने मेरी यह तुच्छ भेंट स्वीकार करके कृतार्थ किया। मुझे आज अत्यन्त सन्तुष्टि है कि मैं अपनी आय में से गरीब भाइयों के लिए कर्तव्य रूप में कुछ भाग निकाल सका।' यों कहकर वृद्ध अध्यापक ने गाँधीजी के चरण छूए और धीरे-धीरे चला गया।

सचमुच यह घटना कर्तव्य रूप में दान की और अपने भाग में से समाज के लिए भाग देने की प्रेरणा दे रही है। इसीलिए एक विचारक ने कहा है—

'यदि आप भाग्यवान हैं तो अपने भाग में से भाग देना सीखिए। आपकी सम्पत्ति में समाज का भी हिस्सा है। यदि भाइयों में सम्पत्ति या जमीन-जायदाद के हिस्से हो रहे हों और आपको अपना हिस्सा न मिले तो आप कितने बेचैन हो उठते हैं? किन्तु समाज का भाग, जो आपके पास है, उसे देने के लिए बेचैन होते हैं, या नहीं?'

परन्तु देखा यह जाता है कि सम्पन्न लोग अपने स्वार्थ के कामों में तो खुले हाथों खर्च करते हैं, लेकिन जब कोई कर्तव्य के रूप में दान देने का प्रसंग आता है, तो वे कृपणता दिखाते हैं, कई बहाने बनाते हैं।

एक प्रचारक जी एक धनिक के पास अनाथालय के लिए चन्दा लेने पहुँचे। उन्होंने अनाथालय की पिछली कार्यवाही का विवरण बताया, संस्था का उद्देश्य और समाज के धनिकों का कर्तव्य बताकर कहा—सेठजी! इस सेवाभावी संस्था के लिए कुछ दान दीजिए।' यह सुनकर सेठ विचार में पड़ गए। बोले—'अभी तो, आप जानते हैं कि व्यापार मन्दा चल रहा है।' हालांकि सेठ के घर में पंखा, रेडियो, रेफ्रीजेटर, ऐयर कंडीशन रूम वगैरह की सब सुख सुविधाएँ बाकायदा चालू थी। पर अच्छे कार्य के लिए दान देने में कमाई की कमी का बहाना बना लिया। प्रचारक

बोले—'आपसे तो बहुत आशा थी। पर आप ही ऐसा कह रहे हैं, आपको कम से कम दो-सौ रुपये तो अवश्य देना ही चाहिए। इसके बिना संस्था का काम कैसे चलेगा ?'

सेठ—'आप आए हैं तो पाँच रुपये ले जाइए।' इस पर प्रचारक ने बहुत आजीजी की, तब जाकर सेठ ने २५) रुपये दिये। कहिए, यह कैसा दान है ? राजी-खुशी से कर्तव्य समझकर देते तो वह सच्चा दान होता, इस प्रकार से देने में कोई हानि भी नहीं होती। पर समाज के लोगों की मनोवृत्ति ऐसी बन गई है कि अपनी सन्तान के लिए धन जोड़-जोड़कर रख जाने की उन्हें चिन्ता नहीं, चाहे वह सन्तान उनकी सम्पत्ति को लापरवाही से व्यर्थ कार्यों में ही उड़ादे। परन्तु अच्छे कार्य में दान देने में उन्हें सौ बार विचार करना पड़ता है अगर किसी पापकार्य में पैसा खर्च करना हो तो वे खुले हाथों लुटाते हैं, मगर पुण्यकार्य में धन खर्च करने में हिचकते हैं। ऐसे लोगों को अपने कर्तव्य का भान ही नहीं होता कि समाज के लिए अमुक हिस्सा निकालना तो हमारा कर्तव्य है। नाच-गान हो रहा हो, सिनेमा में जाना हो या अमुक जगह आमोद-प्रमोद के लिए जाना हो तो वहाँ कोई बहाना नहीं बनाया जाता।

जगदेवा नामक पण्डित को कथा बाँचने के लिए किसी गाँव के लोगों ने बुलाया। ठीक एक महीने कथा सुनाने के बाद गाँव में पण्डितजी को दान-दक्षिणा देने के निमित्त चन्दा किया गया। लोगों ने बहुत नाक-भौं सिकोड़ते-सिकोड़ते दो-दो चार-चार आने दिये। कुल मिला कर ३०) रुपये हुए। इसी बीच गाँव के कुछ मन-चलों ने एक वाराङ्गना को नाचने-गाने के लिए बुलाया। वाराङ्गना आई और उसने नाचगान शुरू किया। वाराङ्गना का नाम सुनकर दूर-दूर से लोग तमाशा देखने आए। उस समय वेश्या ने एक छंद गाया—

> 'परिपूरन पाप के कारण से जिन-राज-कथा न रुचे जिनको।
> इक नार बुलाय नचावत है, नहीं आवत लाज जरा तिन को।
> मिरदंग कहे धिग् है धिग् है, सुरताल कहे—किनको, किनको ?
> दुइ हाथ उठाय के नार कहे, धिक् है इनको-इनको-इनको !'

लेकिन गाँव के गँवार लोग इसमें कुछ नहीं समझे और छंद में मृदंग आदि शब्द आने से और वेश्या के हाथ उठाने व नैन नचाने से सबका मन मुग्ध हो गया। सभी एक साथ बोल उठे—'वाह ! वाह ! वाह !' वेश्या के ऊपर रुपयों की वर्षा होने लगी। लगभग ३००) रुपये वेश्या की जेब में आ गए। तब कथावाचक जगदेवा ने भगवान् से प्रार्थना की—

> 'ब्राह्मण मत कर नाथजी, चाहे वेश्या कर जगदीश !
> वेश्या को मिले तीन सौ, जगदेवा को तीस।'

इस कलियुग में लोगों की वृत्ति पुण्य कार्य में एक भी पाई खर्च करने की नहीं होती, परन्तु पाप-कार्य में तन, मन, धन सर्वस्व लुटा सकते हैं।

'मुझे अपने गुजारे के लिए ज्यादा खर्च नहीं करना पड़ता।' वृद्ध ने कहा। गांधीजी—'फिर भी मनुष्य को जीने के लिए कुछ तो चाहिए। आपकी आवश्यकता कितनी है?' वृद्ध—'मुझे तो दाल रोटी के लिए अधिक जरूरत नहीं है, केवल १०) रु० मासिक चाहिए।' मेरे स्त्री, पुत्र या परिवार नहीं है। मेरे भतीजे थे, उन्हें मैंने पढ़ा लिखाकर काम पर लगा दिया। अत अब मैं अकेला ही हूँ। अधिकांश समय संस्कृत पाठशाला मे बच्चो को पढ़ा कर व्यतीत करता हूँ।' गांधीजी—'तब तो आपने अपनी सीमित आय में से जो कुछ हजार बचाए, वे सब गरीबो की सेवा मे दान कर दिये। यह बहुत बडी बात है। आपसे लाग यह कला सीख लें तो कितना अच्छा हो।'

वृद्ध—'महात्माजी ! मैंने अपने लिए तो बहुत कम खर्च किये हैं। कई दफा तो मैंने अपने पास जो कुछ था, वह गरीबो को दे दिया है। अभी मेरे पास कुछ और रुपये बचे हैं, जिन्हें मैं फिर कभी लाऊँगा। मुझे यह पता नहीं है कि कौन सुपात्र मेरी इस मामूली पूंजी के लिए योग्य है, इसलिए आपके पास चला आया, इन्हें देने। आप सुपात्र गरीबो को जानते हैं। आपने मेरी यह तुच्छ भेंट स्वीकार करके कृतार्थ किया। मुझे आज अत्यन्त सन्तुष्टि है कि मैं अपनी आय मे से गरीब भाइयो के लिए कर्त्तव्य रूप म कुछ भाग निकाल सका।' यो कहकर वृद्ध अध्यापक ने गांधीजी के चरण छूए और धीरे-धीरे चला गया।

सचमुच यह घटना कर्तव्य रूप मे दान की और अपने भाग मे से समाज के लिए भाग देने की प्रेरणा दे रही है। इसीलिए एक विचारक ने कहा है—

'यदि आप भाग्यवान हैं तो अपने भाग मे से भाग देना सीखिए। आपकी सम्पत्ति में समाज का भी हिस्सा है। यदि भाइयो मे सम्पत्ति या जमीन जायदाद के हिस्से हो रहे हो और आपको अपना हिस्सा न मिले तो आप कितने बेचैन हो उठते हैं? किन्तु समाज का भाग, जो आपके पास है, उसे देने के लिए बेचैन होते हैं, या नही?'

परन्तु देखा यह जाता है कि सम्पन्न लोग अपने स्वार्थ के कामो मे तो खुले हाथो खर्च करते हैं, लेकिन जब कोई कर्तव्य के रूप मे दान देने का प्रसग आता है, तो वे कृपणता दिखाते हैं, कई बहाने बनाते हैं।

एक प्रचारक जी एक धनिक के पास अनाथालय के लिए चन्दा लेने पहुँचे। उन्होंने अनाथालय की पिछली कार्यवाही का विवरण बताया, सस्था का उद्देश्य और समाज के धनिकों का कर्तव्य बताकर कहा—सेठजी ! इस सेवाभावी सस्था के लिए कुछ दान दीजिए।' यह सुनकर सेठ विचार मे पड गए। बोले—'अभी तो, आप जानते हैं कि व्यापार मन्दा चल रहा है।' हालांकि सेठ के घर मे पखा, रेडियो, रेफ्रीजेटर, ऐयर कडीशन रूम वगैरह की सब सुख सुविधाएँ बाकायदा चालू थी। पर अच्छे कार्य के लिए दान देने म कमाई की कमी का बहाना बना लिया। प्रचारक

बोले—'आपसे तो बहुत आशा थी। पर आप ही ऐसा कह रहे हैं, आपको कम से कम दो-सौ रुपये तो अवश्य देना ही चाहिए। इसके बिना संस्था का काम कैसे चलेगा ?'

सेठ—'आप आए हैं तो, पाँच रुपये ले जाइए।' इस पर प्रचारक ने बहुत आजीजी की, तब जाकर सेठ ने २५) रुपये दिये। कहिए, यह कैसा दान है ? राजी-खुशी से कर्तव्य समझकर देते तो वह सच्चा दान होता, उस प्रकार से देने में कोई हानि भी नहीं होती। पर समाज के लोगों की मनोवृत्ति ऐसी बन गई है कि अपनी सन्तान के लिए धन जोड़-जोड़कर रख जाने की उन्हें चिन्ता नहीं, चाहे वह सन्तान उनकी सम्पत्ति को लापरवाही से व्यर्थ कार्यों में ही उड़ादे। परन्तु अच्छे कार्य में दान देने में उन्हें सौ बार विचार करना पड़ता है अगर किसी पापकार्य में पैसा खर्च करना हो तो वे खुले हाथों लुटाते हैं, मगर पुण्यकार्य में धन खर्च करने में झिझकते हैं। ऐसे लोगों को अपने कर्तव्य का भान ही नहीं होता कि समाज के लिए अमुक हिस्सा निकालना तो हमारा कर्तव्य है। नाच-गान हो रहा हो, सिनेमा में जाना हो या अमुक जगह आमोद-प्रमोद के लिए जाना हो तो वहाँ कोई बहाना नहीं बनाया जाता।

जगदेवा नामक पण्डित को कथा बांचने के लिए किसी गाँव के लोगों ने बुलाया। ठीक एक महीने कथा सुनाने के बाद गाँव में पण्डितजी को दान-दक्षिणा देने के निमित्त चन्दा किया गया। लोगों ने बहुत नाक-भौं सिकोड़ते-सिकोड़ते दो-दो चार-चार आने दिये। कुल मिला कर ३०) रुपये हुए। इसी बीच गाँव के कुछ मन-चलों ने एक वाराङ्गना को नाचने-गाने के लिए बुलाया। वाराङ्गना आई और उसने नाचगान शुरू किया। वाराङ्गना का नाम सुनकर दूर-दूर से लोग तमाशा देखने आए। उस समय वेश्या ने एक छंद गाया—

> 'परिपूरन पाप के कारण ते जिन-राज-कथा न रुचे जिनको।
> इक नार बुलाय नचावत हैं, नहीं आवत लाज जरा तिन को।
> मिरदंग कहे धिग् है धिग् है, सुरताल कहे—किनको, किनको ?
> इक हाथ उठाय के नार कहे, धिक् है इनको-इनको-इनको !'

लेकिन गाँव के गँवार लोग इसमें कुछ नहीं समझे और छंद में मृदंग आदि शब्द आने से और वेश्या के हाथ उठाने व नैन नचाने से सबका मन मुग्ध हो गया। सभी एक साथ बोल उठे—'वाह ! वाह ! वाह !' वेश्या के ऊपर रुपयों की वर्षा होने लगी। लगभग ३००) रुपये वेश्या की जेब में आ गए। तब कथावाचक जगदेवा ने भगवान् से प्रार्थना की—

> 'ब्राह्मण मत कर नाथजी, चाहे वेश्या कर जगदीश !
> वेश्या को मिले तीन सौ, जगदेवा को तीस।'

इस कलियुग में लोगों की वृत्ति पुण्य कार्य में एक भी पाई खर्च करने की नहीं होती, परन्तु पाप कार्य में तन, मन, धन सर्वस्व लुटा सकते हैं।

परन्तु जिनके दिल मे दान का दीपक जल उठता है, कर्तव्य की रोशनी जिनके हृदय मे हो जाती है, वह व्यक्ति फिजूल कामो मे एक भी पाई खर्च करने से कतराता है, एक दियासलाई भी व्यर्थ खर्च करने मे हिचकिचाता है, मगर समाज-सेवा का कोई कार्य आ जाता है अथवा विपद्ग्रस्त को दान देने का प्रसग आता है तो वे मुक्तहस्त से लुटाते हैं।

प० मदनमोहन मालवीय न हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के लिए करोड़ों रुपये राजा महाराजाओ से इकट्ठा किया था। वे कहा करते थे—भारतवर्ष के हर घर पर दाता खडा है कोई लेने वाला चाहिए।' एक बार वे कलकत्ता के एक नामी सेठ के यहाँ बडा भारी दान पाने की आशा से पहुँचे तो उस समय घर का मालिक बैठकखाने में ही बैठा था। प० मालवीयजी को उसने सत्कारपूर्वक बिठाया। इतने में उनका एक छोटा लडका आया और एक दियासलाई की सीक जलाकर डाल दी, दूसरी जलाने लगा तो सेठ ने उसे रोका, डाटा और कसकर एक थप्पड जड दी। लडका रोता हुआ बाहर चला गया। मालवीयजी विचार मे पड गए—जो मनुष्य एक दियासलाई के जलाने पर अपने लडके के थप्पड मार सकता है, वह सार्वजनिक सस्था के लिए क्या दान देगा?' वे निराश होकर जाने लगे। सेठ न कहा—'आप जा क्यों रहे हैं? मेरे लायक सेवा फरमाइए न?' मालवीयजी ने उनसे कहा—'मैं तो हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए कुछ दान लेने आया था।' सुनते ही सेठ ने ५० हजार रुपये का चैक काट कर दे दिया। मालवीयजी अवाक् रह गए। जाते जाते उन्होंने पूछ ही लिया—'सेठजी! मैं तो पहले इसी कारण से निराश होकर जा रहा था कि जो व्यक्ति एक दियासलाई जलाने पर अपने लडके के थप्पड मार सकता है, वह कोमल हृदय कैसे होगा? वह क्या रुपया देगा, इस सार्वजनिक सेवा सस्था के लिए?'

सेठ ने कहा—'मालवीयजी! जिस कार्य से लडके का कोई हित न हो, भविष्य की परम्परा बिगडे, उसे मैं बरदास्त नहीं कर सकता। वैसे सदुपयोग के लिए लाखों रुपये खर्च करने को तैयार हूँ।' मालवीयजी का समाधान हो गया। वे सन्तुष्ट होकर चले गए।

तथागत बुद्ध की दान के सम्बन्ध मे कितनी सुन्दर प्रेरणा है—

सक्कच्च दान देथ, सहत्था दानं देथ।
चित्तीकत दान देथ, अनपविद्ध दान देथ॥[1]

—'सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो और ठीक तरह से दोषरहित दान दो।'

सहानुभूतिपूर्ण हृदय मे दान की प्रेरणा सहज होती है

जो व्यक्ति सहृदय होते हैं, दूसरो के दुखो को देखकर पिघल जाते हैं और

---

१ दीघनिकाय २।१०।५

उनके दुःख में रो पड़ते हैं, वे व्यक्ति उनके दुःखों को मिटा कर ही दम लेते हैं। वे दान दिये बिना रह ही नहीं सकते। उनके हृदय में दान की प्रेरणा सहज होती है।

ईरान के महाप्राण कवि शेखसादी ने बोस्तां की एक कथा है—एक बार दमिश्क में भारी दुष्काल पड़ा। लोग धड़ाधड़ भूखे मरने लगे। पानी भी दुखियों की आँखों के सिवाय कहीं नजर नहीं आ रहा था। पेड़ पत्तों और फूलों से रहित बिलकुल ठूंठ-से हो गये थे। इसी अर्से में एक दिन एक मित्र मुझसे मिलने आया। उसका दीदार देखकर मैं विचार में पड़ गया। एक जमाने में शहर के धनिकों में अग्रगण्य, आज सूखकर अस्थिपंजर क्यों हो गया है? मैंने उससे पूछा—'मेरे नेक दोस्त! तुम पर कौन-सी आफत आ गई जिससे इस प्रकार फटेहाल हो गया?' सुनते ही पुण्य प्रकोप से वह लाल-लाल आँखें करके घूरते हुए बोला—अरे पागल! सारी बात जानता है, फिर भी मुझे पूछता है? तेरी अक्ल कहाँ चरने गई है? तुझे पता नहीं कि विपत्ति सीमा तोड़ चुकी है। आश्वासन देते हुए मैंने कहा—'परन्तु इन सबसे तुझे कौन-सी आंच आई? जहर तो वहीं फैलता है, जहाँ अमृत न हो। प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तू तो वैसा का वैसा सही सलामत है।' मेरी बात सुनकर रंजभरी आँखों से उसने मेरे सामने देखा। वह ऐसा दिख मालूम होता था, मानो कोई ज्ञानी अज्ञानान्धकार में भटकते हुए व्यक्ति को ताक रहा हो। दीर्घ-निःश्वास लेते हुए उसने मुझसे कहा—'मेरे अज्ञान भाई! अगर किसी आदमी के तमाम मित्र समुद्र में डूब रहे हों और अकेला ही किनारे खड़ा-खड़ा उन्हें देख रहा हो, तो उसे चैन पड़ सकता है? मेरे पास धन न रहा, ऐसी बात नहीं है। मैंने अपने धन का सदुपयोग इन्हीं भूखों और दुःखियों के दुःख निवारण में किया है, फिर भी मैं अकेला कितना कर सकता था? अक्लमन्द वही समझा जाता है, जो न स्वयं जख्मी होना चाहता हो, और न दूसरों को जख्मी देखना चाहता हो! पास में बीमार पड़ा कराह रहा हो, उस समय स्वस्थ आदमी को कभी चैन पड़ सकता है? बस, यही हालत मेरी है। मैं जब देखता हूँ कि मेरे आसपास हाय-हाय मच रही है, तो अमृत का कौर भी जहर बन गया है। मैं अपना धन, साधन और जो कुछ भी था, जरा-सा रखकर इन लोगों में लुटा दिया। इसका मुझे कोई अफसोस नहीं। मेरा यह सहज कर्तव्य था।'

वास्तव में दान देने के लिए विवेकी व्यक्ति को बाहर की प्रेरणा की जरूरत ही नहीं पड़ती उसकी अन्तरात्मा ही स्वयं उसे दान देने की प्रेरणा करती है, जिसे वह रोक नहीं सकता।

सन् १९४० की बात है। जैन समाज के प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री ऋषभदास जी रांका अपने एक मित्र से मिलने गये हुए थे। वे दोनों गद्दी पर बैठे बातें कर रहे थे, इतने में एक व्यक्ति आया और दुःखित चेहरे से लाचारी बताते हुए बोला—"सेठजी! इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ। मुझे खराब बीमारी हो गई है। दवा के लिए और

खाने के लिए भी पैसे पास मे नही हैं। किसी काम पर भी इस समय जा नही सकता। कृपा करके मुझे कुछ मदद कीजिए।" राकाजी के मित्र ने पेटी खोल कर मुट्ठी मे जो कुछ आया, उसे दे दिया। राकाजी यह देख रहे थे। वे चुप न रह सके, बोले—आपने यह क्या किया? वह तो चरित्रहीन और दुराचारी था।"

उनके मित्र ने कहा—"मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ, लेकिन वह दु खी था। उसका दु ख मुझसे नही देखा गया, इसलिए मैं इसे (दान) दिये बिना रह ही न सका।"

यह था अन्त प्रेरणा से दान, जिसे राकाजी के मित्र रोक न सके।

तथागत बुद्ध की भाषा मे अन्तरात्मा मे दूसरी आत्माओ के प्रति श्रद्धा बढाने के लिए दान देना अत्यावश्यक है—

दान ददतु सद्धाय, सील रक्खतु सब्बदा।
भावनाभिरता होतु एत बुद्धान सासन।

—'आत्म श्रद्धा बढ़ाने के लिए दान दो, शील की सर्वदा रक्षा करो और भावना मे अभिरत रहो, यही बुद्धो का शासन (शिक्षण) है।"

अगर मनुष्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति वफादार रहे तो उसे अन्तर की आवाज या हृदय की प्ररणा सब कुछ दे देने की होती है, भले ही वह उस आवाज को दबा दे।

श्री आइजन हॉवर (भूतपूर्व राष्ट्रपति अमेरिका) ने अपने भाषण के सिलसिले म एक बार बडी मजेदार दिलचस्प कहानी सुनाई थी—'मेरे बचपन के दिनों मे मेरे घर वाले एक वृद्ध किसान के यहाँ गाय खरीदने गए। हमने किसान से गाय की नस्ल के बारे मे पूछा पर उस भोले भाले किसान को नस्ल क्या होती है, यह कुछ भी मालूम न था। फिर हमने पूछा, कि 'इस गाय के दूध से रोज कितना मक्खन निकलता है? किसान को इतना भी ज्ञान न था। अन्त मे, हमने पूछा—'खैर, यही बताओ, तुम्हारी गाय साल मे औसतन कितना दूध देती है? किसान ने फिर सिर हिलाते हुए जवाब दिया—मैं यह सब नही जानता। बस, इतना जानता हूँ कि यह गाय बडी ईमानदार है। इसके पास जितना भी दूध होगा, वह सब आपको दे देगी।" तदुपरान्त आईजन हॉवर ने अपने भाषण का अन्त करते हुए कहा—"सज्जनो! मैं भी उसी गाय की तरह हूँ। मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब मैं आप लोगो (राष्ट्र व समाज) को दे दूगा।"

सचमुच, अन्तरात्मा की दान की प्रेरणा की आवाज मे बडा बल होता है। महात्मा बुद्ध, भगवान महावीर, या अन्य तीर्थंकर जो सर्वस्व त्याग (दान) करके निकले थे, उसके पीछे अन्तरात्मा की प्रबल आवाज ही तो थी।

तीर्थंकरों द्वारा वार्षिक दान : अन्तःप्रेरणा से

आज दिन तक जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, वे सभी सर्व-संयम ग्रहण करने से पूर्व एक वर्ष तक सूर्योदय से लेकर प्रातःकालीन भोजन तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राएँ दान देते रहे हैं। आचारांग सूत्र[1] इस बात का साक्षी है। वहाँ तीर्थंकरों के द्वारा वर्षभर तक दान दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख है—

> संवच्छरेण होहिति अभिनिक्खमणं तु जिणवरिंदाणं।
> तो अत्थि संपदाणं पव्वत्ती पुव्वसूराओ।
> एगा हिरण्णकोडी अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा।
> सूरोदयमाईयं दिज्जइ जा पायरासो त्ति॥"

इस प्रकार का वार्षिक दान, यों ही नहीं हो जाता है, न यह कोई बिना समझ का दान है! यह तो तीर्थंकर जैसे परम अवधिज्ञानी के अन्तःकरण की प्रेरणा से प्रादुर्भूत दान है, जिसकी अखण्ड धारा लगातार एक वर्ष तक चलती है, और वह दान प्रक्रिया भी प्रतिदिन सूर्योदय से लेकर कलेवा न कर लें, उससे पहले पहले तक चलती है। इसके पीछे भी गम्भीर रहस्य है। जगत् की दरिद्रता मिटाने के लिए एवं अपनी त्याग की समृद्धि, क्षमता और शक्ति बढ़ाने के लिए तो यह वार्षिक दान है ही, परन्तु सबसे बड़ी बात है, जगत् को दान की प्रेरणा देना। जगत् के लोग यह समझ लें कि धन मनुष्य की प्रिय वस्तु नहीं है, जिसे कि वह प्रिय समझता रहा है। सबसे प्रिय वस्तु आत्मा है, उसे दान से ही सच्चरित्र— सुसज्जित किया जा सकता है, धन संग्रह से नहीं। अतः दीक्षा लेने से पूर्व तीर्थंकर वर्षभर तक दान देकर संसार को यह देने का उद्घोषण करते हैं कि "दान दिये बिना आत्मा की शोभा नहीं है। दान से ही सर्वभूत मैत्री, आत्मीयता, विश्ववात्सल्य, विश्वबन्धुता आदि सम्भव है। दान से ही जीवन में उदारता आती है, स्वार्थ त्याग की प्रेरणा जागती है फिर मनुष्य हिंसा असत्य, चोरी आदि दुष्कर्मों में मन से भी प्रवृत्त नहीं होता। इसलिए सौ हाथों से कमाओ तो हजार हाथों से उसका दान कर दो।' यही कारण है कि तीर्थंकर बिना किसी भेदभाव के दान देते हैं। उनसे दान लेने के लिए सनाथ, अनाथ, पथिक, प्रेष्य, भिक्षु आदि जो भी आते थे, उन्हें वे मुक्तहस्त से दे देते थे। ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र में तीर्थंकर मल्लि भगवती के वार्षिक दान के सन्दर्भ में वहाँ इस बात को स्पष्ट अभिव्यक्त किया है।[2] वे अपने वार्षिक दान से संसार को यह भी अभिव्यक्त कर देते हैं कि हमारी दीक्षा ग्रहण करने के बाद जो शील, तप और भाव, धर्म के इन तीन

1 श्रुत २।१३ गा. ११२–११३

2 'तते णं मल्ली अरहा कल्लाकल्लिं० जाव मागहओ पायरासोत्ति बहूणं सणाहाण य अणाहाण य पंथियाण य पहियाण य करोडियाण वा कप्पडियाण य एगमेगं हिरण्णकोडिं अट्ठ य अणूणाति सय सहस्साति इमेयारूवं अत्थसंपदाणं दलयति।'

अगो का पालन तो व्यावहारिक रूप से हो सकता है, परन्तु दान धर्म का पालन व्यवहार रूप से नही हो सकता। इसलिए गृहस्थाश्रमी जीवन में रहते हुए ही दान दिया जा सकता है, इसी अन्त प्रेरणा से दान दिया जा रहा है। गृहस्थाश्रम दानधर्म पर ही टिका हुआ है। दान धर्म की बुनियाद पर ही गृहस्थाश्रम की जड़ें सुदृढ़ होती हैं।' इससे बढकर दान की और अधिक प्रेरणा क्या हो सकती है। दान धर्म का आचरण करके हृदय को मुलायम, नम्र, निरभिमानी, नि.स्वार्थ, निष्काम एव निर्मल बना कर हृदय भूमि पर आत्मधर्म का बीजारोपण करते हैं।

तीर्थंकर महान् पुरुष होते हैं। उनका प्रत्येक आचरण जगत् के लिए अनुकरणीय होता है। उनकी प्रवृत्ति का अनुसरण करने से किसी भी व्यक्ति का किसी भी प्रकार का अहित नही। गीता की भाषा मे—

'यद्यदाचरति श्रेष्ठ. तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥'

—श्रेष्ठ पुरुष जिस-जिस वस्तु का आचरण करते हैं, अन्य साधारण जन भी उसी का आचरण करते हैं। वे जिस वस्तु को प्रमाणित कर जाते हैं, लोग उसी का अनुसरण—अनुवर्तन करते हैं।

इस दृष्टि से तीर्थंकरों द्वारा आचरित दानधर्म की प्रवृत्ति विश्व के लिए, खासतौर से सद्गृहस्थ के लिए प्रतिदिन आचरणीय है, अनुसरणीय है। दानधर्म के आचरण से किसी भी जीव का अनिष्ट या अहित नही है। बल्कि इसमे सारे विश्व का हित और कल्याण निहित है।

यही कारण है कि तीर्थंकर जैसे ज्ञानी पुरुष दीक्षा से पूर्व एक वर्ष में कुल ३ अरब, ८८ करोड, ८० लाख स्वर्ण मुद्राओ का दान दे देते हैं।[1]

इस प्रकार उच्चकोटि का दान देकर वे ससार के समक्ष गृहस्थाश्रम का भी एक आदर्श प्रस्तुत कर जाते हैं।

तीर्थंकरो के वार्षिक दान से एक बात यह भी ध्वनित होती है कि नाशवान धन का त्याग करने से ही अविनाशी आत्मा की खोज हो सकती है। जो व्यक्ति इस नाशवान धन के मोह मे पडा रहता है, इसे जरूरतमन्दो को नही देता, वह धन उस प्रमादी व्यक्ति की इस लोक मे या परलोक मे रक्षा नहीं कर सकता,[2] न ही धन कभी मनुष्य को तृप्त कर सकता है।[3]

---

१ तिण्णेव कोडिसया, अट्ठासीई अ हुंति कोडीओ।
असियं च सयसहस्सा एयं संवच्छरे दिण्णं ॥
—आव० नि० गा २४२

२ 'वित्तेण ताण न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था' —उत्तराध्ययनसूत्र

३ 'न हि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य —उपनिषद

उपनिषद् में एक कथा आती है। याज्ञवल्क्य ऋषि अपने जमाने में बहुत अच्छे विद्वान् और ज्ञानी थे। एक दिन उन्हें विचार आया कि इस प्रवृत्तिमय जीवन से अब मुझे संन्यास लेकर केवल आत्मा का ही, श्रवण, चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। अतः उन्होंने अपनी मैत्रेयी और कात्यायनी नामक दोनों पत्नियों को बुलाकर कहा—"लो, अब मैं संन्यास ले रहा हूँ, इसलिए संन्यास से पहले अपनी सारी सम्पत्ति तुम दोनों में बाँट देना चाहता हूँ। मैत्रेयी कुछ बुद्धिमती थी, उसने पूछा—"स्वामिन्! आप जिस सम्पत्ति को हमें देकर संन्यास लेना चाहते हैं, क्या वह सम्पत्ति हमें अमरत्व प्रदान कर सकेगी? याज्ञवल्क्य—"नहीं, यह सम्पत्ति स्वयं नाशवान है, तब अमरता कैसे दे देगी? बल्कि सम्पत्ति का जो अधिकाधिक उपयोग अपने या अपने स्वार्थ के लिए ही करता है, उसे वह पतन, विलासिता और अशान्ति की ओर ले जाती है। वह मनुष्य को तृप्त नहीं कर सकती।" इस पर मैत्रेयी बोली—"स्वामिन्! तब मुझे यह भौतिक सम्पत्ति नहीं चाहिए। आप इसे बहन कात्यायनी को दे दीजिए। मुझे तो आध्यात्मिक सम्पत्ति दीजिए, जो अविनाशी हो। जिसे पाकर मैं अमरत्व प्राप्त कर सकूँ।" याज्ञवल्क्य ऋषि मैत्रेयी की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए उन्होंने मैत्रेयी को आध्यात्मिक मार्ग बताया।

इस संवाद से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तीर्थंकरों के सांवत्सरिक दान की तरह प्रत्येक व्यक्ति को इस भौतिक धन का परित्याग करके आध्यात्मिक धन पाने का प्रयत्न करना चाहिए। भौतिक धन के परित्याग के लिए सबसे उत्तम और सुलभ मार्ग 'दान' का है।

हिन्दी के महान् प्रतिभाशाली साहित्यकार 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की समान कृपा थी। वे केवल अर्थ से ही धनी नहीं थे, दिल के भी धनी थे। मुक्तहस्त से उदारतापूर्वक धन लुटाने में उन्हें अपार सन्तोष होता था। एक दिन एक मित्र ने स्वाभाविक स्नेहवश उन्हें टोकते हुए कहा—"तुम्हारे द्वारा इस प्रकार धन लुटाने से भविष्य में कोई समस्या तो नहीं खड़ी होगी? जरा सोच-विचार कर खर्च किया कर।" इस पर हरिश्चन्द्र ने खिलखिलाते हुए कहा—"अरे भाई! इस धन ने मेरे पिता को खाया, दादा को खाया और प्रपितामह को खाया और मुझे भी तो आखिर खाएगा ही। तो फिर मैं ही इसे क्यों न खालूँ?" विस्मय-विमुग्ध मित्र हरिश्चन्द्र की इस दार्शनिकतापूर्ण उदारता से बहुत प्रभावित हुआ।

कहना न होगा कि धन का अगर दान के रूप में उपयोग नहीं किया जाता है तो वह मनुष्य को आसक्त, लुब्ध, कृपण अथवा विलासी या पतित बनाकर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। यानी धन को खाने के बदले, धन मनुष्य को इस तरह खा जाता है।

11
गरीब का दान

गरीब का दान अधिक महत्त्वपूर्ण

कई बार मनुष्य के अन्तर मे दान देने की शुद्ध प्रेरणा होती है, किन्तु उस प्रेरणा को वह दबा देता है। वह कभी तो मन को इस प्रकार मना लेता है कि मैं कहाँ धनवान हूँ। मुझसे बड़े-बड़े धनिक दुनिया मे पड़े हैं, वे सब तो दान नही देते, तब मैं अकेला ही छोटी-सी पूँजी से कैसे दान दे दूंगा। पर वह यह भूल जाता है कि गरीब आदमी का थोड़ा-सा दान धनिको को महाप्रेरणा देने वाला बन जाता है।

आज मनुष्य का आत्मज्ञान साधारण तौर पर अपने परिवार तक ही विकसित हुआ है। मनुष्य प्राय स्त्री, पुत्र और परिवार के लिए कितना अधिक त्याग करता है और कष्ट सहता है, किन्तु परिवार के बाहर मनुष्य प्राय. हृदयहीन रहता है। परिवार के बाहर साधारणत उसका आचरण पशु जैसा ही रहता है। इस मामले में कम पूंजी वाले लोग भी उन दीन-दु खियो के प्रति सहानुभूति नही रखते। स्वयं दरिद्र होने या दु ख का अनुभव किये हुए होने पर भी अधिक दरिद्र और दु खी को देखकर हमदर्दी नहीं पैदा होती। एक व्यक्ति दुःखी दीख सकता है, पर दूसरे दुःखी की अपेक्षा से वह सुखी साबित हो सकता है। समुद्र सबसे नीचे है, इसलिए पृथ्वी का सारा जल समुद्र की ओर प्रवाहित होता है। इसी प्रकार समाज के अति धनी, धनी, मध्यम वर्गीय आदि सबका दान गरीब, दु खी, अभावग्रस्त एव पीडित को मिलना चाहिए। गरीब के पास भी जो थोडी-सी पूंजी है, उसमे से वह थोड़ा-सा भी देगा तो समाज मे उसके प्रति भी सद्भावना जागेगी और उसकी स्वय की शुद्धि, स्वामित्व विसर्जन की भावना, परम्परा से बालको मे दान देने की भावना, उदारता और सहृदयता पनपेगी।

तथागत बुद्ध एक बार भिक्षा के लिए जा रहे थे। रास्ते में एक जगह कुछ बच्चे धूल मे खेल रहे थे। उनमे से एक बालक ने ज्योही तथागत बुद्ध को देखा, त्यो ही वह मुट्ठी मे धूल भर कर लाया और बुद्ध के भिक्षापात्र मे देने लगा। लोगो ने देखा तो उस बालक से वे कहने लगे—'गन्दे लडके! यह क्या दे रहा है, महात्मा बुद्ध को?' लड़का भाव विभोर हो रहा था। बुद्ध ने अपना पात्र उसके सामने कर दिया और बच्चे के हाथ से धूल लेने लगे। उन्होंने उन लोगों को रोका जो बच्चे को

पवित्र बनाएगा और विचारक्रान्ति की सृष्टि में भारी प्रेरणा देगा। वह अमूल्य अभिमन्त्रित दान समाज के लिए पारसमणि सिद्ध होगा, जिसके स्पर्श से सारा समाज सोना हो जाएगा।

यहाँ हमें महाभारत की 'राजसूययज्ञ और नेवले' की कथा का स्मरण हो आता है।

देश में भारी दुष्काल पड़ा हुआ था। एक दरिद्र ब्राह्मण परिवार कई दिनों से भूखा था। ब्राह्मण किसी प्रकार कहीं से थोड़ा सत्तू ले आया। परिवार में चार व्यक्ति थे—ब्राह्मण, ब्राह्मणी, उनका पुत्र और पुत्रवधू। उतने सत्तू से चार व्यक्तियों का पेट भरना तो दूर रहा, प्रत्येक को केवल कुछ ग्रास मिलते। चार व्यक्तियों के लिए सत्तू चार भाग में बाँटा गया। स्नान-ध्यान के बाद ब्राह्मण अपने हिस्से का सत्तू खाने बैठा। इसी समय उसने देखा कि एक अकाल पीड़ित भूखा ककाल व्यक्ति उसके द्वार पर खड़ा है। ब्राह्मण ने अपने हिस्से का सारा सत्तू अत्यधिक श्रद्धा और विनय के साथ उसे खाने को दे दिया और स्वयं भूखा रह गया। क्षुधार्त्त व्यक्ति उतना सत्तू खाकर कहने लगा कि उतने से उसकी क्षुधा शान्त नहीं हुई, बल्कि और बढ़ गई। तब ब्राह्मणी ने भी अपने हिस्से का सत्तू स्नेहपूर्वक उसे दे दिया। उसे भी खाकर उस व्यक्ति ने कहा कि उसकी भूख शान्त नहीं हुई है। तब ब्राह्मणपुत्र ने सहानुभूतिपूर्वक उसे अपने हिस्से का सत्तू दे दिया। उसे भी खाकर उस व्यक्ति ने कहा कि उसकी क्षुधा अभी शान्त नहीं हुई, तो पुत्रवधू ने भी अपने हिस्से का सत्तू उसे अर्पित कर दिया। उसे खाकर वह व्यक्ति तृप्त हो गया और पुलकित मन से आशीर्वाद देकर वहाँ से चला गया।

एक नेवला पास के एक वृक्ष पर बैठा यह सब देख रहा था। 'कुछ जूठन बची होगी तो उसे मैं खाऊँगा', सोचकर वह पेड़ से उतरा और उस व्यक्ति ने जहाँ बैठकर सत्तू खाया था, वहाँ पहुँचा। किन्तु वहाँ उसे एक कण भी नहीं मिला। तब वह उसी स्थान पर लोटने लगा और जब उठा तो उसने देखा कि उसका आधा शरीर सोने का हो गया है। आनन्द से उसकी भूख मिट गई। उसने सोचा कि जहाँ अतिथि खाता है, वहाँ लोटने से शरीर स्वर्णमय हो जाता है। अतएव वह उस दिन से जहाँ कहीं अतिथि को भोजन करते देखता रुक जाता और उसी स्थान पर लोटता। उसकी एकमात्र इच्छा अपने शेष आधे शरीर को सोना बना लेने की थी। मगर कई वर्ष बीत जाने पर भी उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हुई। अनेक अतिथि सत्कार वाले स्थानों में वह लोटा, पर उसका एक बाल भी सोने का नहीं हुआ। अन्त में राजसूय यज्ञ का समय आया। हजारों-लाखों व्यक्तियों ने वहाँ भोजन किया। वह नेवला भी बड़ी आशा के साथ रात-दिन राजसूय यज्ञ के भोजनालय के एक छोर से दूसरे छोर तक लोटता रहा, किन्तु उसका एक रोम भी सोने का न हुआ। युधिष्ठिर आदि ने नेवले के मुँह से उसकी सारी कहानी सुनी। राजसूय यज्ञ करने के कारण युधिष्ठिर

के मन में अहंकार उत्पन्न हो गया था। नेवले की कहानी सुनकर वह दूर हो गया और उन लोगों के हृदय में यह आलोक हुआ कि 'एक गरीब दूसरे गरीब को हार्दिक सहानुभूति के साथ छोटा दान भी देता है तो उसकी महिमा अतुलनीय हो जाती है। ऐसा दान जिस स्थान पर होता है, उसके आस-पास का वातावरण भी पवित्र हो जाता है।

इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गरीब व्यक्ति अपने को हीन समझकर दानवृत्ति से रुके नहीं, वह यह सोचे कि मेरे दान का भी बहुत बड़ा महत्त्व है। वह यह न सोचे कि मेरे पास धन होने पर दान करूँगा। बल्कि धन ज्यादा बढ़ जाने पर कभी-कभी दान की भावना मन्द हो जाती है।

एक प्रसिद्ध सन्त के पास एक भक्त आया, जो पहले गरीब था, अब मालदार हो गया था। उसने सन्त के सामने अपना हृदय खोलकर रख दिया। कहने लगा—'महाराज ! जब मैं गरीब था, तब हृदय में दान देने की प्रबल भावना उठती थी। कोई स्वधर्मी बन्धु आता तो उसे अच्छा से अच्छा भोजन प्रेम से खिलाने की इच्छा होती थी। पर मैं किसी चीज की जरूरत पड़ती तो टालने की आदत नहीं थी। मैं समझता था—पैसा आज है कल नहीं रहेगा। अतः जो कुछ मिला है, उसका उपयोग सत्कार्य में क्यों न कर लूँ। किन्तु ज्यों-ज्यों पैसा बढ़ता गया, दान देने की भावना घटती गई। अब वे भाव नहीं रहे, न हृदय में उठते हैं। कोई दान लेने को आता है तो मन मार कर देता हूँ। वह उत्साह समाप्त हो गया है। अब मुझे क्या करना चाहिए।' उसने इस प्रकार जब निश्छल दिल से अपने हृदय की बात साफ-साफ खोलकर रख दी तो सन्त ने कहा—'तुम बड़े भाग्यशाली हो कि तुम्हें अपने मन का पता तो है। प्रायः अपने मन और जीवन का पता भी नहीं लगता कि वे बने हैं या बिगड़े हैं। इसलिए धन बढ़ जाने पर दान दूँगा, यह भावना मनुष्य की मानसिक दुर्बलता की निशानी है। उसे निर्धनता में भी यह भावना रखनी चाहिए कि मैं प्रतिदिन अपनी सीमित आय में से कुछ न कुछ अवश्य दान दूँगा।'

इसलिए अमीर के दान की अपेक्षा गरीब के थोड़े-से दान का भी महत्त्व ज्यादा है।

जब सर्वोदय कार्यकर्त्री विमला ठकार भूदानयज्ञ के सिलसिले में बिहार में राँची जिले में गुमला सब डिवीजन में यात्रा कर रही थीं, तब कोन्दरी नामक गांव में चली गईं। वहाँ सभा करके लोगों को भूदान का महत्त्व समझाया तो एक भाई ने अपनी ५० एकड़ जमीन में से १३ एकड़ का दान किया, दूसरे ने २५ में से ३ एकड़ जमीन दान में दी। जब सभा से वह लौटने लगीं तो पेड़ की ओट में से एक बहन आगे बढ़ी, जिसका बदन चिथड़ों से लिपटा हुआ था, कहने लगी—'यह ४० डिसमल जमीन है, ले लीजिए।' विमला बहन के साथ जो भाई थे, वे हँसकर कहने लगे—'बहन जी ! यह तो नौकरानी

सिर्फ ४० डिसमल जमीन है। इसके दो बेटिया भी हैं। इससे आप क्या लीजिएगा ?' विमला बहन ने उससे कहा— बहन, आपसे हम दान क्या लें, आप यह ४० डिसमल जमीन विनोबा का प्रसाद समझकर वापस ले लीजिए। आप यदि जमीन जोतना चाहेगी तो जब बँटवारा होगा, आपको भी हम जमीन दिला देगे।' इस पर वह रोने लगी और हाथ जोडकर कहने लगी— मैं गरीब हूँ, इसलिए मेरा दान लौटा रही हो ?' आगे वह मुझसे पूछती है—'क्या विदुर का साग भगवान को प्रिय नही था ? क्या सुदामा के तन्दुल भगवान को प्रिय नही थे, जो आज मुझ गरीब का दान लौटाया जा रहा है ?' विमला बहन उसके मुख से भारतीय संस्कृति का दर्शन सुनकर कायल हो गई। उस गरीब बहन के चरणो मे झुककर प्रणाम किया और दरिद्रनारायण का वह प्रसाद लेकर आगे बढी।

उसके दान का यह प्रभाव हुआ कि दूसरे दिन सुबह विमला बहन जब उठी तो अपने पडाव के सामने उस गाव के सभी भूमिधारियों को खड़े पाया। जिसने दान दिया था, वे कहने लगे कि बहन जी ! रात भर सो नही सके। मुसम्मात ने जब ४० डिसमल जमीन दे दी तो हमने सोचा ५० एकड मे से सिर्फ १३ एकड जमीन दी, यह ठीक नही हुआ, अत १७ एकड का दान और लिख लीजिए। जिसने २५ एकड मे से ३ एकड का दान दिया था, उसने १४ एकड जमीन और दी। बाकी भूमिधारी भाइयों ने भी थोडी थोडी जमीन और दान मे दी। अत गरीब के दान का नैतिक प्रभाव अमीरो पर अवश्य पडता है, इसमे सन्देह नही।

अद्भुत दानी—भीमाशाह

भीमाशाह था तो गरीब ही, पर था बहुत ही उदार। उसके दिल मे भी जैन संघ के द्वारा किये जाने वाले सत्कार्यों मे कुछ देने की ललक उठा करती थी। भीमाशाह छोटी सी हडिया मे घी गाँव से भरकर लाता और शहर मे आकर बेच देता था, इससे उसे जो कुछ आमदनी होती थी, उसमे से थोडा सा अपने लिए रखता, बाकी सब सघ को अर्पित कर देता या सत्कार्यों मे दान कर देता। गुजरात के चतुर जैन मन्त्री वाग्भट (बाहड) सघपति थे। जैन धर्म की प्रबल प्रभावना का उन्होने जब बीड़ा उठाया तो सघ के श्रावको ने प्रार्थना की—इस शुभ कार्य मे हमारा भी हिस्सा होना चाहिए। बहुत आनाकानी के बाद मन्त्री वाग्भट ने सघ के सदस्यो से चन्दा लेना स्वीकार किया।

आज सुबह से ही सघपति वाग्भट मन्त्री के यहाँ आने जाने वाले लोगों का ताता लग रहा था। एक के बाद एक श्रेष्ठी लोग आ आकर स्वर्ण मुद्राओं के ढेर लगा रहे थे। किसी का नाम नहीं लिखा गया था। भीमाशाह ने सोचा— मैं सघ के चरणो म क्या अर्पण करूँ ?' उसने जेब मे हाथ डाला तो उसम से केवल ७ द्रमक (दमड़ी) निकले। मन्त्री वाग्भट समझ गए कि भीमाशाह को कुछ देना है। और भीमाशाह गरीब होने के कारण सकोच कर रहा था, उन ७ द्रमको को, जो उसकी

आज की सर्वस्व बचत भी, देने में लज्जित हो रहा था। अतः मन्त्री ने प्रेम से संबोधित करते हुए अपने पास बुलाया—'भीमाभाई! क्या तुम्हें संघ के फंड में कुछ देना है? लाओ फिर!' यों मन्त्री ने भीमाशाह का संकोच दूर करते हुए वे द्रम्म मांग लिए। भीमा लज्जित हो रहा था। परन्तु मन्त्री ने उसके भावोल्लास को देखकर उसके संकोच को मिटाया। यों तो वे संघोद्धार के कार्य में वे किसी का लेते ही न थे। परन्तु श्रेष्ठी लोगों ने मनाकर उन्हें इसके लिए राजी किया था। भीमाशाह ने वे ७ द्रम्म मुट्ठी बन्द करके दिये। पर मन्त्री तो चतुर थे। उन्होंने उपस्थित सेठों को उसके ७ द्रम्म बताए। सबके चेहरे से वाग्भट मन्त्री उनके भावों को ताड़ रहे थे। मानो वे कह रहे हों कि इन ७ द्रम्मों का क्या लेना?' वाग्भट मन्त्री ने तुरन्त मुनीमजी को बुलाया और कहा—'चिट्ठा लिखो। पहले तो चिट्ठा लिखने का विचार नहीं था, किन्तु अब लिखना होगा। सबसे पहला नाम लिखो भीमा का, दूसरा मेरा और फिर इन सब भाग्यशालियों का लिखो।' सबके मुंह से स्वर फूट पड़ा—'पहले नाम भीमा का? क्यों? इसमें तो..........।'

मन्त्री वाग्भट ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—'इस (भीमा) भाई ने अपनी सर्वस्व सम्पत्ति संघ को अर्पित की है। मैं स्वयं संघोद्धार के कार्य में संलग्न होते हुए भी अपनी सारी सम्पत्ति का शतांश भी खर्च करता हूँ या नहीं, इसमें सन्देह है। आप सब अपनी आय का कितना भाग खर्च करते हैं, यह तो आप जानें। परन्तु संघ का एक सदस्य-साधर्मी भाई नीचे बैठे और हम ऊँचे बैठें, यह ठीक नहीं, इसमें संघ का अनादर होता है। संघ में सब भाई समान हैं। यहाँ कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। सबका बराबर का हक है। मुझे जो संघपति का पद दिया गया है, वह तो केवल व्यवस्था के लिए है। ऊँचे आसन पर बैठने और बड़प्पन प्रदर्शित करने के लिए नहीं।' सब मन ही मन कहने लगे—धन्य है संघपति को! वास्तव में भीमा का दान ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह सर्वस्व दान है।

कहना न होगा कि गरीब का दान क्यों महत्त्वपूर्ण है, यह बात इस उदाहरण से स्पष्ट ध्वनित हो जाती है।

दूसरों के दिलों में दान का चिराग जलाओ

कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य स्वयं इतना अधिक देने की स्थिति में नहीं होता, किसी वर्ग, समाज या राष्ट्र पर आए हुए संकट को दूर करने के लिए प्रचुर मात्रा में धन की आवश्यकता होती है, उस समय भी गरीब या परिग्रह से अनासक्त व्यक्ति घबराता नहीं, वह दूसरे के दिलों में दान की भावना जगाकर उस कमी की पूर्ति कर देता है।

'किमटेम्पिन' आधीपेनी के ढेर में गले तक छिपकर बहुत खुश हुई। उसने भावविभोर होकर कहा—'काश! मैं इतना धन बेघर गरीब लोगों के लिए दे पाती।' यह राशि उसकी स्वयं की नहीं थी। वह उन बेघर लोगों के लिए धनसंग्रह

के अभियान मे इकट्ठी हुई थी। 'किम' और 'स्वक' की हाईग्रेड की तीन छात्राओ ने, जिनम हेलन भी थी, बेघर लोगो के लिए आवास-योजना के अन्तर्गत एक नया प्रयोग किया। उन्होने बड़े-बडे पटल उठाए हुए जुलूस निकाला। पटलो मे यह आग्रह किया गया कि लोग अपने आधे पैनी के सिक्के उन्हे बेघर लोगो के आवास बनाने के लिए दे दें, क्योकि इनका प्रचलन बन्द हो रहा है। लोगो ने उन पर सिक्को की बौछार कर दी। कुछ सिक्के हेलन की दाहिनी आँख मे आकर लगे, जिससे उसकी आँख सूज गई। डॉक्टरों ने उसे यह राय दी कि वह जुलूस मे शामिल न हो, क्योकि इससे आँख को खतरा है। लेकिन वह उनके परामर्श की परवाह न करके अपनी सूजी हुई आँख को सजाकर जुलूस मे फिर शामिल हो गई। इस अभियान मे उन्हे आधी पैनी के ६५ लाख सिक्के मिले। यह दान की राशि लगभग १३५४१ पौण्ड की हुई। इस राशि से कई बेघर परिवारो के लिए मकान बनवाए गए।

वास्तव म, इन तीनो छात्राओ ने समय पर दान देकर बेघर लोगो के लिए दान देने की प्रेरणा लोक हृदय मे जागृत की और दान का चिराग जलाया।

इसी प्रकार कई व्यक्ति धार्मिक तथा सार्वजनिक कार्य के लिए स्वय अपना समय देकर लोक हृदय मे दान का चिराग जलाते हैं। उसमे उन्हें जगह-जगह मागने म कष्ट तो होता है, लेकिन वे इस कष्ट को कष्ट नही मानते। ऐसे उत्साही और सेवाव्रती आत्मा स्थूल दृष्टि से स्वय दान नहीं देते दिखाई देते, परन्तु सूक्ष्म रूप से बुद्धि, विचार और समय का वे बहुत बडा दान देते हैं, और जगह-जगह परिभ्रमण करके लोगो के दिलो म दान का दीपक जगाकर अद्भुत पुण्य कार्य करते हैं।

दूसरो के हृदय म दान का चिराग जलाने के लिए कई बार मनुष्य स्वय अपनी ओर से दान की पहल करता है। सस्थाआ के लिए जहाँ बड बडे चदे होते हैं, वहाँ कभी-कभी एक व्यक्ति अच्छी रकम देकर पहल करता है, उसके बाद उस संस्था के लिए लोगो म भावना जगाता है और फिर तो रुपयो की वर्षा होती रहती है। परन्तु इसका एक व्यक्तिगत पहलू भी है। कई बार व्यक्ति अकेला किसी विपन्न या दु खी को साधारण-सा व्यक्ति समझकर अपनी ओर से उसे देकर सहायता करता है। इससे उसके मनमस्तिष्क म चिन्तन धारा फूट पडती है। और वह कृपण व्यक्ति उससे प्रेरित होकर स्वयं दानपरायण बन जाता है।

एक करोड़पति सेठ था, पर था बडा कृपण! उसम उदारता नाममात्र को नहीं थी। दान देने का उसे नाम भी नहीं सुहाता था, एकमात्र धन बटोरना ही उसके जीवन का लक्ष्य था। एक बार मानसिक शान्ति के लिए रात को सेठ समुद्रतट पर पहुँचा। गाड़ी कुछ दूर खड़ी रख कर वह समुद्र के किनारे जाकर बैठा। उसके मुंह पर चिन्ता और विषाद की रेखाएं थीं। कुछ ही देर म एक दूसरे सेठ वहाँ आए। उन्होंने इस सेठ के मुंह पर हवाइयाँ उडते देखी तो सोचा-बेचारा जिंदगी से ऊबकर

यहाँ आत्महत्या करने आया होगा। कोई दुःखी मालूम होता है। अतः वे उस सेठ के पास गये और उसे अपने नाम पते का कार्ड तथा १० डालर भेंट दिए। तथा कहा—"अधिक सहायता की जरूरत हो तो मेरे पते पर आना। इस कार्ड पर पता लिखा है।" दानी सेठ के अन्तर में इसके दुःख को देखकर करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा था। उस सेठ के चले जाने पर कंजूस सेठ के हृदय में मंथन जागा—"अहा! मानव में इतनी उदारता, करुणा और सेवा की भावना होती है! मैंने उनसे मांगा नहीं, फिर भी मुझे चिन्तित देखकर सहायता कर गए। उदार सेठ की इस दानवृत्ति ने इस कंजूस वणिक के अन्तर में दानवृत्ति का दीपक प्रज्वलित कर दिया। पहली बार हृदय में नया स्पंदन, नवजीवन प्रस्फुटित हुआ। अगर सम्पन्न मनुष्य विपद्ग्रस्त मनुष्य की सहायता न करे तो संसार की क्या दशा हो जाए। क्या मानव पशुओं से भी गया बीता है।

इस घटना के करीब १० वर्ष बाद एक बार उसने समाचारपत्र में पढ़ा—"जिस सेठ ने (जिसका नाम कार्ड पर छपा था) उसे बिना मांगे १० डालर की मदद दी थी, वह मुसीबत में है। उसके द्वार पर लेनदारों का तांता लगा हुआ है।" अब वह सेठ कंजूस नहीं रहा। इसका दिल उदार, बन गया था। ७० मील दूर बैठे हुए उस सेठ की मदद करने के लिए वह कार में बैठ कर गया। वहाँ जाकर देखा कि वह सेठ गमगीन बैठा है, उसकी प्रतिष्ठा समाप्त होने जा रही है। जिसने आज तक दूसरों को मुक्तहस्त से दान दिया था, वह स्वयं आज आफत में है; और निरुपाय होकर विष खाकर मर जाने की तैयारी में है। इस भूतपूर्व कृपण सेठ ने जाते ही उस विषादमग्न सेठ से कहा—"लो भाई! मेरे पास यह जो धन है, वह आपका ही है। इसका यथेष्ट उपयोग कीजिए। आपने ही आज से १० वर्ष पूर्व एक अंधेरी रात में समुद्रतट पर उदास बैठे हुए मेरे दिल में दान का चिराग जलाया था। तब से मुझे प्रत्येक दुःखी मनुष्य को देखकर तुरन्त देने की प्रेरणा होती है, मुझे देने में आनन्द आता है।" यों कहकर उसने वहाँ धन का ढेर लगा दिया; और उस उदार सेठ की इज्जत बचा ली।

वास्तव में, भूतपूर्व कृपण सेठ के हृदय में अगर उदारता और दानवृत्ति का चिराग उक्त उदारहृदय धनिक ने न जलाया होता तो शायद ही वह इतना उदार, दानी, करुणाशील और सहृदय बन पाता!

समाज के कई सम्पन्न लोग बड़े-बड़े उत्सव, वर्षगांठ या त्योहार अथवा खुशी के अवसरों पर हजारों रुपये यों ही फूंक देते हैं, विवाह-शादियों में रोशनी, बाजे, भांगड़ानृत्य, गायनगान आदि में बहुत-सा धन व्यर्थ खर्च कर देते हैं, अगर वह धन अच्छे कार्यों में लगाया जाय अथवा समाज के भूखे, दुःखी, विपन्न, रुग्ण अनाथ, असहाय एवं अपाहिज व्यक्तियों को दान के रूप में सहायता देने की परिपाटी डाली जाय तो दान की सुन्दर परम्परा प्रचलित हो सकती है। कुछ व्यक्ति ही समाज में ऐसे होते हैं, जो

इस पर गहराई से विचार करते हैं, अधिकांश तो गडरिया प्रवाह में बहने वाले गता-नुगतिक होते हैं, वे इस प्रकार के दान को समझते हैं, किन्तु आडम्बर में खर्च करके क्षणिक वाहवाही लूटना चाहते हैं। जन्मदिन दान से मनाने की एक सुन्दर परिपाटी का उदाहरण देखिए—

बड़नगर का एक मध्यम वर्गीय परिवार विलेपार्ले में रहता है। उस परिवार में जन्मदिन मनाने की पद्धति अद्भुत है। परिवार के बालकों के जन्मदिन पर ११ रु०, २१ रु० या ५१ रु० मनिऑर्डर द्वारा डॉ० द्वारकादास जोशी की देख-रेख में चलने वाले 'नागरिक मंडल हॉस्पिटल' को भेजे जाते हैं। म० ऑ० के कूपन पर लिखा जाता है—"...के जन्म दिवस के उपलक्ष में यह रकम भेजी जाती है, अतः इसे रोगियों की सेवा में लगावें। परन्तु जब परिवार के मालिक का ६१वाँ जन्म दिवस आया तो अन्तर्देशीय पत्र में लिखा गया—"६० वर्ष पूरे हो गए। बहुत ही करने की इच्छा होती है। परन्तु बहुत-सी अड़चनें हैं। मेरी एक इच्छा यह है कि मेरे ६० वर्ष पूरे हो गए हैं तो मेरी ओर से ६० नेत्ररोगियों की आँखों का मुफ्त ऑपरेशन करवा दें। इसका जो भी खर्च आएगा, वह मैं तीन सप्ताह में भेज दूंगा।" इस प्रकार अपनी ओर से ६० नेत्र रोगियों के ऑपरेशन करवा कर नेत्रदान दिये और ऑपरेशन का कुल खर्च ८०० रु० आये, जो उन्होंने भेज दिये। जन्म दिवस के अवसर मध्यमवर्गीय परिवार का दान की परिपाटी का यह विचार कितना प्रशंसनीय है? अगर समाज के धनीमानी लोग व्यर्थ के आडम्बर न करके खुशी के अवसरों पर इस प्रकार की दान की परिपाटी अपना लें तो कितना अच्छा हो?

समाज में अभावों की पूर्ति दान द्वारा हो

मनुष्य जिस समाज में रहता है, यदि वह उस समाज को श्रेष्ठ सुसंस्कारी, धर्मात्मा, दानपरायण, उदार और परस्पर सहयोगी देखना चाहता है, यदि वह चाहता है कि समाज में सुख-शान्ति, अमनचैन और सुव्यवस्था हो तो उसे चाहिए कि वह समाज में जो भी अभावग्रस्त, पीड़ित, अशिक्षित, निर्धन, रुग्ण, बेकार, बेरोजगार असहाय और दुःखी हैं, उनका ध्यान रखें, उनको उचित समय पर कर्तव्य के रूप में सहायता दे या दिलाकर उनकी सुयोग्य व्यवस्था करे। मनुष्य को सामाजिक प्राणी होने के नाते इन बातों पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। यदि वह दान की परिपाटी को भूलकर अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति में लगकर केवल धन बटोरने में रत रहेगा तो उसे सुखशान्ति, अमनचैन या सुव्यवस्था के बदले समाज में अशान्ति और अव्यवस्था ही देखने को मिलेगी। दान ही एक ऐसा उपाय है, जो परिवार, समाज और राष्ट्र में पड़े हुए अभावों के गड्ढों को भर सकता है।

जब समाज में किसी अभाव की समय पर पूर्ति नहीं होती है तो अभावग्रस्त मनुष्य चोरी, डकैती, विद्रोह, धोखेबाजी या बेईमानी करने पर उतारू हो जाता है। इतना ही नहीं पेट का खड्डा भरने के लिए मनुष्य अपने नन्हें लाल को भी बेचने

और कभी-कभी मार कर खाने को उतारू हो जाता है। इसलिए महापुरुषों ने समाज में दान की परिपाटी प्रचलित की है। प्राचीनकाल में राजा या धनिक लोग जगह-जगह दानशालाएँ, भोजनालय, धर्मशालाएँ आदि खुलवा कर समाज के इस अभाव की पूर्ति किया करते थे। मध्ययुग में मनुष्य इस सामाजिक चिन्तन से दूर हटकर प्रायः स्वार्थरत हो गया, शासक लोग प्रायः विलासी, ऐयाशी, शराबी और शिकारी बन कर इस ओर से बिलकुल लापरवाह हो गये। प्रजा की गाढ़ी कमाई का पैसा करों के रूप में उनके खजाने में आता जरूर था, मगर वे प्रायः प्रजाहित के कार्यों में उस धन का व्यय नहीं करते थे। यही कारण है, समाज में व्याप्त विषमता का, गरीबी-अमीरी के भेद का, शोषक और शोषित के अन्तर का; अगर इन्हें मिटाना हो तो समाज में दान की अजस्र धारा का बहते रहना अनिवार्य है।

महात्मा गांधी ने इसी दृष्टि से भारतीय नरेशों की तड़क-भड़क को देखकर उन्हें कर्तव्य का बोध दिया था और समाज के धनिकजनों के लिए दान की प्रेरणा दी थी।

बात यह थी कि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी की आधारशिला का शुभ महोत्सव होने वाला था। पं० मदनमोहन मालवीय ने बहुत बड़े आयोजन की तैयारी की थी। देश के प्रसिद्ध विद्वान्, साहित्यकार, पत्रकार, अधिकारी, नेता एवं भारतीय नरेश भी इस अवसर पर एकत्र हुए थे। राजा-महाराजा इस पुण्य अवसर पर अपनी शाही पोशाक में आए थे। राजाओं ने हीरे, मोती और जवाहरात आदि बहुमूल्य अलंकार भी धारण किये हुए थे। इस अवसर पर जो भी विदेशी वहाँ पर विद्यमान थे, उन्हें ऐसा आभास हो रहा था कि भारतवर्ष के दरिद्र होने की जो बात कही जाती है, वह असत्य है। महात्मा गांधीजी पर राजाओं की इस तड़क-भड़क और शान-शौकत का बहुत बुरा असर पड़ा। इसलिए महात्मा गांधीजी ने राजा-महाराजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"भाइयो! आपने जो बहुमूल्य हीरे-जवाहरात के आभूषण धारण किये हुए हैं, वे हमारे गरीब देश में शोभा नहीं देते। इसलिए आप इन्हें उतार दीजिए और गरीबों की सेवा में इन्हें दान कर दीजिए। इस देश में ९० प्रतिशत गरीब और दीन-हीन हैं, इसलिए आप लोगों को जनसाधारण के बीच ऐसे आभूषण पहनकर नहीं बैठना चाहिए। इस प्रकार के आभूषणों से तो आपका सम्मान नहीं, बल्कि अपमान है। आप लोगों के पास जो भी धन है, वह आपका नहीं, बल्कि भारत की गरीब जनता की धरोहर है। इसलिए उसे निजी कार्य व मौज शौक में नहीं लगाना चाहिए। राजा-महाराजाओं की सम्पत्ति यदि जनसाधारण के संकट के अवसर पर सहायता के रूप में लगाई जाय तो बहुत उत्तम है।" कहना होगा कि इस वक्तव्य से राजाओं की आँखें खुल गई और उन्हें दान की बहुत कुछ प्रेरणा मिली।

इसलिए फलितार्थ यह निकला कि दान से ही समाज के किसी भी अभाव या

कमी की पूर्ति की जा सकती है। किसी समय जब समाज के समग्र वर्ग का ध्यान समाज की किसी कमी या अभाव की ओर नही जाता, तब अन्दर ही अन्दर अभावग्रस्त लोगो के मन मे विद्रोही भावना या प्रतिक्रिया की भावना बनती जाती है और किसी दिन उसका विस्फोट हो जाता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्तियो का कर्तव्य है कि समाज मे इस प्रकार की बढने या पनपने वाली प्रतिक्रियाओं को दान द्वारा वहीं रोक दें, आगे न बढ़ने दें।

इसी प्रकार समाज मे जहाँ शिक्षा का अभाव हो या शिक्षा की व्यवस्था सुचारु न हो, वहाँ सुधार के लिए दान की अनिवार्य जरूरत होती है। शिक्षा के लिए दिया गया वह सामयिक दान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होता है।

दानवीर एण्ड्रयूज कारनेगी की आर्थिक हालत बहुत ही खराब थी। इनका पिता जुलाहा था, गरीबी से तग आकर कारनेगी अमेरिका चले आए। वहाँ विट्सबर्ग मे एक कारखाने मे गन्दे पुर्जे साफ करते थे। पडौस मे ही एक उदार व्यक्ति रिटायर्ड कर्नल एडरसन ने एक फ्री पुस्तकालय खोली, जहाँ से वह प्रति सप्ताह एक पुस्तक लाता और पढकर वापिस लौटा देता। इस प्रकार ७०० पुस्तकें पढलीं, जिससे अच्छा ज्ञान प्राप्त हो गया। फिर रेल्वे मे एकाउंटेंट की नौकरी करली। रेल्वे मैनेजर भी बन गए। एक दिन एक मित्र के कहने से कारनेगी ने रेल्वे की नौकरी छोड़ दी और लोहे के कारखाने मे शेयर खरीद लिए। इस कारखाने मे मैनेजर भी गए। अपनी ६० वर्ष की उम्र मे कारखाने मे अपना शेयर बेचा, तो उससे ५३ करोड़ रु० मिले। इस धन को उन्होने अमेरिका मे जगह-जगह फ्री पुस्तकालयो के लिए दान कर दिया। न्यूयार्क मे कारनेगी का विशाल पुस्तकालय है। दानवीर कारनेगी का कहना था—'अपने पड़ौसी की ७०० पुस्तको से मेरा जीवन बना है तो मेरा कर्तव्य है कि मैं भी देश की सेवा पुस्तकालय खोलकर करूं।" इसके अलावा इसने शिक्षा के लिए जगह-जगह दान भी दिया है।

मतलब यह है कि राष्ट्र मे जीवन-निर्माण के लिए पुस्तकालयो का जहाँ-जहाँ अभाव था, एण्ड्यूज कारनेगी ने अपना धन दान देकर उस अभाव की पूर्ति की।

कहना होगा कि इस प्रकार के उदारतापूर्वक दिये गए दान से समाज की अर्थ व्यवस्था भी सुदृढ़ होती है और समाज मे व्याप्त विविध अभावो की पूर्ति हो जाती है। इन पर से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि दान समाज-विकास मे आने वाली विविध रुकावटो को दूर करता है। प्रत्येक समाज प्रेमी व्यक्ति इस बात से सहमत होगा और स्वय दान देने को प्रेरित होगा और दूसरो को भी प्रेरित करेगा।

साधन सम्पन्न समाज को माँ बनकर योगदान दे

वास्तव मे देखा जाय तो आज समाज मे कई असहाय, अनाथ और निराधार व्यक्ति हैं, जिन्हे ऐसे सहारे की जरूरत होती है। थोड़े-से सहारे से वे ऊँचा उठ सकते हैं। कई लोग यह सोचा करते हैं कि इस प्रकार अपना धन लुटाने से जल्दी खर्च

हो जाएगा, पर उनका यह सोचना गलत है। सत्कार्य में दिया हुआ धन व्यर्थ नहीं जाता।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब चीन-जापान-यात्रा कर रहे थे। तब उन्हें चीन में एक मन्दिर के संस्थापक सन्त काओदागो जी मिले जो चीन के बालकों को ज्ञान-दान देते थे। हजारों बालकों को उन्होंने पढ़ाया-लिखाया और सुसंस्कार दिये। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब उनसे पूछा कि आपको ज्ञानदान की यह प्रेरणा कैसे मिली? तब उन्होंने अपनी आपबीती सुनाई कि मैं एक बार वन में तप कर रहा था। एक दिन एक माता अपने बालक को मरुभूमि में से होकर ले जा रही थी। मध्याह्न हो गया था। रेत अत्यन्त तप गई थी। चला नहीं जाता था। अतः माता ने सोचा कि दोनों की रक्षा तो सम्भव नहीं है, इसलिए मैं स्वयं अपने प्राण देकर इस बालक की रक्षा कर लूँ। उसने बालक को अपनी छाती पर लिटाया एवं अपना वस्त्र उतार कर बालक को ओढ़ा दिया, और स्वयं निर्वस्त्र होकर मरण-शरण हो गयी। उस समय मैं भी उस मरुभूमि में से होकर गुजर रहा था। बालक का रुदन सुनकर मैं उसके पास गया। और बालक को मृत माता की छाती पर असहाय अवस्था में देख मैंने छाती से लगाया और उस मृत माता को प्रणाम करके लौटा—"माता! तू मेरी प्रेरणादायिनी गुरु है। तूने वर्तमान में आत्म-बलिदान देकर भविष्य के बालक की सुरक्षा की। बस, आज से मुझे भी अपना सर्वस्व दान देकर चीन के इन भावी नागरिकों के ज्ञानदान एवं विकास में लग जाना चाहिए।" तभी से मैं समाज की माँ बनकर अनाथ, असहाय बालकों एवं अन्य व्यक्तियों को अपने मन्दिर के विशाल भवन में रखता हूँ। उन्हें योग्य बनाने के लिए स्वयं उपार्जित धन भी मैंने दे दिया है और जनता से भी चन्दा एकत्र करके दान लाता हूँ।

इस पर से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि साधन सम्पन्न व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ के लिए न जीए। उसे समाज के उन असहाय, साधनहीन व्यक्तियों को अपने तन-मन-धन से सहयोग देकर जिलाकर जीने का प्रयत्न करना चाहिए। एक भारतीय विचारक का कहना है—'जो स्वेच्छा से दिया जाता है, वह मीठा होता है, और जो जबरन लिया जाता है, वह कड़ुआ होता है। वृक्ष अपनी इच्छा से, पकने पर जो फल देता है, नीचे गिरा देता है, वह कितना मधुर होता है। परन्तु पकने से पहले ही, बलात् जो फल तोड़ लिया जाता है, वह मधुर नहीं होता, वह प्रायः खट्टा, कसैला या फीका होगा। इसलिए अपनी इच्छा से दान देने में धन का माधुर्य है, दूसरों से बटोर-बटोर कर केवल धन-संग्रह करने में माधुर्य नहीं होता।

समाज में लोकप्रिय बनने के लिए उदारता की आवश्यकता है, जो दान के द्वारा ही व्यक्ति को प्राप्त होती है। द्रव्य की स्वयं के बहते रहने (दान द्वारा) में ही अपनी सार्थकता है, एक जगह स्थिर होकर पड़े रहने में द्रव्य की द्रव्यता सार्थक नहीं

'पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम,
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम'

दान से बढ़कर धन का कोई सदुपयोग नहीं

जिस धन के लिए मनुष्य इतने उखाड़-पछाड़ करता है, इतने स्याह-सफेद करता है, उस धन को जब मनुष्य पूर्वोक्त गलत कामो मे खर्च कर डालता है अथवा चोर आदि उसका हरण कर लेते हैं, या फिर जमीन मे गडा का गड़ा रह जाता है, तब मनुष्य सिवाय पश्चात्ताप या पाप-सताप के और क्या ले जाता है, साथ मे ? नीतिकार इसी बात को स्पष्टतया कहते हैं—

'दानं भोगो नाशस्तिस्रोगतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥'

—"धन की तीन गतियाँ (व्यय के मार्ग) है—दान, भोग या नाश। जो मनुष्य अपने धन का सुपात्र मे या सत्कार्य में दान नहीं करता और उचित उपभोग नही करता है, उस धन की गति सिवाय नाश के और कोई नहीं है।" फिर चाहे वह धन-नाश चोरो-डकैतो द्वारा हो, लुटेरो द्वारा हो, सतान द्वारा हो या डाक्टर, वकील या सरकार द्वारा हो अथवा किसी प्राकृतिक प्रकोप—भूकम्प, बाढ़, अग्निकाड आदि से हो। किन्तु दान और उपभोग इन दोनो मार्गों मे से मनुष्य यदि श्रेष्ठ मार्ग चुनना चाहे तो दान का मार्ग ही उसे चुनना चाहिए।

धन, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद या अन्य सुखसामग्री आदि कोई भी वस्तु मनुष्य को शरणदायक नही होती। एकमात्र दानादि धर्म ही उसके लिए इहलोक-परलोक मे शरणदायक होता है।

मानव शरीर रूपी पारसमणि से दान देकर सोना बनाओ

कई मनुष्य अपने जीवन का मूल्याकन नही कर पाते हैं, वे अपनी दैनिक समस्याओ में इतने उलझे रहते हैं या गरीबी और दरिद्रता की चक्की म पिसते रहते हैं, वे रात-दिन किसी न किसी अभाव का रोना रोते रहते हैं। परन्तु जो कुछ प्राप्त है, उसी मे सतोष करके अपने प्राप्त साधनों मे से कुछ दान देकर मानव शरीर को सोना बनाने के बदले कोयला बनाते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जान-बूझकर अपनी दरिद्रता का ढोल पीटते रहते हैं, किन्तु आलस्य छोडकर यथार्थ पुरुषार्थ मे नहीं लगते।

एक दरिद्र टूटी-फूटी झोंपडी मे रह रहा था। दो चार दिन भूखे रहने के बाद उसे एक दिन दो दिन की बासी रोटी मिली, किन्तु दाल-शाक आदि कुछ भी प्राप्त न हुआ। अतः वह एक पत्थर पर मीर्चे पीसने लगा। इतने मे एक विद्वान् योगी ने द्वार पर जोर से आवाज लगाई। दरिद्र झोंपडी से बाहर आया और अश्रुपूरित नेत्रो से कहने लगा—आप देख रहे हैं, मेरे पास कुछ भी नही है। मैं तो ऐसा भाग्यहीन हूँ कि स्वय ही दो दिन के रूखे-सूखे बासी टुकड़े खा रहा हूँ। बताइए,

ऐसी विषम स्थिति में आपको क्या दे सकता हूँ कैसे आपकी सेवा कर सकता हूँ।' इतने में ही योगी की पैनी दृष्टि उस पत्थर पर पड़ी, जिस पर वह नमक-मीर्च रगड़ रहा था। देखते ही योगी ने कहा—तेरे पास तो ऐसी अद्भुत सम्पत्ति है, जिसकी बराबरी धन कुबेर भी नहीं कर सकता।' दरिद्र—'इन शब्दों में आप मेरा उपहास कर रहे हैं, मुझे धनकुबेर बता रहे हैं। आपकी बात कुछ समझ में नहीं आई!' योगी ने वह पत्थर मंगाया, जिस पर वह चटनी पीस रहा था। उसे अच्छी तरह देखा और कहा—"तू जानता है, यह क्या है? यह साधारण पत्थर नहीं, पारसमणि है। इसका स्पर्श होते ही लोहा सोना बन जाता है।" उस दरिद्र को विश्वास न हुआ। योगी ने उसके विश्वास के लिए तुरंत अपने लोहे के चिमटे का उस पारसमणि से स्पर्श कराया तो वह चिमटा सोने का बन गया। दरिद्र तो अपने पत्थर का यह चमत्कार देख कर हक्काबक्का-सा रह गया। वह तुरन्त योगी के चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा—आपने महती कृपा करके मुझे इस पत्थर का गुण बतला दिया, वरना मैं तो इसे साधारण पत्थर ही समझ रहा था।' योगी ने उससे कहा—'तेरा शरीर भी पारसमणि है, चाहे वह किसी भी जाति, कुल, धर्म या देश का हो। इससे तू चाहे तो अपने जीवन को सोना बना सकता है। पर तू अपने शरीर से ना समझी के कारण कोयला बना रहा है। अब भी समझ जा, और इस शरीर से दानादि सत्कर्म करके जीवन को अमूल्य स्वर्ण बना ले।"

दरिद्र को योगी पर श्रद्धा हो गई थी। इसलिए वह दूसरे ही दिन से दानादि-धर्म का पालन करने लगा। चमत्कार ऐसा हुआ कि प्रभु कृपा से कुछ ही दिनों में उसका कायापलट हो गया। ज्यों-ज्यों उसके पास धन बढ़ता गया, त्यों-त्यों वह अधिकाधिक दान करता गया। उसे अब अपना जीवन सुखी, संतुष्ट, तृप्त और सार्थक प्रतीत हुआ।

कृपण को भी दान देने की प्रेरणा

वास्तव में मनुष्य चाहे तो अपने प्राप्त साधनों से दूसरों को बहुत कुछ दे सकता है, केवल मन की ही कृपणता है, मन उदार हो जाय तो कोई कमी नहीं रहती।

आचार्य बृहस्पति भी कहते हैं—

"स्तोकादपि च दातव्यमदीनेनान्तरात्मना।
अहन्यहनि यत्किञ्चिदकार्पण्यं च तत्स्मृतम्॥"

प्रतिदिन अदीन अन्तरात्मा से थोड़े से साधन में से भी यत्किंचित् दान देना चाहिए, इसे ही उदारता कहते हैं। यह कृपणता नहीं है।

एक तरह से देखा जाय तो जो लोग दान न देकर धन को जोड़-जोड़ कर रखना चाहते हैं, साधनों का स्वयं उपयोग न करके तथा दूसरों को भी उपयोग नहीं

करते देते, उनके मन में शान्ति नहीं होती, वे स्वयं उसकी रक्षा के लिए चिन्तित रहा करते हैं, चोर, डाकू आदि का भय उन्हें रातदिन बेचैन बनाए रखता है। इसलिए ऋग्वेद के एक ऋषि ने भगवान् से इस सम्बन्ध मे प्रार्थना की है—

> "अदित्सन्तं चित् आघृणे।
> पूषन दानाय चोदय।
> पणेश् चित् विम्रदा मनः।"

—"अन्तर से मानसिक कष्ट, बाहर से परिस्थिति का कष्ट—इन दानो प्रकार के कष्टो मे शुद्धि प्रदान करने वाले विश्वपोषक देव! जो लोग आज दान नही देना चाहते, उनके मन मे दान देने की प्रेरणा भरो। कृपण के मन को भी मृदुल बना दो।

एक भिखारी नगर मे सबसे मागता हुआ और दुआ देता हुआ चला जा रहा था। अचानक ही उसे एक मूँजी सेठ से मुठभेड हो गई। मूजी सेठ ने उससे पूछा—'तू माग क्यो रहा है? तेरे से कुछ कमाया नहीं जाता? मेहनत नहीं की जाती?' भिखारी ने कहा—"मैंने पूर्वजन्म मे किसी को देने म अन्तराय दी होगी, इसी कारण न तो मुझे कोई काम मिलता है, न मेहनत ही इस रुग्ण शरीर से हो सकती है, इसलिए मांगने के सिवाय कोई चारा नहीं है।'

इतने मे एक सन्त ने उस कृपण से कहा—'सेठजी! यह भिखारी बार-बार 'कुछ दो, कुछ दो' कहता है, ऐसा क्यो कह रहा है? आप इसका कुछ रहस्य समझे?' वह बोला—'मांगना इसका पेशा है। वह इसी तरह मांगता है, इसका स्वभाव ही कुछ न कुछ मांगते रहना है।'

सन्त ने कहा—'नही, यह केवल मागता ही नहीं, इसी बहाने लोगों को दान की सुन्दर प्रेरणा दे रहा है। नीतिकार के शब्दों मे वह कह रहा है—

'दीयतां दीयतां मह्यमदातु. फलमीदृशम्।'

—'मुझे दो, मुझे दो, मैंने पूर्व जन्म म दान नहीं दिया था, धन जोड़ जोड़ कर रखा था, कृपणतावश किसी को दिया नहीं और दूसरों को भी देने से रोका, इसी के फलस्वरूप मुझे भिखारी व याचक बनना पड़ा है।'

क्या धन-संग्रही कृपण इस बात से कुछ सबक सीख सकते हैं? अन्यथा, धन तो एक दिन सिकन्दर बादशाह की तरह यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा, पल्ले पड़ेगा पश्चात्ताप। अन्तिम समय में उस धन को देखकर सिवाय आँसू बहाने के और कुछ नहीं हो सकेगा। अन्तिम समय में न तो कुछ दान-पुण्य करने का होश रहेगा और न ही वैसी भावना बनेगी। अगर भावना बन भी गई तो अपने हाथ से तो दिया नहीं जाएगा, अपने परिवार के लोग बाद में दें या न दें, यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। इसलिए व्यक्ति को जीते जी, अपने होशहवास में [illegible] दान देते रहना चाहिए।

वास्तव में जो कृपण होता है वह [illegible]

कारण वह वर्तमान तो सबसे दुःखी और असन्तुष्ट रहता ही है, भविष्य में भी दुःखी बनता है।

एक गाँव में एक उदार और दानी रहता था। उसके पास न देने जैसी कोई वस्तु न थी। एक दिन एक महात्मा ने उससे कोई चीज मांगी, इस पर उसने उसे देने से इन्कार कर दिया। महात्मा ने उससे कहा—'तू बहुत ही संतोषी है।' किसी विचारक ने महात्मा से पूछा—'आप उल्टा कैसे कहते हैं, जो उदार है, उसे लोभी और जो लोभी है, उसे संतोषी कहते हैं, इसका क्या रहस्य है? मुझे बताइए।' महात्मा ने उत्तर दिया—जो दाता है, वह इस बात को लेकर लोभी है कि उसे एक के बदले में हजार मिलेंगे, फिर भी वह उतने दान से तृप्त न होकर अधिक से अधिक देता रहता है; और जो लोभी है, वह संतोषी इसलिए है कि वह कुछ भी नहीं देता। इसलिए उसे आगे (परलोक) में भी कुछ मिलेगा नहीं, फिर भी वह सन्तुष्ट होकर बैठा है। भविष्य के लिए कुछ करने की चिन्ता नहीं करता, इसलिए संतोषी कहा।' महात्मा के मुख से दानी और लोभी के अन्तर का रहस्य प्राप्त कर आगन्तुक बहुत ही सन्तुष्ट हुआ।

वास्तव में कृपण का स्वभाव अत्यन्त धनलोभी बन जाता है। वह दीर्घ दृष्टि से नहीं सोचता कि यह सारा धन मुझे यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा। इसीलिए कृपण के सम्बन्ध में संस्कृत के एक मनीषी ने बहुत ही सुन्दर व्यंग कसा है—

> कृपणेन समो दाता, न भूतो न भविष्यति।
> अस्पृशन्नेव वित्तानि यः परेभ्यः प्रयच्छति॥

—'कृपण के समान दानी संसार में न तो हुआ है और न ही कोई होगा। क्योंकि अपने सारे धन को बिना छुए ही एक साथ दूसरों को दे देता है, अर्थात् छोड़कर मर जाता है।

एक सेठ अत्यन्त ही कृपण था। वह दान देने से खुद तो दूर भागता ही था, पर अगर किसी दूसरे को भी दान-पुण्य करते देखकर हृदय में जल उठता था। उसका मन मलिन, तन क्षीण होने लगता। एक दिन बाजार में एक आदमी कुछ दुःखी लोगों को दान दे रहा था, उसे देखकर कंजूस भाई झटपट उदास होकर वहीं से ही घर को लौट पड़ा। उसकी पत्नी अपने पति के कृपण स्वभाव से परिचित थी। इसलिए उसने अपने पतिदेव को उदास और चिन्तित देखकर पूछा—

> 'कै कुछ कर से गिर पड़ा, कै कुछ किसको दीन?
> कामण पूछै कन्त से, कैसे भये मलीन?'

'क्या आज आपके हाथ से कुछ गिर पड़ा है, अथवा बाजार में ५-१० आदमियों के दबाव से किसी अनाथ, भिखारी को कुछ दान-पुण्य दे दिया है, जिससे आप अब इतने उदा[illegible]

'ना कुछ कर से गिर पड़ा, ना कुछ किसी को दीन।
देते देखा और को, तातें भयो मलीन॥'

—प्रिये! न तो मेरे हाथ से कुछ गिर पड़ा है और न मैंने किसी के दबाव में आकर किसी को कुछ दिया है, इस बात में तो मैं पक्का हूँ। तू मेरे स्वभाव को भली-भांति जानती है। पर आज मैंने दान-पुण्य करते हुए एक आदमी को देख लिया, बस, उसी से मेरा मन उदास हो गया। मेरा जी जल गया, उसे देखकर। मेरा कोई वश नहीं चला, इसलिए मैं वहाँ से उकता कर घर को चल पड़ा।

यह है, दरिद्र और दीन-हीन मनोवृत्ति का नमूना! ऐसा करना व्यर्थ ही आए हुए पुण्य के अवसर को हाथ से खो देना है। अगर कोई दे नहीं सकता है, देने का सामर्थ्य नहीं है तो कम से कम दूसरों को देते देखकर प्रसन्न तो हो, उसकी प्रशंसा एवं समर्थन तो करे। उसकी तरह स्वयं भी प्राप्त साधनों में से यत्किंचित् दान देना सीखे।

कृपण को भिखारी से दान-प्रेरणा

वैसे तो संसार का प्रत्येक प्रकृतिजन्य पदार्थ प्रतिक्षण दान की प्रेरणा देता रहता है। नदी, सरोवर, पहाड़, कुएं, वृक्ष आदि भी प्रत्येक मनुष्य को दान की अद्भुत प्रेरणा देते रहते हैं। परन्तु मनुष्य शान्त होकर ठंडे दिल से विचार करे तो उसे प्रकृति की उदारता का रहस्य शीघ्र ही ज्ञात हो सकता है। यही नहीं, याचक या भिखारी से भी उसे दान की अद्भुत प्रेरणा मिलती रहती है। अगर वह अन्तरात्मा की आवाज सुने और प्रकृति की उदारता के रहस्य पर चिन्तन करे तो कृपण से कृपण व्यक्ति में दानशीलता आ सकती है। भिखारी से उसे दान की प्रेरणा कैसे मिलती है? सुनिए—

बच्चों की तरह धन इकट्ठा मत करो

कई लोग धन जोड़-जोड़ कर इकट्ठा करते जाते हैं। उन्हें यह भान भी नहीं होता कि आखिर इस धन का क्या उपयोग होगा? मरने के बाद यह धन यहीं पड़ा रहेगा। कौन इसका उपयोग करेगा? इससे भी मृत व्यक्ति को कोई लाभ नहीं कि उसका लड़का या अन्य लोग उसका उपभोग करते हैं, जुए में उड़ा देते हैं अथवा आमोद-प्रमोद में फूंक देते हैं। और जोड़ते जो भी धन किसका हुआ है? उसका लाभ बटोर-बटोर कर रखने में नहीं, दान-पुण्य करने में है। परन्तु लोभी लोग इस बात को न समझ कर संग्रह करने में ही गौरव समझते हैं। उनका धन इकट्ठा करना वैसा ही है जैसे बच्चे कांच के टुकड़े या अन्य कोई रंग-बिरंगी चीज इकट्ठी करते हैं।

एक छोटी-सी लड़की थी। वह खेलते-खेलते कांच के टुकड़े इकट्ठे करती थी। रात को जब वह सोती तो अपनी जेब में कांच के टुकड़े भर कर सोती थी। उसके पिता उसकी जेब में से रात को कांच के टुकड़े निकाल कर बाहर फेंक देते।

सुबह जब लड़की उठती और अपनी जेब टटोलती तो काच के टुकड़े नदारद ! फिर भी वह हिम्मत नहीं हारती और शाम तक पुनः काच के टुकड़ों से अपनी जेब भर लेती। उसका पिता जब उसे कहते—'बेटी ! तू यह क्या कर रही है ? ये काच के टुकड़े कहीं हाथ में चुभ गये तो खून निकल आएगा ?' लड़की कहती—'पिताजी ! आप भी यही कर रहे हैं ! मैं अपनी जेब में काच के टुकड़े भरती हूँ, आप अपनी थैली में नोट भर रहे हैं। दोनों में अन्तर क्या है ?'

वास्तव में, बच्चे के मुँह से निकले हुए इस कटु सत्य पर प्रत्येक व्यक्ति को विचार करना चाहिए और अन्तर को टटोलना चाहिए कि कहीं वे भी उस बालिका की तरह थैली या तिजोरी में धन इकट्ठा करके रखने की नादानी तो नहीं करते ! आज तो धन के पीछे अनेक ग्राहक लगे हुए हैं—चोर, डकैत, आयकर, विक्रय कर आदि कर लगे हुए हैं, उसका धन खींचने में। अगर वह दान दे देता है तो बहुत अंशों में इन खतरों से बच सकता है।

यों भी कई लोग व्यर्थ की चीजों का संग्रह करते रहते हैं, जिनका कोई उपयोग नहीं होता। न तो वे किसी दूसरे के काम आती हैं, न उनके ही।

एक राजा ने बहुत-से कीमती पत्थर; जिन्हें वह पन्ना, हीरा, माणक, पुखराज आदि कहता था, संग्रह कर रखे थे। एक दिन एक सन्त आए। राजा ने उन्हें अपना कीमती पत्थरों का संग्रहालय बताया, परिचय दिया। सन्त ने पूछा—'राजन् ! इन सब पत्थरों से क्या आय होती है ?' आय क्या होती है, इनकी रक्षा के लिए पहरेदार रखने पड़ते हैं, प्रतिवर्ष हजारों रुपये विश्वस्त खजांची को रखने में लगते हैं।'

सन्त—'तब तो इससे भी अच्छे दो पत्थर एक बुढ़िया के यहाँ है, जिनसे वह आटा पीस कर अपना गुजारा चलाती है। अगर इतने पड़े हुए निरर्थक अनावश्यक धन का उपयोग राज्य के निर्धनों, असहायों, पीड़ितों विधवाओं और दुःखितों के दुःख मिटाने में हो तो कितना अच्छा हो ? न आपको पहरेदार रखने पड़ें और न खजांची।' राजा ने सन्त की बात स्वीकार कर ली और तभी से उसने उन कीमती पाषाणों के संग्रह के बदले सन्त के निर्देशानुसार गरीबों, असहायों आदि को सहायता देने में ध्यान दिया। सच है, धन या कीमती आभूषणों का दान से बढ़कर और अच्छा उपयोग क्या हो सकता है ?

दान को विविध रूप में प्रेरणा

कुछ लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि दान देकर स्वयं कष्ट में पड़ना मुसीबत उठाना ठीक नहीं; परन्तु यह बात ही मानव की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। माता से पूछिए कि वह बालक को देकर सुख पाती है, आनन्दित होती है या स्वयं अकेली स्वामिनी बनकर खाने से सुख-आनन्द पाती है ? इसी प्रकार समस्त मानवों की वृत्ति होनी चाहिए। बल्कि उदारतापूर्वक प्रसन्नचित्त से दूसरों को देना चाहिए।

पिछले पृष्ठो मे अकित दान के माहात्म्य, दान से लाभ, एव दान की प्रेरणा के विविध पहलुओ द्वारा यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो जाता है कि दान मानव जीवन के लिए अनिवार्य अग है। आवश्यक कर्तव्य है, दैनिक नियम है, इसका पालन न करने से मनुष्य अधोगति की ओर जाता है। तीर्थंकरो, ऋषि-मुनियो, भिक्षुओ एव सन्तो के धर्मोपदेशो म यत्र-तत्र इसी बात की पुष्टि मिलती है। फिर भी कुछ लोग तीव्र लोभवृत्ति के कारण दान देने मे हिचकिचाते हैं। उनके लिए भी वैदिक ऋषियो की यह बार-बार प्रेरणा है। भारतीय आचार्य दीक्षान्त भाषण के समय गुरुकुल के स्नातको के सामने प्राय इन्ही शिक्षा-वाक्यो को दोहराते थे। वे मानते थे कि स्नातक अब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेगा, अत गृहस्थाश्रम का सबसे पहला गुण प्रतिदिन दान-धर्म का आचरण करना है, तथापि अश्रद्धावश या अज्ञानवश कोई उन शिक्षावाक्यों को भूल न जाय इसलिए वे पुन पुन उसकी आवृत्ति करते थे। वे दान प्रेरक शिक्षा-वाक्य ये थे—

श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्।' —तैत्तिरीय उपनिषद् १।११

—'श्रद्धा से दान दो, अश्रद्धा से भी दो, धन सम्पत्ति मे से दो, श्रीवृद्धि न हो तो भी लोक-लज्जा से दो, भय (समाज या अपयश के डर या दवाव) से दो और सविद् (सहानुभूति विवेकबुद्धि और प्रेम) से दो।'

जहाँ तक श्रद्धा से देने का सवाल है, इसमे कोई दो मत नहीं है कि श्रद्धा से देना ही वास्तविक दान है, परन्तु यहाँ श्रद्धा से तात्पर्य है, दरिद्र या मनुष्यमात्र को परमात्मा या नारायण समझ कर दो। इस श्रद्धा से दो कि मैं इस परमात्मस्वरूप आत्मा को दे रहा हूँ। अगर ऐसी श्रद्धा न हो तो अश्रद्धा से भी समाज मे विषमता, अव्यवस्था और अशान्ति मिटाने हेतु दो, यो समझ कर दो कि मेरी धनसम्पत्ति मे समाज का भी हिस्सा है, इसलिए समाज के चरणो मे उपकृतभाव से अर्पण करना मेरा कर्तव्य है। मान लो किसी के पास श्रीवृद्धि न हो अथवा श्रीवृद्धि होने पर भी श्रद्धादि न हो तो भी लोकलज्जा से दो। लोकलज्जा या लोकदवाब से भी मनुष्य दान देता है तो अच्छा है। पाँच आदमी कहते हैं या देते हैं उस समय अगर वह इन्कार करता है तो उसे लज्जा आती है, और वह अमुक सेवाकार्य या सार्वजनिक सस्था के लिए दान देता है तो कोई बुरा नही है। दान देने से उसकी कृपणता मे तो कमी ही होगी। समाज मे विषमता भी अमुक अशो मे दूर होगी। अगर दवाव या लोकलज्जा से भी कोई व्यक्ति दान नही देता है तो भय से दो। यह भय एक प्रकार का नैतिक भय है। भय पाकर दान देना भी बुरा नहीं है। यहाँ ऋषि ऐसा भय नहीं दिखाते हैं कि अगर तुमने दान नही दिया तो हम हत्या कर देंगे या तुम्हारा घरबार लूट लेंगे। अथवा तुम्हारे परिवार के अमुक व्यक्तियो का अपहरण कर लेंगे। जैसे कि डाकू लोग कुछ धनिको के लडको का अपहरण करके उन्हें इस प्रकार की धमकी देते

है कि अगर इतने हजार दोगे तो तुम्हें तुम्हारे बालक को सौंपेंगे। इस प्रकार का भय ऋषियों के दान की प्रेरणा में नहीं है। वे चेतावनी दे देते हैं कि अगर तुमने दान न किया तो समाज में विषमता बढ़ सकती है, गरीबों या पीड़ितों के मन में प्रतिक्रिया या विद्रोह की भावना जाग सकती है। इस प्रकार भय दिखाना अच्छी चीज है, धर्म-भय है। जैसे हम कहें कि हिंसा करोगे तो अनिष्ट होगा, झूठ बोलोगे तो क्षति होगी, दुनिया में अविश्वास बढ़ जाएगा। यह भय नहीं, एक प्रकार की चेतावनी है कि खराब काम मत करो, करोगे तो उसका खराब फल आना निश्चित है। जैसे कोई व्यक्ति किसी के बिछौने पर साँप देखकर उससे कहे कि तुम्हारे बिछौने पर साँप है, उसे छोड़कर दूर हट जाओ, तो इसमें वास्तव में जो भय है, उसे दिखा देना हुआ। जिस बारे में मनुष्य को भय होना चाहिए, उससे भयभीत रहना उचित ही है। इसलिए ऋषि समाज को यह समझाते हैं कि समय की पुकार समझ कर या अमुक संकट के समय यदि उदार हृदय से तुमने दान नहीं दिया तो विपत्ति आ सकती है। दान न देने से जो विविध खतरे (भय) पैदा होते हैं उनसे डर कर भी यदि कोई दान देता है तो वह उत्तम है। अनिष्ट परिणाम समझाना धर्मभय तो है, लेकिन डाकुओं की तरह की धमकी नहीं है। इस प्रकार का भय दिखाने के पीछे ऋषियों का किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं है। अगर इसे धमकी देना समझते हैं तो जैनशास्त्रों में जगह-जगह बुरे कार्यों का फल नरक घोर नरक बताकर भय दिखाया गया है। वेद में तो स्पष्ट धमकी दी है—

> मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता, सत्यं ब्रवीमिवध इत् स तस्य।
> नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी॥

अर्थात्—मूर्ख निरर्थक अन्न का संग्रह करता है। वह कहता है—मैं सत्य कहता हूँ, वह अन्न जमा नहीं करता, अपितु अपनी हत्या करता है, यानी जो व्यक्ति अन्न जमा करके रखता है, वह अपनी मौत को बुला रहा है। जो व्यक्ति (दान दिये बिना) अकेले-अकेले खाता है, वह पुण्य का नहीं, केवल पाप का ही उपयोग करता है।'

लज्जा और भय भी दान देने की नैतिक शक्ति को प्रकट करने का तरीका है। इसके बाद नम्बर आता है--संविद् से देने का—समाज के प्रति करुणा, सहानुभूति पैदा होते ही दान देना चाहिए। अन्तर में जब दान देने की स्फुरणा हो, या संकट वगैरह के समय दान देने का वचन दिया हो, वादा किया हो तो तुरन्त दान देना चाहिए। उस समय टालमटूल नहीं करना चाहिए और न अपनी अन्तरात्मा की आवाज को दबाना ही चाहिए; दान देने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। इस प्रकार ऋषियों मुनियों एवं तीर्थंकरों या आचार्यों की दान के लिए सहस्रमुखी प्रेरणाएँ हैं, जो विविध धर्मशास्त्रों या धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र अंकित हैं।

पिछले पृष्ठो मे अंकित दान के माहात्म्य, दान से लाभ, एव दान की प्रेरणा के विविध पहलुओ द्वारा यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो जाता है कि दान मानव जीवन के लिए अनिवार्य अग है। आवश्यक कर्तव्य है, दैनिक नियम है, इसका पालन न करने से मनुष्य अधोगति की ओर जाता है। तीर्थंकरो, ऋषि-मुनियो, भिक्षुओ एव सन्तो के धर्मोपदेशो मे यत्र-तत्र इसी बात की पुष्टि मिलती है। फिर भी कुछ लोग तीव्र लोभवृत्ति के कारण दान देने मे हिचकिचाते हैं। उनके लिए भी वैदिक ऋषियो की यह बार-बार प्रेरणा है। भारतीय आचार्य दीक्षान्त भाषण के समय गुरुकुल के स्नातको के सामने प्राय इन्ही शिक्षा वाक्यो को दोहराते थे। वे मानते थे कि स्नातक अब गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करेगा, अत गृहस्थाश्रम का सबसे पहला गुण प्रतिदिन दान-धर्म का आचरण करना है, तथापि अश्रद्धावश या अज्ञानवश कोई उन शिक्षावाक्यो को भूल न जाय इसलिए वे पुन-पुन उसकी आवृत्ति करते थे। वे दान प्रेरक शिक्षा-वाक्य ये थे—

श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम् भिया देयम्, संविदा देयम्।' —तैत्तिरीय उपनिषद् १।११

—'श्रद्धा से दान दो, अश्रद्धा से भी दो, धन सम्पत्ति मे से दो, श्रीवृद्धि न हो तो भी लोक लज्जा से दो, भय (समाज या अपयश के डर या दवाब) से दो और संविद् (सहानुभूति विवेकबुद्धि और प्रेम) से दो।'

जहाँ तक श्रद्धा से देने का सवाल है, इसमे कोई दो मत नही है कि श्रद्धा से देना ही वास्तविक दान है, परन्तु यहाँ श्रद्धा से तात्पर्य है, दरिद्र या मनुष्यमात्र को परमात्मा या नारायण समझ कर दो। इस श्रद्धा से दो कि मैं इस परमात्मस्वरूप आत्मा को दे रहा हूँ। अगर ऐसी श्रद्धा न हो तो अश्रद्धा से भी समाज में विषमता, अव्यवस्था और अशान्ति मिटाने हेतु दो, यो समझ कर दो कि मेरी धनसम्पत्ति मे समाज का भी हिस्सा है इसलिए समाज के चरणो में उपकृतभाव से अर्पण करना मेरा कर्तव्य है। मान लो किसी के पास श्रीवृद्धि न हो अथवा श्रीवृद्धि होने पर भी श्रद्धादि न हो तो भी लोकलज्जा से दो। लोकलज्जा या लोकदबाव से भी मनुष्य दान देता है तो अच्छा है। पाँच आदमी कहते हैं या देते हैं, उस समय अगर वह इन्कार करता है तो उसे लज्जा आती है, और वह अमुक सेवाकार्य या सार्वजनिक संस्था के लिए दान देता है तो कोई बुरा नही है। दान देने से उसकी कृपणता मे तो कमी ही होगी। समाज मे विषमता भी अमुक अशो में दूर होगी। अगर दवाब या लोकलज्जा से भी कोई व्यक्ति दान नही देता है तो भय से दो। यह भय एक प्रकार का नैतिक भय है। भय पाकर दान देना भी बुरा नही है। यहाँ ऋषि ऐसा भय नही दिखाते हैं कि अगर तुमने दान नही दिया तो हम हत्या कर देंगे या तुम्हारा घरबार लूट लेंगे। अथवा तुम्हारे परिवार के अमुक व्यक्तियों का अपहरण कर लेंगे। जैसे कि डाकू लोग कई धनिको के लडको का अपहरण करके उन्हें इस प्रकार की धमकी देते

है कि अगर इतने हजार दोगे तो तुम्हें तुम्हारे बालक को सौंपेंगे। इस प्रकार का भय ऋषियों के दान की प्रेरणा में नहीं है। वे चेतावनी दे देते हैं कि अगर तुमने दान न किया तो समाज में विषमता बढ़ सकती है, गरीबों या पीड़ितों के मन में प्रतिक्रिया या विद्रोह की भावना जाग सकती है। इस प्रकार भय दिखाना अच्छी चीज है, धर्म-भय है। जैसे हम कहें कि हिंसा करोगे तो अनिष्ट होगा, झूठ बोलोगे तो क्षति होगी, दुनिया में अविश्वास बढ़ जाएगा। यह भय नहीं, एक प्रकार की चेतावनी है कि खराब काम मत करो, करोगे तो उसका खराब फल आना निश्चित है। जैसे कोई व्यक्ति किसी के बिछौने पर सांप देखकर उससे कहे कि तुम्हारे बिछौने पर सांप है, उसे छोड़कर दूर हट जाओ, तो इसमें वास्तव में जो भय है, उसे दिखा देना हुआ। जिस बारे में मनुष्य को भय होना चाहिए, उससे भयभीत रहना उचित ही है। इसलिए ऋषि समाज को यह समझाते हैं कि समय की पुकार समझ कर या अमुक संकट के समय यदि उदार हृदय से तुमने दान नहीं दिया तो विपत्ति आ सकती है। दान न देने से जो विविध खतरे (भय) पैदा होते हैं उनसे डर कर भी यदि कोई दान देता है तो वह उत्तम है। अनिष्ट परिणाम समझाना धर्मभय तो है, लेकिन डाकुओं की तरह की धमकी नहीं है। इस प्रकार का भय दिखाने के पीछे ऋषियों का किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं है। अगर इसे धमकी देना समझते हैं तो जैनशास्त्रों में जगह-जगह बुरे कार्यों का फल नरक घोर नरक बताकर भय दिखाया गया है। वेद में तो स्पष्ट धमकी दी है—

> मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता, सत्यं ब्रवीमिवध इत् स तस्य।
> नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी॥

अर्थात्—मूर्ख निरर्थक अन्न का संग्रह करता है। वह कहता है—मैं सत्य कहता हूँ, वह अन्न जमा नहीं करता, अपितु अपनी हत्या करता है, यानी जो व्यक्ति अन्न जमा करके रखता है, वह अपनी मौत को बुला रहा है। जो व्यक्ति (दान दिये बिना) अकेले-अकेले खाता है, वह पुण्य का नहीं, केवल पाप का ही उपयोग करता है।'

लज्जा और भय भी दान देने की नैतिक शक्ति को प्रकट करने का तरीका है। इसके बाद नम्बर आता है—संविद् से देने का—समाज के प्रति करुणा, सहानुभूति पैदा होते ही दान देना चाहिए। अन्तर में जब दान देने की स्फुरणा हो, या संकट वगैरह के समय दान देने का वचन दिया हो, वादा किया हो तो तुरन्त दान देना चाहिए। उस समय टालमटूल नहीं करना चाहिए और न अपनी अन्तरात्मा की आवाज को दबाना ही चाहिए; दान देने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। इस प्रकार ऋषियों मुनियों एवं तीर्थंकरों या आचार्यों की दान के लिए सहस्रमुखी प्रेरणाएँ हैं, जो विविध धर्मशास्त्रों या धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र अंकित हैं।

उपार्जितानामर्थानां, त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां, परीवाह इवाम्भसाम्।

—पंचतंत्र २।१५५

संचित धन का दान करते रहना ही उसकी रक्षा का एक मात्र उपाय है। तालाब के पानी का बहते रहना ही उसकी शुद्धता का कारण है।

द्वितीय अध्याय

दान : परिभाषा और

1

दान की व्याख्याएँ

पिछले प्रकरणों में आपके सामने दान का माहात्म्य, दान से लाभ, दान की प्रेरणा और दान के उद्देश्य के सम्बन्ध में सभी बातें स्पष्ट की जा चुकी हैं। इसलिए अब सहज ही प्रश्न उठता है कि यह दान है क्या चीज ! उसका लक्षण क्या है ? उसकी परिभाषा क्या है तथा उसकी व्याख्या और स्वरूप क्या है ?

'दान' दो अक्षरों से बना हुआ एक अत्यन्त चमत्कारी शब्द है। आप दान-शब्द सुनकर चौंकिए नहीं। दान से यह मत समझिए कि आपकी कोई वस्तु छीन ली जाएगी, या आपको कोई वस्तु जबरन देनी होगी। दान एक धर्म है, और धर्म कभी किसी से जबरन नहीं करवाया जाता। हाँ, उसके पालन करने से लाभ और न पालन करने से हानि के विविध पहलू अवश्य समझाए जाते हैं। इसी प्रकार दान कोई सरकारी टेक्स नहीं है, कोई आयकर, विक्रयकर, या सम्पत्तिकर नहीं है, जो जबरन किसी से लिया जाए अथवा दण्डशक्ति के जोर से उसका पालन कराया जाए। चूंकि दान धर्म है, अपना पुण्य कार्य है, इसलिए वह स्वेच्छा से ही किया जाता है। और न ही दान किसी पर एहसान है, जो लादा जाय। जहाँ पर एहसान करना होता है, किसी को कुछ देकर उसे नीचा मानना होता है, या उससे कोई गुलामी कराना होता है, वहाँ वह कार्य दान नहीं कहलाता, अपितु वेतन या मजदूरी देकर काम कराना होता है, अथवा वह बेगार या नौकरी है। इसी प्रकार धोबी को धोने के लिए कपड़े दिये जाते हैं, दर्जी को सिलाई के लिए वस्त्र दिये जाते हैं अथवा अन्यान्य श्रमजीवियों को कोई चीज दी जाती है, वह वापिस लेने के लिए दी जाती है, उन्हें धुलाई, सिलाई या अन्य काम करने के बदले में जो कुछ दिया जाता है, वह दान नहीं, पारिश्रमिक—मेहनताना कहलाता है।

'दान' शब्द का यह अर्थ भी नहीं है कि हम जो शरीर के मल, मूत्र, पसीने आदि का विसर्जन भूमि पर करते हैं, या अपनी गन्दी, फटी-टूटी चीजें या कूड़ा-कर्कट आदि जमीन पर फेंक देते हैं, वह दान है यह भूमि को दान देना नहीं, अपितु विसर्जन है जो प्रत्येक प्राणी के लिए अनिवार्य है, अगर वह नहीं करता है तो उससे अपना व दूसरों का नुकसान है, स्वास्थ्य का भी और मानसिक, शारीरिक और बौद्धिक भी।

इन सब बातो पर पहले गहराई से विचार कर लेंगे तो आपको दान की परिभाषा बहुत ही आसानी से शीघ्र ही समझ में आ जाएगी।

दान का शाब्दिक अर्थ है 'देना।' परन्तु उसका भावार्थ कुछ और ही है। अगर दान के शाब्दिक अर्थ के अनुसार हम 'दीयते इति दानम्' जो दिया जाता है वह दान है, यही अर्थ करेंगे तो बहुत-सी आपत्तियाँ आएँगी। ससार मे असख्य चीजें एक आदमी द्वारा या एक प्राणी द्वारा दूसरे प्राणी को दी जाती है, वे सब की सब दान की कोटि मे चली जाएँगी। जैसे डाकिया चिट्ठी देता है या मनिआर्डर देता है, उसका वह कार्य भी दान कहलाएगा। तेली, मोची, लुहार आदि विभिन्न श्रमजीवी तथा पेंटर, डिजाइनर, चित्रकार, मूर्तिकार, फोटोग्राफर आदि भी पैसा लेकर विविध वस्तुएँ देते हैं, वह कार्य भी दान कहलाने लगेगा। इसलिए जब तक दान की वास्तविक परिभाषा ज्ञात नहीं हो जायगी, तब तक इधर-उधर की भ्रान्तियाँ समाप्त नही हो सकेंगी।

जैन दृष्टि से दान शब्द का लक्षण और व्याख्याएँ

जैन धर्म के मूर्धन्य विद्वान् एव सूत्र शैली मे आद्य ग्रन्थ प्रणेता तत्त्वार्थ-सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने दान शब्द का लक्षण किया है—

'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'[1]

—'अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।'

इसी तत्त्वार्थ सूत्र को केन्द्र में रख कर तत्त्वार्थभाष्य, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेनीयवृत्ति आदि मे इसी सूत्र की व्याख्या की है, वह क्रमशः दी जा रही है—

'स्वपरोपकारोऽनुग्रहः, अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं वेदितव्यम्।'[2]

'परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम्।'[3]

'आत्मपरानुग्रहार्थं स्वस्य द्रव्यजातस्यान्नपानादेः पात्रेऽतिसर्गो दानम्।'[4]

'स्वस्य परानुग्रहाभिप्रायेणाऽतिसर्गो दानम्'[5]

'परात्मनोरनुग्राहो धर्मवृद्धिकरत्वतः।
स्वस्योत्सर्जनमिच्छन्ति दानं नाम गृहिव्रतम्॥'[6]

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र ६।१२
२ तत्त्वार्थ राज० श्लोकवार्तिक
३ सर्वार्थ सिद्धि ६।१२
४ तत्त्वार्थभाष्य
५ तत्त्वार्थ० सिद्ध सेनीया वृत्ति ६।१३
६ तत्त्वार्थसार ४।८९

'स्वपरानुग्रहार्थं दीयते इति दानम् ।'[७]

'स्वपरोपकारार्थं वितरणं दानम्'[८]

'आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये ।
स्वपरानुग्रहायेत्थं यत्स्यात् तद्दानमिष्यते ।'[९]

'अनुग्रहार्थं स्वोपकाराय विशिष्टगुणसंचय लक्षणाय परोपकाराय—
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिवृद्धये स्वस्यधनस्यातिसर्गोऽतिसर्जनं विश्राणनं प्रदानं दानम् ।'[१०]

'अपने और दूसरे का उपकार करना अनुग्रह है । इस प्रकार का अनुग्रह करने के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान समझना चाहिए ।'

'दूसरे पर अनुग्रह करने की बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है ।'

'अपने और दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए अपने अन्नपानादि द्रव्य-समूह का पात्र में उत्सर्ग करना देना दान है ।'

'अपनी वस्तु का दूसरे पर अनुग्रह करने की बुद्धि से अर्पण (त्याग) करना दान है ।'

"धर्म वृद्धि करने की दृष्टि से दूसरे और अपने पर अनुग्रह करने वाली अपनी वस्तु का त्याग दान है, जिसे गृहस्थव्रत रूप में अपनाते हैं ।"

'अपने और दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए जो दिया जाता है, वह दान है ।'

'स्व और पर के उपकार के लिए वितरण करना दान है ।'

'अपने श्रेय के लिए और दूसरों के सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय की समृद्धि के लिए इस प्रकार स्वपर-अनुग्रह के लिए जो क्रिया होती है, वह दान है ।'

'अनुग्रहार्थं' यानी अपने विशिष्ट गुण संचय रूप उपकार के लिए और दूसरों के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिवृद्धिरूप उपकार के लिए स्व=धन का, अति सर्जन करना=देना दान है ।'

इस प्रकार ये सब व्याख्याएँ तत्त्वार्थ सूत्रकार के लक्षण को केन्द्र बनाकर उसके इर्दगिर्द घूमने वाली व्याख्याएँ हैं ।

हम अब क्रमशः इन पर विचार व विश्लेषण करें, जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि जैन दृष्टि से दान क्या है और क्या नहीं है ?

---

७ सूत्रकृतांग वृत्ति श्रु० १। अ० ११। तथा उत्तरा० एवं कल्पसूत्र वृत्ति
८ जैन सिद्धान्त दीपिका
९ उपासकाध्ययन ७६६
१० तत्त्वार्थवृत्ति श्रुत सागरीय ७।३८

स्व-अनुग्रह क्या, क्यों और कैसे ?

अनुग्रह शब्द मे यहाँ दान का उद्देश्य निहित है। किस प्रयोजन से कोई पदार्थ दिया जाय तब दान कहलाता है, यह बात 'अनुग्रह' शब्द मे समाविष्ट हो जाती है। अनुग्रह का अर्थ उपकार करना होता है। दान किसी पर एहसान करने या दवाब डालने की दृष्टि से नही होता। अनुग्रह का अर्थ एहसान नही है। वह खास तौर से अपने पर उपकार करना है। लेने वाला दाता को दान देने का अवसर देकर एक प्रकार से अनुग्रह करता है। वैसे अनुग्रह शब्द मे स्व और पर दोनो का अनुग्रह अभीष्ट है। पहले के कुछ व्याख्याकारो ने अनुग्रह का अर्थ दूसरे पर अनुग्रह करना—उपकार करना लिया है, परन्तु बाद मे व्याख्याकारो ने इसे स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने स्व और पर दोनो पर अनुग्रह करने की दृष्टि से अपनी वस्तु का त्याग करना दान बताया है।

सर्वप्रथम हम स्व-अनुग्रह पर विचार कर लें अपने पर अनुग्रह करने के यहाँ अनेक अर्थ फलित होते हैं, जिनमे से कुछ का निर्देश इन व्याख्याओ मे किया गया है।

एक अर्थ यह है—अपने मे (अपनी आत्मा मे) दया, उदारता, सहानुभूति, सेवा, विनय, आत्मीयता, अहिंसा आदि विशिष्ट गुणो के सचय रूप (अथवा उद्भव) उपकार करना स्वानुग्रह है।

दूसरा अर्थ है—अपने श्रेय—कल्याण के लिए प्रवृत्त होना स्वानुग्रह है।

तीसरा अर्थ है—अपने मे धर्मवृद्धि करना स्वानुग्रह है।

चौथा अर्थ है—दान के लिए अवसर प्राप्त होना स्वानुग्रह है।

दान के साथ जब तक नम्रता नही आती, तब तक दान अहकार या एहसान का कारण बना रहता है। इसलिए दान के साथ उपकृत भाव आना चाहिए कि मुझे अमुक व्यक्ति ने दान लेकर उपकृत किया।

अनुग्रह-दाता की नम्रवृत्ति का सूचक है, वह सोचता है, 'दान लेने वाले व्यक्ति ने मुझ पर स्नेह, कृपा अथवा वात्सल्य दिखाकर स्वय मुझको उपकृत किया है, आदाता ने मुझ पर कृपा की है कि मुझे दान का यह पवित्र अवसर प्रदान किया है। इस प्रकार अनुग्रह शब्द के पीछे यही भावना छिपी है।

भूदेव मुखोपाध्याय ने अपने पिता श्री विश्वनाथ तर्कभूषण की स्मृति मे 'विश्वनाथ फड' स्थापित किया था। इस फड मे उन्होने एक लाख साठ हजार ६० की स्थायी सम्पत्ति दान कर दी। इस फड से देश के सदाचारी विद्वान ब्राह्मणो को प्रति वर्ष ५०) रुपये बिना मागे घर बैठे मनिऑर्डर से भेज दिया जाता था। 'एज्युकेशनल गजट' मे प्रकाशित कराने के लिए इस फड की प्रथम वार्षिक वृत्ति का विवरण एक कर्मचारी ने तैयार किया। उस पर शीर्षक दिया गया था—'इस वर्ष जिन लोगों को विश्वनाथ-वृत्ति दी गई थी, उनकी नामावली'। यह विवरण देखकर भूदेव मुखो-पाध्याय कर्मचारी पर अप्रसन्न हुए—'तुम्हे विवरण का शीर्षक देना भी नही आता ?

शीर्षक इस प्रकार लिखो—'इस वर्ष जिन-जिन विद्वानों ने विश्वनाथवृत्ति स्वीकार करने की कृपा की, उनकी नामावली।' वास्तव में इस वाक्य से भूदेव मुखोपाध्याय की दान के साथ नम्रवृत्ति दान की परिभाषा में उक्त स्वानुग्रह की भावना को चरितार्थ करती है।

यही उपकृत भाव प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा दिये गये दान के पीछे होना चाहिए। यही दान के साथ स्वानुग्रह है। जहाँ दान के साथ अभिमान है, लेने वाले को हीन दृष्टि से देखने की भावना है, एहसान जताना, वहाँ दान का स्वानुग्रह रूप उद्देश्यपूर्ण नहीं होता। दान एक तरह से बेगार या सौदा बन जाता है। दान का वास्तविक फल भी तभी मिल सकता है, जब दानदाता व्यक्ति के दिल में दान के साथ आत्मीयता हो, सहृदयता हो और लेने वाले का उपकार माना जाय कि उसने दान देने का अवसर दिया है, या दान लेना स्वीकार किया है।

वैदिक दृष्टि से कहें तो प्रत्येक मनुष्य को मन में यह विचार दृढ़तापूर्वक जमा लेना चाहिए कि मैं कुछ अन्नादि देता हूँ, वह भगवान का दिया हुआ है। अगर वह अभिमान करता है तो वह परमात्मा की दृष्टि में अपराधी है। यह भी एक प्रकार का स्वानुग्रह है।

एक गृहस्थ भूखों को अन्न अपने हाथ से ही देता था, क्योंकि वह योग्य-अयोग्य पात्र-कुपात्र को देखकर देना चाहता था। किन्तु दान देते समय वह गम्भीर हो जाता था, और नीचा मुँह कर लेता था।

एक बार एक महात्मा आए, उन्होंने उससे पूछा—'भाई! आप दान देते समय नीचा मुँह क्यों कर लेते हैं? नीचा मुख तो पापी करता है। आप तो पुण्य कार्य करते हैं, तब फिर नीचा मुँह क्यों करते हैं? उसने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'महात्मन्! यह सब महिमा ईश्वर की है। मेरे पास क्या था और मेरा अपना भी क्या है? अन्नादि सब ईश्वर का है, और समाज से प्राप्त हुआ है। हम भी ईश्वर के हैं। याचक लोग मेरी स्तुति करते हैं, उससे मैं शर्मिन्दा हो जाता हूँ। परमात्मा का श्रेय मैं ले लूँ, यह मेरे लिए पाप है। परमात्मा की दृष्टि में हम दान का यश लूटकर अपराधी बनें, यह ठीक नहीं है। वैसे भी तो कई पाप गृहस्थाश्रम में करते हैं। इसलिए ऊँचा मुँह कैसे किया जा सकता है? याचक अन्न ले जाते हैं और मेरा उपकार मानते हैं, यह भी उचित नहीं है। मुझे ही उनका उपकार मानना चाहिए, क्योंकि वे मेरे घर पर आकर मुझे मेरा धर्म समझाते हैं, और मुझे पाप से मुक्त करते हैं। इसलिए मैं उनके सामने देख नहीं सकता।' गृहस्थ की ऐसी समझ देखकर महात्मा अत्यन्त प्रसन्न हुए और दान लेकर चल दिये।

वास्तव में उक्त सद्गृहस्थ याचकों का अपने पर उपकार मानकर स्वानुग्रहबुद्धि से दान देता था। इस प्रकार का स्वानुग्रह दान के उद्देश्य को पूर्णतया चरितार्थ करता है।

दूसरे प्रकार का स्वानुग्रह है—दान के द्वारा व्यक्ति के जीवन मे धर्मवृद्धि का होना। धर्म से मतलब यहाँ किसी क्रियाकाण्ड या रूढ़ि परम्परा से नहीं है, अपितु जीवन मे अहिंसा, सत्य, ईमानदारी, ब्रह्मचर्य एव परिग्रहवृत्ति की मर्यादा समता आदि से है। व्यक्ति के जीवन मे दान के साथ धर्म के इन अगो का प्रादुर्भाव हो, अथवा दुर्व्यसनो का त्याग हो, तभी समझा जा सकता है, उसका दान स्वानुग्रह कारक हुआ है। अन्यथा, दान से केवल प्रतिष्ठा लूटना, प्रसिद्धि प्राप्त करना, अपितु अपने जीवन मे बेईमानी, शोषणवृत्ति, अन्याय, अत्याचार आदि पापकार्यों को न छोड़ना कोरी सौदे-बाजी होगी। वह दान दान के उद्देश्य को पूर्ण करने वाला नही होगा। दान के साथ हृदयस्थ शैतान न बदले तो वह दान ही क्या ?

सर्वोदय की प्रसिद्ध कार्यकर्त्री बिमला बहन ठकार जिन दिनों बिहार मे पैदल घूम-घूमकर भूदान की अलख जगा रही थी, उन दिनो की एक घटना है। एक छोटी रियासत से होकर वे गुजर रही थी। साथ मे कॉलेज के दो-चार लड़के थे। साथियो ने कहा—'इस गाँव म जाना बेकार है। राजा बडे दुष्ट हैं, शराबी हैं, जुआरी हैं, इनका हृदय परिवर्तन क्या हो सकता है ?' विमला बहन ने कहा—'हम जनता मे जनार्दन का दर्शन करने निकले हैं। बगैर दर्शन के मन्दिर के बाहर से ही लौट जाय, यह अच्छा नही। भूदान-आन्दोलन मानवनिष्ठा का अधिष्ठान है। मैं तो अवश्य ही जाऊँगी, उनके पास।' विमला बहन के साथी नही माने वे दूसरे गाँव चले गए। वे अकेली ही राजासाहब की ड्योढ़ी पर पहुँची। दोपहर का समय था। बरामदे में वे आराम से लेटे हुए थे। बिमला बहन के दरवाजा खटखटाया। पूछा गया—'कौन है ?' उन्होंने कहा—'आपकी वहन आई है।' जब सुना कि बहन आई है तो चौंक पड़े, आगे बढ़ कर इस तरह देखने लगे कि वही कोई पगली तो दरवाजे पर नहीं पहुँच गई। पूछने लगे—'यहाँ तक कैसे पहुँच पाई ? गाँव वालो ने तुम्हें बताया नहीं कि मैं किस प्रकार का शैतान आदमी हूँ ? भला, मेरे पास किसी भले आदमी का कोई काम हो सकता है ? तुम एक नौजवान लडकी हो तुम्हारी भलाई इसी मे है कि तुम लौट जाओ।'

बिमला बहन— भाई साहब ! आप दुष्ट हैं या शराबी, मुझे इससे क्या मतलब ? एक बात का जबाव दीजिए। आपके भी कोई मा-बहन है या नही ? एक सत का सन्देश लेकर, एक फकीर का पैगाम लेकर दरवाजे पर पहुँची हूँ। इस तरह लौटने वाली यह बहन नहीं है। भूदान-यज्ञ-आन्दोलन के विचार की राखी यह बहन भाई की कलाई मे बाध कर ही लौटेगी, पहले नहीं।'

दुनियाँ ने उन्हे दुष्ट कहा था, शैतान कहा था, लेकिन उनकी आँखों मे आँसू छलक पडे। आँसू क्या थे, उनकी अन्तरात्मा मे सोई हुई भलाई, धर्मवृत्ति जाग उठी, उनकी मानवता उमड पडी। हाथ जोडकर कहा—'बहन ! अन्दर पधारिए। मैं आज से शराब, मांस, शिकार और परस्त्रीगमन का त्याग करता हूँ, अब तो मैं दान देने

के योग्य हो गया हूँ।' यों कहकर उन राजासाहब ने सभा का आयोजन किया। सभा में ५०० एकड़ पैरकाश्त जमीन में से १२५ एकड़ जमीन उन्होंने दान में दी, बाकी गाँव वालों ने दी। इस प्रकार ४ घंटे में २१५ एकड़ जमीन का दान लेकर विमला बहन उस गाँव से लौटी।

इस दान के साथ राजासाहब के जीवन स्वानुग्रह के रूप में धर्मवृद्धि हुई।

तीसरे प्रकार का स्वानुग्रह है—अपने श्रेय (कल्याण) के लिए प्रवृत्त होना। व्यक्ति में जब सोया हुआ भगवान् जाग जाता है तो वह सर्वस्व देकर अपरिग्रही बनकर कल्याणमार्ग में प्रवृत्त हो जाता है।

संत फ्रांसिस एक बहुत बड़े धनाढ्य के पुत्र थे। वे पहले अत्यन्त सुन्दर रेशमी वस्त्र पहना करते थे। एक बार एक भिखारी उनकी दुकान पर आया, वह फटे कपड़े पहने हुए था। उसे देखकर फ्रांसिस को दया आ गई। उन्होंने उसे पहनने के लिए कुछ रेशमी कपड़े देते हुए कहा—'लो भाई! ये अच्छे कपड़े पहन लो।' भिखारी ने उत्तर दिया—'महाशय! क्षमा करें यदि मैं इन रेशमी कपड़ों को पहनने लगूँगा तो फिर मुझे अपने भीतर बैठा हुआ परमात्मा नहीं दीखेगा, क्योंकि मेरी दृष्टि फिर इनकी चमक-दमक में ही उलझ जाएगी। अब इन कपड़ों और शरीर की सभाल में ही मेरी आयु समाप्त हो जाएगी। अपने परमात्मा का दर्शन कभी नहीं हो सकेगा।' यह सुनकर फ्रांसिस ने कहा—'मुझे भी ऐसा ही अनुभव हो रहा है।' यह कहने के साथ ही उन्होंने वे रेशमी कपड़े फाड़ डाले और अपनी दुकान का करोड़ों रुपयों का सब माल गरीबों को दान में देकर स्वयं उस भिक्षुक के साथ हो गए। निष्परिग्रही संत बन गए। ईसाई संतों में संत फ्रांसिस बहुत ऊँचे दर्जे के संत हो गए हैं।

चौथे प्रकार का स्वानुग्रह है—दान के माध्यम से अपने में दया, करुणा, उदारता, सेवा, सहानुभूति, नम्रता, आत्मीयता आदि विशिष्ट गुणों का संचय करना। जब मनुष्य दान देता है तो मन में इस प्रकार के उच्च विचार आने चाहिए जो दया आदि सद्गुणों के पोषक हों। अगर दान देते समय, देने के बाद या देने से पहले लेने वाले के प्रति सद्विचार नहीं है, या दया, आत्मीयता या सहानुभूति के विचार नहीं हैं, तो वह नाटकीय दान निकृष्ट हो जायगा। अथवा दान के साथ लेने वाले के प्रति घृणा की भावना है, उसे हीन समझकर या एहसान जता कर अभिमानपूर्वक दिया जाता है तो वह दान के लक्षण में कथित उद्देश्य को पूर्ण नहीं करता। इसलिए एक आचार्य ने स्वानुग्रह का अर्थ किया है कि अपने में पूर्वोक्त विशिष्ट गुणों का संचय करना-स्वोपकार है।

जॉन० डी० रॉकफेलर का उदाहरण पहले दिया जा चुका है। अमेरिका में रॉकफेलर अपनी क्रूरता, कृपणता और कठोरता के लिए बहुत प्रसिद्ध था। लेकिन जब उसे दुःसाध्य बीमारी हुई और इलाज के सारे प्रयत्न निष्फल हो गए, तब उसके जीवन में अपने पिछले कारनामों के प्रति पश्चात्ताप होने लगा। उसके हृदय में गरीबों

के प्रति दया, सहानुभूति और आत्मीयता की भावना उमड़ी और उसने अपनी सारी सम्पत्ति गरीबों को दान मे देने का निश्चय कर लिया । रॉकफेलर के उस दान के साथ उसके जीवन मे दुर्गुणो से निवृत्ति और सद्गुणो का सत्व हो चुका था । उसने पाप के प्रायश्चित्त के रूप मे सारी सम्पत्ति का दान कर दिया । कई सस्थाएँ उसको अपने पूर्व जीवन के अनुसार दुर्गुणी जान कर उसका धन ले नही रही थी, रॉकफेलर ने अपने बदले हुए सद्गुणनिष्ठ जीवन का परिचय दिया, विश्वास दिलाया और उसका धन लेकर उस पर अनुग्रह करने की प्रार्थना की, अपना अहं छोड़कर अपने मित्र के द्वारा दिलवाया, तब जा कर उन सेवाभावी सस्थाओ ने उसका दान स्वीकार किया।

यह था स्वानुग्रह का चौथा प्रकार, जो दान को उद्देश्यपूर्ण और सार्थक बनाता है।

जब तक दान के साथ इन चारो मे से किसी प्रकार का स्वानुग्रह नही होता, तब तक दान सच्चे अर्थ मे दान नहीं होता, क्योकि केवल देना-दान नही है, उसके पीछे कुछ विचार होते हैं, भावना होती है, उसका उद्देश्य होता है, विचार किये बिना यो ही किसी को रूढ़िवश दे देना, सिवका फेंकना है—दान देना नही । अपनी वस्तु का दान देने और किसी के सामने वस्तु को फेंक देने मे बहुत अन्तर है। इसलिए दान तभी सच्चे अर्थों मे दान है, जब उसमे स्वानुग्रहभाव निहित होगा।

परानुग्रह क्या, क्यों और कैसे ?

स्वानुग्रह के साथ-साथ कई आचार्यों ने दान की व्याख्या मे परानुग्रह शब्द भी जोडा है। इसलिए इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। वैसे दान के साथ परानुग्रह की बात तो झटपट समझ मे आ जाती है, बल्कि स्वानुग्रह की बात सर्वसाधारण व्यक्ति को अटपटी-सी लगती है। परन्तु इससे पहले हम दान के साथ स्वानुग्रह की उपयोगिता और अनिवार्यता को स्पष्ट कर आये हैं। इसलिए इसमे सन्देह की अब कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। परानुग्रह का सीधा-सादा मतलब है—अपने से अतिरिक्त दूसरे का उपकार करना। परानुग्रह का यह अर्थ नही है कि कोई शराबी है, उसे शराब पीने की हूक उठी है, पास मे पैसे नहीं हैं, छटपटा रहा है, बिना शराब के, उसे शराब लाकर पिलाना । इसी प्रकार और भी किसी दुर्व्यसन के पोषण के लिए किसी व्यक्ति को दान देना भी परानुग्रह नही है। जैसे स्वानुग्रह के कई अर्थ विभिन्न आचार्यों ने किये हैं, वैसे ही परानुग्रह के भी अनेक अर्थ आचार्यों ने किये हैं।

एक आचार्य परानुग्रह का अर्थ करते हैं—अपने दान से दूसरो के रत्नत्रय की वृद्धि मे सहायता करना 'परानुग्रह' है।

एक अर्थ यह है—दान देकर दूसरो के रत्नत्रय की उन्नति करना 'परानुग्रह' है।

एक अर्थ है—दान देकर दूसरों की धर्मवृद्धि में सहायता रूप अनुग्रह करना।

परानुग्रह का यह अर्थ भी होता है—दूसरों पर आई हुई विपत्ति, निर्धनता, अभावग्रस्तता, प्राकृतिक प्रकोप की पीड़ा आदि निवारण करने का अनुग्रह करना।

परानुग्रह के पहले अर्थ के अनुसार किसी रत्नत्रयधारी, मुनि जो धर्मात्मा हों, धर्मपालन कर रहे हों, सर्वस्व त्यागी हों, भिक्षाजीवी हों, उन्हें अपने रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के पालन के लिए आहार, वस्त्र, पात्र, औषध, ज्ञानदान आदि से सत्कारित करना, ताकि वे अपने शरीर की रक्षा करके रत्नत्रय में वृद्धि कर सकें, परानुग्रह है।

सुखविपाक सूत्र में सुबाहुकुमार आदि का वर्णन आता है। सुबाहुकुमार ने ऐसे उत्कृष्ट महाव्रतधारी सुदत्त अनगार को इसी बुद्धि से स्वानुग्रहपूर्वक दान दिया था। सुबाहुकुमार का यह दान स्वपरानुग्रह-बुद्धि से था।

इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण जैनागमों में मिलते हैं, जिन्होंने स्वानुग्रहपूर्वक विविध मुनिराजों को दान देकर उन पर सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की वृद्धि रूप उपकार किया था।

श्रमण भगवान् महावीर एक बार कौशाम्बी नगरी में १३ प्रकार की शर्तों (बोल) का अभिग्रह लेकर विचरण कर रहे थे। वे अपने अभिग्रह (ध्येयानुकूल संकल्प) की पूर्ति के लिए प्रतिदिन नियमित समय पर कौशाम्बी नगरी के उच्च-नीच मध्यम कुलों में आहार के लिए जाते थे, लेकिन कहीं भी उनका अभिग्रह पूर्ण न हो सका। आखिर वे घूमते-घूमते धनावह सेठ के यहाँ पधार गए। वहाँ राजकुमारी चन्दनबाला को मुण्डित मस्तक, हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ पहनी तथा तीन दिन की उपवासी देखकर भ० महावीर ने उसी ओर पदार्पण किया, श्रमण भगवान महावीर को देखकर उसे अपार प्रसन्नता हुई कि मैं धन्यभाग्य हूँ जो तीर्थंकर जैसे महान पात्र को दान दे रही हूँ पर उड़द के बाकुले जैसी तुच्छ वस्तु को देखकर उसकी आँखों में आँसू आ गये। कितने ही आधुनिक कथा लेखकों ने चन्दनबाला के आँखों में आंसू न देखकर लौटने की बात कही है, पर वह युक्ति-युक्त नहीं है।[1] वास्तव में तो अपनी दशा और देय द्रव्य को देखकर ही वह द्रवित हो गई। हां तो, भगवान महावीर का अभिग्रह पाँच महीने और २५ दिन के बाद उस दिन फलित हो गया। राजकुमारी चन्दनबाला के हाथ से उन्होंने उड़द के बाकुले ग्रहण किये। लेकिन वह दान भगवान महावीर के शरीर पोषण तथा उसके फलस्वरूप उनके रत्नत्रय को समृद्ध बनाने के लिए अनुग्रहकारक हुआ। और चन्दनबाला के लिए स्वानुग्रहकारक बना।

इसी प्रकार भगवान ऋषभदेव भी एक वर्ष से अभिग्रह धारण किये हुए थे।

---

१ भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृ० ३६१-३६५ (देवेन्द्र मुनि)

विनीता (अयोध्या) नगरी के प्रजाजन इस बात को जानते ही न थे, कि मुनि को आहार कैसे दिया जाय ? फलतः उन्हें एक वर्ष तक निराहार रहना पड़ा। अकस्मात् विचरण करते-करते भगवान ऋषभदेव हस्तिनापुर पधार गए। वहाँ के राजा श्रेयास कुमार को स्वप्न आया—जिसमे उन्होने कल्पवृक्ष को अत्यन्त सूखा हुआ देखा, साथ ही अपने हाथ से सींचने पर उसे हरामरा देखा। श्री श्रेयासकुमार ने उस स्वप्न पर बहुत ऊहापोह किया, अतः उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया, जिसमे उन्होने पूर्व जन्म के पितामह श्रीऋषभदेव को जान लिया। वे ही शुष्क कल्पवृक्ष के प्रतीक थे—तपस्या से शरीर सूख गया। श्री श्रेयासकुमार के यहाँ जब दूसरे दिन अनायास ही भगवान ऋषभदेव पहुँच गए तो उन्हें अपने यहाँ आया हुआ इक्षुरस दिया। वह दान महादान था, वही भगवान ऋषभदेव के शरीर पोषण के माध्यम से उनके रत्नत्रय को समृद्ध बनाने का कारण बना इसलिए उस दान को स्व-परानुग्रहकारक कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इस प्रकार के जितने भी दान आगमो मे वर्णित हैं, वे ही स्वपरानुग्रह कारक होने से दान के उद्देश्य को सार्थक करते हैं, अन्य प्रकार के दान नहीं।

परानुग्रह का दूसरा अर्थ भी इसी से मिलता-जुलता है—दान द्वारा दूसरों के रत्नत्रय की उन्नति करना। यद्यपि परानुग्रह के साथ स्वानुग्रह तो गर्भित है ही; तथापि परानुग्रह-बुद्धि की मुख्यता आचार्य ने दान के साथ अनिवार्य बताई है। इस प्रकार के परानुग्रह मे भी त्यागी श्रमण-श्रमणी, मुनि, साध्वी आदि सुपात्र होते हैं। 'मेरे दान से इनका ज्ञानादिरत्नत्रय बढ़ेगा, इनके शरीर मे सुखसाता रहेगी तो ये धर्म वृद्धि करेंगे, हजारो व्यक्तियो को सन्मार्ग का उपदेश देंगे और पथभ्रष्ट को सुपथ पर लाएँगे।' इस प्रकार की परानुग्रहबुद्धि जब दान के साथ आती है तो वह दान देदीप्यमान हो उठता है। उस दान से दाता और आदाता दोनो की आत्मा मे चमक आ जाती है।

प्राचीनकाल में बनारस में एक नगरसेठ था। उसके पुत्र गन्धकुमार को पिता के देहान्त हो जाने पर राजा ने नगर सेठ का पद दे दिया। तब से वह 'गन्धश्रेष्ठी' कहलाने लगा। एक दिन उसके पुराने मुनीम ने तिजोरी खोलकर गन्धश्रेष्ठी को बताया—'स्वामिन्! इतना पितृधन है, इतना मातृधन है, इतना पितामह से प्राप्त धन है, अब आप इस सारे धन की रक्षा करना।

गन्धश्रेष्ठी—"तो क्या मेरे पिताजी इतना सब धन साथ मे नही ले गए ?"

मुनीम—नही, स्वामी! अभी तक कोई भी अपने कुशल-अकुशल कर्म के सिवाय धन आदि किसी भी चीज को साथ मे लेकर नही गए और न ही आप साथ मे ले जा सकेंगे।" यह सुनकर गन्धश्रेष्ठी सोचने लगा—वे सब मूर्ख थे, धन साथ मे क्यो नही ले गए? मैं तो सारा धन साथ मे लेकर जाऊँगा।' अतः गन्धश्रेष्ठी ने सत्कार्य मे या सत्पुरुषो को सत्कार करने मे अपने धन के सदुपयोग का विचार न करके निश्चय किया कि 'इस सारे धन का मैं ही अकेला उपभोग करूँगा।' अतः

उसने अपने धन में से १० हजार मुद्राएँ खर्च करके एक बढ़िया स्नानगृह बनवाया। दस हजार रुपयों की एक स्वर्णमण्डित चौकी बनवाई। दस हजार रुपये की एक सोने की थाली बनवाई। तथा हजारों रुपये खर्च करके सिंहासन, शय्या आदि एक से एक बढ़कर उपभोग्य वस्तुएं बनवाईं। तथा अपने सुबह के भोजन पर एक हजार, शाम के भोजन पर भी एक हजार तथा पूर्णिमा के दिन उत्तम मिष्टान्न बनते, उन पर १० हजार रुपये खर्च करने लगा। और अपने वैभव का अच्छे ढंग से प्रदर्शन करता हुआ वह ठाठबाट से रहने लगा।

एक बार गन्धश्रेष्ठी ने अपना वैभव दिखाने के लिए नगर के सभी जनों को आमन्त्रित किया। नगर के सभी लोग उसका वैभव देखने के लिए एकत्रित हुए। जब गन्धश्रेष्ठी स्वर्ण थाल में परोसे हुए उत्तम भोज्य पदार्थ का वैभव-प्रदर्शन के साथ आस्वाद लेने लगा, तभी एक ग्रामीण लकड़हारा अपने मित्र के साथ गन्धश्रेष्ठी के वैभव को देखने आया था, वह तो स्वर्णथाल में रखे हुए मिष्टान्न की मधुर सुगन्ध से मुग्ध हो गया। तथा उसका सारा वैभव देखकर लकड़हारा अपने मित्र से कहने लगा—"मैं तो भोजन की गन्ध से ही पागल हो गया हूँ। मेरा मन अब इन पदार्थों को खाने के लिए ललक उठा है। उसका मित्र बोला—"जाने दे, मित्र, ये विचार! तुझे ये चीजें कभी मिल नहीं सकेंगी।" लकड़हारा—"मुझे ये चीजें नहीं मिलीं तो मैं जिन्दा नहीं रह सकूँगा। चाहे जिस तरह भी कष्ट सहकर मैं इन चीजों को खाऊँगा।" उसका मित्र निरुपाय था। बहुत समझाया पर लकड़हारे ने एक न मानी। गन्धश्रेष्ठी का जब भोजन पूरा होने आया, तब उसके मित्र ने जाकर प्रार्थना की—"स्वामिन्! यह ग्रामीण मनुष्य मेरे साथ आया है। यह स्वर्णथाल की चीजें देखकर मुग्ध हो गया है। अतः थाल में से इसे एकाध चीज देकर कृतार्थ कीजिए।" यह सुनते ही सेठ क्रुद्ध हो गया, बोला—"ऐसी धृष्टता करते हो! कुछ भी नहीं मिलेगा, इसमें से।" परन्तु वह लकड़हारा भी अपने मित्र से आग्रह करने लगा,—"मित्र! किसी भी तरह मुझे एक-दो कौर ही मिल जाए, ऐसा प्रयत्न करो! अन्यथा, मैं जीवित न रह सकूँगा। अतः उसके मित्र ने पुनः गन्धश्रेष्ठी से अनुनय-विनय किया—"श्रेष्ठिन्! इसे जीवितदान के लिए किसी तरह एक कौर दे दीजिए।" सेठ ने काफी देर तक विचार करने के बाद कहा—"अभी तो नहीं दिया जा सकता, एक कौर भी। किन्तु यदि इसके बिना यह जीवित नहीं रह सकता है तो तीन वर्ष तक मेरे यहाँ बिना वेतन लिये नौकरी करे, तो मैं फिर अन्त में इसे अपनी थाली में भोजन दे सकता हूँ।"

लकड़हारे ने गन्धश्रेष्ठी की यह कठोर शर्त मंजूर कर ली। वह अपने परिवार को छोड़कर सेठ के यहाँ रहने लगा। गाँव का होते हुए भी लकड़हारा होशियार था। इसलिए सेठ की रसोई बनाने लगा। कुछ ही समय में वह 'गन्धश्रेष्ठी का रसोइया' नाम से प्रसिद्ध हो गया। तीन वर्ष पूरे हो गए। उसने अपने कार्य एवं व्यवहार

सेठ का दिल जीत लिया था। सेठ ने तीन वर्ष पूरे होते ही अगले दिन अपने घर के नौकरों से कहा—"सुनो! आज इस घर का स्वामी मैं नहीं, यह रसोइया रहेगा। तुम सब जिस तरह मेरा आदर-सत्कार करते हो, उसी तरह इस लकड़हारे का करना। घर का स्वामी आज इसे मानकर चलना।" यों कहकर सेठ अपनी पत्नी के साथ एक दिन के लिए घर छोड़कर बाहर चला गया। जाते हुए सबको कह गया—'आज मेरे बदले यह लकड़हारा सेठ है।"

अब क्या था! इस एक दिन के सेठ को देखने के लिए सारा नगर उमड़ पड़ा। तीन वर्ष नौकरी करने के बाद एक दिन नगर सेठ-सरीखा भोजन और सम्मान पाने वाले इस नये नगर सेठ को देखने के लिए सारा नगर उत्सुक था। सगीत हुआ, दिव्यनृत्य हुआ। सोने के थाल मे उत्तम अमृत रसोई परोसी गई। उसी समय गन्धमादन पर्वत पर ७ दिन से समाधिस्थ बौद्ध भिक्षु अपना पारणा करने के लिए निकला। अपने ज्ञान से उसने ३ वर्ष नौकरी करने के बाद रसोइए को नगर सेठ बने हुए जान-देख लिया। उसकी श्रद्धा की परीक्षा के लिए इसी नये श्रेष्ठी के आँगन मे आकर खड़ा रहा। रसोइया सेठ ने देखा तो विचार में पड गया—"मैंने पूर्वकाल मे कुछ भी दान नहीं दिया था, इसी कारण एक दिन के भोजन के लिए तीन वर्ष तक नगर सेठ के यहाँ नौकरी करनी पडी। आज का यह भोजन मेरे लिए तो एक ही दिन का है। यह भोजन मुझे तो क्षणिक तृप्ति व सुख देगा। अगर इस भोजन का दान मैं इस भिक्षु को दे दूं तो यह भोजन इसके जीवन मे निर्मलता, सात्विकता और अहिंसा सत्यादि मे वृद्धि करेगा, शरीर को स्वस्थ रख कर यह समाज सेवा करेगा, और मुझे भी यहाँ और परभव मे सुख-शान्ति मिलेगी।" यो सोचकर तीन वर्ष की कठोर मेहनत से प्राप्त भोजन मे से एक भी कौर लिये बिना उस रसोइया सेठ ने सारा-का-सारा भोजन प्रसन्नतापूर्वक उस भिक्षु को दान दे दिया। बौद्धभिक्षु का भिक्षा पात्र भर गया। सारा थाल उसने भिक्षु के पात्र मे उड़ेल दिया। थाल मे से दो हिस्से उसने नहीं किये। बौद्ध भिक्षु भिक्षा लेकर अपने स्थान पर गये, उन्होंने विहार के सभी भिक्षुओ को यह आहार बाट दिया।

यह अभूतपूर्व घटना देखकर नगर मे सर्वत्र हर्ष व्याप्त हो गया। सभी के मुह से ये उद्गार निकले—'वैभवशाली मनुष्य को ऐसा ही होना चाहिए।' प्रशसा के ये बोल जब गन्धश्रेष्ठी ने सुने तो वह अपने सुखभोग और वैभव विलास पर बहुत लज्जित हुआ। अपने तीन वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद प्राप्त इस अमृत भोजन को रसोइये ने परम समाधानपूर्वक बौद्ध भिक्षु को सम्मान दान मे दे दिया, यह देख कर रसोइये के प्रति उसके मन में आदर-भाव जागा। गन्धश्रेष्ठी ने रसोइये को सम्मानपूर्वक अपने वैभव मे से आधा हिस्सा दे दिया तथा अत्यन्त बहुमान करके अपने साथ रखा। बनारस के राजा ने रसोइये के सद्गुणो पर मुग्ध होकर उसे नगर सेठ पद दे दिया। और जो घर एक दिन भोग-विलास का घर बना हुआ था, वही घर उस दिन से 'दानशाला' बन गया।

'सब्बं रसं धम्मरसो जिनाति,
सब्बं दानं धम्मदानं जिनाति',

बुद्ध के द्वारा धम्मपद अट्ठकथा में उक्त यह अमर वाक्य उस दानशाला पर और उक्त श्रेष्ठी के जीवन में अंकित हो गया।

सचमुच, परानुग्रह बुद्धि से एक दिन के श्रेष्ठी द्वारा दिया गया भोजन दान उसके जीवन को और साथ-साथ गन्धश्रेष्ठी के जीवन को विशिष्ट गुणों से सुसज्जित करने वाला बन गया। इस दान के पीछे स्वानुग्रह के साथ मुख्यतः परानुग्रह बुद्धि निहित थी। यह बौद्ध भिक्षु के रत्नत्रय के अभ्युदय रूप परानुग्रह का कारण बना।

परानुग्रह के तीसरे अर्थ के अनुसार दान के द्वारा दूसरों की धर्म-वृद्धि में सहयोग रूप में अनुग्रह करना है। दान देने के पहले या पीछे भी दाता की जहाँ यह भावना रहती है कि इस दान से आदाता के जीवन में धर्मवृद्धि हो, वह धर्म के उत्तम अंगों से विभूषित हो, उसका जीवन धर्म से ओतप्रोत और धर्म में हर समय सुदृढ़ बना रहे। इस प्रकार की भावना से दिया गया दान परानुग्रहकारक होता है।

यह परानुग्रहपूर्वक दान धर्म प्राप्ति कराने के लिए होता है। विशेषतः उस समय यह विशेष रूप से परानुग्रहकारक होता है, जब व्यक्ति अपनी घृणित एवं हिंसापरक आजीविका एवं पूर्वज परम्परा के कारण पाप में डूबे रहे हों, तब उन्हें धर्म में संलग्न करने के लिए अपने धन, साधन आदि का दान दिया जाय।

उज्जयिनी के सम्राट कुणालपुत्र सम्प्रति राजा पूर्व जन्म में एक भिक्षुक थे। आचार्य सुहस्तिगिरि से प्रतिबोध पा कर वे जैन मुनि बन गये थे। किन्तु जिस दिन वे मुनि बने थे, उसी दिन रात में भयंकर अतिसार रोग हो गया और उसी रात को उनका शुभभावनापूर्वक देहान्त हो गया। वे मर कर राजा कुणाल के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। यही सम्प्रति उज्जयिनी के सम्राट बने।

एक बार आचार्य सुहस्तीसूरि उज्जैन में पधारे हुए थे। शोभा यात्रा नगर के आम रास्तों पर धूमधाम से निकल रही थी। आचार्य श्री सुहस्तीसूरि शोभायात्रा के साथ चल रहे थे। शोभायात्रा जब नगर के मुख्य मार्गों पर से होती हुई राजमहल के निकट पहुँची तो झरोखे में बैठे हुए सम्प्रति राजा टकटकी लगाकर आचार्यश्री की ओर देखने लगे। सम्प्रति राजा का चित्त आचार्यश्री की ओर अधिकाधिक आकर्षित होता गया। इसका कारण जानने के लिए सम्प्रति राजा गहरे मन्थन में पड़ गए। सोचते-सोचते राजा को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे उन्हें अपने पूर्व जन्म की सब बातें याद हो आईं कि 'मैं एक दिन भिखारी होकर दाने-दाने के लिए घर-घर भटकता था। किन्तु मुझे मनुष्य जन्म का महत्त्व बताकर संसार-विरक्ति का प्रतिबोध इन्हीं आचार्यश्री ने दिया और मैंने इनसे मुनि दीक्षा ग्रहण की, एक ही रात्रि में मेरा कल्याण हो गया। इनके परम अनुग्रह से मैं राजकुल में पैदा होकर आज राज-ऋद्धि का उपभोग कर रहा हूँ। अतः इस अनुग्रह रूपी ऋण का बदला मैं कैसे

चुकाऊँ ?' यह सोचकर सम्राट सम्प्रति वहाँ से उठकर सीधे नीचे आये और आचार्यश्री के चरणकमल स्पर्श करके सविनय निवेदन करने लगे—

'भगवन् ! मैं आपका शिष्य हूँ।'

आचार्यश्री ने कहा—'राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम धर्म कार्य में रत बनो, धर्म से ही सब सम्पत्ति और पदार्थ मिलते हैं।'

सम्प्रति राजा 'धर्मलाभ' सुनकर निवेदन करने लगा—'भगवन् ! आप ही के अनुग्रह से मैंने यह राज्य प्राप्त किया है। कृपया, यह राज्य अब आप स्वयं लेकर मुझे कृतार्थ कीजिए।'

आचार्यश्री ने उत्तर दिया—'यह प्रताप मेरा नहीं, धर्म का है। धर्म राजा, रंक सबका समान रूप से उपकार करता है। अतः जिस धर्म के प्रताप से यह सम्पत्ति उपार्जित की है, उसी धर्म की सेवा में यह व्यय करो, दान दो, जनता को धर्ममार्ग में लगाओ। ऐसा करने से तुम्हारा भविष्य और भी उज्ज्वल होगा। हम तो निःस्पृही अकिंचन जैन श्रमण हैं, हमें इस राज्य ऋद्धि से क्या सरोकार ! अतः यही उचित होगा कि अपनी सम्पत्ति का दान देकर अनेक लोगों को धर्ममार्ग में लगाओ।'

आचार्यश्री के सदुपदेश को मानकर उसी समय राजा ने निर्णय कर लिया कि मैं इस शोभायात्रा में सम्मिलित होकर राज्य में अहिंसा और व्यसन त्यागरूप धर्म प्रवर्तित करने की घोषणा करूँ।' शोभायात्रा की पूर्णाहुति के बाद उसने उद्घोषणा की—'आज से मेरे राज्य में कोई भी व्यक्ति पशु-पक्षी का शिकार न करे, शराब और मांस का सेवन न करे।' उसी दिन से उसने जैन-धर्मावलम्बी श्रावकों को धर्म में सुदृढ़ रखने हेतु हर तरह से सहायता देने की व्यवस्था की। जगह-जगह दानशालाएँ, धर्मशालाएँ, प्याऊ, कुएँ, तालाब, उद्यान, औषधालय, पथिकाश्रम वगैरह बनवाकर उनके लिए प्रचुर द्रव्य का दान किया। इसके लिए सबसे महान् कार्य सम्राट सम्प्रति ने यह किया कि आन्ध्र आदि अनार्यदेशों में लोगों को धर्म सम्मुख करने और धर्म-मार्ग में लगाने हेतु अपने सुभटों को प्रचारक के रूप में भेजा। कुछ ही वर्षों में वे सब प्रान्त साधुओं के विहार योग्य और सुलभ बन गए, तब उन्होंने आचार्यश्री से प्रार्थना की—'भगवन् ! उन सुलभ अनार्य क्षेत्रों में जनता को धर्मोपदेश करके धर्म में सुदृढ़ करने हेतु साधुओं को भेजें। वहाँ साधु पहुँचे और अनेक लोगों को धर्म प्राप्ति हुई। इस प्रकार सम्प्रति राजा ने धर्मप्राप्ति रूप परानुग्रह (जिसमें स्वयं धर्मप्राप्तिरूप अनुग्रह तो था ही) के लिए करोड़ों रुपयों का दान दिया।

कर्मयोगी द्वारकाधीश श्रीकृष्ण ने भी द्वारिकावासी अनेक धर्मप्रेमी भाई-बहनों को दीक्षा लेकर संयम पालन करने के रूप में धर्म प्राप्ति के लिए दलाली की। उन्होंने तीर्थंकर अरिष्टनेमि प्रभु से जब द्वारका नगरी के भविष्य में विनाश होने की बात सुनी तो उनके दिल में एक विचार तीव्रता से उठा—'मैं द्वारकानगरी में इस बात की घोषणा करवा दूँ कि जो द्वारकावासी भाई-बहन भगवान् अरिष्टनेमि के चरणों में

दीक्षा लेकर श्रमण धर्म का पालन करना चाहते हों, वे निश्चिन्त होकर दीक्षा ग्रहण करें। उनके पीछे जो भी परिवार रहेगा, उनकी प्रतिपालना, उनका भरण-पोषण, मैं अपनी धन-सम्पत्ति देकर करूँगा।' बस, इसी उत्कृष्ट विचार के कारण उन्होंने संसार का सर्वोच्च पद—तीर्थंकर पद प्राप्त करने का पुण्य बन्ध कर लिया। उन्होंने सारी द्वारकानगरी में पूर्वोक्त प्रकार की घोषणा करवा दी और मुक्तहस्त से दान देकर हजारों धर्मात्मा पुरुषों और महिलाओं को धर्म-प्राप्ति करने में सहयोग दिया।

यह था, दान द्वारा धर्मप्राप्ति करने में सहयोग देकर किया गया परानुग्रह !

सचमुच, इस प्रकार का धर्मप्राप्ति रूप परानुग्रह दिये गये दान को सफल बना देता है, अनेकों गुना सुन्दर फल प्राप्त करा देता है। धर्मप्राप्ति रूप परानुग्रह का एक पहलू यह भी है कि कोई व्यक्ति इस समय अधर्म या पाप में डूबा हुआ हो, उसे अपने दान द्वारा जागृत करके, उसके हृदय में धर्मप्रेरणा जगाकर धर्म के सम्मुख करा देना या धर्मप्राप्ति करा देना। ऐसा परानुग्रहकारी दान भी सफल हो जाता है।

एक भक्त थे। कोई चोर उनका कपड़ा चुरा ले गया। कुछ दिनों बाद उन्होंने उस चोर को बाजार में अपना कपड़ा बेचते हुए देखा, लेकिन लोगों में हल्ला मचाकर उसे गिरफ्तार नहीं करवाया, वे इस अवसर की ताक में थे कि मौका लगे तो इस चोर को सन्तुष्ट करके इसकी चोरी छुड़वा दूं, इसे धर्म की राह पर लगा दूं।' बाजार में वह चोर जिस दूकान पर कपड़ा बेचने गया, वह दूकानदार उससे कह रहा था—'कपड़ा तुम्हारा है या चोरी का, इसका क्या सबूत है ? अगर कोई सज्जन पहचानकर बता दे कि कपड़ा तुम्हारा ही है, तो मैं इसे खरीद लूंगा।' भक्तजी पास ही खड़े थे। उनसे दूकानदार का परिचय भी था। उन्होंने कहा—'मैं जानता हूँ इन्हें, तुम इन्हें दाम दे दो।' दूकानदार ने कपड़ा खरीद कर कीमत चुका दी। इसके बाद भक्तजी के एक साथी ने उनसे पूछा—आपने ऐसा क्यों किया ? इस पर भक्त बोले—'वह बेचारा बहुत गरीब है। गरीबी से तंग आकर उसे ऐसा करना पड़ा। गरीब की हमने [illegible] नहीं की, उसकी परिस्थिति पर ध्यान नहीं दिया, इसी कारण उसे चोरी करनी [illegible] इसलिए ऐसे गरीब को तो हर हालत में सहायता ही करना चाहिए। [illegible] उसे चोर बताकर फँसाना और भी पाप है।' चोर के कानों में जब इस [illegible] के वाक्य पड़े तो उसके हृदय पर बहुत बड़ा प्रभाव हुआ। उसने विचार [illegible] अभाव पीड़ित होकर चोरी की। चोरी वास्तव में बहुत बड़ा पाप [illegible] ऐसे सज्जन व उपकारी भक्त की चोरी तो और भी खराब है। [illegible] लिया कि वह आज से कभी चोरी नहीं करेगा, धार्मिक जीवन [illegible] की कुटिया पर पहुँचा और रोने लगा। भक्त ने उसे [illegible] जीवन अपनाने के बाद धन्यवाद दिया। तथा उसे अपने [illegible] किया। तब से चोर कहलाने वाला व्यक्ति धर्मात्मा [illegible]

भक्तजी का उदारतापूर्वक दिया गया दान [illegible] हुआ उदारभाव चोर के जीवन [illegible]

किसी व्यक्ति को धर्म से डिगते हुए देखकर उसे धर्म मे दृढ करने के लिए धन एव साधन से सहायता देना भी परानुग्रह है। कई बार व्यक्ति धर्मात्मा होते हुए भी आफत मे पड़ने के कारण आर्थिक सकट से तग आकर चोरी आदि अनैतिक कुकृत्य कर बैठता है या करने को तैयार होता है, अथवा एक धर्म छोड़कर विधर्मी बनने या अधर्मी बनने को तैयार हो जाता है, उस समय उसे अपने दान द्वारा धर्म में स्थिर करना भी परानुग्रह है।

धारानगरी का जिनदास एक दिन बड़ा धनाढ्य, उदार और धर्मात्मा था। परन्तु मनुष्य की परिस्थितियाँ सदा एक-सी नही रहतीं। परिस्थितियो ने पलटा, खाया, जिनदास के व्यापार मे घाटा लग गया। सब माल बेचकर उसने लेनदारों का रुपया चुकाया। स्थिति ऐसी हो गई कि पुराना व्यापार ठप्प हो गया, नया व्यापार बिना पूंजी के हो नहीं सकता था। यहाँ तक कि वह घर का खर्च चलाने में भी मजबूर हो गया। कही नौकरी भी नहीं मिली। मन मे चिन्ता होने लगी कि अब क्या किया जाए ? आर्तध्यान धर्मध्यान को नष्ट कर डालता है। जिनदास के मन में भी सकल्प विकल्प उठते थे। रातदिन इसी उधेड़बुन मे बीतने लगे। नीद उड़ गई। पति पत्नी दोनो को फाका करते हुए तीसरा दिन हो गया। नगर के धर्मात्मा एवं सम्पन्न पुरुषो ने उसकी ऐसी दुरवस्था देखकर भी सहायता नहीं की, उलटे वे उसकी हँसी उड़ाने लगे। आखिर लाचार होकर जिनदास उपाश्रय मे गया। उधर से शान्तनु सेठ उसी समय सामायिक करने आये हुए थे। उन्होने कमीज उतारा, उसकी जेब मे अपना रत्नजटित हार रखा और सामायिक मे तल्लीन हो गये। जिनदास यह सब देख रहा था। उसने कुछ देर तक तो माला फिराने का नाटक किया, फिर सबकी आँख बचाकर दबे पाँवों से शान्तनुसेठ के कमीज के पास पहुँचा और बहुत ही शीघ्र वह हार निकाल कर अपनी जेब मे रखा। उपाश्रय से चलकर सीधा वह घर पहुँचा। इधर शान्तनुसेठ जब सामायिक करके उठे और कमीज पहनने लगे, किन्तु हार न पाकर जरा विचार मे पड़े, कुछ वहम जिनदास पर हुआ, किन्तु दूसरे ही क्षण मन को समाहित करके वे अपने घर आये। बात आई-गई हो गई। एक सप्ताह बाद जिनदास शान्तनुसेठ की दूकान पर वही हार लेकर गिरवी रखने के लिए पहुँचा। शान्तनुसेठ ने जिनदास के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ती देख कर मन ही मन कुछ सोचा और फिर उसका स्वागत किया—"आओ, आओ, जिनदास ! आज तो बहुत दिनो के बाद आए हो ! तुम्हारा चेहरा बहुत ही चिन्तित दिखाई देता है। कहो, मेरे योग्य कोई सेवा हो तो !"

जिनदास मन ही मन आशंकित हो रहा था कि कही शान्तनुसेठ ने अपना हार देखकर मुझे पुलिस के हवाले करवा दिया या मेरी बेइज्जती करवा दी तो फिर कही मुह दिखाने लायक नही रहूँगा। परन्तु शान्तनुसेठ ने उसे आश्वासन दिया कि कुछ सहायता की जरूरत हो तो कहो, मैं किसी के सामने तुम्हारी स्थिति की बात प्रगट नहीं करूँगा। तुम नि.शक होकर कहो।" तब जिनदास ने चुपके से अपनी

जेब में से वह (शान्तनुसेठ का चुराया हुआ) हार निकाला और उनके हाथ में देते हुए कहा—"यह हार अपने यहाँ गिरवी रख लीजिए और मुझे दस हजार रुपये दे दीजिए।'

शान्तनुसेठ—'अरे भाई! इस हार को लाने की क्या आवश्यकता थी? यह अपने पास रहने दो और यों ही दस हजार रुपये ले जाओ। मैं तुमसे व्याज बिलकुल नहीं लूंगा।'

जिनदास—'नहीं, नहीं, आप इसे रख लीजिए। मेरी नीयत कदाचित् खराब हो जाय तो!' शान्तनुसेठ मन ही मन सोचने लगे—'हार तो यह वही है, जिसे मैं उपाश्रय में पहन कर ले गया था। पर जिनदास की परिस्थिति पर ध्यान देकर मैंने इसे अर्थ सहयोग नहीं दिया, इसी कारण इसे चोरी करनी पड़ी यह अपराध तो मेरा ही है। अब चुपचाप इसे रखकर दस हजार रुपये दे देने चाहिए।'

शान्तनुसेठ ने शीघ्र ही वह हार तिजोरी में रखा और १० हजार रुपये निकाल कर जिनदास को गिनकर दे दिये, और कहा—'और चाहिए तो ले जाओ, जिनदास! ५ हजार और दे दूं?' 'नहीं, नहीं, इतना ही बहुत है। मेरा व्यापार चल पड़ा तो मैं शीघ्र ही यह रकम वापिस लौटा दूंगा'—जिनदास ने कहा।

जिनदास दस हजार रुपये लेकर घर लौटा। उसके मन में चोरी का पश्चात्ताप चल रहा था—'शान्तनुसेठ अगर उसकी बाजी न रखता तो आज वह धर्म को ही छोड़ देता। पहले भी वह अभाव पीड़ित होने के कारण धर्म से च्युत हो कर चोरी में प्रवृत्त हुआ था। खैर, अब वह चोरी नहीं करेगा, और इस पाप का भी प्रायश्चित्त करेगा।' घर पर जाकर उसने पत्नी से सारा हाल सुनाया। अब वह पुनः व्यापार करने लगा। एक ही साल में पासा पलट गया। व्यापार में काफी अच्छा मुनाफा कमाया। अतः दस हजार रुपये व्याज सहित लेकर वह शान्तनुसेठ के यहाँ पहुँचा। शान्तनुसेठ ने कुशल प्रश्न पूछकर आने का प्रयोजन पूछा, व्यापार-धन्धे के बारे में पूछा। उत्तर देने के बाद जिनदास ने कहा—'मैं आपके १० हजार रुपये व्याज सहित लाया हूँ, इन्हें ले लीजिए।' शान्तनु—'इतनी जल्दी क्या थी, भैया! मुझे अभी कोई जरूरत नहीं थी रुपयों की।' जिनदास—'परन्तु मुझे तो देना ही था, मेरा कर्तव्य ही था कि पास में होते ही चुकाऊँ! आपने तो मुझे ऐसे गाढ़े मौके पर रुपये दिये हैं कि मेरा धर्म बचा लिया। आपके रुपये मेरे लिए बहुत बड़ा सहारा बन गये।' शान्तनु—'मैं तो मूल भी नहीं लेता, पर तुम्हारा अत्यन्त आग्रह है, इसलिए ले लेता हूँ, लेकिन व्याज तो हर्गिज नहीं लूंगा।'

जिनदास—"वाह! अच्छी कही आपने। व्याज तो आपके हक का है। यह तो लेना ही पड़ेगा।"

शान्तनु—"यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ। व्याज बिलकुल नहीं लूंगा।" यों कहकर शान्तनु ने जिनदास को वह हार, जो गिरवी रखा था, निकाल कर दिया

तो उसने कहा—"भाई साहब ! यह तो आपका ही है। आप मुझे अब शर्मिन्दा न कीजिए। आपने मेरी इज्जत रख दी। नहीं तो, पता नहीं, मेरा कितना पतन होता। धर्म का एक सोपान तो मैं चूक ही गया था। बस, आप इसे अपने पास ही रखिए।"

शान्तनु—"यह हार तुम्हारा ही है, जिनदास ! अब इस पर मेरा कोई अधिकार ही नहीं है। मैं तो अपने द्वारा तुम्हारे प्रति उपेक्षा के कारण प्रायश्चित्त के रूप मे तुम्हे यह हार देने का सकल्प कर चुका हूँ। यह लो अपना हार सभालो, जिनदास ! मेरी तरफ से तुम्हे भेंट है, यो ही समझलो।"

जिनदास—"पर यह हार मेरा था ही कहाँ, जो मैं इसे ले जाऊ। मेरे लिए यह हार लेना हराम है।" यो कहकर वह चलने लगा। शान्तनु ने वह हार और जिनदास ने रुपयो का ब्याज दोनो ही धर्मकार्य मे खर्च करने का निश्चय किया।

इस प्रकार शान्तनु सेठ ने धर्म से च्युत होते हुए जिनदास को बचा लिया और उसे धर्म मे स्थिर किया। यह दान (हार दान) के द्वारा धर्म-प्राप्तिरूप परानुग्रह हुआ।

इस प्रकार कई आचार्यों की प्रेरणा से कई लोगो ने दान (अर्थ सहयोग रूप) द्वारा धर्मच्युत एव हिंसापरायण लोगों को धर्मप्राप्ति एव धर्मवृद्धि कराई है, वह भी सामूहिक परानुग्रह है।

जैसे रत्नप्रभसूरि ने ओसिया नगरी मे राजा सहित सारी प्रजा को सप्त कुव्यसन छुडाकर राजा के योगदान से धर्मप्राप्ति कराई, इसमे राजा का सहयोग दान भी परानुग्रह हुआ।

अब परानुग्रह के चौथे अर्थ पर भी विचार कर लें। इस अर्थ के अनुसार दान द्वारा दूसरो पर आई हुई विपत्ति, निर्धनता, अभावग्रस्तता, प्राकृतिक प्रकोप से उत्पन्न सकट आदि का निवारण करना अथवा निवारण मे सहयोग देना परानुग्रह होता है। यह परानुग्रह तो समस्त धर्मों की आम जनता मे प्रसिद्ध है।

कई बार व्यक्ति ऐसे सकट मे पड जाता है, खासकर निर्धनता के कारण आर्थिक सकटो से घिर जाता है, उस समय उसे किसी न किसी उदार व्यक्ति के द्वारा सहायता की अपेक्षा होती है। यदि उस समय प्रेमभाव और उदारता के साथ सहायता रूप अनुग्रह मिल जाता है तो वह व्यक्ति अपने आपको सम्भाल लेता है, अपनी खोई हुई शक्ति को बटोर कर वह पुन अपने नैतिक कर्तव्य मे सलग्न हो जाता है।

कई बार व्यक्ति रुग्ण होने के कारण दोहरी आर्थिक मार से घबरा जाता है, और निराश होकर आत्महत्या करने को उतारु हो जाता है, ऐसे समय में किसी दयालु डॉक्टर द्वारा किया गया दानानुग्रह कितना जीवनदायी होता है, यह तो अनुभवी ही जानता है।

सौराष्ट्र के शहर में एक सेवाभावी डॉक्टर था। एक दिन उसे दूसरे गांव से रोगी को देखने के लिए एक व्यक्ति लेने आया। डॉक्टर ने अपने नियमानुसार उससे कहा—"दूसरे गाँव में रोगी को देखने की फीस दस रुपये लेता हूँ, लाये हो।" आगन्तुक बोला—"लाया तो नहीं, पर वहाँ जाकर दे दूंगा।" डॉक्टर उसे देखने चल पड़ा। वहाँ जाकर रोगी को देखा तो टी. बी. का प्रभाव मालुम हुआ। रोगी की पत्नी से पूछा—"बहन! अब तक तुमने क्या-क्या इलाज करवाया है?" उसने कहा—"डॉक्टर साहब! कुछ दिन तक तो घरेलू उपचार किया फिर गाँव के प्रसिद्ध वैद्य का इलाज चला, पर किसी से बीमारी ठीक नहीं हुई। रोग की पहचान ही नहीं हुई।" डाक्टर ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—'घबराओ मत बहन! देर हो गई है, रोग भी भयंकर है। पर सर्वप्रथम इसमें आराम करना और शुद्ध हवा में रहना जरूरी है। इसके बाद रोगी को पौष्टिक खुराक घी, दूध, फल आदि देना आवश्यक है। दवा और इन्जेक्शन तो लेने ही पड़ेंगे।' डॉक्टर की बात से उस महिला को सन्तोष हुआ। पर उसके चेहरे पर विषाद की गहरी छाया थी। कुछ ही क्षण बाद उसने कहा—'डाक्टर साहब! आप ५ मिनट बैठना, मैं अभी आती हूँ। यों कहकर हाथ में कुछ छिपाती हुई वह जाने लगी। डॉक्टर ने पूछा—'बहन! तुम अभी कहाँ और क्यों जा रही हो?' उसने कहा—'आपसे क्या छिपाना है! थोड़ी-सी बचत थी, वह खर्च हो गई। दो महीने से ये काम पर नहीं जा रहे हैं। अब मेरे पास कुछ नहीं है। सिर्फ एक सोने का कंगन बचा है, इसे गिरवी रखकर आपकी फीस और दवा के लिए कुछ रुपये लेकर अभी आती हूं। मैं आपका अधिक समय खराब नहीं करूंगी। आभूषण पर तो कुछ पैसा मिल ही जाएगा।' डॉक्टर उसकी संकट कथा सुनकर अवाक् हो गया। उसने उस महिला को जाने से रोका और अपनी जेब में हाथ डाला तो २५) रुपये निकले, वे रुपये डॉक्टर ने उसे दिये और कहा—ये रुपये तुम्हारे एक भाई की ओर से भेंट के समझना और इनसे इनके दवा और पथ्य का प्रबन्ध करना। फिर मैं और कुछ रुपये भेज दूंगा।' वह बहन कृतज्ञता के भार से दबी जा रही थी। उसकी आंखों में अश्रु उमड़ आये। डॉक्टर के चरणों में गिरकर गद्‌गद स्वर में बोली—'भाई! तुम्हारी हजार वर्ष की आयु हो! तुम्हारा ऋण मैं कैसे चुका पाऊंगी?'

यह है सहृदय डॉक्टर के दान द्वारा स्वानुग्रहपूर्वक परानुग्रह, जिसने रोगी को संजीवन कर दिया, नया जीवन दे दिया।

कई व्यक्ति स्वयं को कष्ट में डालकर भी दान द्वारा परानुग्रह करते हैं। उनका ऐसा परानुग्रह उच्चकोटि का होता है।

एक बार छत्रपति शिवाजी औरंगजेब के जाल से मुक्त होकर निकल गए। पर रास्ते में बीमार हो गए। उनके साथ में तानाजी व येसाजी थे। स्वस्थ होने में समय लगता देख उन्होंने महाराष्ट्र राज्य की सुरक्षा के लिए दोनों को वापिस जाने

की आज्ञा दी। येसाजी सावधानीपूर्वक शम्भाजी को लेकर महाराष्ट्र पहुँचे। तानाजी वहीं गुप्तरूप से रहे। मुर्शिदाबाद मे बहुत यत्न करने पर शिवाजी को विनायक देव नामक ब्राह्मण ने अपने यहाँ आश्रय देना स्वीकार किया। वह अविवाहित युवक अपनी माँ के साथ रहता था। वह स्वभाव से ही विरक्त था, भिक्षा ही उसकी आजीविका का साधन थी। एक दिन भिक्षा कम मिली। अत अपनी माँ और शिवाजी को उसने जो कुछ भिक्षा मे आया, सब खिला दिया, स्वय भूखा रहा। अकिंचन ब्राह्मण की दरिद्रता शिवाजी के लिए असह्य हो रही थी। सोचा— महाराष्ट्र जाकर धन भेज दूंगा। पर दक्षिण जाने से पहले यवन बादशाह के हाथो बच पाऊँगा या नही? यह सन्देह है। अत शिवाजी ने ब्राह्मण से कलम दवात लेकर वहाँ के सूबेदार को लिखा—'शिवाजी इस ब्राह्मण के यहाँ टिका है। इसके साथ आकर पकड लें, लेकिन इस सूचना के लिए ब्राह्मण को दो हजार अशर्फियाँ दे दें। ऐसा नही करने पर शिवाजी हाथ नहीं आएगा।" सूबेदार जानता था कि शिवाजी बात के धनी हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हे पकडना खेल नही है। शिवाजी को दिल्ली दरबार म उपस्थित करने पर बादशाह से एक सूबा तक इनाम मिलने की सम्भावना थी। अत. दो हजार मुहरें लेकर वह उस ब्राह्मण के घर पहुँचा। वह थैली उस ब्राह्मण को सौंपकर शिवाजी को अपने साथ ले गया। ब्राह्मण को कुछ भी पता न था, क्योकि वह तो शिवाजी को गोस्वामी समझ रहा था। उनके सेवक तानाजी से उसने पूछा तो उन्होने सारा गुप्त हाल बता दिया। ब्राह्मण सुनते ही मूर्च्छित हो गया। होश मे आने पर रोने लगा— शिवाजी मेरे अतिथि थे। हाय! मुझ अभागे की दरिद्रता दूर करने के लिए उन्होने अपने आपको शत्रु के हाथो मे सौंप दिया, एक तरह से मृत्यु के मुख मे स्वय को दे दिया।' ब्राह्मण तानाजी से बार-बार हठ करने लगा कि वे दो हजार मुहरें ले लें और उनसे किसी तरह शिवाजी को छुडा लावें।' तानाजी न ब्राह्मण को आश्वासन दिया कि 'वह बिना ही कुछ दिये, शिवाजी को छुडा लाएगा।'

परानुग्रह का एक प्रकार अपने दान द्वारा किसी को गुलामी के दु ख से मुक्त कराना भी है। जो उत्तम प्रकार का दयालु व्यक्ति होता है, उसी म इस प्रकार का गुण होता है।

फ्रांस की राजधानी पेरिस म जर्मेन्दन नाम का पादरी अपने उत्तम चरित्र के लिए विख्यात था। वहाँ का राजा भी उसका बहुत आदर करता था। एक बार राजा ने प्रसन्न होकर पादरी को एक उत्तम घोड़ा भेंट दिया। जर्मेन्दन बडा दयालु था। एक दिन उसे एक गुलाम पर बड़ी दया आई, जो अत्यन्त कष्टमय जीवन बिताता था। पादरी न उसे गुलामी स छुडाने की ठानी। पहले तो उसने उस गुलाम के मालिक से उसे छोड देने को कहा। परन्तु उसने उसके बदले मे बहुत बड़ी कीमत मांगी, जिसे पादरी देने मे असमर्थ था। परन्तु पादरी उस दु खी गुलाम

को मुक्त कराने का निश्चय कर चुका था। अतः उसने निरुपाय होकर राजा द्वारा दिया गया घोड़ा बेच दिया। और उससे प्राप्त धन उस गुलाम के मालिक को देकर उस गुलाम को मुक्त करा दिया। इस घटना से पादरी का बहुत ही सम्मान बढ़ा। जनता के दिल में यह धारणा बन गई कि पादरी बड़ा दयालु और सच्चरित्र है, जिसने स्वार्थ त्याग करके घोड़े को बेचकर भी गुलाम को मुक्त कराया। निःसन्देह पादरी जर्मेइन का गुलाम को सदा के लिए गुलामी से मुक्त कराने के लिए दान परानुग्रहकारक था।

जहाँ स्व-परानुग्रह नहीं, वह दान नहीं

इस प्रकार दान के साथ स्व-पर-अनुग्रह का उद्देश्य पूर्वोक्त अर्थों में पूर्ण होता हो, वही दान सच्चा दान है। जिस व्यक्ति के दान के साथ न तो पूर्वोक्त अर्थों में स्वानुग्रह है, और न ही परानुग्रह है, यानी न तो उस देने से कोई अपनी आत्मा का उपकार होता है, न कोई अपने में दया आदि विशिष्ट गुणों की वृद्धि होती है, बल्कि अपने में अहंकार और बड़प्पन की दुर्वृत्ति पैदा होती है; अपने में प्रसिद्धि, यश और नामना-कामना की भूख बढ़ती है, वहाँ स्वानुग्रह नहीं है। इसी प्रकार उस दान से किसी की आत्मा का उपकार नहीं होता, कोई आत्मा दुर्व्यसनत्याग, सद्गुण या सद्धर्म की प्राप्ति नहीं करता, किसी के ज्ञान-दर्शन चारित्र या सद्धर्म की वृद्धि नहीं होती, अथवा किसी दूसरे का उस दान से संकट, दुःख, रोग, प्राकृतिक प्रकोप या क्षुधादि पीड़ा नहीं मिटती, केवल नाम के लिए, पक्षपात या किसी स्वार्थ सिद्धि के रूप में किसी दूसरे को दान देकर परोपकार का नाटक किया जाता है, वहाँ परानुग्रह नहीं है। इसी प्रकार जहाँ स्वानुग्रह की ओट में स्वार्थ सिद्ध किया जाता हो, अथवा परानुग्रह के नाम पर दूसरे के किसी व्यसन या दुर्गुण का पोषण किया जाता हो, या परानुग्रह की ओट में दूसरे से अधिक धन प्राप्ति की आशा से रिश्वत, भेंट, बक्षीस या उपहार के रूप में धन दिया जाता हो, वहाँ भी सच्चे माने में परानुग्रह नहीं है। स्वानुग्रह और परानुग्रह की इन भ्रान्तियों को दूर करके ही इन दोनों के अर्थों को समझ-बूझकर जो दान स्व-परानुग्रह बुद्धि से दिया जाता है, वही वास्तव में दान है, अन्यथा दान का नाटक है। इसी प्रकार जहाँ किसी के दबाव से, भय से, लोभ से या प्रलोभन से या स्वार्थ से दिया जाता है, वहाँ भी स्वपरानुग्रह न होने से वह दान वास्तविक अर्थ में दान नहीं है।

एक कृपण था। वह अपने एक कृपण मित्र के कुशल समाचार पूछने गया। जाते ही उसने कहा—'भाई ! यदि दवा से तुम्हें आराम न हो तो, कुछ दान कर दो, जिससे शीघ्रातिशीघ्र शान्ति मिले।' कृपण बोला—'मैंने तो बगैर पूछे पहले से ही दान कर दिया है।' इस पर मित्र ने पूछा—'क्या दान किया ?' कृपण बोला—

"दो दाना तो दाल का, सवा टकाभर चून।
एक टोपर्यो तेल को, तीन कंकरी लून॥

एतो दान निज हाथ से, तुरत फुर्त कर दीन।
किसी से पूछ्यो में नही, नरभव-लाहो लीन।।"

बताइए, कृपण के इस दान के नाटक मे क्या तो स्वानुग्रह है और क्या परानुग्रह है! इसमे कही भी स्वानुग्रह की या परानुग्रह की गन्ध भी नही है। इसी प्रकार का और देखिए दान का नाटक, जहाँ दोनो प्रकार का अनुग्रह नही है—

बगाल-बिहार मे उन दिनो भयानक दुर्भिक्ष फैला हुआ था। सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ था। सड़कों पर बच्चे, बूढे, जवान मगतो की तरह भूख के मारे चिल्ला रहे थे, सबसे हाथ पसारकर गिडगिड़ा कर मांगते थे, पर उन्हे कोई नही देता था, कुत्तो को जो झूठन डाली जाती, उस पर भी वे झपट पड़ते थे। भूख के मारे लड़खडाते-गिरते हुए चलते थे। कलकत्ते के एक चावल के बडे व्यापारी के यहाँ बड़ी तादाद मे चावलो का सग्रह था, जगह-जगह से चावल, खरीदकर भारी स्टाक कर लिया था। दुर्भिक्ष पीडितो का यह हाल देखकर भी उसके मन में उनको कुछ देने की सहानुभूति या दया नही उमडी। उसके मुनीम बाजार मे चक्कर लगा रहे थे। मुनीम ने जब चावल के व्यापारी (सेठ) से पूछा—'बाजार मे चावल के भाव ३०) रु० मन है क्या बेच दें?' सेठ—'नहीं, अभी नही। प्रभु की कृपा हो रही है।' फिर कुछ दिनो बाद जब मुनीम ने ४०)रु. मन सुनाया तो सेठ ने कहा—'मन्दिर मे घी के दीपक जलाओ।' यो करते-करते जब चावलो का भाव ७०) मन हो गया तो सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—'गायो को घास के लिए गोशाला को दान दे दो।' भला बताइए, इस देने के पीछे कौन-सा स्वानुग्रह है और कौन-सा परानुग्रह है? यह तो निरा स्वार्थ है, जिसे साधने के लिए गायो को घास डलवाने के लिए दान का नाटक खेला जा रहा है।

एक गाँव मे कोई स्कूल नहीं था। गाँव के अग्रगण्य लोगो ने बहुत मेहनत करके स्कूल का मकान बनवाया। इस स्कूल का उद्घाटन इसके मकान बनवाने मे आधा खर्च देने वाले और परदेश मे जाकर धनाढ्य बने हुए एक सेठ के हाथो से होने वाला था। उद्घाटन का समय शाम को ४-३० का था, किन्तु सुबह से ही गाँव का वातावरण गूंज रहा था। सेठजी का स्वागत जुलूस एव सभा के कार्यक्रम तो सुबह से ही शुरू हो गये थे। स्कूल के विशाल मैदान मे आयोजित सभा पूर्ण होने के बाद सेठ उद्घाटन के लिए खड़े हुए। सेक्रेटरी ने चांदी की कैंची सेठ के हाथ मे दी। सेठ ने रेशमी फीते पर कैंची चलाई। उद्घाटन विधिपूर्ण हुई। तालियो की गड़गड़ाहट हुई। कैमरे से फोटो लिए गये। सेठ के मुँह पर हास्य की लहर दौड़ गई। सभा का प्रोग्राम पूरा होते ही कार्यकर्त्ताओ से घिरे हुए सेठ मोटर मे बैठने को तैयार थे। इतने मे एक फटेहाल लड़का सेठ की मोटर के फाटक पर खड़ा हो गया। 'कुछ देंगे', इस आशा से वह नजदीक आकर सेठ से मांगने लगा। सेठ विदा देने वाले लोगों के साथ हँस-हँस कर बातें कर रहे थे, हाथ मिला रहे थे। वह लड़का भी सेठ

का ध्यान खींचने के लिए बार-बार आजीजी कर रहा था। पर सेठ का ध्यान अभी तक उसकी ओर गया ही नहीं। सेठ मोटर में बैठ गये। जो हाथ मिलाने वाले बाकी थे, वे दौड़-दौड़ कर हाथ जोड़ रहे थे। ड्राइवर ने मोटर स्टार्ट की। भिखारी अभी तक कुछ मिलने की आशा में खड़ा रहा, हटा नहीं। तब ड्राइवर का क्रोध भड़क उठा 'चल, हट यहाँ से!' यों कहकर वह लड़का वहाँ से हटे, उससे पहले ही धड़ाक् से मोटर का दरवाजा बन्द कर दिया। लड़का जोर से चीख उठा—'अरे माँ रे! मर गया रे!' उसकी उंगली मोटर के फाटक की चपेट में आ गई थी। उसमें से खून की धारा बह चली। मोटर तो धूल उड़ाती हुई चली गई। इस लड़के का रुदन स्वर सेठ को विदा देने वालों के कोलाहल में विलीन हो गया। नया स्कूल के लिए दिये गये सेठजी के दान का उपहास इस याचक लड़के का करुणक्रन्दन नहीं कर रहा था? इस दान की पृष्ठभूमि में कौन-सा स्वानुग्रह था और कौन-सा परानुग्रह भाव था?

महाव्रती साधुओं को, दान दान है

इससे भी एक कदम और आगे बढ़ें तो दान की व्याख्या कतिपय आचार्यों ने और कठिन एवं दुष्कर बता दी है—

"रत्नत्रयधारियों के लिए अपने धन या साधन का परित्याग करना दान है, अथवा रत्नत्रय के साधन आहार, औषध, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक पात्र आदि देने की इच्छा भी दान है।[1]

आचार्य समन्तभद्र ने भी इसी प्रकार की उत्कृष्ट दान की व्याख्या की है—

—जिन्होंने पंचसूत्र (कण्डनी, पेषणी, जलकुम्भी, मार्जन और रसवती इन पाँच आरम्भ के स्थानों) का तथा आरम्भ का सर्वथा त्याग कर दिया है, उन आर्यों (श्रमणों) को अन्नपुण्य, पानपुण्य, लयनपुण्य, शयनपुण्य, वस्त्रपुण्य, मनपुण्य, वचनपुण्य, कायपुण्य और नमस्कार पुण्य, इन ९ पुण्यों के रूप में दान की प्रतिपत्ति के रूप में सात गुणों से समाहित शुद्ध गृहस्थ द्वारा जो दिया जाता है, वही शुद्ध दान इष्ट है।[2]

इन दोनों व्याख्याओं से तो केवल उत्कृष्ट साधकों (साधुओं) को देने के अर्थ में ही दान शब्द प्रयुक्त किया गया है। परन्तु अनेकान्त एवं विविधनयों की दृष्टि से दान-शब्द की व्याख्या पर विचार करने पर दान की पूर्वोक्त सभी व्याख्याएँ और आगे कही जाने वाली और भी व्याख्याएँ गृहीत की जा सकती हैं।

---

१ 'रत्नत्रयवद्भ्यः स्ववित्त परित्यागो दानं, रत्नत्रय साधनदित्सा वा'
—धवला, पु. १३, पृ. ३८९

२ (क) "नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुण समाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्॥"

(ख) तत्त्वार्थसूत्र ७।३९ (भाष्य तथा सिद्धसेन टीका)

इनके उदाहरण तो जैनागमो मे प्रचुर सख्या मे मिलते हैं और हर उदाहरण मे कुछ न कुछ विशेषता है।

ये दोनो ही दान के प्रकार श्रावक के अतिथि सविभागव्रत से सम्बन्धित हैं। श्रावक के अतिथि सविभाग व्रत का तात्पर्य और रहस्य आगे खोला जाएगा। एक शास्त्रीय उदाहरण इस विषय मे प्रस्तुत है—

द्वारकानगरी के पास रैवतकगिरि उद्यान मे भगवान् अरिष्टनेमि विराजमान थे। उनकी सेवा मे अनेको शिष्य थे। श्रीकृष्ण जी के छह सहोदर भाई, देवकी के आत्मज, जिन्हे कस के हत्यारे हाथो से बचा लिया था और जो नाग गाथापति के यहाँ पले-पुसे एव बडे हुए थे। उन्होने यौवनवय मे ही भ० अरिष्टनेमि के पास दीक्षा-ग्रहण की। और दो-दो उपवास के अनन्तर पारणा करने लगे। एक दिन दो उपवास के पारणे के दिन द्वारकानगरी मे घूमते-घामते दो दो मुनियो के सघाडे से सयोगवश वे श्रीकृष्ण जी के राजभवन मे अनायास ही पहुँच गए। पहले मुनियुगल के बाद जब दूसरा और तीसरा मुनियुगल पहुँचा तो, देवकी महारानी विचार में पड गईं। तीनो मुनियुगलो को देख उन्होने अपना अहोभाग्य माना और बहुत ही भक्ति-भावपूर्वक विधिपूर्वक आहार दिया। आहार देने से पहले, आहार देते समय एव आहार देने के बाद बहुत ही उत्तम भावना थी। इस प्रकार विधि, देय भोजन, द्रव्य, दाता और पात्र चारो ही शुद्ध थे। परन्तु देवकी रानी के मन मे एक सशय पैदा हुआ कि इतनी बडी द्वारकानगरी मे क्या मुनियो को आहारपानी सुलभ नही है, क्या लोगो मे धर्मभावना कम हो गई है, जो मुनिवरो को बार बार राजभवन में ही भिक्षा के लिए आना पडा। उन्होने अन्तिम मुनियुगल से आहार देने के बाद उपर्युक्त प्रश्न पूछा। मुनियो ने सक्षेप मे उत्तर दिया—'महारानी ! ऐसी बात नही है कि द्वारका-नगरी मे आहार न मिलता हो और मुनियो को आहारपानी के लिए राजभवन में ही आना पडा हो। पहले और बाद मे जो मुनियुगल आया था, वह दूसरा था, हम दूसरे हैं। यद्यपि हम छहो सहोदर भाई, एक ही माता-पिता के पुत्र हैं, एक साथ ही हमने भ० अरिष्टनेमि से दीक्षा ग्रहण की है। दो-दो उपवास के अनन्तर पारणे के दिन हम भिक्षा के लिए दो दो के मुनि-युगल से नगरी में जाते हैं। आज अनायास ही आपके यहाँ पर सम्भव है, हम तीनो मुनियुगल आ गए हो। किन्तु हम ही बार-बार नहीं आए हैं।" मुनिराज के सक्षिप्त उत्तर से देवकी महारानी की शका दूर हो गई। वह अपने को धन्य मानने लगी कि मैंने आज रत्न-त्रयधारी पचमहाव्रती मुनियों को आहारदान दिया है।

इस प्रकार के उत्कृष्ट सुपात्र मुनिवरो को स्वकीय प्रासुक, एषणीय और कल्पनीय आहार पानी, औषध भेषज, वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि का दान देना उत्कृष्ट दान है।

दान के अन्य लक्षण : जैन दृष्टि से

अब दान के जो लक्षण शेष रहे हैं, उन पर हम क्रमशः विचार करेंगे। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने दान का लक्षण किया है—

'दानं पात्रेषु द्रव्य विश्राणनम्'[1]

इस लक्षण के अनुसार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट जो भी दान के सुपात्र हैं, उन्हें अपनी वस्तु देना दान कहलाता है।

इसी प्रकार का एक लक्षण आचार्य हरिभद्र ने किया है—

"दानं पात्रेष्वेतेषु स्वस्याहारादेरतिसर्जनलक्षणम्।"[2]

—इसी प्रकार के इन पात्रों में अपने आहार आदि का त्याग करना—देना, दान है। यह लक्षण भी पूर्वोक्त लक्षण से मिलता-जुलता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र की टीका एवं प्रवचनसारोद्धार में दान का लक्षण यों किया है—

'प्राप्तस्यान्नस्य ग्लानादिभ्यो वितरणे'

—प्राप्त अन्न को ग्लान, रोगी, वृद्ध, असहाय और विपन्नों में वितरण करना दान है।

आचार्य हेमचन्द्र के दान के लक्षण के अनुसार जो भी व्यक्ति दान के लिए पात्र है, उसे अपनी वस्तु प्रेमभाव से दे देना दान है। फिर यह नहीं देखना पड़ता कि वह पात्र विद्वान् है या अपढ़, वह साधु है या गृहस्थ, वह कोई भी हो, अगर संकटग्रस्त है, अभाव से पीड़ित है या किसी रोग का शिकार है तो वह दान का पात्र है, बल्कि अनुकम्पापूर्वक उसे देना चाहिए।

एक बार निरालाजी के नाम से (१२००) रुपये पारितोषिक के रूप में रजिस्ट्री से आए। यह पारितोषिक निरालाजी की अन्य भावपूर्ण कविताओं का था। महादेवी वर्मा ने यह रजिस्ट्री लेकर अपने पास उनके नाम से यह पैसा जमा करके रखा। कुछ ही दिनों बाद निरालाजी को इस बात का पता लगा तो वे महादेवीजी के पास वे रुपये लेने आए। महादेवीजी जानती थीं कि उनके हाथ में रुपये टिकेंगे नहीं। अतः उन्होंने पूछा—'अभी आप इन रुपयों का क्या करेंगे? मेरे पास रहने दें।'

निराला—'इस समय मुझे इन रुपयों की अत्यन्त आवश्यकता है। मुझे एक व्यक्ति को ये रुपये देने हैं।'

महादेवी—'किसे देने हैं?' 'मेरे एकमात्र स्नेही मित्र की विधवा पत्नी को।' निरालाजी ने सजल नेत्रों से जवाब दिया। 'मेरा मित्र मरणासन्न था। उसकी आत्मा

---

१ योगशास्त्र स्वोपज्ञ विवरण २-३१

२ तत्त्वार्थसूत्र हारिभद्रीया वृत्ति ७।३३

इस चिन्ता से पीड़ित थी कि मेरे मरने के बाद मेरे स्त्री-बच्चों का क्या होगा ? उसके हृदय की व्यथा देखकर मैंने उसे आश्वासन दिया—'परिवार की चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारे बच्चों को पढ़ाऊँगा, उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध करूँगा।' यह सुनते ही उसकी मृत्यु हो गई। अतः यह धन मुझे उस पीड़ित मृत-आत्मा के परिवार को देना है।' कुदरत ने मेरे वचनपूर्ण करने के लिए यह धन भेजा है।' महादेवीजी ने वे १२००) रु० निराला को सौंप दिये। वे रुपये लेकर मानो वह पराई अमानत हो, इस प्रकार ले जाकर तत्क्षण उन्होंने उस मृत मित्र की विधवा पत्नी को दे दिये। वह तो निरालाजी की उदारता देख कर हर्ष-विभोर हो गई।

निःसन्देह निरालाजी के द्वारा समय-समय पर दिये गए ये दानपात्र को दिये गए दान ही कहे जा सकते हैं।

अब आगे बढ़िए, इसी कोटि के दूसरे लक्षण पर। इस लक्षण का भी यही तात्पर्य है कि इन सभी पात्रों में आहारादि का त्याग करना, देना—दान है। योग्य पात्र कैसे पहिचाना जाता है ? इसके लिए एक उदाहरण लीजिए—

देशबन्धु चित्तरंजनदास को कौन भारतीय नहीं जानता। वह इतने उदार थे कि उनके पास जो भी गया, खाली हाथ नहीं लौटा। एक समय की बात है। एक छात्र, जो बहुत ही गरीब था, उनके पास कुछ सहायता मांगने के लिए आया। उनकी आर्थिक हालत उस समय तंग थी। अतः उनके सेक्रेटरी ने उस छात्र को वापस लौटा देना चाहा। संयोगवश देशबन्धुजी वहीं थे। उन्होंने जब सेक्रेटरी की बात सुनी तो वे वहीं से चिल्ला उठे—'छात्र को खाली हाथ लौटाने की अपेक्षा मेरा फर्नीचर नीलाम कर दो। मैं किसी भी दान के अवसर को खाली नहीं जाने दे सकता। यह योग्य पात्र है। इस छात्र ने दान का अवसर देकर मुझ पर उपकार किया है।' सेक्रेटरी ने चुपचाप कुछ रुपये छात्र के हाथों पर रख दिये।

यह है, योग्य पात्र में दान का अवसर न चूकने का मन्त्र। दान के तीसरे लक्षण में सिर्फ प्राप्त अन्न को ग्लान, क्षुधा पीड़ित आदि को वितरण करने का संकेत है। यद्यपि दान का यह लक्षण सीमित दायरे में है, फिर भी अपने-आप में यह लक्षण परिपूर्ण है।

यद्यपि दान के पिछले लक्षण भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि इन तीनों में पिछले लक्षणों की तरह स्व-परानुग्रहतार्थ है। व्यक्ति अपने स्वामित्व का अन्न, भोजन या अन्य पदार्थ जिसको देता है, वह भाव से देता है, उस भाव में दया, सहानुभूति, सेवा, आत्मीयता आदि भाव तो प्रायः होते ही हैं, इसलिए स्वानुग्रह तो हो ही गया, और परानुग्रह भी स्पष्ट है, क्योंकि दान लेने वाला व्यक्ति जो क्षुधा पीड़ित या किसी अभाव से पीड़ित होगा, वही दान लेगा। इसलिए उस पर भी अनुग्रह होगा ही। इस प्रकार स्व-परानुग्रह इन तीनों लक्षणों में अन्तर्गर्भित है। ☆

2

महादान और दान

दान शब्द के जो लक्षण पहले प्रस्तुत किये गये हैं, तथा उसकी जो विभि व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं, उनमें सामान्य दान की अपेक्षा विशिष्ट दान की व्याख्य भी है। सामान्य दान में तो प्रत्येक कोटि के पात्र को दान देने का विधान है, जबकि उत्कृष्ट पात्र (मुनिवर) को, कल्पनीय, ऐषणीय एवं प्रासुक दिया जाने वाला आहा आदि पदार्थ उत्कृष्ट दान कहलाता है। यद्यपि दान के दोनों लक्षण तत्त्वार्थसूत्रका के द्वारा प्रतिपादित लक्षण में समाविष्ट हो जाते हैं। उसे एक आचार्य ने महादा की संज्ञा दी है। उन्होंने महादान और दान का अन्तर बताते हुए कहा है—

"न्यायात्तं स्वल्पमपि हि भृत्यानुरोधतो महादानम्।
दीनतपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानमन्यत्तु॥"[1]

अर्थात्—भृत्य आदि के अन्तराय न डालते हुए थोड़ा-सा भी न्यायोपाजि पदार्थ योग्यपात्र को देना महादान है, इसके अतिरिक्त दीन, तपस्वी, भिखारी आ को माता-पिता आदि गुरुजनों की आज्ञा से देना दान है।

इस लक्षण में संकीर्ण उद्देश्य नहीं रखा गया है, यानी केवल अनगार मुनि क देना ही दान के लक्षण में अभीष्ट नहीं है, किन्तु व्यापक दृष्टिकोण से जो भी योग (दान के योग्य) सुपात्र है, उसे देना महादान है, बशर्ते कि देयवस्तु न्यायोपात्त हो शुद्धभावनापूर्वक दी जाती हो, चाहे वह वस्तु थोड़ी-सी ही क्यों न हो, वह महादा है; जबकि अनुकम्पा पात्रों को माता-पिता आदि गुरुजनों की अनुज्ञा से देयवस्तु दे सामान्य दान है।

राजकुमारी चन्दनबाला ने दासी-अवस्था में भगवान् महावीर को देयवस बहुत ही अल्प और अल्प मूल्य के उड़द के बाकुले के रूप में दी थी। लेकिन व न्याय प्राप्त थी, भृत्यादि के अन्तराय डालकर किसी से छीनकर, अपहरण, शोष अत्याचार-अन्याय से प्राप्त वस्तु नहीं थी। साथ ही उत्कट भावनापूर्वक वस्तु गई थी। इसलिए वह दान अल्प और अल्पमूल्य होते हुए ही महादान बना। कि

वह यदि उपर्युक्त गुणविशिष्ट न हो, फिर भी माता-पितादि गुरुजनों द्वारा प्रचलित हो, दया, सहानुभूति आदि गुणो से विशिष्ट हो तो वह दान सामान्य दान होते हुए भी सच्चे माने मे दान कहलाता है।

गुरु नानक के जीवन का एक सुन्दर प्रसंग है। गुरु नानकदेव के अनेक शिष्यों मे से एक शिष्य था—'लालो'। वह जाति का बढ़ई था, और अपने गाढ़े श्रम से उपार्जित अन्न खाता था। एक बार गुरुनानक अपने इसी शिष्य लालो के गाँव मे ठहरे हुए थे, तो मलिक भगो, जो मुगल सम्राट् की ओर से उस प्रान्त का गवर्नर नियुक्त था गुरुनानकदेव की सेवा मे अपनी श्रद्धाजलि अर्पण करना चाहता था। गुरुनानक को अपने दरबार म आने के लिए उसने आमत्रण दिया। जब गुरुनानक ने उसका आमत्रण अस्वीकार कर दिया तो मलिक भगो स्वय मिठाई का थाल लेकर गुरु की सेवा मे उपस्थित हुआ। मलिक भगो की भेंट की हुई मिठाई जब गुरुनानक के सम्मुख रखी गई, तभी लालो के यहाँ से बाजरे की सूखी रोटियाँ सेवा मे उपस्थित की गईं। नानक साहब ने मिठाई खाने से इन्कार कर दिया। इससे मलिक भगो बहुत ही उदास होकर गुरु से इन्कार करने का कारण पूछने लगा। गुरुनानक ने मलिक भगो द्वारा भेंट की हुई मिठाई को अपनी मुट्ठी मे कस कर दबाया, जिससे उसमे से खून की बूदें टपकने लगी, और जब लालो की भेंट दी हुई सूखी बाजरे की रोटी को दबाया तो उसमे से दूध की धारा बहने लगी। उपस्थित जनसमुदाय के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। गुरुनानक ने कहा—"न्यायपूर्वक अपने श्रम से कमाए हुए भोजन मे से दूध की धारा बहती है, जबकि अन्याय-अत्याचार द्वारा प्राप्त मिठाई मे से गरीबो का खून टपकता है।' इस घटना से मलिक भगो बहुत ही प्रभावित हुआ। उसने रिश्वत, झूठ फरेब तथा अन्य नीच प्रवृत्तियो द्वारा धन इकट्ठा करने का पूरा वृत्तान्त जनता के सम्मुख कह सुनाया। उसी दिन से मलिक भगो अपने पुराने पेशे को छोड़कर गुरुनानक का परम भक्त हो गया और न्याय-नीतिपूर्वक श्रम करके अपने पसीने की कमाई खाने लगा। और फिर गुरुनानक ने उसकी रोटी की भेंट स्वीकार की।

वास्तव मे, न्यायोपार्जित अन्न का दान ही श्रेष्ठ दान है, जिसके पीछे स्व-परानुग्रह की भावना भी होती है।

इसीलिए दान की एक व्याख्या मे कहा गया है—रत्नत्रयवद्भ्य स्ववित्त-परित्यागो दान, रत्नत्रयसाधन दित्सा वा।—रत्नत्रयधारी साधुसाध्वी अथवा त्यागी पुरुषो को अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्ति से प्राप्त आहारादि पदार्थ देना अथवा रत्नत्रय के पालन के लिए धर्मोपकरण देने की अभिलाषा करना।" वास्तव मे यह व्याख्या भी उपर्युक्त महादान के लक्षण मे ही गर्भित हो जाती है।

इस प्रकार सामान्य दान भी महादान की कोटि मे तब पहुँच जाता है, जब वह अपनी न्यायोपार्जित कमाई मे से दिया जाता हो।

भगवान महावीर के समय में पूणिया नाम का एक उत्कृष्ट श्रावक हो चुका है, भगवान महावीर ने भी एक बार उसकी सामायिक साधना की प्रशंसा की थी। पूणिया सूत की पोनी बनाकर उन्हें बेचता था, और उसी से अपना व परिवार का पोषण करता था। उसकी आय बहुत ही सीमित थी, पति-पत्नी दोनों अपनी इसी आय से अपना गुजारा चलाते और मस्त रहते थे। कहते हैं, प्रायः प्रतिदिन की कमाई साढ़े बारह दोकड़ा यानी दो आने होती थी। उसी में से पूणिया की धर्मपत्नी अनाज स्वयं ताजा पीसकर रोटी बनाती थी। दोनों का पेट भरने के लिए इतना पर्याप्त था। मगर जिस दिन कोई अतिथि आ जाता, उस दिन वे उपवास कर लेते थे और अपने हिस्से का भोजन अतिथि को भेंट कर देते थे।

यह था पूणिया श्रावक का न्यायोपार्जित कमाई द्वारा प्राप्त अन्न का दान; इसे सच्चे माने में दान कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त पूणिया श्रावक में यह विशेषता थी कि वह बिना श्रम से एक भी वस्तु अपने यहाँ रखता नहीं था, अगर कोई रख जाता तो उसका उपयोग अपने परिवार के लिए बिलकुल नहीं करता था।

एक दिन पूनिया के यहाँ एक विद्यासिद्ध अतिथि आए। उस दिन पूनिया के उपवास था। वह पूनिया के सन्तोष, सादगी, सरलता और सत्यता से प्रभावित हुआ। उस दिन पूनिया की पत्नी ने उस अतिथि को भोजन बनाकर स्नेहपूर्वक खिलाया। अतिथि तृप्त हो गया। अतिथि ने सोचा—पूनिया के घर में विशेष सामान तो कुछ नहीं है, बेचारे पति-पत्नि कठिनाई से गुजारा चलाते होंगे। मेरे पास विद्या की सिद्धि है तो क्यों नहीं इसे मदद करता जाऊँ। पूर्णिमा की चांदनी आकाश में छिटक रही थी, तभी पूनिया को निद्रामग्न देखकर सिद्ध पुरुष उठा और खड़े होकर रसोई में पड़ा लोहे का तवा उठाया, फिर उसके साथ पारसमणि का स्पर्श कराया तो तवा सोने का हो गया। सवेरा होते ही सिद्ध पुरुष ने पूनिया से विदा लेकर काशी की ओर प्रस्थान किया। पूनिया ने सुबह रसोईघर में देखा तो तवा नहीं मिला। लोहे के काले तवे के बदले वहाँ सोने का तवा पड़ा था। पूनिया को इसका रहस्य समझते देर न लगी। उसने निःश्वास भरकर कहा—'अतिथि! तुमने तो जुल्म कर दिया। तुम तो चमत्कार कर गये, पर मैं अब नये तवे के लिए धन कहाँ से लाऊँगा? तुम्हारा यह सोने का तवा मेरे किस काम का? श्रम के बिना प्राप्त धन धूल के समान है, मेरा नियम है—अपने श्रम द्वारा उपार्जित वस्तु का ही मैं दान कर सकता हूँ।'

काफी अरसे के बाद अनेक स्थानों की यात्रा करके वे सिद्धपुरुष राजगृही आए और पूनिया के यहाँ मेहमान बने। सिद्ध पुरुष ने अपनी यात्रा में हुए कड़वे-मीठे अनेक अनुभवों की बातें सुनाईं। पूनिया ने कण्डों और लकड़ियों के ढेर में रखा हुआ वह सोने का तवा लाकर अतिथि के सामने रखते हुए कहा—'लो यह अपना तवा! मुझे नहीं चाहिए। अब यह मेरे काम का बिलकुल नहीं रहा। आप यात्रा करने

निकले हैं या दूसरों का फिजूल खर्च कराने के लिए ? आपको तो सद्भावना से मुझे मदद करने की सूझी होगी, पर मैं बिना मेहनत का सोना लूंगा तो मेरी सोने-सी शुद्ध बुद्धि काली हो जाएगी। फिर तो मुफ्त में लेने की आदत पड़ जाएगी, अतिथि सत्कार करने या दान करने की वृत्ति ही नहीं रहेगी। धनकुबेर हो जाने पर भी मुझे देने की नहीं, लेने की बात सूझेगी।'

विद्या सिद्ध व्यक्ति ने पूनिया को नमस्कार करते हुए कहा—'धन्य हो पूनिया! मैंने तो वर्षों में जाकर विद्या सिद्ध की है, परन्तु आपने तो सच्ची विद्या सिद्ध कर ली है। आपसे मैं सन्तोष विद्या का लाभ प्राप्त कर सका हूं, जो तीर्थ स्नान के लाभ से अनेक गुना बढ़कर है। तो, इस प्रकार अपनी न्यायोपार्जित शुद्ध कमाई में से योग्य व्यक्ति को देना महादान है, महादान में मुख्यता अन्त:करण की पवित्र प्रेरणा की है, यदि यह परम्परानुसार बिना किसी विशेष भावना के दिया जाता है तो वह सामान्य दान कहा जाता है।

3

दान का मुख्य अँग : स्वत्व-स्वामित्व-विसर्जन

दान के पूर्वोक्त सभी लक्षणों या व्याख्याओं के साथ दान का मुख्य अंग और उत्तरार्द्ध भाग—स्वत्व विसर्जन है, यानी जो वस्तु दी जाय, उस पर से स्वामित्व, ममत्व या स्वत्व (अपनापन) हटा लेना, उसका त्याग कर देना, 'इदं न मम'—यह मेरा नहीं है, इस संकल्प के साथ दूसरे को अपनी मानी हुई वस्तु सौंप देना, अर्थात्—वस्तु पर अपना स्वामित्व छोड़कर दूसरे का स्वामित्व स्थापित कर देना दान है। इसीलिए दान के पूर्वोक्त लक्षणों और व्याख्याओं में स्व के अतिसर्ग—अर्थात् त्याग का स्वर स्पष्ट सुनाई दे रहा है, जैसे—

'····स्वस्यातिसर्गो दानम्'
'····स्वस्यातिसर्जनं दानम्'
'····वितरणं दानम्'
'···स्वस्य धनस्यातिसर्गो, अतिसर्जनं, विश्राणनं, प्रदानं दानम् ।'
'···स्वं धनं स्यात्परित्यागोऽतिसर्गः···'
'····दानं स्वस्याहारादेरतिसर्जनलक्षणम्'
'दानम्···द्रव्य विश्राणनम्'

चूंकि दान का कार्य किसी वस्तु को एक हाथ से दूसरे हाथ में सौंपे बिना हो नहीं सकता, परन्तु जब तक उस छोड़ने के साथ ममत्व या स्वामित्व के त्याग के भावों का तार न तोड़ा जाय, तब तक वह दान नहीं कहलाता। इसी कारण प्राचीन काल में राजा या किसी धनिक को जब दान देना होता तो प्रायः ऋषिमुनियों की साक्षी से वह राजा या धनिक संकल्प लेता था। वह संकल्प—ममत्वत्याग का होता था, वही दान का प्राण होता था। संकल्प इसलिए किया जाता था कि कदाचित् मन पुनः लोभवश या किसी स्वार्थवश फिसल न जाय। बल्कि वैदिक धर्म ग्रन्थों में या वैदिक कथाओं में तो यहाँ तक वर्णन आता है कि दान अगर किसी ब्राह्मण या ऋषि-मुनि को दिया जाता था, तो प्रायः उसके साथ दक्षिणा भी दी जाती थी। दान पर दक्षिणा की मुहर छाप लग जाने के कारण दान पक्का हो जाता है, दानी व्यक्ति संकल्पबद्ध या वचनबद्ध हो जाता था।

राजा हरिश्चन्द्र ने जब विश्वामित्र जी को दान देने का विचार किया तो विश्वामित्रजी ने अपने सामने उनसे सकल्प कराया। सकल्प कराने के बाद उस दान को पक्का घोषित करने के लिए उन्होंने ऊपर से दक्षिणा देने की बात रखी, जिसे चुकाने के लिए दानी राजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारामती को अपना राजपाट राजसी वस्त्र, वैभव आदि सर्वस्व छोडकर काशी मे जाना पडा था, और स्वय उपार्जित धन से अपना गुजारा चलाकर दक्षिणा देने की अवधि निकट आने के कारण पहले तारामती ने अपने आपको बेचकर आधी स्वर्ण मुद्राएँ दक्षिणा के रूप मे विश्वामित्र को चुका दी। शेष आधी स्वर्ण मुद्राओ को राजा हरिश्चन्द्र ने स्वय एक भगी के यहाँ बिककर उसके श्मशान मे पहरेदारी का कठोर कर्त्तव्य अदा करके चुकाई। इसीलिए राजा हरिश्चन्द्र का दान इस आदर्श एव न्यायोपार्जित धन से युक्त दक्षिणा के कारण महादान के रूप मे प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार से सकल्पबद्ध हो जाने के बाद वह दान आम आदमियो मे प्रकट हो जाता था, सार्वजनिक रूप से घोषित कर दिया जाता था।

आजकल भी जहाँ सभा-सोसायटियो मे दान देने का कोई विचार प्रगट करता है तो उसके नाम की घोषणा की जाती है, साथ ही उसके द्वारा दिये जाने वाले अर्थ की सख्या की भी घोषणा की जाती है। सार्वजनिक सभा मे दिये गए इस प्रकार के वचन के कारण दान पक्का हो जाता है, उसमें फिर हेर-फेर करने या मुकरने की गुजाइश नही रहती।

परन्तु कई व्यक्ति तो आजकल ऐसे भी होते हैं, जो आम सभा मे दान की घोषणा करके भी नही देते, या मुकर जाते हैं। ऐसे लोग प्राय: अपनी नामवरी या वाहवाही के लिए दान की घोषणा करा देते हैं, परन्तु देने के समय अँगूठा बता देते हैं।

दान के साथ कठोर शर्त स्वत्व-विसर्जन

इसीलिए दान के लक्षण मे दान के साथ यह शर्त रखी गई है—स्वत्व का विसर्जन करना—अपने ममत्व, अहत्व, स्वामित्व और स्वत्व का सर्वथा उस देयवस्तु पर से त्याग कर देना, छोड देना। जब तक वस्तु पर से स्वामित्व नहीं हट जाता, तब तक दान एक स्वार्थ साधन भी बन सकता है, एक सौदेबाजी भी हो सकता है। इसी कारण कुछ लोग दान के साथ प्रविष्ट हो जाने वाले अहत्व, ममत्व, स्वत्व या स्वामित्व के विकार से बचने के लिए गुप्तदान देना ही अधिक पसद करते हैं, वे न नाम की घोषणा कराते हैं, न अखबारो मे अपना नाम बड़े-बड़े अक्षरों मे प्रकाशित कराते हैं और न ही किसी प्रकार की वाहवाही, प्रतिष्ठा, पद की लालसा या कीर्ति की इच्छा करते हैं।

पजाब के अमृतसर मे एक ओसवाल जैन थे—श्रावक बुधसिह जी। लोग उन्हे लाला बुधसिह जौहरी कहा करते थे। वे जवाहरात का व्यापार बडी सचाई और

प्रामाणिकता से किया करते थे। बुधसिंह जी अपनी बिरादरी के गरीब भाइयों को गुप्तरूप से सहायता किया करते थे। वे इस ढंग से रुपये-पैसे की मदद किया करते थे, जिससे किसी को पता न लगे। कटरा मोहरसिंह में जहाँ उनका मकान था, उस मोहल्ले में जो भी जैन, सिक्ख, ब्राह्मण, खत्री किसी भी धर्म व जाति का व्यक्ति हो, उसकी तंग हालत में या बीमारी के समय जिस प्रकार की सहायता की जरूरत होती तो वे चुपचाप स्वयं उसके घर जाकर दे आया करते थे। वे सुबह चार बजे उठते और अपनी परोपकारिणी दयालु धर्मपत्नी से पूछते—'कौन गरीब भाई बीमार है, जो अपना इलाज नहीं करा सकता? किसकी आर्थिक हालत कमजोर है? कौन बहुत दुःखी है?' उसका पता लगते ही सूर्योदय से पहले ही वे अर्क, मुरब्बा, दूध, दवा एवं पथ्य वगैरह लेकर स्वयं उसके यहाँ दे आया करते थे। उनकी निगाह में सब जाति व धर्मों के आदमी अपने भाई-बन्धु ही थे। वे सबकी सेवा किसी प्रकार के नाम, प्रसिद्धि या विज्ञापन किये बिना चुपचाप दान देकर किया करते। उनकी दान-भावना मनुष्यों तक ही सीमित नहीं थी, पशु-पक्षियों को भी वे दाना, चुगा, घास-चारा डालते थे, और बीमार पशुओं का अपने खर्च से इलाज कराते थे। वे प्रतिदिन उपाश्रय में जाकर सामायिक करते, परमेष्ठी-जप करते और फिर धर्मोपदेश सुनते थे। वे साधु-साध्वियों को भी आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, शास्त्र आदि धर्मोपकरण अत्यन्त भक्तिभाव से दिया करते थे।

इस प्रकार गुप्त रूप से किसी प्रकार की प्रसिद्धि, आडम्बर या विज्ञापन किये बिना श्रावक बुधसिंहजी का यह दान स्वत्वोत्सर्ग का उत्कृष्ट नमूना था।

'स्व' का अतिसर्ग क्या, कब और कैसे?

स्व का अर्थ स्वयं व्यक्ति या व्यक्तित्व (अहंत्व-ममत्व), ज्ञाति, धन और आत्मीय या अपना होता है। यहाँ स्व का अर्थ केवल धन लगाने से जो पात्र धन नहीं ग्रहण करते हैं, या जो धन के सिवाय अन्न, वस्त्रादि देते हैं, वहाँ दानशब्द का लक्षण घटित नहीं होगा। इसलिए 'स्व' का अर्थ यहाँ अपनी मानी हुई वस्तु ही अभीष्ट है। इस अर्थ से दूसरों के लिए स्व-प्राणविसर्जन करना अथवा दूसरों के लिए कष्ट उठाकर आत्म-भोग देना भी दान में गृहीत हो जायगा, दूसरों को अभयदान देना भी दान के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाएगा। इस प्रकार स्व के अतिसर्ग का अर्थ अपना, अपनी वस्तु का अथवा अपने स्वामित्व, अहंत्व, स्वत्व या ममत्व का त्याग करना है।

वैसे मनुष्य जब से इस भूमण्डल पर आकर आँखें खोलता है, तब वह परलोक से कोई चीज साथ लेकर नहीं आता। न उसके पास अपने पीने के लिए दूध होता है, न कोई खाद्य या पेय वस्तु ही साथ में होती है। धन या वस्त्रादि साधन तो होते ही क्या? उसका अपना माना जाने वाला, शरीर भी उसका अपना नहीं होता, क्योंकि शरीर या बाद में बनने वाली इन्द्रियाँ अपनी नहीं होतीं। सच्चे माने में तो

उसकी अपनी कही जा सकने वाली तो आत्मा ही होती है। परन्तु कर्मफल के रूप में उसे मानव शरीर, इन्द्रियाँ, अन्य अवयव विविध इन्द्रियों की कार्य-क्षमता अथवा माता, पिता, परिवार आदि से सम्बन्ध जुड़ता है और वह उन्हें अपने मानने लग जाता है। जब वह कुछ सयाना और समझदार हो जाता है, तो अपने घर, मकान, पुस्तक तथा घर के अन्य सामान, खेत या कारखाने, अथवा दूकान आदि से फिर और बड़ा हो जाने पर धन, जमीन, जायदाद आदि से अपनेपन का सम्बन्ध जोड़ लेता है, विवाह होने पर पराई कन्या से फिर सन्तान होने पर पुत्र-पुत्री से अपनेपन का सम्बन्ध जुड़ जाता है। इस प्रकार उसके ममत्व, स्वत्व और स्वामित्व का दायरा बढ़ता जाता है।

यही कारण है कि 'कन्यादान' शब्द हिन्दू समाज में इसी कारण प्रचलित हुआ कि कन्या को अपनी वस्तु मानी जाती थी, इसलिए उस पर से स्वत्वाधिकार हटाकर दूसरे के अधिकार में सौंपने को कन्यादान माना जाने लगा। इसी प्रकार प्राचीनकाल में विवाह के बाद पति अपनी पत्नी को अपना धन, मानकर चलता था। भगवान् पार्श्वनाथ के युग में चातुर्याम धर्म—चार महाव्रत ही होते थे, पत्नी या स्त्री को परिग्रह माना जाता था, और पाँचवें महाव्रत में ही चौथे महाव्रत (ब्रह्मचर्य या मैथुन विरमण) का समावेश कर लिया जाता था। इसी कारण पत्नी को परिग्रह मानकर उसे अपनी सम्पत्ति मानी जाती थी, उसे दान देने का अधिकार भी पति को होता था। जातक में एक बौद्ध कथा इसी प्रकार की आती है कि वेशंतर महाराज बड़े दानी थे, परोपकारी थे, उनसे कोई भी दुःखी आकर याचना करता तो वे उसे तुरन्त दे डालते थे। एक व्यक्ति ने आकर अपनी करुण कथा सुनाते हुए उनकी पत्नी की माँग की। उसने कहा—'मुझे आपकी पत्नी दे दीजिए, ताकि मेरी सेवा भली-भाँति हो सके, मैं सुख से अपना जीवनयापन कर सकूँ। यद्यपि उस व्यक्ति की नीयत वेशतर महाराज की पत्नी के साथ कामाचार या व्यभिचार की नहीं थी, वह केवल सेवा के लिए चाहता था, वह भी अमुक अवधि तक। इसलिए वेशतर महाराज ने अपनी पत्नी से कहा—'मैं तुम्हें इस महानुभाव की सेवा के लिए दान में देता हूँ। तुम इनकी सेवा करना, अमुक अवधि तक इन्हें सुख-शान्ति देना।' कथाकार कहते हैं, वेशतर महाराज की पत्नी को अपने पति की आज्ञा माननी पड़ी, क्योंकि वह पति की सम्पत्ति जो मानी गई थी! इसीलिए 'अमरकोष' में पत्नी का पर्यायवाची शब्द 'परिग्रह' भी बताया गया है—'पत्नी परिग्रहेऽपि च'।

कौरव कुलांगार दुर्योधन जब अपने मामा शकुनि की सहायता से पाण्डवों के साथ हुए जुए में जीत गया, तो पहले रखी हुई शर्त के अनुसार युधिष्ठिरादि ने द्रौपदी को दाव पर लगा दिया। किन्तु जुए में हार जाने के कारण कौरवों ने द्रौपदी को अपने कब्जे में दे देने का कहा। पाँचों पाण्डव, विदुर, विकर्ण, भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि सबकी उपस्थिति में भरी सभा में द्रौपदी को बुलाया गया, क्योंकि

जुए में हार जाने के कारण पाण्डवों को पूर्व शर्त के अनुसार द्रौपदी कौरवों को सौंपनी पड़ी। हालांकि द्रौपदी की तेजस्विता और पाण्डवों के व्यक्तित्व के कारण द्रौपदी कौरवों के कब्जे में नहीं आई।

यह था पत्नी को 'स्व' मानकर उसका उत्सर्ग करने की विकृत प्रक्रिया! इसलिए सच्चे माने में 'स्व' तो आत्मा है, किन्तु उसके बाद व्यवहार दृष्टि से 'स्व' धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद है। मकान, दूकान तथा साधन सामग्री है, इन पर स्वामित्व हो सकता है, व्यवहार से और सरकारी कानून से, किन्तु कन्या, भाई, बन्धु और पत्नी आदि कुटुम्बीजनों पर या मित्र, ज्ञाति, समाज, धर्मसंस्था आदि पर स्वत्व तो हो सकता है, स्वामित्व नहीं। दान में स्वत्व के साथ स्वामित्व का भी विसर्जन होता है, इससे भी आगे बढ़कर अहंत्व-ममत्व का भी विसर्जन आवश्यक होता है। अहंत्व या ममत्व इन सभी अपनी मानी जाने वाली चीजों (जड़ या चेतन पदार्थों) पर होता है, किन्तु स्वामित्व (मालिकी) चेतन पदार्थों पर नहीं होती, ममत्व या स्वत्व हो सकते हैं। यही कारण है कि जब कोई पुरुष या स्त्री संसार से विरक्त होकर भागवती दीक्षा ग्रहण करने को तैयार होता है, तो उसके रिश्तेदार (भाई, पिता, माता, पत्नी या पति पुत्र आदि) हों तो वे अपना ममत्वविसर्जन करने के लिए अनुमति, आज्ञा या अनुज्ञा देते हैं, किन्तु वह दान नहीं होता, क्योंकि उन चैतन्य पदार्थों पर सिवाय खुद की आत्मा के और किसी का स्वामित्व नहीं होता।

निष्कर्ष यह है कि जहाँ स्वत्व—विसर्जन के साथ अहंत्व, ममत्व और विशेषतः स्वामित्व का विसर्जन (त्याग) हो, वहीं दान कहलाता है। वैसे ही किसी को कोई चीज गिरवी रखने या सुरक्षित रखने या संभाल रखने को दी जाय, वहाँ दान नहीं कहलाता, क्योंकि वहाँ स्वत्व ममत्व और स्वामित्व का विसर्जन नहीं किया जाता। इसलिए यथार्थ दान चार बातों से सम्पृक्त होता है—

(१) स्वत्व (जिस चीज पर अपनापन हो उस) के त्याग से।

(२) अहंत्व (जिस चीज के होने से अपना अहंकार या अभिमान प्रगट होता हो, उस) के त्याग से।

(३) ममत्व (जिस वस्तु पर मेरापन हो, उस) के त्याग से।

(४) स्वामित्व (जिस वस्तु पर अपनी मालिकी या कब्जा (Pussessing) हो, उस) के त्याग से।

ये चारों बातें जिस देने के साथ न हो, वह देना कहला सकता है, दान नहीं। दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि दो व्यक्ति एक ही जगह रहते हैं, एक ही रसोड़े में भोजन करते हैं, घर के या दूकान के आय-व्यय में दोनों का आधा-आधा हिस्सा है, किन्तु उनमें से एक तो भिक्षार्थ साधु के आने पर आहारादि देना चाहता है और दूसरा नहीं देना चाहता, ऐसी स्थिति में साधु उस भिक्षा (आहारदान) को

न ले। क्योकि दोनो के स्वामित्व की वस्तुएँ होने से जब तक दोनो व्यक्ति स्वेच्छा से उस आहारादि पर से स्वत्व, ममत्व या स्वामित्व का विसर्जन न कर दें, तब तक साधु के लिए एक के द्वारा दिया हुआ वह आहारदान ग्राह्य नही है, कल्पनीय नही है।

इसके पीछे रहस्य यह है कि जबर्दस्ती लेना या किसी की बिना मर्जी के दबाव डाल कर, भय दिखाकर या अपना प्रभाव डालकर आहार-या किसी पदार्थ का लेना वास्तविक दान नही है, उसे तथाकथित दान से लेने वाले और देने वाले दोनो का हित नही है। देने वाले के साथ उसके भागीदार का झगडा होता है, उसके मन मे सक्लेश और अश्रद्धा पैदा होती है, और लेने वाले के लिए भी वह हितावह नहीं, शास्त्राज्ञा विरुद्ध है। मिगार सेठ श्रावस्ती का अति धनाढ्य पुरुष था, वह निर्ग्रन्थोपासक था। मिगार सेठ ने अपने पुत्र पूर्णवर्धन का विवाह साकेतनगर के धनजय श्रेष्ठी की कन्या विशाखा के साथ किया। विशाखा बौद्ध भिक्षुओ की उपासिका थी, और धनाढ्य सेठ की पुत्री होने का भी उसके मन मे गर्व था। इसलिए जब एक बार मिगार सेठ भोजन कर रहे थे, तभी एक निर्ग्रन्थमुनि भिक्षा के लिए पधारे। मिगार सेठ ने उनका आदर-सत्कार किया और आहार ग्रहण करने की कृपा करने के लिए निवेदन किया। किन्तु विशाखा ने उन्हे न आदर दिया और न आहार ही दिया।' इस कारण निर्ग्रन्थमुनि वापस लौट गए। मिगार सेठ ने उन्हे बहुत कुछ अनुनय-विनय किया कि आप आहार लेकर पधारिए। मगर वह आहार उनके लिए ग्राह्य इसलिए नहीं था कि उसके पीछे एक की मर्जी थी, एक की नही, इस कारण मुनि ने वापस लौट जाना ही उचित था। एक उक्ति है इस विषय मे गोरखनाथ जी की—

"सहज मिला सो दूध बराबर,
माँग लिया सो पानी।
खींच लिया सो रक्त बराबर,
कह गए 'गोरख' बानी॥"

साधु के लिए इसी कारण सहजभाव से जो स्वेच्छा से अपने स्वामित्व, स्वत्व, ममत्व या अहत्व का विसर्जन करके देता है, उसी का लेने का विधान है। कोई दाता उधार लेकर या दूसरे से जबरन छीनकर या डर दिखा कर दूसरे से लेकर देना चाहे तो भी साधु के लिए वह देय वस्तु ग्राह्य नही है। क्योकि वहाँ भी सहजभाव से स्वामित्व स्वत्व, अहत्व-ममत्व का विसर्जन नही है। इसलिए वहाँ भी दान की यथार्थता नही है।

दान के पीछे कौन-कौन-सी भावनाएँ होनी चाहिए? उसकी विधि क्या है? द्रव्य कौन-सा देय है? दाता और आदाता (पात्र) कैसा होना चाहिए? इन सब पर विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायो मे किया जाएगा। यहाँ तो दान की परिभाषा और व्याख्या को समझने के लिए कुछ सकेत दिये जा रहे हैं।

इसी प्रकार पहले यह कहा जा चुका है कि जिसके देने के पीछे कोई विचार या शुभभाव नहीं है, जिसमें स्व-परानुग्रह नहीं है, बल्कि कोई स्वार्थ है प्रसिद्धि, यश या वाहवाही लूटने की या बदले में अधिक या बराबर लेने की भावना है, अपने अहंत्व-ममत्व, स्वत्व या स्वामित्व के विसर्जन का भी भाव नहीं है, वह सच्चे अर्थों में दान नहीं है।

तात्पर्य यह है, स्व-परानुग्रह के साथ स्वत्व, स्वामित्व, अहंत्व और ममत्व का विसर्जन दान है। वास्तव में दान होता भी तभी है, जब व्यक्ति अपने स्वत्व को नष्ट कर देता है। इसीलिए स्मृतिकारों ने दान शब्द का लक्षण किया है—

'स्व-स्वत्वध्वंसपूर्वक-परस्वत्वोपपत्त्यनुकूलत्यागः दानम्'

अर्थात्—दान वह है, जिसमें अपने स्वत्व (स्वामित्व, अहंत्व-ममत्व) को नष्ट करके दूसरे के स्वत्व (स्वामित्व) की उत्पत्ति के अनुकूल त्याग किया जाय।

यह लक्षण स्वत्व-विसर्जन से मिलता-जुलता ही है। इस लक्षण में एक विशेष बात ध्वनित होती है, वह यह है कि कोई व्यक्ति अपनी मानी गई वस्तु दूसरों को सौंपे नहीं, केवल उस पर से स्वत्व या ममत्व छोड़ कर घर में ही रखी रहने दे, उसका न तो कोई स्वयं उपयोग करे और न ही दूसरे को सुपुर्द करे, तो वहाँ दान नहीं होता। दान वही कहलाता है, जहाँ स्व-स्वत्व विसर्जन पूर्वक वस्तु का परस्वत्व के अनुकूल त्याग किया जाय। केवल स्वत्व विसर्जन, जैसा कि ऊपर बताया गया है, कोई करे तो वहाँ दान नहीं होगा, दान का कार्य तभी परिपूर्ण होता है, जब दाता अपना ममत्व-स्वत्व छोड़ कर वस्तु को दूसरे के हवाले कर दे, इस प्रकार दूसरों के स्वत्व के अधीन उस वस्तु को कर दें। यानी दान के साथ ये दोनों प्रक्रियाएँ होनी आवश्यक हैं। अगर कोई व्यक्ति अपनी वस्तु केवल दूसरों के सुपुर्द (अधीन) करता है, किन्तु अपना स्वत्व उस पर से हटाता नहीं है, अपना ममत्व उस पर बनाए रखता है, तो वह दान की अधूरी प्रक्रिया है। इसी प्रकार व्यक्ति केवल स्व-स्वत्व का त्याग तो कर दे, किन्तु दूसरे के अधीन उस वस्तु को न करे तो भी वह दान प्रक्रिया अपूर्ण है। कोई व्यक्ति किसी वस्तु से ममत्व हटाकर उसे कूड़ादानी में फेंक दे या उन नोटों को जला दे तो वह दान नहीं कहलाएगा।

स्वराज्य आन्दोलन के दिनों में कई राष्ट्रीय नेताओं ने विदेशी कपड़ों पर से अपना ममत्व हटाकर उनकी होली जला दी थी। उसके पीछे उद्देश्य था—विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार। किन्तु क्या कोई इस स्वत्व-विसर्जन को दान कहेगा ? सचमुच, इसे दान नहीं कहा जायगा, क्योंकि एक तो इस स्वत्व त्याग का उद्देश्य ही दूसरा है—जबकि दान में स्वपरानुग्रह रूप उद्देश्य अवश्य होता है। दूसरे, स्वत्व विसर्जन के साथ ही दूसरों के स्वत्वाधीन करने का क्रिया इसमें नहीं है।

इसी प्रकार अमेरिका के एक धनिक ने अपनी जिन्दगी से ऊब कर और अपने परिवार वालों से रुष्ट होकर अपने पास जितने नोट थे, वे सब आग में डालकर

स्वाहा कर दिये । इसमे स्वत्व-विसर्जन का प्रदर्शन भी है, परन्तु नोटो को जलाकर स्व-स्वत्वध्वस करने का उद्देश्य बिलकुल दूसरा है, यानी यहाँ स्वपरानुग्रह के बदले उद्देश्य है—जिन्दगी से परेशानी या पारिवारिक जनो के प्रति प्रतिक्रिया प्रदर्शन और परस्वत्व के अनुकूल त्याग का तो इसमे नामोनिशान भी नही है। इसलिए इसे दान हर्गिज नही कहा जा सकता।

कई वर्षों पहले समाचारपत्रो मे एक खबर छपी थी कि एक व्यक्ति अपनी सारी सम्पत्ति कूड़ादानी मे डाल आया और फिर आत्महत्या कर ली। भला, बताइए कि कूड़ादानी को अपनी सम्पत्ति अर्पण करना भी कोई दान है?

इसी प्रकार जो लोग धन जोड़-जोड कर इकट्ठा करते है, और फिर उसे अन्तिम समय मे यो ही रखकर चले जाते हैं, इसमे न तो स्वस्वत्व का विसर्जन है, और न ही पर-स्वत्वाधीनता है। दोनों ही प्रकार का त्याग नही है, इस कारण इसे तो दान किसी भी हालत मे नही कहा जा सकता।

मतलब यह है कि जहाँ अपने स्वत्व (अपनेपन, ममत्व, स्वामित्व) के विसर्जन के साथ ही उस वस्तु पर दूसरे व्यक्ति का स्वत्व या स्वामित्व स्वेच्छा से स्थापित कर दिया जाए, वहीं दान की पूर्ण क्रिया होती है।

इस परिष्कृत लक्षण के अनुसार अगर कोई व्यक्ति दूसरे की मालिकी की चीज पर झूठमूठ अपना स्वामित्व स्थापित करके उसका विसर्जन करता है और उक्त वस्तु को दूसरे के हाथ मे सौंप कर उसे उस वस्तु का मालिक बना देता है, तो यहाँ भी उसे दान नही कहा जा सकता। वास्तविक दान वही है, जो स्व-परानुग्रह के उद्देश्य से अपने द्वारा उपार्जित धन या साधनो पर से अपनी मालिकी छोड़कर दूसरे को सौंप दिया जाता है।

कई बार व्यक्ति स्वत्व विसर्जन करता है, परन्तु किसी एक व्यक्ति के हाथो मे न सौंपकर उस दान को या तो अनेक गरीब व्यक्तियो मे, एक या अनेक संस्थाओ मे वितरण कर देता है। इससे एक लाभ यह होता है कि लेने वाले व्यक्तियो या सस्थाओ मे हीनता के भाव नहीं आते, और न देने वालों मे अहकार या महत्ता की भावना नहीं आती। ऋद्धि गौरव की गाँठ भी एक बहुत बड़ा दोष है, दान के साथ।

महान् लेखक एव विश्वविश्रुत साहित्यकार बर्नार्ड शॉ को १९२५ ई० मे जब साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार मिलने की घोषणा हुई, तब उन्होने पुरस्कार दाता का सम्मान रखने के लिए उस नोबल पुरस्कार को स्वीकार तो किया, परन्तु उस पारितोषिक की मिलने वाली विशाल रकम को अस्वीकार करते हुए उन्होंने पारितोषिक वितरण व्यवस्थापको से कहा—"अब मेरे पास अपना गुजारा चलाने लायक धन है, इसलिए मेरी इच्छा है कि पारितोषिक की इस रकम को स्वीडन के गरीब लेखको मे बाँट दी जाए।"

कितना उदात्त उद्देश्य है—धन के साथ स्वपरानुग्रह का और पारितोषिक के धन पर स्वत्व—स्वामित्व स्थापित होने से पहले ही बर्नार्डशा ने स्वेच्छा से पारितोषिक के धन से अपने स्वत्व-स्वामित्व का परित्याग कर दिया, परन्तु उसी संस्था को वह धन गरीब लेखकों में बाँटने का निर्देश कर दिया। यद्यपि अपने हाथ से बर्नार्डशा ने यह दान सीधे लेखकों को नहीं दिया, अपितु पारितोषिक वितरण-व्यवस्थापकों से कहकर उन गरीब लेखकों को वितरण करने का आदेश दिया। यह स्वत्व विसर्जन का विलक्षण प्रकार था। ऐसे स्वत्व विसर्जन से दान भी, दाता भी और आदाता भी धन्य हो उठते हैं।

दान में चमक कब आती है ?

दान में चमक तो तब आती है जब व्यक्ति स्वत्व विसर्जन के चारों अंगों को पूर्ण करता है। कोई निर्धन एवं साधनहीन अवस्था से ऊपर उठ कर साधन सम्पन्न हो जाता है और उस समय स्वपरानुग्रह के उद्देश्य से पवित्र भाव से जो अपनी वस्तु पर से स्वत्व, स्वामित्व, ममत्व और अहंत्व को छोड़ कर अभावग्रस्तों, निर्धनों या पीड़ितों को देता है, सहायता करता है, या उनकी सेवा के लिए अर्पण कर देता है।

यहाँ हम एक ऐसे उदार भिखारी का जीवन-प्रसंग दे रहे हैं, जो अत्यन्त गरीबी और असहाय अवस्था से अपने परिश्रम और अध्यवसाय के बल पर ऊपर उठ कर अपने जैसे लोगों के जीवन विकास के लिए अपनी सर्वस्व कमाई दे देता है।

धनिया अत्यन्त निर्धन पिता का पुत्र था। जब वह ५ वर्ष का था, तभी उसके माता-पिता महामारी रोग में चल बसे थे। काने, लूले, लंगड़े, शरीर से हृष्ट-पुष्ट किन्तु सांवले रंग के कोरी जाति के निराधार धनिया को पड़ोसियों ने आश्रय दिया। दो वर्ष तक उन्होंने पाला-पोसा। फिर धीरे-धीरे सभी उसके प्रति लापरवाह हो गए। न किसी के दिल में उसके प्रति सम्मान था, और न ही प्रेम था। उदास और निराश धनिया एक दिन उस गाँव से चल दिया और निकट के एक गाँव में भिखारियों के मोहल्ले में जाकर खड़ा हो गया। एक भिखारी-कुटुम्ब ने उसे स्वजन की तरह रख लिया। भिखारियों के बच्चों के साथ वह भी माँगने के लिए जाने लगा। जो कुछ मिल जाता, उसी में अपना गुजारा चलाता था। धनिया को भीख माँगने के काम से घृणा होती थी, किन्तु अंग-विकलता होने के कारण नौकरी आदि के दूसरे काम न मिलने पर भी विवश होकर उसे भीख माँगने का कार्य ही करना पड़ा दुर्भाग्य से इस गाँव में दुष्काल पड़ने से सभी को दूसरी जगह जाना पड़ा। धनिया भी सबके साथ था। कुछ दूर एक स्थान पर भिखारियों ने झोंपड़े बनाकर रहना शुरू किया। वहाँ गाँव में और पहाड़ पर अनेक आकर्षक देवालय थे, दूर-दूर से यात्री यहाँ दर्शनार्थ आते थे। धनिया का काम जोर-शोर से चलने लगा।

धनिया ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, त्यों-त्यों उसमें समझदारी भी बढ़ती गई,

वह इतना सन्तोषी था, कि जो कुछ रूखा सूखा खाने को मिलता, उसी से काम चलाता। उसमे कोई भी व्यसन नहीं था। लोग बीडी, चाय आदि पीने का आग्रह करते थे, लेकिन वह नही पीता था। इस प्रकार कई वर्ष बीत गए। धनिया जवान हुआ, लेकिन उसने इस विचार से शादी न की कि क्यो किसी का जीवन नष्ट किया जाय! अब तो उसने अपना ध्यान मांग-मांग कर बचे हुए पैसे इकट्ठे करने मे लगा दिया। उसने अपना एक स्वतन्त्र झौंपडा बना लिया, जिसमें वह भजन-कीर्तन करता था, महात्माओं या पढ़े-लिखे लोगो के उपदेश कराता था, जिसे वह स्वयं सुनता था, और लोगो को भी आमन्त्रित करता था। वह भगवान् की भक्ति मे तन्मय हो गया। समय-समय पर वह अपनी बची हुई पूंजी मे से भिखारी मुहल्ले म रहने वालों का इलाज और आफत, दिक्कत मे मदद करता था। वह दिये हुए पैसे वापस नहीं लेता था। मुहल्ले के सभी लोग उसे आदर की दृष्टि से देखते थे।

एक दिन भिखारी मुहल्ले के झौंपडो मे भयानक आग लग गई। एक झौंपड़े मे एक छोटा-सा बच्चा रह गया। धनिया उसे बचाने के लिए आग में कूद पड़ा। उसके हाथ-पैर बुरी तरह झुलस गए, लेकिन बच्चे को सही सलामत बचा कर ले आया। झुलस जाने के कारण धनिया को अस्पताल मे दाखिल करना पडा। १५ दिनों के बाद वह अच्छा होकर आया। सबने उसका स्वागत किया।

लोगो को सन्देह हुआ कि धनिया इतना पैसा बचा कर रखता कहाँ है? उससे पूछने पर वह मौन रहता था। किसी को पता न था कि वह सहायता के रूप लोगो को दान देता है, वह पैसा कहाँ से आता है? एक दिन धनिया कहीं दूसरे गाव गया हुआ था। पीछे से कुछ लोगो ने उसका झौंपडा खोद डाला, पर कुछ नहीं मिला। लोगो ने जमीन को बराबर कर दी। लेकिन धनिया जब वापस लौटा तो उसे सारी स्थिति समझ मे आ गई, परन्तु उसने किसी से कुछ भी नही कहा।

धनिया के जीवन के ६५ वर्ष व्यतीत हो गए। एक रात को धनिया की छाती मे अचानक जोर का दर्द उठा। उसने मुहल्ले के आदमियो को आवाज देकर बुलाया। कुछ लोग इकट्ठे हो गए और उसकी सेवा-सुश्रूषा म जुट गए, दर्द बढ़ता ही जा रहा है, यह जान कर कुछ लोग डॉक्टर को बुलाने गए। डॉक्टर ने ज्यो ही धनिया के झौंपडे मे पैर रखा कि उसके प्राणपखेरू उड़ गए। डॉक्टर ने जाँच-पड़ताल के बाद बतलाया कि धनिया की मृत्यु हार्टफेल से हुई है। सारे गाव में धनिया की मृत्यु के समाचार बिजली की तरह फैल गए। शवयात्रा मे नगरसेठ व अन्य प्रतिष्ठित पुरुषो ने भी भाग लिया। रात को आजाद चौक मे नगरसेठ के सभापतित्व में एक शोकसभा हुई। नगरसेठ ने शोक व्यक्त किया—"धनिया निर्धन के रूप मे जन्मा, लेकिन मरा है, श्रीमान् के रूप मे। उसने श्रम और संयमनिष्ठ रह कर एक-एक पैसा बचा कर इकट्ठा किया है। बैंक में उसके नाम पर २५ हजार रुपये जमा हैं। इतनी बडी रकम उसने दान मे दे दी है। उसने एक वसीयतनामा

भी लिखवाया है, जिसे मैं पढ़कर सुनाता हूँ—"मेरे जैसे क्षुद्र से क्षुद्र भिखारी का वसीयतनामा कैसा ? मेरी इस वसीयतनामे की बात सुनकर आपको हँसी आएगी; मेरे मन में जीवनभर यही विचार आते रहे कि मेरे सरीखे लूले-लँगड़े, अशक्त और निराधार मनुष्यों को कितना कष्ट सहन करना पड़ता होगा ? कितनी मुसीबतें उठानी पड़ती होंगी ? अत्यन्त तिरस्कार और अपमान भी सहना पड़ता होगा ? उन सबको थोड़ी-बहुत सुविधा मिले, इसके लिए एक आश्रम स्थापित करने की आवश्यकता है। मैंने मांग-मांग कर ये पैसे इकट्ठे किये हैं। यह कुल रकम मैं आश्रम के लिए दे रहा हूँ । मैंने कोई दान किया है, यह मैं नहीं मानता। समाज का दिया हुआ पैसा मैं समाज के चरणों में अर्पण कर रहा हूँ । मैं इन पैसों को सम्भाल रखने के लिए नगरसेठ का और रकम स्वीकार करने के लिए समाज का उपकार मानता हूँ ।......"

नगर सेठ ने इस आश्रम की स्थापना के लिए अपनी ओर से दस हजार रुपये के दान की घोषणा की। सभा विसर्जित हुई। सभी लोग धनिया की प्रशंसा कर रहे थे, लेकिन वह प्रशंसा सुनने के लिए नहीं रहा। जगत् के इतिहास में धनिया का यह वसीयतनामा अजोड़ है। धनिया को प्रशंसा की चाह नहीं थी, वह चुपचाप बिना किसी प्रसिद्धि के दान कर गया।

इस दान में दान का उद्देश्य, स्वत्व आदि चारों का त्याग और असहाय एवं अशक्त लोगों के लिए अपनी वस्तु का समर्पण आदि सभी वस्तुएँ निहित हैं।

केवल स्वत्व-विसर्जन (त्याग) दान नहीं

बहुत-से लोगों का भ्रम है कि किसी व्यक्ति ने घरबार, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद सब कुछ छोड़ दिया तो उसका वह त्याग दान हो गया। परन्तु वह त्याग हो सकता है, दान नहीं। दान में स्व-वस्तु का विसर्जन किया जाता है, किन्तु वह विसर्जित वस्तु को किसी खास उद्देश्य से किसी व्यक्ति या संस्था को या समूह को सौंपी जाती है। इस विश्लेषण को समझ लेने पर ही दान का लक्षण यथार्थ रूप से हृदयंगम हो जाएगा। अन्यथा, त्याग में ही दान की भ्रान्ति हो जाएगी, और उसे ही दान समझ लिया जाएगा।

एक बहुत पुरानी घटना है। एक राजकुमार ने घरबार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति और जमीन-जायदाद सब कुछ छोड़ कर दीक्षा ले ली। वह साधु बन गया, अपने विपुलवैभव का त्याग करके। लोग उसके इस त्याग की प्रशंसा करने लगे और इसे बहुत बड़ा दान कहने लगे। लोगों ने साधु बने हुए राजकुमार से कहा—'आपने बहुत बड़ा त्याग किया है। आपने सचमुच महान् दान दिया है।' राजकुमार (साधु) ने कहा—'भाई ! यह क्या कह रहे हो ? मैंने क्या छोड़ा है ? और क्या दान दिया है ?' लोगों ने कहा—'दुनिया तो पैसे-पैसे के लिए मरती है, उसे पाकर छाती से चिपका लेती है। लेकिन आपने तो इतना बड़ा वैभव छोड़ दिया है। आप इसे त्याग

या दान नहीं कहते, यह आपकी महानता है।' तब राजकुमार (साधु) ने कहा— 'इसमे मेरी कोई महत्ता नही। और जिसे तुम दान कहते हो, वह त्याग से अलग चीज है। उसमे अपनी वस्तु पर से ममत्व छोड़कर दूसरे के हस्तगत करनी होती है, ऐसा मैंने कुछ नहीं किया है। और छोड़ा भी मैंने क्या है? जहर ही तो छोड़ा है? मैल ही तो विसर्जित किया है। किसी के पास जहर की छोटी-सी पुड़िया है, और दूसरे के पास जहर की बोरी भरी है। दोनों को पता नहीं कि यह जहर है, तब तक वे उसे सभाले रहे। जब उसने किसी ज्ञानी से यह समझ लिया कि जिसे हम अमृत समझकर सहेज रहे हैं, वह वास्तव मे अमृत नही विष है, तो क्या वह उसका त्याग करने में फिर देर करेगा? पुड़िया वाला पुड़िया का और बोरी वाला बोरी का त्याग कर देगा। अब लोग कहें कि बोरी वाले ने बड़ा त्याग किया है, पर मैं कहता हूँ, यह त्याग काहे का? पुड़िया जहर की थी, तो बोरी भी जहर ही की थी। उसे छोड़ा तो कौन-सा बड़ा त्याग कर दिया? मैंने तो अमर बनने के लिए जहर को छोड़ा है।' साधु के इस वक्तव्य को सुन कर सभी लोग अत्यन्त सन्तुष्ट हो गए। उनके मन का समाधान हो चुका था।

वास्तव मे 'त्यागो दानम्' ऐसा जो लक्षण किया जाता है, वह लक्षण अधूरा है। परिष्कृत लक्षण यही है कि स्व परानुग्रह के उद्देश्य से अपनी वस्तु पर से ममत्व *का त्याग कर दूसरे को सौंप दिया जाता है, वही दान है। कोरा त्याग दान नहीं है।* यह साधु बने हुए राजकुमार के उपर्युक्त संवाद से पूर्णत स्पष्ट हो जाता है।

त्याग के साथ दान ही सर्वांगीण दान

वैसे देखा जाय तो त्याग के साथ दान ही सर्वांगपूर्ण दान कहलाता है। कोरा दान (देना) कोई महत्वपूर्ण नहीं होता। त्यागरहित दान प्राणरहित शरीर जैसा है। केवल दान तो किसी स्वार्थ, भय, लोभ या परम्परागत रूढिवश भी हो सकता है। केवल दान से व्यक्ति के जीवन मे बदले मे कुछ लेने की भावना भी हो सकती है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति है। उसने भलाई और ईमानदारी से व्यापार कर के धन कमाया। अपनी गृहस्थी सुखपूर्वक चला रहा है। उसे अपने स्त्री-पुत्रो के प्रति एव अपने शरीर के प्रति ममता है। इसलिए उनके भरणपोषण के लिए जो पैसा कमाता है, उसके प्रति भी आसक्ति है। परन्तु साथ ही उसे कीर्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा या परोपकार की भी लालसा है। वह सोचता है—अगर इसमे से मैं किसी को कुछ पैसे (सामाजिक कार्य मे या धर्मकार्य म) दूं तो उसके बदले मुझे कई गुने मिलते हैं, तो यह सौदा बुरा नही है। अतः वह मुक्त-हस्त से खर्च करता है, समाज और धर्म के तथाकथित नायकों को थोड़े-से पैसे देकर खुश कर देता है। इसी को वह दान कहता है, तथाकथित समाज या मध्यमवर्गीय गरीब लोग भी दान कहकर पुकारते हैं। परन्तु दान के पूर्वोक्त लक्षणो की कसोटी पर उसे कसते हैं तो वह खरा दान नही उतरता। क्योकि उसमे त्याग—स्वामित्व, स्वत्व, ममत्व या अहत्व का

त्याग—नहीं है, जिसका होना अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना कोरी दान क्रिया तो सिर दर्द होने पर लगाये जाने वाले बाम का लेप है। बाम के लेप जैसे ऊपरी उपचार से जिस प्रकार बीमारी जाती नहीं, बीमारी तो आन्तरिक उपचार यानी पेट में दवा लेने से जाती है। इसी प्रकार कोरे दान से अहंत्व-ममत्वादि पाप का त्याग नहीं होने से पाप रोग जाता नहीं, आत्मशुद्धि होती नहीं, अपितु दान से तो पाप का केवल ब्याज ही चुकता है, मूल तो ज्यों का त्यों बना रहता है। इसलिए केवल दान (त्यागरहित) का स्वभाव ममतालु होता है, जबकि त्यागयुक्त दान का स्वभाव होता है दयालु। इसे यों भी कहा जा सकता है कि त्यागयुक्त दान का निवास धर्म के शिखर पर है, जबकि त्यागरहित कोरे दान का निवास धर्म की तलहटी में है। धर्म की तलहटी से शिखर तक पहुँचने के लिए दान के साथ त्याग की आवश्यकता है। लोभी मन दान तक ही पहुँचता है, किन्तु वस्तु होते हुए भी उसके प्रति अनासक्त मन त्यागसहित दान को अपनाकर क्रमशः धर्म के उच्च शिखर तक पहुँच जाता है। केवल वस्तु का दानकर्ता अर्जित धन को सहसा छोड़ नहीं सकता, छोड़ता है तो भी साथ में बदले की या अधिक लेने की भावना मन में संजोता है, वह त्याग करके भोग करने की कला नहीं जानता, जबकि दान के साथ उस वस्तु के प्रति ममत्व, स्वत्व, स्वामित्व तथा दान के अहंत्व आदि का त्याग करना दान की कला को चरितार्थ करना है। कोरा दान वाला पात्र नहीं देखता, वह विधि, द्रव्य एवं उद्देश्य का विचार नहीं करता; जबकि ममत्वादि त्यागसहित दान वाला पात्र, विधि, द्रव्य, तथा दान के स्वपरानुग्रहरूप उद्देश्य को देखता है। सिर्फ दान वाला धन को धूल या हाथ का मैल नहीं समझता, जबकि त्याग के साथ दान करने वाला यही सोचता है—धन तो कूड़ा-कर्कट है, धूल है, मैल है, इसका क्या दान करना है? यह तो श्वासोच्छ्वास की तरह अनायास क्रिया है, इसमें दान देने का भान ही नहीं होना चाहिए। इसलिए सच्चे माने में दान त्यागरूपी कांटों से सुरक्षित गुलाब के फूल के समान है। बिना त्याग के दान रूपी गुलाब को सुगन्धरूप फल से रहित होने का खतरा बना ही रहता है। कोरे दान और त्यागयुक्त दान का मर्म समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक नगर में एक बहुत बड़ा धनिक रहा करता था। उसने अपना सारा धन तीन पीपों में भरवाकर तहखाने में रखवा दिया। उसने एक पीपे में सोने, दूसरे में चाँदी और तीसरे में ताँबे के सिक्के भर दिये। एक बार उस देश पर विदेशियों ने हमला किया। जब विदेशियों का कब्जा उस देश पर बढ़ता देखा तो धनिक ने देश छोड़कर भाग जाने का निश्चय कर लिया। उसने धन के पीपों पर मोम बिछवा दिया। तहखाने में उसने ताला भी नहीं लगाया और सपरिवार देश छोड़कर चला गया। शत्रु सेना ने आकर इस शहर पर कब्जा कर लिया तो सेनापति ने धनिक के उन पीपों पर कब्जा किया। सेनापति ने इन पीपों को देखकर सैनिकों से कहा—ये तो मोम के पीपे हैं, इसीलिए इनका मालिक छोड़कर चला गया है। अतः इन्हें किसी

को बेच दो।' उन्होने बहुत तलाश की, लेकिन उन पीपा का कोई खरीददार नहीं मिला। आखिर एक गरीब व्यक्ति ने कहा—'यदि सस्ते में दे दें तो मैं खरीद सकता हूँ। मैं तो मोमबत्ती बनाकर गुजारा करता हूँ।' जो कुछ पैसे उसने दिए, शत्रुसैनिकों ने उतने पैसे ले लिए और अपनी जेब मे डाल लिए फिर उससे कहा—जितनी जल्दी इन पीपो को उठाकर ले जा सको, ले जाओ, इन पर पहरा देते देते मेरी जान जा रही है।' मोमबत्ती वाला उन तीनो पीपो को उठाकर घर ले आया। शत्रु के चले जाने पर जब मोमबत्ती वाले ने मोमबत्तियाँ बनाने के लिए पीपो म से मोम निकालना चाहा, मगर मोम के बदले किसी कठोर वस्तु का स्पर्श हुआ। उन्हें ऊपर उठाकर देखा तो सोने के सिक्के थे। उस गरीब ने जब दूसरे पीपे की मोम हटाई तो नीचे चाँदी के सिक्के और तीसरे पीपे मे नीचे ताँबे के सिक्के मिले। उसे आश्चर्य और सन्तोष हुआ उसने हिफाजत से वे तीनो पीपे रखकर उस कोठरी के ताला लगा दिया। यद्यपि उसे अपनी गरीबी का भय न था, परन्तु अमीरी का भी उसने कोई दिखावा न किया। और आराम से जिन्दगी बिताने लगा। समय बीतता चला गया, पर उसका खजाना खाली नही हुआ।

एक बार उसने अपने दोस्त दर्जी से कपडे सिलवाए, और उसे सिलाई के बदले मुट्ठी भर सोने के सिक्के दिए। दर्जी चकराया—इतना पैसा तो मैं नहीं लूंगा, मेरा मेहनताना इतना नही होता। मुझे तो केवल मेरी मजदूरी के पैसे दे दो।' मोमबत्ती वाले ने कहा—मेरे पास तो सोने का पीपा भरा है, मैं उस सारे का करूँगा क्या ? तुम भी कौन से धनी हो ! रखो इसे।' दर्जी ने इस पर विश्वास न किया। उसने पूछा—'तुम्हारे पास इतना सोना कहाँ से आया ?' मोमबत्ती वाले ने कहा—'मेरे साथ चलो, अपनी आँखो से देख लेना।' मोमबत्ती वाले ने अपने दोस्त दर्जी को साथ ले जाकर सोना, चाँदी और ताँबे के सिक्के वाले पीपे बताए। और अन्त मे कहा—'इन सबका मैं क्या करूँगा, इनमे से आधा तुम ले जाओ।' दर्जी ने दो मुट्ठी भर सोना लिया और कहा—मेरे लिए इतना ही काफी है। इससे मेरी सारी जिन्दगी आराम से कट जाएगी, मैं तुम्हें एक सलाह देता हूँ, सुनो ? इतना धन तो तुम हजार सालो मे खर्च नही कर सकते, केवल देख देखकर तसल्ली भले ही कर लो। यह बिलकुल बेकार धन है। इसलिए इसे चुपचाप (गुप्त रूप से) गरीबों को बाँट दो। कम से कम वे इससे फायदा तो उठाएँगे। पैसे का भी उपयोग हो जाएगा।' मोमबत्ती बनाने वाले को दर्जी की यह सलाह जच गई। उसने सब के सब सोने चाँदी और ताँबे के सिक्के गरीबो को दान कर दिये, और अपनी मेहनत से कमाकर आराम से जिन्दगी बसर करने लगा।

इस उदाहरण मे कोरा दान और त्यागयुक्त दान दोनों की प्रक्रिया स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। प्रथम प्रक्रिया म मोमबत्ती वाले ने अधिक धन रखकर कुछ अपने मित्र दर्जी को देना चाहा। उसमे न तो दान का कोई उद्देश्य ही उसके सामने स्पष्ट

था, और न ही ममत्व विसर्जन की क्रिया थी। वह धन को रखने की चिन्ता के कारण उस धन को इल्लत समझकर मित्र को कुछ देना चाहता था। लेकिन दूसरी प्रक्रिया में मित्र की सलाह से उसने सारे के सारे धन पर से स्वामित्व, ममत्व, अहंत्व छोड़कर चुपचाप उसे गरीबों को दे डाला, और स्वयं परिश्रम पर निर्वाह करके जिन्दगी का आनन्द लूटने लगा। अतः दूसरी प्रक्रिया में त्यागयुक्त दान है।

त्याग, दान से बढ़कर है, किन्तु............

एक दूसरे दृष्टिकोण से त्याग और दान का विश्लेषण करें तो दान की अपेक्षा त्याग बढ़कर मालूम देगा। एक व्यक्ति अविवेकपूर्वक, किसी प्रकार का पात्र, देश, काल, स्थिति, विधि, द्रव्य आदि का कोई विचार न करके किसी व्यक्ति को परम्परागत रूप से गायें दे देता है, किसी को घोड़े या हाथी दे देता है। पर लेने वाला इतने पशुओं को सँभाल नहीं सकता, न उन्हें पूरा चारा दाना दे पाता। अब बताइए, ऐसे दान से क्या मतलब सिद्ध हुआ? इसकी अपेक्षा एक व्यक्ति इन सब सोने, चाँदी, सिक्के, जमीन, जायदाद आदि सबको मन से भी त्याग करके मुनि बन जाता है। उस व्यक्ति का त्याग दान की अपेक्षा बढ़कर है।[1]

श्रमण भगवान महावीर के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा के चरणों में जहाँ बड़े-बड़े राजा, राजकुमार, श्रेष्ठी, श्रेष्ठीपुत्र आकर मुनिदीक्षा लेते थे, वहाँ दीन दरिद्र भी, पथ के भिखारी तक भी दीक्षित होते और साधना करते थे। इसी शृंखला में एक बार राजगृह का एक दीन लकड़हारा भी विरक्त होकर मुनि बन गया था। साधना के क्षेत्र में तो आत्मा की परख होती है देह, वंश और कुल की नहीं। एक बार महामन्त्री अभयकुमार कुछ सामन्तों के साथ वन विहार के लिए जा रहे थे, मार्ग में उन्हें वही लकड़हारा मुनि मिल गए तो उन्होंने तुरन्त घोड़े से उतरकर मुनि को भक्तिभाव से विनम्र वन्दना की। घूमकर पीछे देखा तो सामन्त लोग कनखियों में हँस रहे थे, अन्य पास में खड़े नागरिक भी मजाक के मूड में थे।

महामन्त्री अभय को सामन्तों और नागरिकों के हँसने का कारण समझते देर न लगी। फिर भी उसने पूछा तो एक सामन्त ने व्यंगपूर्वक कहा—'जो कल दर-दर की ठोकरें खाने वाला दीन लकड़हारा था, वही आज बहुत बड़ा त्यागी और राजर्षि बन गया है कि मगध का महामन्त्री भी उसके चरणों में सिर झुका रहा है। धन्य है, इसके त्याग को कि महामन्त्री तक को अश्व से नीचे उतरकर प्रणाम करना पड़ा।'

सामन्त के इस तीखे व्यंग और त्याग के उक्त संस्कारहीन उपहास पर अभयकुमार को रोष तो आया, पर उन्होंने मन ही मन पी लिया। अभयकुमार

---

१ जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण॥

जानते थे कि सामन्त ने मगध के महामन्त्री का नहीं, ज्ञातपुत्र महावीर की क्रान्तिकारी त्याग-परम्परा का उपहास किया है। भोग का कीट त्याग की ऊँचाई की कल्पना भी कैसे कर सकता है? एक गम्भीर अर्थ युक्त मुस्कान के साथ अभयकुमार आगे बढ़ गए। सब लोग वन-विहार का आनन्द लेकर अपने अपने महलों में लौट आए।

दूसरे दिन महामन्त्री ने राजसभा में एक-एक कोटि स्वर्णमुद्राओं के तीन ढेर लगवाए और खड़े होकर सामन्तों से कहा कि—"जो व्यक्ति जीवन भर के लिए कच्चे पानी, और अग्नि के उपयोग तथा स्त्रीसहवास का त्याग करे, उसे मैं ये तीन कोटि स्वर्णमुद्राएँ उपहार में दूंगा।" सभा में सन्नाटा छा गया। सभी एक दूसरे के मुंह की ओर ताकने लगे। इन तीनों के त्याग का अर्थ है, एक तरह से जीवन का ही त्याग, फिर तो साधु ही न बन गए...... और तब इन स्वर्णमुद्राओं का करेंगे क्या? न न बाबा ये त्याग बड़े कठिन हैं....।" एक सामन्त ने कहा। इसके बाद सभा में सन्नाटा छा गया। महामन्त्री फिर खड़े होकर गम्भीर स्वर में बोले—लगता है, हमारे वीर सामन्त एक साथ तीन बड़ी शर्तों को देखकर हिचकिचा रहे हैं। अच्छा तो, मैं उनके लिए विशेष रियायत की घोषणा कर देता हूँ—तीनों में से कोई भी एक प्रतिज्ञा करने वाला भी स्वर्णमुद्राओं का अधिकारी हो सकता है।" फिर भी सभी सभासद अवाक् थे। कोई भी वीर सामन्त इस नरम की गई शर्त को भी स्वीकार करने की हिम्मत न कर सका। महामन्त्री ने जोर से गर्जकर कहा—क्या कोई भी यह मामूली-सा साहस नहीं कर सकता?"

तभी एक समवेत ध्वनि गूंज उठी—"नहीं, नहीं, महामन्त्री! जिसे आप मामूली त्याग कहते हैं, वह तो असाधारण है। एक ही वस्तु के सम्पूर्ण त्याग का मतलब है—जीवन की समस्त सुख-सुविधाओं का त्याग! कितना कठोर है यह!" सबके मस्तक इन्कार में हिल रहे थे।

"तो फिर सामन्तो! जिस व्यक्ति ने इन तीनों का त्याग किया हो, वह कितना महान और कितना वीर होगा?"

"अति महान् अतिवीर? अवश्य ही वह अति कठिन एवं असाधारण साहस करने वाला है। उसका त्याग महान् है!" एक साथ कई स्वर गूंज उठे।

"वीर सामन्तो! हमने कल जिस मुनि को नमन किया था, वह तीनों का ही नहीं, बल्कि ऐसे अनेक असाधारण उग्रव्रतों तथा प्रतिज्ञाओं का पालन करने वाला वीर है, त्यागी है। उसके पास भोग के साधन भले ही अल्प रहे हों, पर भोग की अनन्त इच्छाओं को उसने जीत लिया है। त्याग का मानदण्ड राजकुमार या लकड़हारा नहीं हुआ करता, किन्तु व्यक्ति के मन की सच्ची विरक्ति हुआ करती है।" महामन्त्री के इस विश्लेषण पर सभी सामन्त मौन थे, साथ ही निरुत्तर भी। कई प्रसन्न भी थे कइयों के चेहरों पर पश्चात्ताप की रेखाएँ स्पष्ट परिलक्षित हो रही थीं।

दूसरे ही क्षण धन्य, धन्य ! के हर्षमिश्रित गंभीर घोष से राजसभा का कोना-कोना गूंज उठा।

इस कथानक में यद्यपि दान का प्रसंग तो नहीं है, किन्तु तीन कोटि स्वर्ण मुद्राएँ, जो इनाम के लिए रखी गई थीं वे एक तरह से दानस्वरूप ही थीं, मगर त्याग के सामने दान का रंग फीका पड़ गया। इसलिए इस कथानक में मुनि के त्याग के साथ वह स्वर्ण वस्तु किसी को सौंपी नहीं जाने से उसे दान तो नहीं कहा जा सकता, कोरा त्याग अवश्य है। इस विश्लेषण से एक बात स्पष्ट परिलक्षित होती है कि कोरा दान कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है, जैसे कोरा त्याग भले ही दान से बढ़कर हो, मगर दान के वास्तविक लक्षण की दृष्टि से वह दान की कोटि में नहीं आ सकता।

वास्तव में कोरा दान तो पापी से पापी, अधर्मी, अन्यायी, अत्याचारी भी कर सकता है, किन्तु स्वपरानुग्रह के उद्देश्य से स्वत्व या स्वामित्व का त्याग करना टेढ़ी खीर है। पालनपुर में एक डॉक्टर, जो अपनी पत्नी के होते हुए भी पराई स्त्रियों को फंसाता था, उसके विरुद्ध जब सत्याग्रह हुआ तो उसने एक प्रसिद्ध संत के सामने कहा—"आप कहें, उस संस्था को मैं दान दे दूं, मेरे खिलाफ गलत वातावरण न फैलने दें और पालनपुर छोड़कर अमुक समय में बाहर जाने का सामाजिक दण्ड न दिलाएँ।" क्या ऐसे अनाचारी व्यक्ति द्वारा अपने को सुधारे बिना दिया गया दान वास्तविक दान है, या दान का नाटक है? इस प्रकार का तथाकथित दान भी कई बार पापी या अनाचारी व्यक्ति के पाप पर पर्दा डालने वाला हो जाता है; अनाचारी व्यक्ति अपने पापों को दबाने या छिपाने के लिए ऐसे तथाकथित दान का सहारा लेता है। लेकिन पूर्वोक्त त्याग के बिना कोरा दान दान की कोटि में नहीं आता।

दान और त्याग में अन्तर

कोरे त्याग (जैसा कि ऊपर वाले दृष्टान्त में है) और दान में बहुत अन्तर है। जो वस्तु बुरी होती है, उसका हम त्याग करते हैं। हम अपनी पवित्रता उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिए पवित्रता में रुकावट डालने वाली वस्तुओं का त्याग करते हैं। जैसे गृहस्थ लोग घर स्वच्छ करने और उसे साफ-सुथरा रखने के लिए कूड़ाकर्कट का त्याग करते हैं, उसे फेंक देते हैं। इसलिए त्याग का अर्थ होता है—फेंक देना। परन्तु दान का अर्थ 'फेंक देना' नहीं है। किसी के द्वार पर कोई बाबा या भिखारी आया, उसे उसने एक मुट्ठी सिके हुए चने या एक पैसा दे दिया, इतने से दान क्रिया नहीं होती। वह मुट्ठी अन्न या एक पैसा फेंक दिया, फेंकने की क्रिया में लापरवाही होती है, अविचारपूर्वक क्रिया होती है, उसमें न तो हृदय होता है और न बुद्धि ही। बुद्धि और हृदय अर्थात् विवेक और विचार (भावना) इन दोनों के सहयोग से जो देने की क्रिया होती है, उसे ही दान कहा जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि दान का अर्थ फेंकना नहीं, अपितु विचारपूर्वक अपनी मानी हुई वस्तु दूसरे को सम्मानपूर्वक समर्पित करना है।

दान की सर्वोच्च भूमिका अहंता दान

जिस प्रकार गगा आगे बढती-बढ़ती अन्त मे समुद्र मे जाकर मिल जाती है, तब वह अपना नाम, रूप सब कुछ खो देती है, शून्य हो जाती है। उसी तरह दान भी देते देते जब स्वय दाता को ही दे दिया जाता है। यो तो सागर मे असख्य गागरें भरी हैं, पर यहाँ दाता के दिये जाने का मतलब है—'गागर मे सागर को समा लेना।' यह दान पूर्ण अहता कर दान है। किसी वस्तु पर अपना जो ममत्व होता है, उसे त्याग देना, उस पर से अपना स्वामित्व-विसर्जन करना और स्वत्व को छोड देना जैसे दान है, वैसे ही उसका उत्कृष्ट रूप अहत्व का दान करना है। ममत्व, स्वामित्व और स्वत्व का दान करते-करते जब अहत्व का दान हो जाता है, तभी दान की सर्वोच्च भूमिका आती है। यही दान की व्याख्या मे सर्वोच्च कल्पना है। निष्कर्ष यह है कि दाता पर अहता, ममता, स्वामित्व और स्वत्व का आक्रमण न हो, और न ही दाता अहत्व-ममत्व पर आक्रमण करे। यानी न तो दाता अहता-ममता के पीछे लगेगा और न ही अहता-ममता दाता के पीछे लगेगी। दान की यही सर्वोच्च अवस्था है, जिसे 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्' की व्याख्या में स्वीकृत किया गया है।

जगडूशाह के दान के पीछे यही मनोवृत्ति थी। वह देता था, मुक्त हस्त से, परन्तु साथ ही उसमे दान के साथ निरभिमानता, नम्रता अर्पण की भावना थी। वह स्वत्व, ममत्व और स्वामित्व के साथ अहत्व का विसर्जन दान करते समय किया करता था। उसकी अहता के विसर्जन का सबसे प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वह दान देते समय पर्दे के पीछे बैठा करता था और केवल व्यक्ति के हाथ को देखकर दान दे दिया करता था। वह इसलिए कि स्वय को अहकार न आये, दूसरा कारण यह भी था कि लेने वाले के मन मे हीन भावना न आए। दान-शूर जगडूशाह इसी अहता का भी दान साथ-साथ दे देता था।

लखनऊ के नवाब आसफुद्दौला के विषय मे पूज्य गुरुदेव स्व० महास्थविर ताराचन्दजी महाराज कहा करते थे कि वे गुप्तरूप से बहुत दान दिया करते थे। जब कोई मनुष्य उनके महल के पास से थाली मे कुछ लेकर निकलता तो वे युक्ति से उसमे सोने की अशर्फी डाल देते थे। थाली ले जाने वाले को बिलकुल पता नही लगता, जब वह व्यक्ति घर पहुँचता और थाली मे पडी हुई सोने की अशर्फी देखता, तब उसे बहुत खुशी होती। नवाब की दानशीलता देख कर किसी ने उनसे कहा—'आप बहुत ही बडे दानी हैं।' तब आसफुद्दौला कहते—मुझे मनुष्य दानी न कहें, इसीलिए तो मैं चुपके से दान देता हूँ।"

सचमुच नवाब का दान के साथ अहत्व त्याग बहुत ही ऊँचे स्तर का था।

दान के साथ अहत्त्व का त्याग करने के लिए कई लोग तो दान देते समय अपनी आँखें नीची कर लेते हैं। यह भी एक सद्गुण है।

एक शेखजी थे। वे गरीब, दुःखी, अपाहिज आदि लोगों को बहुत दान दिया करते थे। एक बार उनसे किसी ने पूछा—जब आप दान देते हैं, तो नीची निगाह क्यों कर लेते हैं ?

"कैसे सीखे शेखजी ऐसी देना देन ?
ज्यों-ज्यों कर ऊँचा करो, नीचा राखो नैन ॥"

उन्होंने भी कविता में ही उसका उत्तर दिया—

देने वाला और है, भेजत है दिन रैन।
लोग नाम हमरो कहे, तातें नीचे नैन ॥

यहाँ भाव स्पष्ट है कि देने वाला तो खुदा है, जो रातदिन भेजता ही रहता है, उसी का दिया हुआ है; परन्तु जब मैं किसी को कुछ देता हूँ तो लोग कहते हैं— शेखजी ने दिया है, मैं देने वाला कौन हूँ ? मैं तो उनका ही दिया हुआ देता हूँ। इस कारण मैं अपनी आँखें नीची कर लेता हूँ, ताकि लोगों को मेरा नाम कहने की आदत मिट जायगी। कितना प्रामाणिक प्रयत्न है—अहंत्व त्याग का ! ऐसा प्रामाणिक प्रयत्न हो तो दान के साथ अहंत्व का त्याग होते क्या देर लगती है ?

दान के साथ अहंत्व-विसर्जन अत्यन्त कठिन

कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य दान देते समय स्वत्व और स्वामित्व का विसर्जन उस देय वस्तु पर से कर लेता है, ममत्व भी छोड़ देता है, परन्तु दान के साथ जो अहंत्व का त्याग करना चाहिए, उसमें असफल हो जाता है। हजारों-लाखों में से इनेगिने ही ऐसे मिलेंगे, जो दान तो करते हों, पर अपना नाम न चाहते हों, मन को गुदगुदाने वाली प्रसिद्धि और वाहवाही से बिलकुल निःस्पृह रहते हों।

दान के पूर्वोक्त लक्षणों के उत्तरार्द्ध में जिस स्व का परित्याग करने की बात है, जीवन के गाढ़े पसीने की कमाई से प्राप्त होने पर भी उस पर से ममत्व छूटना कठिन है, अगर ममत्व और स्वामित्व भी छूट जाए तो भी उस दान के निमित्त से होने वाले अहं, गौरव-गुणगान, प्रसिद्धिलालसा, कीर्तिलिप्सा, नामवरी वाली वाहवाही की इच्छा आदि अहंत्व का छूटना जब ही कठिन होता है यह छूट जाय तो दान अपने आप में सर्वांग लक्षणों से युक्त हो सकता है। बहुत-से लोगों के पास श्री तो होती है, पर श्रीमत्ता अथवा श्री का वैभव नहीं होता। श्री का वैभव या श्रीमत्ता तब आती है, जब श्री के साथ अहंकार न हो, नम्रता, दयालुता, कोमलता, करुणा और आत्मीयता हो, तथा श्री के दान के साथ भी नामना-कामना प्रसिद्धिलिप्सा आदि का अहंत्व न हो, अहंता-ममता न हो। तभी उस दान को वास्तव में निष्कलंक दान कहा जा सकता है।

स्वत्व विसर्जन के बाद पुनः स्वत्व स्थापित करना ठीक नहीं

कई बार मनुष्य अपने स्वत्व का विसर्जन करने के बाद पुनः लोभवश या

स्वार्थवश दी हुई वस्तु मे पुन: अपना स्वत्व स्थापित कर लेता है, या उस दी हुई वस्तु को पुन: ले लेता है अथवा अपने उपयोग मे लेने लगता है, यह ठीक नही। यह दान का कलक है। कई जगह धर्मशालाओ का यही हाल हो रहा है। उन मकानो पर नाम धर्मशाला लिखा है, पर उनका उपयोग धर्मशाला के रूप मे नही होता, वहाँ किसी भी यात्री या अतिथि को ठहरने नहीं दिया जाता; उसका उपयोग केवल धर्मशाला बनाने वाले का परिवार ही कर रहा है। इसी प्रकार कई जमीन-जायदादें किसी के बाप-दादो ने दान मे दे दी हैं, पर जिनको वे दी गई थी, या जिनकी मौजूदगी मे वे दी गई थी, वे अब नहीं रहे, इस कारण उनके परिवार वालों ने या उसके ट्रस्टिया ने या सम्बन्धित अधिकारियो ने उन दान मे प्रदत्त जमीन-जायदादो पर अपना कब्जा जमा लिया है, उसकी आय का उपयोग वे स्वय करने लगे हैं। इसीलिए भारतीय सस्कृति मे दान के साथ यह शर्त रखी गई है कि दिया हुआ दान यानी स्वत्व विसर्जन किया हुआ पदार्थ वापस नही लिया जा सकता।

कहते हैं, सत्यवादी दानी राजा हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र ऋषि को अपना सारा राज्य दान मे दे दिया था, उसका सकल्प भी विश्वामित्रजी के सामने कर लिया था। किन्तु जब दान के बाद उस दान को पक्का करने की दृष्टि से विश्वामित्रजी ने दक्षिणा मागी तो भ्रान्तिवश अपने द्वारा प्रदत्त राज्य के खजाने मे से देने लगे। मगर विश्वामित्रजी को तो उनके दान की कसौटी करनी थी, इसलिए वे बोले—'राजन्! इसमे से अब दक्षिणा देने का अधिकार तुम्हे कहाँ है? जब सारा राज्य तुम मुझे दान मे दे चुके हो, तब फिर राज्य के कोष पर तुम्हारा अधिकार, तुम्हारा स्वामित्व कहाँ रहा?' हरिश्चन्द्र तुरत समझ गये, उन्होने अपनी भूल स्वीकार की, और स्वत्व विसर्जन करने के बाद पुन स्वत्व स्थापित करने के विचार के लिए क्षमा मागी। और राजपाट एव अयोध्या छोड़कर सादे वेष मे राजा हरिश्चन्द्र रानी तारामती और पुत्र रोहिताश्व काशी की ओर प्रस्थान कर गये। काशी मे इसलिए गए कि काशी पूर्वजो के द्वारा इस राज्य से अलग ही रखी हुई थी। वहाँ जाकर राजा और रानी ने स्वय श्रम किया, पति-पत्नी दोनो बिके और अपने सकल्प के अनुसार स्वोपार्जित सम्पत्ति से विश्वामित्र को दक्षिणा चुकाई। इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र ने दिये हुए दान पर पुन अपना स्वामित्व या स्वत्व स्थापित नही किया। भारतीय सस्कृति के अनुसार उन्होंने पूर्णत. स्वत्व विसर्जन कर दिया।

हाँ, यह तो हो सकता था कि राज्य दान करने के बाद जिसको वह दान दिया गया है, उनकी अनुमति से उनके प्रतिनिधि बन कर राज्य-सचालन करे। परन्तु उस संचालन में राज्य पर स्वामित्व उस राजा का नही रहता था, वह तो केवल उनका सेवक या प्रतिनिधि बनकर राज्य-सचालन करता था।

समर्थ स्वामी रामदास के शिष्य छत्रपति शिवाजी अपने गुरु की मस्ती और आनन्द को देखकर सोचने लगे—इन राज्य, शासन, देशभक्ति और अन्य परेशान

करने वाले दायित्वों से छुटकारा पा लिया जाए तो अच्छा। अतः एक दिन जब समर्थ गुरु रामदास का आगमन हुआ तो शिवाजी ने कहा—'गुरुदेव ! मैं राज्य के इन झंझटों से उकता गया हूँ। एक समस्या का समाधान करता हूँ तो दूसरी आ खड़ी होती है। नित नई उलझनें आती हैं। अतः सोच रहा हूँ, मैं भी अब संन्यास ग्रहण कर लूँ।' गुरुदेव ने सहज-भाव से कहा—'संन्यास ! ले लो, इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है।' शिवाजी पुलकित हो उठे। वे तो सोच रहे थे कि गुरुदेव इसके लिए अनुमति नहीं देंगे, बहुत मनाना पड़ेगा इन्हें। मगर बात आसानी से बन गई। अतः शिवाजी ने कहा—'तो फिर आपकी दृष्टि का ऐसा कोई योग्य व्यक्ति बताइए, गुरुदेव ! जिसे मैं राजकाज सौंप कर आत्म-कल्याण की साधना करूँ और आपके सान्निध्य में रह सकूँ।' गुरुदेव बोले—'मुझे राज्य दे दे और चला जा निश्चिन्त होकर वन में। मैं चलाऊँगा राज्य का कामकाज।' तुरंत ही शिवाजी ने हाथ में जल लेकर राज्य दान का संकल्प कर लिया। राज्य का दानपत्र भी लिखकर उन्हें दे दिया और वे उसी वेश में जाने को उद्यत हुए। वहाँ से निकलने और भविष्य के प्रबन्ध के लिए उन्होंने कुछ मुद्राएँ साथ में लेनी चाहीं। पर स्वामी जी ने यह कहकर मुद्राएँ ले जाने से इन्कार कर दिया कि अब तो तुम राज्य का दान कर चुके हो। राजकोष पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है।' 'हाँ, गुरुदेव ! यह ठीक है' कहकर शिवाजी रुक गए। फिर वे महल में जाने के लिए तैयार हुए तो गुरुजी ने फिर रोका —'सुनो ! महल में भी तुम नहीं जा सकते। अब जैसे हो, उसी स्थिति में तुम्हें यहाँ से चले जाना चाहिए।' शिवाजी उसी स्थिति में बाहर चल दिए। स्वामी जी ने जाते-जाते कहा—'देखो, इस राज्य की सीमा में भी मत रुकना। स्मरण रहे, तुम राज्य को दान कर चुके हो।' 'जो आज्ञा गुरुदेव !' शिवाजी ने कहा। जब शिवाजी चलने लगे तो स्वामी जी ने रोककर पुनः पूछा—'सुनो ! तुम जा तो रहे हो, परन्तु भविष्य में निर्वाह की क्या व्यवस्था करोगे ?' 'जो भी हो जाए।' शिवाजी ने कहा। 'फिर भी कुछ तो सोचा होगा।' 'सोचा क्या है, कहीं मेहनत-मजदूरी तो मिलेगी। किसी की नौकरी करके ही अपना गुजारा चला लूँगा।'' विदा होते हुए शिवाजी बोले। 'अच्छा तो नौकरी ही करनी है तो मैं तुम्हारे लिए एक बढ़िया नौकरी की व्यवस्था कर सकता हूँ।'

"बड़ी कृपा होगी", शिवाजी का उत्तर था। "तुम यह राज्य तो मुझे दे ही चुके हो। अब मैं जिसे चाहूँ, उसे इसकी देखरेख और व्यवस्था के लिए नियुक्त कर सकता हूँ। अब मुझे किसी योग्य व्यक्ति की इसके लिए तलाश करनी पड़ेगी, सो सोचता हूँ, तुम ही इसके लिए सबसे ज्यादा योग्य हो सकते हो। इस भाव से राज्य संचालन का दायित्व संभालना कि तुम केवल सेवकमात्र हो। राज्य मेरी अमानत है। वस्तुतः तुम इसके स्वामी नहीं हो।" और इसके बाद शिवाजी को कभी कोई झंझट नहीं हुई। स्वामिभाव से नहीं, पर सेवकभाव से राज्य के खर्च का उपयोग करते रह कर वे जीवनभर सहजता से इस दायित्व को निभाते रहे।

यह था स्वत्व विसर्जन करके पुनः आदाता की अनुमति या इच्छा से उसके सेवकमात्र रहकर प्रदत्त वस्तु को सभालने की प्रक्रिया !

महात्मा गांधी जी की बताई हुई ट्रस्टीशिप की भावना और इसमे थोड़ा-सा अन्तर है। ट्रस्टीशिप मे अपनी वस्तु पर से आंशिक स्वत्त्व या स्वामित्व तो हट जाता है, परन्तु उसका उपयोग भी वह कर लेता है, जबकि स्वत्व-विसर्जन के बाद प्रतिनिधि के रूप मे कार्यभार सँभालने मे दाता केवल सेवक बनकर रहता है, और नौकरी के रूप मे वेतन ले लेता है। इसलिए ट्रस्टीशिप की व्यवस्था मे ट्रस्टी का आंशिक स्वामित्व उस वस्तु पर रहता है, जबकि स्वत्व-विसर्जनकर्ता मे पुनः सचालन हेतु हाथ मे उस वस्तु को लेने पर भी उसका स्वामित्व नही रहता।

किन्तु स्वामित्व-विसर्जन के बाद यह बात निश्चित होती है कि वह वस्तु पुनः अपने अधिकार या स्वामित्व मे नही ली जा सकती। दान के साथ यह कड़ी शर्त रखी गई है।

गुजरात के सुलतान मुजफ्फरखान के समय मे एक खोजे राज्य-कर्मचारी ने एक जागीरदार की जागीर जप्त करके बहुत-सा धन लाकर बादशाह के सामने पेश किया। सुलतान ने पूछा—"यह धन किसका है ? कहाँ से लाए हो ? राजकर्मचारी बोला—"यह धन बादशाह का है। पहले मुजफ्फरशाह के समय धार्मिक पुरुषो को जितनी जागीरें दी गई थीं, उस समय से उनकी आय भी बढ़ती ही गई। जब मैंने वहाँ जाकर जाच-पडताल की तो मालूम हुआ कि असली जागीरदार तो मर चुका। इसलिए उसकी मृत्यु के बाद उसकी जागीर की जितनी आय थी, वह सब इकट्ठी करके आपके सामने पेश की है।" बादशाह ने उसे उपालम्भ देते हुए कहा—"अरे बेवकूफ ! निर्लज्ज ! तुझे क्या कहूँ, तेरी अक्ल कहाँ चरने गई है ? तूने यह नही सोचा कि जागीरदार तो मर गये, लेकिन उनके लड़के-लड़कियाँ और परिवार के अन्य लोग तो होंगे। वे बेचारे अब क्या खाएँगे ? क्या दान मे दी हुई वस्तु वापस ली जा सकती है ? तूने अपनी खुद की मर्जी से बहुत बुरा किया है। इसलिए जिन-जिनका यह पैसा लाए हो, उन्हे वापस सौंप दो और उन्हे उनकी जागीरें भी वापस करदो। अपने बुरे कृत्य के बदले उनसे माफी माँगो।" वास्तव मे एक बार स्वत्व-विसर्जन करने के बाद उस वस्तु को वापस लेना या लेने की इच्छा करना या नीयत रखना दान का कलक है। ☆

4

दान के लक्षण और वर्तमान के कुछ दान

दान के अब तक बताये हुए लक्षणों से यह बात तो स्पष्ट हो जानी चाहिए कि दान किसी पर एहसान करने, दबाव डालने, अपनी चीज को अविवेकपूर्वक फेंक देने या अपना अभिमान प्रगट करने की चीज नहीं और न ही केवल त्याग कर देने या सिर्फ दे देने को ही दान कहा जा सकता है। दान के उद्देश्य को भी स्पष्ट करते हुए यह कहा जा चुका है कि दान स्व और पर की अनुग्रहबुद्धि या उपकार भावना से होना चाहिए। जिस दान के पीछे अपनी और पराई अनुग्रह-बुद्धि नहीं है, वह दान वास्तविक दान नहीं है। और यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि अनुग्रह-बुद्धि क्या है? कोई शराबी शराब मांगता है, कोई जुआरी जुए में हार गया, वह जुए में जीतने के लिए धन चाहता है, कोई व्यक्ति स्वस्थ और सशक्त होते हुए भी, और धनादि परिग्रह का त्यागी न होते हुए भी बैठे-बैठे खाने के लिए दान चाहता है, कोई दुर्व्यसनी अपने व्यसन-पोषण के लिए पैसे चाहता है, इन और ऐसी ही कोटि के अन्य लोगों को अपनी मांगी हुई धन, साधन या सामग्री इत्यादि चीजें दे देना उन पर अनुग्रह-बुद्धि नहीं है, और अनुग्रहबुद्धि न होने से उनको दिया हुआ दान दान के लक्षणों के अन्तर्गत नहीं आता।

परन्तु वर्तमान युग में इस प्रकार की दान की कुछ परम्परा चल पड़ी है, जिसे रीतिरिवाज, रूढ़ि या परम्परा के नाम पर अपनी वस्तु देकर दान का नाम दिया जाता है। ऐसा तथाकथित दान बाप-दादों की चलाई हुई प्रथा के रूप में भी दिया जाता है। जैसे चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, संक्रान्ति आदि पर्वतिथियों पर अमुक वर्ग को दान देने का रिवाज है। हिन्दू-समाज में अमुक वर्ग अपने-आप को उस दान के लेने का अधिकारी मानता है। वह दान भी अमुक धर्मग्रन्थों में फलयुक्त बताकर स्वपरानुग्रह-कारक सिद्ध किया गया है। परन्तु स्व-परानुग्रह की पूर्वपृष्ठों में बताई गई कसौटी पर कसने से वह न तो परानुग्रहकारी सिद्ध होता है, और न ही स्वानुग्रहकारक। बल्कि कई प्रथाएँ तो ऐसी हैं कि उनमें अमुकवर्ग अपने दान लेने का अधिकारी मान कर जबरन दान लेता है; दाता पर दबाव डालकर एक परम्परा के नाम पर दान लिया जाता है और दाता यह सोचकर देता है कि अगर मैंने इन्हें नहीं दिया तो मेरी ये अपकीर्ति करेंगे, मुझे दुराशीष देंगे, मुझे नरक में जाने या मुझे निःसन्तान होने का

शाप दे देंगे, मुझे तिर्यंचगति मे किसी पशु की योनि मे या नरक मे जाने का भय दिखायेंगे। भला, इस प्रकार के दवाब, श्राप, दुराशीष अपकीर्ति या नरकादि के भय से प्रेरित होकर दिया जाने वाला दान क्या स्व परानुग्रहकारक या सच्चे माने मे स्वत्वविसर्जनयुक्त होता है? बल्कि इस प्रकार का दान दान या एक विकार और दान देने की श्रद्धा को उखाड़न वाला बन जाता है। ऐसे दान से समाज मे कई बार आलस्य, व्यभिचार और अनीति का पोषण होता देखा गया है।

मध्ययुग मे दान शब्द कुछ विकृत अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। कुछ लोग गलत ढग से केवल रूढ़ि या परम्परा के आधार पर दान के अधिकारी बन बैठे। दान देने वाले मे भी कोई विवेक नही रहा। कोई व्यक्ति दूसरे की सहज आजीविका छीन लेता है, इसी स वह धनी हो जाता है, दूसरा गरीब। फिर वह पुण्योपार्जन करने के लिए गरीबो को कुछ दे देता है, उसी म वह दानवीर या दानेश्वरी कहलाने लगता है। वह यही समझता है कि गरीबो आर्थिक सकट या विपन्नता के लिए वह या उसका शोषण आदि बिलकुल जिम्मेदार नहीं है। गरीबी को समाप्त करने का भी उन पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है। वे दान देते हैं, केवल पुण्य कर्म मानकर, पुण्योपार्जन के लिए। 'गरीबो का अपने धन मे हिस्सा है' यह वह नहीं मानता। इसलिए दान केवल धनिको की कृपा पर आधारित होकर रह गया। इस प्रकार की वृत्ति मे गरीबो को धनिको म लेने का हक नहीं, उनकी इच्छा और दया हो जाय तो दे सकते हैं, नहीं तो नहीं। ऐसी दशा म गरीबो की अप्रतिष्ठा और पुण्यहीनता सिद्ध हो गई। दान देने वाले भी और न देने वाले भी गरीबो के पाप कर्म के फलस्वरूप ही गरीबी मानने लगे। और दान का अर्थ केवल भीख मांगने की तरह गरीबो द्वारा धनिको से मांगना हो गया। दान लेने वाला और देने वाला दोनो ही दान का गलत अर्थ पकड़ कर चल पड़े। महाभारत का 'दरिद्रान् भर कौन्तेय!' ईसाईमत का (Charity) (चैरिटी) अथवा इस्लाम मजहब का खैरात अभावग्रस्त या गरीब लोगो के लिए कोई आशा का सन्देश नही देता। इस प्रकार भिक्षा के रूप म दिया जाने वाला दरिद्र की दरिद्रता को कभी समाप्त नहीं करता। न ऐसे दान से दुर्दैवग्रस्तो का धनिको के सामने हाथ फैलाना समाप्त होता है। दान के इस विकृत अर्थ से धनिकों को अपने आत्मानुग्रह हेतु कर्तव्य बुद्धि से या अपने पाप के प्रायश्चित्त के रूप मे दान देने की कभी प्रेरणा नही होती। इसीलिए एक व्यक्ति ने तो ऐसे विकृत अर्थ वाले दान पर कटाक्ष करते हुए कहा था—**दान अगणित दरिद्र पैदा करने की कला है।**

एक ईसाई सन्त हो गये हैं—सत विन्सेण्टपाल। उन्होंने गरीबों पर दया करके दान देना शुरू किया। पहले दिन १० गरीब थे। दूसरे दिन २० हुए, तीसरे दिन ५० से अधिक और इस तरह गणित शास्त्र की गुणोत्तर वृद्धि से भी अधिक उनकी सख्या बढ़ती गई। और फिर एक दिन राजा के मन्त्री कॉलबर्ट ने उस सत की दुरवस्था देखकर आलोचना की— ऐसा मालूम होता है, हमारा भाई अपने गरीब लोगों को अनगिनत पैदा करने जा रहा है।

इस आलोचना पर सन्त ने प्रभु प्रार्थना के बाद ठंडे दिल से विचार किया। उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई। अब वे गरीब को काम देने लगे, धीरे-धीरे उनकी माँगने की आदत मिटाई और अपने श्रम से कमाकर खाने की आदत डाली। श्रम करने के लिए उन्होंने कुछ साधन एवं औजार आदि भी दिये। जिससे वे स्वावलम्बी होने लगे।

कई व्यक्ति दरिद्र को थोड़ा-सा कुछ दे देने की अपेक्षा उसे कुछ मेहनत के बदले देने को सच्चा दान कहते हैं।

कहते हैं, अमेरिका के एक शहर में दो मित्र एक गिरजाघर जा रहे थे। इस गिरजाघर के बाहर कुछ लूले-लंगड़े भिखारी पड़े हुए थे। उन्हें देखकर एक मित्र को दया आ गई। यों तो दया दोनों के हृदयों में पैदा हुई थी। मगर एक ने अपनी दया को सफल करने के लिए कुछ पैसे जेब से निकाल कर एक लँगड़े भिखारी को दे दिये। यह देखकर दूसरे मित्र ने कहा—'तुमने इस पर दया तो की किन्तु यह तो भिखारी का भिखारी रहा। हृदय में दया उत्पन्न होने और पैसा दे देने पर भी उसका भिखारीपन तो नहीं मिटा। दूसरे मित्र ने पैसा देने वाले मित्र से कहा—'अगर हमारे अन्तःकरण में उस भिखारी के प्रति सचमुच अनुकम्पा हो तो हमें कुछ पैसे देकर ही छुटकारा नहीं पा लेना चाहिए। वरन् उसका भिखारीपन दूर करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। भिखारी पर दया करके तुमने पैसे का ममत्व त्याग किया है, यह तो ठीक है, मगर तुमने सच्ची दया या सच्चे दान का परिचय नहीं दिया।' यों कहकर दूसरा मित्र उस लँगड़े भिखारी को अपने घर ले गया और उसके बनावटी पैर लगवा कर उसे इस योग्य बना दिया कि वह चल-फिर सके, उसके बाद उसे कोई ऐसा काम सिखला दिया कि उसे फिर भीख न माँगनी पड़े।

यही सच्चे माने में स्व-परानुग्रह पूर्वक स्वत्व विसर्जन है। क्योंकि इसमें लँगड़े की आलस्यादि किसी दुर्वृत्ति का पोषण नहीं, केवल उसे स्वावलम्बी बनाने के लिए थोड़ी-सी सहायता दी गई। इसी प्रकार स्वत्व विसर्जन के साथ-साथ व्यक्ति को जरा-सा सहारा देकर ऊँचा उठाने हेतु दिया जाय तो वह सच्चे माने में परानुग्रह होगा और उस दान से स्वानुग्रह—अपनी आत्मा में भी उदारता आदि सद्गुणों का विकास भी होता है। परन्तु इसके विपरीत जहाँ सच्चे अर्थ में स्व-परानुग्रह तो न हो केवल आलस्य या दारिद्र्य वृद्धि लिए स्वत्व विसर्जन किया जाय तो उसमें दान का वास्तविक लक्षण घटित नहीं होता। परम्परागत रूप में प्रचलित रूढ़ि के पोषण के लिए किसी व्यक्ति के आलस्य का या हिंसादि अथवा विलासिता के पोषण के लिए दान देना उसके प्रति अनुग्रह नहीं है, उसकी आत्मा को निम्न कोटि का बनाना है। उसका पतन करता है। इसलिए यह फलित हुआ कि स्वयमेव दान देने वाला प्रसन्नता से दान देने के लिए प्रेरित हो, लेने वाले को हीनभावना से तथा स्वयं को उच्च-भावना से न देखे, और परम्परागत रूढ़ि-पोषण के रूप में किसी व्यक्ति के आलस्य

या अनीति के पोषण के लिए दान देना भी हितावह नही। और न ही नामबरी या यश का प्रलोभन देकर किसी लोक सेवार्थ दान उगाहना शुद्ध दान है।

जिस वस्तु पर आज तक मेरा स्वामित्व रहा, उस वस्तु पर आज से तुम्हारा स्वामित्व हुआ, मैं अपनी ओर से कुछ नही दे रहा हूँ, समाज की ओर से समाज की अमानत या वैदिक दृष्टि से कहे तो ईश्वर के द्वारा प्रदत्त वस्तु ही तुम्हे दे रहा हूँ इसमे मेरा अपना कुछ नही है, यही वास्तविक दान है। इसमे 'अहत्व' की भावना का भी विसर्जन हो जाता है।

रिचर्ड रेनाल्ड्स बडे ही उदार हृदय के दानी सज्जन थे। वे चुपचाप किसी भी समाजकल्याणकारी प्रवृत्ति के लिए लगातार सहायता करते रहते थे। एक बार एक महिला, जो किसी अनाथालय की सचालिका थी, उनके पास उसके लिए कुछ निश्चित रकम माँगने आई। उसने सोचा था—'इतना तो वहाँ से मिल ही जाएगा। उसने सस्था की गतिविधियो की उन्ह जानकारी दी और अपनी इच्छा भी व्यक्त की। रेनाल्ड्स ने उनकी सस्था की काफी तारीफ करते हुए उन्हें खूब डटकर सहायता राशि देने की उदारता बतलाई।

भारी भरकम रकम का चैक हाथ मे थामे वह भद्रमहिला उन्हे धन्यवाद देती हुई बोली—'सर ! जब ये बालक बडे हो जायेंगे, तब मैं उन्हें आपको धन्यवाद देने के लिए तथा आगे भी आपको बराबर धन्यवाद देते रहने को प्रेरित करूँगी, क्योकि आपकी सहायता (दान) से ही उनका केरियर बन पाएगा।' तभी रेनाल्ड्स ने उन्हें रोका—नही, ऐसा मत कीजिएगा, बहन ! ऐसा करके आप मुझे निश्चय ही शर्मिन्दा होने का अवसर दे देगी। क्योकि जब बादल बरसते हैं तो हम उन्ह धन्यवाद नहीं देते। बालक जब बडे हो जाय तो आप उन्हे यह सिखाइए कि वे परमात्मा को धन्यवाद दें, जिसने बादल, बरसात और बरसात की जरूरत वाली यह धरती, तीनों को बनाया है।'

सचमुच रेनाल्ड्स की दान के साथ अहत्व विसर्जन की भावना यह बताती है कि मैं दान के लिए धन्यवाद का प्रतिदान नही चाहता, धन्यवाद देना हो तो, भगवान् को दो, जिनकी कृपा से यह सब प्राप्त हुआ है। अथवा समाज को धन्यवाद दो, जिसका ऋण उतारने का मुझे अवसर मिल रहा है।'

इस विवेचन का फलित यह है कि जिस देने मे किसी प्रकार का भय, प्रतिफल की आकाक्षा अथवा दूसरे को हीन समझ कर देने की भावना हो वह दान दान नहीं है।

5

दान और संविभाग

यथाशक्ति संविभाग ही दान है

पिछले प्रकरण में वर्तमान के कुछ दानों की चर्चा की थी, भय, अहंत्व प्रतिष्ठा कामना आदि के साथ दान देने की व्यर्थता बताई गई है। मनीषियों ने दान के साथ लगी हुई इस अहंत्ववृत्ति या नाम, प्रसिद्धि आदि की विकारीवृत्ति को मिटाने के लिए, अथवा दान में आदाता के मन में हीनभावना और दाता के मन में गौरव भावना आने को रोकने के लिए दान के साथ परिष्कार जोड़ा है 'संविभाग करना दान है।' आद्यशंकराचार्य ने दान का अर्थ किया है—'दानं संविभागः' दान का अर्थ है—सम्यक् वितरण—यथार्थ विभाग, अथवा संगत विभाग। अपने पास जो कुछ है, उसका यथाशक्ति उचित विभाजन करने के अर्थ में दान शब्द का प्रयोग स्वामित्व, स्वत्व, ममत्व और अहंत्व की वृत्ति को कोई गुंजाइश ही नहीं देता।

चूंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। किसी मनुष्य ने जो कुछ पाया है, या जो कुछ पाने में वह समर्थ हुआ है, उसमें सारे समाज का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग है, इसलिए मनुष्य समाज का ऋणी है और समाज प्रत्येक मनुष्य से उसका हिस्सा पाने का अधिकारी है। इस दृष्टि से यह निष्कर्ष सहज ही फलित है कि दान किसी पर एहसान नहीं, किन्तु दान समाज के ऋण का प्रतिदान या उचित विभाग है, वह एक सहज मानव कर्तव्य है। इस प्रकार दान दया या कृपा के रूप में नहीं, अपितु एक अधिकार के रूप में, समाज के अंगविशेष को अपना आवश्यक कर्तव्य समझकर देना है।

इसलिए संविभाग के अर्थ में जो दान है, वह दान का परिष्कृत अर्थ है, और इसी अर्थ में दान को जैन धर्म ने स्वीकार किया है। गृहस्थ श्रावक (श्रमणोपासक) के लिए बारहवाँ यथासंविभागव्रत (अहासंविभाग) निश्चित किया है, यहाँ दान शब्द से अहंत्व, हीनत्व-गौरवत्व की भावना आ जाने के अंदेशे के कारण दान शब्द का प्रयोग न करके, 'यथा-संविभाग' का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ भी लगभग वही है, जो ऊपर बताया गया है। तुम्हारे पास जो भी वस्तु है, उनमें से जिसके (जिस जघन्य, मध्यम, उत्तम पात्र के) लिए जो उचित हो, उस यथोचित वस्तु का सम्यक (यथोचित) विभाग कर दो। यानी उसके

यही कारण है कि कुछ व्यापारी लोगो में यह परम्परा रही है कि व अपनी आमदनी का एक निश्चित हिस्सा दान धर्म के लिए प्रतिवर्ष अलग रखते हैं। वे समय-समय पर आये हुए जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट पात्र को अतिथि समझकर उसकी आवश्यकतानुसार यथोचित देते हैं, इसीलिए बाद मे इस व्रत का नाम अतिथि सविभागव्रत रूढ़ हो गया। इससे पात्र की स्थिति, योग्यता, आवश्यकता आदि देख कर जो कुछ दिया जाता था, वह किसी पर दया या एहसान के रूप में नहीं दिया जाता, पुरानी पद्धति मे सम्पत्ति या साधनो पर अपना पूर्ण हक मानकर दया या एहसान के रूप मे दूसरे को मदद करने की बात थी। इसलिए उसमे दान के साथ अहत्व की भावना या यशोलिप्सा लिपटी हुई रहती थी। यद्यपि दान करने वाले मे दया, नम्रता, सेवाभावना आदि गुण तो होने ही चाहिए। अन्यथा, दान स्व-परानुग्रह, कारक नहीं रहेगा, परन्तु दान के साथ जो विकृति आ जाती है, उसे दूर करने मे दान का यह लक्षण बहुत ही सहायक सिद्ध हुआ है। बल्कि आगे चलकर जब उत्कृष्ट पात्र के लिए ही जहाँ अतिथिसंविभाग शब्द को सीमित कर दिया गया है, वहाँ भी गृहस्थ श्रावक दान देता हुआ जीवनयापन कर रहा है' ऐसा कहने के बजाय 'समणं माहणं पडिलाभेमाणे विहरई' ऐसा पाठ जैनागमो मे जगह-जगह मिलता है। जिसका अर्थ होता है—'श्रमण, ब्राह्मण या साधु-सन्त, अथवा अमुक मध्यम या जघन्य पात्र को आहार आदि देकर प्रतिलाभ लेता हुआ विचरण करता है।' गुजरात आदि मे श्रावक वर्ग मे यही भाषा प्रचलित है, वे साधु-मुनिराजो से जब कभी प्रार्थना करते हैं, तब प्राय बोलते हैं—'स्वामिन्। भात-पानी का लाभ दें।' इसमे स्पष्टत. यही अर्थ झलकता है कि मुझसे अमुक कल्पनीय वस्तु लेकर या मेरे पास जो साधन हैं उनमे से अमुक हिस्सा लेकर मुझे समाज के उस ऋण से अमुक अश मे मुक्त कीजिए या मुझे अपने कर्तव्य (व्रत) के पालन करने का अवसर दीजिए, यानी श्रमणोपासक गृहस्थ उपकृत भाव से, समाज से प्राप्त लाभ के बदले देकर प्रतिलाभ प्राप्त करना चाहता है।

चूंकि बाद मे प्रतिलाभ शब्द जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द बन गया, इसलिए पड़ोसी धर्मों मे प्रचलित 'दान' शब्द का ही अधिकाश प्रयोग होने लगा।

किन्तु जैन गृहस्थ श्रावक अपने समस्त परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) करता है, वह भी मर्यादा से उपरांत वस्तु या साधनो को अपनी न मानकर समाज की अमानत मानता है और समय-समय पर समाज के विशिष्ट सत्कार्यों मे, या अमुक योग्य पात्रों को देता रहता है। वह दान के योग्य पात्रो मे कई बार कई सस्थाओ को भी देता है। उन्हें भी अतिथि समझता है, क्योकि सस्थाओ के प्रतिनिधियो के आने की भी कोई तिथि नियत नहीं होती। यही कारण है कि 'यथा सविभाग' शब्द बाद मे घिसता-घिसता 'अथिति संविभाग' के रूप मे प्रचलित हो गया।

पहले बताए हुए दान के सभी लक्षणो का इसमे समावेश हो जाता है। क्योकि

स्वपरानुग्रह रूप उद्देश्य तो 'यथा' शब्द में गर्भित हो ही जाता है। क्योंकि दान देने वाला दान देते समय पात्र की स्थिति, आवश्यकता, एवं उसके योग्य वस्तु का विचार करेगा, तो उसमें परानुग्रह तो आ ही जाएगा; रही बात स्वानुग्रह की, वह भी दान देने वाला समाज के ऋण से मुक्त होकर उपकृत होता है, अथवा अपनी आत्मा के लिए प्रतिलाभ प्राप्त करता है, इस प्रक्रिया में आजाता है। स्वत्व-अहत्व विसर्जन भी इसमें गतार्थ है। अगर वह ऐसा नहीं करता है तो उसके लिये यह दान विकृत—दोषयुक्त—अतिचारयुक्त बताया है। इस व्रत में 'यथा' शब्द ही एक ऐसा पद है, जो दान के साथ सब प्रकार का विवेक करने के लिए प्रेरित करता है। 'यथा'—शब्द के प्रकाश में दाता यह देखेगा कि इस दान का पात्र कौन है? उसकी योग्यता, स्थिति और आवश्यकता कितनी है और किस वस्तु की है? इस दान से उनके आलस्य, अन्याय या विलास का पोषण तो नहीं होगा? इसीलिए श्री शंकराचार्य ने भी आगे चलकर केवल 'संविभागः' के बदले 'दानं यथाशक्ति-संविभागः'—जैसी जिसकी शक्ति (योग्यता, क्षमता, आवश्यकता, स्थिति आदि) है, उसके लिए तदनुसार यथोचित विभाग करना दान है, "कहा। इस अर्थ के अन्तर्गत समाज के उस ऋण को अदा करने की प्रक्रिया भी आ जाती है। व्यक्ति माता, पिता, पड़ोसी, गुरु, मित्र, परिवार, जाति, धर्मसंघ आदि की सेवा के कारण पुष्ट होता है, अतः उनकी सेवा करने तथा समाज के इस ऋण को अदा करने की प्रक्रिया को दान कहा जाता है। इस लक्षण में न तो गरीबों की अप्रतिष्ठा है, और न ही धनिकों के अहंत्व का पोषण है। इससे यह भी फलित होता है कि जो अनुचित विभाजन हो गया हो, विषमता आ गई हो, उसे मिटाने के लिए समुचित विभाजन करना दान की प्रक्रिया है, इसी का समावेश 'दानं सम्यक् विभाजनम्' के अन्तर्गत हो जाता है।

दान का परिष्कृत अर्थ शंकराचार्य के अनुसार पूर्वोक्त सभी उद्देश्यों एवं स्वत्व विसर्जन की प्रक्रिया को चरितार्थ करता है।

नीचे की घटना संविभाग के अनुसार घटित होती है—

महाराष्ट्र के संत एकनाथ के जीवन का एक प्रसंग है। एक बार उनके यहाँ श्राद्ध था। भोजन तैयार हो गया। वे घर के द्वार पर खड़े होकर निमन्त्रित ब्राह्मणों की प्रतीक्षा कर रहे थे। इतने में उस ओर से ४-५ ढेढ़ निकले। एकनाथ के घर में बहुत-से मिष्टान्न तथा सुस्वादु भोजन बना था। बाहर तक उसकी महक आ रही थी। ढेढ़ों का मन ललचाया। अतः वे आपस में बातें करने लगे—'भाई! ऐसा भोजन तो हमें देखना भी दुर्लभ है।' दूसरा बोला—'देखना तो दूर रहा, इसकी सुगन्ध भी जीभर कर नहीं पा सकते।' उनकी बातें एकनाथ के कानों में पड़ीं। उनका दयार्द्र हृदय पसीज गया। मन में विचार आया कि इस भोजन के सच्चे अधिकारी तो ये हैं, गीता में कहा है—'दरिद्रान् भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।' दरिद्रों का भरण-पोषण करना चाहिए।' उन्होंने अपनी पत्नी गिरिजाबाई को बुला-

कर कहा—"इन बेचारो ने कभी उत्तम भोजन का स्वाद नही लिया। मैं चाहता हूँ कि श्राद्ध के लिए बना हुआ भोजन इनको दे दिया जाय। ये लोग भोजन करके तृप्त होगे। इनकी आत्मा को सुख मिलेगा।" एकनाथ की पत्नी ने उत्साहपूर्वक कहा—हमारे पास काफी भोजन है। ढेढो की स्त्रियो और बच्चों को बुला लें। वास्तव मे वे इस भोजन के अधिकारी हैं। ब्राह्मणो के लिए मैं शीघ्र ही फिर से रसोई बना लूंगी।' एकनाथ और उनकी पत्नी ने ढेढों और उनके स्त्री बच्चो को बुलाकर प्रेम से भोजन कराया। वे प्रसन्नचित्त से सन्तुष्ट होकर विदा हुए। गिरिजाबाई ने ब्राह्मणो के लिए फिर से रसोई बना ली। परन्तु सारे नगर मे यह बात फैल गई कि एकनाथ ने ब्राह्मणो के लिए बनाया हुआ भोजन चमारो को दे दिया। सभी ब्राह्मणो ने मिलकर निश्चय किया कि एकनाथ के घर कोई भोजन के लिए न जाए। एकनाथ ने नम्रता पूर्वक बहुत समझाया, पर ब्राह्मण टस से मस न हुए। श्रद्धालु एकनाथ को ब्राह्मणो के इन्कार से बडी चिन्ता हुई। सोचने लगे—पितर तृप्त न हुए तो कैसे होगा? परन्तु उनके श्रीखण्ड नामक नौकर ने कहा—"आप निश्चिन्त रहिए, इस प्रकार दिये हुए श्राद्ध भोजन से पितर अवश्य तृप्त होगे।" कहते हैं, पितरो ने स्वय आकर थाली मे परोसा हुआ अन्न ग्रहण किया। इससे एकनाथ को बहुत ही प्रसन्नता हुई। आज उन्होने सच्चा श्राद्ध किया था, पितर क्यों न तृप्त होते। ब्राह्मणो को इस घटना से बहुत लज्जित होना पडा।

वास्तव मे श्राद्ध के निमित्त बने हुए भोजन का दान—सम्यक् विभाग के रूप मे ढेढ लोगो को देकर एकनाथ जी ने अपना दान और श्राद्ध दोनो सार्थक किये।

सविभाग के पीछे भावना

दान का सविभाग अर्थ तभी सार्थक होता है, जब दाता की वैसी भावना बने और वह स्वेच्छा से दान के लिए प्रेरित हो। सविभाग का यह अर्थ नही है कि अमुक के पास अधिक धन है तो उसे हम जबरन ले लें और अमुक साधनहीनो मे वितरित कर दें, या अमुक व्यक्ति पर दबाव डालें कि वह अधिक वस्तुओं का उपयोग न करे। इसके विपरीत दान मे तो ऐश्वर्य और स्वैच्छिक अहोभाव की भूमिका पाई जाती है कि मेरे पास जो कुछ है, उसे मैं सबको कैसे बाँटूं? सविभाग रूप दान मे यह वृत्ति भी नही रहती कि अमुक के पास अमुक वस्तु है तो उसे छीन कर सबको कैसे बाँटूं? अथवा अमुक के पास वस्तु की बहुतायत है, फिर भी वह उसे नहीं देता तो उसे किसी तरह देने के लिए विवश किया जाय। वहाँ तो न देने वाले के मन मे सद्भावना या कर्तव्य भावना जगा देना ही मुख्य है।

इस प्रकार सविभाग रूप दान के पीछे पहले के पृष्ठों मे बताई हुई दान की सभी व्याख्याएँ गतार्थ हो जाती हैं।

'यथासविभाग' का प्राचीन आचार्यों द्वारा कृत अर्थ

यथासविभाग का प्राचीन आचार्यों ने जो अर्थ किया है, वह इस प्रकार है—

'यथासिद्धस्य स्वार्थं निर्वर्तितस्येत्यर्थः अशनादेः समितिसंगतत्वेन पश्चात्कर्मादिदोष परिहारेण विभजनं साधवे दानद्वारेण विभागकरणं यथासंविभागः।'[1]

'जिस प्रकार अपने (गृहस्थ के) घर में आहारादि अपने लिए बना हुआ है, उसका एषणा समिति से संगत पश्चात्कर्म आदि आहार दोषों को टालकर साधु-साध्वी को दान के द्वारा विभाग करना यथासंविभाग है।

प्राचीन आचार्यों ने यथासंविभाग का पूर्वोक्त अर्थ करके श्रावक के बारहवें व्रत को केवल साधु-साध्वियों को दान देने में ही सीमित कर दिया है। संविभाग का यह प्राचीन अर्थ-आत्म शुद्धि की दृष्टि से तो परिपूर्ण है, किन्तु जहाँ सामाजिकता का या मानवता का प्रश्न आता है वहाँ इस पर कुछ व्यापक चिन्तन करना आवश्यक है। यह ठीक है कि सद्‌गृहस्थ अपने शुद्ध निर्दोष आहार आदि में से संयति श्रमण आदि को प्रतिलाभित कर आत्म कल्याण के पथ पर आगे बढ़े, किन्तु गृहस्थ को सदा सर्वत्र संयती अणगारों का योग मिलता कहां है। मुनिजनों का विहार क्षेत्र बहुत सीमित है, बहुत कम अवसर ही जीवन में ऐसे मिलते हैं जब उनको शुद्ध एषणीय आहार आदि देकर धर्मलाभ लिया जाय ऐसी स्थिति में तो दान धर्म का क्षेत्र बहुत ही सीमित हो जायेगा, जब कि यह तो प्रतिदिन प्रत्येक स्थान पर किया जाना चाहिए। इसलिए अतिथि संविभाग को व्यापक अर्थ में लेवें तो यह स्पष्ट होगा कि—उसका मूल उद्देश्य तो गृहस्थ को उदार और लोभ एवं आसक्ति से रहित बनाना था, ताकि वह प्रतिदिन इस व्रत के माध्यम से उदारता का अभ्यास कर सके।

इतने विस्तृत विवेचन पर से दान का लक्षण, परिभाषा और तदनुसार व्याख्याएँ पाठक समझ गए होंगे। वास्तव में दान के जितने भी लक्षण, परिभाषाएँ और व्याख्याएँ हैं, वे सब एक-दूसरे के साथ परस्पर संलग्न हैं। इसीलिए कई आचार्यों ने बाद में दान का परिष्कृत अर्थ भी दे दिया है।

इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि दान मानव जीवन का अनिवार्य धर्म है, इसे छोड़कर जीवन की कोई भी साधना सफल एवं परिपूर्ण नहीं हो सकती, दान के बिना मानव-जीवन नीरस, मनहूस और स्वार्थी है, जबकि दान से मानव जीवन में सरसता, सजीवता और नन्दन वन की सुषमा आ जाती है। ☆

---

1 उपासकदशांग, श्र० १, अ० १

6
दान की तीन श्रेणियाँ

दान और भावना

मनुष्य का मन विविध भावो का भण्डार है। कभी उसके मन मे अत्यन्त उच्च भाव उठते हैं, कभी अत्यन्त निम्नकोटि के भाव उद्बुद्ध होते हैं। उन भावो की भी कई श्रेणियाँ और कोटियाँ हो सकती हैं। जैसे आकाश से बरसने वाला मीठा जल भी विविध स्थलो मे जाकर रंग, रूप एव स्वाद मे बदल जाता है, वैसे ही दान के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रसगो को लेकर मानव मन मे कई कोटि के भाव उठते हैं। कभी वह दान की पूर्वोक्त वास्तविक व्याख्याओ तथा परिभाषाओ की लीक पर चलता है, तो कभी उस लीक से हट कर अलग-अलग भावनाओ मे बहकर दान का प्रवाह निम्न धरातल पर उतर आता है। वे भाव भी अनेक कोटि के और अनेक प्रकार के होते हैं, अत दान भी अनेक कोटि और अनेक प्रकार के होते हैं।

भावना के अनुसार दान का वर्गीकरण

और सच पूछा जाय तो दान का मुख्य सम्बन्ध भी भावों के साथ होता है। भावो का तार जुड़ने पर जिस प्रकार की और जैसी प्रेरणा दान की होती है वह दान वैसा ही कहलाता है। क्या जैन धर्म, क्या बौद्ध धर्म और क्या वैदिक धर्म, सभी धर्मों मे भावो के आधार पर दान का वर्गीकरण किया गया है। दान को नापने और उसका प्रकार निर्धारित करने का थर्मामीटर भाव हैं। इसलिए दान मे दी गई वस्तु उतनी महत्त्वपूर्ण नही मानी जाती, जितनी महत्त्वपूर्ण उसके पीछे दाता की वृत्तियाँ, भावना मानी जाती है। वृत्ति से ही दान की किस्म का पता चलता है। चन्दनबाला ने भगवान् महावीर को सिर्फ मुट्ठीभर उडद के बाकले दान मे दिये थे, परन्तु उन थोड से, अल्पमूल्य उडद के सीजे हुए बाकलो के पीछे भावना उत्तम थी और बड़ी ही श्रद्धा, भक्ति, नि स्वार्थता और नि स्पृहता से वे दिये गये थे। इसी कारण उस दान के साथ देवो ने अहोदानं, अहोदान की घोषणा की थी। एक गरीब से गरीब व्यक्ति भी शुद्ध, नि स्वार्थ एव प्रबल भक्ति भावना से दान देता है, तो चाहे उसकी देयवस्तु बहुत ही अल्प हो, अल्पमूल्य हो, सामान्य हो, मगर उस दान का मूल्य अत्यन्त बढ़ जाता है।

दान में वस्तु मुख्य न होकर अन्तःकरण ही मुख्य है।

दान के पीछे जितनी-जितनी भावना की शुद्धि या अशुद्धि अध्यवसायों की पवित्रता या अपवित्रता होगी, जिस-जिस स्तर की उसके साथ क्रिया होगी, या जिस-जिस श्रेणी की उच्च, मध्यम या क्षुद्र मनोवृत्ति होगी, या जिस-जिस कोटि का हीन, मध्यम या उदात्त विचार दान के पीछे होगा, उसी-उसी विचार, क्रिया, मनोवृत्ति या भावना के अनुसार दान का वर्गीकरण महान पुरुषों ने किया है।

दान की तीन श्रेणियाँ

भावना एवं मनोवृत्ति के अनुसार विद्वानों ने दान को तीन श्रेणियों में निर्धारित किया है—सात्त्विक, राजस और तामस।

भगवद्गीता में सात्त्विक दान, राजसदान और तामसदान की स्पष्ट व्याख्या की गई है, वैसे ही सागारधर्मामृत आदि जैन धर्मग्रन्थों में भी इन तीनों की विशद व्याख्या मिलती है। परन्तु यह निश्चित है कि इन सबमें इन तीन कोटि के दानों का वर्गीकरण किया गया है, भावना अथवा मनोवृत्ति के आधार पर ही।

सात्त्विक दान का लक्षण

अब हम क्रमशः उक्त तीनों का लक्षण देकर साथ ही उस पर विस्तृत चर्चा करेंगे। सर्वप्रथम सात्त्विक दान को ही ले लें। सात्त्विक दान ही उच्चकोटि का दान है। इस दान के पीछे दाता में दान के बदले किसी प्रकार की यश, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि या धन आदि के लाभ की कामना नहीं रहती। निःस्वार्थ और निःस्पृह भाव से ही यह दान दिया जाता है। इस प्रकार के दान का दाता अत्यन्त विवेकी होता है, वह देश, काल, पात्र, पात्र की परिस्थिति, योग्यता और आवश्यकता के अनुसार दूसरों को दान देता है। वह दान के साथ किसी प्रकार की सौदेबाजी नहीं करना चाहता है, न ही अपने नाम की तख्ती लगाना चाहता है, और न समाचार पत्रों में अपना नाम दानवीरों में या उच्च पद के साथ प्रकाशित करवाना चाहता है। उसके द्वारा देय वस्तु भी सात्त्विक होती है। वह ऐसी किसी भी देय वस्तु को नहीं देता, जो नशीली हो, मारक हो, व्यक्ति का प्रमाद, आलस्य या अनीति में डाल दे। अथवा व्यक्ति का जीवन संकट में डाल दे। ऐसा सात्त्विक दान देने वाले की आत्मा का भी विकास, शुद्धि और अनुग्रह करता है और लेने वाले का भी हित, कल्याण, विकास, शुद्धि और अनुग्रह करता है। ऐसे सात्त्विक दान का दाता भी श्रद्धा, भक्ति, एकान्त हितैषिता और उपकृत भावों से ओतप्रोत होता है और आदाता को वह सत्कारपूर्वक एवं श्रद्धापूर्वक देता है, आदाता भी बहुत ही पवित्र और उपकृत भावों से उसे ग्रहण करता है, वह भी लिए हुए उस दान से धर्मार्जन करता है, दान पाकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना एवं स्व-पर कल्याण साधना के लिए पुरुषार्थ (श्रम) करता है,

उस दान को लेने वाला स्व-परश्रेय के लिए उद्यम करके दान को सार्थक कर देता है। इसीलिए सात्त्विक दान का लक्षण किया गया है—

—"जो दान देश, काल (स्थिति) और पात्र देखकर जिसने कभी अपना उपकार नहीं किया है, ऐसे व्यक्ति को भी, 'इसे देना मेरा कर्तव्य है', यह समझकर दिया जाता है, उस दान को सात्त्विक दान माना गया है।"[1] तात्पर्य यह है कि योग्य देश यानी योग्य क्षेत्र या कार्य मे, उचित समय में जो उत्तरोत्तर पुण्य प्रेरणा का बीजारोपण करता रहे, ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को कर्तव्य-भावना से, किसी भी प्रकार के प्रत्युपकार की अपेक्षा के बिना जो दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहलाता है। ऐसे सात्त्विक दान का लक्ष्य समाज मे दैवी भाव का निर्माण करना होता है। वस्तुतः सात्त्विक दान मे स्व और पर की अनुग्रह बुद्धि, देश, काल, पात्र का विवेक, तथा स्वत्व, ममत्व, स्वामित्व और अहत्व का परित्याग होता है, इसलिए वह दान के परिष्कृत पूर्वोक्त लक्षणो के अन्तर्गत आता है। सात्त्विक कोटि के दान मे दाता की श्रद्धा, भावना और शुद्धि की मनोवृत्ति, कर्त्तव्य बुद्धि आदि उन्नत और जागरूक होती है। इसीलिए गृहस्थाचार्यकल्प प० आशाधरजी ने जैनधर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ सागार-धर्मामृत मे सात्त्विक दान का लक्षण उद्धृत किया है—

—"जिस दान मे अतिथि (लेने वाले) का हित-कल्याण हो, जिसमे पात्र का परीक्षण या निरीक्षण स्वय किया गया हो, जिस दान मे श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, आत्मीयता, अनुग्रह बुद्धि आदि समस्त गुण हो, उस दान को सात्त्विक दान कहते हैं।[2] ऐसा सात्त्विक दान दाता और आदाता दोनो का कल्याण करता है, इस दान मे धर्म का प्रकाश होता है। इस दान मे भक्तिभाव, श्रद्धा, स्नेह, समर्पण भावना, सहानुभूति, आत्मीयता एव अनुग्रह बुद्धि की प्रबलता होती है और स्वत्व विसर्जन तो होता ही है।'

सात्त्विक दान के साथ सबसे बडी विशेषता यह है कि इस दान के पीछे दाता मे आदाता से या दान के फलस्वरूप किसी भी प्रकार के बदले की भावना नही होती। मैं यह दान दे रहा हूँ, मुझे भी समय पर इससे मिलेगा या इस दान के बदले मुझे स्वर्ग, यश, प्रतिष्ठा प्रसिद्धि या प्रभूत धन मिलेगा, या इस दान से मुझे अमुक पद मिल जाएगा या अमुक सत्ता मिल जाएगी अथवा अमुक लोग मेरे अधीन चलने लग जाएँगे, दान के कारण अमुक विरोधियों का मुँह बन्द हो जाएगा, वे मेरे दोष प्रकट नही करेंगे, दान से इस प्रकार की प्रत्युपकार की इच्छा सात्त्विक दान मे कतई नही

---

१ दातव्यमिति यद्दान, दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे तद्दान सात्त्विक विदु.॥ —गीता १७।२०

२ आतिथेय हित यत्र, यत्र पात्रपरीक्षण।
गुणाः श्रद्धादयो यत्र, तद्दान सात्त्विक विदुः॥ ५।४७

है। यहाँ अहंता का भी विसर्जन है। गंगा आदि नदियाँ जैसे समुद्र को अपना करोड़ों लीटर पानी देकर उसी में विलीन हो जाती हैं, वे अपना नाम, रूप एवं विशेषता भी खो देती हैं, इसी प्रकार जिस दान के पीछे दाता स्वयं अपनी ओर से अपना नाम, रूप एवं विशेषता का विलय कर दे, अपने अहंत्व एवं व्यक्तित्व को परमात्मत्व में विलीन कर दे, अपनी वस्तु का समर्पण कर दे, वास्तव में वहीं सात्त्विक दान होता है।

भारतीय इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों पर राजा रन्तिदेव के जाज्वल्यमान जीवन की एक अत्यन्त प्रेरणादायी घटना है।

भयंकर दुष्काल में मानव अन्न के एक-एक दाने के लिए तरस रहा था। दयालु रन्तिदेव ने अपने अन्नभण्डार प्रजा के लिए खोल दिये और स्वयं के हिस्से का अन्न भी प्रजा को प्राप्त हो अतः उन्होंने उपवास करना प्रारम्भ कर दिया। ४८ दिन पूरे हो चुके। ४९वाँ दिन का प्रारम्भ हुआ, प्रजा और महामन्त्री के अत्यधिक आग्रह से वे पारणा के लिए बैठे। प्रजा की दयनीय स्थिति देखकर पारणा करने की इच्छा नहीं थी तथापि उनके आग्रह को सम्मान देने के लिए वे पारणा करने बैठे और मन्त्री ने आधी रोटी का टुकड़ा जो छिपाकर रखा था वह राजा के सामने प्रस्तुत करता है पर उस समय भी राजा सोचता है कि यदि कोई अतिथि आ जाये तो मैं उसे समर्पित करके फिर भोजन करूँ। उसी समय एक दौड़ती हुई महिला आती है जिसका बच्चा कई दिनों से भूखा था और जीवन के अन्तिम क्षणों में गुजर रहा था। महाराजा रन्तिदेव वह रोटी का आधा टुकड़ा उसे दे देते हैं और स्वयं भूखे रह जाते हैं।

रन्तिदेव ने ४८ दिन तक पानी भी नहीं पिया था। महामन्त्री के अत्यधिक आग्रह से वे पानी पीकर पारणा करना चाहते हैं। महामन्त्री ने जो एक प्याला पानी छिपाकर रखा था वह लाकर राजा को दिया है। ज्योंही पानी के प्याले को राजा मुँह के पास ले जाता है उसी समय एक चाण्डाल आता है जिसका कुत्ता पानी के अभाव में छटपटा रहा था राजा उसे वह पानी का प्याला दे देता है।

रन्तिदेव अपनी दिव्य विचार-धारा में निमग्न थे तभी देव आकर उनकी उदारता, करुणा, आत्मौपम्य भावना एवं दानवृत्ति की प्रशंसा करते हैं।

संयोगवश रन्तिदेव की इस दानवृत्ति एवं करुणा से ओतप्रोत तपश्चर्या के कारण शीघ्र ही वर्षा हुई और कुछ ही महीनों में राज्य में फैला हुआ दुष्काल नाम-शेष हो गया।

यह थी सात्त्विक दान की वृत्ति, जिसे अपनाकर राजा रन्तिदेव कृतकृत्य हो गए, वे संसार में अजर-अमर हो गए। जीवन में जब सात्त्विक दान की वृत्ति आ जाती है तो व्यक्ति के जीवन को निश्चिन्त और हलका बना देती है, उसमें उर्ध्व-चिन्तन की ज्योति विकसित हो जाती है। सात्त्विक दान के लक्षण में विवेक (ज्ञान) का प्रकाश और अहंता-ममता आदि से मुक्त होने के कारण सहज निश्चिन्तता और सहज स्फूर्ति का पाथेय जीवन में आ जाता है।

इस प्रकार सात्विक दान के दोनो लक्षणो मे निम्नलिखित गुण प्रतिफलित होते हैं—

१. देश, काल और पात्र का विवेक।
२. दान के बदले किसी प्रकार के प्रतिदान की भावना नहीं।
३. अहंकार, अज्ञान, लोभ, स्वार्थ, भय आदि से रहित दान।
४ लेने वाले का हित सोचा जाय।
५. दान के साथ श्रद्धा, भक्ति, विनय, नम्रता आदि गुण हो।

रन्तिदेव के दान मे न्यूनाधिक ये पाँचो गुण थे, इसलिए उसे हम सात्विक दान की कोटि मे परिगणित कर सकते हैं। सत्वगुण ज्ञान के प्रकाश से युक्त, सब प्रकार के विवेक तथा नम्रता, श्रद्धा सेवा आदि भावो से ओतप्रोत हो जाता है।

राजस दान का लक्षण

सात्विक से निम्न कोटि का दान राजस कहलाता है। राजस दान व्यक्ति के जीवन की रजोगुणी वृत्ति को सूचित करता है। रजोगुणी वृत्ति वाले व्यक्ति मे काम करने की लगन अतिप्रवृत्ति करने की धुन, रात-दिन परहित की प्रवृत्ति मे डूबे रहने की वृत्ति होती है। कभी-कभी अतिप्रवृत्ति के कारण ऐसे व्यक्ति के मन मे झुंझलाहट, चिड़चिड़ापन, थकान, ऊब या अभिमान आ जाता है। कभी-कभी राजसिक दान देते समय व्यक्ति अभिमान म आकर दूसरों का तिरस्कार, अपमान या अपशब्द का व्यवहार कर बैठता है। इसीलिए भगवद् गीता में राजस दान का लक्षण बताया है—

—'जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अर्थात् बदले में अपना सासारिक कार्य सिद्ध करने की आशा से अथवा फल का उद्देश्य रख कर दिया जाता है, वह दान राजस कहलाता है।'[१]

राजस दान दान तो है, परन्तु सांसारिक कार्य के प्रयोजन से दिया जाता है। राजस दान मे उन सब दानो की गणना हो जाती है, जो किसी प्रसिद्धि, नामवरी, वाहवाही अथवा यशकीर्ति लूटने की दृष्टि से दिया जाता है, अथवा जो दान लौकिक फलाकाक्षा की दृष्टि से दिया जाता है, या जिस दान के पीछे बदले मे कुछ पाने की, या अर्थलाभ, पदलाभ, प्रतिष्ठालाभ, सन्तानलाभ या और किसी सासारिक लाभ की इच्छा होती है। यह दान फलासक्ति युक्त होने से दान के वास्तविक फल पर पानी फेर देता है। ऐसी वृत्ति का व्यक्ति दान तो उतना ही करता है, जितना सात्विक वृत्ति का व्यक्ति करता है, लेकिन दोनों के दान के परिणाम मे महदन्तर होता है। सात्विक दान का फल कर्मों की निर्जरा हो सकता है, जबकि राजस दान का परिणाम

---

१ यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुन'।
दीयते च परिक्लिष्ट तद्दान राजस स्मृतम्॥ —गीता १७।२१

फलाकांक्षा युक्त होने से कर्म निर्जरा नहीं होता, अधिक से अधिक पुण्यप्राप्ति हो सकता है। फिर राजस दान मन में उत्साह, उमंग या उदारता से नहीं दिया जाता; इससे मन में बार-बार निराशा आती है, व्यक्ति जब यह सोचता है कि इसे देने से मुझे कोई लाभ तो मिलेगा नहीं, फिर भी शर्माशर्मी, देखादेखी या प्रतियोगिता से प्रेरित होकर दान देता है, मन में क्लेश भी होता है कि मुझे अगर किसी ने दान करते देख लिया तो याचक लोग पीछा नहीं छोड़ेंगे। रात-दिन देते-देते हैरान हो जाऊँगा, अथवा इतना दान दे दूंगा तो फिर मेरे और परिवार के लिए पीछे क्या बचेगा? इस प्रकार मनहूस चेहरे से, आदाता को एकान्त में ले जाकर मन में खिन्नता लाकर और यह सुनाकर कि आजकल कुछ कमाई नहीं है, बेकार बैठे हैं, अधिक दान देने की हैसियत नहीं है, परन्तु अमुक रिश्तेदार ने या फलां व्यक्ति ने मुझ पर दबाव डाला, इसलिए आपको इतनी रकम दे रहा हूँ। सात्विक दानी प्रसन्न मन से दान देता है, जबकि राजस दानी अप्रसन्नता से, अनमने भाव से, दबाव से या लोभ से देता है। इसीलिए जैनधर्म के महाविद्वान् पं० आशाधरजी ने राजस दान का लक्षण किया है—

"जो दान केवल अपने यश के लिए दिया गया हो, जो थोड़े समय के लिए ही सुन्दर और चकित करने वाला हो, जो दूसरों से दिलाया गया हो अथवा दूसरों की वस्तु अपने नाम से दी गई हो, उस दान को राजस दान कहा है।"[1]

इस लक्षण के अनुसार राजस दान में वस्तु चाहे सात्त्विक दान के जितनी हो, बल्कि उसकी अपेक्षा अधिक ही दी जाती हो, परन्तु परिणामों में अन्तर होने के कारण दान की वास्तविकता में अन्तर आ जाता है। इस दान की कोटि या श्रेणी सात्त्विक दान से निम्न स्तर की हो जाती है। जिससे दान के फल में भी अन्तर आ जाता है। सात्त्विक दान के रूप में दिया गया थोड़ा-सा भी दान महालाभकारी होता है, जबकि राजसदान में दान की प्रवृत्ति अधिक होने पर भी दान के साथ आडम्बर, लोभ, भय दबाव या प्रलोभन अथवा यशकीर्ति या प्रसिद्धि की भावना जुड़ जाने से इस दान में विकृति आ जाती है और वह पर्याप्त लाभकारक नहीं रहता। इस दान के साथ आडम्बर और प्रचार-प्रसार जोर-शोर से होता है, अखबारों में बड़े-बड़े शीर्षकों में इस दान के समाचार प्रकाशित कराये जाते हैं, शोरशराबा बहुत ही अधिक होता है। प्रसिद्धि और शोहरत अधिक होने से स्थूल दृष्टि वाली साधारण जनता की नजरों में यह दान बहुत ही सुन्दर, रमणीय और अच्छा लगता है। साधारण जनता ऐसे राजसदान और राजसदानी की अत्यधिक प्रशंसा करती है। और सच पूछें तो, राजसदानी प्रसिद्धि, प्रशंसा और कीर्ति के लोभ मे आकर ही प्रायः दान देता है। वह प्रायः यही समझता है कि एक लाख रुपये में से एक हजार रुपये दान दे देने से

---

१ यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम्।
परप्रत्ययसम्भूतं दानं तद्राजसं मतम्॥ —सागारधर्मामृत ५।४७

ही मेरी इतनी प्रसिद्धि हो जाती है, या लोग मुझे सभा या सस्था मे इतना उच्च पद दे देते हैं तो यह सौदा महँगा नही है। मेरा क्या जाता है ? मैं तो इतना दान देकर इससे दुगुना कमा लूंगा। मैं इतना दान दूंगा, तो जनता मेरे प्रति आकर्षित हो जाएगी और मैं एक मुश्त ही सारा रुपया वसूल कर लूंगा। इस प्रकार की वृत्ति से जो दान दिया जाता है, वह भी राजसदान की ही कोटि मे आता है।

राजसदान के पीछे नामना कामना की वृत्ति ही प्राय अधिक होती है, जो दाता को विविध मोहक प्रलोभन दे देकर, पद और प्रतिष्ठा का नशा चढ़ा कर दान देने के लिए बार बार प्रेरित करती रहती है। राजसदानी दान देने के बाद फल प्राप्ति या फल को झटपट देखने के लिए अधीर हो उठता है, उसके मन मे इतनी चचलता होती है कि अगर उसे अनुकूल फल अपनी प्रसिद्धि, नामबरी या कामना के अनुरूप परिणाम आता नही दिखायी देता, तो वह झटपट बदल भी जाता है। वह कोई न कोई बहाना बनाकर दान के लिए दिये हुए वचन का पालन नहीं करता। थोडी सी अर्थराशि देकर पिंड छुड़ा लेता है। परन्तु जहाँ वह देखता है, कि पत्रिका या समाचार-पत्रो में उसका फोटो छपाया जा रहा है, उसके साथ दान का बढ़ा-चढ़ाकर विस्तृत विवरण प्रकाशित किया जा रहा है, साइनबोर्ड या तख्ती पर या शिलालेख पर उसका नाम अकित किया जा रहा है, उसे सभापति का उच्च आसन दिया जा रहा है, तब तो वह दिये गये आश्वासन से कई गुना अधिक भी दे देता है। निष्कर्ष यह है कि राजसदानी सात्त्विक दानी की तरह चुपचाप दान देना पसन्द नही करता। वह अपने दान का बखान चाहता है, दान को आडम्बर के शिखर पर चढ़ा हुआ देखना चाहता है, दान के सिक्के को वह प्रसिद्धि के रूप मे भुनाना चाहता है, दान के साथ वह यश का सौदा खरीदता है। राजसदान ऐसा मालूम होता है, मानो बाहर से सजाया हुआ, प्रसाधन-सामग्री से पूर्ण, शृ गारित गुब्बारा हो, गुब्बारे म अन्दर पोल होती है, किन्तु सजा हुआ होने से वह मनोहर और आकर्षक लगता है, इसी प्रकार राजसदान आडम्बरो और मोहक नारो से सुसज्जित होने से ऊपर से स्थूल दृष्टि से देखने सुनने वालो को बहुत ही रमणीय एव आकर्षक लगता है, किन्तु अन्दर से वास्तविक दान के परिणाम से तथा नि स्पृह भाव से शून्य होने से थोथा होता है।

यद्यपि राजसदान मे स्वत्व एव स्वामित्व विसर्जन तो होता है, किन्तु स्व-पर के अनुग्रह की मात्रा अत्यन्त कम होती है, आटे मे नमक के बराबर उसमे अपना और दूसरे का अनुग्रह सोचा जाता है। चूकि इस दान मे प्रसिद्धि की भावना मुख्य होने से दीन, हीन, दुखी, अभाव पीड़ित, भूखे-प्यासे या अनाथ व्यक्ति को, देख कर ऐसा दान नही दिया जाता, ऐसे दान के पीछे मुख्य दृष्टि रहती है—जहाँ ज्यादा से ज्यादा प्रतिष्ठा और नामवरी [illegible] दान देने की। न इस दान मे किसी की आवश्यकता का विचार [illegible] जाता है। [illegible] मुख्यतया अधिकाधिक यश-प्राप्ति [illegible] । है

को देने का अवकाश बहुत ही कम होता है। यदि किसी समय दबाव से या शर्माशर्मी से दीन-दुःखियों को दिया भी जाता है, तो सामूहिक रूप से, प्रसिद्धि या आडम्बर के साथ दिया जाएगा। अथवा लेने पर एहसान करके अभिमानपूर्वक दिया जाएगा, जिससे लेने वाले के मन में हीन भावना पैदा हो। सात्त्विक दान और राजसदान के अन्तर को समझना आवश्यक है।

सात्त्विक दान में भावना है, दूसरे के दुःख में सहानुभूति का कोमल स्वर है; वह उत्साह और सहृदयता से दिया गया है; जबकि राजसी दान में दान देने की भावना मरी हुई है, बेगार समझकर, एहसान से, शर्माशर्मी और बहाना बनाकर दिया गया दान है। दान क्या, एक प्रकार से आदाता पर एहसान है, व्यर्थ का झंझट समझ कर पैसे फैंकना है। फैंकने और त्याग करने में बहुत अन्तर है। फैंकने में व्यक्ति अभिमान से ओतप्रोत होता है। अथवा व्यक्ति का तिरस्कार सूचित होता है, जबकि त्याग (अहंत्व-ममत्व-स्वामित्व का विसर्जन) करने में व्यक्ति की नम्रता, मृदुता, सहृदयता और आत्मीयता व्यक्त होती है।

तामसदान का लक्षण

अब लीजिए तामसदान की पहचान करें। तामसदान सात्त्विक से तो निकृष्ट है ही, राजसदान से भी निकृष्ट है। इस दान में मनुष्य अपनी इन्सानियत खो देता है, अविवेक से देता है, दूसरे को कायल करके देता है, एहसान का बोझ इतना लाद देता है या गर्व का इतना वजन डाल देता है कि लेने वाला बिलकुल दब जाता है, दाता के सामने भीगी बिल्ली-सा बन जाता है। तामसदान में देय वस्तु जरा-सी होती है, किन्तु उसका विज्ञापन अत्यधिक होता है। कभी-कभी तो तामसदानी वस्तु भी निकृष्ट, गंदी, बासी, सड़ी, मैली या अयोग्य देकर बला टालता है। एक तरफ वह दान देने का नाटक भी करता है, दूसरी तरफ वह आवश्यकता के अनुसार अथवा लेने वाले की परिस्थिति के अनुसार नहीं देता। तामसदानी अपने दान का जितना ढिंढोरा पीटता है, उतना देता नहीं है। जितना भर देता है, वह भी अनेकों बार चक्कर खिलाकर, बहुत-सी बार टालमटूल करने के बाद, और कई बार हैरान करके देता है। इसीलिए गीता में तामसदान का लक्षण किया गया है—

—"जो दान तिरस्कारपूर्वक अवज्ञा करके, अयोग्य देश और काल में, कुपात्रों (मांसाहारी, शराबी, चोर, जार, जुआरी आदि निन्द्य, नीचकर्म करने वालों) को दिया जाता है, वह तामसदान कहलाता है।[1]

तामसदान में तिरस्कार, अपमान एवं अवज्ञा तो होती ही है, साथ ही उस

---

१ अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥"

—भगवद्गीता अ० १७, श्लो० २२

नचिकेता के पिता द्वारा वृद्ध गायों का दान वास्तव में तामसदान था। क्योंकि वह अनुपयोगी देय वस्तु देकर बला टालना चाहता था।

दूसरी विशेष बात इस लक्षण मे बताई गई है कि वह दान तिरस्कारपूर्वक दिया गया हो, मन म आदाता के प्रति दाता की बिलकुल श्रद्धा या भावना न हो। कई दफा ऐसा तामसदानी तिरस्कृत भाव से ऐसी चीज आदाता को दे देता है, जो दिखने मे तो बहुत ही अच्छी और स्वादिष्ट लगती है, परन्तु वह आदाता के प्राण सकट म डाल देती है।

जैनशास्त्र ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र म इस विषय मे एक सुन्दर उदाहरण दिया गया है—

नागश्री एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार की गृहिणी थी। वह बाहर से जैसी सुन्दर और सुघड लगती थी, वैसी हृदय से नहीं थी। उसके मन में सदा यही भावना रहती थी कि मैं घर मे सबसे अधिक सुघड़ कहलाऊँ और परिवार के सब लोग मुझे श्रेष्ठ महिला कहें।' धर्म कर्म मे उसकी बिलकुल रुचि नही थी, और न ही साधु सन्तों पर उसकी कोई श्रद्धा थी। वह अविवेकी और आलसी थी।

एक दिन घर म रसोई बनाने की उसकी बारी थी। अपने को अधिक चतुर कहलाने की दृष्टि से उसने खूब मिर्च-मसाले डालकर छौंक देकर स्वादिष्ट व्यञ्जन बनाया। उसने बनाया तो था तरबूज का शाक समझकर, किन्तु ज्यो ही उसने जरा-सा हाथ मे लेकर व्यजन को चखा, त्यो ही अत्यन्त कडवा तुम्बे का शाक प्रतीत हुआ। वह मन ही मन बहुत भयभीत हुई। और सोचा—"इसे फेंक देने से तो मेरी बहुत बडी तौहीन होगी परिवार के मुखिया की डाँट भी सहनी होगी, इसे अगर कोई ले जाए तो उसे सारा का सारा दे दू।' उसके भाग्य से उसी दिन धर्मरुचि नामक मासिक उपवास के तपस्वी अनगार भिक्षा के निमित्त नागश्री के यहां अनायास ही पहुँच गए। नागश्री की श्रद्धा तो मुनिराज पर नहीं थी, किन्तु उसे तो वह शाक किसी तरह देकर बला टालनी थी। अत नागश्री ने मुनिराज की खूब आवभगत की। उन्हे सत्कारपूवक अपने रसोईघर में ले गई और मुनि ने ज्यो ही आहार लेने के लिए पात्र नीचे रखा, नागश्री ने मुनिराज के बस-बस कहते-कहते सारा का सारा वह कडवे तुम्बे का शाक मुनि के पात्र मे उडेल दिया। मुनिवर समभाव से वह आहार लेकर अपने स्थान पर पहुँचे। नागश्री ने सोचा—"घूरे पर डालने से तो अच्छा है, साधु के पात्र मे डाल दिया मैंने। कौन किसको कहता है? अगर साधु का कुछ हो गया तो भी यह साधु किसी का नाम लगे नही? इसलिए मेरा बचाव भी हो जाएगा। साधु का हो सो हो! मैं क्या क्या करू ?'

धर्मरुचि ने ज्यों ही लाये हुए आहार का पात्र अपने गुरु को दिखाया, त्यों ही गुरु ने देखते ही कहा—'वत्स! यह तो कडवे तुम्बे का शाक है। इसे तुम गाँव के बाहर ले जाकर निरवद्य स्थान मे सावधानी से डाल आओ।" परन्तु धर्मरुचि

अनगार ने गाँव के बाहर जीवजन्तु से रहित निरवद्य स्थान देखकर ज्यों ही एक बूंद शाक के रस की डाली, त्यों ही वहाँ हजारों चींटियाँ आ गईं। मुनिवर ने सोचा—ओ हो! यह तो बड़ा अनर्थ होगा, मेरे निमित्त से ये चींटियाँ मर जाएँगी। इससे तो अच्छा है, मैं ही इस आहार को उदरस्थ कर जाऊँ। मेरे उदर से बढ़कर निरवद्य स्थान कौन-सा होगा?" बस मुनिवर ने वह कड़वे तुम्बे का शाक उदरस्थ कर लिया। कुछ ही समय में मुनिवर के शरीर में विष ने प्रभाव डालना शुरू किया। समभाव से वेदना सह कर मुनि ने अपना शरीर छोड़ा।

यहाँ यद्यपि नागश्री ने दान एक उत्कृष्ट पात्र को दिया था, किन्तु भावना खराब थी; और वस्तु भी घृणित थी, मुनिराज को घूरे सा समझकर उसने दिया था, इसलिए वह दान तामस हो गया।

तीसरे विशिष्ट दान इस तामसदान के लक्षण में यह बताई गई है कि इस प्रकार का दानी तिरस्कार से दान देता है, परन्तु स्वयं नहीं देता। वह अपने नौकर या दास-दासी से दान दिलवाता है। यद्यपि देय वस्तु उसी की है, परन्तु वह आदाता, याचक या भिक्षाजीवी से घृणा करता है। कदाचित् वह मन में यह सोचकर सामने नहीं आना चाहता कि थोड़ी-सी वस्तु या अल्प अर्थराशि देने पर लेने वाला भड़क उठे, श्राप दे दे, अथवा दबाव डालकर अधिक मात्रा में देने का कहे, और फिर दबाव से या लज्जा से देना पड़े। इसलिए वह आदाता के सामने स्वयं आने में किनाराकसी करता है, और नौकर या दास से दिलवाकर छुट्टी पा लेता है। कई बार दाता इसी भय से स्वयं कहीं बाहर चला जाता है, और जाते समय नौकर या घरवालों में से किसी को कह जाता है कि अमुक व्यक्ति आए तो उसे इतना-सा अमुक पदार्थ दे देना। ज्यादा देने का कहे तो कह देना—'मालिक बाहर गए हैं। हम नहीं दे सकते।' किन्तु इस प्रकार किनाराकसी या टालमटूल करके दिया गया दान तामस ही कहलाता है।

इसी लक्षण के अन्तर्गत एक और बात गर्भित है, वह यह कि जब किसी आदाता या भिक्षाजीवी के लेने का समय हो, उस समय दरवाजे बन्द कर देना, उस समय को टालकर अन्य समय में द्वार खुले रखना, ताकि आदाता अनायास ही निराश होकर चला जाए। अथवा देने के लिए आश्वासन देता रहे, कहता रहे, परन्तु जब आदाता लेने के लिए जाय, तब उसे कहे—'एक सप्ताह बाद आना, कल ले जाना, परसों दे दूंगा। अभी क्या जल्दी है! ले जाना कभी।' इस तरह आदाता को धक्के खिला-खिला कर टरकाते रहना। अथवा तंगी, अभाव या दुष्काल आदि संकट के समय जब उसे आवश्यकता हो, तब न देना, समय बीत जाने पर देने के लिए कहना अथवा निराश करके देना। इसी प्रकार दान के लिए आदाता जिस स्थान पर लेने आते हों, उस स्थान को बदल देना, उस स्थान में आदाता के पहुँचने पर उसे कहना—"अब यहाँ दान नहीं मिलता। अमुक जगह जाओ।" या देश या नगर

अथवा गाँव छोड़कर चले जाना, और आदाता के वहाँ मुश्किल से पता लगा कर पहुँच जाने पर अपमानपूर्वक देना। आदाता को डाँटना—तुम्हे कोई विचार है या नही ? यो ही चले आते हो, किसी व्यक्ति की इज्जत लेने के लिए ! तुम तो लेने के लिए मेरे पीछे हाथ धोकर पड गये हो। जाओ, इस समय मैं नही दे सकता, फिर कभी आना।' यो किसी को रुला-रुला कर देना।

ये और इस प्रकार की सारी हरकतें तामस दान की कोटि मे आती हैं।

तीनों दानों मे अन्तर

इस प्रकार ये तीनो प्रकार के दान भावना और व्यवहार की दृष्टि से उत्तम, मध्यम और जघन्य हैं। सात्विक दान ही इन तीनो मे सर्वश्रेष्ठ कोटि का है, राजसदान और तामसदान दान होते हुए भी निकृष्ट और निकृष्टतर कोटि के हैं। यही बात सागारधर्मामृत मे स्पष्ट कही है—

'सात्विक दान सर्वोत्तम है, उससे निकृष्ट दान राजसदान है, और सब दानों मे तामस दान जघन्य है।[१]

सात्त्विक दान उत्तम फलदायक है, बल्कि उसमे दाता के मन मे कोई फलाकांक्षा नही होती, वह अनायास ही उस दान का मधुर फल प्राप्त कर लेता है। राजसदान का फल कदाचित् पुण्य प्राप्ति हो जाता है, किन्तु ससार परिभ्रमण के कारणभूत कर्मबन्धन को काटने मे वह सहायक नही होता। और तामस दान तो सबसे निकृष्ट है, उसका फल प्राय अधोगति या कुगति है। ☆

---

१ उत्तम सात्त्विक दान, मध्यम राजस भवेत्।
दानानामेव सर्वेषा जघन्य तामस पुन ॥ —सागार० ५।४७

को अपना दु ख समझ कर उस दु ख को निकालने की तीव्र उत्कण्ठा जागती है, उसे अनुकम्पादान कहते हैं। वाचक मुख्य आचार्य श्री उमास्वाति ने अनुकम्पादान का स्पष्ट लक्षण बताया है—

कृपणेऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते।
यद्दीयते कृपार्थादनुकम्पात् तद्भवेद् दानम्॥

—"अनुकम्पादान वह है, जो कृपण (दयनीय), अनाथ, दरिद्र, सकटग्रस्त, रोगग्रस्त एव शोक पीडित व्यक्ति को अनुकम्पा लाकर दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि जो दान अपनी अपेक्षा अधिक दु खी के दु ख को देखकर अनुकम्पाभाव से दिया जाता है, वह अनुकम्पादान है। इसे दूसरे शब्दो मे करुणायुक्तदान, दयापूर्वकदान या सहानुभूतियुक्त दान भी कहा जा सकता है। अनुकम्पादान भी तभी सफल होता है, जबकि उसमे जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदि के भेदो से ऊपर उठकर दिया जाए। कई लोग अपनी जाति का या अपने कुल को दान देने का विचार करते हैं, कई अपने-अपने धर्म-सम्प्रदाय के दायरे में ही दान की भावना को सकुचित कर लेते हैं। कई प्रान्तीयता और अन्धराष्ट्रीयता के सीमित दायरे में ही बन्द होकर दान देने का सोचते हैं। परन्तु अनुकम्पादान तभी सार्थक होता है, जब इन भेदभावों से ऊपर उठकर सोचा जाय। हाँ, यह बात दूसरी है कि व्यक्ति का कार्यक्षेत्र सीमित हो, परन्तु भावना तो उसे सारे विश्व के अनुकम्पा पात्रो, दयनीय और करुणापात्र व्यक्तियो को दान देने की रखनी चाहिए। सीमित कार्यक्षेत्र होने के कारण भले ही दूर-सुदूर न पहुँच सके, परन्तु उसका हृदय सारे विश्व के अनुकम्पनीय प्राणियो के प्रति उदार होना चाहिए। समय आने पर, या मान लो, उस सुदूर क्षेत्र मे पहुँच गया हो तो वहाँ किसी दीनदु खी को देखकर उसे सहायता पहुँचाना चाहिए। परन्तु सीमित कार्यक्षेत्र के अन्दर जाति-पाँति का चौका नहीं लगाना चाहिए और न ही प्रान्तीयता, सकुचित राष्ट्रीयता आदि भेदो की दीवारें खीचनी चाहिए। उस सीमित कार्यक्षेत्र मे तो जो भी व्यक्ति दीन, दु खी या पीडित मिले उसे दान देने मे भेदों की विभाजक रेखा नहीं खीचनी चाहिए। अनुकम्पादान का दायरा बहुत ही व्यापक है। क्योंकि अनुकम्पादान मे यह नही देखा जाता कि अमुक व्यक्ति या प्राणी मेरा सगा-सम्बन्धी है या मेरे प्रान्त, देश या जाति का है अन्यथा मेरे से सम्बन्धित है, इसलिए दान देना है, अन्यथा नहीं। अनुकम्पादान के घेरे मे वे सभी प्राणी आ जाते हैं, जो सकट, आफत या दु ख मे पडे हो। क्योंकि अनुकम्पादान का अर्थ ही यही है 'किसी प्राणी को सकट, आफत या दु ख मे पडा देखकर तदनुकूल कम्पन, सहानुभूति या करुणा पैदा होना और उसके दु ख को अपना दु ख समझकर उसके दु ख निवारण के लिए दान देना। अनुकम्पादान के पात्र दीन, दु खी, रोगी, सकट-ग्रस्त, अन्याय या किसी भी अभाव से पीडित व्यक्ति या सुसस्था है।

यदि किसी सम्पन्न व्यक्ति के हृदय मे किसी दीन, दु खी, अनाथ, असहाय या

अभाव से ग्रस्त व्यक्ति या संस्था को देखकर तत्काल करुणा नहीं उमड़ती, आँखों में सहानुभूति के आँसू नहीं उभर आते, दिल दयार्द्र नहीं हो जाता, मन के किसी कोने में तदनुकूल कम्पन पैदा नहीं हो जाता और सहायता के लिए उसका हाथ नहीं बढ़ पाता, किन्तु वह किसी स्वार्थ, लिहाज, नामवरी, प्रतिष्ठा, वाहवाही या अन्य अनुचित लाभ उठाने की दृष्टि से ही देता है या उस पर एहसान का बोझ लादने या अपने अहंकार पोषण की दृष्टि से देता है, तो वह दान अनुकम्पादान की कोटि में नहीं आएगा। इस प्रकार के दान से उसके हृदय का हौज अनुकम्पा या करुणा के जल से नहीं भरता। उसके हृदय में संकुचितता का अँधेरा ही भरा रहता है, उदारता का प्रकाश नहीं जगमगाता। चूंकि अनुकम्पा या करुणा अथवा दया किसी दुःखित या पीड़ित को देखकर ही आती है, और उस अनुकम्पा आदि को क्रियान्वित करने के लिए उसे उन्हीं भावों से ओतप्रोत होकर दान देने की कला सीखी जाती है।

कोई भी व्यक्ति चाहे वह अधिक सम्पन्न हो या कम अपने जीवन में सद्गुणों का विकास करने के लिए उसे अनुकम्पादान को अपनाना आवश्यक है। अन्यथा वह व्यक्ति, परिवार, जाति या समाज संस्कारहीन, गुणों से रिक्त एवं पशुमय जीवन से युक्त होगा। किसी भी सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सहायता की आशा या अपेक्षा दीन-हीन, दुःखी और पीड़ित आदि को ही तो होती है, किसी साधन सम्पन्न, सत्ताधारी या धनाढ्य को सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सहायता या दान की अपेक्षा, आशा या आवश्यकता नहीं होती। बल्कि सम्पन्न को देने से देय वस्तु का दुरुपयोग ही होता है। सम्पन्न को देने से न तो करुणा, दया, अनुकम्पा सहानुभूति, उदारता या आत्मीयता का गुण ही विकसित होगा और न पुण्योपार्जन ही होगा। कहा भी है—

वृथा वृष्टिः समुद्रेषु, वृथा तृप्तेषु भोजनम्।
वृथा दानं समर्थस्य, वृथा दीपो दिवाऽपि च॥

—"समुद्रों में पानी लबालब भरा रहता है, वहाँ वृष्टि वृथा है। जिन्होंने छककर भोजन कर लिया है, उन्हें और भोजन खिलाना वृथा है। दिन में सूर्य का प्रकाश होने पर भी दीपक जलाना भी व्यर्थ है। जो स्वस्थ है, उसे औषध देना भी फिजूल है। इसी प्रकार जो धन, साधन आदि सब बातों से समर्थ हैं, उन्हें दान देना भी व्यर्थ है।

भारतीय संस्कृति के मूर्धन्य ग्रन्थ महाभारत में भी यही बात बताई गई है—

"मरुस्थल्यां यथावृष्टिः क्षुधार्ते भोजनं यथा।
दरिद्रे दीयते दानं, सफलं पाण्डुनन्दन!
दरिद्रान्भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं निरुजस्य किमौषधम्॥"

—"जैसे मरुभूमि में वर्षा सार्थक है, जो भूखा हो, उसे भोजन देना सार्थक है, वैसे ही जो दीन, दुःखी, पीड़ित या दरिद्र हैं, उन्हें दान देना सार्थक होता है। हे

अर्जुन ! दरिद्रो को सहायता देकर उनका पोषण कर, जो समर्थ हैं, सम्पन्न हैं, उन्हे धन न दें। औषध रोगी को ही दी जाती है, जो निरोग है, उसे औषध देने से क्या लाभ है ?

निष्कर्ष यह है कि दान तभी सफल है, जब वह दीन, दु.खी, पीड़ित या अभावग्रस्त को दिया जाता हो। वास्तव मे सम्यग्दृष्टि भी वही है, जिसका हृदय दीन-दु खी को देखकर अनुकम्पा से भर आता हो, और जिसका हाथ उन्हें दान देकर उनके कष्ट निवारण के लिए तत्पर हो उठता हो।

वास्तव मे अनुकम्पादानी व्यक्ति जात-पात या छूत-अछूत नहीं देखता, और न ही किसी से प्रान्त या धर्म-सम्प्रदाय पूछता है, वह तो दु.ख-पीडित व्यक्ति देखता है और उसका हाथ तुरन्त उसे दान देने के लिए तत्पर हो जाता है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कलकत्ता के बड़ाबाजार से होकर कहीं जा रहे थे कि अचानक रास्ते मे उन्हे एक १४-१५ साल का लडका मिला। वह फटेहाल था। पैर मे जूते नही थे। चेहरे पर बहुत उदासी थी, मानो उसे चिन्ताओं ने घेर रखा हो। उसने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सामने हाथ पसारते हुए दीनता भरे स्वर मे कहा—'कृपा करके मुझे एक आना दीजिए, मैं दो दिन से भूखा हूँ।' उसकी दयनीय दशा देखकर ईश्वरचन्द्र के मन मे सहानुभूति जागी। उन्होंने अनुकम्पा से प्रेरित होकर उस लडके से पूछा—'अच्छा, मैं तुम्हे एक आना दूंगा, पर कल क्या करोगे ?'

लडका—'कल ? कल फिर दूसरे से·········'

'और चार आने दूं तो क्या करेगा ?' ईश्वरचन्द्र ने लडके से पूछा।

'तो उनमे से एक आने का खाना पेट मे डालूंगा, बाकी के तीन आने के सन्तरे लाकर बेचूंगा।' लडके ने कहा।

ईश्वरचन्द्र—'और एक रुपया दूं तो ?'

'तो फिर व्यवस्थित रूप से फेरी करूंगा।' लड़के ने प्रसन्न होकर कहा। विद्यासागर ने उसे एक रुपया दिया।

वह लड़का उस रुपये से सौदा लाकर रोजी कमाने लगा। एक दिन वह अपनी दूकान पर बैठा था, तभी उसकी दृष्टि विद्यासागर पर पड़ी। वह उन्हे दूकान पर बुला लाया और नमस्कार करके कहा—'साहब ! आपने मुझ पर जो उपकार किया, उसे मैं कभी भूल नही सकता। यह लीजिए आपका एक रुपया।'

विद्यासागर ने हँसते हुए कहा—'भाई ! इसमे आभार मानने की कोई जरूरत नहीं। एक देशवासी के नाते मेरा यह कर्तव्य था। मेरा दान सार्थक हुआ, तुम्हे पाकर। अब तुम्हे यह रुपया लौटाने की आवश्यकता नही। किसी योग्य दु खित और दयनीय पात्र को देकर तुम भी अपने जीवन एव दान को सार्थक करना।' कृतज्ञता से उसकी आँखो में हर्षाश्रु उमड़ पड़े।

यह है अनुकम्पादान की सार्थकता ! वास्तव में अनुकम्पादान हर हालत में सार्थक होता है। वह निष्फल तो तब होता है, जब उसमें देश, काल और पात्र का विवेक नहीं होता। जिस दान के पीछे संकीर्णवृत्ति हो, बदले में लेने की भावना हो, फलाकांक्षा या स्वार्थपूर्ति की लालसा हो, दान देकर चित्त में संक्लेश होता हो, या अनादर और अवज्ञा के साथ जो दान दिया जाता है, वह सार्थक नहीं होता। तात्पर्य यह है कि हृदय में मामूली-सी अनुकम्पा या करुणा हो, लेकिन अधिकांशतः उपर्युक्त दूषण छिपे हों, या जहाँ अनुकम्पा या करुणा का प्रदर्शन हो, दिखावा हो, कोरा नाटक हो, दिल की तह में स्वार्थभावना छिपी हो, वहाँ वास्तविक रूप से अनुकम्पादान नहीं होता, और न ही वह दान सार्थक होता है। क्योंकि इस प्रकार का दान देने वाला योग्य अनुकम्पा पात्रों को न ढूँढ़कर ऐसे व्यक्तियों को ही सर्वप्रथम ढूँढ़ता है, जो उसकी जय-जयकार करे, उनकी प्रसिद्धि करे, उसकी जी-हुजूरी या चापलूसी करे, अथवा जो दानवीर के रूप में अभिनन्दन करे या अखबारों में उसका नाम रोशन करे। उसकी नजरों में दीन-दुःखी नहीं आता, अपितु ऐसा चालाक और चापलूस व्यक्ति आता है, जो उसे अहंकार एवं प्रतिष्ठा का नशा पिलाकर, बनावटी दया दिखाकर उनसे खूब अर्थराशि झाड़ लेता है।

यहाँ यह शंका होती है कि अनुकम्पादान अनुकम्पनीय व्यक्तियों के प्रति होता है, किन्तु निःस्पृही त्यागी सन्त, मुनिराज जो अनुकम्पनीय नहीं, अपितु श्रद्धेय अथवा आदरणीय, उपास्य, भक्ति के योग्य होते हैं, उनको दान देना योग्य है या नहीं ? उनको अनुकम्पापूर्वक दान देने वाला व्यक्ति क्या अनुकम्पादान का फल भागी हो सकता है ? वास्तव में इस शंका का समाधान सहज ही हो जाता है कि अनुकम्पादान के योग्य पात्रों को अनुकम्पापूर्वक दान देना उचित है; किन्तु जो अनुकम्पनीय नहीं, अपितु श्रद्धेय हैं, सुपात्र हैं, उन्हें उपास्य या श्रद्धेय हों तो गुरुबुद्धि से दान देना उचित है, किन्तु जो अपने उपास्य या श्रद्धेय न हों, उनके तप-त्याग, निःस्पृहता या आचार-विचार का पता न हो, अथवा जिनका आचार-विचार दूषित हो, व्यवहार अशुद्ध हो जो विषयभोगों के पुतले बने हुए हों, राजसी ठाटबाठ से रहते हों, शाही खान-पान करते हों, बढ़िया बंगलों में निवास करते हों, कार आदि वाहनों में सैर करते हों, उनके प्रति घृणा तो नहीं होनी चाहिए, किन्तु गुरुबुद्धि से दान देना लाभदायक नहीं होता। ऐसा दान अनुकम्पादान की कोटि में नहीं आता। इसीलिए अभिधान राजेन्द्र-कोष में स्पष्ट बताया है[1]—

—'अनुकम्पा के योग्य व्यक्ति पर अनुकम्पा करके दान देना चाहिए, जो अनुकम्पनीय नहीं हैं, किन्तु सुपात्र हैं, उनके प्रति भक्ति करके दान देना समुचित फल देने वाला है। अगर अनुकम्पा के योग्य पात्र को कोई भक्तिपूर्वक दान देता है, और

---

१ अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्यात् भक्तिः पात्रे तु संगता।
अन्यथाधीस्तु दातॄणामतिचारप्रसंजिका॥

जो भक्ति के योग्य हैं, उनके प्रति अनुकम्पा करके दान देता है तो उसका दान अति-चार (दोष) से पूर्ण है।

यहाँ फिर एक शका होती है कि आचार्य या कोई भी श्रमण यदि किसी सकट मे है, अथवा सघ पर कोई आपत या विपत्ति आ पड़ी है तो ऐसे समय में दाता का कर्तव्य है कि वह उन पर भक्ति भी रखे और अनुकम्पा भी करे। जैसा कि शास्त्र मे आता है—'आयरियऽणुकपाए', गच्छो अणुकपिओ महाभागो' आचार्य किसी सकट मे फँस गया हो या कोई भी विपत्ति सघ या सघ के आचार्य आदि पर आ पड़ी हो तो उस समय श्रद्धालु धर्मात्मा भक्त का कर्तव्य है कि उन पर महान् अनुकम्पा करके उन्हे हर तरह से भरसक सहयोग दे, बीमार हो तो उनके लिए औषधोपचार (इलाज) का समुचित प्रबन्ध भक्तिभावपूर्वक करे। उन पर अनुकम्पा केवल सकट के समय की जाती है, वैसे वे सदा के लिए अनुकम्पनीय नहीं होते, वे उपास्य या आदरणीय होते हैं।

कई लोगो का कहना है कि यो अनुकम्पादान को महत्त्व मिलने लगेगा तो दान लेने वालो की भीड लग जाएगी, हजारो अनुकम्पनीय भिखमगो की फौज खडी हो जायगी। वैसे भी भारत मे यह बीमारी बहुत है। कई-कई तो पेशेवर भिखमगे हैं, वे अपनी कम्पनी चलाते हैं और सालभर मे लाखो रुपये कमाते हैं। वे कम्पनियाँ किसी के पैर काट देती हैं, किसी को अन्धा, लूला, लँगडा या दयनीय व अपाहिज बनाकर छोटी-सी हाथ गाडी—जो कि चारो ओर से खुली रहती है और उसके छोटे छोटे पहिये होते हैं उसमे पडे रहते हैं। अनुकम्पनीय बनना तो उनके लिए बाँए हाथ का खेल है। वे ऐसे दयार्द्र स्वर मे, दीनता लाकर बोलते हैं कि साधारण आदमी भी ५-१० पैसे तो दे ही देता है। इस प्रकार दिन भर मे सैकड़ो रुपये इकट्ठे करना आसान बात है, उनके लिए। क्या ऐसे लोगों को दिया गया दान भी अनुकम्पादान मे परिगणित होगा ?

यह विवेक तो दाता को ही करना होगा। उसकी अपनी अन्तरात्मा गवाही देती हो कि यह बनावटी याचक नहीं है, यह वास्तव मे दया का पात्र है, इसे दिया जाना अनिवार्य है अथवा इसे देना सार्थक है, तो उसे देना चाहिए। उसका वह दान अवश्य ही अनुकम्पा दान की कोटि मे जाएगा।

प्रश्न होता है, क्या श्रावक के लिए सयमी के सिवाय और किसी को अनु-कम्पा लाकर दान देना निषिद्ध है ? अथवा व्रती के सिवाय और किसी को अनुकम्पा पूर्वक दान देने से क्या श्रावक को मिथ्यात्व लग जाता है या उसका सम्यक्त्व भग हो जाता है ? इसके समाधान म जैन शास्त्र एक स्वर से कहते हैं कि इस प्रकार से अनुकम्पा के पात्र व्यक्ति को अनुकम्पा लाकर दान देना कही वर्जित नही है। अगर ऐसा वर्जित होता तो स्वय तीर्थंकर भगवान एक वर्ष तक लगातार दान देते हैं, वह क्यो देते ? वे स्वय भी उस कार्य को क्यो करते, जिस कार्य के लिए वे दूसरों को

मना करते हैं ? क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष[1] जो आचरण करता है उसी का अनुसरण उसके अनुगामी करते हैं, यह भगवद्गीता की उक्ति प्रसिद्ध है।

भगवान महावीर ने एक वर्ष तक लगातार दान दिया और उस दान को लेने वाले कई असंयती अव्रती भी होंगे। क्या सभी श्रावक या साधु ही उस दान के ग्राहक थे ? ऐसा नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता तो भगवान् महावीर दीक्षा लेने के बाद अपने कन्धे पर पड़े हुए देवदूष्य वस्त्र को आधा फाड़कर दीन-हीन ब्राह्मण को भी न देते। परन्तु तीर्थंकरों ने कभी किसी अनुकम्पनीय के लिए (फिर वह चाहे श्रावक या साधु हो या न हो) अनुकम्पा लाकर दान देने का निषेध नहीं किया है। इसी आशय को निम्नलिखित गाथा स्पष्ट प्रकट करती है—

सव्वेहिं पि जिणेहिं दुज्जयतियराग दोसमोहेहिं।
अणुकम्पादाणं सड्ढयाणं न कहिं विपडिसिद्ध॥

—'दुर्जय राग-द्वेष मोह की त्रिपुटी के विजेता समस्त जिनेन्द्र भगवन्तों ने श्रद्धालु श्रावकों के लिए अनुकम्पादान का कहीं निषेध नहीं किया है।

इसी कारण जैन शास्त्रों में उल्लेख है कि श्रावकों के घर के द्वार दान देने के लिए खुले रहते थे। 'अवंगुय दुवारे' उनके गृहद्वार सदा अभंग—खुल्ले रहते थे, ऐसा कहा है। अगर श्रावकों के लिए साधु के सिवाय किसी को दान देना वर्जित होता तो वे घर के दरवाजे क्यों खुल्ले रखते ! बल्कि वे भोजन करते समय भी घर के द्वार बन्द करके नहीं बैठते थे। यही बात अभिधान राजेन्द्र कोष में एवं प्रवचन सारोद्धार में स्पष्ट कही है—

'नेवदारं पिहावइ, भुंजमाणो सुसावओ।
अणुकम्पा जिणंदेहिं सड्ढाणं न निवारिया॥'

—सुश्रावक भोजन करते समय घर का द्वार कभी बन्द नहीं करता था और न उसे करना ही चाहिए, क्योंकि जिनेन्द्र भगवन्तों ने श्रावकों—श्रमणोपासकों के लिए अनुकम्पा दान कहीं वर्जित नहीं किया। यही कारण है कि भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य श्री केशीश्रमण के सामने जब राजा प्रदेशी के हृदय-परिवर्तन हो जाने पर और उनसे व्रतग्रहण करके विदा होते समय उसके द्वारा अपनी राज्यश्री के चार भाग करके एक भाग को दीन, दुःखी अनाथों को दान देने के लिए रखने का संकल्प किया तो केशीश्रमण ने प्रदेशी राजा से उसी समय निम्नोक्त उद्‌गार कहा है, जो राजप्रश्नीय सूत्र में अंकित हैं—

माणं तुमं पएसी ! पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि।'

---

१ 'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते॥' —भगवद्गीता

—'राजन् प्रदेशी ! तुम पहले रमणीय हो जाने के बाद अरमणीय मत हो जाना अगर श्रावकव्रती के लिए किसी दीन-दु खी अपाहिज, अन्धे, अभावग्रस्त आदि अनुकम्पनीय को दान देना वर्जित होता तो केशीश्रमण यो क्यो कहते ? उन्होंने ऐसा कहकर तो प्रदेशीराजा के दान के सकल्प पर अपनी मुहर छाप लगा दी है।

कोई कह सकता है कि यदि अनुकम्पादान का इतना माहात्म्य है तो फिर पात्र, सुपात्र, विशिष्टपात्र, अपात्र और कुपात्र आदि को दान देने से फल म अन्तर क्यो बताया ? फल मे अन्तर बताया है, इससे मालूम होता है, अनुकम्पादान का इतना महत्त्व या फल नही है जितना महत्त्व और फल सुपात्रदान का है।

इसका समाधान यह है कि पात्रादि के भेद से दान के, फल मे जो अन्तर बताया गया है वह तो व्यवहार दृष्टि से बालजीवो को उच्चकोटि के दान का स्वरूप और महत्त्व समझाने के लिए बताया है, किन्तु अनुकम्पादान आदि का निषेध करने की दृष्टि से नही। यह भेद सिर्फ व्यवहारनय की दृष्टि से ही बताया गया है, निश्चयनय की दृष्टि से तो दान के पीछे भावो की विचित्रता ही देखी जाती है, भावो की विविधता के कारण ही फलो की विविधता होती है।

कुछ लोग जनता मे ऐसी भ्रान्ति फैलाया करते हैं कि "अनुकम्पा लाकर किसी दु खी या पीडित कसाई को किसी ने अन्नदान दिया तो वह कसाई उस अन्न को खाकर पुष्ट व सशक्त होकर जीवो की हत्या करेगा, तब उस हिंसा के पाप का भागी उस व्यक्ति को बनना पडेगा, जिसने कसाई को अन्न दिया है। अगर वह अन्नदान न देता तो उसे जीव हिंसा का पाप न लगता।" गहराई से विचार करने पर यह तर्क बिलकुल ही थोथा मालूम होगा। दु खित कसाई पर अनुकम्पा लाकर उसे अन्नदान देने वाले की भावना कसाई का धन्धा कराने की नही, अपितु उसे दु खित समझकर उसका दु ख मिटाने की है। थोडी देर के लिए मानलें कि कसाई द्वारा बाद मे किये जाने वाले दुष्कार्यों के फल का उत्तरदायित्व उसके अन्नदाता पर हैं, तब तो कसाई का हृदयपरिवर्तन हो जाने पर होने वाले शुभकार्यों के फल का दायित्व भी दाता पर होना चाहिए, किन्तु दाता को दूसरे के शुभाशुभ कर्मों का फल नही मिलता। कसाई के शुभाशुभ कर्मों के लिए यदि अन्नदाता को उत्तरदायी माना जायगा तो एक व्यक्ति के साधु बन जाने के कार्य के फल में तो दीक्षा सहायक सभी हिस्सेदार हो गए, लेकिन वह साधु भ्रष्ट होकर उन्मार्गगामी बन जाय तो उसका दायित्व भी दीक्षा सहायको पर आना चाहिए न ? फिर तो सारा अपराध उस दीक्षादाता गुरु और दीक्षासहायको के सिर पर मढा जाएगा न ? ऐसे अकाट्य तर्क के बाद उनकी भ्रामक मान्यता की कलई खुल जाती है।

अत अनुकम्पा दान म, दाता को आदाता द्वारा बाद मे किये जाने वाले पाप का भागी बनना पडता है, यह मान्यता निर्मूल एव निराधार सिद्ध हो जाती है। किसी भी पूर्वाचार्य या जैनदर्शन ने अनुकम्पादान का निषेध नहीं किया है।

इसी पर एक दूसरा सवाल खड़ा होता है कि कोई करुणामूर्ति दयालु सद्गृहस्थ दानशाला, धर्मशाला आदि बनाता है, अथवा भोजनशाला खोलता है उसका वह दान क्या अनुकम्पादान नहीं माना जायगा ? इस पर ग्रन्थकार गहराई से उतर कर जवाब देते हैं—

> पुष्टालम्बनमाश्रित्य दानशालादिकर्म यत् ।
> तत्तु प्रवचनोन्नत्या बीजाधानादि भावतः ॥
> बहूनामुपकारेण नानुकम्पानिमित्तताम् ।
> अतिक्रामति तेनाऽत्र मुख्यो हेतुः शुभाशयः ॥

—"किसी पुष्टआलम्बन को लेकर दानशाला आदि जो कार्य हैं, वे प्रवचन प्रभावना के उद्देश्य से सार्वजनिक हित की दृष्टि से बोधिबीज (सम्यक्त्व) प्राप्त कराने के निमित्त से अनेक लोगों के लिए उपकारक होने से अनुकम्पा के निमित्त का उल्लंघन नहीं करते । क्योंकि इन सबमें मुख्य हेतु शुभ आशय है ।

जैनधर्म शुभभावों पर ही सारा खेल मानता है, जहाँ भावशुभ होते हैं, वह दान भी अशुभ और संकीर्ण नहीं हो सकता, इसलिए उस दान को अनुकम्पादान की कोटि में ही माना जाएगा ।'

अब एक शंका और रह जाती है, वह यह है कि अगर दानशाला, धर्मशाला, बावड़ी आदि सार्वजनिक दान हों, और अनेक लोगों के उपकार की दृष्टि से बनाई गई हों, किन्तु अगर ये पुण्य का कारण होती तो नन्दनमणिहार ने दानशाला, धर्मशाला, बावड़ी आदि बनवाई थीं, किन्तु वह मरकर मेंढ़क क्यों बना ? क्या अनुकम्पादान का फल तिर्यंचयोनि है ? नन्दनमणिहार की घटना का साक्षी ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र है । नन्दन ने बहुत उच्च भावना से दानशालादि बनवाई थीं और अनुकम्पादान का फल तिर्यञ्चगति नहीं होता, यह सैद्धान्तिक दृष्टि से स्पष्ट है, तब फिर क्या कारण था कि नन्दनमणिहार का वह दान तिर्यंचगति का कारण बना ?

इसके समाधान में स्वयं शास्त्रकार वहाँ कहते हैं कि नन्दन मणिहार दानशाला बावी आदि बनाने के कारण मेंढ़क नहीं बना, किन्तु वापिका आदि में उसकी अत्यन्त आसक्ति (मूर्च्छा), कामना-कामना रह गई, इस कारण उन्हीं दुर्भावों से मरने पर उसे तिर्यंचयोनि प्राप्त हुई थी । किन्तु दानशाला आदि बनाने के पीछे तो उसकी भावना बहुत लोगों के उपकार की थी, इस कारण उसे पूर्वजन्म का बोध होने पर वह स्वयं अपनी पिछले जन्म की भूल को महसूस करता है और उसकी शुद्धि करके पुनः स्वयं श्रावक व्रत ग्रहण कर लेता है, जब भगवान महावीर के पदार्पण की बात सुनता है तो बड़ी उमंग से वह फुदकता-फुदकता उनके दर्शनों के लिए चल पड़ता है । किन्तु रास्ते में ही राजा श्रेणिक के घोड़ों की टाप से कुचल जाने के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है और वह शुभ भावों में मरकर देवलोक में जाता है ।

निष्कर्ष यह है कि नन्दन शुभ भावों से दानशालादि बनवाने के कारण मेंढ़क

नहीं बना था, अपितु इन सबके पीछे गाढ़ आसक्ति और नामवरी की भावना के कारण बना था, जिसका उल्लेख स्वयं शास्त्रकार ने किया है।

इन सबका तात्पर्य यह है कि जो आरम्भजन्य दान के प्रति आसक्ति नामवरी, प्रसिद्धि, यशकीर्ति आदि की दृष्टि से प्रशसा करते हैं, बहुत ज्यादा बखान करते हैं, वे प्रकारान्तर से प्राणिवध की वाञ्छा करते हैं, देखिये वह शास्त्रपाठ—

जे य दाण पससति, वहमिच्छति पाणिणो

—किन्तु एक दूसरे पहलू से नामना-कामना, प्रसिद्धि आदि की आसक्ति से रहित शुभाशय और सर्वहित की दृष्टि से दिये गये दान का निषेध करने वाले के लिए शास्त्रकार कहते हैं—

'जे एण पडिसेहति वित्तिच्छेय करति ते।'

जो इस प्रकार के दान का निषेध करते हैं, किसी के दान मे अन्तराय डालते हैं, वे वृत्तिच्छेद—आजीविका भग करते हैं। अनेक लोगो को मिलने वाले दान मे विघ्न डालते हैं। क्योकि अनुकम्पादान अनेक दीनों, अनाथो, अपगो आदि के निमित्त से ही होता है।

इसलिए सार्वजनिक और सबके लाभ की दृष्टि से खोले गये औषधालय, दानशाला आदि द्वारा दिया जाने वाला दान नामना-कामना, प्रशसा और प्रसिद्धि की लिप्सा से रहित होने पर अनुकम्पादान की ही कोटि मे आता है।

अनुकम्पादान वास्तव मे मनुष्य की जीवित मानवता का सूचक है, उसके हृदय की कोमलता और सम्यकत्व की योग्यता का मापक यन्त्र है। ☆

8
दान की विविध वृत्तियाँ

संग्रहदान क्या, क्यों और कैसे ?

दान के भेदों में 'अनुकम्पा दान' पर पिछले प्रवचन में चिन्तन चला था और विविध दृष्टियों से, तर्क-वितर्क के साथ उस पर विचार किया गया। अब अनुकम्पा-दान के बाद दूसरा संग्रहदान है। संग्रहदान का अर्थ है—संग्रह करने के लिए, लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अथवा अपने पक्ष में करने के लिये दान देना संग्रहदान है। संग्रहदान का एक अर्थ टीकाकार ने यह भी किया है—

'संग्रहणं संग्रहो, व्यसनादौ सहायकरणं तदर्थं दानं संग्रहदानम्'

—'संग्रह करना, लोगों को भलीभांति ग्रहण करना—अपनी पकड़ में लेना संग्रह है, अथवा किसी दुःख, कष्ट, विपत्ति आदि के पड़ने पर स्वयं के किसी व्यसन की पूर्ति हेतु सहायता करना संग्रह है, इन तीनों उद्देश्यों से दान देना संग्रहदान कहलाता है।

स्थानांग सूत्र के टीकाकार ने संग्रहदान का लक्षण इस प्रकार किया है—

'अभ्युदये व्यसने वा यत्किंचिद् दीयते सहायार्थम्।
तत्संग्रहतोऽभिमतं मुनिभिर्दानं न मोक्षाय॥'

अर्थात्—अभ्युदय में यानी किसी प्रकार की उन्नति या तरक्की [illegible] समृद्धि बढ़ जाने पर, पदोन्नति या किसी कार्य में विजय होने पर अथवा [illegible] स्वयं के दुःख, कष्ट या आफत आदि में, सहायता करने के लिये जो कुछ [illegible] है, उसे संग्रह कहते हैं, संग्रह के लिए जो दान दिया जाता है, उसे [illegible] दान माना है। वह दान मोक्ष—कर्ममुक्ति का कारण नहीं है।

अब हम क्रमशः इन सब लक्षणों पर विश्लेषण कर लें—

सांसारिक जीवन में मनुष्य अनेक प्रकार की इच्छाओं, [illegible] आशाओं को लेकर चलता है। जब उसकी किसी इच्छा की पूर्ति [illegible] अन्तराय की सम्भावना दिखती है, या कुछ व्यक्तियों को [illegible] विपरीत देखता है, कुछ लोगों को अपने किसी व्यसन के विरोध [illegible] है तो उसकी इच्छा होती है, इन सबको अपने अनुकूल बना लूं, [illegible] या अपनी पकड़ में ले लूं जिससे [illegible]

सकें, न मेरे व्यसन के खिलाफ किसी प्रकार की टीका टिप्पणी या आलोचना लोगों मे कर सकें, अथवा चुनावों या पदाधिकारियों के निर्वाचन के समय अधिक मत प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक लोगों को आकर्षित करने हेतु कुछ दान दे देना भी लोक-संग्रहार्थ दान है। अथवा किसी कष्ट, विपत्ति या सकट मे पडे हुए व्यक्ति या जन-समूह को कुछ सहायता (दान) देकर अपने पक्ष मे कर लेना, उन्हे एहसानमन्द बना देना भी संग्रहदान है।

उदाहरणार्थ—प्राचीनकाल मे अनेक राजा या धनिक हुए हैं, जो किसी न किसी दुर्व्यसन के कारण बदनाम हो रहे थे, अथवा केवल राज्यलिप्सा के लिये अकारण ही किसी देश पर चढ़ाई करने के कारण प्रजा मे ऊहापोह हो रहा था, या वे ऐयाशी मे या व्यभिचार मे पडकर प्रजा की आलोचना के कारण बन रहे थे, तब उन राजाओं या धनिको ने कुछ चारणो, भाटो या चापलूस लोगो को बुलाकर उन्हें वस्त्र, जागीरी, अन्न या धन आदि का दान देकर उनका सत्कार किया, जिससे वे उन राजाओ या धनिकों का बढ़ा-चढ़ाकर गुणगान करने लगे। जनता मे से कुछ लोगों को, जो विरोध या बदनाम कर रहे थे, बुलाकर उन्हे पर्याप्त दान दे दिया, बस, वे उस राजा या धनिक के पक्ष मे हो गए, वे गुणगान नहीं करें तो भी उनका मुह बन्द हो गया, वे आलोचना या बदनामी करते रुक गये। इस प्रकार का दान संग्रहदान कहलाता है। जो विरोधी व्यक्तियो को अपने पक्ष मे करने वश करने या पकड में ले लेने हेतु किया जाता है। यह दान इसी प्रकार की किसी आकांक्षा के वशीभूत होकर किया जाता है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है। केवल स्वार्थसिद्धि का कारण बनता है।

हां, किसी भी, स्वार्थ या आकांक्षा के बिना किसी दुर्भिक्ष, भूकम्प, बाढ़, सूखा या अन्य प्राकृतिक प्रकोप या रोगादि सकट से किसी व्यक्ति या जनसमूह के घिर जाने पर दान करना पुण्य का कारण हो सकता है।

कई बार कोई धनिक, जो गरीब जनता का बहुत शोषण करता है, ऊँचा या अनुचित ब्याज लेता है, या गिरवी या अमानत रखी हुई वस्तु को हजम कर जाता है, धर्मादा रकम को हड़प जाता है, जब लोगो मे उसका ऊहापोह होने लगता है तो उन गरीबो को थोडा-सा दान देकर सहायता करता है, अथवा उन गरीबो के लिए थोड़ी-सी रकम निकाल कर सहायतार्थ कोष बना देता है, इस प्रकार उनको विपत्ति में कुछ सहायता देकर उन्हें विरोध करने से रोक देता है। इस प्रकार का दान वास्तव मे संग्रहदान कहलाता है। जो प्राय बदनामी से बचने के प्रयोजन से किया जाता है।

एक आदमी वेश्यागामी या जुआरी है, परन्तु धनिक का पुत्र है, कुछ लोगों को दान सम्मान आदि देकर अपने पक्ष में कर लेता है, अखबार में दानवीर, धर्म-परायण, सद्गृहस्थ, उदारचेता आदि विशेषण या पद लगाकर उसके दान का विवरण छप जाता है, लोग उसके दान से आकृष्ट होकर उसकी किसी प्रकार की निन्दा या

आलोचना नहीं करते। वे चुपचाप उसकी दुर्व्यसन चेष्टाओं को सह लेते हैं। निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार के किसी भी प्रयोजन के लिए, किसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए दान देना संग्रहदान कहलाता है।

अथवा कोई व्यक्ति किसी चोरी, व्यभिचार, जुआ आदि दुर्व्यसन में फँसा हुआ है, उसे सरकारी अपराध में पकड़े जाने का डर है, अथवा किसी चुगलखोर द्वारा गिरफ्तार कराये जाने का भय है, इस प्रकार के खतरे से बचने के लिए वह उस सरकारी कर्मचारी, अधिकारी या चुगलखोर आदि को बुलाकर चुपके से रुपयों की थैली या नोटों का बण्डल पकड़ा देता है, ताकि वे अधिकारी या कर्मचारी उसके खिलाफ किसी प्रकार की कार्यवाही न कर सकें, उसे गिरफ्तार न करें, बदनाम न करें, अथवा वह चुगलखोर किसी के सामने उसके दुर्व्यसन की चर्चा न करे। इस उद्देश्य से दिया गया दान भी संग्रहदान की कोटि में आता है।

अथवा एक व्यक्ति किसी राजकीय या संस्थापकीय पद के लिए उम्मीदवार बनकर चुनाव में खड़ा है, वह देखता है कि मेरे पक्ष में अधिक मत तभी आ सकते हैं, जब मैं अधिक से अधिक लोगों को दान, सम्मान या प्रीतिदान दूँ, उनको किसी भी मौके पर सहायता दूँ, अथवा उनकी किसी संस्था में कुछ रकम दान में दूँ, या उन व्यक्तियों को कुछ अर्थ सहयोग देकर उनका कोई काम निकाल दूँ। बस, इन और इसी प्रकार के अन्य किन्हीं प्रयोजनों से वह मुक्त हस्त से दान देता है, चुनाव में विजय पाने या पद मिल जाने की दृष्टि से खुलकर सम्बन्धित लोगों को देता है, तो वह दान भी संग्रहदान की कोटि में ही परिगणित होगा। मुकदमे में जीतने के लिए कुछ सम्बन्धित लोगों को दे देना भी संग्रहदान है। किसी गलत काम के कर लेने पर गिरफ्तारी से बचने के लिए सम्बन्धित लोगों को घूंस (उत्कोच) दे देना भी संग्रहदान है। आजकल चुनाव वगैरह में वोट प्राप्त करने के लिए भी उम्मीदवारों की ओर से मतदाताओं को काफी धन दिया जाता है, वह भी संग्रहदान की कोटि में आता है।

अथवा दूसरे लक्षण के अनुसार संग्रहदान उसे भी कहा जा सकता है, जहाँ किसी प्रकार की पदोन्नति, तरक्की या उच्च आसन पाने के लिए व्यक्ति सम्बन्धित लोगों को कुछ देता है, खिलाता-पिलाता है, सम्मान करता है।

अथवा किसी उत्सव, त्यौहार या खुशी के मौके पर अपने पारिवारिक या जाति के लोगों को या अपने यहाँ कार्य करने वाले नौकरों, मुनीम-गुमाश्तों या कर्मचारियों को इनाम दिया जाता है, इस लिहाज से कि वे अपने अनुकूल रहें, कार्य अधिक करें, या अच्छी तरह करें। यह दान भी एक प्रकार से लोकसंग्रह का कारण होने से संग्रहदान है।

अथवा व्यक्ति स्वयं किसी रोग या संकट में फँस जाता है, तब किन्हीं देवी-देवों की मनौती करके उनके पुजारियों को दान देता है, अथवा किसी संकट से मुक्ति के लिए कोई पाठ करवा कर या मन्त्रजाप करवाकर बदले में कुछ दान-दक्षिणा देता

सकें, न मेरे व्यसन के खिलाफ किसी प्रकार की टीका टिप्पणी या आलोचना लोगो मे कर सकें, अथवा चुनावो या पदाधिकारियो के निर्वाचन के समय अधिक मत प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक लोगो को आवर्जित करने हेतु कुछ दान दे देना भी लोकसग्रहार्थ दान है। अथवा किसी कष्ट, विपत्ति या सकट मे पडे हुए व्यक्ति या जनसमूह को कुछ सहायता (दान) देकर अपने पक्ष मे कर लेना, उन्हें एहसानमन्द बना देना भी सग्रहदान है।

उदाहरणार्थ—प्राचीनकाल मे अनेक राजा या धनिक हुए हैं, जो किसी न किसी दुर्व्यसन के कारण बदनाम हो रहे थे, अथवा केवल राज्यलिप्सा के लिये अकारण ही किसी देश पर चढाई करने के कारण प्रजा मे ऊहापोह हो रहा था, या वे ऐयाशी म या व्यभिचार मे पडकर प्रजा की आलोचना के कारण बन रहे थे, तब उन राजाओ या धनिकों ने कुछ चारणो, भाटों या चापलूस लोगो को बुलाकर उन्हें वस्त्र, जागीरी, अन्न या धन आदि का दान देकर उनका सत्कार किया, जिससे वे उन राजाओं या धनिको का बढा चढ़ाकर गुणगान करने लगे। जनता मे से कुछ लोगो को, जो विरोध या बदनाम कर रहे थे, बुलाकर उन्ह पर्याप्त दान दे दिया, बस, वे उस राजा या धनिक के पक्ष मे हो गए, वे गुणगान नहीं करें तो भी उनका मुह बन्द हो गया, वे आलोचना या बदनामी करते रुक गये। इस प्रकार का दान सग्रहदान कहलाता है। जो विरोधी व्यक्तियो को अपने पक्ष मे करने वश करने या पकड में ले लेन हेतु किया जाता है। यह दान इसी प्रकार की किसी आकाक्षा के वशीभूत होकर किया जाता है, इसलिए मोक्ष का कारण नही है। केवल स्वार्थसिद्धि का कारण बनता है।

हाँ, किसी भी, स्वार्थ या आकांक्षा के बिना किसी दुर्भिक्ष, भूकम्प, बाढ़, सूखा या अन्य प्राकृतिक प्रकोप या रोगादि सकट से किसी व्यक्ति या जनसमूह के घिर जाने पर दान करना पुण्य का कारण हो सकता है।

कई बार कोई धनिक, जो गरीब जनता का बहुत शोषण करता है, ऊँचा या अनुचित ब्याज लेता है, या गिरवी या अमानत रखी हुई वस्तु को हजम कर जाता है, धर्मादा रकम को हडप जाता है, जब लोगो मे उसका ऊहापोह होने लगता है तो उन गरीबो को थोडा सा दान देकर सहायता करता है, अथवा उन गरीबो के लिए थोड़ीसी रकम निकाल कर सहायतार्थ कोष बना देता है, इस प्रकार उनको विपत्ति मे कुछ सहायता देकर उन्हें विरोध करने से रोक देता है। इस प्रकार का दान वास्तव में सग्रहदान कहलाता है। जो प्राय बदनामी से बचने के प्रयोजन से किया जाता है।

एक आदमी वेश्यागामी या जुआरी है, परन्तु धनिक का पुत्र है, कुछ लोगो को दान सम्मान आदि देकर अपने पक्ष म कर लेता है, अखबार में दानवीर, धर्मपरायण, सद्गृहस्थ, उदारचेता आदि विशेषण या पद लगाकर उसके दान का विवरण छप जाता है, लोग उसके दान से आकृष्ट होकर उसकी किसी प्रकार की निन्दा या

आलोचना नहीं करते। वे चुपचाप उसकी दुर्व्यसन चेष्टाओं को सह लेते हैं। निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार के किसी भी प्रयोजन के लिए, किसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए दान देना संग्रहदान कहलाता है।

अथवा कोई व्यक्ति किसी चोरी, व्यभिचार, जुआ आदि दुर्व्यसन में फँसा हुआ है, उसे सरकारी अपराध में पकड़े जाने का डर है, अथवा किसी चुगलखोर द्वारा गिरफ्तार कराये जाने का भय है, इस प्रकार के खतरे से बचने के लिए वह उस सरकारी कर्मचारी, अधिकारी या चुगलखोर आदि को बुलाकर चुपके से रुपयों की थैली या नोटों का बण्डल पकड़ा देता है, ताकि वे अधिकारी या कर्मचारी उसके खिलाफ किसी प्रकार की कार्यवाही न कर सकें, उसे गिरफ्तार न करें, बदनाम न करें, अथवा वह चुगलखोर किसी के सामने उसके दुर्व्यसन की चर्चा न करे। इस उद्देश्य से दिया गया दान भी संग्रहदान की कोटि में आता है।

अथवा एक व्यक्ति किसी राजकीय या संस्थापकीय पद के लिए उम्मीदवार बनकर चुनाव में खड़ा है, वह देखता है कि मेरे पक्ष में अधिक मत तभी आ सकते हैं, जब मैं अधिक से अधिक लोगों को दान, सम्मान या प्रीतिदान दूं, उनको किसी भी मौके पर सहायता दूं, अथवा उनकी किसी संस्था में कुछ रकम दान में दूं, या उन व्यक्तियों को कुछ अर्थ सहयोग देकर उनका कोई काम निकाल दूं। बस, इन और इसी प्रकार के अन्य किन्हीं प्रयोजनों से वह मुक्त हस्त से दान देता है, चुनाव में विजय पाने या पद मिल जाने की दृष्टि से खुलकर सम्बन्धित लोगों को देता है, तो वह दान भी संग्रहदान की कोटि में ही परिगणित होगा। मुकदमे में जीतने के लिए कुछ सम्बन्धित लोगों को दे देना भी संग्रहदान है। किसी गलत काम के कर लेने पर गिरफ्तारी से बचने के लिए सम्बन्धित लोगों को घूंस (उत्कोच) दे देना भी संग्रहदान है। आजकल चुनाव वगैरह में वोट प्राप्त करने के लिए भी उम्मीदवारों की ओर से मतदाताओं को काफी धन दिया जाता है, वह भी संग्रहदान की कोटि में आता है।

अथवा दूसरे लक्षण के अनुसार संग्रहदान उसे भी कहा जा सकता है, जहाँ किसी प्रकार की पदोन्नति, तरक्की या उच्च आसन पाने के लिए व्यक्ति सम्बन्धित लोगों को कुछ देता है, खिलाता-पिलाता है, सम्मान करता है।

अथवा किसी उत्सव, त्यौहार या खुशी के मौके पर अपने पारिवारिक या जाति के लोगों को या अपने यहाँ कार्य करने वाले नौकरों, मुनीम-गुमाश्तों या कर्मचारियों को इनाम दिया जाता है, इस लिहाज से कि वे अपने अनुकूल रहें, कार्य अधिक करें, या अच्छी तरह करें। यह दान भी एक प्रकार से लोकसंग्रह का कारण होने से संग्रहदान है।

अथवा व्यक्ति स्वयं किसी रोग या संकट में फंस जाता है, तब किन्हीं देवी-देवों की मनौती करके उनके पुजारियों को दान देता है, अथवा किसी संकट से मुक्ति के लिए कोई पाठ करवा कर या मन्त्रजाप करवाकर बदले में कुछ दान-दक्षिणा देता

सकें, न मेरे व्यसन के खिलाफ किसी प्रकार की टीका टिप्पणी या आलोचना लोगों मे कर सकें, अथवा चुनावों या पदाधिकारियो के निर्वाचन के समय अधिक मत प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक लोगो को आकर्षित करने हेतु कुछ दान दे देना भी लोकसग्रहार्थ दान है। अथवा किसी कष्ट, विपत्ति या सकट मे पडे हुए व्यक्ति या जनसमूह को कुछ सहायता (दान) देकर अपने पक्ष मे कर लेना, उन्हे एहसानमन्द बना देना भी सग्रहदान है।

उदाहरणार्थ—प्राचीनकाल मे अनेक राजा या धनिक हुए हैं, जो किसी न किसी दुर्व्यसन के कारण बदनाम हो रहे थे, अथवा केवल राज्यलिप्सा के लिये अकारण ही किसी देश पर चढाई करने के कारण प्रजा मे ऊहापोह हो रहा था, या वे ऐयाशी मे या व्यभिचार मे पडकर प्रजा की आलोचना के कारण बन रहे थे, तब उन राजाओ या धनिको ने कुछ चारणो, भाटों या चापलूस लोगो को बुलाकर उन्हें वस्त्र, जागीरी, अन्न या धन आदि का दान देकर उनका सत्कार किया, जिससे वे उन राजाओ या धनिकों का बढा चढाकर गुणगान करने लगे। जनता मे से कुछ लोगों को, जो विरोध या बदनाम कर रहे थे, बुलाकर उन्हें पर्याप्त दान दे दिया, बस, वे उस राजा या धनिक के पक्ष मे हो गए, वे गुणगान नही करें तो भी उनका मुह बन्द हो गया, वे आलोचना या बदनामी करते रुक गये। इस प्रकार का दान सग्रहदान कहलाता है। जो विरोधी व्यक्तियो को अपने पक्ष मे करने वश करने या पकड में ले लेने हेतु किया जाता है। यह दान इसी प्रकार की किसी आकाक्षा के वशीभूत होकर किया जाता है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है। केवल स्वार्थसिद्धि का कारण बनता है।

हॉं, किसी भी, स्वार्थ या आकाक्षा के बिना किसी दुर्भिक्ष, भूकम्प, बाढ़, सूखा या अन्य प्राकृतिक प्रकोप या रोगादि सकट से किसी व्यक्ति या जनसमूह के घिर जाने पर दान करना पुण्य का कारण हो सकता है।

कई बार कोई धनिक, जो गरीब जनता का बहुत शोषण करता है, ऊँचा या अनुचित ब्याज लेता है, या गिरवी या अमानत रखी हुई वस्तु को हजम कर जाता है, धर्मादा रकम को हडप जाता है, जब लोगो मे उसका ऊहापोह होने लगता है तो उन गरीबो को थोड़ा-सा दान देकर सहायता करता है, अथवा उन गरीबो के लिए थोड़ी-सी रकम निकाल कर सहायतार्थ कोष बना देता है, इस प्रकार उनको विपत्ति मे कुछ सहायता देकर उन्हें विरोध करने से रोक देता है। इस प्रकार का दान वास्तव मे सग्रहदान कहलाता है। जो प्राय बदनामी से बचने के प्रयोजन से किया जाता है।

एक आदमी वेश्यागामी या जुआरी है, परन्तु धनिक का पुत्र है, कुछ लोगो को दान सम्मान आदि देकर अपने पक्ष मे कर लेता है, अखबार में दानवीर, धर्मपरायण, सद्गृहस्थ, उदारचेता आदि विशेषण या पद लगाकर उसके दान का विवरण छप जाता है, लोग उसके दान से आकृष्ट होकर उसकी किसी प्रकार की निन्दा या

आलोचना नहीं करते। वे चुपचाप उसकी दुर्व्यसन चेष्टाओं को सह लेते हैं। निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार के किसी भी प्रयोजन के लिए, किसी आकांक्षा की पूर्ति के लिए दान देना संग्रहदान कहलाता है।

अथवा कोई व्यक्ति किसी चोरी, व्यभिचार, जुआ आदि दुर्व्यसन में फँसा हुआ है, उसे सरकारी अपराध में पकड़े जाने का डर है, अथवा किसी चुगलखोर द्वारा गिरफ्तार कराये जाने का भय है, इस प्रकार के खतरे से बचने के लिए वह उस सरकारी कर्मचारी, अधिकारी या चुगलखोर आदि को बुलाकर चुपके से रुपयों की थैली या नोटों का बण्डल पकड़ा देता है, ताकि वे अधिकारी या कर्मचारी उसके खिलाफ किसी प्रकार की कार्यवाही न कर सकें, उसे गिरफ्तार न करें, बदनाम न करें, अथवा वह चुगलखोर किसी के सामने उसके दुर्व्यसन की चर्चा न करे। इस उद्देश्य से दिया गया दान भी संग्रहदान की कोटि में आता है।

अथवा एक व्यक्ति किसी राजकीय या संस्थापकीय पद के लिए उम्मीदवार बनकर चुनाव में खड़ा है, वह देखता है कि मेरे पक्ष में अधिक मत तभी आ सकते हैं, जब मैं अधिक से अधिक लोगों को दान, सम्मान या प्रीतिदान दूं, उनको किसी भी मौके पर सहायता दूं, अथवा उनकी किसी संस्था में कुछ रकम दान में दूं, या उन व्यक्तियों को कुछ अर्थ सहयोग देकर उनका कोई काम निकाल दूं। बस, इन और इसी प्रकार के अन्य किन्हीं प्रयोजनों से वह मुक्त हस्त से दान देता है, चुनाव में विजय पाने या पद मिल जाने की दृष्टि से खुलकर सम्बन्धित लोगों को देता है, तो यह दान भी संग्रहदान की कोटि में ही परिगणित होगा। मुकदमे में जीतने के लिए कुछ सम्बन्धित लोगों को दे देना भी संग्रहदान है। किसी गलत काम के कर लेने पर गिरफ्तारी से बचने के लिए सम्बन्धित लोगों को घूंस (उत्कोच) दे देना भी संग्रहदान है। आजकल चुनाव वगैरह में वोट प्राप्त करने के लिए भी उम्मीदवारों की ओर से मतदाताओं को काफी धन दिया जाता है, वह भी संग्रहदान की कोटि में आता है।

अथवा दूसरे लक्षण के अनुसार संग्रहदान उसे भी कहा जा सकता है, जहाँ किसी प्रकार की पदोन्नति, तरक्की या उच्च आसन पाने के लिए व्यक्ति सम्बन्धित लोगों को कुछ देता है, खिलाता-पिलाता है, सम्मान करता है।

अथवा किसी उत्सव, त्यौहार या खुशी के मौके पर अपने पारिवारिक या जाति के लोगों को या अपने यहाँ कार्य करने वाले नौकरों, मुनीम-गुमाश्तों या कर्मचारियों को इनाम दिया जाता है, इस लिहाज से कि वे अपने अनुकूल रहें, कार्य अधिक करें, या अच्छी तरह करें। यह दान भी एक प्रकार से लोकसंग्रह का कारण होने से संग्रहदान है।

अथवा व्यक्ति स्वयं किसी रोग या संकट में फंस जाता है, तब किन्हीं देवी-देवों की मनौती करके उनके पुजारियों को दान देता है, अथवा किसी संकट से मुक्ति के लिए कोई पाठ करवा कर या मन्त्रजाप करवाकर बदले में कुछ दान-दक्षिणा देता

है, या फिर किसी कष्ट या क्लेश की शान्ति के लिए ब्राह्मणों या कुंवारी कन्याओं को भोजन करवाकर दान दक्षिणा या भेंट देता है, वह भी एक तरह से सग्रहदान ही है।

निष्कर्ष यह है कि किसी भी प्रकार के सग्रह—लोकसग्रह या लोगों को अनुकूल बनाने, जनता मे अपनी प्रसिद्धि के लिए सम्बन्धित व्यक्तियो को जो दान दिया जाता है, या उन्हे सहायता दी जाती है, वह सब सग्रहदान कहलाता है। सग्रहदान के पीछे किसी न किसी प्रकार की आकांक्षा या स्वार्थ सिद्धि की इच्छा होने से वह मोक्ष फलदायक नही होता, और बहुधा पुण्य फलदायी भी नही होता।

भयदान क्या, क्यों और कैसे ?

सग्रहदान के बाद तीसरा भयदान है। भयदान का अर्थ स्पष्ट है कि अपने से किसी जबर्दस्त व्यक्ति के डर से, दबाव से, आतक से दान देना अन्यथा किसी अपराध मे पकडे जाने के डर से किसी कर्मचारी या अधिकारी को (रिश्वत या घूंस के रूप म) रकम या और कोई चीज देना भी भयदान है। इसका लक्षण स्थानागसूत्र के टीकाकार ने यो किया है—

राजाऽरक्षपुरोहितमधुमुख मावल्ल दण्ड पाशिषु च।
यद्दीयते भयार्थात् तद् भयदानं बुधैर्ज्ञेयम् ॥

अर्थात्—राजा, पुलिस, पुरोहित, चुगलखोर, राजकर्मचारी, दण्डाधिकारी आदि के भय से जो दिया जाता है, उसे विद्वान् लोग भयदान मानते हैं।

भयदान अन्त करण प्रेरित या स्वत प्रेरित दान नही होता। अन्त करण मे जब किसी से भय या किसी खतरे की आशका होती है, तभी बरबस होकर उससे सम्बन्धित व्यक्ति को दिया जाता है। इसलिए इसे दान तो कहा जा सकता है, परन्तु यह दान स्वेच्छा से या अन्त प्रेरणा से नही होता। इस दान म व्यक्ति प्रवृत्त होता है—कायल होकर या दबाव आ पडने पर। जब व्यक्ति को अपने बचाव का कोई अन्य उपाय नजर नहीं आता या कोई चारा नही रहता, तब जाकर वह अनिच्छा से इस प्रकार का दान करता है। बहुधा व्यक्ति प्राय किसी सेवाभावी, गरीब, दीन-दु खी, अनाथ या पीडित व्यक्ति को सहसा देने मे कतराता है, वह ऐसे अभावग्रस्त लोगों को देने मे सौ बहाने बनाता है, परन्तु अगर कहीं किसी अपराध मे फँस जाता है या कहीं गिरफ्तार हो जाता है तो उससे छूटने और सही सलामत बचने के लिए वह हजारो रुपये दे देता है, यहाँ तक कि मुंह मागी रकम देकर अपना पिंड छुडाने और अपनी प्रतिष्ठा बरकरार रखने की सोचता है। इसलिए भयदान को स्वेच्छा से प्रेरित दान नहीं कहा जा सकता।

अथवा भयदान का एक अर्थ यह भी हो सकता है—कोई व्यक्ति किसी राजा, सेठ या कारखानेदार के यहाँ नौकर है, कर्मचारी है, सेठ, राजा, कारखानेदार ने उस पर दबाव डाला कि तुम इतने रुपये अमुक व्यक्ति को दे दो, नहीं दोगे, और हमारी

बात नहीं मानोगे तो तुम्हें नौकरी से बर्खास्त कर दिया जायगा।' इस पर वह व्यक्ति बेचारा अपनी नौकरी से हाथ धोने के डर से, अमुक के दबाव में आकर उनके कहे अनुसार तथाकथित व्यक्ति को दे देता है, तो यह दान भी भयदान की कोटि में है।

इसी प्रकार किसी समय समुद्र में तूफान आ गया, नौकाएं उछलने और डगमगाने लगीं, ऐसी स्थिति में जहाज का कप्तान या नाविक सब यात्रियों से कहता है—सब लोग इतने-इतने पैसे समुद्र देव को दान करें, समुद्र मे डाल दें, अन्यथा नौका डूब जाएगी। अथवा नौका का संचालक कहे कि मुझे इतनी-इतनी रकम धर्मादा में दान दें, अन्यथा नौका मेरे हाथ में नहीं रहेगी।' ऐसी स्थिति मे यात्रियों द्वारा दिया गया दान भी भयदान की कोटि में ही गिना जायेगा।

अथवा भयदान वहाँ भी हो सकता है, जहाँ कोई चोर डाकू, अपहरणकर्त्ता या लुटेरा किसी व्यक्ति को पिस्तौल या बन्दूक दिखाकर या छुरा दिखाकर उससे कहता है—"इतना रुपया दे दे, अन्यथा तेरी खैर नहीं है। अगर प्राण बचाने हों तो इतनी रकम दे दे।" ऐसी हालत में बेचारा वह व्यक्ति विवश होकर मुँहमाँगी रकम या आभूषण आदि उस तथाकथित चोर आदि के हवाले कर देता है।

सारांश यह है कि किसी भी भय, दबाव, खतरे के डर आदि के वश जो दान दिया जाता है, वह भयदान कहलाता है। यह दान भी कर्ममुक्ति का कारण नहीं है और न ही पुण्यफल का कारण है। जिस भय को लेकर यह दान दिया जाता है, उस भय से मुक्त हो जाने का लाभ तो प्राय: मिल ही जाता है। उपनिषद में एक जगह प्रेरणा दी है—

'भिया देयम्'

—'भय से भी दान करना चाहिए।' परन्तु वहाँ जिस भय का संकेत है, वह प्राय: परलोक में दुर्गति के भय का, या इहलोक में नाशवान धन के एक दिन नष्ट हो जाने या परिवार वालों या सन्तान द्वारा व्यर्थ ही उड़ा दिये जाने के डर का है। इसलिए उसे आध्यात्मिक भय कहा जा सकता है, लौकिक भय नहीं। ऐसे आध्यात्मिक भय से डर कर दान धर्मादि का आचरण करने पर कर्मों का क्षय तो नहीं होता, किन्तु पुण्यबन्ध हो जाता है। जिसका फल सुगति या शुभ वस्तुओं की प्राप्ति आदि है। इसलिए "परिग्रह में अत्यन्त आसक्ति रखने वाला दुर्गति—तिर्यंच या नरक-गति में जाता है। परिग्रह के साथ कई भय लगे हुए हैं। जहाँ धन अधिक इकट्ठा होता है, वहाँ कलह, अशान्ति और बेचैनी बढ़ जाती है। इन भयों एवं खतरों से बचने के लिए मनुष्य को स्वेच्छा से, उत्साहपूर्वक धन पर से ममत्व विसर्जन करके दान कर देना चाहिए।" इस प्रकार की आध्यात्मिक नीति से प्रेरित होकर जो दान करता है, उसे भयदान की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

कारुण्यदान क्या, क्यों और कैसे ?

भयदान के बाद कारुण्यदान का नम्बर आता है। जैसे अनुकम्पा दान कम्पा लाकर दान दिया जाता है, वैसे करुणा लाकर दान देने का नाम का नही है। कारुण्यदान मे कारुण्य शब्द पारिभाषिक है। इसलिए अभिधाशक्ति शब्द का अर्थ न करके शास्त्रकार लक्षणा एव व्यजना शक्ति से इसका तात रहस्य समझाते हैं।

—"कारुण्य का अर्थ है—शोक। पुत्र वियोग आदि से होने वाले । कारण उसके स्त्री-पुत्रो आदि द्वारा अगले जन्म मे वह सुखी हो, इस आशय से दूसरे (ब्राह्मण आदि) को दान देना कारुण्य दान है। अथवा करुणाजनक पी के निवारण के लिए दान भी कारुण्यजन्य होने से उसे उपचार से कारुण्यदान गया है।[1]

मनुष्य की वासना केवल इहलोक के सुख तक ही सीमित नही रहती जन्म-जन्मान्तर तक अपने और अपनों को सुखी देखना चाहती है। किन्तु मनुष्य मृत-सम्बन्धी के साथ परलोक मे तो जा नही सकता, तब यहाँ बैठा-बैठा। परलोक मे गये हुए अपने मृत सम्बन्धी के सुख की मगलकामना करता है और मृत-परिजन को सुखी देखने के लिए किसी परलोक के दलाल से बात करता है मेरे अमुक मृत कुटुम्बी को सुख कैसे प्राप्त हो ?" परलोक का तथाकथित कहता है—अमुक-अमुक वस्तुएँ—गाय, अन्न, वस्त्र तथा धन आदि मुझे यहाँ। खिला-पिलाकर दे दो, वे वस्तुएँ तुम्हारे पितरो को पहुँच जाएँगी। तुम जैसी मुझे दोगे, वैसी ही तुम्हारे पितरों को पहुँच जाएगी। इस प्रकार अपने पितर बुजुर्ग माता-पिता आदि) तथा कुटुम्बीजन के मृत्यु दिन को याद करके श्राद्ध म उस दिन तथाकथित ब्राह्मणों को जो भी वस्तु दी जाती है, वह कारुण्य (श जनित दान होने से कारुण्यदान कहलाता है। अथवा किसी पारिवारिक जन देहान्त हो जाने पर उसके निमित्त से जो कुछ भी वस्त्रादि उसके शव पर हो वे तारको को दे दिये जाते हैं, तथा अन्य जो कुछ भी धन उसके नाम से द (आचार्यों) को दिया जाता है, वह भी कारुण्यदान की कोटि मे आता है। अ अपने पिता, पुत्र आदि के शोक मे उनकी स्मृति मे जो कुछ दान दिया जात जिसका उद्देश्य मृतकों को सुख-शान्ति पहुँचाना होता है, वह दान भी एक तर कारुण्य दान ही है।

वास्तव मे कारुण्य दान अपने पिता आदि पारिवारिक की स्मृति मे।

---

१ 'कारुण्य शोकस्तेन पुत्रवियोगादिजनितेन तदीयस्यैव तल्पादे. स जन्मा सुखितो भवत्विति वासनातोऽन्यस्य वा यद्दान तत्कारुण्यदानम्। कारुण्यज

जाता है, वह न मोक्षदायक होता है, और न पुण्यजनक, और न वह अधर्म या पाप का जनक है। हाँ, वह बहुधा अन्धविश्वास से प्रेरित होता है। जैसे पितरों को अमुक वस्तु पहुँचाने के लिए श्राद्ध करके अमुक व्यक्ति को भोजन कराकर दान-दक्षिणा देने की जो प्रथा है, वह प्रायः अन्ध श्रद्धा-मूलक होती है। जैसे विदेश में पोप लोग रोमन साम्राज्य पर छाये हुए थे। वे धनिकों से कहते—हमें इतने रुपये दे दो, परलोक में हम तुम्हारे अमुक-अमुक सम्बन्धियों को स्वर्ग की सीट रिजर्व करा देंगे। हम यहाँ तुम्हें हुण्डी लिख देते हैं, उससे परलोक में तुम्हारे मृत परिजनों को स्वर्ग मिल जाएगा। बेचारे भोले-भाले लोग उनके वाग्जाल में फँसकर भारी अर्थराशि देकर बदले में स्वर्ग की हुण्डी पोप से लिखाकर ले लेते थे। कई वर्षों तक इस प्रकार की अन्ध श्रद्धा का दौर चला। आखिर इसका भंडाफोड़ हुआ और वहाँ के शासक ने पोप लोगों के द्वारा धर्म के नाम पर होने वाली इस ठगी को मिटाया।

कहने का मतलब यह है कि इस प्रकार से पोपों को दिया गया दान भी वास्तव में लोभ एवं आकांक्षा से प्रेरित होने के कारण कारुण्यदान की कोटि में परिगणित होगा।

इस सम्बन्ध में गुरु नानकदेव के जीवन की एक बहुत ही प्रेरणादायक घटना है—सिक्खों के गुरु नानकदेव एक बार गंगा में स्नान करने जा रहे थे। जब वे गंगा में स्नान करने लगे, तब दोनों हाथों अपने गाँव की तरफ पानी भी उलीचने लग गये। जब यह नाटक खेलते-खेलते बहुत देर हो गई तो वहाँ खड़े कुछ लोगों ने साहस करके पूछा—'गुरुजी ! यह क्या नाटक खेल रहे हैं आप ? हमें कुछ समझ में नहीं आया।' गुरुजी तपाक् से बोले—'यह नाटक नहीं है, मैं गंगा का पानी दोनों हाथों से उलीचकर अपने गाँव के खेतों को दे रहा हूँ।' इस पर लोग खिल-खिलाकर हँस पड़े। उन्होंने कहा—'वाह गुरुजी ! क्या ऐसा भी कभी हो सकता है कि यहाँ से पानी उलीचने से खेतों तक पहुँच जाए।' गुरु नानक ने मुस्कराकर कहा—ऐसा क्यों नहीं हो सकता ? जब यहाँ से तुम लोग पानी उछालकर सूर्य को दे सकते हो, यहाँ ब्राह्मणों और कौओं को भोजन खिलाकर या वस्त्र, गाय आदि देकर अपने परलोकवासी सम्बन्धियों को पहुँचा सकते हो, तब क्या मेरे द्वारा उछाला हुआ पानी गाँव के खेतों तक नहीं पहुँचेगा ? गाँव के खेत तो बहुत ही निकट हैं।"

इस पर उपस्थित लोगों को अपनी भूल तुरन्त समझ में आ गई। और वे गुरु नानकदेव के सामने नतमस्तक होकर कहने लगे—गुरुदेव ! हम अज्ञान और अन्धविश्वास के चक्कर में फँसकर ऐसा करते थे।"

सचमुच, गुरु नानकदेव के जीवन की यह घटना कारुण्य-दानियों के लिए प्रेरणादायिनी है ! व्यक्ति वैसे ही किसी अभावग्रस्त, दीन-दुःखी को श्रद्धा से कुछ दान दे दे यह बात और है, वह दान कारुण्यदान नहीं है, किन्तु जब उपर्युक्त अन्ध-श्रद्धा से प्रेरित होकर वह अपने पितरों को खुश करने या सुखी करने के उद्देश्य से किसी व्यक्ति को देता है तो वह कारुण्यदान की ही सीमा में आ जाता है।

लज्जादान : स्वरूप और उद्देश्य

इसके बाद लज्जादान का क्रम आता है। लज्जादान का अर्थ भी स्पष्ट है। जो दान दूसरो के लिहाज या दबाव मे आकर शर्माशर्मी या लज्जावश दिया जाता है, वह लज्जादान कहलाता है।[1]

कई बार किसी धनसम्पन्न व्यक्ति की इच्छा अमुक व्यक्ति को दान देने की नहीं है, कई बार सेवाभावी लोक सेवक, समाज के अभावग्रस्त, पीडित या रुग्ण व्यक्ति को देखकर उसे कुछ देने की रुचि नही होती, परन्तु किसी सभा मे वह बैठा है, वहाँ अनेक लोग, जो उससे भी कम धन के स्वामी हैं, किसी जरूरतमन्द को उसकी आवश्यकतानुसार बहुत ज्यादा दे देते हैं, तब उस कृपण धनिक को भी लोग कहते हैं—सेठजी ! आप भी कुछ दीजिए। तब वह चूकि सभा मे आनाकानी करे तो अच्छा नही लगता, कदाचित् सर्वथा इन्कार करने पर लोग उसे 'कजूसों का सरदार' न कह दें, इस लिहाज से, अथवा अपने से बडे सम्माननीय व्यक्ति दे रहे हैं, तो मैं इस मौके पर नहीं दूगा तो अच्छा नही रहेगा, इस प्रकार के मुलाहिजे मे आकर वह दान देता है, उसका वह दान स्वेच्छा से प्रेरित न होकर लज्जा से प्रेरित होता है, इसलिए लज्जादान कहलाता है। जैसे कि स्थानाग सूत्र के टीकाकार ने लज्जादान का लक्षण किया है—

अभ्यर्थित परेण तु यद्दानं जनसमूहगत ।
परचित्तरक्षणार्थं लज्जायास्तद् भवेद्दानम् ।

—कोई व्यक्ति सम्पन्न है, और वह जनसमूह के बीच मे बैठा है, वहाँ उससे कोई अपनी व्यथा-कथा सुनाकर मांग बैठता है। उसकी देने की हार्दिक इच्छा तो नहीं होती, पर दूसरो का मन रखने के लिए शर्माशर्मी लिहाज या लज्जा से जो दान दिया जाय, वह लज्जादान कहलाता है।

वास्तव म मनुष्य कई बार स्वय स्पष्ट इन्कार करने की स्थिति म नहीं होता। वह दूसरों का मन रखने के लिए न चाहते हुए भी कई बार कुछ दे देता है। हालांकि लज्जा से दान देना भी बुरा नहीं है, परन्तु उतना ही दान लज्जा से न देकर आन्तरिक भावना से दिया जाय तो उसका मूल्य कई गुना बढ जाता है। इस दृष्टि से लज्जावश दान देना, निम्न कोटि का दान है। लज्जादान का उद्देश्य केवल लज्जा, लिहाज, मुलाहिजा या शर्म अथवा जनसमूह का दबाव होता है।

जनसमूह मे ही क्यों, किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की उपस्थिति में भी यदि किसी कृपण या दान से विरक्त व्यक्ति के समक्ष मांगा जाय तो वह लज्जित हो जाता है। अथवा किसी प्रतिष्ठित सज्जन की उपस्थिति भी न हो, किन्तु यह कहकर मांगा

---

१. 'लज्जया ह्रिया यद्दान तद् लज्जादानम्'—लज्जावश जो दान दिया जाय, वह लज्जादान है। —स्थानांग सूत्र टीका

जाए कि अमुक सज्जन ने तुम्हें इतने रुपये अमुक व्यक्ति या संस्था को देने के लिए कहा है, यह लो, उसका पत्र ! इस प्रकार कहने पर पत्र पढ़ते ही मुलाहिजे में आकर कुछ रुपये तो अभ्यर्थी को दे ही देता है। अथवा किसी महापुरुष के नाम पर अमुक संस्था या अमुक कार्यक्रम या समारोह के लिए किसी सम्पन्न से मांगे जाने पर वह चूंकि किसी महापुरुष तीर्थंकर या अपने गुरुदेव या आचार्य आदि के नाम से मांगा गया है इसलिए वह देने से इन्कार नहीं करता, ५ आदमियों के मुलाहिजे में आकर वह कुछ तो दे ही देता है। उसका वह दान लज्जादान की कोटि में ही आएगा । उपनिषद् में लज्जा से दान देने की भी प्रेरणा की गई है—

'ह्रिया देयम्'

—लज्जा से भी दान देना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि वैसे तो कई व्यक्ति स्वेच्छा से दान नहीं देते, न देने की भावना होती है, इसलिए उन व्यक्तियों से पैसा निकलवाने के लिए उन्हें किसी भी तरह से लज्जित या शर्मिन्दा करके उनसे दान लिया जाता है, लज्जादान इसी प्रकार के दान का द्योतक है।

गौरवदान : स्वरूप और उद्देश्य

इसके बाद आता है—गौरवदान का क्रम। गौरवदान वह है—जो अपनी प्रतिष्ठा का सवाल समझ कर दिया जाता है, अथवा गर्व पूर्वक प्रतियोगितावश या होड़ लगाकर दिया जाता है। जो दान गर्व से दिया जाय, उसे ही गौरवदान कहते हैं।[1] अपना गौरव सुरक्षित रखने, प्रतिष्ठा बरकरार रखने, या अपनी नाक ऊँची रखने के लिए, अथवा दूसरे दाता से बढ़कर बाजी मारने के लिए जो दान दिया जाय, उसे भी गौरवदान कहा जा सकता है। गौरवदान में भी दाता की आन्तरिक इच्छा या स्वतः स्फुरणा से दान नहीं होता, किन्तु दूसरे के द्वारा प्रायः बढ़ा-चढ़ा कर यशोगान करने से भाट, चारण आदि द्वारा विरुदावली गाकर दान के लिए दाता को उत्तेजित करने से, उसकी जाति, कुल धर्म, या देश की प्रतिष्ठा या गौरव का सवाल आ जाने से दाता दान के लिए प्रवृत्त होता है।

अथवा व्यक्ति जब यह देखता है कि मेरे दान करने से मेरी इज्जत बढ़ेगी, मेरी प्रशंसा वाहवाही या कीर्ति बढ़ेगी, अखबारों में मेरा नाम दानवीरों की सूची में प्रकाशित होगा, मेरी प्रसिद्धि होगी या मेरी नामवरी बढ़ जाएगी, तब वह सहसा दान में प्रवृत्त होता है और सचमुच प्रतिष्ठा और यश के नशे में वह अधिकाधिक दान दे देता है।

परन्तु गौरव के लिए दान देने वाले महानुभाव को जब कभी कोई जबर्दस्त प्रेरक मिल जाता है तो उसका सारा गर्व उतर जाता है।

---

१ गौरवेण=गर्वेण यद् दीयते तद् गौरवदानम्। —स्था० टीका

एक गाँव मे एक धनी सेठ ने सोने से तुलादान किया। गरीबो को खूब सो बाँटा गया। उसी गाँव मे एक सन्त भी रहते थे। सेठ ने इनको भी बुलाया। बार-बार आग्रह करने पर जब आये तो सेठ ने उनसे कहा—'महात्मन्! आज मैं अपने वजन के बराबर सोना तोलकर दान किया है, आप भी कुछ सोना ले लें मेरा कल्याण हो।' सन्त ने कहा—'तुमने बहुत अच्छा काम किया, परन्तु मुझे सो की आवश्यकता नही है।' धनी ने फिर भी अत्याग्रह किया। सन्त ने समझा इस मन मे धन दान का अहकार है। अत सन्त ने एक तुलसी के पत्ते पर रामनाम लिख और कहा—'मैं कभी किसी से धन का दान नही लेता, परन्तु आप इतना आग्र करते हो तो इस पत्ते के बराबर सोना तौल दो।' सेठ ने इसे व्यग्य समझा। कहा 'आप मेरी मजाक क्यो कर रहे हैं? आपकी कृपा से मेरे घर मे सोने का खजान भरा है। मैं तो आपको गरीब जानकर ही देना चाहता हूँ।' सन्त ने कहा—'भाई देना ही हो तो इस तुलसी के पत्ते के बराबर सोना तौल दो।' सेठ ने झुझलाक तराजू मँगवाया और एक पलड़े मे तुलसी का पत्ता रखकर दूसरे पलड़े मे सोना रखन लगा। कई मन सोना चढ गया, किन्तु तुलसी के पत्ते वाला पलडा तो नीचा ही रहा। सेठ आश्चर्य मे डूब गया। उसने सन्त के चरण पकड लिए। और कहा—'महात्माजी! मेरे अहकार को नष्ट करके आपने बडी कृपा की। सबसे धनी तो आप ही हैं।' सन्त ने कहा—'इसमे मेरा क्या है? यह तो नाम की महिमा है। प्रभु नाम की तुलना जगत् मे किसी वस्तु से नही हो सकती। भगवान् ने ही दया करके नाम महत्त्व बताकर तुम्हारे दान का अहकार मिटा दिया है। जो कुछ दान करो, वह भगवान की ओर, भगवान के नाम से किया करो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

वैसे तो अगर किसी दीन-दुखी या अभावग्रस्त को कुछ दान देने का उससे कहा जाय तो वह आनाकानी करेगा, कई बहाने बनाएगा, किन्तु अपनी प्रसिद्धि होती होगी तो दान देने मे सबसे आगे रहेगा। इसी आशय का गौरव दान का लक्षण स्थानागसूत्र के टीकाकार करते हैं—

—'जो दान नटों, नर्तकों, मुष्टिको या सम्बन्धियो, बन्धुओ या मित्रों आदि को यश के लिए या गर्वपूर्वक दिया जाता है, वह गौरवदान कहलाता है।'[1] प्राचीन काल मे नटों, नर्तक नर्तकियो का खेल बहुत होता था, अथवा पहलवानों का दगल भी बहुत-सी जगह होता था। खेल या दगल के लिए राजा गाँव का ठाकुर या कोई धनिक सज्जन खेल दिखाने वालो या पहलवानो को अपने गाँव, कस्बे या नगर मे आमन्त्रित करता था, और खेल दिखाने पर वे नट, नर्तक या पहलवान आदि आमन्त्रणदाता की खूब तारीफ करते थे, बढ़ा-चढ़ाकर उनका यशोगान करते थे, जिससे

१ 'नटनर्तमुष्टिकेभ्यो दान सम्बन्धि-बन्धु-मित्रेभ्य।
यद्दीयते यशोऽर्थगर्वेण तु तद् भवेद् दानम्॥'

वह फूल कर कुप्पा हो जाता था; और खुश होकर उन नटों, पहलवानों आदि को भारी पुरस्कार देता था। इसके बाद वे दर्शकों की या गाँव की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करते थे, जिससे वे भी प्रसन्न होकर उन्हें रुपये देते थे। आज भी कई जगह गाँवों में स्वांग-तमाशा दिखाने वाले या कलाबाजी दिखाने वाले गाँव के मुखिया, सरपंच या प्रधान आदि द्वारा आमंत्रित होकर आते हैं, और इस प्रकार का सस्ता मनोरंजन करके लोगों को खुश कर देते हैं और काफी पैसा बटोर कर ले जाते हैं। इस प्रकार का लोकमनोरंजन करने वाले लोग भी गाँव वालों की या प्रधान आदि की प्रशंसा एवं वाहवाही करके उनसे दान ले लेते हैं। परन्तु इस प्रकार का दान कोई मोक्ष का हेतु या पुण्य का कारण नहीं होता, वह तात्कालिक मनोरंजन तथा गर्ववृद्धि का कारण होता है। इसलिए ऐसे दान को गौरवदान कहा गया है।

गौरवदान का दूसरा पहलू यह भी है कि अपने सम्बन्धियों, मित्रों या बन्धुओं में अच्छा कहलाने के लिए अथवा जाति एवं कुल में अपनी नाक ऊँची रखने के लिए या नामवरी के लिए सम्बन्धियों, मित्रों या बन्धु-बान्धवों को विवाह, या पुत्रजन्म आदि खुशी के मौकों पर खुल कर भेंट कर दी जाती है, तपस्या आदि के उत्सवों पर इसी प्रकार वस्त्र, चाँदी के बर्तन या नकद रुपये आदि की भेंट दी जाती है, विवाह के प्रसंग पर सम्बन्धियों, मित्रों या बन्धुओं की ओर से वरवधू को विविध प्रकार की भेंट दी जाती है, अथवा जाति में अपनी नामवरी के लिए या देखा-देखी अपनी लड़की को बहुत अधिक दहेज दिया जाता है; ये सब गौरवदान के ही अंग हैं।

वर्तमान में दहेजप्रथा समाज के लिए अभिशाप बनी हुई है, इसका कारण भी यही है, दहेज जब दिया जाता है, तब गौरव के नशे में दिया जाता है। सम्पन्न व्यक्ति तो अपनी कन्या को प्रचुर मात्रा में धन आदि दे देता है, किन्तु निर्धन व्यक्ति बेचारा कर्जदार बनकर किसी से ऊँचे ब्याज पर रुपये लेकर अपनी कन्या के हाथ पीले करता है, समाज में अपनी इज्जत रखने के लिए देखादेखी भारी दहेज भी देता है। इस प्रकार के गौरवदान का परिणाम कितना भयंकर आता है, जिसकी पाठक स्वयं कल्पना कर सकते हैं। इस प्रकार के दान की भयंकरता से कई जगह कन्या का पिता जिन्दगी भर कर्जदार बना रहकर दुःख पाता है, कई जगह वह अपनी कन्या को पर्याप्त या माँग के अनुरूप यथेष्ट दहेज नहीं दे पाता, उसका नतीजा यह होता है कि लड़के वाले उस लड़की को बार-बार ताना मारते हैं, कोसते हैं, तंग करते हैं, पिता से धन ले आने के लिए विवश करते हैं, उसके प्राणों को खतरे में डाल देते हैं, कई बार तो वे लड़कियाँ तंग आकर आत्म-हत्या कर बैठती हैं। कई बार उसके ससुराल वाले ही उसे किसी बहाने से मार डालते हैं। यह है दहेज दानव का भयंकर रूप ! जो गौरवदान के वेष में मानव को छलकर जबरन देने को विवश कर देता है।

गौरवदान का एक तीसरा पहलू और है, वह भी आजकल बहुत अधिक मात्रा में समाज में प्रचलित है। वह यह है कि किसी व्यक्ति को अत्यधिक

देकर, प्रतिष्ठा बढ़ाकर, सभापति आदि का उच्च आसन या अध्यक्ष आदि का उच्च पद देकर या उसकी अखबारो मे प्रसिद्धि करके अथवा उसकी शानदार शोभायात्रा निकाल कर या उसके नाम का शिलालेख, प्रशस्तिपत्र या साइनबोर्ड लगाकर अथवा उसे सभा मे अभिनन्दन-पत्र देकर उसका येन-केन-प्रकारेण गौरव बढ़ाकर उससे अमुक कार्य या संस्था के लिए अधिकाधिक दान देने को विवश कर देना और दान ले लेना भी गौरवदान है।

इस प्रकार के गौरवदान मे परोपकार की दृष्टि तो अत्यल्प ही होती है, अपितु इस प्रकार के गौरवदान के पीछे वाहवाही, यशोकामना एवं कीर्तिपताका फहराने की ही दृष्टि रहती है। भाट-चारण आदि के मुंह से अपने दिल को गुदगुदाने वाली उच्च प्रशस्तिगाथा सुनने के लिहाज से, राजदरबार मे सम्मान, उच्च पद, खिताब या कुर्सी पाने के लिए, समाज मे दानवीर कहलाने के लिए, अपने नाम का शिलालेख लगवाने के लिए या अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन करने के लिए देना गौरवदान मे ही शुमार है। किन्तु इस प्रकार के दान से यश या गौरव तभी तक मिलता है, जब तक उससे बढ़कर अर्थराशि देने वाला नहीं मिलता। जब ५० हजार देने वाले के मुकाबिले मे साठ हजार देने वाला आ मिलता है, वह ५० हजार देने वाले के यश को फीका कर देता है।

गौरव प्राप्ति के लिहाज से जो दान देता है, उसे तात्कालिक गौरव तो मिल जाता है, लेकिन बाद मे जब उसे उस सभा, संस्था या धर्मशाला आदि की कार्यकारिणी से या उसके किसी पद से हटा दिया जाता है, तो उसे बहुत अखरता है, वह मन ही मन बहुत कुढ़ता है, दूसरो को वह कोसता रहता है।

एक बार एक सज्जन ने बातचीत मे महात्मा गांधी जी से कहा—"बापू! यह दुनिया कितनी बेईमान है? मैंने ५० हजार रुपये खर्च करके यह धर्मशाला बनवाई, पर लोगो ने आज मुझे इस धर्मशाला की कमेटी मे से निकाल दिया है। मानो इन लोगो की दृष्टि मे मेरा दान या मेरी सेवा की कोई कीमत ही नही है। मैं तो अब अत्यन्त निराश हो गया हूँ, इन लोगो से।"

गांधी जी ने कहा—"भाई! तुमने दान का सही अर्थ समझा ही नही है। दान देने वाले को सामने वाले पक्ष से किसी प्रकार की अपेक्षा नही रखनी चाहिए। कोई चीज देकर बदले मे यदि कुछ पाने की इच्छा रखी जाती है, तो वह दान नही, व्यापार है। सचमुच, तुमने दान नही दिया है, व्यापार ही किया है व्यापार मे ही तो लाभ-हानि की चिन्ता होती है। वह सज्जन निरुत्तर हो गए और उन्होने अपनी भूल स्वीकार की।"

आजकल समाज म इसी प्रकार की सौदेबाजी करने वाले गौरवदानियो का ही अधिकतर बोलबाला है। जहाँ देखो वहाँ, धर्मस्थानो म, मन्दिरो म, सभा-सोसाइटियो म, राजनैतिक मच पर, उत्सवो और जलसो मे, गौरवदानी छाये हुए हैं। यदि वे ठडे दिल दिमाग से सोचकर कीर्तिकामना के बदले समाजहित या

स्व-परहित की ओर अपनी दानधारा को मोड़ें तो उनकी दानशक्ति और अर्थोपार्जन शक्ति सार्थक हो सकती है, उनके उस दान में चार चांद लग सकते हैं। किन्तु समाज में अधिकांश धनियों की मनोवृत्ति अपनी कीर्ति की भूख मिटाकर दान देने की बन गई है। गौरव के उद्देश्य से दान देने वाला व्यक्ति जरूरतमन्द या दीनदुःखी को देखकर प्रायः दान नहीं देता, वह ढूंढता है, अपनी प्रतिष्ठा की खुराक। जहाँ से भी उसे सम्मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति, उच्चपद, प्रशंसा और वाहवाही की खुराक मिल जाती है, वहीं उसके मन की थैली का मुंह खुलता है। अतः जहाँ ऐसे व्यक्ति को प्रायः खुशामदखोर, चापलूस या उसकी बड़ाई करने वाले मिल जाते हैं, वहीं वह औढरदानी बन जाता है, जो उसे प्रशंसा और प्रतिष्ठा के फूल नहीं चढ़ाता, उस पर उसकी त्योरियाँ चढ़ी रहती है, अथवा उसे वह बिलकुल नहीं देता।

दो वैष्णव साधु थे। दोनों दो तरह के थे। एक भगवान् पर भरोसा रखने वाला था। उसका विचार था—जो कुछ करता है, भगवान् करता है। सुख-दुःखदाता वही है। इसलिए वह भगवान् के नाम की ही सदा रट लगाता था। उसे खाने-पीने की भी कोई चिन्ता नहीं थी, जो कुछ भी मिल जाता, उसी में सन्तुष्ट रहता था। वह किसी की भी, यहाँ तक कि राजा की भी परवाह नहीं करता था। उन दिनों वह गंगापुर शहर में था, जिसका राजा गंगाराम था। वह शहर में चक्कर लगाता और गाता फिरता था—"जिसको देगा राम, उसे क्या देगा गंगाराम?" लेकिन दूसरा साधु ठीक इससे विपरीत स्वभाव का था। वह ईश्वर को कभी नहीं मानता था। वह चापलूस था। चापलूसी के सिवाय उसने भगवान् का नाम कभी जबान पर नहीं रखा। वह समझता था कि 'किसी दिन राजा अपनी प्रशंसा मेरे मुंह से सुनकर मुझे निहाल कर देगा।' इसलिए वह शहर में गश्त लगाता हुआ गाया करता—"जिसको देवें गंगाराम, उसे क्या देगा राम?"

एक दिन राजा गंगाराम अपने महल की छत पर हवा खा रहा था। तभी संयोगवश वे दोनों साधु राजमहल के पास चक्कर लगाते हुए अपना-अपना गीत गाते हुए जा रहे थे। राजा ने दोनों साधुओं के गीत सुने। वह पहले साधु पर झुंझलाया, पर चापलूस साधु का गीत सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा ने सन्तरी को बुला कर हाथ के इशारे से कहा—'उस (चापलूस) साधु को दरबार में तुरन्त बुला लाओ।' चापलूस साधु ने राजा का आदेश सुना तो मन ही मन बड़ा खुश हुआ और दरबार में पहुँचा। राजा ने उसे सत्कारपूर्वक बिठाया और चुपके से एक तरबूज मंगाकर उसमें अशर्फियाँ भरवाईं और उस चापलूस साधु को तरबूज भेंट दे दिया। चापलूस साधु तरबूज लेकर बाहर निकला। मगर उसे राजा गंगाराम पर बड़ा गुस्सा आ रहा था। वह मन ही मन कुढ़ रहा था कि इतने दिनों से वह गंगाराम के नाम की पुकार लगा रहा था, उसका फल सिर्फ एक तरबूज! उसे बड़ी निराशा हुई। मन ही मन क्षुब्ध होकर वह उस तरबूज को फेंक देना चाहता था, तभी एक कुंजड़िन से उसकी

भेंट हो गई। वह बोली—"बाबा! अगर आप इस तरबूज को बेचना चाहते हैं तो मैं इसके चार आने दे सकती हूँ।" साधु ने सोचा—'चलो, फेंकने की अपेक्षा तो चार आने मिलते हैं, वे ही अच्छे! अतः उसने कुंजड़िन को तरबूज देकर चार आने ले लिए। कुंजड़िन तरबूज लेकर चल पड़ी। भगवद्भक्त साधु दिनभर राम की रट लगाता रहा, पर मुश्किल से पेट भरन योग्य पैसे मिले थे। पर उसे इतने से सन्तोष था। वह उसी तरह राम की रट लगाता हुआ घूमता रहा, इसलिए उसे भूख लग गई थी। उसने सोचा कि कुछ खरीद कर पेट भर लेना चाहिए। इतने ही में वह कुंजड़िन बोल उठी—"बाबा! तुम्हें तरबूज चाहिए तो ले लो, बड़ा मीठा है।" कुंजड़िन ने सोचा—तरबूज बिक जाय तो अच्छा है, नहीं तो दूसरे दिन सड़ जाएगा। साधु ने अपने झोले में हाथ डाला तो छह आने निकले। बाबा को सकोच हो रहा था कि इतना बड़ा तरबूज छह आने में कैसे दे देगी! कुंजड़िन ने बाबा का सकोच भग करते हुए बोली—"ले जाओ, बाबा! इतने पैसे से ही काम हो जाएगा।" साधु ने कुंजड़िन को ६ आने दे दिये। वह खुश होती हुई चली गई, कि अच्छा दो आने बचे वे भी ठीक! साधु उस तरबूज को लेकर शहर के बाहर एक पेड़ के नीचे बैठकर तरबूज काटने लगा। लेकिन तरबूज में अशर्फियाँ भरी हुई देखकर उसे सर्वप्रथम परमात्मा की याद आई। उनकी दया का ख्याल आते ही उसके मुँह से बरबस निकल पड़ा—'जिसको देवे राम, उसे क्या देगा गगाराम?'

दूसरे दिन वह साधु पहले की तरह ही रट लगाता हुआ घूम रहा था। उसके पीछे ही चापलूस साधु भी बोल रहा था—'जिसको देवे गगाराम उसे क्या देगा राम?' यह ध्वनि गगाराम के कानो में पड़ी। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उस साधु को बुलाकर पूछा—"क्यो महाराज! कल का तरबूज कैसा था?" साधु को राजा के ये शब्द पैने तीर से चुभ गये। उसने रोष में आकर कहा—'साधु से मजाक नहीं की जाती, राजा साहब! मैंने उस तरबूज को चखा तक नहीं, उसे मैंने एक कुंजड़िन को बेच दिया।" अब राजा क्या कहे! वह बड़ा हैरान था, चाहता था, साधु को माला-माल करना, लेकिन उसका भाग्य उलटा था। राजा को बड़ा कुतूहल हुआ। सोचा—'पता लगाना चाहिए, वह तरबूज किसके हाथ लगा।' राजा ने उस साधु से कुंजड़िन का अता पता पूछा और सेवक को भेजकर उसे बुलाया। जब कुंजड़िन आई तो राजा ने उससे पूछा—क्या किसी साधु से तुमने तरबूज खरीदा था? उसने स्वीकार किया तो राजा ने यह पूछा कि—उसने उस तरबूज को किसे बेचा? इस पर उसने कहा—'मैंने वह तरबूज एक साधु को बेचा है, जिसे मैं पहिचानती हूँ। वह अभी-अभी रट लगा रहा था,—"जिसको देवें राम, उसको क्या देगा गंगाराम।" राजा समझ गया कि यह वही साधु है, जिस पर मुझे नफरत थी! राजा ने अपने घुड़सवार से उस साधु को बुलाने के लिए भेजे। घुड़सवार पता लगा कर उस साधु के पास पहुँचे और कहा कि तुम्हें राजाजी बुला रहे हैं तो उसने मुस्कराकर कहा—'अपने महाराज से कहो कि 'मैं राम के दरबार को छोड़कर

गंगाराम के दरबार में नहीं जा सकता।" यह सुनकर राजा की आँखें खुल गईं। उसने सोचा—'भगवान् कितने दयालु हैं कि जिस साधु को मैंने घृणा से देखा, उसी के हाथ में सारी अशर्फियाँ लगी हैं।'

राजा ने उस चापलूस साधु से कहा—'अब से मेरा नाम कदापि न लेना। बाबा! देने वाला तो ऊपर बैठा है! मैं किसी को क्या दे सकता हूँ। मैं तुम्हारे द्वारा की हुई प्रशंसा से गर्वोन्मत्त होकर तुम्हें मालामाल कर देना चाहता था, लेकिन भगवान् को वह मंजूर न था।' उस साधु को भी एक नया सबक मिला। उसी दिन से राजा ने अपना रवैया बदल दिया। अब वह जरूरत मंद को अपने हाथों से दान देने लगा, उसे अपनी प्रशंसा या प्रसिद्धि की कोई चाह न रही।

सचमुच, राजा गंगाराम पहले गौरवदानी था, किन्तु जब से उसे उस निःस्पृह साधु से प्रेरणा मिली, तब से वह वास्तविक दानी बन गया। अतः गौरवदान से निःस्पृहतापूर्वक दान करना हजारों गुना बेहतर है।

इस प्रकार दान देने की कुछ मनोवृत्तियों का विवेचन यहाँ किया गया है। मनुष्य विविध प्रकार के संकल्प-विकल्प से प्रेरित होकर देता है, पर सभी दिया हुआ दान, धर्म या पुण्य नहीं होता, इसकी एक झलक यहाँ दिखाई गई है। ☆

9

अधर्मदान और धर्मदान

अधर्मदान लक्षण और उद्देश्य

'गौरव दान' पर पिछले प्रकरण में चिन्तन किया गया है। आगम कथित दस दानों में इसके बाद 'अधर्म दान' का क्रम आता है। आप सुनकर या पढ़कर चौंकेंगे नहीं कि एक तरफ तो दान की इतनी महिमा कि इसे आकाश में चढ़ा दिया, और दूसरी तरफ दान को 'अधर्म' विशेषण से भी जोड़ दिया ? हाँ, बात विचारने की है। वास्तव में जब 'दान' सिर्फ 'देना' क्रियामात्र रह जाता है, तब उसके साथ कोई भी विशेषण जुड़ सकता है। दान अपनी व्याख्या के अनुरूप तो सदा 'अमृत' ही होता है, किन्तु जब देने की क्रिया को ही दान कहने लगते हैं तो वह दान धर्म भी हो सकता है तो अधर्म भी। यहाँ पर इसी रूप में विचार किया गया है कि जब दान के द्वारा अधर्म को, अशुभ वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है तो वह दान अधर्म दान' हो जाता है—

'अधर्मदान' शब्द ही यह अभिव्यक्त करता है कि जो मनुष्य अधर्म कार्यों में दान देता है, उसका वह दान अधर्मदान कहलाता है।[1] अथवा अधर्मी (चोर, जुआरी हत्यारे, वेश्या, कसाई आदि) को उस निमित्त से दान देना भी अधर्म दान कहलाता है। अधर्मदान अत्यन्त निकृष्ट दान है। इस दान से न तो कर्मक्षय होता है, और नहीं पुण्य प्राप्ति ही। इससे अधिकतर सम्भावना अधम वृद्धि की ही रहती है। इसीलिए अधर्मदान का लक्षण स्थानागसूत्र के टीकाकार ने किया है—

जो हिंसा, झूठ, चोरी आदि में उद्यत हो, परस्त्रीगमन एवं परिग्रह में आसक्त हो, उस दौरान उसे जो कुछ दिया जाता है, उसे अधर्मदान समझना चाहिए।[2]

---

१ अधर्मकरणश्चासौ दान च, अधर्मपोषक वा दानमधर्मदानम् ॥ —स्था० वृत्ति —जो दान अधर्म का कारण हो, अथवा अधर्म का पोषक हो, वह अधर्मदान कहलाता है।

२ 'हिंसाऽनृत चौर्योद्यतपरदारपरिग्रहप्रसक्तेभ्य ।
यद्दीयते हि तेषा तज्जानीयादधर्माय ॥"

—स्थानाग वृत्ति

अधर्मदान का उद्देश्य मुख्यतया किसी अधर्म को बढ़ाना होता है। जैसे एक लोभी व्यापारी है। वह चोर को गुप्त रूप से बुला कर एक हजार रुपये भेंट दे देता है, और कहता है—तुम हमारे पास माल चुराकर लाओ और चुपके से दे जाओ। उसका दाम तुम्हें ऊपर-ऊपर से दिया जायगा। उसका कोई जमा खर्च नहीं होगा। ये तो तुम्हें भेंट रूप में दिये हैं।" चोर ने व्यापारी की बात स्वीकार कर ली और प्रसन्न होकर चला गया। वह उत्साहपूर्वक चोरी जैसे निन्द्यकर्म में प्रवृत्त हो गया।

व्यापारी द्वारा चोर को दिया गया दान अधर्म की ही तो वृद्धि करेगा! इसी प्रकार एक वेश्या भी। वह बड़े-बड़े धनिकों को अपने जाल में फँसा कर कसब कमाती थी। एक सेठ भी उससे लगा हुआ था। उसने वेश्या को अपना धन्धा बढ़ाने और नई-नई लड़कियों को वेश्या बना कर रखने के लिए पांच हजार रुपये इनाम के तौर पर दे दिये। वेश्या की खूब बन आई। पहले ही वह वेश्या कर्म तो करती ही थी, अब और अधिक वेश्या कर्म बढ़ाएगी। यह तो प्रत्यक्ष अधर्मदान है।

इसी प्रकार किसी कसाई को उसके किसी कार्य से खुश होकर किसी ने दो हजार रुपये भेंट दे दिये। वह जानता है कि यह कसाई पशुवध करता है, इस दान से उसके धन्धे को प्रोत्साहन मिलेगा, किन्तु अपने किसी स्वार्थ से वशीभूत होकर यह दान देता है। अतः ऐसा दान अधर्मदान की कोटि में ही जाएगा।

एक डाकू है। वह डाका डालता है। परन्तु एक धनिक की उससे दोस्ती है। वह उसकी लूट का माल सस्ते में खरीदता है। धनिक उस डाकू को डाका डालने के बाद छिपने के लिए एक ऐसी गुफा बनवा देता है, ताकि वहाँ छिपने पर किसी को पता न चल सके। उस डाकू को अपने यहाँ भोजन भी कराता है, उसके परिवार का भी पालन-पोषण करता है। इस प्रकार के दान का परिणाम यह होता है कि वह डाकू निःशंक होकर डाका डालता है और उस धनिक को ला लाकर सस्ते में बेच देता है। वह उस प्राप्त धन को शराब, मांसाहार, वेश्यागमन एवं सिनेमा आदि देखने में फूंक देता है। जब वह बिलकुल निर्धन हो जाता है, तब फिर वह धनिक उसे हजार-दो हजार रुपये भेंट देकर डकैती के लिए भेजता है। इस प्रकार का दान भी अधर्म-वृद्धि का कारण होने से अधर्मदान है।

इसी प्रकार एक धनिक किसी तस्कर कार्य में प्रवीण व्यक्ति को तस्करी का माल लाने के लिए काफी इनाम देता है। तस्कर कार्य में निपुण व्यक्ति तस्करी से बहुत-सा माल ला लाकर उस धनिक को देता है, उसे वह सस्ते में ले लेता है; और खूब पैसा कमाता है। यह भी अधर्मदान का ही प्रकार है।

एक हत्यारा है। उसे किसी व्यक्ति ने इशारा किया कि 'अमुक व्यक्ति को मार डालना। तुम्हें मैं बहुत बड़ा इनाम दूंगा।' वह लोभ में आकर उस व्यक्ति को

उनके शरीर का पोषण होगा और वे शरीर को स्वस्थ और चित्त को प्रसन्न रखकर सयम की साधना करेंगे, शुद्ध धर्म की आराधना करेंगे और शरीर को उचित पोषण देकर उसे जीवदया का कार्य करेंगे। अपने ज्ञान दर्शन चारित्र की वृद्धि करेंगे, स्वयं धर्मपालन करेंगे, दूसरो, धर्मोपदेश या धर्मप्रेरणा देकर धर्ममार्ग पर लगाएँगे। इस दृष्टि से ऐसे नि स्पृही सयमी सन्तो को जो कुछ भी उनके लिए कल्पनीय एषणीय पदार्थ *दिया जाएगा वह धर्म मे ही लगेगा। उससे धर्म की वृद्धि होगी, अधर्म निवारण* का कार्य होगा।

किन्तु धमदान का दायरा इस लक्षण म जितना सकीर्ण बताया गया है, उतना सकीर्ण नही है। वह काफी विस्तृत है। धर्मदान इस लक्षण से पहले के लक्षणानुसार वहाँ वहाँ सर्वत्र धर्मदान हो सकता है, जहाँ-जहाँ धर्म वृद्धि, धर्म सुरक्षा और धर्म से विचलित या पतित को पुन स्थिरता हो, बशर्ते कि ऐसे धर्म के उद्दश्य से दिये गए दान के पीछे किसी प्रकार की लौकिक आकाक्षा, स्वार्थ, पद प्रतिष्ठा लिप्सा, प्रसिद्धि की लालसा आदि विकार न हो।

इस दृष्टि से धर्म कार्य के लिए भी नि स्वार्थ एव निष्काम भाव से दिया जाने वाला दान भी धर्म दान की कोटि मे आ सकता है।

जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज के जीवन की एक घटना है—

सवत् १९७१ मे आप आगरा से मालवा की ओर पधार रहे थे, तब कोटा के पास मार्ग मे एक खटीक को सोए हुए देखा। उसके पास दो बकरे बधे हुए थे। इससे उन्होने अनुमान लगाया कि यह वधिक होगा। जैन दिवाकरजी महाराज ने उसे उपदेश दिया—"भाई! यह पाप तुम किस लिए करते हो, इसे छोडो। इस पाप *कर्म का बुरा फल भी तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। जैसी तुम्हें पीडा होती है,* वैसी ही इन प्राणियो को होती है। हिंसक व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता। अत तुम इस धधे को छोड़कर दूसरा कोई सात्विक धधा कर सकते हो।'

दिवाकर जी महाराज के इस उपदेश का उस खटीक पर जादू सा असर हुआ। उसने कहा—'गुरु महाराज! आपका कहना बिलकुल सच है। मैं आज से परमात्मा को सर्वव्यापी मान कर सूर्य-चन्द्र की साक्षी से यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक जीऊँगा, तब तक कभी इस धधे को नहीं करूगा। परन्तु आपके साथ जो भक्त हैं, उनस मेरी प्रार्थना है कि मेरे पास इस समय घर पर ३२ बकरे हैं, इन्हें ये खरीद कर कुछ रुपये दे दें तो मैं दूसरा सात्विक धधा अपना लू।' महाराज श्री की सेवा में जो श्रावक थे, उन्होंने तुरन्त वे बकरे खरीद लिए और कुछ रुपये ऊपर से उसे भेंट के रूप मे दे दिये। इस प्रकार एक पतित व्यक्ति को धर्म की राह पर चलने हेतु श्रावक के द्वारा जो दान दिया गया, वह धमदान की कोटि म ही परिगणित होगा।

इसी प्रकार जैन शास्त्रों में सम्यक्त्व के ८ अंगों में से एक अंग बताया है—'स्थिरीकरण.' स्थिरीकरण का अर्थ है—कोई व्यक्ति धर्म से डिगता हो, धर्म से विचलित होता हो, उसे पुनः धर्म में स्थिर करना। यद्यपि धर्म में स्थिर करने का सामान्यतया मार्ग तो उपदेश, प्रेरणा या आश्वासन का है। परन्तु कभी-कभी उपदेश या प्रेरणा आदि का कोई असर नहीं होता, जब कोई धार्मिक व्यक्ति अर्थ संकट में हो और विवश होकर अपना और अपने परिवार का पेट भरने के लिए धर्मान्तर का रास्ता अपनाने को तैयार होता है, अथवा धर्म मार्ग को छोड़कर चोरी, डकैती या अन्य अनैतिक पेशा अपनाने को तैयार हो जाता है, ऐसे समय में उसे धर्म में, शुद्ध धर्म में स्थिर करने के लिए जो दान के रूप में अर्थ आदि का सहयोग दिया जाता है, उसे धर्मदान न मानने से कौन इन्कार कर सकता है?

मारवाड़ जालौर का एक नवयुवक ऊदा मेहता गुजरात की एक नगरी में पहुँच गया। मारवाड़ में भयंकर दुष्काल के कारण वह किसी आजीविका की तलाश में आया था। अंग-अंग में तरुणाई थी, पर गरीबी और फटेहाल दशा ने उसे धुंधली कर दी थी। उसकी आस्था जैन धर्म में थी, इसलिए वह पाटन के जैन उपाश्रय के बाहर द्वार पर बैठ गया। पर्युषण पर्व के दिन थे, इसलिए वह इस आशा से बैठा था कि कोई जैन भाई या बहन मुझे कुछ सहायता कर दे तो मैं अपना काम चला लूं। एक के बाद एक कई भाई, कई बहनें, युवक आए-गए, पर किसी ने उससे नहीं पूछा कि "तू कौन है? कहाँ से आया है? क्या चाहता है?" तीन घंटे हो गए, बैठे-बैठे, उसे निराशा हो गई थी। उसके मन में रह-रहकर विचार आ रहे थे, कि अगर कोई मुझे कुछ मदद नहीं करेगा तो मैं इस धर्म को रखकर क्या करूंगा? नीति या अनीति किसी भी प्रकार से पेट तो भरना ही होगा।' इसी बीच एक बहन, जिसका नाम लच्छी (लक्ष्मी बहन) था, उधर से निकली। उसने उसे खिन्न देखकर पूछा—"भाई! तुम कौन हो? यहाँ उदास से क्यों बैठे हो?" भाई शब्द सुनते ही ऊदा मेहता की आँखों में आंसू उमड़ आए। उसने कहा—"बहन! तुम्हीं एक बहन ऐसी निकलीं, जिसने 'भाई' कहकर मुझसे अपनी हालात पूछी। मैं मारवाड़ का जैन हूँ। वहाँ भयंकर दुष्काल के कारण गुजरात आया हूँ—किसी धंधे की तलाश में। परन्तु यहाँ आने पर मैं निराश हो गया। दो दिन से भूखा हूं। सोचा था—उपाश्रय पर कोई न कोई मुझे पूछेगा, इसीलिए यहाँ आ कर बैठा था। मैं तो निराश हो कर लौट रहा था, अब! लेकिन इसी बीच तुमने मुझे पूछ लिया।' लक्ष्मी बहन ने उसे आश्वासन दिया "घबराओ मत, भाई! घर चलो, बहन के घर पर भाई भूखा रह जाय, यह तो बहन का अपमान है।" लक्ष्मी-बहन ने ऊदा मेहता को भोजन कराया, पहनने के लिए वस्त्र दिये। व्यापार के लिए अर्थराशि दी, रहने के लिए मकान दिया। इस प्रकार ऊदामेहता को धर्म में स्थिर किया। यही ऊदामेहता आगे चलकर अपनी प्रतिभा से गुजरात के चोलुक्य सम्राट के शासनकाल में महामन्त्री बना।

क्या लक्ष्मी बहन का ऊदामेहता को धर्म में स्थिर करने के लिए दिया गया

अर्थसहयोग (दान) धर्मदान मे शुमार नहीं होगा ? अवश्य ही इसे धर्मदान कहा जाएगा।

इसी प्रकार धर्मकार्य के लिए जो भी दान किसी सस्था या व्यक्ति को दिया जाता है, या किसी महान् पुरुष की प्रेरणा से दान किया जाता है, उसे भी हम धर्मदान कह सकते हैं।

सम्प्रति राजा ने आचार्य सुहस्तिगिरि की प्रेरणा से धर्म की सेवा करने में यानी आन्ध्र आदि अनार्य देशो मे जनता को धर्म सम्मुख और जैन साधुओ के प्रति श्रद्धाशील बनाने के लिए अपने सुभटो को भेजा। उसमे लाखो रुपये खर्च हो गए। यह सब रुपया धर्म प्रचार के लिए सम्प्रति राजा द्वारा दिया गया था। इसे भी धर्मदान कहा जा सकता है।

इस प्रकार के और भी अनेको उदाहरण हैं, जिनसे यह जाना जा सकता है, धर्मवृद्धि के कार्य मे जो भी व्यक्ति निष्कांक्ष भाव से दान देता है, उसका वह दान धर्मदान की कोटि मे गिना जा सकता है।

धर्मदान का एक और प्रकार है, वह यह है कि अपने प्राणों की बाजी लगा कर अर्थराशि का उपयोग शरीर रक्षा मे लगाने की अपेक्षा धर्मरक्षा के लिए करना अर्थात् धर्म रक्षा के लिए अर्थराशि दे देना भी धर्मदान है।

तिब्बत के वृद्ध राजा जोशीहोङ् की वर्षों से यह हार्दिक इच्छा थी कि "मैं मगध देश से बौद्ध धर्म के आचार्य दीपकर को तिब्बत मे लाकर बौद्ध धर्म का पुनरुद्धार करूँ। बौद्ध धर्म मे जो विकृतियाँ आ गई हैं, उन्हें दूर कराकर शुद्ध धर्म का बोध जगत् को कराऊँ।" परन्तु आचार्य दीपकर को भारत से तिब्बत लाने के लिए बहुत अधिक धन की जरूरत थी, पर्याप्त मात्रा मे सोना चाहिए था। अत राजा जोशीहोङ् स्वय सोने की खोज मे निकल पडे, क्योकि सरकारी खजाने में जितना सोना था, उससे अधिक सोना आचार्य दीपकर को लाने, उनके द्वारा धर्म-सशोधन एव धर्म-प्रचार कराने मे खर्च होने का अनुमान था। उधर राजा जोशीहोङ् ने भारत से आचार्य दीपकर को बुला लाने के लिए विद्वानो का एक दल भारत भेजा। उन्ही दिनो नेपाल के समीप राजा गारलग के राज्य मे सोने की खान निकली। जोशीहोङ् राजा को पता चला तो वे उधर ही चल पड़े और जाकर खान पर अपने आदमी पहरेदार बिठा दिए। उधर नेपाल नरेश उस सोने की खान पर अपना अधिकार जमाने आए। खान एक मालिक बनने जा रहे थे—दो। इस तरह नेपाल नरेश और तिब्बत नरेश के बीच युद्ध छिड गया। युद्ध मे न्याय-अन्याय नही देखा जाता। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत ही यहाँ चरितार्थ होती है। अत. विजय का पलडा नेपाल की ओर झुका। वृद्ध तिब्बत नरेश जवांमर्द की तरह लड़ने पर भी हार गए। वे कैद कर लिये गए। नेपाल नरेश से उन्होने समाधान करने की बात चलाई। पर पहले तो उन्होंने समाधान से कतई इन्कार कर दिया। बाद मे नेपाल

नरेश, जो बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु था, बोला—"अब तो समाधान इसी शर्त पर हो सकता है, और तिब्बत नरेश को भी तभी बन्धनमुक्त किया जा सकता है, अगर वे बौद्धधर्म को छोड़कर हमारे धर्म को स्वीकार करें।" परन्तु तिब्बत नरेश ने कहा—"देह परिवर्तन भले ही हो जाए, धर्म-परिवर्तन मैं हर्गिज नहीं कर सकता।"

तिब्बत का यह राजा बुद्धिमान्, लोकप्रिय और धर्मपरायण था। इसलिए प्रजा ने मन्त्रिमण्डल से कहा—"चाहे जिस मूल्य पर राजा को छुड़ा लाओ।" अतः तिब्बत नरेश के भतीजे के नेतृत्व में एक शिष्टमण्डल नेपाल पहुँचा। उसने नेपाल नरेश से तिब्बत नरेश को बन्धनमुक्त कर देने की प्रार्थना की। नेपाल नरेश ने बहुत कुछ आनाकानी करने के बाद कहा—"या तो तिब्बत नरेश धर्म परिवर्तन करें या उनके वजन के बराबर तौल कर सोना हमें दें। दोनों में से किसी एक उपाय से उनका छुटकारा हो सकता है।" धर्म परिवर्तन तो तिब्बत नरेश के लिए देह परिवर्तन से भी कठिन था। प्रजा ने उत्साहपूर्वक सोना इकट्ठा करने का सोचा। तिब्बत गरीब देश था, वहाँ अन्न, फल, भूमि और जल तो था, पर सोना न था। राजा के भतीजे ने काफी परिश्रम उठा कर पर्याप्त सोना एकत्रित किया। उधर तिब्बत नरेश ने उपवास करना शुरू किया, उन्हें पता था कि उसके भण्डार में सोने की कितनी तंगी है? निरन्तर उपवास से वजन काफी कम हो गया। निश्चित तिथि पर तिब्बत के मन्त्री तथा राजा का भतीजा सोना लेकर नेपाल दरबार में हाजिर हुए। तराजू रखी गई। एक पलड़े में वृद्ध राजा को बिठाया गया और दूसरे में सोना डाला गया। तिब्बतभर का सारा सोना डालने पर भी राजा का पलड़ा भारी रहा। राजकुमार और मन्त्रियों ने अपने अंग पर पहने हुए गहने उतार कर रखे, फिर भी दोनों पलड़े बराबर न हुए। अतः नेपाल नरेश को वह सोना वापिस नेपाल नरेश के भतीजे को सौंप दिया और राजा को पुनः कारागार में डाल दिया। अब तो छुटकारा पाने का एक ही मार्ग रह गया था—धर्म-परिवर्तन का, जो तिब्बत नरेश के स्वभाव के विरुद्ध था। तिब्बत का मन्त्रीमण्डल और नरेश का भतीजा राजा से मिले। उन्होंने खूब शान्ति से कहा—'तुम किसी प्रकार का सन्ताप न करो। मेरा देश पैसे से भले ही गरीब हो, पर मन का गरीब नहीं है, इस अनुभव से मुझे सन्तोष है। मेरा धर्म 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' जीने में है। मेरी मांग यह है कि मुझे छुड़ाने का प्रयत्न छोड़ दो। देश के इतने सोने का अपव्यय कराकर, देश को गरीब बनाकर छूटने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ। अगर तुम मुझे छुड़ा भी लोगे, तो भी मैं लम्बे समय जीने से रहा। मैं तो मौत के निकट हूँ। मुझे धन देकर छुड़ाने से तुम्हें या देश को कोई लाभ नहीं। मुझे भी सन्तोष नहीं होगा।

'क्या आपके लिए हम इतनी कुर्बानी भी नहीं कर सकते? धन आपसे बढ़कर थोड़े ही है। आपके पधारने से तिब्बत पुनः समृद्ध हो जायगा। आखिर हम क्या करेंगे इस धन का? कुछ समझ में नहीं आता।' राजा ने कहा—'देखो, वास्तविकता से सोचो। मैं धर्म सुधार के लिए बहुत समय से उत्सुक हूँ। हमारा धर्म पुराना

और विकृतियो से परिपूर्ण हो गया है। मैं अपने धर्म को शुद्ध और सर्वजन ग्राह्य बनाना चाहता था। इसके लिए मैं भारत से आचार्य दीपकर को बुलाना चाहता था, पर कर्म दोष के कारण मैं यह कार्य शायद अपने जीतेजी न देख सकूं। तुम यह सोना अपने साथ ले जाओ और भारत जाकर आचार्य दीपकर को ले आओ, उनके *प्रवास-व्यय के अलावा धर्म-सुधार एव धर्म-प्रचार मे जो भी खर्च हो,* उसके लिए यह सोना सुरक्षित रखो।'

राजकुमार बोला—'आप क्या कह रहे हैं? जिसकी हमारे मन मे कीमत नहीं है, उसे लेते जाएँ, जिसकी हमारे मन मे कीमत है, उसे छोड़ते जाएँ, यह हमसे कैसे होगा?' राजा ने कहा—'देखो! कर्तव्य के सामने व्यक्तिगत स्नेह की कीमत नहीं। विश्व कल्याण के सामने व्यक्तिगत हित की लालसा पाप है। मेरे प्राण तो यहाँ भी छूटने वाले हैं, पाहुने सरीखे हैं। धर्मकार्य करो। जो सोना मैं तुम्हें ले जाने को कहता हूँ, उसे धर्म-सुधार मे धर्म-ज्ञान के उद्धार मे खर्च करना। इस स्वर्ण के कण-कण मे एक धर्मप्रेमी राजा के प्राण का अश भरा है। तुम लोग आचार्य दीपकर से यही कहना—आपको तिब्बत मे देखने के लिए राजा ने प्राण दिये हैं।' आखिर मन्त्री और राजकुमार वह सोना लेकर अश्रुपूरित नेत्रो से विदा हुए। भारत आये। विक्रमशीला विद्यापीठ मे आठ हजार भिक्षुओ का सम्मेलन होने जा रहा है, उसमें आचार्य दीपकर सर्वश्रेष्ठ थे। उनके गुरु रत्नाकर भी वहाँ उपस्थित थे। पहले तो तिब्बती राजपुरुषो को देखते ही उन्होने कहा—'तुम्हारा यत्न व्यर्थ है। आचार्य दीपकर भारत छोड नहीं सकते।' किन्तु जब वे *आचार्य* दीपकर से मिले, उन्हें सारी परिस्थिति समझाई। तिब्बत नरेश के त्याग का वर्णन किया और सोना उनके चरणो मे समर्पित किया। आचार्य श्री को तिब्बत नरेश के त्याग ने एकदम द्रवित कर दिया। वे बोले 'वास्तव मे तुम धर्मात्मा हो। मेरा मन उस धर्मनिष्ठ राजा की इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए लालायित है। पर अगर गुरुजी कहेंगे तो मैं वृद्ध होते हुए *भी* तिब्बत जाऊँगा।' गुरुजी ने तीन वर्ष के लिए अनुमति दे दी। आचार्य दीपकर ने तिब्बत की ओर कदम बढ़ाए। इधर कारागार मे बद्ध राजा के प्राणपखेरू उड़ गए। आचार्य दीपकर ने तीन के बदले १३ वर्ष तिब्बत मे बिताये। वे फिर भारत मे नही आये।

निष्कर्ष यह है कि बौद्धधर्मी तिब्बत नरेश जोशीहोड् ने प्रचुर मात्रा मे नेपाल नरेश को सोना देकर अपने प्राण बचाने की अपेक्षा धर्म प्रचार एव धर्म सुधार के लिए वह सारा सोना दे दिया। धर्म के लिए यह दान कितना महत्त्वपूर्ण था!

धर्मदान का एक पहलू और है। पहले धर्मदान के जो लक्षण दिये गए हैं, उनमे से एक है—धर्म (धर्मपरायण पुरुष) को सकट मे पड़े देखकर उसे सकट मुक्त करने के लिए दान देना धर्म-दान है। *यद्यपि यह दान बहुत ही दुष्कर तथा महँगा* पड़ता है, तथापि जो व्यक्ति धर्म मे दृढ़ होता है, वह धन, सोना, यहाँ तक कि राज्य

तक दान देने के लिए तैयार हो जाता है। वह ऐसे (धर्म) दान के लिए बिलकुल नहीं हिचकिचाता।

धर्मादा और धर्मदान

बहुत-से व्यापारी लोग अपना माल बेचने के साथ धर्मादा रकम काटते हैं, और वे उस रकम को धर्मादा खाते जमा करते जाते हैं, जब वह रकम इकट्ठी हो जाती है, तब साल भर में एकत्रित उस अर्थराशि को किसी पुण्य कार्य या धर्मकार्य में लगा देते हैं। सवाल होता है, क्या यह एकत्रित धर्मादा राशि का व्यय भी धर्म दान की कोटि में आ सकता है ?

इसमें तीन प्रश्न गर्भित हैं—

१—क्या यह अर्थराशि केवल धर्मबुद्धि के कार्य में दी जा रही है ?

२—क्या यह अर्थराशि दीन-दुःखियों को सहायता के लिए या बाढ़, भूकम्प सूखा आदि से पीड़ितों की सहायता के लिए दी जा रही है। या किसी सेवाभावी संस्था, चिकित्सालय, गो सेवा आदि को दान दी जा रही है।

३—अथवा परम्परागत रूढ़िवश अपने तथाकथित यजमान, पुरोहित, ब्राह्मण या और अपने किसी सगे-सम्बन्धी को निर्वाह के लिए या बहन-बेटियों को रिवाज के तौर पर यह रकम दी जा रही है ?

अगर प्रथम विकल्प है और यह राशि निखालिस धर्म कार्य के लिए दी जा रही है तो वह धर्मदान की कोटि में आ सकती है।

इस धर्मादा अर्थराशि के दान को हम धर्मदान कह सकते हैं। परन्तु वह अर्थराशि धर्मकार्य की ओर ध्यान न देकर सिर्फ किसी संकट या दुःख से पीड़ित व्यक्ति को अनुकम्पा लाकर उसे या उस प्रकार के व्यक्तियों को दी जाती है, तो वह अनुकम्पादान की कोटि में चला जाएगा।

लेकिन वह धर्मादा रकम अपने आश्रितों या पोष्यवर्ग के पोषण में खर्च की जाती है, तो वह कृतदान या करिष्यतिदान की कोटि में जाएगी। अथवा लज्जादान की कोटि में भी आ सकती है। सामाजिक रूढ़ि के तौर पर किसी पुरोहित यजमान आदि को उस धर्मादा रकम में से दिया जाने पर वह दान लज्जादान या भयदान की कोटि में परिणत हो जाएगा।

कई बार ऐसी धर्मादा रकम अपनी बहन-बेटियों के लेनदेन में दी जाती है, अथवा किसी तीर्थ की यात्रा में या सैर-सपाटे करने में खर्च की जाती है, यह न तो अनुकम्पादान है, न पुण्य है और न ही धर्मदान है। बल्कि शुभ कृत्य अर्थराशि का दुरुपयोग है। धर्मादा रकम को या तो धर्मकार्य में ही लगाएँ [illegible] या तो पीड़ित व्यक्तियों की सेवा में लगाना चाहिए। रूढ़ि के तौर
अपने सैर-सपाटे में [illegible] उचित नहीं है।

करिष्यतिदान क्या, क्यों और कैसे ?

धर्मदान के बाद 'करिष्यतिदान' का क्रम आता है।' करिष्यतिदान कि प्रतिदान की आशा से किया जाता है। किसी व्यक्ति ने एक दीन-हीन, अनाथ बाल को पढ़ाया-लिखाया और उसका भरण-पोषण किया, उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि प जो भी व्यय हुआ, उसने यही सोचकर किया कि भविष्य में जब यह बड़ा हो जाएग तब इससे सारी रकम ले ली जाएगी। वह जितना भी खर्च होता, उसके नाम लिखता जाता। इस प्रकार होते-होते जब वह पढ़-लिखकर स्वयं कमाने लगा, त एक दिन उस व्यक्ति ने उस अनाथ लड़के को उसके खाते में जितनी रकम लगी थ वह बताई। अनाथ लड़का अच्छी कमाई करने लगा, कृतज्ञता के भार से दबा हुअ था ही। अतः वह भी धीरे-धीरे अर्थराशि जमा करने लगा। और एक दिन ब्या सहित सारी रकम चुका कर वह ऋणमुक्त हो गया। यह भी एक प्रकार का करिष्यति दान है। परन्तु है यह निकृष्ट कोटि का। क्योंकि अगर बाद में प्रतिदान न मिलत तो इस प्रकार के दानी के मन में संक्लेश होता और वह आदाता को भला-बुर कहता। इसलिए इस प्रकार की प्रतिदान की वृत्ति कभी-कभी मनुष्य के मन क निम्नतम दुर्भावों में बहा ले जाती है।

करिष्यतिदान का लक्षण स्थानांगसूत्र के टीकाकार ने इस प्रकार बताया है—

'करिष्यति कञ्चनोपकारं ममाऽयमिति बुद्धया।
यद्दानं तत्करिष्यतीति दानमुच्यते ॥'

अर्थात्—'यह मेरा कुछ उपकार करेगा', इस बुद्धि से जो दान दिया जाता है वह 'करिष्यति' दान कहलाता है।

मनुष्य भविष्य की कई आशाएँ सँजोकर रखता है। वह सोचता है, कि अमुक व्यक्ति इस समय संकट में है, मैं इसको कुछ अर्थसहायता दूंगा तो भविष्य में मुझ पर संकट आने पर यह भी मुझे सहायता देगा, इस आशा से किसी को दान देना करिष्यतिदान की कोटि में आता है।

देवशंकर का छोटा भाई दामोदर जब पाँच साल का था, तभी उसकी माँ चल बसी। दामोदर के पालन-पोषण की जिम्मेवारी देवशंकर पर आ पड़ी। उसकी पत्नी दयाबहन उसे अपने पुत्र की तरह पालन-पोषण करने लगी। दामोदर बड़ा हुआ। जब वह मैट्रिक पास हो गया तो देवशंकर ने अपनी पत्नी से कहा—'अब इसे आगे पढ़ाने की हमारी शक्ति नहीं है।' लेकिन दयाबहन ने कहा—'नहीं, इसे आगे पढ़ाना चाहिए। पढ़-लिखकर होशियार हो जाएगा तो हमारे ही काम आएगा। मैं अपने गहने बेचकर उस धन से इसकी पढ़ाई कराऊँगी।' इस प्रकार दयाबहन ने अपने गहने दामोदर की शिक्षा के लिए दिये। दामोदर इंजीनियर बन गया। उसकी शादी एक बी० ए० पास लड़की उर्वशी से हो गई। उर्वशी ने इस घर में आते ही, अलग हो जाने की हठ ठान ली। फलतः दामोदर को भी उसकी ओर झुकना पड़ा। इससे

दयावहन को दुःख तो हुआ, लेकिन उसने मन को समझाया कि किया हुआ उपकार कभी व्यर्थ नहीं जाता। अलग हो जाने पर देवशंकर और दामोदर दोनों भाइयों में अन्तर बढ़ता गया। यहाँ तक कि एक वार देवशंकर भाई बीमार पड़े तो भी दामोदर और उसकी पत्नी कुशल पूछने तक न आए। देवशंकर भाई ने अपने पुत्र डॉ० दिनेश को अन्तिम समय में कहा कि तेरा चाचा दामोदर कभी बीमार पड़े तो विष का इंजेक्शन दे देना।' परन्तु देवशंकर भाई के मरने के बाद दामोदर और उर्वशी पश्चात्ताप प्रगट करने आए। दयावहन ने उन्हें आश्वासन दिया। डॉ० दिनेश अपना दवाखाना गाँव में ही ले आया। एक वार दामोदर बीमार पड़ा। डॉ० दिनेश से वह इलाज कराने आया। उस समय दिनेश ने कुशलतापूर्वक उसका इलाज किया। एक महीने तक इलाज के बाद दामोदर बिलकुल स्वस्थ हो गया। दामोदर ने इस खुशी में एक पार्टी दी, और अपने बड़े भाई देवशंकर के नाम पर २५ हजार रु० का चैक डॉ० दिनेश को देते हुए कहा—'यह चैक मैं तुम्हें अपने दवाखाने के लिए दे रहा हूँ। इससे तुम गरीबों का मुफ्त इलाज करना।'

अब दोनों भाइयों के घर में स्नेहगंगा उमड़ पड़ी, शत्रुता का नाम भी न रहा। हृदय का मैल दूर हो गया।

दयावहन के द्वारा अपने देवर दामोदर के प्रति किया हुआ उपकार (आभूषण-दान) सफल हो गया। वास्तव में यह करिष्यतिदान का उदाहरण है।

कई बार व्यक्ति त्यागी श्रमणों को आहारादि देकर बदले में प्रत्युपकार की इच्छा रखता है। वह यह सोचता है कि ये महात्मा हैं, तपस्वी हैं, कोई ऐसा मंत्र बता देंगे या यंत्र दे देंगे, अथवा इनके मुख से ऐसा वचन निकल जाएगा, जिससे मेरा कार्य सिद्ध हो जायगा, लक्ष्मी के वारे-न्यारे हो जाएंगे। परन्तु इस प्रकार की अपेक्षा रख कर दान देना करिष्यतिदान तो है, परन्तु वह निम्नकोटि का है; उच्च कोटि का नहीं। करिष्यतिदान भी यदि प्रत्युपकार की भावना से निरपेक्ष होकर दिया जाता है तो वह सफल होता है, जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्ट कहा है—

'एवं जो जाणित्ता विहुलियलोयाण धम्मजुत्ताणं।
णिरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीवियं सहलं॥' २०॥

अर्थात्—इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य जानकर जो निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है और उसके बदले में उससे प्रत्युपकार की वाञ्छा नहीं करता, उसी का जीवन सफल है।

करिष्यतिदान अपने आप में न तो पुण्य है, और न ही धर्म। वह लौकिक व्यवहार के नाते नैतिक आदान-प्रदान और कर्तव्य है। किन्तु जब इस प्रकार का दानदाता मोह या आसक्ति के वशीभूत होकर आदाता से प्रत्युपकार की आशा लगाए रहता है और वह आशा भंग हो जाती है; तब दाता के मन में आदाता के प्रति बुरी

भावनाएँ उठती हैं, वह उसे कोसता है, वह मन ही मन व्यथित होता है, आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान करता है। ऐसी दशा में करिष्यतिदान पाप का कारण बन जाता है। वह दाता के जीवन के लिए अभिशाप बन जाता है और आदाता के जीवन का भी वह अहित करता है। चूंकि करिष्यतिदान में जो प्रतिदान की भावना होती है, वह एक प्रकार की आकांक्षा और आसक्ति को जन्म देती है। इसलिए करिष्यतिदान धर्म या पुण्य का कारण नहीं बनता। कई बार ऐसा दान सौदेबाजी या व्यापार बन जाता है; तब दान के पीछे आदाता के प्रति प्रारम्भ से ही कोमल भावनाओं के बदले क्रूर भावनाओं का प्रादुर्भाव होने लगता है।

कृतदान : स्वरूप और उद्देश्य

करिष्यतिदान के बाद 'कृतदान' का क्रम आता है, जो दस प्रकार के दानो मे अन्तिम दान है। कृतदान एक प्रकार से दानी के प्रति कृतज्ञता प्रगट करने का दान है। यह प्रतिदान का रूप है। इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ इस प्रकार किया गया है—

'कृतं दानमनेन तत्प्रयोजनमिति प्रत्युपकारार्थं यद्दानं तत् कृतदान मित्युच्यते।'

—इसने मुझे दान दिया था, इस प्रयोजन से प्रत्युपकार की दृष्टि से जो दान दिया जाता है, वह कृतदान कहलाता है।

कृतदान सच्चे माने मे सार्थक तभी होता है, जब आदाता की दाता के प्रति प्रारम्भ से ही सद्भावना, कृतज्ञता की भावना और सहृदयता रहे। अगर आदाता प्रारम्भ से ही दाता के प्रति कुटिल और कठोर भावना लेकर चलता है तो कृतदान सार्थक नही होता। इसीलिए कृतदान का लक्षण स्थानांगसूत्र के टीकाकार ने इस प्रकार किया है—

शतशः कृतोपकारो दत्तं च सहस्रशो ममाऽनेन।
अहमपि ददामि किञ्चित् प्रत्युपकाराय तद्दानम्॥

—अर्थात् इसने मेरे पर सैकड़ो उपकार किये हैं, हजारो रुपये मुझे दिये हैं, मैं भी प्रत्युपकार के रूप मे इसे किञ्चित् दूं, इस प्रकार की भावना से जो दिया जाता है, वह कृतदान कहलाता है। कृतदान दाता की भावना को प्रोत्साहित और उत्तेजित करने के लिए बहुत ही प्रभावशाली होता है। दाता के मन मे कृतदान से सक्लेश समाप्त हो जाता है, सद्भावना की वृद्धि होती है। कई-कई बार तो दाता द्वारा दिये गए थोड़े-से दान के बदले कृतदानी सैकड़ो गुना बढ़कर प्रतिदान करता है, उपकृत भाव से देता है। वे जीवन के अनूठे क्षण होते हैं, जो कृतदान की भावना को प्रेरित करते रहते हैं।

वर्षों पहले का प्रसग है। एक मारवाड़ी युवक जीवन-निर्वाह के लिए किसी काम-धन्धे की तलाश मे बम्बई पहुँचा। उसके पास पहनने के कपड़े और एक लोटे

के सिवा और कोई सामान नहीं था। तीन दिन यों ही भटका, फुटपाथ पर सोता रहा। अन्त में किसी परिचित को उस पर दया आई। उसने एक सार्वजनिक धर्मशाला के ट्रस्टी के नाम पत्र लिख दिया कि 'इस गरीब लड़के को वे काम पर लगा दें।' लड़का जब धर्मशाला के ट्रस्टी के पास पहुँचा तो उन्होंने कहा—'कल पहली तारीख है, कल से काम पर लग जाना। अभी तो जाओ। तुम्हें पहरेदार का काम करना होगा।' पर उस युवक ने हाथ जोड़कर कहा—"सेठ जी! आपने मुझे अभी जाने के लिए कहा, पर मैं कहाँ जाऊँ! आज्ञा दें तो धर्मशाला में ही पड़ा रहूँ। कल सवेरे से काम पर लग जाऊँगा।" सेठ जी ने बात मान ली। दूसरे दिन वह काम में लग गया। शाम को सेठ जी आए और उस युवक से कहा—"तुम्हें क्या काम करना है? यह समझा देता हूँ। रोज कौन आता है, और कौन जाता है? इसका ब्यौरा लिख रखना, किसी को बर्तन वगैरह कुछ दिया जाय तो, उसे भी लिख लेना और धर्मशाला का ख्याल रखना।" युवक—"सेठ जी! मैं धर्मशाला का तो ध्यान रख लूँगा। पर लिख नहीं सकूँगा, क्योंकि मुझे लिखना-पढ़ना नहीं आता।"

"ओह! ऐसी बात है, हमें तो ऐसा आदमी चाहिए, जो पहरा भी दे सके, और सब लिख भी सके। तुम इस काम के लायक नहीं हो, तुम्हें इसी समय छोड़ा जा रहा है। तुमने आज काम किया है, उसके बदले ये लो आठ आने नौकरी के।" लड़के का मुँह लटक गया। वह जैसे ही बाहर निकला, कि सेठ ने वापस बुलाया। नौजवान ने तुरन्त लौटकर पूछा—"आप मुझे नौकरी पर रख रहे हैं न? मैं हृदय से आपका आभार मानता हूँ।" सेठ ने जेब से पैसे निकाले और कहा—"लो, यह और आठ आने। यह मैं तुम्हें अपनी ओर से दान में दे रहा हूँ।" यों एक रुपया लेकर लड़का चला गया। इस रुपये से उसने दस दिन काम चलाया। ग्यारहवें दिन जब फाकाकशी का अवसर आया तब सट्टा बाजार में एक सेठ के यहाँ उसे कागज पत्र पहुँचाने का काम मिल गया।

कुछ वर्षों बाद तो वह नौजवान बहुत बड़ा सटोरिया बन गया। बाजार में उसका नाम गरजने लगा। वह बहुत बड़ा सफल व्यापारी बन गया।

एक बार किसी सार्वजनिक संस्था के लिए एक नौजवान इनके पास आया और संस्था का नाम बताकर सहायता चाही। इन्होंने तुरन्त एक लाख रुपये दे दिये। वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने जाकर अपने पिता से यह बात कही, तब वे गद्गद कण्ठ से कहने लगे—"बेटा! ऐसे पुरुष का सम्मान करना और उन्हें मान पत्र देना चाहिए। कल मैं तुम्हारे साथ चलकर सेठ को समझाऊँगा।"

दूसरे दिन दोनों पिता-पुत्र सेठ के पास गए। सेठ वृद्ध पुरुष की ओर देखते रहे। वृद्ध ने कहा—मैंने उम्र बड़ी होने के कारण इस संस्था के देख-रेख का काम छोड़ दिया है। अब मेरे पुत्र ने इस काम को सम्भाल लिया है। आपने एक लाख रुपये दिये, इससे मुझे बड़ा आनन्द मिला और मैं आपके दर्शन करने आ गया।

हम लोगों ने आपको मानपत्र देने का निश्चय किया है और आपको भी भाषण देना पड़ेगा। आप अपना भाषण लिख दें तो उसे पहले से छपवा लिया जाय। हम आपके भाषण को रेकार्ड मे भी भर लेना चाहते हैं।"

सेठ ने कहा—"इतनी छोटी-सी रकम के लिए इतना सब करने की जरूरत नही है। मैंने तो कुछ किया ही नही है। अब आप स्वय आए हैं तो मै आपको ये एक लाख रुपये और देता हूँ। इन्हे आप अपनी इच्छानुसार दान मे लगाइए।"

सेठ ने तुरन्त ही तिजोरी मे से एक लाख के नोट वृद्ध के हाथो पर रखते हुए कहा—"इसमे कोई ज्यादा नहीं है। यह तो मैंने अपना हिसाब चुकता किया है।" "तो आप क्या कहना चाहते हैं ?" वृद्ध ने पूछा।

"मै यह कहना चाहता हूँ कि वर्षों पहले जब मैं इस शहर में आया था, तब आप, जिस सस्था की बात कर रहे हैं, उसमे मैंने एक दिन नौकरी की थी और उसके मेहनताने के आठ आने आपने मुझे दिये थे। मुझे लिखना-पढना नही आता था, इसलिए आपने मुझे नही रखा। उन आठ आने के बदले मैंने इस सस्था को एक लाख रुपये दिये हैं। नौकरी से अलग करने के बाद आपके हृदय मे मेरे प्रति दया भाव का सचार हुआ और आपने मुझे वापस बुलाकर अपनी जेब से आठ आने दान-स्वरूप दिये थे। उसके बदले मै आपको ये एक लाख और दे रहा हूँ। सस्था को सस्था के रुपये और आपको आपके।"

वृद्ध पुरुष की आँखें छलछला आईं। उन्होने कहा—"सेठ ! आपने बहुत बडा बदला दिया।" "यहाँ भी आप भूलते हैं। पैसे की कीमत कितनी है, यह मनुष्य की स्थिति और मन पर निर्भर रहती है। किसी एक गरीब के लिए आठ आने उसकी सर्वस्व पूँजी बन जाती है। और एक बड़े धनी के लिए लाख रुपये आठ आने के बराबर होते हैं। आपकी एव ईश्वर की कृपा से मुझे धन मिला है, इसलिए ये दो लाख रुपये देकर मैंने सिर्फ हिसाब ही चुकता किया है। आप भाषण देने की बात कहते हैं, सो मैं भाषण देना नहीं जानता। मैंने कामचलाऊ लिखना-पढ़ना सीख लिया है। वैसे मुझे कुछ नहीं आता।" सेठ ने कहा।

वृद्ध पुरुष ने कहा—"अच्छा, तो आपके नाम की तख्ती लगा दी जाए ?" "नही ! ऐसा करने की जरूरत नहीं है। इससे मैं स्वय मुश्किल मे पड जाऊँगा।" "कैसे ?" "इन्कम टैक्स के अधिकारी मुझे परेशान कर डालेंगे। मैं ब्रिटिश सरकार को टैक्स न देकर देश के काम म धन खर्चता रहता हूँ।'

'आप मानियेगा ? इतनी बडी रकम की सेठ ने रसीद भी नहीं लिखवाई। इस व्यापारी सेठ का नाम था—श्री गोविन्दराम सेक्सरिया। बम्बई शहर मे यह नाम बहुत प्रसिद्ध है—खास करके सट्टा बाजार और उद्योग क्षेत्र मे।'

यह है कृतदान का ज्वलन्त उदाहरण। गोविन्दराम सेक्सरिया ने सर्वप्रथम नौकरी रखने वाले सेठ के सिर्फ एक रुपये के उपकार के बदले दो लाख रुपये का प्रति दान देकर सचमुच कृतदान सार्थक कर लिया।

कृतदान भविष्यकाल के द्वारा भूतकाल को प्रतिदान है। भूतकाल से मनुष्य बहुत कुछ लेता है, उसका बदला उसे भविष्यकाल में चुकाना चाहिए।

एक ७५ वर्ष का वृद्ध रास्ते के एक ओर वृक्ष लगा रहा था। वहाँ से दो युवक गुजरे। उन्होंने इस बूढ़े को वृक्षारोपण करते देखा तो हँस पड़े। बोले—'बाबा! तुम्हें यह क्या माया लगी है। आज बो रहे हो, वह वृक्ष कब उगेगा? और कब तुम इसके फल खाओगे?' वृद्ध ने नम्रतापूर्वक मुस्कराते हुए उत्तर दिया—'भाई! मार्ग के दोनों ओर खड़े हुए पेड़ अपने पूर्वजों ने बोए हैं। उनके फलों और छाया का लाभ हमें मिला। अब आज हम बोएँगे तो उसका लाभ भविष्य की संतति को मिलेगा। हमने भूतकाल से कुछ लिया है, तो भविष्यकाल को कुछ न कुछ देना चाहिए। यह माया नहीं, कृतज्ञता है। समाज का हम पर बहुत बड़ा उपकार है, उसका बदला हमें किसी न किसी प्रकार से चुकाना ही चाहिए।' युवक सन्तुष्ट होकर आगे बढ़ गये।

वास्तव में कृतदान और करिष्यतिदान—ये दोनों विनिमय के प्रकार हैं। परन्तु दोनों में से करिष्यतिदान में दाता की और कृतदान में आदाता की सद्भावना ही मुख्य होती है। वैसे तो दोनों में प्रतिदान की भावना का मूल आधार आदाता है। आदाता पर ही निर्भर है कि वह लिये हुए दान के बदले में प्रतिदान देता है या नहीं?

महाराणा प्रताप हल्दीघाटी के युद्ध त्याग करने पर मेवाड़ के पुनरुद्धार की आकांक्षा से वीरान जंगलों में भटक रहे थे। बच्चे भोजन के लिए तरसते रहते थे। उस समय राणा पेचीदा उलझन में थे और जब वे मेवाड़ छोड़ने को उद्यत हुए, तब राणा के निर्वासन के समाचार सुनकर भामाशाह रो पड़े।

भामाशाह ने राणा प्रताप से इतने वर्षों में जो पूंजी प्राप्त की थी। भामाशाह उस पर चिन्तन करने लगे—'यह देह भी महाराणा के अन्न से बना है और यह अर्थ-राशि भी उन्हीं से प्राप्त हुई है, अतः ऐसे संकट के समय में मुझे मेवाड़ को स्वतन्त्र कराने के लिए महाराणा को यह सम्पत्ति दे देने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।' यह सोचकर दानवीर भामाशाह ने २५ लाख रुपये और २० हजार अशर्फियाँ राणा प्रताप को भेंट करदीं। वह धन इतना था कि उससे २५ हजार सैनिकों का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकता था।

यह था उपकार के बदले में कृतज्ञतापूर्वक प्रत्युपकार, जिसे हम कृतदान की कोटि में परिगणित कर सकते हैं।

कृतदान में पूर्व दाता को कोई कल्पना भी नहीं होती कि आदाता मुझे प्रति-दान देगा, वह तो निःस्वार्थभाव से उसकी परिस्थिति देखकर उस समय सहायता

करता है, जबकि करिष्यतिदान मे दान देने से पहले ही दाता एक आकाक्षा या कल्पना मनमे सजोकर चलता है। इसलिए यह निःसदेह कहा जा सकता है कि करिष्यतिदान की अपेक्षा कृतदान बहुत ही उच्चकोटि का दान है। कई दफा आदाता अपने साधारण से उपकार के बदले कई गुना धन बदले मे ऐसे समय मे स्वय की अन्त स्फुरणा से देता है, जबकि दाता सकट मे होता है।

वणथली (सौराष्ट्र) के सोमचद भाई ने अहमदाबाद के सबचद भाई झवेरी पर अपनी रकम जमा न होते हुए भी एक लाख रुपये की हुण्डी लिख दी, जिसे सबचद भाई ने सोमचद भाई पर सकट का अनुमान करके हुण्डी सिकार दी थी, लेकिन जब सोमचद भाई की आर्थिक स्थिति अच्छी हो गई तो वह ब्याज सहित सारी रकम सबचद भाई को वापिस देने अहमदाबाद गया। उस समय सबचद भाई की आर्थिक स्थिति बिगडी हुई थी, फिर भी उन्होंने वह रकम यह कहकर नहीं ली, कि हमारे यहाँ आपके नाम से कोई रकम नहीं है। बहीखाते टटोलने पर पता लगा कि वह रकम खर्च खाते लिखी गई थी। आखिर वह रकम दोनो की ओर से धर्मकार्य मे लगाई गई। यह भी कृतदान का नमूना है। कृतदान जीवन मे कर्तव्य की भावना जागृत होने पर ही चरितार्थ होता है।

दस प्रकार के दान में तारतम्य

अनुकम्पा दान से लेकर कृतदान तक पूर्वोक्त दान के दस प्रकार मानव की भावना और उद्देश्य के परिचायक है। विभिन्न उद्देश्यो और भावनाओ को लेकर ही ये नामकरण किये गये हैं। अनुकम्पा दान अनुकम्पा के उद्देश्य से दिया जाता है। सग्रहदान लोकसग्रह की दृष्टि से दिया जाता है। भयदान भय से, कारुण्यदान शोक से, लज्जादान लज्जा से और गौरवदान गौरव की दृष्टि से दिया जाता है। अधर्मदान अधर्मकार्य के पोषण के लिए दिया जाता है। इसके विपरीत धर्मदान धर्मकार्य का पोषक होता है, करिष्यति दान आकाक्षा और प्रतिफल की दृष्टि से दिया जाता है, जबकि कृतदान कृतज्ञता प्रगट करने के उद्देश्य से दिया जाता है।[1]

इन दस प्रकार के दानों मे धर्मदान सर्वश्रेष्ठ है, इसके बाद अनुकम्पादान, कृतदान, करिष्यतिदान, सग्रहदान, गौरवदान, भयदान, लज्जादान, कारुण्यदान और अधर्मदान ये उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं।

स्थानागसूत्र के दशमस्थान मे इनका उल्लेख आता है। स्थानागसूत्र की तरह बौद्ध साहित्य 'अगुत्तरनिकाय' (८।३१) मे भी दान के इसी तरह के आठ प्रकार बताए हैं।

☆

---

१ देखो दानो का तारतम्य पाराशर स्मृति मे—

धर्मार्थं ब्राह्मणे दान, यशोऽर्थं नटनर्त्तके।
भृत्येषु भरणार्थं, वैभवार्थं च राजसु ॥

10

दान के चार भेद : विविध दृष्टि से

पिछले प्रकरण में दान के दस भेदों पर विचार किया गया है। वास्तव में जैन आचार्यों व विद्वानों ने जिस विषय पर भी चिन्तन किया है उसकी गहराई तक गये हैं और उसके विविध अंगों को, अनेक पहलुओं को बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से देखा-परखा है। जीवन के लिए उसकी उपयोगिता पर विचार किया है।

उक्त दस भेदों के अलावा भी अन्य प्रकार से अन्य भेदों पर भी विचार किया गया है। यहाँ पर हम इस विषय में कुछ और चिन्तन करेंगे।

आचार्य जिनसेन ने महापुराण में विविध दृष्टियों से दान के चार भेद बताए हैं—

(१) दयादत्ति, (२) पात्रदत्ति, (३) समदत्ति और (४) अन्वयदत्ति[१]।

हम इनका क्रमशः लक्षण देकर विश्लेषण करते हैं—

सर्वप्रथम दयादत्ति को लीजिए। दयादत्ति का अर्थ है—किसी भयभीत प्राणी को दयापूर्वक दान या अभयदान देना। भयभीत प्राणी दया की आकांक्षा रखता है, अगर उसे दया मिल जाती है तो सब कुछ मिल जाता है। भयभीत अवस्था में भोजन, जल, औषध आदि कुछ भी लेना अच्छा नहीं लगता। उस समय तो प्राणी एकमात्र भयनिवृत्ति चाहता है। दयादत्ति के द्वारा प्राणी को भय से मुक्ति हो जाती है, उसे अभय मिल जाता है। महापुराणकार यही लक्षण करते हैं—

—'अनुग्रह करने योग्य प्राणी समूह पर दयापूर्वक मन-वचन-काया की शुद्धि के साथ उनके भय को दूर करके अभयदान देने को पण्डित लोग दयादत्ति कहते हैं।[२] इसी से मिलता-जुलता लक्षण चारित्रसार में मिलता है।[3] निष्कर्ष यह है कि दयादत्ति अभयदान का ही एक प्रकार है। दया-दान मानव हृदय की कोमलता से होता है।

---

१ आदिपुराण पर्व ३८, श्लोक ३५।

२ सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा।
त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥—३८।३६

३ दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानम्। —४३।६

जिस हृदय मे कठोरता होती है, जहाँ स्वार्थीपन होता है, जहाँ व्यक्ति अपने और अपनो के सिवाय दूसरे किसी से दु ख और पीड़ा के विषय मे नहीं सोचता, वह दया-दान नही होता। जहाँ व्यक्ति सकट आने पर अपने प्राणो की परवाह न करके दूसरे के प्राणो की रक्षा करने का विचार और प्रयत्न करता है, वहीं दयादत्ति है।

इग्लैंड मे नार्थ वरलैंड के पास समुद्र मे डूबे हुए अनेकों पहाड़ हैं। उन पहाड़ो से टकराकर जहाज टूट न जाँय, इसकी चेतावनी देने के लिए बीच मे रोशनी का एक कँडिल बांध दिया गया था। वहाँ बस्ती नही थी। सिर्फ डारलिंग नाम का एक नौकर दीपक जलाने के लिए वहाँ परिवार सहित रहता था। सन् १८८३ के सितम्बर मास मे समुद्र मे भारी तूफान आया और उस लालटेन से आध मील दूर एक टेकरी से टकरा कर एक जहाज टूट गया। सुबह दूरबीन से डारलिंग ने देखा कि उस टूटे हुए जहाज का एक हिस्सा टेकरी पर पड़ा है। और बाकी हिस्सा चूर-चूर हो गया है। जो भाग बच गया था, उसमे १०-१२ मुसाफिर थे। डारलिंग की कन्या ग्रेस ने जब यह करुणाजनक दृश्य देखा तो अपने पिता से पूछा—"पिताजी! क्या हम इन लोगो की रक्षा का कोई उपाय नहीं कर सकते? इतने मनुष्य सहायता के बिना मर जायें और हम बैठे-बैठे देखते रहे, यह मानवता के लिए उचित नही है।" पिता ने कहा—"बेटी! छोटी-सी किश्ती लेकर हमारा इन्हें बचाने जाना मृत्यु का साक्षात्कार करना है। टेकरी चारो ओर जल में डूबी हुई है। और हवा जोरदार है। पिता की बात से पुत्री को सन्तोष नही हुआ। उसने हठ पकड़ लिया कि 'किसी भी तरह इन लोगो को बचाया जाय।' अन्त मे पुत्री के अत्यन्त आग्रह से दोनो ने अपनी नौका तूफानी समुद्र में डाली। लड़की की उम्र २२ साल की थी, शरीर भी कुछ बलवान न था, और न ही ऐसे तूफानी समुद्र मे नौका चलाने का उसका अभ्यास था। ऐसे तूफान मे पहले वह कभी किश्ती मे बैठी नही थी। पर आज तो परमात्मा का नाम लेकर करुणामयी ग्रेस अपने पिता के साथ नाव पर बैठकर तूफान के सामने गई थोड़ी ही देर मे साक्षात् मृत्यु से टक्कर लेती वह टेकरी के पास पहुँच गई। और जो मुसाफिर विपत्ति मे पड़े थे, उन्हें बचा लिया बचे हुए लोगो ने ये समाचार कृतज्ञता के साथ चारो ओर फैलाया। नतीजा यह हुआ कि यूरोप के अनेक देशों से प्रशसापत्र, चाँदी और रुपयो की थैलियाँ ग्रेस और डारलिंग के पास इनाम के तौर पर आने लगी। परन्तु करुणामयी ग्रेस को धन्य है, जिसके दिल मे विपद्ग्रस्त लोगो को बचाने के लिए दया पैदा हुई और अपने वृद्ध पिता को लेकर अकाल मृत्यु का सामना करते हुए उसने तूफानी समुद्र मे छोटी-सी नैया डालने का साहस किया।

यह दयादत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है।

दयादत्ति के भी अनेक पहलू हो सकते हैं। एक पहलू यह भी है कि किसी कुरूढि या कुप्रथा को, जिसमे मूक प्राणियो या मनुष्यो का निर्मम सहार होता हो, उसे बद कराने और उन भयभीत प्राणियो की रक्षा के लिए दयाभाव से प्रेरित होकर अपने प्राणो की बाजी लगाकर उस कुप्रथा को बद करा देना।

दूसरा भेद है—पात्रदत्ति। जिसका अर्थ है—पात्र के लिए योग्य आहार आदि देना। जैसा कि महापुराण में लक्षण किया है—

—'महातपस्वी मुनिवरों को सत्कारपूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है, उसे पात्र दत्ति कहते हैं।[1]

यह अर्थ बहुत ही सीमित परिधि में है। वास्तव में इस दान का अर्थ सभी प्रकार के जघन्य, मध्यम और उत्तम सुपात्र या पात्र को सत्कारपूर्वक आहार आदि का दान देना भी पात्रदत्ति के अन्तर्गत है। जैसा कि वसुनन्दी श्रावकाचार में विधान है—

"अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार प्रकार का श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्ति से तीन प्रकार के पात्र को देना चाहिए।[2]

तीसरा भेद है—समानदत्ति। अपने से समान कोटि या समान स्थिति वाले गृहस्थों को दान देना समानदत्ति कहलाती है। समानदत्ति का लक्षण महापुराण में इस प्रकार किया गया है—

समानायाऽऽत्मनान्यस्मै क्रियामंत्रव्रतादिभिः।
निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥३८॥
समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतायिते।
समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयान्विता ॥३९॥

अर्थात्—जो क्रिया, मंत्र, व्रत आदि से अपने समान हैं, साधर्मी हैं, अथवा जो संसार समुद्र से पार कर देने वाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है, उसको कन्या, हाथी, घोड़ा, रत्न, पृथ्वी, स्वर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्र को समान बुद्धि से श्रद्धा के साथ दान देना समानदत्ति कहलाता है। वास्तव में समानदत्ति गृहस्थ को ही गृहस्थ देता है। परन्तु गृहस्थ देखता है कि अपना अमुक साधर्मी भाई दुःखित, पीड़ित है या आर्थिक संकट में है, तब उसके बिना कहे ही वह उसकी स्थिति देखकर यथोचित वस्तु दे देता है। अथवा कोई उत्तम गृहस्थ है, व्रतधारी श्रावक है, विद्वान् है, अनेक लोगों को मुक्तिमार्ग का भव्य उपदेश देता है। ऐसे उत्तम गृहस्थ को सत्कारपूर्वक देना भी समानदत्ति है। यद्यपि समानदत्ति पात्रदत्ति या दयादत्ति के समान उच्चकोटि का दान नहीं है, तथाऽपि लौकिक व्यवहार में कृतज्ञता, कर्तव्यभावना और साधर्मिक सहायता की दृष्टि से वह हेय भी नहीं है, न अत्यन्त निकृष्ट दान है।

सौराष्ट्र के दानपरायण शामलशाह सेठ के यहाँ पुत्रवधू का सीमन्तोत्सव हो

---

१ महातपोधनायार्चा प्रतिग्रहपुरःसरम्।
प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥—३८।३७

२ असणं पाणं खाइमं साइय मिदिचउविहोवराहारो।
पुव्वुत्त णवविहाणेहिं तिविहपत्तस्स दायव्वो ॥"

रहा था। इस उपलक्ष मे नगर के सभी जाति भाइयो एव साधर्मी भाइयों के यहाँ परोसा भेजा जा रहा था, जिसमे बढिया लड्डू प्रत्येक के यहाँ भेजे जा रहे थे। सेठ का पुत्र सूची के अनुसार लड्डू बधवा कर भिजवाने की तैयारी कर रहा था। तभी शामलशाह सेठ आए और कहने लगे—'बेटा ! आज उन विधवा बहनो, गरीब और अनाथ भाइयो को नही भूलना है। उनको परोसा अवश्य देना है। अच्छा, उनकी सूची मुझे दे दो, मैं देखकर तदनुसार लड्डू बधवाता हूँ। सेठ ने गरीबो, अनाथो या विधवाओ आदि के परोसे मे जो लड्डू रखे जा रहे थे, उनमे प्रत्येक लड्डू मे स्वर्ण मुद्राएँ रख दी। वे जानते थे कि साधर्मी या समान श्रेणी के जाति भाई हाथ पसार कर कभी किसी के सामने माँगेगे नहीं। अत. मेरा कर्त्तव्य है कि मैं स्वय ऐसी व्यवस्था कर दूं, जिससे उन्हे माँगना न पड़े।

यह समानदत्ति का एक उदाहरण है।

इसी प्रकार साधर्मि भाइयो को आहार दान देना भी समानदत्ति है।

धर्मप्रेमी मत्री वस्तुपाल साधर्मी भाइयो को प्रतिवर्ष भोजन, वस्त्र, धन और औषध दिया करता था। वह इसको सघ-भक्ति मानता था। एक बार उसके यहाँ १८०० साधर्मी भाई आए। उनके आते ही वस्तुपाल क्रमश: उनके पैर धोने लगे। उन्होंने भोजन बनाने का आदेश रसोइयों को दे दिया था। कुछ ही देर मे उनके भाई तेजपाल आए और बड़े भाई को इस प्रकार पैर धोते देख उनका हाथ पकडकर बोले—"भैयाजी, बस, अब मुझे धोने दो।" वस्तुपाल ने कहा—"नहीं भाई ! इसमे भाग नही होता। पुण्य स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार बड़ी भक्तिभावना से साधर्मी बन्धुओ को दोनो भाइयो ने भोजन कराया।

सत्कारपूर्वक उत्तम गृहस्थ को देश-सेवा, समाज-सेवा आदि कार्य के उपलक्ष मे स्वर्ण मेंडल आदि भी दिया जाता है, उसे भी समानदत्ति कहते हैं।

समानदत्ति अपने गरीब और अभावग्रस्त भाई-बहनों को समान करने के लिए भी होता है। समानदत्ति के बाद दान का चौथा भेद है—अन्वयदत्ति। इसे 'सकलदत्ति' भी कहते हैं। अन्वयदत्ति का सम्बन्ध मुख्यतया अपने परिवार या जाति से है। अन्वयदत्ति का लक्षण महापुराण मे इस प्रकार किया गया है—

"अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुल पद्धति तथा धन के साथ अपना परिवार सौंपना अन्वयदत्ति या सकलदत्ति कहलाता है।"[1]

अन्वयदत्ति मे खासकर यह देखा जाता था कि मेरा यह पुत्र, मेरी सम्पत्ति, एव जमीन जायदाद के साथ, मेरे कुल के रीति-रिवाजों, सुप्रथाओ एव कर्त्तव्यो का

---

१ आत्मान्वय प्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः।
समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥—३८।४०
.. .. सैषा सकलदत्ति ॥ —३८।४१ ॥

रहा था। इस उपलक्ष में नगर के सभी जाति भाइयों एवं साधर्मी भाइयों के यहाँ परोसा भेजा जा रहा था, जिसमें बढ़िया लड्डू प्रत्येक के यहाँ भेजे जा रहे थे। सेठ का पुत्र सूची के अनुसार लड्डू बंधवा कर भिजवाने की तैयारी कर रहा था। तभी शामलशाह सेठ आए और कहने लगे—"बेटा ! आज उन विधवा बहनों, गरीब और अनाथ भाइयों को नहीं भूलना है। उनको परोसा अवश्य देना है। अच्छा, उनकी सूची मुझे दे तो, मैं देखकर तदनुसार लड्डू बंधवाता हूँ। सेठ ने गरीबों, अनाथों या विधवाओं आदि के परोसे में जो लड्डू रखे जा रहे थे, उनमें प्रत्येक लड्डू में स्वर्ण मुद्राएँ रख दीं। वे जानते थे कि साधर्मी या समान श्रेणी के जाति भाई हाथ पसार कर कभी किसी के सामने मांगेंगे नहीं। अतः मेरा कर्तव्य है कि मैं स्वयं ऐसी व्यवस्था कर दूं, जिससे उन्हें मांगना न पड़े।

यह समानदत्ति का एक उदाहरण है।

इसी प्रकार साधर्मि भाइयों को आहार दान देना भी समानदत्ति है।

धर्मप्रेमी मंत्री वस्तुपाल साधर्मी भाइयों को प्रतिवर्ष भोजन, वस्त्र, धन और औषध दिया करता था। वह इसको संघ-भक्ति मानता था। एक बार उसके यहाँ १८०० साधर्मी भाई आए। उनके आते ही वस्तुपाल क्रमशः उनके पैर धोने लगे। उन्होंने भोजन बनाने का आदेश रसोइयों को दे दिया था। कुछ ही देर में उनके भाई तेजपाल आए और बड़े भाई को इस प्रकार पैर धोते देख उनका हाथ पकड़कर, बोले—"भैयाजी, बस, अब मुझे धोने दो।" वस्तुपाल ने कहा—"नहीं भाई ! इसमें भाग नहीं होता। पुण्य स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार बड़ी भक्तिभावना से साधर्मी बन्धुओं को दोनों भाइयों ने भोजन कराया।

सत्कारपूर्वक उत्तम गृहस्थ को देश-सेवा, समाज-सेवा आदि कार्य के उपलक्ष में स्वर्ण मैडल आदि भी दिया जाता है, उसे भी समानदत्ति कहते हैं।

समानदत्ति अपने गरीब और अभावग्रस्त भाई-बहनों को समान करने के लिए भी होता है। समानदत्ति के बाद दान का चौथा भेद है—अन्वयदत्ति। इसे 'सकलदत्ति' भी कहते हैं। अन्वयदत्ति का सम्बन्ध मुख्यतया अपने परिवार या जाति से है। अन्वयदत्ति का लक्षण महापुराण में इस प्रकार किया गया है—

"अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुल पद्धति तथा धन के साथ अपना परिवार सौंपना अन्वयदत्ति या सकलदत्ति कहलाता है।"[1]

अन्वयदत्ति में खासकर यह देखा जाता था कि मेरा यह पुत्र, मेरी सम्पत्ति, एवं जमीन जायदाद के साथ, मेरे कुल के रीति-रिवाजों, सुप्रथाओं एवं कर्तव्यों का

---

१ आत्माऽन्वय प्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः ।
समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥—३८।४०
... ...सैषा सकलदत्ति ॥ —३८।४१ ॥

11

आहारदान का स्वरूप

जैनधर्म में दान को अतीव महत्त्व दिया गया है। और साधु को दान लेने का अधिकारी बतलाकर वहाँ दान देने का माहात्म्य बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया गया है। परन्तु गृहस्थ के जीवन में शुद्ध (निश्चय) धर्म को बहुत कम अवकाश होने से गृहस्थ-धर्म में दान की प्रधानता है। यद्यपि साधु भी दान देता है, पर वह ज्ञान, धर्म-आदि का ही दान दे सकता है, खाद्य पदार्थों आदि का नहीं, क्योंकि वह स्वयं खाद्यपदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि के विषय में गृहस्थ पर निर्भर है। इस दृष्टि से दान को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—अलौकिक और लौकिक। अलौकिक दान चार प्रकार का है—आहारदान, औषधदान, ज्ञान (शास्त्र) दान और अभयदान। ये ही चार प्रकार लौकिक दान के हैं। अन्तर इतना ही है, आहारादि चार प्रकार का अलौकिक दान प्रायः साधुओं को दिया जाता है, तो वह उत्कृष्ट फलदायक होता है और जब उन्हीं आहारादि का लौकिक दान समान, अनुकम्पनीय, साधर्मी या करुणापात्र, गृहस्थ को दिया जाता है, तब वह इतना उच्च फलदायक नहीं होता। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि अलौकिक पात्र न मिले तो अवसर आने पर लौकिक पात्र को भी न देना। अर्थात् अलौकिक दान का अवसर न मिलने पर लौकिक दान की अपेक्षा करना कथमपि उचित नहीं है। दान तो किसी भी हालत में निष्फल नहीं जाता। इसीलिए कहा है—

> 'मागधे कीर्तिपुष्टाय, स्नेहपुष्टाय बान्धवे।
> सुपात्रे धर्मपुष्टाय, न दानं क्वापि निष्फलम् ॥"

—'मागध (दीन-दुःखी करुणा पात्र) को दान देने से कीर्ति की पुष्टि (वृद्धि) होती है, भाई-बन्धुओं को दान देने से स्नेह की पुष्टि होती है और सुपात्र को दान देने से धर्म की पुष्टि होती है। दान कदापि निष्फल नहीं जाता।

लौकिक और अलौकिक दृष्टि से दान के चार भेद

जैनधर्म के विविध शास्त्रों और धर्मग्रन्थों में दान के कहीं चार प्रकार, कहीं तीन प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में वर्णित हैं। पहले हम उन सबके नाममात्र का क्रमशः उल्लेख करते हैं, उसके बाद उन पर पूर्वोक्त दोनों दृष्टियों से विश्लेषण करेंगे।

अन्य अनैतिक प्रकार से पाप कर्म करके धन बटोरकर अपने पुत्र को सौंपता हो। किसी से जमीन जबर्दस्ती छीनकर अथवा अपने कब्जे में करके उसे पुत्र को सौंपता हो, ऐसे पापकर्मजनित दान को क्या पापयुक्त दान नहीं कहा जाएगा ? भले ही वह अन्वयदत्ति की कोटि में हो, परन्तु पापकर्म जनित दान का बोझ क्या उसके उत्तराधिकारी को प्रपीड़ित नहीं करेगा ?

इसलिए फल की दृष्टि से अन्वयदत्ति इतनी उच्चकोटि या मध्यम कोटि का दान नहीं है, जो दयादत्ति, पात्रदत्ति या समानदत्ति की तुलना कर सके। फिर भी अन्वयदत्ति को हम सहसा अधर्मदान की कोटि में नहीं रख सकते। क्योंकि यह दान, जो अपने उत्तराधिकारी को सौंपा जाता है, वह प्रायः सोच-विचार कर ही सौंपा जाता है, जो पुत्र धर्मवृद्धि कर सके, पिता के धन की रक्षा के साथ-साथ धर्म रक्षा भी कर सके, ऐसे धर्मपालक को ही प्रायः उत्तराधिकारी चुना जाता है। जो अधर्मी या पापी होते हैं, चोर, डाकू होते हैं, वे अपने पुत्र को प्रायः अन्वयदत्ति देते ही नहीं वे अपनी सम्पत्ति देते भी हैं तो यों ही सौंप देते हैं। उसमें न किसी प्रकार का विचार होता है, न सज्जनों का साक्षित्व ! उसे अन्वयदत्ति ही कैसे कहा जा सकता है ?

दान के उक्त चार प्रकारों का विशेष विवेचन दिगम्बर जैन साहित्य में प्राप्त होता है, श्वेताम्बर आचार्यों ने अन्य रूप में अर्थात् दस भेदों के रूप में उस पर विचार किया है और दिगम्बर आचार्यों ने चार दत्ति के रूप में। वास्तव में तो प्रत्येक कसौटी पर दानधर्म को कसना उसके उद्देश्य और प्रकार पर विचार करना यही अभीष्ट रहा है और इसीलिए हमने यहाँ यह चिन्तन किया है। ☆

11

आहारदान का स्वरूप

जैनधर्म में दान को अतीव महत्त्व दिया गया है। और साधु को दान लेने का अधिकारी बतलाकर वहाँ दान देने का माहात्म्य बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया गया है। परन्तु गृहस्थ के जीवन में शुद्ध (निश्चय) धर्म को बहुत कम अवकाश होने से गृहस्थ-धर्म में दान की प्रधानता है। यद्यपि साधु भी दान देता है, पर वह ज्ञान, धर्म-आदि का ही दान दे सकता है, खाद्य पदार्थों आदि का नहीं, क्योंकि वह स्वयं खाद्यपदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि के विषय में गृहस्थ पर निर्भर है। इस दृष्टि से दान को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—अलौकिक और लौकिक। अलौकिक दान चार प्रकार का है—आहारदान, औषधदान, ज्ञान (शास्त्र) दान और अभयदान। ये ही चार प्रकार लौकिक दान के हैं। अन्तर इतना ही है, आहारादि चार प्रकार का अलौकिक दान प्रायः साधुओं को दिया जाता है, तो वह उत्कृष्ट फलदायक होता है और जब उन्हीं आहारादि का लौकिक दान समान, अनुकम्पनीय, साधर्मी या करुणापात्र, गृहस्थ को दिया जाता है, तब वह इतना उच्च फलदायक नहीं होता। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि अलौकिक पात्र न मिले तो अवसर आने पर लौकिक पात्र को भी न देना। अर्थात् अलौकिक दान का अवसर न मिलने पर लौकिक दान की अपेक्षा करना कथमपि उचित नहीं है। दान तो किसी भी हालत में निष्फल नहीं जाता। इसीलिए कहा है—

'मात्रके कीर्तिपुष्ट्याय, स्नेहपुष्ट्याय बान्धवे।
सुपात्रे धर्मपुष्ट्याय, न दानं क्वापि निष्फलम् ॥"

—'मात्रक (दीन-दुःखी करुणा पात्र) को दान देने से कीर्ति की पुष्टि (वृद्धि) होती है, भाई-बन्धुओं को दान देने से स्नेह की पुष्टि होती है और सुपात्र को दान देने से धर्म की पुष्टि होती है। दान कदापि निष्फल नहीं जाता।

लौकिक और अलौकिक दृष्टि से दान के चार भेद

जैनधर्म के विविध शास्त्रों और धर्मग्रन्थों में दान के कहीं चार प्रकार, कहीं तीन प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में वर्णित हैं। पहले हम उन सबके नाममात्र का क्रमशः उल्लेख करते हैं, उसके बाद उन पर पूर्वोक्त दोनों दृष्टियों से विश्लेषण करेंगे।

वास्तव में दान का सारा दारोमदार भावना पर निर्भर है और भावना की विविध तरंगें हैं। इसलिए दान भी विविध प्रकार का हो जाता है। परन्तु यहाँ मुख्य-मुख्य भावनाओं व वस्तुओं की अपेक्षा से दान के भेदों का उल्लेख किया है।

आचार्य कार्तिकेय[1], आचार्य जिनसेन,[2] आचार्य सोमदेव,[3] आचार्य देवसेन, एवं आचार्य गुणभद्र ने दान के निम्नोक्त चार भेद बताए हैं—

(१) आहारदान, (२) औषधदान, (३) शास्त्र (ज्ञान) दान और (४) अभयदान।

आचार्य वसुनन्दी[4] ने भी निम्न चार भेद बताए हैं—

(१) करुणादान (२) भैषज्यदान (३) शास्त्रदान और (४) अभयदान।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार[5] में आचार्य समन्तभद्र ने दान के ४ भेद बताए हैं—

(१) आहारदान, (२) औषधदान (३) उपकरणदान और (४) आवासदान।

तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपाद दान के तीन भेद करते हैं। वह इस प्रकार है—

त्यागो दानम्। तत् त्रिविधम्—आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति

अर्थात्—दान त्याग को कहते हैं। वह तीन प्रकार का है—आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान। ये ही तीन भेद त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में एवं धर्मरत्न में बताये गये हैं।[6] आहार की जगह वहाँ धर्मोपकरण हैं। अब इन सबका क्रमशः विश्लेषण करते हैं—

आहारदान : स्वरूप और दृष्टि

सर्वप्रथम आहारदान को ही लें। आहारदान को प्रायः सभी आचार्यों ने माना है। आचार्य वसुनन्दी ने आहारदान के बदले यहाँ 'करुणादान' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु उनका भाव आहारदान से ही है। आहार जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। वस्त्र के बिना तो चल भी सकता है। दिगम्बर मुनि निर्वस्त्र रहते हैं। परन्तु आहार के बिना उनका भी काम नहीं चलता। यहाँ तक कि तीर्थंकर जैसे

---

१ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में,
२ महापुराण में,
३ नीतिवाक्यामृत में,
४ वसुनन्दी—श्रावकाचार में
५ आहारौषधयोरप्युकरणावासयोश्चदानेन ।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥११७॥
६ गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मः।—परमात्म प्रकाश टीका

उच्चतम साधक को भी अन्ततः आहार लिए बिना कोई चारा नहीं है। मुनियों, महाव्रती श्रमणों एवं त्यागियों का आहार गृहस्थ पर ही निर्भर है। इसलिए गृहस्थ के लिए आहारदान आदि को ही परम धर्म माना गया है। आहारदान का महत्त्व समझाते हुए पद्मनन्दि पंचविंशतिका में बताया है—

'समस्त प्राणी सुख चाहते हैं और वह सुख स्पष्टतः मोक्ष में ही है। वह मोक्ष सम्यग्दर्शन आदि रूप रत्नत्रय के होने पर ही सिद्ध होता है। वह रत्नत्रय निर्ग्रन्थ साधु के होता है। उस साधु की स्थिति शरीर के निमित्त (टिकने) से होती है, शरीर भोजन से टिकता है और वह भोजन श्रावकों के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेश युक्त काल में भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्रायः उन सद्गृहस्थ श्रावकों (आहारदानियों) के निमित्त से होती है।[1]

निःस्पृह साधु अपने संयमपालन एवं धर्माराधन के लिए जीता है। और धर्मपालन या संयमसाधना का मुख्य आधार शरीर है। शरीर जब तक सशक्त और धर्म-पुरुषार्थ करने योग्य रहता है, तब तक उससे संयमी पुरुष धर्मपालन एवं संयम-साधना करता है। परन्तु जब शरीर एकदम अशक्त, दुर्बल, उठने-बैठने में परतन्त्र एवं निढाल हो जाता है, तब संल्लेखना-संथारा करके साधक उसे छोड़ देता है। उसे आहारादि द्वारा पोषण भी तभी तक वह देता है, जब तक शरीर से धर्मपालन होता हो। इसलिए शरीर को आहार आदि देकर साधक धर्म-पुरुषार्थ के योग्य कार्यक्षम रखता है। परन्तु वह आहार, जिससे साधक का शरीर टिकता है, और धर्मपालन में तत्पर रहता है, आहारदाता सद्गृहस्थ से ही मिलता है। इसलिए साधु को आहार देने वाला एक तरह से धर्म, त्याग, नियम आदि का बल देता है इस बात को आचार्य कार्तिकेय अपने ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्ट करते हैं—

—"भोजनदान (आहारदान) देने पर समझ लो, पूर्वोक्त तीनों (औषधदान, शास्त्रदान एवं अभयदान) दान दे दिये। क्योंकि प्राणियों को भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है। भोजन के बल से ही साधु रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करता है, और भोजन दान देने पर प्राणों की भी रक्षा होती है। तात्पर्य यह है कि साधु को भोजन दान क्या दे दिया, सद्गृहस्थ ने वास्तव में उसे ज्ञान, ध्यान, तप, संयम, धर्म, नियम आदि में पुरुषार्थ करने का बल दे दिया।[2]

---

१ सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुटम्।
दृष्ट्यादित्रय एव सिद्ध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्॥
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात् तद्दीयते श्रावकैः।
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते॥७।८॥

२ भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि।
भुक्ख-तिसाए वाही दिणे-दिणे होंति देहीणं॥३६३॥

यही कारण है कि आहारदान का बहुत बड़ा माहात्म्य बताया गया है, क्योंकि साधु-जीवन का सारा दारोमदार संयम-साधना में पुरुषार्थ पर है और वह पुरुषार्थ आहार किये बिना हो नहीं सकता। साधु स्वयं अनाज बोता नहीं, स्थूल खेती करता नहीं और न ही वह स्वयं अन्न पीसकर, रोटी पकाता है। इसलिए वह गृहस्थों के घर में उसके परिवार के लिए सहज स्वाभाविक रूप से बने हुए भोजन में से भ्रमर की तरह थोड़ा-थोड़ा लेकर अपना शरीर-निर्वाह कर लेता है। इससे न तो गृहस्थों को ही तकलीफ होती है और न ही साधुओं को हिंसादि आरम्भजन्य दोष लगता है। परन्तु साधु को ऐसा प्रासुक, एषणीय और कल्पनीय आहार गृहस्थ के घर में बना हुआ और रखा हुआ होने पर भी देना तो उसके आधीन है, उसकी मर्जी पर निर्भर है। यदि वह अपने घर में बनाए हुए आहार में से श्रद्धा भक्तिपूर्वक संयम-निर्वाहार्थ साधु को देता है तो बहुत बड़ा उपकार करता है वह संयमी साधु के शरीर का रक्षण और संवर्द्धन करके उसके धर्म का, मुक्ति की साधना का रक्षण और संवर्द्धन करने में निमित्त बनता है। आचार्य अमितगति भी अपने श्रावकाचार में इसी बात को प्रतिध्वनित करते हैं—

—"केवल ज्ञान से बढ़कर उत्तम कोई ज्ञान नहीं है, निर्वाण सुख से श्रेष्ठ कोई सुख नहीं है, उसी प्रकार आहारदान से बढ़कर उत्तम अन्य कोई दान नहीं है। इसलिए अन्नदानकर्ता पुरुष संसार की सर्वसुन्दर वस्तुएँ उस दान के फलस्वरूप प्राप्त करता है। अधिक क्या कहें, सर्वज्ञ महापुरुष के बिना अन्य कोई व्यक्ति आहारदान के फल का कथन नहीं कर सकता।[1]

शरीर की तमाम वेदनाओं में सबसे बढ़कर वेदना[2] क्षुधा है। भूखा व्यक्ति धर्म-कर्म सब कुछ भूल जाता है। उसे कुछ नहीं सुहाता।[3] उस समय वह अधर्म का आचरण करने पर उतारू हो जाता है, लज्जा और मर्यादा को भी ताक में रख देता है। इसीलिए नीतिकार ने कहा है—

'बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?'

कौन-सा ऐसा पाप है, जिसे भूख से व्याकुल आदमी नहीं कर बैठता ?

भोयणबलेण साहू सत्थं सेवेदि रत्तिदिवसं पि।
भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति ॥—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३६४॥

१ केवलज्ञानतो ज्ञानं, निर्वाणसुखतः सुखम्।
आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥२५॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन बिना सकलवेदिना।
फलं नाहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ॥—अमित० श्राव० ३१॥

२ 'खुहासमा णत्थि सरीरवेयणा।'

३ 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्।

इसलिए आहारदान या अन्नदान का बहुत बड़ा महत्त्व बताया है। वेदों में इसीलिए कहा है—'अन्नं वै प्राणाः' अन्न ही वास्तव में प्राण हैं। अन्न दान देना एक अर्थ में प्राण दान देना है। इसीलिए महाभारत में अन्न दान की महिमा बताते हुए वर्णन किया है—

"सभी दानों में अन्नदान श्रेष्ठ बताया है। इसलिए अनायास ही धर्मपालन करने के इच्छुक को सर्वप्रथम अन्नदान करना चाहिए।[1] अन्नदान का महत्त्व तो वस्तुतः तब प्रतीत होता है, जब चारों ओर दुष्काल की काली छाया उस प्रदेश पर पड़ी हो। अन्यथा, जिसके पास अन्न का भण्डार है, वह अन्नदान का महत्त्व सहसा नहीं जान सकता।

जैन इतिहास का एक दुर्भाग्यपूर्ण पृष्ठ बताता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद भारतवर्ष में बारहवर्षीय दुष्काल पड़ा था। मनुष्य अन्न के दाने-दाने के लिए तरसते थे। सद्गृहस्थ श्रमणोपासकों की स्थिति भी अत्यन्त दयनीय बनी हुई थी। ऐसे समय में सेरभर मोती के बदले सेरभर जुआर मिलना भी कठिन हो गया था। तब वे अपने श्रद्धेय निर्ग्रन्थ श्रमणों को कैसे और कहाँ से भिक्षा दे देते? और निर्दोष, एषणीय भिक्षा भी प्राप्त होनी कठिन थी। इसलिए कुछ साधु उत्तर-भारत से विहार करके दक्षिण भारत में चले गये थे। कहते हैं ७४८ साधुओं ने ऐसे समय निर्दोष आहार मिलने की सम्भावना क्षीण देखकर अनशन (संथारा) करके समाधि-पूर्वक देह-त्याग कर दिया था। जो बचे थे, उन्हें भी ऐसे दीर्घकालीन दुर्भिक्ष के समय आहार मिलना दुर्लभ हो गया था। फिर भी जो कुछ प्राप्त होता, उसमें से कई दफा तो रास्ते में ही क्षुधापीड़ित लोग लूट लेते थे। आहार पर्याप्त न मिलने से उनकी स्मृति कुण्ठित होने लगी। वे शास्त्रपाठों को विस्मृत होने लगे। ऐसी स्थिति में आप अनुमान लगा सकते हैं कि आहारदान का कितना महत्त्व था। ऐसे समय में भी श्रद्धालु सद्गृहस्थ स्वयं भूखे रहकर अपने गुरुओं को आहार देते थे, वे एक प्रकार से प्राणदान और प्रकारान्तर से ज्ञानदान, संयमदान एवं धर्मदान देते थे।

आचार्य वज्रस्वामी (दशपूर्वधर) ने जब अनशन किया, तब अपने शिष्यों से कहा था—बारह वर्ष का भयंकर दुष्काल पड़ेगा। किन्तु जिस दिन किसी गृहस्थ के यहाँ एक लाख रुपये का अन्न एक हांडी में पके, समझ लेना, उसके दूसरे ही दिन सुकाल हो जाएगा।

सचमुच १२ वर्ष का भयंकर दुष्काल पड़ा। लोग अन्न के दाने-दाने के लिए तरस रहे थे। यातायात के साधन उस समय इतने सुलभ नहीं थे कि बाहर से कहीं से अन्न मंगाया जा सके। महंगाई होने के कारण सामान्य आदमी तो अन्न खरीद भी

---

१ सर्वेषामेव दानानामन्नं श्रेष्ठमुदाहृतम्।
पूर्वमन्नं प्रदातव्यमृजुना धर्ममिच्छता ॥—महाभारत

नहीं सकता था। अन्न के अभाव में मनुष्य और पशु अकाल में ही मरणशरण हो रहे थे। वज्रस्वामी के शिष्य विहार करते-करते सोपारक (जिसे आज 'सोफाला' कहते हैं) पहुँचे। वहाँ एक व्रतधारी श्रावक परिवार अन्न न मिलने से दुःखी हो रहा था। सोच रहा था—"अन्न के अभाव में हम बारहवें व्रत का कैसे पालन करें, कैसे अपने गुरुओं को दें?" बड़ी मुश्किल से घर का मुखिया कहीं से एक लाख मुद्रा देकर एक हांडी भर पक सके उतना अनाज लाया। परिवार के सब लोगों ने सोचा—रोज-रोज एक लाख मुद्रा कहाँ से खर्च करेंगे? और फिर एक लाख मुद्रा देने पर भी अन्न कोई देना नहीं चाहता। अतः क्यों नहीं, आज ही इस हंडियां मे विष घोलकर सदा के लिए सो जाएँ।" इस विचार से वह लाख रुपयों के मूल्य के अनाज वाली हंडिया चूल्हे पर चढ़ाई गई। जब अनाज सीझ गया तो वह हंडिया नीचे उतार ली। संयोगवश उसी समय इसी श्रावक के यहाँ वज्रस्वामी के शिष्य, मुनिवर भिक्षा के लिए पहुँच गए। उन्हें देखते ही सबने कहा—"भगवन्! हमारे अहोभाग्य हैं, आप अच्छे समय पर पधार गये।" साधुओं को शंका हुई कि कहीं हमारे आने से इनके भोजन में अड़चन तो नहीं पड़ी है। पूछताछ करने पर श्रावक परिवार ने शंका का निवारण किया और सारी आपबीती सुनाई। फिर श्रद्धापूर्वक कहा—"गुरुदेव! आप इस आहार को ग्रहण करें। आपके प्राण बचेंगे तो आपसे ज्ञान-ध्यान, तप-संयम का पालन होगा। हमने अभी तक इस लक्षमुद्रापाकी अन्न में विष नहीं मिलाया है।" यह सुनते ही साधुओं को आचार्य वज्रस्वामी की कही हुई बात याद आ गई। उन्होंने श्रावक परिवार को आश्वासन देते हुए कहा—"आपने तो सारा आहार हमारे पात्र में डाल दिया। परन्तु आपको अब केवल आज ही उपवास करना है, विष न खाएँ। आचार्य वज्रस्वामी की भविष्यवाणी के अनुसार हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि कल से ही सुकाल हो जायगा।" सबने यह सुनकर एकमत से निर्णय किया कि 'इतने दिन दुर्भिक्ष में काटे तो एक दिन और सही।' सचमुच दूसरे दिन प्रातःकाल ही विदेश से अनाज से भरे जहाज आ पहुँचे। अतः सारे परिवार ने जीवनदान पाया, इसके कारण भागवती दीक्षा अंगीकार करली। यही कारण है कि सद्गृहस्थ द्वारा अलौकिक आहारदान का बहुत उत्तम फल एवं महत्त्व 'रयणसार' में बताया गया है—

> जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइसो भुंजए जिणवद्दिट्ठं।
> संसार-सारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥२१॥

—अर्थात् जो भव्यजीव मुनिवरों को आहार देने के पश्चात् अवशेष भोजन को प्रसाद समझकर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को पाता है और क्रमशः मोक्ष के श्रेष्ठ सुखों को प्राप्त करता है।

इतना ही नहीं तिर्यंचों के लिए भी अलौकिक आहारदान का बहुत बड़ा महत्त्व बताया गया है। यद्यपि तिर्यंचों के लिए प्रत्यक्ष दान देना कम सम्भव है।

षट्खण्डागम धवला टीका में इसी प्रकार का एक प्रश्न किया गया है कि तिर्यंचों द्वारा दान देना कैसे सम्भव हो सकता है? उत्तर में कहा गया है—नहीं, क्योंकि तिर्यंच संयतासंयत जीव सचित्तभंजन के प्रत्याख्यान (व्रत) को ग्रहण कर लेते हैं, उन तिर्यंचों द्वारा सल्लकी के पत्तों आदि का दान देना मान लेने में कोई विरोध नहीं आता। कई तिर्यंच पूर्वजन्म-स्मरण करके अलौकिक आहारदान मुनिवर को दिलाने की दलाली करके भावनावश अलौकिक आहारदान देने का फल प्राप्त कर लेते हैं।[1]

जैनग्रन्थों में बलभद्र मुनि का वर्णन आता है। वे इतने सुन्दर एवं सुकुमार थे कि पनघट पर खड़ी पनिहारिनें उनके रूप पर मुग्ध होकर भान भूल जातीं। एक बार तुंगियानगरी में एक पनिहारिन उनके सौन्दर्य पर इतनी मुग्ध हो गई कि हाथ में लिए हुए घड़े के गले में रस्सा डालने के बदले भान भूलकर अपने बच्चे के गले में रस्सा डाल दिया। मुनि ने ज्यों ही यह दृश्य देखा कि वे तेज कदमों से वहाँ पहुँचे और उस महिला को सावधान किया। तभी से उन्होंने अपना नगर-निवास अनर्थकर जानकर छोड़ दिया। और तुंगियापर्वत पर वन में एकान्तवास स्वीकार करने और वन में जो कुछ साधु नियमानुसार आहार मिले, उसी में संतुष्ट रहने का संकल्प किया। मुनिवर जंगल में पहुँचे तो वहाँ भी सर्वत्र जीवसृष्टि ऐसे विश्वप्रेमी मुनि को अव्यक्तरूप से मदद करने हेतु खड़ी थी। नगर में मानव थे तो वन में वन्य पशु थे। मानव साधना में जितनी खलल पहुँचाते थे, उतनी ये वन्यजीव नहीं। मुनि के पीछे सारा वन मुग्ध हो गया। जब मुनि ध्यानमग्न हो जाते तो निर्दोष हिरनों के झुंड के झुंड आकर मुनि के सान्निध्य में निर्भयता से चरते थे। यों होते-होते एक मृग को मुनि के सत्संग का रंग लग गया। वह मुनि का इतना घनिष्ठ साथी बन गया कि जब मुनि ध्यान में बैठते तो वह भी चलना-फिरना बन्द करके एक जगह बैठ जाता और मुनि जब ध्यान खोलते तो यह भी उठकर मुनि के पास दौड़ने, खेलने और प्रेम करने लगता। उसने संज्ञाज्ञान से जान लिया कि मुनि को इस जंगल में आहार का योग किसी दिन ही लग पाता है। अतः ऐसे आहार के योग की तलाश करूँ। मृग की भावना जगी। उसने मन ही मन विचार किया कि इन मुनिजी को ऐसा योग लगा दूँ कि इन्हें प्रतिदिन आहार मिला करे।" वह इस प्रकार के आहार के योग की तलाश करता और मुनि को आहार दिला देता। एक दिन मृग इसी भावना से काफी दूर—लगभग एकाध कोस दूर निकल गया। वहाँ उसने एक बढ़ई को लकड़ियाँ चीरते हुए देखा। एक ओर वह एक पेड़ की शाखा चीर रहा था, दूसरी ओर रसोई तैयार हो रही थी। यह

---

1 कधं तिरिक्खेसु दाणस्स संभवो? ण, तिरिक्ख संजदासंजदाणं सचित्तभंजणे गहिदपच्चक्खाणं सल्लइपल्लवादि देततिरिक्खाणं तदविरोधादो।

देखकर मृग वापस आया और इशारे से मुनि को अपने पीछे-पीछे खींचकर उपर्युक्त स्थल पर ले गया। तपस्वी मुनि को ७-८ दिनों से कहीं भी आहार का योग नहीं मिला था। ऐसे जंगल में मुनि के पवित्र दर्शन ! बढ़ई तो मुनि को देखते ही हर्षमग्न हो गया। वह फूला नहीं समाया। उसने पेड़ की आधी डाली चीरी थी। भोजन का समय हो रहा था, इसलिए काम बन्द करके वह पेड़ से उतरा। दूसरे आदमी भी पेड़ से उतरे। मृग के हर्ष का पार न था। बढ़ई की भावना भी पराकाष्ठा पर थी। सत-हृदय भी उनकी भावना देखकर उल्लसित हो रहा था। परन्तु संयोगवश ज्यों ही बढ़ई बलभद्र मुनि के भिक्षापात्र में आहार देने जा रहा था, मुनिजी अपने पात्र आहार के लिए रख रहे थे और भावना में ओतप्रोत मृग खड़ा वहाँ था, त्यों ही एकाएक जोरदार अंधड़ आने से आधी चीरी हुई पेड़ की डाली ठीक इन तीनों पर पड़ी। पड़ते ही शुभ भावना में डूबे हुए तीनों (मुनि, मृग और बढ़ई) वहीं के वहीं मरणशरण हो गये। तीनों की भावना समान थी, इसलिए तीनों मर कर वहाँ से स्वर्ग में गये।

यह था, एक मृग के द्वारा अलौकिक आहार दान की दलाली करके दिलाने का परिणाम ! यह तो हुई अलौकिक आहार-दान की करामात ! लौकिक आहार दान का महत्त्व भी कम नहीं है।[1] परन्तु मुनि तो अपने नियमानुसार कल्पनीय एवं ऐषणीय आहार ही लेते हैं। सब जगह मुनियों का योग नहीं मिलता। तब क्या उपाय है—आहारदान से सुफल प्राप्त करने का ? यह जैन इतिहास के एक ज्वलन्त उदाहरण द्वारा समझाते हैं—

केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद भ. ऋषभदेव अष्टापद पर्वत पर पधारे। भरत चक्रवर्ती को ज्ञात होने पर वे भगवान् के दर्शनार्थ तैयार हुए। मुनियों को आहारदान देने की भावना से प्रेरित होकर भरत पकापकाया भोजन गाड़ियों में भरकर अपने साथ ले चले। भगवान् के दर्शनानन्तर भरत चक्री ने उनसे भोजन ग्रहण करने की प्रार्थना की। किन्तु भ. ऋषभदेव ने राजपिंड मुनियों के लिए अकल्पनीय है, कहकर वह भोजन लेना अस्वीकृत कर दिया। इस पर भरत को बहुत ही खिन्नता हुई। निराश भरत को इन्द्र ने आकर समझाया, आश्वस्त किया और कहा—'इस नैमित्तिक भोजन का उपयोग स्वधर्मी गृहस्थों को खिला कर करेंगे। इन्द्र के कथनानुसार भरत

---

१ अन्नदान का महत्त्व—

तुरगशतसहस्रं गोगणानां च लक्षं, कनकरजतपात्रं मेदिनीं सागरान्तम्।
विमलकुलवधूनां कोटिकन्याश्च दद्यात् नहि नहि सममेतत् अन्नदानैः प्रधानैः॥

अर्थात्—यदि कोई दानी किसी व्यक्ति को लाख घोड़े दे दे, लाखों गायें भी दे दे, सोने-चाँदी के बर्तन दे दे अथवा समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का दान करदे या पवित्र कुल की करोड़ कन्याएँ कुलवधू के रूप में दे दे, तब भी ये सब दान सबसे प्रधान अन्नदान (आहारदान) के तुल्य नहीं होते।

चक्रवर्ती ने उस आहार का उपयोग स्वधर्मी गृहस्थों को भोजन कराने में किया। भरत चक्रवर्ती ने वहाँ एक भोजनशाला का निर्माण करवाया, जिसमें कई धर्मनिष्ठ सद्गृहस्थ भोजन करते थे। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती ने भ. ऋषभदेव के द्वारा आहार लेने से इन्कार करने पर आहारदान का महत्व समझ कर धर्मनिष्ठ श्रावकों माहणों और सद्गृहस्थों के प्रतिदिन भोजन कराने के लिए ही वहाँ भोजनशाला खोली थी।

सचमुच आहारदान देना सर्वदानों में श्रेष्ठ है। दक्षिण भारत के श्रेष्ठतम धर्म ग्रन्थ कुरल में बताया है—

इदं हि धर्म सर्वस्वं शास्तॄणां वचने द्वयम्।
क्षुधार्तेन समं भुक्तिः, प्राणिनां चैव रक्षणम् ॥३२२

—क्षुधापीड़ितों के साथ अपना भोजन बांटकर खाना और प्राणियों की रक्षा करना यह धर्मों का सर्वस्व है और धर्मोपदेष्टाओं के समस्त उपदेशों में श्रेष्ठतम उपदेश है। आचार्य वसुनन्दी ने भी वसुनन्दी श्रावकाचार में अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियों से आहारदान को श्रेष्ठ बताया है—

—'असन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारों प्रकार का श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्ति से तीनों प्रकार के पात्रों को देना चाहिए।[1]

इसमें अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियों से आहार दान का महत्त्व बताया गया है। लौकिक दृष्टि से आहारदान का महत्त्व बताने के लिए ही उन्होंने तीनों को देने का उल्लेख किया है। लौकिक दृष्टि से आहारदान देने को आचार्य वसुनन्दी ने एक तरह से करुणादान कहा है—

—'अत्यन्त वृद्ध, बालक, मूक, अन्धा, बहरा, परदेशी, रोगी और दरिद्र मनुष्यों को 'करुणादान दे रहा हूँ' ऐसा समझ कर यथायोग्य आहार आदि देना चाहिए।[2]

अलबत्ता जो गृहस्थ धन अर्जन कर सकता है, अपनी आजीविका स्वयं चला सकता है, सशक्त है, स्वस्थ है, आपद्ग्रस्त नहीं है उसे दान लेने का अधिकार नहीं है। इसलिए ऐसा सद्गृहस्थ आहार आदि का दान लेने से संकोच ही करता है। परन्तु जब किसी प्रदेश में दुष्काल पड़ गया हो, वह प्रदेश सूखा, बाढ़ या भूकम्प आदि से प्रभावित हो गया हो, या किसी महामारी या बीमारी के उपद्रव से पीड़ित हो, विधवा अनाथ या अपाहिज हो, कमाने के अयोग्य हो, अत्यन्त वृद्ध हो, अत्यन्त निर्धन हो, ऐसे व्यक्ति को करुणा की दृष्टि रखकर आहारादि दान देना लौकिक दृष्टि से भी उत्तम है।

---

१ असणं पाणं खाइमं साइमिदि चउविहोवराहारो।
पुव्वुत्तणवविहाणेहिं तिविहपत्तस्स दायव्वो ॥२३४॥

२ अइवुड्ढ-बाल-मूयंध बहिर-देसंतरीय-रोडाणं।
जह जोग्गं दायव्वं करुणा दाणंत्ति भणिऊण ॥२३५॥

समानदत्ति की दृष्टि से भी आहारादि का दान उचित ही है। वैसे तो जब तक बस चलता है, कोई भी व्यक्ति किसी से मांगना या किसी के आगे हाथ पसारना अथवा किसी से दान लेना नहीं चाहता। विवशता की परिस्थिति में ही गृहस्थ किसी दूसरे से याचना करता है या दान लेना चाहता है। इसलिए मानवीय कर्तव्य के नाते भी ऐसे समय में आहारादि दान देना साधन-सम्पन्न मानव का कर्तव्य हो जाता है।

जैनाचार्य पूज्य श्रीलालजी महाराज एक बार जूनागढ़ पधारे, उन्होंने देखा कि एक जगह दो बड़े-बड़े कड़ाह भट्टी पर चढ़ाए हुए हैं।' लोगों से पूछा—"यहाँ ये क्यों चढ़ाए गए हैं?' किसी ने कहा—"महाराज श्री! यहाँ प्रजावत्सल दीवानजी (श्रीबावदीन भाई) की तरफ से हिन्दू या मुसलमान जो भी आता है, सबको मुफ्त में भोजन कराया जाता है। पूज्य महाराज दीवान जी से मिले। बातचीत के सिलसिले में उनसे पूछा—"आपने यह (भोजनदान का) काम कैसे शुरू किया? उन्होंने कहा—"महाराज श्री! मैं बहुत ही गरीब था। लकड़ियों का गट्ठड़ सिर पर रखकर शहर में लाता, बेचता और गुजारा चलाता था। एक बार यहाँ के नवाब साहब की शुभ नजर मेरे पर हो गई। खुदा की मेहरबानी से मुझे यहाँ का दीवान पद मिल गया। इस साल (वि० सं० १९५६) दुष्काल पड़ गया। लोग अनाज के बिना तड़फने लगे। मैंने सोचा—'मैं साथ में क्या लेकर आया था? सब कुछ इन लोगों की मदद से मुझे मिला है। अतः इस दौलत का उपयोग क्यों न कर लिया जाय? मुझसे इनका यह दुःख देखा न गया। मैंने अन्न खरीदवाना शुरू किया और एक हिन्दू और एक मुसलमान दो रसोइये रखकर दो कड़ाह चढ़वा दिये और ऐलान करवा दिया कि जो भी आए, भोजन करके जाए। पैसा देने की कोई जरूरत नहीं।' पूज्य महाराज श्री ने इस निःस्वार्थ भोजनदान को देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। साथ ही दीवानजी की प्रजावत्सलता, नम्रता और सादगी देखकर उन्हें साधुवाद दिया।

वास्तव में प्रजावत्सल दीवानजी का यह समयोचित आहारदान का कार्य कितना महत्त्वपूर्ण था। तथागत बुद्ध के शब्दों में कहें तो—"जो मनुष्य भोजन देता है, वह लेने वाले को ४ चीजें देता है—वर्ण, सुख, बल और आयु। साथ ही देने वाले को उसका सुफल उसी रूप में मिलता है—दिव्यवर्ण, दिव्य सुख, दिव्य बल और देवायु।"[१]

वास्तव में अन्नदानी दयार्द्र होता है। उसके कण-कण में क्षुधापीड़ितों के प्रति करुणा होती है, उसका अनुकम्पाशील हृदय भूखों के दुःख को अपना दुःख समझता है। राजस्थान में किशनगढ़ एक छोटी रियासत मानी जाती थी। उसके तत्कालीन शासक थे—महाराजा मदनसिंह जी। उनको गद्दी पर बैठे पूरा वर्ष भी

१ अंगुत्तरनिकाय ४।५८

नहीं हुआ था कि किशनगढ़ रियासत में भीषण दुष्काल पड़ा। वैसे, राजस्थान का बहुत-सा प्रदेश अकाल की चपेट में आ गया था। उनके सिंहासनारूढ़ होने को प्रजा अमांगलिक न समझे, इससे महाराज मदनसिंहजी ने प्रजा के लिए अन्न जुटाने के बहुत प्रयत्न किये। आसपास की रियासतों में भी वही समस्या होने से उनको इसमें विशेष सफलता नहीं मिली। तब उन्होंने सेना के लिए सुरक्षित अनाज के कोठे प्रजा को सस्ते दामों में देने के लिए निकाले। कुछ राहत हुई। फिर भी अधिकांश प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। उन्होंने निजी अन्न भण्डार भी बहुत कुछ खाली करा दिये, किन्तु समस्या न सुलझी। महाराजा चिन्तित से महल में बैठे थे कि उनके पास एक सन्देशा आया कि सेठ बलवन्तराज मेहता ५०० ऊँटों पर अनाज लादे आगरा से अजमेर के व्यापारियों को बेचने के लिए आ रहे हैं। महाराजा ने अपने खास मुसाहिब को सेठ बलवन्तराज मेहता को लाने के लिए तुरन्त भेजा।

सेठ बलवन्तराज मेहता आए। महाराजा ने सेठ के सामने राज्य की अन्न समस्या रखी और मेहताजी से कहा कि वे अनाज भरे ऊँट उन्हें बेच दें। वे दुगुने दाम देने को तैयार हैं। सेठ उत्तर सोच ही रहे थे कि महाराजा बेचैनी से बोल उठे—"अच्छा तिगुने दाम, चौगुने दाम ले लो, सेठ ! पर अनाज हमें ही बेचो।"

मेहताजी नम्रता से बोले—"महाराज ! मैंने यहाँ आकर जो देखा और समझा है, उससे इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मैं यहाँ अनाज बेच नहीं सकूँगा।" यह सुनकर महाराजा का हृदय निराशा से भर गया। उन्हें लगा कि डूबते को जो सहारा सा दिखाई दिया, वह भी पास आकर छूट गया। गहरा विषाद उनके मुख पर छा गया और उनकी आँखें छलछला आईं।

यह देख सेठ बोले—"महाराजा साहब ! मैंने प्रजा की हालत देखी है। मेरा हृदय दयार्द्र हो उठा है। मैं दयाधर्म—अहिंसा का अनुयायी हूँ। अतः मेरा निवेदन है कि दुःखी प्रजाजनों की सेवा करने का अवसर मुझे दें। मैं अपने ५०० अनाज भरे ऊँट प्रजाहितार्थ आपको निर्मूल्य भेंट करता हूँ। और दो माह बाद पुनः ५०० ऊँट अनाज-भरे आगरा से ला दूँगा, जिससे वर्षा आने तक राज्य में अनाज की कमी नहीं रहेगी।' इस अप्रत्याशित सुसन्देश को सुनकर महाराजा ने दौड़ कर मेहताजी को गले लगा लिया और कहने की इच्छा होने पर भी उनका रुँधा गला कुछ कह न सका, पर उनकी भीगी आँखें सब कुछ कह गईं। मेहताजी का भी हृदय महाराजा के स्नेहालिंगन से भर आया और आँखों तक उभर आया। उन्होंने झुक कर महाराजा को प्रणाम किया और कहा—'मैं उपकृत हूँ कि श्रीमान् ने मेरी तुच्छ भेंट स्वीकार करली।' महाराजा ने मेहताजी का बहुत सत्कार किया और जागीर तथा पदवी भी उन्हें देनी चाही, किन्तु उन्होंने सविनय इन्कार कर दिया कि "वह दयाधर्म के साथ सौदा हो जाएगा। वे पुण्य बेचना नहीं चाहते।"

सचमुच, बलवंतराजजी मेहता के द्वारा निःस्वार्थ भाव से किया गया यह अन्न-दान आचार्य वसुनन्दी की भाषा में करुणादान है।

मानव जब भूख से व्याकुल हो, तब उसे लम्बे-चौड़े उपदेश नहीं सुहाते, और न ही उस समय उसका मन लम्बी-चौड़ी धर्म-क्रियाओं, या साधना में लगता है। उस समय उसे उदरपूर्ति की बात ही सूझती है।

एक बौद्ध भिक्षु एक भूखे व्यक्ति को दयाधर्म का उपदेश दे रहा था। पर वह व्यक्ति उसकी एक भी बात ध्यानपूर्वक नहीं सुन रहा था। उसकी इस उपेक्षा से क्रुद्ध होकर वह भिक्षु उसे तथागत बुद्ध के पास लेकर पहुँचा। उस भिक्षु की बात सुन कर बुद्ध मुस्कराए और कहने लगे—'इसे मैं स्वयं उपदेश दूंगा।' म० बुद्ध ने उस भिक्षु से कहा—'इसे ले जाकर पहले पेट भर भोजन कराओ।' उस बुभुक्षित व्यक्ति के पेट में अन्न पहुँचते ही वह जिज्ञासु बनकर बुद्ध के पास बैठ गया। परन्तु भिक्षु को उपदेश की उतावल थी। उसने म० बुद्ध से कहा—'भंते! आपने इसे उपदेश कहाँ दिया?' बुद्ध—"उपदेश तभी दिया जाता है, जब पेट में अन्न पड़ा हो।" म० बुद्ध ने आगन्तुक को उपदेश दिया, जिसे बड़ी उत्सुकता से उसने सुना और गद्‌गद् होकर चला गया।

अतः उपदेश दान भी वस्तुतः अन्नदान के बाद ही सफल होता है। मनुष्य भूख से व्याकुल हो, उस समय उपदेश देना भी मजाक-सा है।

म० बुद्ध के जीवन का ही एक प्रसंग है। एक बार वे जेतवन विहार में ठहरे थे। धनजन से परिपूर्ण श्रावस्ती नगरवासी दस साल से घोर दुर्भिक्षग्रस्त थे। अन्न के लाले पड़े हुए थे। खेतों में अनाज का नाम ही नहीं था। सामान्य जनता रोगों की शिकार हो रही थी। निर्धनों, अनाथों एवं दुर्भिक्ष पीड़ितों का करुण-क्रन्दन सुनाई दे रहा था, परन्तु श्रावस्ती के धनिकों के हृदय में जरा भी सहानुभूति पैदा नहीं हुई। श्रावस्ती में धनकुबेरों की कमी न थी, पर दुर्भिक्ष पीड़ितों की मदद करना तो दूर रहा, कृपणता दिखाते थे, और चिन्तित रहते थे कि कहीं हमारे घरों में घुसकर हमारी सम्पत्ति न लूट लें। इस डर के मारे उनका सारा समय गहनों-कपड़ों की सुरक्षा में ही बीतता था एक दिन विहार के सामने एक निराश्रित बालक मूर्च्छितावस्था में पड़ा हुआ मिला। बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द ने उसे देखा तो बड़ा दुःख हुआ। उसकी जीवन रक्षा की चिन्ता हुई। आनन्द ने म० बुद्ध से पूछा—"भंते! अन्न के लिए तड़फते हुए मृत प्रायः मनुष्यों की रक्षा के लिए भिक्षु संघ को क्या करना चाहिए?" बुद्ध क्षणभर विचार में पड़े। फिर धीरे से कहा—"इस समय तुम्हारा क्या कर्तव्य है? यह तुम्हीं सोच लो।" आनन्द अधिक पूछना ठीक न समझ कर वहाँ से अश्रु-पूर्ण नेत्रों से चल पड़े। शाम को बुद्ध ने 'प्राणियों के दुःख एवं कारण' पर उपदेश दिया। बातचीत के सिलसिले में श्रावस्ती के दुर्भिक्ष का विस्तृत वर्णन करके सबको

संकट निवारण करने के लिए सानुग्रह निवेदन किया। उन्होंने भक्तो को सम्बोधित करते हुए कहा—"तुममे से अनेक धनकुबेर सम सम्पत्तिशाली हैं, चाहे तो एक आदमी भी इसे मिटा सकता है।"

यदि ऐसा न हो सके तो सभी मिल कर तो अवश्य ही इस संकट को मिटा सकते हैं। धनकुबेर रत्नाकर बोले—"श्रावस्ती विशाल नगर है। इतने सब आदमियो की अन्न व्यवस्था करना मेरे बूते की बात नही।' सामन्तराज जयसेन ने कहा—'मेरे तो अपने ही घर मे अन्न की कमी है, तब देशभर की अन्न की कमी मैं कैसे पूरा कर सकूंगा?' इसके बाद धर्मपाल से कहा तो उसने कहा—'मेरे पास खेत तो बहुत हैं, लेकिन अनाज नही हुआ। मेरे लिए राज्य कर देना भी भारी हो रहा है।' 'तब क्या कोई ऐसा नही, जो इस भयकर दुर्भिक्ष से देशबन्धुओ की रक्षा कर सके।' तथागत-बुद्ध ने उपस्थित भक्त मडली से कहा। उनकी आँखें अनाथपिण्ड को खोज रही थी। इतने मे एक कोने से कोमल आवाज आई—'भते ! मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करने को तैयार हूँ।' एक १२ वर्षीय बालिका ने कहा। उपस्थित जन कुछ स्तब्ध थे, कुछ हँस पडे। बुद्ध ने शान्तिपूर्वक कहा—'बेटी ! तू अभी छोटी है। तेरे प्रयत्न से इतने विशाल नगर के अन्न की पूर्ति कैसे होगी?' 'होगी, अवश्य होगी, भते !" तेजोगर्वित स्वर मे कोट्याधिपति अनाथपिण्ड की लालित-पालित पुत्री सुप्रिया ने कहा। 'आप ही कहे, अन्न सकट निवारण के लिए जब धनिकों की ओर से कोई प्रयत्न न हो तो क्या इसी वजह से देश का कष्ट कभी दूर न होगा?' इसके बाद उसने हाथ मे भिक्षापात्र लेकर कहा—'आपकी कृपा हुई तो मेरा यह भिक्षापात्र सदा भरा रहेगा। जो धनिक आपके आज्ञा-पालन से विमुख हो रहे हैं, वे मेरा भिक्षापात्र भरने मे कृपणता नही बता सकते। अनेक घरो से भिक्षा लाकर गरीबों को खिलाऊँगी। इस प्रकार दुर्भिक्ष पीड़ित जनता के अन्नाभाव की पूर्ति होगी।" बुद्ध ने उसे आशीर्वाद दिया। कहना न होगा, सुप्रिया यद्यपि बालिका थी, लेकिन दुष्काल पीडितो को अन्नदान देने मे उसने रात-दिन एक कर दिया। लोगो ने जब करोड़पति सेठ की लड़की को भिक्षा मांगते देखा, तो सभी के कठोर हृदय पिघल गए। बौद्ध नारियो के इतिहास मे वह 'दयावती' नाम से प्रसिद्ध हुई।

वास्तव मे, दुष्काल के विकट समय मे इस छोटी-सी बालिका ने अन्नदान देकर महान् पुण्योपार्जन किया।

यद्यपि अलौकिक आहारदान मे यह अवश्य देखा जाता है कि—देय वस्तु न्यायोपार्जित एव कल्पनीय, एषणीय हो। तत्वार्थसूत्र भाष्य मे स्पष्ट कहा है—

"न्यायागतानां कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणां......दानम्।'

परन्तु लौकिक आहारदान मे भी यह विवेक तो अवश्य करना होगा कि वह अन्न न्यायनीति से प्राप्त हो [illegible] निःसन्देह कहा जा सकता है कि दुष्काल आदि

संकट के समय में अगर आवश्यकतानुसार अन्नदान न हो तो उस प्रदेश में लूट, चोरी, अनीति आदि अराजकता फैलने की आशंका रहती है। बड़े-बड़े दीर्घकालीन दुष्कालों के समय ऐसा हुआ भी है। भूखा आदमी न्याय, नीति, कानून, धर्ममर्यादा, नियम आदि सबको ताक में रख देता है। इसीलिए समाज से धर्मपालन कराने एवं समाज को स्वच्छ व स्वस्थ रखने के लिए 'आहारदान' सर्वप्रथम आवश्यक बताया गया है। इस दृष्टि से अन्न सत्र या सदाव्रत खोलने वाले भी भूखे व्यक्तियों के अन्तर का आशीर्वाद लेकर। महान् पुण्य का उपार्जन करते हैं।

12

औषध-दान : एक पर्यवेक्षण

चार प्रकार के दानों में 'आहारदान' का प्रथम नम्बर है, जीवन धारण की दृष्टि से भी वह सर्वप्रथम आवश्यकता है, उसकी महत्ता, उपयोगिता और देयता पर पिछले प्रकरण में चिन्तन किया गया है अब—

आहारदान के बाद औषधदान का क्रम आता है। इसमें भी अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियाँ हैं। यदि मनुष्य बीमार है, किसी रोग से पीड़ित है तो उसे आहार की रुचि भी नहीं होगी, उस समय उसे आहार देना बेकार होगा। उस समय उसे तत्काल चिकित्सा की आवश्यकता है, जो उसे स्वस्थ एवं रोगमुक्त कर सके। इसलिए औषधदान भी अतीव महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य वसुनन्दी ने औषधदान का सुन्दर लक्षण बताते हुए कहा है—

—"उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से परिपीड़ित जीव को जानकर अर्थात् देखकर शरीर के योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए।[1]

किसी श्रमण या श्रमणी अथवा मुनि एवं आर्यिका आदि त्यागी के शरीर में पूर्व के अशुभकर्मोदय से कोई व्याधि, रोग, पीड़ा या वेदना पैदा हो जाय उस समय दयालु एवं श्रद्धाशील श्रावक-श्राविका (सद्गृहस्थ) का कर्तव्य है कि वे उनका यथा-योग्य उपचार करावें। उन्हें यथोचित पथ्य के अनुरूप आहार देना, उनका योग्य इलाज कराना, औषध देना या दिलाना, उन्हें चिकित्सक को बताकर योग्य उपचार कराना आदि सब रोग निवारण के उपाय अलौकिक औषधदान के अन्तर्गत आते हैं।

कोई कह सकता है कि साधु-साध्वी तो इतने संयमी, तपस्वी, संयम नियम से रहने वाले होते हैं, फिर भी उनके रोग या बीमारी होने का क्या कारण है? या उनका शरीर अस्वस्थ होने का क्या कारण है? इस विषय में साधु वर्ग की जीवन चर्या की दीर्घकालीन परिस्थिति पर विचार करने के बाद यही कहा जा सकता है कि मूल कारण तो पूर्वकृत अशुभ कर्मों का उदय है। किन्तु वर्तमान में साधु-साध्वियों के

---

१ उववास-वाहि-परिसम-किलेस-परिपीडयं मुणेऊण।
पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणंपि दायव्वं ॥२३६॥

—वसुनन्दि श्रावकाचार

संकट के समय में अगर आवश्यकतानुसार अन्नदान न हो तो उस प्रदेश में लूट, चोरी, अनीति आदि अराजकता फैलने की आशंका रहती है। बड़े-बड़े दीर्घकालीन दुष्कालों के समय ऐसा हुआ भी है। भूखा आदमी न्याय, नीति, कानून, धर्ममर्यादा, नियम आदि सबको ताक में रख देता है। इसीलिए समाज से धर्मपालन कराने एवं समाज को स्वच्छ व स्वस्थ रखने के लिए 'आहारदान' सर्वप्रथम आवश्यक बताया गया है। इस दृष्टि से अन्न सत्र या सदाव्रत खोलने वाले भी भूखे व्यक्तियों के अन्तर का आशीर्वाद लेकर। महान् पुण्य का उपार्जन करते हैं।

12

औषध-दान : एक पर्यवेक्षण

चार प्रकार के दानों में 'आहारदान' का प्रथम नम्बर है, जीवन धारण की दृष्टि से भी वह सर्वप्रथम आवश्यकता है, उसकी महत्ता, उपयोगिता और देयता पर पिछले प्रकरण में चिन्तन किया गया है अत—

आहारदान के बाद औषधदान का क्रम आता है। इसमें भी अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियाँ हैं। यदि मनुष्य बीमार है, किसी रोग से पीड़ित है तो उसे आहार की रुचि भी नहीं होगी, उस समय उसे आहार देना बेकार होगा। उस समय उसे एकमात्र चिकित्सा की आवश्यकता है, जो उसे स्वस्थ एवं रोगमुक्त कर सके। इसलिए, औषधदान भी अतीव महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य वसुनन्दी ने औषधदान का सुन्दर लक्षण बताते हुए कहा है—

—"उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से परिपीड़ित जीव को जानकर अर्थात् देखकर शरीर के योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए।[1]

किसी श्रमण या श्रमणी अथवा मुनि एवं आर्यिका आदि त्यागी के शरीर में पूर्व के अशुभकर्मोदय से कोई व्याधि, रोग, पीड़ा या असाता पैदा हो जाय उस समय दयालु एवं श्रद्धाशील श्रावक-श्राविका (सद्गृहस्थ) का कर्तव्य है कि वे उनका यथा-शक्य उपचार करावें। उन्हें यथोचित पथ्य के अनुरूप आहार देना, उनका योग्य इलाज कराना, औषध देना या दिलाना, उन्हें चिकित्सक को बताकर योग्य उपचार कराना आदि सब रोग निवारण के उपाय अलौकिक औषधदान के अन्तर्गत आते हैं।

कोई कह सकता है कि साधु-साध्वी तो इतने संयमी, तपस्वी, संयम नियम में रहने वाले होते हैं, फिर भी उनको रोग या बीमारी होने का क्या कारण है? या उनका शरीर अस्वस्थ होने का क्या कारण है? इस विषय में साधु वर्ग की जीवन चर्या की दीर्घकालीन परिस्थिति पर विचार करने के बाद यही कहा जा सकता है कि मूल कारण तो पूर्वकृत अशुभ कर्मों का उदय है। किन्तु वर्तमान में साधु-साध्वियों के

१ उपवास-वाहि-परिसम-किलेस-परिपीडयं मुणेऊण।
पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणंपि दायव्वं ॥२३६॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार

संकट के समय में अगर आवश्यकतानुसार अन्नदान न हो तो उस प्रदेश में लूट, चोरी, अनीति आदि अराजकता फैलने की आशंका रहती है। बड़े-बड़े दीर्घकालीन दुष्कालों के समय ऐसा हुआ भी है। भूखा आदमी न्याय, नीति, कानून, धर्ममर्यादा, नियम आदि सबको ताक में रख देता है। इसीलिए समाज से धर्मपालन कराने एवं समाज को स्वच्छ व स्वस्थ रखने के लिए 'आहारदान' सर्वप्रथम आवश्यक बताया गया है। इस दृष्टि से अन्न सत्र या सदाव्रत खोलने वाले भी भूखे व्यक्तियों के अन्तर का आशीर्वाद लेकर। महान् पुण्य का उपार्जन करते हैं।

12

औषध-दान : एक पर्यवेक्षण

चार प्रकार के दानों में 'आहारदान' का प्रथम नम्बर है, जीवन धारण की दृष्टि से भी वह सर्वप्रथम आवश्यकता है, उसकी महत्ता, उपयोगिता और देयता पर पिछले प्रकरण में चिन्तन किया गया है अब—

आहारदान के बाद औषधदान का क्रम आता है। इसमें भी अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियाँ हैं। यदि मनुष्य बीमार है, किसी रोग से पीड़ित है तो उसे आहार की रुचि भी नहीं होगी, उस समय उसे आहार देना बेकार होगा। उस समय उसे एकमात्र चिकित्सा की आवश्यकता है, जो उसे स्वस्थ एवं रोगमुक्त कर सके। इसलिए औषधदान भी अतीव महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य वसुनन्दी ने औषधदान का सुन्दर लक्षण बताते हुए कहा है—

—"उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से परिपीड़ित जीव को जानकर अर्थात् देखकर शरीर के योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए।[1]

किसी श्रमण या श्रमणी अथवा मुनि एवं आर्यिका आदि त्यागी के शरीर में पूर्व के अशुभकर्मोदय से कोई व्याधि, रोग, पीड़ा या असाता पैदा हो जाय उस समय दयालु एवं श्रद्धाशील श्रावक-श्राविका (सद्गृहस्थ) का कर्तव्य है कि वे उनका यथा-योग्य उपचार करावें। उन्हें यथोचित पथ्य के अनुरूप आहार देना, उनका योग्य इलाज कराना, औषध देना या दिलाना, उन्हें चिकित्सक को बताकर योग्य उपचार कराना आदि सब रोग निवारण के उपाय अलौकिक औषधदान के अन्तर्गत आते हैं।

कोई कह सकता है कि साधु-साध्वी तो इतने संयमी, तपस्वी, संयम नियम में रहने वाले होते हैं, फिर भी उनके रोग या बीमारी होने का क्या कारण है? या उनका शरीर अस्वस्थ होने का क्या कारण है? इस विषय में साधु वर्ग की जीवन चर्या की दीर्घकालीन परिस्थिति पर विचार करने के बाद यही कहा जा सकता है कि मूल कारण तो पूर्वकृत अशुभ कर्मों का उदय है। किन्तु वर्तमान में साधु-साध्वियों के

---

१ उपवास-वाहि-परिसम-किलेस-परिपीडयं मुणेऊण।
पत्थं सरीरजोग्गं भेषजदाणंपि दायव्वं ॥२३६॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार

रुग्ण रहने का एक मूलभूत कारण यह भी है कि उनका आहार पराधीन है, गृहस्थ वर्ग के अधीन ही उनका खानपान है, इसलिए साधुवर्ग कितना भी नियमित रहे, संयम से रहे, फिर भी वह स्वेच्छा से अपने आहार की व्यवस्था नहीं कर पाता। गृहस्थ वर्ग जैसा और जिस प्रकार का भोजन करते हैं, वैसा और उसी प्रकार का भोजन प्रायः उसे लेना होता है। वह छोड़ सकता है, परन्तु इस प्रकार अपथ्य आहार को छोड़ देने पर उसका निर्वाह होना कठिन होता है। श्रावकों को अपने लिए खासतौर से पथ्योचित आहार बनाने के लिए कहना, उसके नियम के विरुद्ध है। उसे चाहिए फल आदि हलका और सुपाच्य भोजन, परन्तु गृहस्थ वर्ग भक्तिवश अत्यन्त आग्रहपूर्वक देता है—मिठाइयाँ, तली हुई वस्तुएँ, गरिष्ठ भोजन आदि। कभी-कभी अत्याग्रह के वश होकर वह भी भोजन पर संयम नहीं कर पाता। रसनेन्द्रिय वश में न होने पर, कुपथ्य कर लेने पर या वातावरण या परिस्थिति प्रतिकूल होने पर या अत्यन्त श्रम, अत्यन्त मानसिक सन्ताप, अत्यन्त परिपीड़न आदि के संयोगों में साधुवर्ग का स्वास्थ्य भी बिगड़ता है, केवल शारीरिक ही नहीं, मानसिक स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। ऐसी दशा में कोई विचारवान् विवेकी दयालु सद्गृहस्थ उस रुग्ण एवं अस्वस्थ साधु या साध्वी का उचित उपचार कराता है या स्वयं औषध आदि या पथ्यादि देकर चिकित्सा करता है तो वह उस अलौकिक औषध दान के द्वारा महान् फल को प्राप्त करता है। साधुवर्ग की रुग्णता का उपर्युक्त कारण पद्मनंदि-पंचविंशतिका में स्पष्ट बताया है—

—'शरीर इच्छानुसार भोजन, चर्या और रहन-सहन से नीरोग रहता है। परन्तु इस प्रकार की इच्छानुसार प्रवृत्ति साधुओं के लिए सम्भव नहीं है। इसलिए उनका शरीर प्रायः अस्वस्थ हो जाता है। ऐसी दशा में सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह उस रुग्ण शरीर औषध, पथ्य-भोजन और जल के द्वारा चारित्र (धर्म) पालन के योग्य बनाए। इसी कारण यहाँ उन संयमी साधुओं का धर्म उत्तम सद्गृहस्थों (श्रावकों) के निमित्त से चलता है।'[1]

तात्पर्य यह है कि रुग्ण, अस्वस्थ एवं पीड़ित साधु-साध्वियों का आहार-विहार, औषध-भैषज, पथ्य-परहेज का दारोमदार प्रायः सद्गृहस्थों के अधीन है। इसलिए ऐसा सेवाभावी सद्गृहस्थ या वैद्य-डॉक्टर अथवा हकीम सेवाभाव से रुग्ण साधु-साध्वियों का इलाज करता है, उनकी भली-भाँति चिकित्सा द्वारा सेवा करता है, उनके यथोचित पथ्य आदि का प्रबन्ध करता है, वह प्रायः कर्मों की निर्जरा करता है,

---

१ स्वेच्छाहारविहार जल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते;
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण सम्भाव्यते।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं,
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात्॥ ७/९

अथवा महान् पुण्य का उपार्जन करता है। उसका प्रत्यक्ष फल भी सागारधर्मामृत में बताया है—

"आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयम् ।"

—औषधदान से दाता को आरोग्य मिलता है।

इसी प्रकार आचार्य अमितगति ने अमितगति श्रावकाचार में औषधदान का फल बताते हुए कहा है—

—'जिस प्रकार सिद्ध-परमात्मा सब प्रकार की व्याधि से मुक्त होते हैं, उनके (अनन्त) सुख का तो कहना ही क्या ? उसी प्रकार औषधदान देने वाले महान् आत्मा को भी जिन्दगीभर किसी प्रकार की शरीर पीड़ाकारी व्याधि नहीं होती, उसे भी सिद्ध के समान सुख प्राप्त होता है। जो औषधदान देता है, वह कान्ति का भण्डार बनता है, यशकीर्तियों का कुलमन्दिर होता है और लावण्यों (सौन्दर्यों) का समुद्र होता है।[1]

औषधदान के महाफल के सम्बन्ध में भगवान् ऋषभदेव के पूर्वजन्म की एक घटना सुनिए—

सम्यक्त्व-प्राप्ति होने के बाद के ग्यारहवें भव में ऋषभदेव वज्रनाभ चक्रवर्ती के रूप में हुए थे। उनके पिता वज्रसेन राजा राजपाट छोड़कर मुनि बने और केवल-ज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर बने थे। उन्हीं वज्रसेन राजा के पांच पुत्र थे—बाहु, सुबाहु, पीठ, महापीठ और वज्रनाभ तथा इनके सारथी का नाम सुयश था। ये छहों परस्पर गाढ़ मित्र थे। तेरहवें भव में वज्रनाभ का जीव वैद्य हुआ और बाकी के चारों मित्र बने। एक दिन ये चारों मित्र कहीं जा रहे थे कि रास्ते में एक साधु को भिक्षा के लिए जाते देखा, जिनके शरीर में प्रबल रोग था। उसी रोग के कारण वे लड़खड़ाते हुए चल रहे थे। चारों ही मित्रों ने इस रोगग्रस्त मुनि की चिकित्सा कराने का निश्चय किया और उसी वैद्य के यहाँ पहुँचे। उन्होंने वैद्य से कहा—'यहाँ से अभी-अभी एक साधु गुजरे हैं, आपने देखा नहीं, उनके शरीर में कितना भयंकर रोग था। आपने उनका इलाज क्यों नहीं किया ?'

वैद्य बोला—'मैंने उन्हें देखते ही उनके रोग का तो निदान कर लिया था, परन्तु उस रोग के उपचार के लिए मेरे पास और औषध तो हैं, किन्तु बावनाचन्दन और रत्नकंबल मेरे पास नहीं हैं। इस रोग के निवारण के लिए ये दोनों वस्तुएँ

---

१ आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापकः ।
किं सुखं कथ्यते तस्य सिद्धस्येव महात्मनः ॥
निधानमेष कान्तीनां, कीर्त्तीनां कुलमन्दिरम् ।
लावण्यानां नदीनाथो नैरुज्यं येन दीयते ॥

अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि आप लोग ये दोनों चीजें मुझे ला दें तो मैं उन मुनि की चिकित्सा करके बिलकुल स्वस्थ कर दूँगा।'

उसी नगर के एक पंसारी के यहाँ ये दोनों चीजें मिलती थीं। अतः चारों ही मित्र उस पंसारी के यहाँ पहुँचे। पंसारी से उन्होंने कहा—"आपके यहाँ रत्नकंबल और बावनाचन्दन हों तो हमें दे दीजिए। इन दोनों की जो भी कीमत हो, हमसे ले लीजिए।" इन युवकों के मुँह से इतनी बहुमूल्य चीजों के खरीदने की बात सुनकर पंसारी को कुछ शक हुआ। उसने पूछा—"क्यों भैय्या ! आपको ये दोनों चीजें किसलिए चाहिए ?"

चारों ने उत्तर दिया—'एक मुनिराज के शरीर में भयंकर रोग है, उसके निवारण करने और मुनि को स्वस्थ करने के लिए हमें ये दोनों चीजें चाहिए। उनके शरीर में कीड़े पड़ गए हैं, जिससे उन्हें भयंकर असाता उत्पन्न हो गई है।'

पंसारी ने सोचा—'मैं इतना बड़ा धनाढ्य हूँ। मेरा व्यापार काफी अच्छा चलता है। फिर भी मैं एक मुनिराज की चिकित्सा के लिए कीमत लेकर इन चीजों को दूँ, यह मेरे सरीखे सम्पन्न व्यक्ति के लिए उचित नहीं है। जब ये चारों लड़के इस छोटी-सी उम्र में मुनिराज की सेवा करने की इतनी भावना रखते हैं और मुझसे ये बहुमूल्य वस्तुएँ खरीदना चाहते हैं तो मैं ही औषधदान के रूप में इस सेवा का लाभ क्यों न लूँ ?' पंसारी ने अपने दिल की बात प्रगट करते हुए कहा—'भाइयो ! मेरी एक नम्र प्रार्थना है, आप लोगों से !'

'हाँ, हाँ कहिये, साहब !' युवकों ने कहा।

'भाइयो ! आप लोग मुझे इस औषधदान (सेवा) का अवसर नहीं देंगे ? मेरे मन में यह भावना हुई है कि मैं इस सेवा का लाभ लूँ।' पंसारी ने नम्रभाव से कहा।

युवकों ने पूछा—'सो कैसे होगा, साहब ?'

'मेरी इच्छा है कि यह रत्नकम्बल और बावनाचन्दन मेरी ओर से काम में लाया जाए।' पंसारी ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा।

युवक सविनय बोले—'साहब ! हमारी इच्छा तो नहीं होती कि आपसे बिना कीमत चुकाए ये वस्तुएं लें। फिर भी आपकी पवित्र भावना को ठुकराकर आपको औषधदान के इस पवित्र लाभ से वंचित करना भी हमारा धर्म नहीं है। अतः हम आपको इस लाभ के लिए सहर्ष अनुमति देते हैं।' उक्त पंसारी ने अपनी दूकान से रत्नकम्बल और बावनाचन्दन लिया और उन चारों युवक मित्रों के साथ वह वैद्य के पास पहुँचा। वैद्य ने अपने औषधालय से लक्षपाक तेल लिया और इस प्रकार ये छहों व्यक्ति रुग्ण मुनि के पास पहुँचे।

वैद्य ने मुनि के शरीर पर लक्षपाक तेल लगाया और वह रत्नकम्बल उन्हें ओढ़ा दिया, जिससे थोड़ी ही देर में तेल की गर्मी पाकर कीड़े बाहर निकलने लगे और पास ही रत्नकम्बल (जो ठंडी थी) में आकर जमा होने लगे। इस प्रकार तीन बार लक्षपाक तेल लगाया और रत्नकम्बल ओढ़ाया गया। इससे सारे के सारे कीड़े उस कम्बल में एकत्रित हो गए। उसके बाद बावनाचन्दन घिसकर उसका लेप मुनि के शरीर पर कर दिया। फलस्वरूप मुनि का शरीर पूर्णतः स्वस्थ हो गया। उन्हें पूरी तरह से साता हो गई। मुनि के शरीर से निकले हुए कीड़े वैद्य ने निकट ही मरी हुई एक गाय के कलेवर में डाल दिये। अन्त में छहों व्यक्तियों ने मुनिवर से क्षमायाचना की—'भंते ! आपके ज्ञानध्यान में हमने विघ्न डाला, इसके लिए क्षमा चाहते हैं।'

इसके बाद पंसारी वैद्य और ये चारों युवक परस्पर मित्र बन गये। मुनिराज को औषधदान देने के फलस्वरूप ये छहों ही आयुष्य पूर्ण करके देवलोक में गए। वहाँ से च्यव कर वैद्य का जीव पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रनाभ चक्रवर्ती बना और शेष चारों मित्र बने वज्रनाभ के चारों भाई। तथा पसारी सेठ का जीव वज्रनाभ चक्रवर्ती का सारथी सुयशा बना। छहों आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करने लगे।

एक बार वज्रसेन तीर्थंकर पुण्डरीकिणी नगरी में पधारे। छहों ने उनका उपदेश सुना और विरक्त होकर उनसे मुनिदीक्षा लेली। वज्रनाभ ने बीस स्थानक की सम्यक् आराधना के फलस्वरूप तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। बाहुमुनि ने ५०० साधुओं को प्रतिदिन आहार-पानी लाकर देने की प्रतिज्ञा की, सुबाहुमुनि उन ५०० साधुओं की सेवा-शुश्रूषा करने लगा। पीठ-महापीठ मुनि अपने ज्ञान-ध्यान और तप में लीन रहते थे। फलतः वज्रनाभ मुनि तीर्थंकर ऋषभदेव बने, बाहु-सुबाहु उनके पुत्र भरत-बाहुबली बने। और पीठ-महापीठ उनकी पुत्री के रूप में ब्राह्मी और सुन्दरी बनी।

इस प्रकार अलौकिक औषधदान का उत्तम फल प्राप्त हुआ। वास्तव में उत्तम सुपात्रों को औषधि देना, दिलाना, उनकी चिकित्सा करना, कराना, उनके पथ्य-परहेज की व्यवस्था करना, स्वयं वैद्य हो तो उनके रोग का निदान करके इलाज करना अथवा वैद्य, हकीम, चिकित्सक आदि से इलाज करवाना, कोई पीड़ा हो तो उसकी भी चिकित्सा कराना आदि सब औषधदान के अन्तर्गत आ जाते हैं। औषध-दान भी तभी दिया जाता है, जब रुग्ण व्यक्ति के प्रति दाता के मन में महाकरुणा हो उत्तम पात्र हों तो, उनके प्रतिश्रद्धाभाव हो, उन्हें साता पहुँचाने की भावना हो।

श्रमण भगवान महावीर पर एक बार गोशालक (क्षपणक) ने द्वेषवश तेजो-लेश्या फेंकी, परन्तु उस तेजोलेश्या का उनके आयुष्यबल पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु उनके शरीर पर अवश्य ही प्रभाव पड़ा। उन्हें रक्तातिसार हो गया। यह देखकर उनके शिष्य बहुत चिन्तित हो उठे और उन्हें औषध सेवन का अनुरोध करने

लगे। भगवान महावीर ने अपने शिष्यों के मनस्तोष के लिए कहा—'तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो तुम रेवती नाम की सद्‌गृहस्थ श्राविका के यहाँ जाओ और उसके यहाँ जो कूष्माण्डपाक बनाया हुआ है, उसमें से दो फाँकें ले आओ! वह औषधि मेरे इस रोग के निवारण के लिए बहुत ही अनुकूल होगी।' मुनि बहुत ही श्रद्धापूर्वक रेवती श्राविका के यहाँ पहुँचे। रेवती ने मुनियों को अपने यहाँ आते देख बहुत ही श्रद्धापूर्वक स्वागत किया और उनसे भगवान महावीर की अस्वस्थता के समाचार जानकर अपने यहाँ जो अनेक मूल्यवान औषधियाँ डालकर कुष्माण्डपाक बनाया हुआ था, उसमें से बहुत-सा देने लगी, परन्तु मुनियों ने कहा—'हमें सिर्फ इसके दो ही टुकड़े चाहिए, अधिक नहीं, क्योंकि शायद प्रभु के लिए फिर इसी दवा को लेने के लिए कई दिनों तक आना पड़े।" रेवती श्राविका ने मुनियों के कथनानुसार उस औषधि के दो टुकड़े दिये। उनके सेवन करते ही प्रभु महावीर के शरीर में शान्ति होने लगी। कुछ ही दिनों में तो वे एकदम स्वस्थ हो गए।

रेवती श्राविका द्वारा दिये गये इस औषधदान का सुफल उसे अवश्य मिला। तात्कालिक फल तो यह मिला कि वह सारे जैन जगत् में प्रसिद्ध हो गई। भगवती-सूत्र के पन्नों पर उसका नाम अंकित हो गया। भगवान महावीर को सुखसाता पहुँचाकर उसने उनके द्वारा जगत् के जीवों को महालाभ दिलाया।

यह तो हुआ अलौकिक औषधदान का सुफल एवं महत्त्व! लौकिक औषधदान का भी महत्त्व कम नहीं है। बेचारे दीन-हीन किसी रोग, व्याधि या पीड़ा से पीड़ित व्यक्ति किसी वैद्य या चिकित्सक के इलाज से स्वस्थ और रोगमुक्त हो जाते हैं तो हजार-हजार मूक आशीषें बरसाते हैं। ऐसा औषधदानी महान् पुण्य का उपार्जन तो करता ही है, उत्कृष्ट भावरसायन आ जाने पर निर्जरा (कर्मक्षय) भी कर लेता है। औषधदानी लौकिक औषधदान धर्मार्थ औषधालय खोलकर, किसी रोग के फैलने पर दवाइयों का वितरण करके अथवा स्वयं के व्यय से औषध, अनुपान, पथ्य आदि तक देकर चिकित्सा करके करता है। औषधदान करने वाले व्यक्ति के मन में करुणा का झरना बहता रहता है। कई लोग आँख के डॉक्टरों को अपनी ओर से सारा खर्च देकर नेत्र रोगियों का ऑपरेशन करवाते हैं। यह भी एक प्रकार का औषधदान का पुण्यकार्य है।

स्वीडन के सम्राट् की बहन राजकुमारी युजिनी अत्यन्त दयालु थी। रोगियों को देखकर उसका हृदय विह्वल हो उठता था। पवित्र करुणा भावना से प्रेरित होकर राजकुमारी ने अपने हीरे-मोतियों के गहने बेचकर एक बहुत बड़ा हॉस्पिटल बनवाया जिसमें रोगियों के इलाज के लिए सभी अद्यतन साधन उपलब्ध थे। राजकुमारी को इतने से ही सन्तोष नहीं होता था। वह हॉस्पिटल में जाकर स्वयं अपने हाथों से रोगियों की परिचर्या करती थी। नर्सें कहतीं—'आप तो राजकुमारी हैं, रोगी-परिचर्या का काम हमारा है, आपका नहीं।' इस पर राजकुमारी कहती—'मुझे रोगियों की [illegible] से कितना आनन्द आता है, यह मैं स्वयं अनुभव करती हूँ।'

एक बार हॉस्पिटल में एक कुष्ट रोगी आया। सभी उससे दूर रहना चाहते थे। राजकुमारी को जब इस बात का पता चला तो वह स्वयं उसके पास पहुँची। उससे पूछा—'भाई! कितने दिनों से इस रोग से पीड़ित हो?' पीड़ा से कराहते हुए वह बोला—'माताजी! मुझे ६ साल हो गये इस बीमारी से पीड़ित हूँ।' प्रत्येक अंग में पीड़ा होती है। रक्त और मवाद बहता है। कोई भी मेरे पास आना नहीं चाहता।' राजकुमारी की आँखों में आँसू छलछला आए, उसकी बात सुन कर। वह बोली—'घबराओ मत। मैं इस पवित्र कार्य को करूँगी।' राजकुमारी ने पानी गर्म किया। अपने हाथों से कुष्ट रोगी के घाव धोए, दवा मँगाई, नई पट्टी बाँधी, नौकर के द्वारा बाहर से फल मँगाकर रोगी को खिलाए। सात महीने तक प्रतिदिन यही कार्यक्रम चलता रहा। राजकुमारी आती, रोगी को स्नान कराती, घाव धोकर मरहम पट्टी कर जाती। एक दिन ऐसा आया कि औषधदान के रूप में राजकुमारी की निःस्वार्थ करुणायुक्त सेवा फलित हुई। रोगी रोगमुक्त होकर स्वस्थ हुआ। डॉक्टर ने उसे घर जाने की इजाजत दी, और वह घर जाने को तैयार हुआ उस दिन गद्गद् होकर कहा—'माँ! आप मेरी दूसरी माता हैं। अपनी माँ भी बालक की इतनी सेवा नहीं कर सकती, जितनी आपने राजकुमारी होकर की है। आपके द्वारा औषधदान, सेवा और प्रेम ने ही मेरा भयंकर रोग मिटाया है। मेरी आत्मा अन्तिम दिनों तक इस सेवा को भूल नहीं सकती।' यों कहकर राजकुमारी के चरणों में पड़कर अश्रुओं से पैर धोने लगा।' बड़े-बड़े आँसू देखकर राजकुमारी ने कहा—'भाई! इस हॉस्पिटल के बनाने के लिए ही मैंने हीरे-मोती के गहने दिये थे। आज वे मोती उग निकले हैं। तुम्हारे नेत्रों के मोती पाकर मैं धन्य हो गई हूँ।'

क्या राजकुमारी युलिनी को औषधदान के बदले में इस कुष्ट रोगी की तरह हजारों रोगियों के हार्दिक एवं कीमती आशीर्वाद नहीं मिले होंगे? क्या यह प्रत्यक्ष-फल भी कम आनन्दजनक था?'

जॉर्ज ईस्टमेन अमरीकन फोटोग्राफ फिल्म और कोडक कैमरा के आविष्कारक थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग ८० करोड़ रुपये शिक्षा और लगभग ४० करोड़ रुपये रोगियों की चिकित्सा के लिए दान दिये।

कई-कई डॉक्टर भी बड़े दयालु होते हैं, वे गरीब रोगी को देखते ही करुणा से द्रवित हो उठते हैं। डॉ० नागेन्द्र महाशय स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य बंगाली डॉक्टर थे। उनके हृदय में अपार करुणा थी। उनकी सदा यही दृष्टि रहती कि बीमार कैसे स्वस्थ हों। वर्तमान डॉक्टरों की तरह वे लोभी नहीं थे। इस कारण उनका पारिवारिक खर्च भी बड़ी मुश्किल से चलता था। फिर भी वे सदा सन्तुष्ट रहते थे। एक बार एक व्यक्ति के यहाँ विवाह में आप उपाध्याय के रूप में आमन्त्रित थे। अतः वे घर से रवाना हुए। पिछले दो दिन से स्वयं ने भोजन नहीं किया था। जेब में सिर्फ रेल किराये जितने ही पैसे थे। किन्तु रास्ते में ही उन्हें एक दुःखित

लगे। भगवान महावीर ने अपने शिष्यों के मनस्तोष के लिए कहा—'तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो तुम रेवती नाम की सद्गृहस्थ श्राविका के यहाँ जाओ और उसके यहाँ जो कुष्माण्डपाक बनाया हुआ है, उसमें से दो फाँकें ले आओ! वह औषधि मेरे इस रोग के निवारण के लिए बहुत ही अनुकूल होगी।' मुनि बहुत ही श्रद्धापूर्वक रेवती श्राविका के यहाँ पहुँचे। रेवती ने मुनियों को अपने यहाँ आते देख बहुत ही श्रद्धापूर्वक स्वागत किया और उनसे भगवान महावीर की अस्वस्थता के समाचार जानकर अपने यहाँ जो अनेक मूल्यवान औषधियाँ डालकर कुष्माण्डपाक बनाया हुआ था, उसमें से बहुत-सा देने लगी, परन्तु मुनियों ने कहा—'हमें सिर्फ इसके दो ही टुकड़े चाहिए, अधिक नहीं, क्योंकि शायद प्रभु के लिए फिर इसी दवा को लेने के लिए कई दिनों तक आना पड़े।" रेवती श्राविका ने मुनियों के कथनानुसार उस औषधि के दो टुकड़े दिये। उनके सेवन करते ही प्रभु महावीर के शरीर में शान्ति होने लगी। कुछ ही दिनों में तो वे एकदम स्वस्थ हो गए।

रेवती श्राविका द्वारा दिये गये इस औषधदान का सुफल उसे अवश्य मिला। तात्कालिक फल तो यह मिला कि वह सारे जैन जगत् में प्रसिद्ध हो गई। भगवतीसूत्र के पन्नों पर उसका नाम अंकित हो गया। भगवान महावीर को सुखसाता पहुँचाकर उसने उनके द्वारा जगत् के जीवों को महालाभ दिलाया।

यह तो हुआ अलौकिक औषधदान का सुफल एवं महत्त्व! लौकिक औषधदान का भी महत्त्व कम नहीं है। बेचारे दीन-हीन किसी रोग, व्याधि या पीड़ा से पीड़ित व्यक्ति किसी वैद्य या चिकित्सक के इलाज से स्वस्थ और रोगमुक्त हो जाते हैं तो हजार-हजार मूक आशीषें बरसाते हैं। ऐसा औषधदानी महान् पुण्य का उपार्जन तो करता ही है, उत्कृष्ट भावरसायन आ जाने पर निर्जरा (कर्मक्षय) भी कर लेता है। औषधदानी लौकिक औषधदान धर्मार्थ औषधालय खोलकर, किसी रोग के फैलने पर दवाइयों का वितरण करके अथवा स्वयं के व्यय से औषध, अनुपान, पथ्य आदि तक देकर चिकित्सा करके करता है। औषधदान करने वाले व्यक्ति के मन में करुणा का झरना बहता रहता है। कई लोग आँख के डॉक्टरों को अपनी ओर से सारा खर्च देकर नेत्र रोगियों का ऑपरेशन करवाते हैं। यह भी एक प्रकार का औषधदान का पुण्यकार्य है।

स्वीडन के सम्राट् की बहन राजकुमारी युजिनी अत्यन्त दयालु थी। रोगियों को देखकर उसका हृदय विह्वल हो उठता था। पवित्र करुणा भावना से प्रेरित होकर राजकुमारी ने अपने हीरे-मोतियों के गहने बेचकर एक बहुत बड़ा हॉस्पिटल बनवाया जिसमें रोगियों के इलाज के लिए सभी अद्यतन साधन उपलब्ध थे। राजकुमारी को इतने से ही सन्तोष नहीं होता था। वह हॉस्पिटल में जाकर स्वयं अपने हाथों से रोगियों की परिचर्या करती थी। नर्सें कहतीं—'आप तो राजकुमारी हैं, रोगी-परिचर्या का काम हमारा है, आपका नहीं।' इस पर राजकुमारी कहती—'मुझे रोगियों की सेवा में कितना आनन्द आता है, यह मैं स्वयं अनुभव करती हूँ।'

एक बार हॉस्पिटल में एक कुष्ट रोगी आया। सभी उससे दूर रहना चाहते थे। राजकुमारी को जब इस बात का पता चला तो वह स्वयं उसके पास पहुँची। उससे पूछा—'भाई! कितने दिनों से इस रोग से पीड़ित हो?' पीड़ा से कराहते हुए वह बोला—'माताजी! मुझे ६ साल हो गये इस बीमारी से पीड़ित हूँ।' प्रत्येक अंग में पीड़ा होती है। रक्त और मवाद बहता है। कोई भी मेरे पास आना नहीं चाहता।' राजकुमारी की आँखों में आँसू छलछला आए, उसकी बात सुन कर। वह बोली—'घबराओ मत। मैं इस पवित्र कार्य को करूँगी।' राजकुमारी ने पानी गर्म किया। अपने हाथों से कुष्ट रोगी के घाव धोए, दवा मँगाई, नई पट्टी बांधी, नौकर के द्वारा थोड़े से फल मँगाकर रोगी को खिलाए। सात महीने तक प्रतिदिन यही कार्यक्रम चलता रहा। राजकुमारी आती, रोगी को स्नान कराती, घाव धोकर मरहम पट्टी कर जाती। एक दिन ऐसा आया कि औषधदान के रूप में राजकुमारी की निःस्वार्थ करुणायुक्त सेवा फलित हुई। रोगी रोगमुक्त होकर स्वस्थ हुआ। डॉक्टर ने उसे घर जाने की इजाजत दी, और वह घर जाने को तैयार हुआ उस दिन गद्गद् होकर कहा—'माँ! आप मेरी दूसरी माता हैं। अपनी माँ भी बालक की इतनी सेवा नहीं कर सकती, जितनी आपने राजकुमारी होकर की है। आपके द्वारा औषध-दान, सेवा और प्रेम ने ही मेरा भयंकर रोग मिटाया है। मेरी आत्मा अन्तिम दिनों तक इस सेवा को भूल नहीं सकती।' यों कहकर राजकुमारी के चरणों में पड़कर अश्रुओं से पैर धोने लगा।' बड़े-बड़े आँसू देखकर राजकुमारी ने कहा—'भाई! इस हॉस्पिटल के बनाने के लिए ही मैंने हीरे-मोती के गहने दिये थे। आज वे मोती उग निकले हैं। तुम्हारे नेत्रों के मोती पाकर मैं धन्य हो गई हूँ।'

क्या राजकुमारी युजिनी को औषधदान के बदले में इस कुष्ट रोगी की तरह हजारों रोगियों के हार्दिक एवं कीमती आशीर्वाद नहीं मिले होंगे? क्या यह प्रत्यक्ष-फल भी कम आनन्दजनक था?'

जॉर्ज ईस्टमेन अमरीकन फोटोग्राफ फिल्म और कोडक केमरा के आविष्कारक थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग ८० करोड़ रुपये शिक्षा और लगभग ४० करोड़ रुपये रोगियों की चिकित्सा के लिए दान दिये।

कई-कई डॉक्टर भी बड़े दयालु होते हैं, वे गरीब रोगी को देखते ही करुणा से द्रवित हो उठते हैं। डॉ० नागेन्द्र महाशय स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य बंगाली डॉक्टर थे। उनके हृदय में अपार करुणा थी। उनकी सदा यही दृष्टि रहती कि बीमार कैसे स्वस्थ हो। वर्तमान डॉक्टरों की तरह वे लोभी नहीं थे। इस कारण उनका पारिवारिक खर्च भी बड़ी मुश्किल से चलता था। फिर भी वे सदा सन्तुष्ट रहते थे। एक बार एक व्यक्ति के यहाँ विवाह में आप उपाध्याय के रूप में आमन्त्रित थे। अतः वे घर से रवाना हुए। पिछले दो दिन से स्वयं ने भोजन नहीं किया था। जेब में सिर्फ रेल किराये जितने ही पैसे थे। किन्तु रास्ते में ही उन्हें एक दुःखित

बीमार मिला। अपनी स्वाभाविक आदत के अनुसार वे वहीं उस रोगी की चिकित्सा के लिए रुक गए। बीमार को दवा बताई। पर उसके पास खाने को भी पैसे नहीं थे, अतः अपने पास जितने पैसे थे, वे सब उसे दे दिये। बीमार को ठंड लग रही थी, इसलिए अपनी शाल भी उसे ओढ़ा दी। फिर भी किसी बात की चिन्ता नहीं थी। निःस्वार्थ औषधदान की मस्ती थी, उनके चेहरे पर !

कई वैद्य तो औषधदान के साथ-साथ पथ्यकारी भोजन, फल तथा अनुपान की चीजें भी रोगी को मुफ्त में देते हैं। सचमुच, भारतवर्ष में ऐसे कई व्यक्ति हुए हैं, जो ऐसे औषधदान के लिए प्रसिद्ध हैं। गुजरात (सौराष्ट्र) में झंडु भट्ट हुए हैं, जो जामसाहब के राजवैद्य थे। उन्हें लोगों की व्याधि और पीड़ा को दूर करने की ही फिक्र रहती थी। वे कितने ही रोगियों को अपने खर्च से घर पर रखकर उनकी चिकित्सा करते थे। उन्हें दवा के अतिरिक्त पथ्य आहार, फल, दूध आदि भी अपनी ओर से देते थे। एक बार भट्टजी के यहाँ एक मेमन महिला अपने दस साल के लड़के को लेकर इलाज कराने आई। भट्टजी ने रोगी की जांच-पड़ताल की, सारी बातें पूछीं। महिला ने कहा—'दादा ! बच्चे को दो महीने से पेशाब में मवाद एवं खून गिरता है। कई वैद्य-डॉक्टरों का इलाज कराया, परन्तु रोग मिटा नहीं। मेरे एक ही लड़का है। इसके पिताजी गुजर गये हैं। मैं आपके भरोसे पर आई हूँ।" भट्टजी ने दुबारा रोग की जांच की। फिर बोले—'माई ! तुम्हारे लड़के को प्रमेह-सा रोग है। इसे हम यहीं औषधालय में रखेंगे। खानपान जो भी उचित एवं पथ्यकर होगा, यहीं से दिया जायेगा। ३-४ महीने रहेगा, अच्छा हो जायेगा। खर्च के लिये तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करना। वह बीमार बालक अब्दुलगनी तीन महीने तक भट्टजी के यहाँ इलाज कराकर स्वस्थ होकर अपनी मां के साथ चला गया। जाते-जाते उसकी माता अन्तर से दुआ देकर गई।

इस प्रकार का औषधदान को सिर्फ औषधदान ही नहीं, एक प्रकार से जीवनदान समझना चाहिए। फलोदी में भी एक गोलेछा सेठ थे, वे भी अपने यहाँ बीमार को रखकर अपनी देखरेख में उसका इलाज कराते थे। अपनी ओर से दवा, भोजन, पथ्योचित वस्तु, दूध आदि भी देते थे। उन्होंने भी हजारों व्यक्तियों की आशीषें ली होंगी। बीकानेर, बम्बई आदि में ऐसे सैकड़ों धर्मार्थ औषधालय विभिन्न दाताओं की ओर से चल रहे हैं।

अंगदान एवं रक्तदान

औषधदान का एक और नया पहलू है, जिसे शायद अब तक छुआ नहीं है, शास्त्र रचयिताओं ने। वह है—रोगी के प्राण बचाने के लिए रक्त, मांस या किसी अंग का—नेत्र आदि का—दान। सचमुच रोगी के लिए औषधदान से भी बढ़कर ये चीजें प्राणदायिनी होती हैं। इसलिए इन्हें भी औषधदान के अन्तर्गत समझा जाना चाहिए।

मेरठ के स्थानीय सरकारी हॉस्पिटल में एक महिला ऑपरेशन टेबल पर थी। जिस समय महिला का ऑपरेशन चल रहा था, तभी ऑपरेशन करने वाले सर्जन को उसे रक्त चढ़ाने की जरूरत महसूस हुई। लेकिन जिस श्रेणी का रक्त चाहिए था, वह वहाँ उपलब्ध नहीं था। तभी स्थानीय मेडिकल कॉलेज के डॉ० पुरुषोत्तम गर्ग वहाँ आए। उन्होंने देखा कि अगर इस महिला को रक्त नहीं दिया जाएगा तो उसके प्राण बचेंगे नहीं। अतः डॉ० गर्ग ने अपना खून देकर महिला (जो एक कंसोलिडेशन ऑफीसर की पत्नी थी) को नया जीवन दिया।

इसी प्रकार गोरखपुर रेल्वे के सेन्ट्रल हॉस्पिटल के सर्जन डॉ० सुधीरगोपाल निगम ने रोगी की जान बचाने के लिए अपना रक्त देकर प्राणों की आहुति दे दी। बात यों हुई कि इस रोगी का ऑपरेशन किया गया था। रोगी पहले ही दुर्बल था, उसमें रक्त की कमी थी। उसके रक्त में अनेक व्यक्तियों का रक्त मिलाया गया, लेकिन किसी से मेल ही नहीं खाता था। संयोगवश डॉ० सुधीर गोपाल ने अपने रक्त का परीक्षण करवाया तो रोगी से मिल गया। डॉक्टर साहब ने भौतिक स्वार्थों से ऊपर उठकर सोचा और उस रोगी को रक्तदान के लिये तैयार हो गये। एक शीशी रक्त के बाद, दूसरी शीशी रक्त की ओर जरूरत पड़ गई। डॉक्टर साहब रक्त निकलवा रहे थे, उस समय ऐसी प्रतिक्रिया होगई कि अनेक उपचार होने के बावजूद भी वे बच न सके। वह देनी ज्योति बुझ गई। क्या यह औषधदान से भी बढ़कर प्राणदायी रक्तदान नहीं था ?

इससे भी बढ़कर आश्चर्य में डालने वाली औषधदान की घटना और सुनिये—

नारायण नायर त्रावणकोर राज्य के तोरूर गाँव के एक महाजन के हाथी के महावत थे। एक दिन हाथी पागल हो गया। उसने महावत को उठाकर जमीन पर पटका और उनकी पीठ में दांत से चोट की। संयोगवश हाथी को दूसरे लोगों ने वश में कर लिया। घायल नारायण मूर्च्छित अवस्था में अस्पताल पहुँचाया गया। हाथी-दांत भीतर तक घुस गया था, इसलिए घाव गहरा हो गया था। डॉक्टर ने कहा—'किसी जीवित मनुष्य का डेढ़ पौण्ड ताजा मांस मिले तो उसे घाव में भरकर टांका लगाया जाए, तो रोगी बच सकता है, अन्यथा बचना मुश्किल है। उसके परिवार, परिचितों तथा मित्रों में से कोई भी अपना मांस देने को तैयार न हुआ। लेकिन समाचार मिलते ही एक सम्पन्न युवक दौड़ा हुआ आया। उसने डॉक्टर से कहा—'मेरा मांस लेकर रोगी के प्राण बचाइए। बिना किसी स्वार्थ व सम्बन्ध के अपना मांस देने वाले, ये महाशय थे—कन्नड़ कृष्ण नायर। उनकी जांघ से मांस लेकर डॉक्टर ने रोगी का घाव भरा। नारायण नायर के प्राण बच गये। कन्नड़ कृष्ण नायर को भी जांघ में घाव भरने तक अस्पताल में रहना पड़ा।

औषधदान का एक और पहलू है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और लाभदायक है—सारी मानव-जाति के लिए। वह है—महामारी आदि रोगों का निदान करके

उनके इलाज का विचार करना। सन् १७२० में फ्रांस के मार्सेल्स शहर में एकाएक महामारी फैली। आदमी मक्खियों की तरह टपाटप मरने लगे। श्मशान में लाशों का ढेर लग गया। इतने आदमी मरते कि कोई उन्हें जलाने या दफनाने वाला भी नहीं मिलता था। सारा प्रान्त मृत्यु के महाभय से कांप उठा। डॉक्टरों के सभी बाह्य उपचार निष्फल हो गये। कई बार तो डॉक्टर स्वयं रोग का शिकार बन जाता था। मृत्यु का नगारा बज उठा था। इस भयंकर रोग के निदान के लिये प्रसिद्ध डाक्टरों की एक सभा जुड़ी, जिसमें इस रोग पर काफी विचार विनिमय हुआ। सभी एक निर्णय पर आये कि यह रोग सामान्य उपचारों से मिटने वाला नहीं है। महामारी के रोग से मरे हुए मनुष्य की लाश चीरकर देखे बिना इसका निदान होना असम्भव है। पर प्लेग से मृत व्यक्ति के शव को चीरे कौन? यह तो यमराज को चलाकर न्यौता देना है। सारी सभा विसर्जित होने वाली थी, तभी एक जवान खड़ा हुआ, उसकी आंखों में करुणा और ओठों पर निर्णय था। रूप और यौवन तो था ही। सभी डॉक्टरों का ध्यान उस युवक डॉ० हेनरी गायन की ओर खिंच गया। उसने जरा आगे बढ़कर विनम्रतापूर्वक कहा—'आप जानते ही हैं कि अपनी जिन्दगी का मोह छोड़े बिना दूसरों को जीवनदान नहीं दिया जा सकता। मेरे शरीर के दान से हजारों-लाखों भाई-बहनों और माताओं के आंसू रुकते हों तो मैं अपना तन अर्पण करने को तैयार हूँ। लो, यह मेरा वसीयतनामा। मेरे आगे-पीछे कोई नहीं है। मेरी यह सम्पत्ति महामारी के रोगियों के लिये खर्च करना। जीवन का इससे बढ़कर अच्छा उपयोग और क्या हो सकता है?' वृद्ध डॉक्टर देखते ही रह गये, वे अपने शरीर का मोह-ममत्व न छोड़ सके, जो इस युवक ने बात की बात में छोड़ दिया। इसके बाद हेनरी गायन तुरन्त ऑपरेशन खण्ड में प्रविष्ट हुआ। महामारी से मरे हुए मनुष्य की लाश को चीरने लगा। भयंकर बदबू के मारे नाक फटा जा रहा था। फिर भी वह लाश को चीरता गया। रोग का निदान करता गया। उसने जन्तुओं के आक्रमण के स्थान और कारणों की एक नोंध तैयार की। यह नोंध उसने रासायनिक द्रव्यों में रखी, ताकि इसे छूने वाले को यह चेपी रोग न लगे। हेनरी ने अपना काम पूरा किया। उसका शरीर तो कभी का बुखार से तप चुका था। वह खड़ा होने लगा, लेकिन प्लेग के कीटाणु कभी का उसके शरीर को अपना घरोंदा बना चुके थे। वह धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। पर उसके मुंह पर अपनी शोध पूरी करने का सन्तोष था। हेनरी गायन गया; पर अपने पीछे वह महामारी पर किया गया अनुसन्धान छोड़ गया, जिससे लाखों मानवों और रोगियों को जीवनदान मिला। क्या हेनरी गायन का आत्म-बलिदान महामारी के हजारों-लाखों रोगियों के लिए औषधिदान से बढ़कर नहीं है?

जापान की जनता के हृदय-सम्राट् 'टोयोहिको कागावा की झोंपड़ी भी दीन-दुःखियों, रोगियों, गरीबों और दलितों का आश्रय स्थान था, जहाँ 'कागावा' स्वयं रोगियों की सेवा करता, उन्हें दवा देता। रोगियों की सेवा-शुश्रूषा के कारण वह भी

13

ज्ञानदान बनाम चक्षुदान

ज्ञानदान : स्वरूप और विश्लेषण

औषधदान का वर्णन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। मनुष्य के भौतिक शरीर की रक्षा के लिए औषधि का जितना महत्त्व है उससे भी अधिक महत्त्व है चेतन शरीर की रक्षा, संपुष्टि और उन्नयन के लिए ज्ञान की। ज्ञान भी एक प्रकार की आध्यात्मिक औषध है, बिना उसके चेतन शरीर की रक्षा सम्भव नहीं है अतः दान के क्रम में औषधदान के साथ अब 'ज्ञानदान' पर भी विचार करना है।

ज्ञानदान को कई आचार्य शास्त्रदान भी कहते हैं। शास्त्रदान की अपेक्षा 'ज्ञानदान' व्यापक शब्द है। क्योंकि शास्त्रदान का भी लक्षणा से कई जगह यही अर्थ करना पड़ता है—शास्त्र में अंकित उपदेश या ज्ञान देना।

वास्तव में ज्ञानदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। एक व्यक्ति किसी को एक समय के लिए भोजन खिला देता है, कोई किसी व्यक्ति को एकाध कपड़ा दे देता है, इससे थोड़ी देर के लिए उसे राहत मिल जाती है, लेकिन कोई उदारचेता महानुभाव भोजन और कपड़ा प्राप्त करने का ज्ञान दे देता है, वह उसके लिए जिन्दगीभर की राहत है। हालांकि यह ज्ञान लौकिक होता है, परन्तु वह भी सामान्य गृहस्थ के लिए बहुत उपकारक होता है। जैनशास्त्रों में यत्र-तत्र ज्ञान का बहुत बड़ा महत्त्व बताया है—

नाणस्स सव्वस्स पगासणाय, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाय।

—'समस्त वस्तुओं के यथार्थ प्रकाश' (वस्तुस्वरूप के ज्ञान) के लिए और अज्ञान एवं मोह को मिटाने के लिए ज्ञान से बढ़कर कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु संसार में नहीं है।

भगवद्गीता में भी ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा है—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
सर्वकर्माऽखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन!'
'ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।'

अर्थात्—इस संसार में ज्ञान के समान कोई भी पवित्र वस्तु नहीं है। ज्ञान सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है। सारे के सारे कर्म (क्रियाएँ) ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं। हे अर्जुन ! ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर डालती है। परमात्मा को ज्ञानवान ही प्राप्त कर सकता है।

वास्तव में आत्मा स्वयं ज्ञानमय है। आचारांगसूत्र में ज्ञान और आत्मा को एकरूप बताया है।[1] आत्मा पर अज्ञान का जब आवरण आ जाता है, तो उसका ज्ञान उतने अंशों में ढक जाता है। उसी आच्छादित ज्ञान को प्रगट करने के लिए ज्ञानदान की आवश्यकता होती है।

अज्ञान और मोह का पर्दा जब व्यक्ति के शुद्ध ज्ञान पर छा जाता है तो उसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान और भान न होने के कारण दुःखी होता है, चिन्तित और व्यथित होता है, अपनी मानी हुई ईष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट के संयोग में दुःखी होता है, आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान करता है, निमित्तों को कोसता है अथवा ईष्ट वस्तु का संयोग और अनिष्ट का वियोग होने पर हर्षित होता है, फूला नहीं समाता, निमित्तों की प्रशंसा करता है। मोह और अज्ञान के कारण ही व्यक्ति नाना प्रकार पापकर्म करता है, अनेक दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और बुराइयों को अपना लेता है। इन सबसे दूर रहने के लिए ज्ञानदान की महती आवश्यकता होती है। ज्ञान प्राप्त होने पर अथवा आत्मा में ज्ञान का प्रकाश होने पर अज्ञान एवं मोह के कारण जो विविध प्रकार भय, खतरे और आशंकाएं दिमाग में जमे हुए थे, वे सब सूर्य के प्रकाश से रात्रि के अन्धकार दूर होने की तरह दूर हो जाते हैं। इसलिए एक विद्वान् ने कहा है—'Knowledge is light' ज्ञान प्रकाश है। आत्मा में जब ज्ञान का प्रकाश हो जाता है तो अज्ञानवश जो मन में वैर-विरोध, द्वेष-घृणा, मोह-ममता आदि दुर्गुण घर किये हुए थे, वे सब दूर हो जाते हैं, और उनके बदले मैत्री, समता, सरलता, क्षमा, दया आदि सद्गुण स्थान जमा लेते हैं। इसलिए सुकरात कहता था—'Knowledge is Uirtue' ज्ञान एक सद्गुण है। ज्ञान का सद्गुण जिसमें होता है, वह शास्त्रस्वाध्याय, प्रवचन-श्रवण, उपदेश-श्रवण, महापुरुषों के वचनों पर चिन्तन-मनन के द्वारा ज्ञानरस में तन्मय होकर खाने-पीने तक को भूल जाता है। वह एक वैज्ञानिक की तरह ज्ञान की प्रयोगशाला में रात-दिन ज्ञान के उपयोग में रत रहकर आनन्द की मस्ती में झूम जाता है। उसे अपने जीवन में ज्ञानरस की मस्ती में किसी भी सांसारिक ईष्ट वस्तु का अभाव या वियोग दुःखित नहीं करता और न ही अनिष्ट वस्तु का संयोग या सद्भाव पीड़ित करता है। इसीलिए अंधी, गूंगी और बहरी हेलन केलर ने ज्ञान की व्याख्या की है—'Knowledge is happiness' 'ज्ञान आनन्दमय है।' इसीलिए ज्ञान को आत्मा की विशेष शक्ति माना गया है। जिस शक्ति के प्रभाव से सारे अज्ञान-

---

१ 'जे आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया।' —आचारांग सूत्र १।५।५।१०४

जनित कर्म, क्लेश, वासनाएँ, राग-द्वेष, मोह आदि भस्म हो जाते हैं। इसीलिए एक अँग्रेज विद्वान् ने कहा—'Knowledge is Power' ज्ञान एक शक्ति है। आत्मा का महान् बल ज्ञान के द्वारा ही प्रगट होता है। इस ज्ञानबल के द्वारा ही व्यक्ति बड़े से बड़े भय को मिटाकर कर्मों से, दुर्व्यसनों और दुर्गुणों से जूझ पड़ता है, निर्भय होकर हर खतरे को उठाने के लिए तैयार हो जाता है।

क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर सभी उन्नतियों का मूल ज्ञान है। 'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थ सिद्धिः'—समस्त पुरुषार्थों में सिद्धि या सफलता पहले सम्यग्ज्ञान होने पर ही मिलती है। सम्यग्ज्ञान होने पर व्यक्ति शरीर पर मोह-ममत्व न करके शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान अनायास ही कर लेता है। आत्मा के सम्पूर्ण ज्ञान द्वारा ब्रह्माण्ड की जर्रे-जर्रे की बात आँखों से देखे या कानों से सुने बिना ही, एक जगह बैठे-बैठे जान लेना ज्ञान की शक्ति का ही तो चमत्कार है।

हाँ, तो इस प्रकार के शुद्ध ज्ञान का दान, जो जन्म-जन्मान्तरों के दुष्कर्मों को क्षणभर में नष्ट करने की शक्ति प्राप्त करा देता है, कितना उपकारक है, कितना महत्त्वपूर्ण है। ऐसा ज्ञान दान तो तीन दिन के भूखे को भोजन मिलने या वर्षों से अन्धे को आँखें मिल जाने के समान है।

ज्ञानदान देने वाला व्यक्ति आदाता के कोटि-कोटि जन्मों के पाप-तापों को दूर करने में सहायक बनता है, वह एक जन्म के ही नहीं, अनेकानेक जन्म के दुःखों के निवारण में सहायता करता है। क्योंकि जैनागमों के अनुसार प्राप्त किया हुआ ज्ञान केवल इस जन्म तक ही नहीं, अगले अनेकानेक जन्मों तक साथ रहता है। एक व्यक्ति को दिया गया अन्नदान, औषधदान या अभयदान तो केवल एक जन्म के एक शरीर की ही रक्षा करता है, लेकिन ज्ञानदान तो अनेक जन्मों के शरीर और खासकर आत्मा की रक्षा करता है। इससे अन्दाजा लगाया जा सकता है कि ज्ञान-दान प्रत्येक प्राणी के लिए कितना अधिक उपयोगी, अनिवार्य एवं कष्ट निवारक है। अन्नदान, औषधदान आदि तो व्यक्ति को किसी-किसी अवसर पर ही अपेक्षित होते हैं, लेकिन ज्ञानदान तो प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक अवसर और हर क्रिया में उपयोगी, अनिवार्य एवं सुखवर्द्धक होने से प्रतिक्षण अपेक्षित होता है। अलौकिक ज्ञानदान तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ही है, लौकिक ज्ञानदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

अलौकिक ज्ञानदान-दाता प्रायः साधु-साध्वी, श्रमण-श्रमणी होते हैं। उनके निमित्त से अनेक भव्यजीवों को प्रतिबोध मिलता है। क्योंकि वे ही अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करते हैं और दूसरों को प्रतिबोध देते हैं। सामान्य गृहस्थ इतना उच्चकोटि का ज्ञानवान् विरला ही मिलता है। हत्यारे एवं पापी बने हुए अर्जुनमालाकार को जब भगवान् महावीर ने आत्मज्ञान दिया तो उसकी सोई हुई आत्मा जाग उठी। और वह मुनि बनकर तप-त्याग और संयम की साधना में अपने आपको झोंक देता है। कितनी पीड़ा होती है, जब वह राजगृह नगर में आहार के लिए जाता है, और

उन्हें सम्मानपूर्वक आहार के बदले गालियाँ, मुक्के, लाठियाँ एवं ढेलों का प्रहार मिलता है। आहार-पानी भी पर्याप्त नहीं मिलता। परन्तु भगवान् महावीर के द्वारा दिये हुए आत्मा और शरीर के भेद विज्ञान के बल पर अर्जुन मुनि समभाव में स्थिर रहकर अपने समस्त कर्मों को केवल छह महीनों में काट देता है और केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार चिलातीपुत्र को, दृढ़प्रहारी को एवं अनेक चोर, डाकू एवं हत्यारे तथा पापात्माओं को आत्मज्ञानी मुनिवरों से ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्होंने अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया, मोक्ष को प्राप्त कर लिया। महात्मा बुद्ध ने अंगुलिमाल डाकू को ज्ञानदान देकर उसका जीवन बदल दिया। अंगुलिमाल डाकू से भिक्षु बन गया। इसी प्रकार कई वेश्याएँ भी स्थूलिभद्र जैसे मुनिवरों से ज्ञान प्राप्त करके अपना आत्म-कल्याण कर सकीं। ईसामसीह के ज्ञान से भी मैगडलन जैसी पापी, वेश्या जैसी पतितात्मा तथा अन्य अनेक पतित व्यक्ति बोध पाकर सुधर गए।

जैनदर्शन के उद्भट विद्वान् एवं समदर्शी आचार्य हरिभद्र चित्तौड़ के राजपुरोहित थे। विद्वत्ता का अत्यन्त अभिमान था। उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि 'जो मुझे ऐसे श्लोक का अर्थ बताए, जिसका अर्थ मुझे न आता हो, मैं उसका शिष्य बन जाऊँगा।' एकबार वे जैन साध्वियों के उपाश्रय के पास से गुजर रहे थे कि अचानक उनके कानों में एक प्राकृत गाथा पड़ी, बहुत प्रयत्न करने पर भी वे उसका अर्थ समझ न पाए। अतः वे उपाश्रय में पहुँचे और गुरुणी श्री याकिनी महत्तरा के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गए, बोले—'माताजी! अभी-अभी आप जिस गाथा का उच्चारण कर रही थी, वह गाथा और उसका अर्थ मेरी समझ में नहीं आया, सुनाने की कृपा करिए।' साध्वी जी ने गाथा का उच्चारण किया और उसका अर्थ बताया।[1] अर्थ सुनकर हरिभद्र का गर्व उतर गया। वे तुरन्त ही साध्वी जी को नमस्कार करके बोले—'माताजी! आज से आप मेरी गुरुणी हैं, मुझे अपना शिष्य बना लीजिए।' साध्वी जी बोली—'आपको शिष्य तो हमारे गुरु महाराज ही बना सकते हैं। उनके पास मैं आपको ले चलती हूँ।' बस, हरिभद्र गुरुजी के पास दीक्षित हो गए। जैनदर्शन के अद्वितीय विद्वान् आचार्य हुए। दशवैकालिक आदि पर वृत्ति लिखी। किन्तु ज्ञानदानदात्री अपनी उपकारिणी गुरुणी को भूले नहीं। हर ग्रन्थ की समाप्ति पर अपने आपका परिचय धर्ममाता 'याकिनी महत्तरासूनु' (याकिनी महत्तरा का धर्मपुत्र) ने दिया।

इस प्रकार के ज्ञानदान के अनेक उदाहरण संसार के इतिहास में मिलते हैं, जिनके ज्ञानदान से ही सृष्टि का कायापलट हुआ है, अनेकों आत्माओं ने प्रतिबोध पाया है और संसार-सागर से तर गए हैं।

---

१ चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसी अ चक्की अ॥

दूसरा उदाहरण है—उपाध्याय यशोविजय जी का। काशी में बारह वर्षों तक रहकर उन्होंने न्याय और दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। काशी के विद्वानों की परिषद् में उन्होंने न्यायशास्त्र के शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की, जिससे उन्हें 'न्याय-विशारद' की उपाधि मिली। विजयोन्मत्त होकर उपाध्यायजी काशी से जब स्वदेश (गुजरात) की ओर लौटने लगे, तब अपने आगे-पीछे कपड़े की विजयपताकाएँ लगाईं। जनता ने जगह-जगह उनका अत्यन्त स्वागत किया, सम्मान दिया। जब वे मेड़ता पहुँचे तो वहाँ भी उनका बहुत सम्मान किया गया। परन्तु विजयपताकाएँ रखने के कारण उनका ज्ञानगर्व बहुत बढ़ चुका था। मेड़ता में उस समय अध्यात्म-योगी आनन्दघनजी विराज रहे थे, वे यशोविजय जी से बड़े थे। अतः उनके दर्शनार्थ यशोविजयजी पहुँचे। प्रासंगिक वार्तालाप के पश्चात् आनन्दघनजी ने यशोविजय जी से पूछा—'आप तो बहुत ज्ञानी हैं। यह बतावें कि आपको कितने ज्ञान हैं?'

यशोविजयजी—'मुझमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दो ही ज्ञान हैं।'

'और केवलज्ञानी में कितने ज्ञान होते हैं?' आनन्दघनजी ने पूछा।

'केवलज्ञानी में पाँचों ज्ञान होते हैं, वे ज्ञान के सागर होते हैं। उनके ज्ञान का कोई पार नहीं होता।'—उपाध्याय जी बोले।'

'तब, यह बताइए कि केवलज्ञानी अपने साथ कितनी विजयपताकाएँ रखते थे? क्योंकि उनमें तो आपसे अधिक ज्ञान है न?'

उपाध्याय यशोविजयजी मन ही मन आनन्दघनजी के कहने का आशय समझ गए, वे शीघ्र ही पट्टे से उठे और सब पताकाएँ हटवा दीं। कहने लगे—गुरुदेव! मैं आपका आशय समझ गया। मुझमें अपने तुच्छ ज्ञान का गर्व आ गया, इससे मैं ये सब पताकाएँ ले बैठा। अब मुझे ये नहीं चाहिए। मुझे आपने ज्ञानदान देकर महान् उपकार किया है। क्षमा करें, मैंने अपने को केवलज्ञानी से भी बढ़कर समझा और उनकी आशातना की।'

इसी प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि को भी एक वृद्ध आर्या ने ज्ञान देकर १४४४ बौद्धों को कड़ाह में होमने के हिंसामय संकल्प का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रेरित किया।

इसी प्रकार गुजरात के एक रियासत के दीवान श्री शान्तु मेहता बहुत ही गुणज्ञ पुरुष थे। एक बार वे गुजरात के एक गाँव में पहुँचे। लोगों से पूछा—'यहाँ कोई जैनमुनि हैं?' लोगों ने उपहास करते हुए बताया कि अमुक उपाश्रय में एक जैनमुनि हैं। वे अकेले सीधे ही उस उपाश्रय में पहुँचे। वहाँ जाकर देखा तो जैनमुनि एक तख्त पर बैठे थे, उनके बगल में ही एक युवती खड़ी थी, जिसके कंधे पर मुनिजी का हाथ था। शान्तु मेहता को देखते ही वे सकपका गए और झट से अपना हाथ युवती के कंधे पर से हटा लिया, युवती भी लज्जित होकर एक कोने में जाकर खड़ी हो गई। शान्तु मेहता ने यह सब प्रत्यक्ष देखा कि यह जैन श्रमण के आचार के

विरुद्ध है। यदि मैं इस समय उपालम्भ दूंगा तो यह सुधरने के स्थान पर अधिक ढीठ हो जायेगा अतः उन्होंने एक शब्द भी अपने मुँह से नहीं कहा। विधिवत् वन्दना की, सुखसाता पूछी और मंगलपाठ सुनकर चल दिये। किन्तु उक्त मुनिजी के हृदय में उथल-पुथल मच गई। वे पश्चात्ताप के सागर में गहरे गोते लगाने लगे। उन्होंने उसी समय स्वयं आलोचना करके प्रायश्चित्त लिया और शुद्ध होकर उसीदिन वहाँ से विहार करके अन्यत्र चल पड़े। उस दिन से उक्त मुनिजी अपनी साधुत्व की मर्यादा और साधना के प्रति जागरूक रहने लगे।

एक बार वे पालीताणा गए। वहाँ अकस्मात् ही जब वे पहाड़ से उतर रहे थे, तब सामने से आते हुए शान्तु मेहता मिल गये। मुनिजी उन्हें देखकर पहिचान गये। शान्तु मेहता ने उनका नाम पूछा। फिर पूछा—'महाराज श्री ! आपके गुरु कौन हैं ?' मुनिजी ने कहा—'मेरे गुरु हैं—शान्तु मेहता।'

शान्तु मेहता—'महाराज ! आप त्यागी हैं। गृहस्थ आपका गुरु कैसे हो सकता है ? आप अपने दीक्षागुरु का नाम बताइये।'

मुनिजी—'मेरे दीक्षागुरु तो हेमचन्द्राचार्य हैं, लेकिन मुझे सच्चा ज्ञान देने वाले गुरु तो आप ही हैं। यद्यपि आपने उस दिन मेरी कुत्सितवृत्ति को देखकर कुछ भी नहीं कहा, किन्तु अपने आचरण से आपने मुझे सब कुछ बोध दे दिया कि तू इन्द्रों का पूज्य, त्यागी, वन्दनीय निर्ग्रन्थ श्रमणसिंह होकर ऐसी कुतिया से क्यों आसक्ति रखता है ?'

'बस, उसी क्षण से आपके मूक ज्ञानदान से प्रेरित होकर मैंने अपनी जीवन-चर्या ही बदल दी, इसलिए मैंने आपको अपना गुरु माना है।'

गोस्वामी तुलसीदास जी को उनकी पत्नी रत्नावली ने ऐसा अद्भुत ज्ञानदान दिया कि उनका स्त्रीशरीर पर मोह बिलकुल शान्त हो गया, वे उस बोध से प्रेरित होकर सन्त बन गये और जगत् को 'रामचरितमानस' जैसा अनुपम भक्ति प्रधान ग्रन्थ दे गये।

बिल्वमंगल एक सद्गृहस्थ की पत्नी के रूप पर मुग्ध हो गए। उसका पति और वह दोनों उनके भक्त थे, वे सन्त बिल्वमंगल को भगवान् का रूप मानते थे। एक दिन वे कहीं जा रहे थे, और वह महिला पानी का घड़ा लेकर घर जा रही थी। बिल्वमंगल उसके पीछे-पीछे चल दिये। महिला ने घड़ा रखा और सन्त को अपने घर की ओर आते देख स्वागतार्थ गई। इतने में ही उसका पति आ गया। महिला ने सन्त को बिठाया और पूछा—'फरमाइए, महाराज ! क्या चाहिए आपको ?' बिल्वमंगल बोले—'तुम्हारे पति को मेरे पास भेज दे, मैं उससे कह दूंगा।' महिला ने अपने पति से कहा। वह भी श्रद्धावश बिल्वमंगल के पास पहुँचा। बोला—'स्वामी जी ! कहिए क्या सेवा है, मेरे लायक !' बिल्वमंगल—'बोलो, भक्त ! मैं ।।, वह सेवा करेगा ?' 'जरूर करूँगा, महाराज ! आप बताइए।' गृहस्थ ने

कहा। बिल्वमंगल—'तेरी स्त्री को कुछ देर के लिए मेरे पास भेज दे।' यह विचित्र मांग सुनकर गृहस्थ भड़का नहीं। उसे अपनी स्त्री पर विश्वास था। अतः उसने बिल्वमंगल को विश्वास दिया और अपनी पत्नी से स्वामी जी की सेवा करने को कहा। वह समझ गई कि बिल्वमंगल काम-विकारवश मेरे रूप पर मुग्ध हैं। अतः उसने बढ़िया रेशमी कपड़े पहने, उन पर मिट्टी और गोबर लपेटा और उनके पास पहुँची। बिल्वमंगल ने पूछा—'तुमने इतने बढ़िया कपड़े मिट्टी और गोबर से गन्दे क्यों कर लिए?' 'स्वामी जी! जब मेरी आत्मा गन्दी होने जा रही है, मेरा शरीर गन्दा हो रहा है, तब इन कपड़ों के गन्दे होने की मैं क्या चिन्ता करूँ?' बस, ये ही ज्ञान के बोल बिल्वमंगल के हृदय में अंकित हो गए। वे मन ही मन पश्चात्ताप करने लगे। बहुत देर तक शून्यमनस्क होकर बैठे रहे। तब उक्त महिला ने कहा—'बताइए क्या आज्ञा है? मेरे पतिदेव ने आपकी सेवा में मुझे भेजा है।' 'बस, और कुछ नहीं चाहिए, सिर्फ लोह की दो सलाइयाँ गर्म करके ले आओ।' महिला स्वामी जी के आशय को नहीं समझी। दो सलाइयाँ गर्म करके लाई। बिल्वमंगल ने तुरन्त वे दोनों गर्मागर्म सलाइयाँ अपनी दोनों आँखों में भोंक लीं। अब क्या था, खून की धारा बह चली। आँखें जाती रहीं। महिला ने कहा—'महाराज! यह क्या किया आपने? मेरे सिर पर यह पाप क्यों चढ़ाया?' 'बहन! यह तो इन आँखों ने अपराध किया था, उसका दंड दिया है, तुम्हारे द्वारा तो मुझे ज्ञान मिला है, तुम्हारा तो महान् उपकार है कि तुमने मुझे ज्ञानदान दिया। यही बिल्वमंगल तब से सूरदास हो गए। जगत् में भक्त कवि सूरदास के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

इसके अलावा अलौकिक ज्ञानदान का एक पहलू यह भी है कि प्राचीन काल में जब हस्तलिखित पत्राकार ग्रन्थ या तो ताड़पत्र या भोजपत्र पर लिखे जाते थे, इस कारण शास्त्र—जो सम्यग्ज्ञान के अनुपम साधन थे, सर्वत्र उपलब्ध नहीं थे। उन्हें प्राप्त करने के लिए साधु-साध्वी दूर-सुदूर भ्रमण किया करते थे। लिखने वाले भी बहुत कम थे, और श्रद्धालु सम्पन्न श्रावक ही उन्हें लिखाते थे और श्रमण-श्रमणियों या मुनि-आर्यिकाओं को अत्यन्त श्रद्धा से देते थे। इसीलिए शास्त्रदान के रूप में ज्ञानदान का लक्षण आचार्य वसुनन्दी ने किया है—

—"जो आगम, शास्त्र आदि लेहियों (लिपिकारों) से लिखवा कर यथायोग्य पात्रों को दिये जाते हैं, उसे शास्त्रदान जानना चाहिए। तथा जिनवाणी का अध्ययन कराना—पढ़ाना भी शास्त्रदान है।[१] शास्त्रदान ज्ञानदान का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जिस युग में ताड़पत्र या भोजपत्र पर लिखित शास्त्र या आगम बहुत ही कम उपलब्ध होते थे, तब कोई भी श्रद्धालु श्रावक अपने श्रद्धेय गुरुजनों को लेखिकों से

---

१ "आगम-सत्थाइं लिहाविऊण दिज्जंति जं जहाजोग्गं।
तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्झावणं च तहा ॥२३७॥"

लिखाए हुए शास्त्र इसलिये देते थे कि हमारे गुरुवर इस शास्त्र का अध्ययन, मनन, चिन्तन करके तत्वों का यथार्थ स्वरूप जानेंगे, दूसरों को व्याख्यान, उपदेश आदि द्वारा वस्तु का यथार्थस्वरूप समझायेंगे। इसलिए शास्त्रदान देने वाला बहुत ही पुण्योपार्जन तथा कर्म निर्जरा कर लेता था। जैसा कि ज्ञानदान का महत्त्व पिछले पृष्ठों में बताया गया है, तदनुसार साधु को ज्ञानरूपी नेत्र मिल जाते थे। ज्ञान और खासकर शास्त्र-ज्ञान के बिना साधु का जीवन अंधेरे में रहता है, वह स्वयं संशय और मोह में पड़ा रहता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में बताया है—'आगमचक्खू साहू' साधु का नेत्र आगम होता है। शास्त्रज्ञान पाकर ही वह तत्व निर्णय कर पाता है। इसलिए शास्त्रदान ज्ञानदान का एक विशेष रूप है। क्योंकि शास्त्र भी ज्ञान को प्रादुर्भूत करने का एक विशिष्ट साधन है। यद्यपि कई साधुओं या गृहस्थों को वृक्ष से, ठूंठ से, बादलों से, बैल से या स्त्री आदि से ज्ञान और वैराग्य प्राप्त हुआ है, वे स्वयंबुद्ध या प्रत्येकबुद्ध बहुत ही कम हुए हैं, अधिकांश साधु-साध्वी तो गुरु, शास्त्र आदि के निमित्त से ही तत्वज्ञान प्राप्त करते हैं।

जब तक कागजों का आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक हस्तलिखित शास्त्र बहुत ही दुर्लभ थे। उसके बाद जब कागजों का आविष्कार हो गया, तब मोटे काश्मीरी कागजों को घोंटकर लेहियों (लिपिकारों) से कई श्रद्धालु गृहस्थ लिखाते थे और योग्य साधु-साध्वियों को दान देते थे। बीकानेर में धर्मवीर अगरचन्द भैरोंदान सेठिया ऐसे ही एक श्रद्धालु गृहस्थ थे, वे अनेक साधु-साध्वियों को अपने यहाँ हाथ से लिखाये हुए शास्त्र देते थे। भीनासर में सेठ कानीरामजी, जो स्वयं शास्त्रज्ञ थे, वे भी अपने यहाँ लहियों से शास्त्र लिखवाकर रखते थे। स्वयं भी शास्त्रवाचन करते थे और अन्य योग्य साधु साध्वियों को देते भी थे।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के आद्य प्रतिष्ठापक धर्मप्राण लोंकाशाह स्वयं शास्त्रज्ञ और शास्त्र लेखक थे। शास्त्र लिखते-लिखते उन्हें बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। तथा साधुओं के आचार-विचार का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने शास्त्रानुरूप आचार-विचार तथा संसार का वस्तुस्वरूप समझाकर कई महान् त्यागी, तपस्वी, आचार धुरंधर गृहस्थों को संसार विरक्त किया और जिससे उन्होंने लोंकाशाह के उस ज्ञानदान के फलस्वरूप भागवती दीक्षा अंगीकार की।

भीनासर निवासी सेठ कानीरामजी बांठिया तो कई साधु-साध्वियों को शास्त्र वाचना भी देते थे। इसी प्रकार बीकानेर, रामपुरा, उदयपुर, रतलाम आदि में कई श्रावक ऐसे भी थे, जो साधुओं का शास्त्र की गूढ़ गुत्थियाँ समझाते थे। कई श्रावक शास्त्रीय थोकड़ों (तत्त्वज्ञान के संग्रह) के जानकार थे, जो साधु साध्वियों को सिखाया करते थे। इसी प्रकार बीकानेर, ब्यावर, सिरोही, महेसाणा, अहमदाबाद, पालीताणा आदि में कई शास्त्रज्ञ पंडित भी थे, जो साधु-साध्वियों को भी धर्मशास्त्र तथा धर्म-ग्रन्थों (कर्मग्रन्थ, तत्त्वार्थ सूत्र आदि) का अध्ययन कराते थे, तथा गृहस्थों के तत्वज्ञान के लिये भी धार्मिक पाठशाला चलाते थे। आज भी ब्यावर, वाडिया, आदि कई जगह

सिद्धान्तशालाएँ भी चल रही हैं, कई ज्ञानदान में रुचि रखने वाले श्रद्धालु गृहस्थों द्वारा, उनमें भी शास्त्रीय एवं धार्मिक अध्ययन कराया जाता है सचमुच ये सब ज्ञानदान की प्याऊ हैं, जहाँ अनेक ज्ञान-पिपासु साधु-साध्वी आकर अपनी ज्ञानपिपासा मिटाते हैं।

यही कारण है कि ऐसे शास्त्रदानी-ज्ञानदानी द्वारा प्रदत्त शास्त्रदान का आचार्य अमितगति ने महान् फल बताया है—

—"शास्त्रदानदाता को ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर चराचर विश्व को जानने वाला केवलज्ञान प्राप्त होता है, उसकी तुलना में दूसरे ज्ञान प्राप्त होने का तो कहना ही क्या ? शास्त्रदान देने वाला सज्जनों या सन्तों में पूजनीय आदरणीय होता है, मनीषी उसकी सेवा करते हैं। वह वादियों को जीतने वाला, सभा का रंजनकर्ता, वक्ता, नवीन ग्रन्थ रचयिता कवि और माननीय होता है। उसकी शिक्षाएँ (उपदेश) विख्यात हो जाती हैं।[1]

यह है शास्त्रदानी या ज्ञानदानी का माहात्म्य ! इसी बात को पद्मनन्दि-पंच-विंशतिका में स्पष्ट किया है—

—"उन्नत बुद्धि के धनी भव्य जीवों को पढ़ने के लिये भक्ति से जो पुस्तक दान दिया जाता है, अथवा उन्हीं के लिये तत्व का व्याख्यान किया जाता है, इसे विद्वान लोग श्रुताश्रित दान (शास्त्रदान या ज्ञानदान) कहते हैं। इस ज्ञानदान के सिद्ध (परिपक्व) होने पर कुछ ही भवों (जन्मों) में मनुष्य उस केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है, तथा जिसके प्रकट होने पर तीनों लोकों के प्राणी उत्सव की शोभा मनाते हैं।[2]

केवलज्ञान तो दूर की बात है, श्रुत-दान=शास्त्रज्ञान देने पर श्रुतकेवली तो साक्षात् हो जाता है। जैसा कि सागारधर्मामृत में कहा है—'श्रुतात्स्यात् श्रुतकेवली।' शास्त्रदान (ज्ञानदान) देने से दाता श्रुतकेवली हो जाता है।

यह है अलौकिक ज्ञानदान का लेखा-जोखा जो साधु-साध्वियों द्वारा साधु-साध्वियों को अथवा सद्गृहस्थ विद्वानों, शास्त्रज्ञों या श्रद्धाशील शास्त्रदानियों द्वारा दिया जाता है और जो महाफलदायी हैं। ☆

---

१ लभ्यते केवलज्ञानं यतो विश्वावभासकम्।
अपरज्ञानलाभेषु कीदृशी तस्य वर्णना ॥
शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम्।
वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्यातशिक्षः प्रजायते ॥५०॥ —अमितगति श्रावकाचार

२ व्याख्याता पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां।
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः ॥
सिद्धेऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सव—
श्री कारिप्रकटीकृताखिलजगत् कैवल्यभाजोजनाः ॥७।१०॥

14
ज्ञानदान : एक लौकिक पहलू

ज्ञानदान के एक मुख्य पहलू अलौकिकज्ञान—अर्थात् आत्मज्ञान-दान, (आध्यात्मिक ज्ञानदान) पर पिछले प्रकरण में विचार किया गया है, वास्तव में ज्ञान स्वयं ही एक अलौकिक वस्तु है, किन्तु पात्र एवं विषयभेद के कारण उसके दो पहलू हो गये हैं। जिस ज्ञान द्वारा सीधा आत्म-दर्शन अथवा आत्मदृष्टि प्राप्त होती है वह अलौकिक ज्ञान है, और जिस ज्ञान द्वारा व्यवहारिक बुद्धि का विकास एवं विस्तार होता है। और फिर हिताहित का भान होता हो वह लौकिक ज्ञान है। यहाँ हम ज्ञान-दान के दूसरे पक्ष—लौकिक ज्ञानदान पर विचार करेंगे। यद्यपि इसका क्षेत्र भी काफी व्यापक है और जीवन में लौकिक ज्ञानदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। लौकिक ज्ञान-दान के भी अलौकिक ज्ञानदान की तरह तीन मुख्य पहलू हैं—

१. किसी विद्वान् या तत्वज्ञ द्वारा कोई ऐसी मार्मिक बात कह देना, जिससे उस व्यक्ति को एकदम प्रेरणा मिल जाय और वह एकदम बदल जाय।

२. शास्त्र, जिनवचन या धर्मग्रन्थ का वाचन करके ज्ञानदान देना अथवा बोल, थोकड़े या धार्मिक ज्ञान सिखाना-पढ़ाना।

३. व्यावहारिक ज्ञान में दक्ष बनाना, या पाठशाला, विद्यालय, छात्रालय, या उच्चतम विद्यालय खोलना-खुलवाना, विद्यादान देना-दिलाना, जिससे व्यक्ति धार्मिक ज्ञान भी साथ में ले सके।

ये तीनों ज्ञानदान के पहलू हैं, जिनसे एक या दूसरे प्रकार से ज्ञान प्राप्त होता है। पहले पहलू में व्यक्ति सीधा ही किसी को ज्ञान देने नहीं बैठता, न कोई उद्देश्य ही होता है, परन्तु तात्कालिक प्रसंग पर कोई ऐसी चुभती बात कह डालता है, जिससे सुनने वाले को सहसा ज्ञानदान मिल जाता है, अथवा वह वाक्य उसकी आत्मा को झकझोर कर जगा देता है। ऐसे दान की महिमा सभी दानों से बढ़कर बताई है—

—'जल, अन्न, गाय, पृथ्वी, निवास, तिल, सोना और घी इन सबके दान की अपेक्षा ज्ञानदान विशिष्ट (बढ़कर) है।[१]

---

१ सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्न-गो-मही-वासस्तिलकांचन-सर्पिषाम्॥—मनुस्मृति ४।२३३

ऐसे समय में जब मनुष्य किसी उलझन या पशोपेश में, संशयग्रस्त हो, भ्रान्त हो अथवा विपरीत मार्ग पर चला जा रहा हो, कोई भी अच्छी सलाह, परामर्श, सुझाव या उचित मार्गदर्शन ज्ञानदान का काम करता है।

ज्ञानदान का पहला पहलू सीधा जीवनस्पर्शी है। जैनशास्त्र में कई ऐसे उदाहरण दिये गये हैं, जिनमें खासकर यह बताया गया है कि महापुरुष के एकवचन से उक्त श्रोता को संसार से विरक्ति हो गई, अथवा उसने अपने गृहस्थ जीवन में भी परिवर्तन कर लिया। सुबाहुकुमार, आनन्द श्रमणोपासक, कामदेव श्रमणोपासक आदि के उदाहरण मौजूद हैं, इसकी साक्षी के रूप में। राजा प्रदेशी को तो केशी श्रमण मुनि के वचन सुनते ही हृदय में जागृति आ गई। राजा प्रदेशी, जो एक दिन क्रूर, अधार्मिक और खूंख्वार बना हुआ था, मुनि के उपदेश सुनते ही एकदम बदल गया, वह शान्त, दयालु, धार्मिक और दानी बन गया। केशीश्रमण का ज्ञानदान सफल हुआ।

यही तो ज्ञानदान है, जिससे व्यक्ति के जीवन मे हिताहित का भान हो, जीव-अजीव आदि तत्त्वों का बोध हो और पाप या अधर्म कार्य से व्यक्ति विरत हो। आचार्य हेमचन्द्र ने ज्ञानदान का यही लक्षण किया है—

—'वास्तव में ज्ञानदान प्राप्त होते ही मनुष्य को अपने हिताहित का बोध हो जाता है और वह अहित, या अकर्तव्य से दूर हट जाता है।[1]

मारवाड़ का एक राजा शिकारी के वेष में शिकार खेलने जा रहा था। एक चारण जो फल तोड़ने के लिए एक पेड़ पर चढ़ा हुआ था, उसने राजा को किसी हिरन के पीछे घोड़ा दौड़ाते हुए देखा तो उसका हृदय व्यथित हो गया। वह चाहता था कि राजा को वह उपदेश दे, किन्तु ऐसे समय में राजा उपदेश सुनने के मूड़ में नहीं था। जंगल का रास्ता जनशून्य होने के कारण आगे जाकर एक पगडंडी के रूप में परिणत हो गया, कुछ दूर और चलने पर तो वह पगडंडी भी बन्द हो गई। राजा पशोपेश मे पड़कर इधर-उधर देखने लगा। ऊपर देखा तो एक व्यक्ति फलदार पेड़ पर चढ़ा हुआ दिखाई दिया। राजा ने उससे पूछा—'फलां गाँव की बाट (रास्ता) कौन-सी है?' चारण ने अच्छा अवसर देखकर निम्नोक्त दोहे में उत्तर दिया—

जीव मारतां नरक है जीव बचातां सग्ग।
हूं जाणूं दोई बाटड़ी, जिण भावे तिण लग्ग॥

अर्थ स्पष्ट है। राजा सुनते ही चौंक पड़ा। चिन्तन-मन्थन होने लगा हृदय में। चारण की बात उसके हृदय में सीधी उतर गई। उसी दिन से उसने शिकार खेलना छोड़ दिया। दयालु बन गया।

---

१ ज्ञानदानेन जानाति जन्तुः स्वस्य हिताहितम्।
वेत्ति जीवादि तत्त्वानि, विरतिं च समश्नुते॥ —त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित

इसी प्रकार जैन इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है—महाकवि धनपाल जैन श्रावक थे। वे बड़े ही दयालु और शान्त थे। महाराजा भोज के दरबार में नवरत्नों में से वे भी एक थे। एक दिन राजा भोज बड़े आग्रह के साथ शिकार खेलने के लिए धनपाल कवि को साथ ले गया। राजा ने एक भागते हुए हिरन को बाण से बींध डाला और वह भूमि पर गिरकर प्राणान्त वेदना से छटपटाने लगा। इस प्रसंग पर साथ के दूसरे कवियों ने राजा की प्रशंसा मे कविताएँ पढ़ीं। महाकवि धनपाल चुपचाप खड़े रहे। आखिर राजा ने स्वयं ही प्रसंगोचित वर्णन के लिए धनपाल कवि से कहा—महाकवि ने राजा को बोध देने की दृष्टि से तत्कालीन प्रसंग का निर्भयतापूर्वक उपयोग करते हुए कहा—

> "रसातलं यातु तदत्र पौरुषं,
> कुनीतिरेषा शरणोह्यदोषवान् ।
> निहन्यते यद् बलिनाऽतिदुर्बलो,
> हहा महाकष्टमराजकं जगत् ॥"

'ऐसा पौरुष (वीरत्व) पाताल में जाय। निर्दोष प्राणियों को मारना कुनीति है। संसार में यह अराजकता छाई हुई है कि एक बलवान अत्यन्त दुर्बल को मार डालता है। हाय! इसे देखकर बड़ा कष्ट होता है।'

राजा भोज ने जब अपनी भर्त्सना सुनी तो वे तिलमिला उठे। उन्होंने नम्रता के स्वर में कहा—'कविराज! यह क्या कहते हो? तुमने तो उलटा ही राग छेड़ दिया।' धनपाल कवि ने दृढ़ता के स्वर में कहा—

> "वैरिणोऽपि हि मुच्यन्ते प्राणान्ते तृणभक्षणात् ।
> तृणाहाराः सदैवैते हन्यते पशवः कथम् ॥"

—'देहान्त के समय अगर शत्रु भी मुंह में तिनका दबाकर शरण में आ जाते हैं, तो वे भी छोड़ दिये जाते हैं, किन्तु ये प्राणी तो बेचारे सदैव मुंह में तिनका दबाए रहते हैं, तृणाहारी हैं, इन पशुओं को क्यों मारा जाता है?'

राजा भोज के हृदय पर ठीक समय पर इस सत्योपदेश की करारी चोट पड़ी। राजा के मन में दयाभाव जागृत हुआ, और उन्होंने शिकार खेलने का त्याग कर दिया।

यह था ज्ञानदान का प्रभाव, जिसने राजा का जीवन ही बदल दिया। कई बार ज्ञानदान देने के लिए कुछ महादाताओं को अपना बलिदान भी देना पड़ा है। देशभक्त महाराणा प्रताप और उनके भाई शक्तिसिंह में एक बार वन में एक शिकार के लिए झगड़ा हो गया। इस विवाद ने इतना उग्ररूप धारण कर लिया कि दोनों ने तलवारें खींच लीं। उस समय वहाँ राजपुरोहित भी उपस्थित था उसने दोनों भाइयों को बहुत समझाया, धर्मशास्त्रों के अनेक शिक्षा वाक्य सुनाए, मगर दोनों भाई टस

से मस्त न हुए। पुरोहित ने देखा कि दोनों भाई आवेश में आकर मर जाएँगे, मेवाड़ का सूर्य अस्त हो जाएगा। इस समय मेरा मौखिक उपदेश काम नहीं आएगा। इस समय दोनों का हृदय बदलने वाले असाधारण त्याग की आवश्यकता है। अतः पहले तो राजपुरोहित ने दोनों भाइयों को अपने पर तलवार चलाने को कहा। इस पर भी वे न माने तो पुरोहित ने छुरा निकालकर दोनों के देखते ही देखते स्वयं अपने पेट में भोंक लिया। पुरोहित के इस बलिदान ने दोनों भाइयों पर ज्ञानदान का काम किया। जो पहले बिलकुल न मानते थे, वे दोनों इस बलिदान से काँप उठे, दोनों की तलवारें म्यान में बन्द हो गईं। दोनों भाइयों का सदा के लिए कलह मिट गया।

अब लौकिक ज्ञानदान के दूसरे पहलू पर विचार कर लें—

कई विद्वान् या धर्मश्रद्धालु श्रावक पर्युषणपर्व या किसी विशिष्ट अवसर पर शास्त्रवाचन किया करते हैं, अथवा साधु-साध्वियों का पदार्पण नहीं होता या अत्यन्त कठिनता से होता है, वहाँ ऐसे विद्वान् श्रावक पहुँचकर शास्त्रवाचन करते हैं, अथवा स्थानीय श्रावकों में से कोई विशिष्ट श्रावक या श्राविका शास्त्रवाचन करती हैं। अथवा कोई स्थानीय श्रावक या श्राविका भी कई जगह व्याख्यान करती हैं। इस प्रकार के ज्ञानदान से भी बहुत-सा बोध प्राप्त हो जाता है। दिगम्बर जैनों में मुनिवरों की संख्या अल्प होने से दशलक्षणीपर्व या विशिष्ट अवसरों पर पण्डित या ब्रह्मचारी व्याख्यान देते हैं। श्वेताम्बरों में यति लोग अथवा स्वाध्यायी श्रावक कई जगह कल्पसूत्र आदि वाचन के लिए जाते हैं। कई जगह धर्माध्यापक भाई या धर्माध्यापिका बहन धार्मिक पाठशाला में विद्यार्थी वर्ग को धार्मिक अध्ययन कराते हैं, जैनागमों के बोल, थोकड़े वगैरह सिखाते हैं, कई लोग उदारतापूर्वक धार्मिक पाठशाला अपनी ओर से चलाते हैं। ये और इसी प्रकार के सभी बोधदाता कार्य लौकिक ज्ञानदान में समाविष्ट हो जाते हैं। इस ज्ञानदान को लौकिक तो पात्र की अपेक्षा से कहा जाता है, उसमें जो ज्ञान होता है, वह सब लोकोत्तर पुरुषों की वाणी का ही निष्कर्ष होता है। इस धर्मज्ञान को पाकर भी मनुष्य अपनी आत्मा को तथा आत्मा से भिन्न पदार्थों को भली-भाँति समझ कर अपने आत्म-कल्याण में प्रवृत्त होता है। सचमुच ऐसा धर्मज्ञान पाकर भी कई गृहस्थ आत्म-कल्याण के पथ पर चढ़ जाते हैं, कई विरक्त हो जाते हैं। इसलिए यह लौकिक ज्ञानदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

महात्मा गाँधीजी एक बार ईसाई पादरियों तथा गृहस्थों के सम्पर्क में आकर तथा उनके द्वारा प्रत्यक्ष रुग्णसेवा आदि देखकर ईसाई धर्म से प्रभावित हो गए थे। वे ईसाई धर्म स्वीकार करने को आतुर थे, तभी उनके मन में एक स्फुरणा आई कि 'ईसाई बनने से पहले क्यों न, एक बार अपनी शंकाओं का समाधान गुजरात के विद्वान् विचारक श्री रायचन्द भाई कवि से कर लिया जाय।' फलतः महात्मा गाँधीजी ने उन्हें २७ प्रश्न लिख भेजे, जिनका समुचित समाधान पाकर गाँधीजी का ईसाई बनने

का विचार बदल गया। क्या श्रीमद् रायचन्द भाई द्वारा दिया गया यह ज्ञानदान कम महत्त्वपूर्ण था ? इस ज्ञानदान ने महात्मा गांधीजी का जीवन ही बदल दिया।

कई बार कई व्यक्ति शास्त्र के उपदेश से या सामान्य व्याख्यान से नहीं मानते, उनका परिवर्तन युक्तियों से हो सकता है। ऐसी युक्ति से सम्त ही ज्ञानदान देकर कुरूढ़िग्रस्त या किसी कुप्रथा के गुलाम बने हुए व्यक्ति को बदल सकते हैं।

गुजरात के सिंहासन पर कुमारपाल सम्राट् आरूढ़ थे। आचार्य हेमचन्द्र के वे परम भक्त बने हुए थे। कुमारपाल राजा को अहिंसा की प्रेरणा आचार्य हेमचन्द्र के निमित्त से मिली थी। परन्तु कुमारपाल राजा के सामने एक समस्या आ खड़ी हुई। गुजरात के चौलुक्यवंशीय क्षत्रियों की कुलदेवी कण्टेश्वरी के सामने प्रतिवर्ष नवरात्रि के दिनों में सप्तमी, अष्टमी और नवमी को सैकड़ों पशुओं की बलि दी जाती थी। यह हिंसक कुप्रथा वर्षों से चली आ रही थी। चौलुक्य क्षत्रिय माताजी की प्रसन्नता से जितने निर्भय थे, उतने ही उसके कोप से वे भयभीत थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि माता कुपित होगी तो चौलुक्यवंश नष्ट हो जाएगा, पाटण पर-चक्र के आक्रमण से ध्वस्त हो जाएगा। ज्यों-ज्यों उत्सव के दिन निकट आते गये, त्यों-त्यों क्षत्रियों के दिलों पर भय की घटा छाने लगी। अहिंसक कुमारपाल के सामने धर्मसंकट था कि "यह बकरों और पाड़ों की हिंसा कैसे बन्द हो, और बन्द हो तो कहीं देवी का कोप न उतर पड़े।"

राजा कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र के मार्गदर्शन पर पूर्ण विश्वास था। आचार्य हेमचन्द्र को आसोज सुदी ६ के दिन होने वाली सामन्तों की सभा में मार्गदर्शन के लिए आमंत्रित किया गया। ठीक समय पर सभा जुड़ी। आचार्य हेमचन्द्र पधारे। सभी ने खड़े होकर उनका सम्मान किया। सभी पूर्वोक्त समस्या को हल करने के लिए उत्सुक थे, और आचार्य के मुखमण्डल पर दृष्टि गड़ाये हुए थे। तभी आचार्यश्री की पवित्र वाणी स्फुरित हुई—'सज्जनो ! माताजी को भोग देना ही होगा। बलि दिये बिना कैसे काम चलेगा ? पशुओं के साथ-साथ इस वर्ष माताजी को मिठाई भी अधिक चढ़ानी होगी। कुलदेवी को प्रसन्न रखना है। माताजी का कोप कैसे सहन होगा। अतः बलि अवश्य दें।' मांसभक्षी पुजारियों के हृदय प्रसन्नता से भर आये। अहिंसोपासक आचार्य की हिंसा के काम में सम्मति ! परन्तु आचार्यश्री के मार्गदर्शन पर सबको विश्वास था। उन्होंने आगे कहा—'बलि दो, पर हाथ रक्त से रंगकर नहीं। जिन जीवों को चढ़ाना हो, उन्हें जीते जी माताजी के चरणों में चढ़ा दो। मन्दिर के द्वार बन्द कर दो। माताजी को अपनी इच्छानुसार भोग लेने दो। आज तक तुमने मुर्दों का भोग चढ़ाया है, अब जीवितों का भोग चढ़ाओ। पशुओं के अक्षत देह को माता के चरणों में चढ़ाओगे तो वह विशेष प्रसन्न होगी।' बात उचित थी, प्रयोग सुन्दर था। उसी दिन रात को माताजी के मन्दिर में जीवित पशुओं को भर दिये गये। सभी दरवाजे बन्द कर दिये गये। मन्दिर के बाहर सभी भक्तजन

भजन करते हुए रात्रि जागरण करने लगे। नवमी का सुनहला प्रभात! सूर्य का प्रतिबिम्ब माताजी के मन्दिर के स्वर्ण कलश पर पड़ रहा था। मन्दिर के द्वार पर जनता खचाखच भरी हुई थी। सभी यह देखने को उत्सुक थे कि रात को बलि चढ़ाये हुए पशुओं का क्या हुआ?" गुर्जरेश्वर की आज्ञा होते ही मन्दिर के द्वार खोले गये। मन्दिर की दमघोट हवा में घबराये हुए पशु बें-बें करते हुए बाहर निकल पड़े। पूर्ण प्रेम-भक्ति-पूर्वक माता को नमन करके कुमारपाल ने कहा—'प्रजाजनो! बलि की किसे जरूरत है? माता को या पुजारियों को? मां तो मां है, वह अपने निर्दोष और मूक बालकों के प्राण ले सकती है, भला? मांसलोलुप मनुष्य माता के नाम से क्रूर हिंसा करके बलि चढ़ाता है और स्वयं उसे गटक जाता है। देवी दयालु है, वह पशुबलि नहीं चाहती। अतः आज से माताजी के आगे पशुबलि बन्द।' प्रजा के नेत्रों में कुमारपाल राजा की प्रतिभापूर्ण वाणी सुनकर प्रसन्नता थी, पुजारियों के मुख पर खिन्नता थी।

का विचार बदल गया। क्या श्रीमद् रायचन्द भाई द्वारा दिया गया यह ज्ञानदान कम महत्त्वपूर्ण था ? इस ज्ञानदान ने महात्मा गांधीजी का जीवन ही बदल दिया।

कई बार कई व्यक्ति शास्त्र के उपदेश से या सामान्य व्याख्यान से नहीं मानते, उनका परिवर्तन युक्तियों से हो सकता है। ऐसी युक्ति से सन्त ही ज्ञानदान देकर कुरूढ़िग्रस्त या किसी कुप्रथा के गुलाम बने हुए व्यक्ति को बदल सकते हैं।

गुजरात के सिंहासन पर कुमारपाल सम्राट् आरूढ़ थे। आचार्य हेमचन्द्र के वे परम भक्त बने हुए थे। कुमारपाल राजा को अहिंसा की प्रेरणा आचार्य हेमचन्द्र के निमित्त से मिली थी। परन्तु कुमारपाल राजा के सामने एक समस्या आ खड़ी हुई। गुजरात के चौलुक्यवंशीय क्षत्रियों की कुलदेवी कण्टेश्वरी के सामने प्रतिवर्ष नवरात्रि के दिनों में सप्तमी, अष्टमी और नवमी को सैकड़ों पशुओं की बलि दी जाती थी। यह हिंसक कुप्रथा वर्षों से चली आ रही थी। चौलुक्य क्षत्रिय माताजी की प्रसन्नता से जितने निर्भय थे, उतने ही उसके कोप से वे भयभीत थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि माता कुपित होगी तो चौलुक्यवंश नष्ट हो जाएगा, पाटण पर-चक्र के आक्रमण से ध्वस्त हो जाएगा। ज्यों-ज्यों उत्सव के दिन निकट आते गये, त्यों-त्यों क्षत्रियों के दिलों पर भय की घटा छाने लगी। अहिंसक कुमारपाल के सामने धर्मसंकट था कि "यह बकरों और पाड़ों की हिंसा कैसे बन्द हो, और बन्द हो तो कहीं देवी का कोप न उतर पड़े।"

राजा कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र के मार्गदर्शन पर पूर्ण विश्वास था। आचार्य हेमचन्द्र को आसोज सुदी ६ के दिन होने वाली सामन्तों की सभा में मार्गदर्शन के लिए आमन्त्रित किया गया। ठीक समय पर सभा जुड़ी। आचार्य हेमचन्द्र पधारे। सभी ने खड़े होकर उनका सम्मान किया। सभी पूर्वोक्त समस्या को हल करने के लिए उत्सुक थे, और आचार्य के मुखमण्डल पर दृष्टि गड़ाये हुए थे। तभी आचार्यश्री की पवित्र वाणी स्फुरित हुई—'सज्जनो ! माताजी को भोग देना ही होगा। बलि दिये बिना कैसे काम चलेगा ? पशुओं के साथ-साथ इस वर्ष माताजी को मिठाई भी अधिक चढ़ानी होगी। कुलदेवी को प्रसन्न रखना है। माताजी का कोप कैसे सहन होगा। अतः बलि अवश्य दें।' मांसभक्षी पुजारियों के हृदय प्रसन्नता से भर आये। अहिंसोपासक आचार्य की हिंसा के काम में सम्मति ! परन्तु आचार्यश्री के मार्गदर्शन पर सबको विश्वास था। उन्होंने आगे कहा—'बलि दो, पर हाथ रक्त से रंगकर नहीं। जिन जीवों को चढ़ाना हो, उन्हें जीते जी माताजी के चरणों में चढ़ा दो। मन्दिर के द्वार बन्द कर दो। माताजी को अपनी इच्छानुसार भोग लेने दो। आज तक तुमने मुर्दों का भोग चढ़ाया है, अब जीवितों का भोग चढ़ाओ। पशुओं के अक्षत देह को माता के चरणों में चढ़ाओगे तो वह विशेष प्रसन्न होगी।' बात उचित थी, प्रयोग सुन्दर था। इसी दिन रात को माताजी के मन्दिर में जीवित पशुओं को भर दिये गये। सभी दरवाजे बन्द कर दिये गये। मन्दिर के बाहर सभी भक्तजन

समाज सम्बन्धी आती हैं। साधुओं के लिए भी ऐसा विधान मिलता है कि यह देश-परदेश की अनेक भाषाओं का ज्ञाता बने, देश-विदेश के रहन-सहन, सामाजिक प्रथाओं, संस्कारों, व्यवहारों आदि से परिचित हो। तभी वह किसी देश, जाति, समाज को धर्म का योग्य मार्गदर्शन—ज्ञानदान दे सकता है। यही कारण है कि साधु-साध्वियों को भी हिन्दी, अँग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, दर्शनशास्त्र, न्यायशास्त्र, इतिहास, भूगोल, गणित, समाज-विज्ञान आदि का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए वर्षों तक व्यावहारिक ज्ञान का अध्ययन करना पड़ता है, और उसके लिए विशिष्ट विद्वानों तथा अध्ययन व्यय की व्यवस्था करने ज्ञानप्रेमी श्रावकों की अपेक्षा रखनी पड़ती है। आखिरकार साधु-साध्वियों को अपने उपदेश, व्याख्यान, लेख, वक्तव्य तथा ग्रन्थलेखन आदि के लिए विविध भाषाओं का तथा विविध संस्कृति, इतिहास, भूगोल, समाजविज्ञान आदि का व्यवस्थित अध्ययन जरूरी होता है। उसके बिना युगानुलक्षी मार्गदर्शन, प्रेरणा या उपदेश दे भी नहीं सकते। देश-विदेश में विचरण करने के लिए भी उन्हें विविध विद्याओं का अध्ययन करना आवश्यक होता है। इसलिए व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता को भुठलाया नहीं जा सकता और न ही उसका मूल्य कम आँका जा सकता है।

व्यावहारिक ज्ञान के साधनों में विद्यालय, विद्यालय की सारी व्यवस्था, स्वयं पढ़ना, दूसरों से अध्ययन कराना, छात्रवृत्ति देना, विद्यार्थियों में चरित्रनिर्माण तथा धर्मश्रद्धावृद्धि का ध्यान रखना आदि सब व्यवस्थाएँ अपेक्षित होती हैं। इन सबका दान भी ज्ञानदान के अन्तर्गत आ जाता है। गृहस्थ भी इस प्रकार का व्यावहारिक ज्ञानदान पाकर धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञान की ओर मुड़ता है। यदि उसे व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता और अन्धश्रद्धावश बिना ज्ञान के कोई भी धर्मक्रिया करता है तो उसका फल वह सम्यक् नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिए कहा है—

'पढमं नाणं तओ दया'

—पहले ज्ञान हो, तब दया शोभा देती है। और वह दया विवेकपूर्वक होती है। जब अन्तर में जागृति आ जाती है तो मनुष्य ज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं माँगता।

इसी प्रकार व्यावहारिक ज्ञानदान के साथ चरित्र निर्माण का ध्यान रखने पर भी वह व्यावहारिक ज्ञानदान सुन्दर प्रतिफल लाता है। सेठिया जैन विद्यालय एवं छात्रालय, जैन गुरुकुल, ब्यावर, जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला, राणावास के जैन विद्यालय, ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिनापुर आदि अनेक छात्रावासों ने विद्यार्थियों को व्यावहारिक ज्ञानदान देकर उनमें उत्तम संस्कारों का बीजारोपण भी किया है। भारतवर्ष में जैन समाज आदि के द्वारा स्थापित इस प्रकार के अनेक गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम एवं छात्रावास आदि हैं, जिनमें कई दाताओं ने अपना अर्थ सहयोग देकर ज्ञानदान का पुण्योपार्जन किया है।

रामकृष्ण मिशन ने जब सबसे पहले जिला मुर्शिदाबाद में संकट-निवारण का कार्य [illegible] किया, तब स्वामी विवेकानन्द ने स्वामी [illegible] को एक पत्र में

लिखा—'सिर्फ कुछ गरीबों को चावल दे देने से काम नहीं चलेगा। चिरकाल से हमारे यहाँ दान दिया जाता है, तो भी सहायता मांगने वालों की भारत में कमी नहीं। आप सहायता के साथ कुछ शिक्षा भी देते हैं या नहीं? जब तक कमाने की शक्ति आने से पहले लोगों का विवाह होता रहेगा, तब तक इन भुखमरों के नंगे बच्चों की शिक्षा नहीं होगी। इसके सिवा लुच्चे-लफंगे भी अपने को गरीब बताकर ले जाते हैं। इसलिए खासतौर पर सावधानी रखकर सहायता देनी चाहिए।'

अब आप समझ गये होंगे कि विद्यादान ही हमारा पहला मुख्य कार्य है। सच है, अन्नदान से तो सिर्फ एक दिन का संकट दूर होता है, पर विद्यादान से जिन्दगी भर का दुःख टलता है।'[1]

यही कारण है कि विद्यादान में यावज्जीवन संलग्न महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी ने विद्या के लिए दान की एक सुन्दर योजना जनता को अन्न-त्याग करने की सलाह देकर बनाई थी।

आज से लगभग ४० वर्ष पहले की बात है। तब महामना पं० मदनमोहन मालवीय हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए प्रयत्न कर रहे थे। उसी दौरान बहुत-से योजनादक्ष लोगों ने एक योजना बनाई थी कि देश में इस समय २८ करोड़ हिन्दू हैं। उनसे प्रार्थना की जाय कि वे प्रत्येक एकादशी का व्रत रखें और उस दिन के भोजन का जितना अन्न बचे, उसे विद्या के निमित्त दान कर दें। उन दिनों चार आने में दोनों टाइम का भोजन चल जाता था। इसलिए योजनाकारों ने बताया—'महीने में दो एकादशी पड़ती हैं। दो दिन उपवास करना धर्म और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत उपयोगी व लाभप्रद है। प्रति व्यक्ति प्रतिमास ८ आने दें तो १४ करोड़ रुपये मासिक आय हो सकती है। इतनी अर्थराशि से तो कितने ही विश्वविद्यालय चल सकते हैं। देखने में यह योजना सुन्दर है, आसान भी है, महीने में आठ आना अधिक भी नहीं। और इसमें विद्यादान का पुण्य भी अर्जित हो सकता है।" इस योजना पर विचार किया जाय तो अन्नदान की अपेक्षा विद्यादान का महत्व अधिक प्रतीत होता है।

इसलिए जो निर्धन, असहाय, अनाथ एवं पराश्रित बालकों को विद्यादान देता है या दिलाता है, वह वास्तव में उस बालक को भविष्य की रोटी-रोजी का साधन देता है। इतना ही नहीं, प्रकारान्तर से वह उस बालक के जीवन में सुसंस्कारों तथा चरित्र-निर्माण का दान करता है। इसीलिए एक भिखारी की अन्तिम इच्छा अपने-जैसे भूखे-नंगे लोगों को अन्न-वस्त्र प्रदान करने की अपेक्षा विद्यादान की हुई।

---

१ अन्नदानात्परं नास्ति, विद्यादानं ततोऽधिकम्।
एकेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं तु विद्यया॥

का विचार बदल गया। क्या श्रीमद् रायचन्द भाई द्वारा दिया गया यह ज्ञानदान कम महत्त्वपूर्ण था ? इस ज्ञानदान ने महात्मा गांधीजी का जीवन ही बदल दिया।

कई बार कई व्यक्ति शास्त्र के उपदेश से या सामान्य व्याख्यान से नहीं मानते, उनका परिवर्तन युक्तियों से हो सकता है। ऐसी युक्ति से सन्त ही ज्ञानदान देकर कुरूढ़िग्रस्त या किसी कुप्रथा के गुलाम बने हुए व्यक्ति को बदल सकते हैं।

गुजरात के सिंहासन पर कुमारपाल सम्राट् आरूढ़ थे। आचार्य हेमचन्द्र के वे परम भक्त बने हुए थे। कुमारपाल राजा को अहिंसा की प्रेरणा आचार्य हेमचन्द्र के निमित्त से मिली थी। परन्तु कुमारपाल राजा के सामने एक समस्या आ खड़ी हुई। गुजरात के चौलुक्यवंशीय क्षत्रियों की कुलदेवी कण्टेश्वरी के सामने प्रतिवर्ष नवरात्रि के दिनों में सप्तमी, अष्टमी और नवमी को सैकड़ों पशुओं की बलि दी जाती थी। यह हिंसक कुप्रथा वर्षों से चली आ रही थी। चौलुक्य क्षत्रिय माताजी की प्रसन्नता से जितने निर्भय थे, उतने ही उसके कोप से वे भयभीत थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि माता कुपित होगी तो चौलुक्यवंश नष्ट हो जाएगा, पाटण पर-चक्र के आक्रमण से ध्वस्त हो जाएगा। ज्यों-ज्यों उत्सव के दिन निकट आते गये, त्यों-त्यों क्षत्रियों के दिलों पर भय की घटा छाने लगी। अहिंसक कुमारपाल के सामने धर्मसंकट था कि "यह बकरों और पाड़ों की हिंसा कैसे बन्द हो, और बन्द हो तो कहीं देवी का कोप न उतर पड़े।"

राजा कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र के मार्गदर्शन पर पूर्ण विश्वास था। आचार्य हेमचन्द्र को आसोज सुदी ६ के दिन होने वाली सामन्तों की सभा में मार्ग-दर्शन के लिए आमंत्रित किया गया। ठीक समय पर सभा जुड़ी। आचार्य हेमचन्द्र पधारे। सभी ने खड़े होकर उनका सम्मान किया। सभी पूर्वोक्त समस्या को हल करने के लिए उत्सुक थे, और आचार्य के मुखमण्डल पर दृष्टि गड़ाये हुए थे। तभी आचार्यश्री की पवित्र वाणी स्फुरित हुई—'सज्जनो ! माताजी को भोग देना ही होगा। बलि दिये बिना कैसे काम चलेगा ? पशुओं के साथ-साथ इस वर्ष माताजी को मिठाई भी अधिक चढ़ानी होगी। कुलदेवी को प्रसन्न रखना है। माताजी का कोप कैसे सहन होगा। अतः बलि अवश्य दें।' मांसभक्षी पुजारियों के हृदय प्रसन्नता से भर आये। अहिंसोपासक आचार्य की हिंसा के काम में सम्मति ! परन्तु आचार्यश्री के मार्गदर्शन पर सबको विश्वास था। उन्होंने आगे कहा—'बलि दो, पर हाथ रक्त से रंगकर नहीं। जिन जीवों को चढ़ाना हो, उन्हें जीते जी माताजी के चरणों में चढ़ा दो। मन्दिर के द्वार बन्द कर दो। माताजी को अपनी इच्छानुसार भोग लेने दो। आज तक तुमने मुर्दों का भोग चढ़ाया है, अब जीवितों का भोग चढ़ाओ। पशुओं के अक्षत देह को माता के चरणों में चढ़ाओगे तो वह विशेष प्रसन्न होगी।' बात उचित थी, प्रयोग सुन्दर था। इसी दिन रात को माताजी के मन्दिर में जीवित पशुओं को भर दिये गये। सभी दरवाजे बन्द कर दिये गये। मन्दिर के बाहर सभी भक्तजन

भजन करते हुए रात्रि जागरण करने लगे। सप्तमी का सुनहला प्रभात! सूर्य का प्रतिबिम्ब माताजी के मन्दिर के स्वर्ण कलश पर पड़ रहा था। मन्दिर के द्वार पर जनता खचाखच भरी हुई थी। सभी यह देखने को उत्सुक थे कि रात को बलि चढ़ाये हुए पशुओं का क्या हुआ?" गुर्जरेश्वर की आज्ञा होते ही मन्दिर के द्वार खोले गये। मन्दिर की दमघोट हवा में घबराये हुए पशु बें-बें करते हुए बाहर निकल पड़े। पूर्ण प्रेम-भक्ति-पूर्वक माता को नमन करके कुमारपाल ने कहा—'प्रजाजनो! बलि की किसे जरूरत है? माता को या पुजारियों को? माँ तो माँ है, यह अपने निर्दोष और मूक बालकों के प्राण ले सकती है, भला? माँसलोलुप मनुष्य माता के नाम से अर्गहिंसा करके बलि चढ़ाता है और स्वयं इसे गटक जाता है। देवी दयालु है, वह पशुबलि नहीं चाहती। अतः आज से माताजी के आगे पशुबलि बन्द।' प्रजा के नेत्रों में कुमारपाल राजा की अहिंसापूत वाणी सुनकर प्रसन्नता थी, पुजारियों के मुख पर खिन्नता थी।

यह हेमचन्द्राचार्य के द्वारा ज्ञानदान का चमत्कार था, जिसने वर्षों से चली आई हुई हिंसक कुप्रथा को बन्द करा दिया।

अब हमें लौकिक ज्ञानदान के तीसरे पहलू पर गहराई से विचार करना है। यद्यपि व्यावहारिक शिक्षण, अध्यापन या विद्या का दान जिस ज्ञान से जीवन-परिवर्तन हो जाय या जो शास्त्रीय ज्ञान आत्मा-अनात्मा तथा तत्त्वों का यथार्थ बोध करा दे, ऐसे सम्यग्ज्ञान की बराबरी तो नहीं कर सकता। किन्तु जैसे शास्त्रीय ज्ञान के लिए पहले प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है, शास्त्र में लिखित भूगोल, खगोल, गणित, इतिहास तथा समाजविज्ञान आदि के संकेतों एवं उल्लेखों को जानने के लिए एवं शास्त्रोक्त सिद्धान्त की बातों को परिपुष्ट करने एवं युक्तिसंगत बनाने के लिए ऐतिहासिक, पौराणिक, आधुनिक या व्यावहारिक दृष्टान्तों एवं उदाहरणों का ज्ञान जरूरी है, उसी दृष्टि से शास्त्रीयज्ञान की पूर्वभूमिका के रूप में शास्त्रोक्त बातों के अनुकूल व्यावहारिक ज्ञान भी उपयोगी अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण है। इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि शास्त्रीयज्ञान को भलीभाँति समझने के लिए भूगोल, इतिहास, गणित, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र भाषाशास्त्र आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। जो व्यक्ति यह कहते हैं कि इस व्यावहारिक ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है, उन्हें पता ही नहीं है कि शास्त्रीय ज्ञान किस चिड़िया का नाम है? विद्वान् साधुओं के व्याख्यानों में जब वे कोई ऐतिहासिक कहानी, कोई समाजशास्त्र की बात, कभी नैतिक जीवन की घटनाएँ, कभी भूगोल-खगोल की बातें, कभी गणित के गंगजाल आदि सुनते हैं, वे कहाँ से आए हैं? क्या वे सभी शास्त्रों में लिखी हुई बातें हैं? मूलशास्त्रों में भी कई इतिहास, भूगोल, खगोल एवं व्यावहारिक दृष्टान्त आदि हैं, उत्तराध्ययन, उपाशकदशांग, विपाकसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशांग आदि सूत्रों में चरित्र-चित्रण हैं, क्या वे ऐतिहासिक, व्यावहारिक या सामाजिक उदाहरण नहीं है?' व्यवहारसूत्र आदि के भाष्य में अनेक बातें संघ एवं

समाज सम्बन्धी आती हैं। साधुओं के लिए भी ऐसा विधान मिलता है कि यह देश-परदेश की अनेक भाषाओं का ज्ञाता बने, देश-विदेश के रहन-सहन, सामाजिक प्रथाओं, संस्कारों, व्यवहारों आदि से परिचित हो। तभी वह किसी देश, जाति, समाज को धर्म का योग्य मार्गदर्शन—ज्ञानदान दे सकता है। यही कारण है कि साधु-साध्वियों को भी हिन्दी, अँग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, दर्शनशास्त्र, न्यायशास्त्र, इतिहास, भूगोल, गणित, समाज-विज्ञान आदि का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए वर्षों तक व्यावहारिक ज्ञान का अध्ययन करना पड़ता है, और उसके लिए विशिष्ट विद्वानों तथा अध्ययन व्यय की व्यवस्था करने ज्ञानप्रेमी श्रावकों की अपेक्षा रखनी पड़ती है। आखिरकार साधु-साध्वियों को अपने उपदेश, व्याख्यान, लेख, वक्तव्य तथा ग्रन्थलेखन आदि के लिए विविध भाषाओं का तथा विविध संस्कृति, इतिहास, भूगोल, समाजविज्ञान आदि का व्यवस्थित अध्ययन जरूरी होता है। उसके बिना युगानुलक्षी मार्गदर्शन, प्रेरणा या उपदेश दे भी नहीं सकते। देश-विदेश में विचरण करने के लिए भी उन्हें विविध विद्याओं का अध्ययन करना आवश्यक होता है। इसलिए व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता को झुठलाया नहीं जा सकता और न ही उसका मूल्य कम आंका जा सकता है।

व्यावहारिक ज्ञान के साधनों में विद्यालय, विद्यालय की सारी व्यवस्था, स्वयं पढ़ना, दूसरों से अध्ययन कराना, छात्रवृत्ति देना, विद्यार्थियों में चरित्रनिर्माण तथा धर्मश्रद्धावृद्धि का ध्यान रखना आदि सब व्यवस्थाएँ अपेक्षित होती हैं। इन सबका दान भी ज्ञानदान के अन्तर्गत आ जाता है। गृहस्थ भी इस प्रकार का व्यावहारिक ज्ञानदान पाकर धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञान की ओर मुड़ता है। यदि उसे व्यावहारिक ज्ञान नहीं होता और अन्धश्रद्धावश बिना ज्ञान के कोई भी धर्मक्रिया करता है तो उसका फल वह सम्यक् नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिए कहा है—

'पढमं नाणं तओ दया'

—पहले ज्ञान हो, तब दया शोभा देती है। और वह दया विवेकपूर्वक होती है। जब अन्तर में जागृति आ जाती है तो मनुष्य ज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं माँगता।

इसी प्रकार व्यावहारिक ज्ञानदान के साथ चरित्र निर्माण का ध्यान रखने पर भी वह व्यावहारिक ज्ञानदान सुन्दर प्रतिफल लाता है। सेठिया जैन विद्यालय एवं छात्रालय, जैन गुरुकुल, ब्यावर, जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला, राणावास के जैन विद्यालय, ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिनापुर आदि अनेक छात्रावासों ने विद्यार्थियों को व्यावहारिक ज्ञानदान देकर उनमें उत्तम संस्कारों का बीजारोपण भी किया है। भारतवर्ष में जैन समाज आदि के द्वारा स्थापित इस प्रकार के अनेक गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम एवं छात्रावास आदि हैं, जिनमें कई दाताओं ने अपना अर्थ सहयोग देकर ज्ञानदान का पुण्योपार्जन किया है।

रामकृष्ण मिशन ने जब सबसे पहले जिला मुर्शिदाबाद में संकट-निवारण का कार्य प्रारम्भ किया, तब स्वामी विवेकानन्द ने स्वामी श्रद्धानन्दजी को एक पत्र में

लिखा—'सिर्फ कुछ गरीबों को चावल दे देने से काम नहीं चलेगा। चिरकाल से हमारे यहाँ दान दिया जाता है, तो भी सहायता मांगने वालों की भारत में कमी नहीं। आप सहायता के साथ कुछ शिक्षा भी देते हैं या नहीं? जब तक कमाने की शक्ति आने से पहले लोगों का विवाह होता रहेगा, तब तक इन भुखमरों के नंगे बच्चों की शिक्षा नहीं होगी। इसके सिवा लुच्चे-लफंगे भी अपने को गरीब बताकर ले जाते हैं। इसलिए खासतौर पर सावधानी रखकर सहायता देनी चाहिए।'

अब आप समझ गये होंगे कि विद्यादान ही हमारा पहला मुख्य कार्य है। सच है, अन्नदान से तो सिर्फ एक दिन का संकट दूर होता है, पर विद्यादान से जिन्दगी भर का दुःख टलता है।"[1]

यही कारण है कि विद्यादान में यावज्जीवन संलग्न महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी ने शिक्षा के लिए दान की एक सुन्दर योजना जनता को अन्न-त्याग करने की सलाह देकर बनाई थी।

आज से लगभग ४० वर्ष पहले की बात है। तब महामना पं० मदनमोहन मालवीय हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए प्रयत्न कर रहे थे। उसी दौरान बहुत-से योजनादक्ष लोगों ने एक योजना बनाई थी कि देश में इस समय २८ करोड़ हिन्दू हैं। इनसे प्रार्थना की जाय कि वे प्रत्येक एकादशी का व्रत रखें और उस दिन के भोजन का जितना अन्न बचे, उसे विद्या के निमित्त दान कर दें। उन दिनों चार आने में दोनों टाइम का भोजन चल जाता था। इसलिए योजनाकारों ने बताया—'महीने में दो एकादशी पड़ती हैं। दो दिन उपवास करना धर्म और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत उपयोगी व लाभप्रद है। प्रति व्यक्ति प्रतिमास ८ आने दें तो १४ करोड़ रुपये मासिक आय हो सकती है। इतनी अर्थराशि से तो कितने ही विश्वविद्यालय चल सकते हैं। देखने में यह योजना सुन्दर है, आसान भी है, महीने में आठ आना अधिक भी नहीं। और इससे विद्यादान का पुण्य भी अर्जित हो सकता है।" इस योजना पर विचार किया जाय तो अन्नदान की अपेक्षा विद्यादान का महत्व अधिक प्रतीत होता है।

इसलिए जो निर्धन, असहाय, अनाथ एवं पराश्रित बालकों को विद्यादान देता है या दिलाता है, वह वास्तव में उस बालक को भविष्य की रोटी-रोजी का साधन देता है। इतना ही नहीं, प्रकारान्तर से वह उस बालक के जीवन में सुसंस्कारों तथा चरित्र-निर्माण का दान करता है। इसीलिए एक भिखारी की अन्तिम इच्छा अपने-जैसे भूखे-नंगे लोगों को अन्न-वस्त्र प्रदान करने की अपेक्षा विद्यादान की हुई।

---

१ अन्नदानात्परं नास्ति, विद्यादानं ततोऽधिकम्।
एकेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं तु विद्यया॥

कानपुर की बात है। गंगा तट पर स्थित घाट पर भिखारियों की बस्ती है। एक भिखारी वहाँ वर्षों से रहता था। वह बीमार हुआ। सरकारी हॉस्पिटल में भर्ती कराया गया। वहाँ उसका ऑपरेशन अच्छी तरह हो गया लेकिन कमजोरी दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही गई। उसने अपना अन्तिम समय निकट जानकर डॉक्टर से कहा—'डॉक्टर साहब ! यह मेरी पोटली खोलिए।' डॉक्टर ने पोटली खोली। उसने गिन कर देखे तो पूरे ७०००) रुपये थे। वह बोला—'डॉक्टर साहब, मैंने पैसा-पैसा मांग कर ये रुपये इकट्ठे किये हैं। मेरी आखिरी इच्छा यह है कि इन रुपयों का उपयोग गरीब विद्यार्थियों की पढ़ाई में हो। क्योंकि मेरे माता-पिता ने मुझे पढ़ने के लिए बहुत कहा था, मगर मैं पढ़ा नहीं, जिससे मुझे जिन्दगी में भीख मांगनी पड़ी। अतः अगर आप इन रुपयों को गरीब बच्चो की पढ़ाई में खर्च करेंगे तो मेरी आत्मा को सन्तोष होगा।' डॉक्टर ने पूछा—'तुम्हारे क्रियाकर्म के लिए इनमें से कुछ भी खर्च न किया जाय ?' भिखारी—'डॉक्टर साहब ! नहीं, इनमें से एक भी पैसा नहीं। मैं तो गंगा-माई के किनारे ही रहा हूँ। अब मौत आ रही है तो मुझे गंगामाई की गोद में ही बहा दें। माँ की गोद से बढ़कर कौन-सी अच्छी जगह होगी ?' ६ घण्टे के बाद ही उस भिखारी की मृत्यु हो गई। लेकिन यह बात भिखारियों में फैल चुकी थी। भिखारियों ने भी थोड़ा-थोड़ा करके तीन हजार रुपये इकट्ठे किए और यों कुल मिला कर दस हजार रुपये उन्होंने गरीब विद्यार्थियों को विद्यादान और साथ ही सुसंस्कार-दान के लिए डॉक्टर को सौंपे। डॉक्टर ने इन रुपयों से गरीब विद्यार्थियों को शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कार देने का निर्णय किया। सचमुच, उस भिखारी का रुपया विद्यादान-ज्ञानदान मे सार्थक हो गया।

भगवद्‌गीता में कहा है—'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' जो ज्ञानवान् है, वही प्रभु को प्राप्त करता है। ज्ञान के लिए विद्यादान उत्तम उपाय है। यही कारण है कि एक अनपढ़, किन्तु धर्मात्मा विधवा देवी ने अपना सर्वस्व ज्ञानदान में दे दिया।

खंडवा की एक पोरवाड़ जैन महिला ने कन्या पाठशाला के लिए १० हजार रुपयों की कीमत की अपनी सम्पूर्ण जायदाद दे दी। उसका मानना था कि लड़कियाँ विद्या प्राप्त करके धर्मज्ञान प्राप्त करेंगी तो वे भावी पीढ़ी को धर्म-संस्कारी बना सकेंगी।

एक दृष्टि से देखा जाय तो विद्यालय-निर्माण के लिए अर्थसहयोग देना समाज के ऋण से उऋण होने का एक प्रकार है। समाज ने उन्हें पढ़ा-लिखाकर सुसंस्कारी बनाया है, अतः उनका कर्तव्य हो जाता है कि समाज के बच्चों को ज्ञान-दान में सहयोग दें।

कई बार ज्ञानदान प्राप्त व्यक्ति कृतज्ञतावश दूसरों को ज्ञानदान (विद्या-प्राप्ति के लिए दान) करके अपने उस ऋण से उऋण होता है, अपने दायित्व का निर्वाह करता है। भावनगर के सर प्रभाशंकर पट्टणी गरीब विद्यार्थियों को विद्या पढ़ने के

लिये सहायता दिया करते थे। उन्होंने एक गरीब लड़के को पढ़ाई के लिये लगभग ४ हजार रुपये की मदद की। वह लड़का जब बी. ए. एल. एल. बी. पास करके मजिस्ट्रेट पद पर पहुँचा तो एक दिन सुबह ही सुबह चार हजार रुपये का चैक लेकर सर प्रभाशंकर पट्टणी के भावनगर स्थित नीले बंगले पर पहुँचा। उसने अन्दर प्रवेश की अनुमति मांगी तो पट्टणी साहब ने दे दी। आगन्तुक युवक ने आते ही पट्टणी साहब के हाथ में वह ४ हजार रुपये का चैक थमा दिया। पट्टणी साहब ने पूछा—'ये रुपये किस बात के हैं?' वह बोला—'आपने मुझे गरीब स्थिति में मदद देकर पढ़ाया। आज मैं बी. ए. एल. एल. बी. पास होकर मजिस्ट्रेट पद पर आपकी कृपा से पहुँचा हूँ। मैंने आपके द्वारा समय-समय पर दी हुई रकम लिख रखी थी। कुल रकम ४ हजार की होती है, अतः यह चैक लीजिये और मुझे ऋण से मुक्त कीजिए।' पट्टणी जी ने उक्त युवक को पहिचान लिया। वे कहने लगे—'देखो, इन चार हजार रुपयों के वापस देने मात्र से तुम ऋणमुक्त नहीं हो सकते। यह चैक वापिस ले जाओ और जिस तरह मैंने तुम्हें पढ़ाया, उसी तरह तुम भी इस रकम से दूसरों को पढ़ाओगे तो ऋणमुक्त हो सकोगे।' युवक ने वैसा ही करना स्वीकार करते हुए नमस्कार करके विदा ली।

सचमुच, विद्यादान पाये हुए व्यक्ति के द्वारा विद्यादान में व्यय करना एक तरह से प्रतिदान है। ऋणमुक्ति का प्रकार है।

कई महानुभाव अपने निर्वाहव्यय मात्र लेकर बाकी का धन विद्यादान के लिए दे देते हैं। यह भी ज्ञानवृद्धि में योगदान देना है। आचार्य नरेन्द्रदेव लखनऊ विश्वविद्यालय और काशी विश्वविद्यालय दोनों के ५-६ वर्ष तक उपकुलपति रहे थे। इस पद के अनुरूप उन्हें जो वेतन मिलता था, उसे लेते हुए उन्हें भारी टीस का अनुभव होता था। इसलिए वे उस वेतन में से आधा तो निर्धन छात्रों को पढ़ाई के लिए दे डालते थे। बाकी का आधा भी वे बड़े सकोच से ग्रहण करते, कभी-कभी तो उसमें से भी बहुत-सा अंश छात्रों के लिए विद्यादान में ही खर्च कर डालते थे। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय के लिए वे अपना समय, शारीरिक शक्ति और बुद्धि का अजस्र दान तो करते ही रहते थे। जब से उन्होंने सोचना प्रारम्भ किया, तब से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक इस करुणाप्रेरित ज्ञानदान का सत्र चलता ही रहा।

स्वीडन के इन्जीनियर डॉ० एल्फ्रेड नोबेल की मृत्यु के पश्चात् अब भी उनके द्वारा छोड़ी हुई समर्पित सम्पत्ति से प्रतिवर्ष विश्व के महान् कलाकारों, लेखकों और आविष्कारकों को इनाम मिलता रहता है, और मिलता रहेगा। यह भी विद्यादान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसी प्रकार अमेरीका के विश्वविख्यात तेल व्यवसायी जॉन डी. रॉकफेलर नामक सर्वश्रेष्ठ धनी ने दो अरब रुपयों से अधिक शिक्षा प्रचार, चिकित्सा आदि में दान दिये। केलीफोर्निया की एक युवती ने अपनी सम्पत्ति में से १८ करोड़ रुपये [illegible]।

कई कई विद्या मन्दिरों में गड़बड़ियाँ चलती हैं, अध्यापक अनियमितता बरतते हैं, विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण पर ध्यान नहीं देते, न वे विद्यार्थियों को जी लगा कर पढ़ाते हैं, अथवा न पूरा समय देते हैं, इस कारण विद्यालयों के प्रति जनता को बहुत ही निराशा बढ़ चुकी है। इनके सुधार के लिए अर्थसहयोग देना भी एक तरह से विद्या प्रसार के काम में योगदान है, प्रकारान्तर से विद्यादान है। सन् १६७० में चिंगुलीपुट (तामिलनाडु) में एक स्कूल सुधार सम्मेलन हुआ था। उसमें एक वृद्धा ने अपनी लगभग दो लाख रु० की सम्पत्ति स्कूल में सुधार के लिए दान दे दी। उस सम्मेलन में स्कूल सुधार के लिए लगभग ८८ लाख रुपये दान के रूप में प्राप्त हुए थे।

इसी तरह कई अध्यापक बड़े सहृदय होते हैं। वे गरीबी में ही अपना जीवन बिताते हुए जो कुछ वेतन उन्हें मिलता है, उसमें से बचाकर निर्धन विद्यार्थियों को पुस्तकें, पढ़ाई की फीस तथा अन्य सामान के लिए सहायता देते रहते हैं। ऐसे निःस्पृह अध्यापक कई बार इनाम में मिली हुई बड़ी से बड़ी रकम छात्रों की पढ़ाई के लिए देते हुए संकोच नहीं करते। उनका मानना है—"हमारी विद्यादान में दी हुई रकम निष्फल नहीं होगी। यह तो सोने की खेती है। एक बीज के हजार-हजार दाने मिलेंगे।"

सौराष्ट्र के एक छोटे-से गाँव में मास्टर कृपाशंकर ने अपनी सारी जिन्दगी ज्ञानदान में खर्च कर दी। वे ज्ञानदान के बदले एक भी पैसा नहीं चाहते थे। यहाँ तक कि ट्यूशन भी मुफ्त पढ़ाते थे। जो कुछ नौकरी से मिल जाता, उसी में अपना निर्वाह करते थे। एक बार मास्टरजी को अपनी कन्या के विवाह के लिए ५ हजार रुपयों की जरूरत थी। उन्होंने अपने एक भूतपूर्व छात्र जीवनलाल से माँगे। उसने और उसके एक मित्र छीलू ने ५ हजार रुपये मास्टर जी को दे दिये। किन्तु लड़की की शादी के बाद वे मास्टर जी से तकाजे पर तकाजा करने लगे। मास्टर जी ने अपना एक प्लॉट उन्हें दे दिया। उन्होंने प्लाट बेचकर ८० हजार रुपये कमाए। जीवनलाल लालची था, जबकि उसका मित्र छीलू उदार था। उसने कहा—'मास्टर जी ने हमें पढ़ाया-लिखाया है, संस्कार दिये हैं। ये रुपये उन्हें ही दे दें, हम न लें तो अच्छा है।" दोनों ८० हजार की थैली लेकर मास्टर जी के पास पहुँचे। मास्टर जी से जब ८० हजार रुपये लेने का अनुरोध किया तो उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। दोनों मित्रों ने कहा—"अच्छा, ५ हजार हमारी असली रकम रख कर बाकी ७५ हजार रु० आपके हैं, उन्हें रख लीजिए।" उन्होंने रखने से साफ इन्कार कर दिया। तब दोनों मित्रों ने मास्टर कृपाशंकर की सलाह से वह सारी रकम (८० हजार रुपये) गुप्तदान के रूप में विद्यादान में एक शिक्षा संस्था को दे दी।

इस प्रकार देश-विदेश में हजारों व्यक्ति ऐसे हैं, जो विद्या जैसे पवित्र कार्य में लाखों रुपये दान में देते हैं। दानवीर एण्ड्रयूज कार्नेगी स्वयं निर्धन अवस्था में

में कई पुस्तकालयों से पुस्तकें ला-लाकर पढ़ते थे। किन्तु जब वे पढ़-लिखकर विद्वान हुए और अपने पुरुषार्थ के बल पर करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति के मालिक बने तो उन्होंने अपनी सम्पत्ति का अधिकांश भाग जगह-जगह पुस्तकालयों के निर्माण में विद्यादान के रूप में व्यय किया। यह भी विद्यादान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

सचमुच लौकिक ज्ञानदान का भी अद्भुत महत्त्व है और फल है, जिसे पाठक पिछले पृष्ठों को पढ़कर भली-भाँति समझ सकते हैं। लौकिक ज्ञानदान भी परम्परा से मुक्ति का कारण बन जाता है, यह रहस्य भी पिछले पृष्ठों में खोल चुके हैं।

☆

15

अभयदान : महिमा एवं विश्लेषण

दान का चौथा भेद अभयदान है। अभयदान शब्द कानों में पड़ते ही लोग चौंक पड़ते हैं कि क्या यह भी कोई दान हो सकता है? दार्शनिक चर्चा के दलदल में पड़े हुए लोग झटपट कह देते हैं—'कौन किसको अभय दे सकता है या प्राणदान दे सकता है? क्योंकि इस जगत् में सभी जीव स्वतन्त्र हैं। कोई किसी का कुछ बना या बिगाड़ नहीं सकता।' परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि आत्मा अकेला ही संसार में नहीं बसा है। साथ में उसका शरीर भी है, श्वासोच्छ्वास भी है, मन-वचन भी है, और आयुष्य भी है। इन दसों प्राणों के विमुक्त होने, इजा (क्षति) पहुँचने, या ह्रास होने का डर प्राणियों के साथ लगा हुआ है। उक्त भयों से प्राणी को मुक्त करना और आश्वस्त करना भी जब सम्भव है, तब अभयदान या प्राणदान भी सम्भव है ही।

वर्तमान युग में अभयदान अनिवार्य

वैसे तो हर युग में अभयदान की आवश्यकता रहती है। संसार का इतिहास बताता है कि प्रत्येक युग में निर्बलों पर सबलों द्वारा अत्याचार होते रहे हैं, उनके प्राणों को अपने अहंकार पोषण या अपने मनोरंजन अथवा ईर्ष्या-द्वेषवश लूटा गया है, उनकी जिन्दगी के साथ खिलवाड़ की गई है। अपनी किसी कुप्रथा के पालन या स्वार्थसाधना या निहितस्वार्थ को पूर्ण करने के लिए निर्दोष निर्बल प्राणियों का वध किया गया है, अपने से विरोधी विचारधारा वाले व्यक्तियों को अधिकार के बल पर कुचला गया है। परन्तु वर्तमान युग में तो निरंकुश राजनैतिक दमनचक्र के कारण अभयदान की सबसे अधिक आवश्यकता है। आज विज्ञान धर्म के अंकुश में न होकर राजनीतिज्ञों की कठपुतली बना हुआ है, एक से एक बढ़कर अणुबम, परमाणुबम, हाइड्रोजनबम जैसे विनाशकारी नरसंहारक शस्त्र-अस्त्र तैयार हो रहे हैं, उनका प्रयोग भी यदा-कदा सम्भव है, क्योंकि निःशस्त्रीकरण प्रक्रिया अभी सब देशों ने मान्य नहीं की है। यह देखकर सभी राष्ट्र—चाहे वे शस्त्रास्त्र सम्पन्न हों या शस्त्रास्त्र-रहित, भयाक्रान्त हैं, शंकित हैं और त्रस्त हैं। कब, कहाँ युद्ध छिड़ जाएगा और मानवहत्या का खतरा पैदा हो जाएगा, कहा नहीं जा सकता। ऐसी दशा में समस्त मनुष्यों को ही नहीं, सारे प्राणियों को भी अभयदान की जरूरत है। हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराए हुए अणुबमों ने जो तबाही मचाई है, उससे तो छोटे-बड़े सभी देशों को

अभयदान की आवश्यकता महसूस होने लगी है। क्योंकि सभी राष्ट्रों को भय है कि अणुयुद्ध छिड़ जाने पर लाखों मनुष्य एवं पशु जान से मारे जाएँगे और जो बाकी बचेंगे, वे भी अंगविकल और मरणासन्न होकर जीएँगे।

अभयदान का महत्त्व

आहारदान, औषधदान और ज्ञानदान की अपेक्षा अभयदान का मूल्य अधिक है। आहारदान (अन्नदान) से मनुष्य की क्षणिक तृप्ति हो सकती है, औषधदान से एक बार रोग मिट सकता है और ज्ञानदान से व्यक्ति का जीवन अच्छा बन सकता है, किन्तु ये सब दे देने पर भी मनुष्य के सामने प्राणों का संकट आ पड़ा हो तो उस समय वह इन्हें छोड़कर प्राणों को चाहेगा, वह चाहेगा कि ये चाहे न मिलें, परन्तु प्राण मिल जाँय, वे बच जांय। इसीलिए महाभारत में कहा है—

—"भूमिदान, स्वर्णदान, गोदान या अन्नदान आदि उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितना अभयदान को समस्त दानों में महत्त्वपूर्ण दान कहा जाता है।[1]

—'सचमुच इस दुनिया में जमीन, सोना, अन्न और गायों का दान देने वाले तो आसानी से मिल सकते है, लेकिन भयभीत प्राणियों की प्राणरक्षा करके उन्हें अभयदान देने वाले व्यक्ति विरले ही मिलते हैं।'[2]

—'दूसरे दानों से मनुष्य या प्राणी अस्थायी सन्तोष पा जाता है, या कुछ देर के लिए उसका लाभ उठा सकता है, परन्तु अभयदान तो जिंदगी का दान है।[3]

बड़े-बड़े दानों का फल समय बीतने पर क्षीण हो जाता है, लेकिन भयभीत प्राणियों को अभयदान का फल कभी क्षीण नहीं होता। वह तो सारी जिंदगी भर चलता है। और सब दानों को मनुष्य या प्राणी भूल जाते हैं, लेकिन अभयदान को नहीं भूलते। अन्न, भूमि, स्वर्ण, गाय, या विद्या आदि दान तो सिर्फ मनुष्य के ही काम आते हैं, मगर अभयदान तो मनुष्य ही नहीं, संसार के सभी प्राणियों के काम आता है। हीरा, मोती, भूमि या सोना अगर सिंह, सर्प आदि प्राणी को दें तो उसके वे किस काम के? ये सब चीजें, यहाँ तक कि अन्न भी और कीमती दवाइयाँ भी उसके लिए बेकार हैं। सिंह आदि क्रूर प्राणियों के प्राण संकट में हों, उन्हें प्राणों का भय हो, उस समय प्राणरक्षा करके अभयदान को वे समझते हैं, वे उसे भूलते नहीं हैं

१. न भूप्रदानं, न सुवर्णदानं, न गोप्रदानं, न तथान्नदानम्।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्॥

२. मार्कण्डेयपुराण में स्पष्ट कहा है—
हेमधेनु धरादीनां दातारः सुलभा भुवि।
दुर्लभः पुरुषो लोके यः प्राणिष्वभयप्रदः॥

३. महतामपि दानानां कालेन क्षीयते फलम्।
भीताभय-प्रदानस्य क्षय एव न विद्यते॥—धर्मरत्न ५३

और अपने उपकारी के वश में होकर प्रत्युपकार करने को तैयार हो जाते हैं। इसीलिए सूत्र कृतांगसूत्र में कहा है—

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'

—'सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है।'

महाभारत का एक सुनहरा पृष्ठ है। एक बार द्वारिका नगरी के एक मुहल्ले में एक सांप निकला। सांप को देखते ही लोग इकट्ठे हो गए। कुछ लोग दूर खड़े-खड़े सांप पर ढेला मारने लगे। सांप बहुत ही भयभीत हो रहा था। इतने में एक विश्वबन्धु एवं अभयदानी वीर वहाँ आ गया। उसने जब लोगों की यह हरकत देखी तो उन्हें ऐसा करने से रोका। इस पर कुछ लोग क्रुद्ध होकर बोले—'ऐसे दयालु हो तो ले जाओ इसे अपने घर, सेवा करो इसकी।" लोगों के गुस्से पर ध्यान न देकर दयालु अभयदानी ने अपना अंचल पसारा और उस पर धीरे से सांप को ले लिया। सर्प भी अपने उपकारी-अपकारी को पहिचान लेता है। जब उसने देखा कि यह मुझे जरा भी दुःख नहीं देगा, उसने दयालु को जरा भी नहीं काटा। सर्प को अंचल में लेकर दयालु उसे एक बाड़ में छोड़ आया। जब वह वापिस अपने घर की ओर लौट रहा था तो उसे एक धनाढ्य ने कहा—"भाई! इस सर्प के बचाने का जो पुण्य हो उसे मुझे दे दो, और उसके बदले में तुम जितना धन चाहो, दे दूँगा।" वह वीर दयालु प्रामाणिक था। उसे कम-ज्यादा देना-लेना पसंद न था। अतः उसने कहा—हम दोनों ही इस बारे में अनभिज्ञ हैं, इसलिए दोनों यह सौदा नहीं कर सकते। किसी एक विशिष्ट अनुभवी एवं निष्पक्ष पुरुष के पास चलें वही इस विषय में निर्णय दे सकता है।" वे दोनों धर्मराज युधिष्ठिर के पास गये और उनसे निर्णय मांगा। उन्होंने निर्णय देने में अपनी असमर्थता बताई। तदनन्तर वे श्री कृष्ण जी के पास आए। उनसे भी यही प्रश्न पूछा तो श्री कृष्ण ने कहा—धन और धर्म दोनों भिन्न वस्तु हैं। धर्म अन्तर की वस्तु है, धन बाहर की, दोनों में तुलना कैसे हो सकती है? फिर भी धनाढ्य ने अपना आग्रह जारी रखा कि किसी तरह आप मूल्यांकन कर दीजिए। निरुपाय होकर श्री कृष्ण ने कहा—

"युधिष्ठिर! अगर कोई सोने का बना मेरुपर्वत किसी को दे दे, अथवा सारी पृथ्वी दे दे और दूसरा एक ही प्राणी को जीवन दान दे तो भी ये अभयदान के बराबर नहीं हो सकते। अथवा हे युधिष्ठिर! कोई व्यक्ति ब्राह्मणों को हजारों गायें दान देता है, वह भी उसकी समता नहीं कर सकता, जो एक प्राणी को जीवन देता है।"[१]

---

१. यो दद्यात् कांचनं मेरुं, कृत्स्नां चैव वसुन्धराम्।
एकस्य जीवितं दद्यात्, न च तुल्यं युधिष्ठिर!
कपिलानां सहस्राणि, यो विप्रेभ्यः प्रयच्छति।
एकस्य जीवितं दद्यात्, न च तुल्यं युधिष्ठिर!

सचमुच प्राण या जीवन के दान की तुलना किसी भी नाशवान पदार्थ या संसार की दृष्टि में बहुमूल्य समझे जाने वाले पदार्थ से नहीं हो सकती।

धर्मरत्न ग्रन्थ में अभयदान का माहात्म्य बताते हुए कहा है—

—'अन्य वस्तुओं का दिया हुआ दान, की हुई तपस्या, तीर्थ-सेवा, शास्त्रश्रवण, ये सब अभयदान की सोलहवीं कला को प्राप्त नहीं कर सकते। एक ओर सारे यज्ञ हों और सारी श्रेष्ठ दक्षिणा हो तथा एक ओर किसी भयभीत प्राणी के प्राणों की रक्षा हो, तो भी वे इसकी बराबरी नहीं कर सकते। सभी वेद, सभी यज्ञ और समस्त तीर्थाभिषेक जो कार्य नहीं कर सकते, वह कार्य प्राणियों की दया कर सकती है। भयभीत प्राणियों को जो अभयदान दिया जाता है, उससे बढ़कर अन्य कोई धर्म इस भूमण्डल में नहीं है।[1]

निष्कर्ष यह है कि इन सब पदार्थों की अपेक्षा संसार में प्राणी को अभयदान देना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसे भलीभांति समझाने के लिए हम एक जैन ग्रन्थों का उदाहरण दे रहे हैं—

एक राजा था। उसने किसी चोर के लिए चोरी और हत्या के अपराध में मृत्यु दण्ड देने का आदेश दे दिया। आदेश के अनुसार जब उसे शूली पर चढ़ाने के लिए ले जाया जा रहा था, तब राज्य की परम्परा के अनुसार वध्य पुरुष के गले में दो मालाएँ डाली गई और उसे गधे पर बिठाकर फूटा ढोल बजाते हुए सारे नगर में घुमाया गया। फूटे ढोल को बजाकर ढिंढोरा पीटने वाला चोर के बुरे कामों और उसके फलस्वरूप मृत्युदण्ड की उद्घोषणा जोर-जोर से चिल्लाकर कर रहा था। उसे सुनकर उस चोर को देखने के लिए लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती और साथ-साथ चलती, जिससे एक जुलूस-सा बन गया था। जब यह जुलूस राजमहल के पास से गुजरने लगा तो रानियों ने भी अपने पहरेदारों से बड़ी उत्सुकतापूर्वक इस जुलूस के नायक—वध्यपुरुष—के बारे में सुना। सुनते ही पटरानी को उस पुरुष के प्रति बहुत दया आई। उसने राजा से प्रार्थना की—"प्राणनाथ! एक दिन के लिए

---

१ दत्तमिष्टं तपस्तप्तं तीर्थसेवा तथा श्रुतम्।
सर्वाण्यभयदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥५४॥
एकतः क्रतवः सर्वे, समग्रवरदक्षिणाः।
एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम्॥५५॥
सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञा यथोदिताः।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यत्कुर्यात् प्राणिनां दया॥५६॥
नहि भूयस्तमो धर्मस्तस्मादन्योऽस्ति भूतले।
प्राणिनां भयभीतानामभयं यत्प्रदीयते॥५१॥

और अपने उपकारी के वश में होकर प्रत्युपकार करने को तैयार हो जाते हैं। इसीलिए सूत्र कृतांगसूत्रमें कहा है—

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'

—'सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है।'

महाभारत का एक सुनहरा पृष्ठ है। एक बार द्वारिका नगरी के एक मुहल्ले में एक सांप निकला। सांप को देखते ही लोग इकट्ठे हो गए। कुछ लोग दूर खड़े-खड़े सांप पर ढेला मारने लगे। सांप बहुत ही भयभीत हो रहा था। इतने में एक विश्वबन्धु एवं अभयदानी वीर वहाँ आ गया। उसने जब लोगों की यह हरकत देखी तो उन्हें ऐसा करने से रोका। इस पर कुछ लोग क्रुद्ध होकर बोले—'ऐसे दयालु हो तो ले जाओ इसे अपने घर, सेवा करो इसकी।" लोगों के गुस्से पर ध्यान न देकर दयालु अभयदानी ने अपना अंचल पसारा और उस पर धीरे से सांप को ले लिया। सर्प भी अपने उपकारी-अपकारी को पहिचान लेता है। जब उसने देखा कि यह मुझे जरा भी दुःख नहीं देगा, उसने दयालु को जरा भी नहीं काटा। सर्प को अंचल में लेकर दयालु उसे एक बाड़े में छोड़ आया। जब वह वापिस अपने घर की ओर लौट रहा था तो उसे एक धनाढ्य ने कहा—"भाई ! इस सर्प के बचाने का जो पुण्य हो उसे मुझे दे दो, और उसके बदले में तुम जितना धन चाहो, दे दूंगा।" वह वीर दयालु प्रामाणिक था। उसे कम-ज्यादा देना-लेना पसंद न था। अतः उसने कहा—हम दोनों ही इस बारे में अनभिज्ञ हैं, इसलिए दोनों यह सौदा नहीं कर सकते। किसी एक विशिष्ट अनुभवी एव निष्पक्ष पुरुष के पास चले वही इस विषय में निर्णय दे सकता है।" वे दोनों धर्मराज युधिष्ठिर के पास गये और उनसे निर्णय मांगा। उन्होंने निर्णय देने मे अपनी असमर्थता बताई। तदनन्तर वे श्री कृष्ण जी के पास आए। उनसे भी यही प्रश्न पूछा तो श्री कृष्ण ने कहा—धन और धर्म दोनों भिन्न वस्तु हैं। धर्म अन्तर की वस्तु है, धन बाहर की, दोनों में तुलना कैसे हो सकती है ? फिर भी धनाढ्य ने अपना आग्रह जारी रखा कि किसी तरह आप मूल्यांकन कर दीजिए। निरुपाय होकर श्री कृष्ण ने कहा—

"युधिष्ठिर ! अगर कोई सोने का बना मेरुपर्वत किसी को दे दे, अथवा सारी पृथ्वी दे दे और दूसरा एक ही प्राणी को जीवन दान दे तो भी ये अभयदान के बराबर नहीं हो सकते। अथवा हे युधिष्ठिर ! कोई व्यक्ति ब्राह्मणों को हजारों गाये दान देता है, वह भी उसकी समता नहीं कर सकता, जो एक प्राणी को जीवन देता है।"[1]

---

१. यो दद्यात् कांचनं मेरुं, कृत्स्नां चैव वसुन्धराम्।
एकस्य जीवितं दद्यात्, न च तुल्यं युधिष्ठिर !
कपिलानां सहस्राणि, यो विप्रेभ्यः प्रयच्छति।
एकस्य जीवितं दद्यात्, न च तुल्यं युधिष्ठिर !

सचमुच प्राण या जीवन के दान की तुलना किसी भी नाशवान पदार्थ या संसार की दृष्टि में बहुमूल्य समझे जाने वाले पदार्थ से नहीं हो सकती।

धर्मरत्न ग्रन्थ में अभयदान का माहात्म्य बताते हुए कहा है—

—'अन्य वस्तुओं का दिया हुआ दान, की हुई तपस्या, तीर्थ-सेवा, शास्त्रश्रवण, ये सब अभयदान की सोलहवीं कला को प्राप्त नहीं कर सकते। एक ओर सारे यज्ञ हों और सारी श्रेष्ठ दक्षिणा हो तथा एक ओर किसी भयभीत प्राणी के प्राणों की रक्षा हो, तो भी वे इसकी बराबरी नहीं कर सकते। सभी वेद, सभी यज्ञ और समस्त तीर्थाभिषेक जो कार्य नहीं कर सकते, वह कार्य प्राणियों की दया कर सकती है। भयभीत प्राणियों को जो अभयदान दिया जाता है, उससे बढ़कर अन्य कोई धर्म इस भूमण्डल में नहीं है।[1]

निष्कर्ष यह है कि इन सब पदार्थों की अपेक्षा संसार में प्राणी को अभयदान देना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसे भलीभाँति समझने के लिए हम एक जैन ग्रन्थों का उदाहरण दे रहे हैं—

एक राजा था। उसने किसी चोर के लिए चोरी और हत्या के अपराध में मृत्यु दण्ड देने का आदेश दे दिया। आदेश के अनुसार जब उसे सूली पर चढ़ाने के लिए ले जाया जा रहा था, तब राज्य की परम्परा के अनुसार वध्य पुरुष के गले में दो मालाएँ डाली गई और उसे गधे पर बिठाकर फूटा ढोल बजाते हुए सारे नगर में घुमाया गया। फूटे ढोल को बजाकर ढिंढोरा पीटने वाला चोर के बुरे कामों और उसके फलस्वरूप मृत्युदण्ड की उद्घोषणा जोर-जोर से चिल्लाकर कर रहा था। उसे सुनकर उस चोर को देखने के लिए लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती और साथ-साथ चलती, जिससे एक जुलूस-सा बन गया था। जब यह जुलूस राजमहल के पास से गुजरने लगा तो रानियों ने भी अपने पहरेदारों से बड़ी उत्सुकतापूर्वक इस जुलूस के नायक—वध्यपुरुष—के बारे में सुना। सुनते ही पटरानी को उस पुरुष के प्रति बहुत दया आई। उसने राजा से प्रार्थना की—"प्राणनाथ! एक दिन के लिए

---

1 दत्तमिष्टं तपस्तप्तं तीर्थसेवा तथा श्रुतम्।
सर्वाण्यभयदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥५४॥
एकतः क्रतवः सर्वे, समग्रवरदक्षिणाः।
एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥५५॥
सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञा यथोदिताः।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यत्कुर्यात् प्राणिनां दया ॥५६॥
नहि भूयस्तमो धर्मस्तस्मादन्योऽस्ति भूतले।
प्राणिनां भयभीतानामभयं यत्प्रदीयते ॥५१॥

और अपने उपकारी के वश में होकर प्रत्युपकार करने को तैयार हो जाते हैं। इसीलिए सूत्र कृतांगसूत्रमें कहा है—

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'

—'सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है।'

महाभारत का एक सुनहरा पृष्ठ है। एक बार द्वारिका नगरी के एक मुहल्ले में एक सांप निकला। सांप को देखते ही लोग इकट्ठे हो गए। कुछ लोग दूर खड़े-खड़े सांप पर ढेला मारने लगे। सांप बहुत ही भयभीत हो रहा था। इतने में एक विश्वबन्धु एवं अभयदानी वीर वहाँ आ गया। उसने जब लोगों की यह हरकत देखी तो उन्हें ऐसा करने से रोका। इस पर कुछ लोग क्रुद्ध होकर बोले—'ऐसे दयालु हो तो ले जाओ इसे अपने घर, सेवा करो इसकी।" लोगों के गुस्से पर ध्यान न देकर दयालु अभयदानी ने अपना अंचल पसारा और उस पर धीरे से सांप को ले लिया। सर्प भी अपने उपकारी-अपकारी को पहिचान लेता है। जब उसने देखा कि यह मुझे जरा भी दुःख नहीं देगा, उसने दयालु को जरा भी नहीं काटा। सर्प को अंचल में लेकर दयालु उसे एक बाड़े में छोड़ आया। जब वह वापिस अपने घर की ओर लौट रहा था तो उसे एक धनाढ्य ने कहा—"भाई ! इस सर्प के बचाने का जो पुण्य हो उसे मुझे दे दो, और उसके बदले में तुम जितना धन चाहो, दे दूंगा।" वह वीर दयालु प्रामाणिक था। उसे कम-ज्यादा देना-लेना पसंद न था। अतः उसने कहा—हम दोनों ही इस बारे में अनभिज्ञ हैं, इसलिए दोनों यह सौदा नहीं कर सकते। किसी एक विशिष्ट अनुभवी एवं निष्पक्ष पुरुष के पास चलें वही इस विषय में निर्णय दे सकता है।" वे दोनों धर्मराज युधिष्ठिर के पास गये और उनसे निर्णय मांगा। उन्होंने निर्णय देने में अपनी असमर्थता बताई। तदनन्तर वे श्री कृष्ण जी के पास आए। उनसे भी यही प्रश्न पूछा तो श्री कृष्ण ने कहा—धन और धर्म दोनों भिन्न वस्तु हैं। धर्म अन्तर की वस्तु है, धन बाहर की, दोनों में तुलना कैसे हो सकती है ? फिर भी धनाढ्य ने अपना आग्रह जारी रखा कि किसी तरह आप मूल्यांकन कर दीजिए। निरुपाय होकर श्री कृष्ण ने कहा—

"युधिष्ठिर ! अगर कोई सोने का बना मेरुपर्वत किसी को दे दे, अथवा सारी पृथ्वी दे दे और दूसरा एक ही प्राणी को जीवन दान दे तो भी ये अभयदान के बराबर नहीं हो सकते। अथवा हे युधिष्ठिर ! कोई व्यक्ति ब्राह्मणों को हजारों गायें दान देता है, वह भी उसकी समता नहीं कर सकता, जो एक प्राणी को जीवन देता है।"[1]

---

१. यो दद्यात् कांचनं मेरुं, कृत्स्नां चैव वसुन्धराम्।
एकस्य जीवितं दद्यात्, न च तुल्यं युधिष्ठिर !
कपिलानां सहस्राणि, यो विप्रेभ्यः प्रयच्छति।
एकस्य जीवितं दद्यात्, न च तुल्यं युधिष्ठिर !

सचमुच प्राण या जीवन के दान की तुलना किसी भी नाशवान पदार्थ या संसार की दृष्टि में बहुमूल्य समझे जाने वाले पदार्थ से नहीं हो सकती।

धर्मरत्न ग्रन्थ मे अभयदान का माहात्म्य बताते हुए कहा है—

—'अन्य वस्तुओं का दिया हुआ दान, की हुई तपस्या, तीर्थ-सेवा, शास्त्रश्रवण, ये सब अभयदान की सोलहवीं कला को प्राप्त नही कर सकते। एक ओर सारे यज्ञ हों और सारी श्रेष्ठ दक्षिणा हो तथा एक ओर किसी भयभीत प्राणी के प्राणों की रक्षा हो, तो भी वे इसकी बराबरी नही कर सकते। सभी वेद, सभी यज्ञ और समस्त तीर्थाभिषेक जो कार्य नही कर सकते, वह कार्य प्राणियो की दया कर सकती है। भयभीत प्राणियों को जो अभयदान दिया जाता है, उससे बढ़कर अन्य कोई धर्म इस भूमण्डल मे नहीं है।[1]

निष्कर्ष यह है कि इन सब पदार्थों की अपेक्षा संसार मे प्राणी को अभयदान देना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसे भलीभांति समझने के लिए हम एक जैन ग्रन्थों का उदाहरण दे रहे हैं—

एक राजा था। उसने किसी चोर के लिए चोरी और हत्या के अपराध में मृत्यु दण्ड देने का आदेश दे दिया। आदेश के अनुसार जब उसे शूली पर चढ़ाने के लिए ले जाया जा रहा था, तब राज्य की परम्परा के अनुसार वध्य पुरुष के गले में दो मालाएँ डाली गई और उसे गधे पर बिठाकर फूटा ढोल बजाते हुए सारे नगर में घुमाया गया। फूटे ढोल को बजाकर ढिंढोरा पीटने वाला चोर के बुरे कामों और उसके फलस्वरूप मृत्युदण्ड की उद्घोषणा जोर-जोर से चिल्लाकर कर रहा था। उसे सुनकर इस चोर को देखने के लिए लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती और साथ-साथ चलती, जिससे एक जुलूस-सा बन गया था। जब यह जुलूस राजमहल के पास से गुजरने लगा तो रानियों ने भी अपने पहरेदारों से बड़ी उत्सुकतापूर्वक इस जुलूस के नायक—वध्यपुरुष—के बारे में सुना। सुनते ही पटरानी को उस पुरुष के प्रति बहुत दया आई। उसने राजा से प्रार्थना की—"प्राणनाथ ! एक दिन के लिए

---

१ दत्तमिष्टं तपस्तप्तं तीर्थसेवा तथा श्रुतम्।
सर्वाण्यभयदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥५४॥
एकतः क्रतवः सर्वे, समग्रवरदक्षिणाः।
एकतो भयभीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥५५॥
सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञा यथोदिताः।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यत्कुर्यात् प्राणिनां दया ॥५६॥
नहि भूयस्तमो धर्मस्तस्मादन्योऽस्ति भूतले।
प्राणिनां भयभीतानामभयं यत्प्रदीयते ॥५१॥

और अपने उपकारी के वश में होकर प्रत्युपकार करने को तैयार हो जाते हैं। इसीलिए सूत्र कृतांगसूत्रमें कहा है—

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'

—'सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है।'

महाभारत का एक सुनहरा पृष्ठ है। एक बार द्वारिका नगरी के एक मुहल्ले में एक सांप निकला। सांप को देखते ही लोग इकट्ठे हो गए। कुछ लोग दूर खड़े-खड़े सांप पर ढेला मारने लगे। सांप बहुत ही भयभीत हो रहा था। इतने में एक विश्वबन्धु एवं अभयदानी वीर वहाँ आ गया। उसने जब लोगों की यह हरकत देखी, तो उन्हें ऐसा करने से रोका। इस पर कुछ लोग क्रुद्ध होकर बोले—"ऐसे दयालु हो तो ले जाओ इसे अपने घर, सेवा करो इसकी।" लोगों के गुस्से पर ध्यान न देकर दयालु अभयदानी ने अपना अंचल पसारा और उस पर धीरे से सांप को ले लिया। सर्प भी अपने उपकारी-अपकारी को पहिचान लेता है। जब उसने देखा कि यह मुझे जरा भी दुःख नहीं देगा, उसने दयालु को जरा भी नहीं काटा। सर्प को अंचल में लेकर दयालु उसे एक बाड़े में छोड़ आया। जब वह वापिस अपने घर की ओर लौट रहा था तो उसे एक धनाढ्य ने कहा—"भाई ! इस सर्प के बचाने का जो पुण्य हो उसे मुझे दे दो, और उसके बदले में तुम जितना धन चाहो, दे दूंगा।" वह वीर दयालु प्रामाणिक था। उसे कम-ज्यादा देना-लेना पसंद न था। अतः उसने कहा—हम दोनों ही इस बारे में अनभिज्ञ हैं, इसलिए दोनों यह सौदा नहीं कर सकते। किसी एक विशिष्ट अनुभवी एवं निष्पक्ष पुरुष के पास चलें वही इस विषय में निर्णय दे सकता है।" वे दोनों धर्मराज युधिष्ठिर के पास गये और उनसे निर्णय मांगा। उन्होंने निर्णय देने में अपनी असमर्थता बताई। तदनन्तर वे श्री कृष्ण जी के पास आए। उनसे भी यही प्रश्न पूछा तो श्री कृष्ण ने कहा—धन और धर्म दोनों भिन्न वस्तु हैं। धर्म अन्तर की वस्तु है, धन बाहर की, दोनों में तुलना कैसे हो सकती है ? फिर भी धनाढ्य ने अपना आग्रह जारी रखा कि किसी तरह आप मूल्यांकन कर दीजिए। निरुपाय होकर श्री कृष्ण ने कहा—

"युधिष्ठिर ! अगर कोई सोने का बना मेरुपर्वत किसी को दे दे, अथवा सारी पृथ्वी दे दे और दूसरा एक ही प्राणी को जीवन दान दे तो भी ये अभयदान के बराबर नहीं हो सकते। अथवा हे युधिष्ठिर ! कोई व्यक्ति ब्राह्मणों को हजारों गायें दान देता है, वह भी उसकी समता नहीं कर सकता, जो एक प्राणी को जीवन देता है।"[१]

---

१. यो दद्यात् कांचनं मेरुं, कृत्स्नां चैव वसुन्धराम्।
   एकस्य जीवितं दद्यात्, न च तुल्यं युधिष्ठिर !
   कपिलानां सहस्राणि, यो विप्रेभ्यः प्रयच्छति।
   एकस्य जीवितं दद्यात्, न च तुल्यं युधिष्ठिर !

स्वीकार कर ली और उसे वह चोर सौंप दिया गया। रानी उसे लेकर अपने महल में आई। खाना खिला-पिलाकर आश्वस्त हो जाने के बाद रानी ने उससे पूछा—"भाई! अब तुम क्या चाहते हो! मैंने तुम्हारा मृत्युदण्ड माफ करवा दिया है।"

चोर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बोला—"माँ! मुझे आपने जीवनदान दिलाया है। अब मैं और कुछ नहीं चाहता। केवल यही चाहता हूँ कि आज से आप मेरी धर्ममाता रहें और मुझे अपना धर्मपुत्र मान लें।"

रानी बोली—"मुझे स्वीकार है, बेटा! मगर यह तो बताओ कि जब तुम्हें मृत्यु का इतना भय है, तो तुम बड़ी मेहनत से कमाई हुई और प्राणों से भी अधिक सहेज कर रखी हुई दूसरों की सम्पत्ति को क्यों चुराते हो? दूसरे के प्राणों का घात क्यों करते हो? जैसे तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही उन्हें भी अपने प्राण व धन प्रिय है। अब जब तुमने मुझे धर्ममाता माना है और मैं तुम्हें अपना धर्मपुत्र मानती हूँ, तो मेरे पुत्र बनने के नाते माता की बात मानना तुम्हारा भी कर्तव्य है। इस दृष्टि से तुम आज से यह प्रतिज्ञा करो कि मैं किसी की हत्या नहीं करूंगा और न चोरी या लूटपाट ही करूंगा।" उक्त चोर ने रानी के चरण छूकर इन दोनों बातों की प्रतिज्ञा ले ली।

अगले दिन राजा ने उस चोर को बुलाकर पूछा—"यह बताओ कि चारों रानियों में से किसने तुम्हारी सबसे अधिक सेवा की है?" चोर बोला—"महाराज! यद्यपि तीनों रानियों ने नाटक-नृत्य-संगीत आदि के आयोजन द्वारा मेरा मनोरंजन करने, मुझे मनचाहे स्वादिष्ट भोजन खिलाने और सुन्दर कपड़े पहनाने में कोई कसर नहीं रखी। परन्तु कहना होगा कि मुझे उनमें रत्तीभर भी आनन्द का अनुभव नहीं हुआ, क्योंकि मेरे सिर पर तो मौत का वारण्ट जारी था। मौत की तलवार जिसके सिर पर लटक रही हो, उसे इस राग-रंग या खान-पान में कैसे आनन्द आता? यही कारण है कि जब से चौथी रानीमाता की कृपा से मेरी मृत्यु का खतरा टला और सदा के लिए मुझे अभयदान मिला, तब से मुझे अपूर्व शान्ति प्राप्त हुई है।[1] यद्यपि इस रानीमाता के यहाँ रागरंग, भड़कीली पोशाक या स्वादिष्ट पकवान नहीं थे। परन्तु मुझे इस माता के द्वारा खिलाये हुए भोजन में अमृत-का-सा स्वाद आया। मेरी जन्मदात्री माता ने तो इस शरीर को जन्म दिया, लेकिन मेरी इस धर्ममाता ने तो जन्म-जन्मान्तर के पापमल को धो डालने वाले शुद्ध धर्माचरण का पान करा कर मुझे कृतकृत्य कर दिया। मैं इस रानीमाता की सेवा से अत्यधिक प्रसन्न हूँ। अधिक क्या कहूँ, मैं इस माता के उपकार का बदला नहीं चुका सकता।"

---

१ दीयते म्रियमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा।
धनकोटिं न गृण्हीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति ॥

इस चोर का मृत्युदण्ड स्थगित रखकर मुझे सौंपा जाय, ताकि मृत्यु से पूर्व इसकी भक्ति कर लूं और इसे मनचाहा खिला-पिलाकर प्रसन्न कर दूं।

राजा ने पटरानी के अत्यन्त आग्रह को मान लिया और एक दिन के लिए उस चोर का मृत्युदण्ड स्थगित करके उसे पटरानी को सौंप दिया। पटरानी ने उसे अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन कराया, बढ़िया से बढ़िया कपड़े पहनाए और नर्तक-नर्तकियों से नृत्य, गीत और उत्सव करवा कर उसका मनोरंजन कराया। एक दिन पूरा होते ही दूसरे दिन राजा की दूसरी रानी ने और तीसरे दिन तीसरी रानी ने इसी प्रकार के आग्रहपूर्वक चोर को मांगा। राजा ने उन्हें भी एक-एक दिन के लिए चोर को मुक्त करने का अवसर दिया। दोनों रानियों ने भी चोर को क्रमशः एक-एक दिन अपने महल मे रखा और पटरानी से भी बढ़-चढ़ कर उस चोर को सुविधाएँ दीं। उसे मनचाहे भोजन कराए, मनचाही वस्तु दी और उसके मन बहलाने के लिए नृत्य, संगीत आदि का आयोजन कराया। यानी उस चोर का मनोरंजन करने में दोनों रानियों ने कोई कोरकसर नहीं रखी।

राजा की चौथी रानी धर्मपरायणा थी। वह इन सबसे बढ़कर धर्माराधना करती थी। किन्तु राजा उससे सदा अप्रसन्न रहा करता था। कभी-कभी तो अपनी मानीती रानियों के बहकावे में आकर उसका अपमान भी कर बैठता था। यह रानी सोचा करती थी—'यह मेरे ही किन्हीं पूर्वकर्मों का फल है। पूर्वजन्मों में शायद मैंने किसी का वियोग कराया होगा। हो न हो, यह उसी का फल, मालूम होता है। अब जब मुझे ऐसी परिस्थिति अनायास ही मिली है तो इससे लाभ उठाकर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा आदि धर्म के अंगों का पालन क्यों न कर लूं।" यह सोच कर वह रानी दान, शील, तप और पवित्र उच्चभावों में लीन रहा करती थी; और धर्मकार्य के किसी भी मौके को हाथ से नहीं जाने देती थी। जब उसने यह जाना कि मेरी सौतों ने इस मृत्युदण्ड योग्य चोर को एक-एक दिन अपने पास रखकर अपने मनोभाव के अनुसार इसकी शुश्रूषा की है तो राजा से प्रार्थना करने पर शायद मुझे भी इसकी शुश्रूषा करने का अवसर मिल जाए। अगर मुझे भी यह एक दिन के लिए सौंप दिया जाय तो मैं इसके साथ सहानुभूति रख कर इसे मृत्युभय से मुक्त कराने का प्रयत्न करूं और इसे निर्भय बनाकर दूसरों के लिए अभयदाता और अहिंसक बना दूं।"

ऐसा सोचकर वह रानी भी राजा के पास प्रार्थना करने पहुँची। राजा ने इस अमानीती रानी को अपने सामने खड़ी देखकर सोचा—"शायद यह भी तीनों रानियों की तरह इस चोर की शुश्रूषा करने के लिए मुझसे प्रार्थना करने आई हो।" अतः राजा ने उससे पूछा—"क्या चाहती हो?" रानी बोली—"हृदयेश्वर! यदि आपकी कृपा हो तो मैं इस चोर को सदा के लिए मुक्त कराना चाहती हूँ। मेरी इच्छा है कि इसे मृत्युदण्ड माफ कर दिया जाय।" राजा वचनबद्ध थे। अतः उन्होंने रानी की बात

जैनशास्त्र में ये सात भय स्थान (कारण) इस प्रकार बताये हैं—

(१) इहलोकभय—इस लोक में अपनी ही जाति के प्राणी से डरना; अर्थात्—मनुष्य का मनुष्य से, नारकी का नारकी से, देव का देव से और तिर्यंच का तिर्यंच से डरना, आशंकित और भयभीत रहना इहलोकभय है।

(२) परलोकभय—दूसरी जाति वाले से डरना, यानी मनुष्य का देव या तिर्यंच से, तिर्यंच का मनुष्य या देव से, देव का तिर्यंच या मनुष्य से भयभीत होना परलोकभय है।

(३) आदान (अत्राण) भय—धन, शरीर आदि की सुरक्षा को अपहरण का या चोर का खतरा आशंकित रहना।

(४) अकस्मात्भय—बिना किसी बाह्य कारण के अकस्मात् (दुर्घटना) की शंका से डरना। वेदनाभय भी इसका नाम है। जिसका अर्थ है—किसी पीड़ा से डरना।

(५) आजीविकाभय—अपनी आजीविका छूट जाने से डरना।

(६) अपयशभय—अपनी अपकीर्ति (बदनामी) हो जाने की शंका से डरना।

(७) मरणभय—मृत्यु का या किसी के द्वारा पिटाई या मारपीट की आशंका से डरना।

वर्तमान में मानव समाज या समस्त प्राणियों को सात भयों से मुक्त करना व्यापक अभयदान है।

अतः अभयदान की सीधी-सादी व्याख्या है। 'सब प्रकार के खतरों में प्राणी का बचाव करना, सान्त्वना देना, आफतों एवं विपदाओं के निवारण में सहायक बनना, आश्वासन देना, प्राणदान या जीवनदान देकर प्राण जाने के खतरे से बचाना, सुरक्षा के लिए शरण में आए हुए प्राणी की रक्षा करना, जिससे प्राणी को खतरा पैदा हो, उस कुप्रथा को बन्द करवाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करना अभयदान है। वसुनन्दी श्रावकाचार में अभयदान का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

'जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरणभयभीरुजीवाणं।
तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं॥'

अर्थात्—मरण से भयभीत जीवों का जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, उसे सब दानों का शिरोमणिरूप अभयदान समझना चाहिए।

उपर्युक्त लक्षण में मरण के भय को मुख्यता दी गई है, किन्तु अभयदान का दायरा बहुत ही विस्तृत है। जैसे मरणभय सब भयों में मुख्य है, इसलिए इस भय से मुक्त करने को अभयदान का चिह्न समझ लेना चाहिए।

किन्तु 'गच्छाचारपइन्ना' में उक्त अभयदान के लक्षणानुसार अधोलिखित बातें अभयदान के अन्तर्गत आ जाती हैं—

रानी द्वारा चोर के हृदय-परिवर्तन की बात सुनकर राजा अत्यन्त प्रस[न्न] हुआ और उसने सब दानों में बढ़कर अभयदान की महिमा समझी। अपने रा[ज] दरबार में भी उसने सबको अभयदान की महिमा समझाई। इसीलिए आचा[र्य] वट्टकेर ने मूलाचार में अभयदान को सब दानों में उत्तम बताया है—

—"मरणभय से भयभीत समस्त जीवों को जो अभयदान दि[या] जाता है, वही सब दानों में उत्तम है और समस्त आचरणों में वही दान मू[ल] आचरण है।[1]

यद्यपि आहारदान, औषधदान और ज्ञानदान का अपने-अपने स्थान पर मह[त्त्व] है, परन्तु ये तीनों दान हों और अभयदान न हो तो ये तीनों दान बेकार हैं। इ[स] बात को पद्मनन्दी ने पंचविंशतिका में स्पष्ट बताया है—

—"करुणाशील पुरुषों के द्वारा जो सब प्राणियों को अभयदान दिया जा[ता] है, वह अभयदान कहलाता है। उससे रहित पूर्वोक्त तीन प्रकार का दान व्यर्थ हो[ता] है। चूंकि आहार, औषध और शास्त्र के दान की विधि से क्रमशः क्षुधा, रोग औ[र] अज्ञानता का भय नष्ट होता है। इसलिए अभयदान ही एकमात्र श्रेष्ठ है।[2]

तात्पर्य यह है कि अभयदान का अर्थ जब प्राणियों के सब प्रकार के भय दू[र] करना है, तब आहारादि दान भी अभयदान के अन्तर्गत ही आ जाते हैं।

अभयदान का लक्षण

अभयदान का सरल अर्थ होता है—सब प्रकार के भयों से मुक्त करना जैसा कि नन्दाचार पद्मना में उद्धृत एक गाथा में बताया है—

—'स्वभाव से ही सुख के अभिलाषी एवं दुःखों से भयभीत प्राणियों को [जो] अभय दिया जाता है, वह अभयदान कहलाता है।[3]

इस लक्षण के अनुसार अभयदान के लिए सर्वप्रथम सात भयों से प्राणी[यों को] मुक्त करना आवश्यक है।

---

१ मरणभीरुआण अभय जो देदि सव्वजीवाणं।
दाणाणवि त दाणं, पुण जोगेसु मूलजोगं पि ॥८३९॥

२ सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद् दीयते प्राणिनाम्।
दानं स्यादभयादि, तेन रहितं दानत्रय निष्फलम् ॥
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद् भय।
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम् ॥७।११॥

३ यः स्वभावात्सुखैषिभ्यो भूतेभ्योदीयते सदा।
अभय दुःखभीतेभ्योऽभयदानं तदुच्यते ॥श्रा० २ अधिकार

के पशु-पक्षी दबादब आकर इस मंडल में जमा होने लगे। हाथी सबको उदारता से इस मंडल में आश्रय लेने देता था। कुछ ही देर में तो वह सारा सुरक्षित मंडल वन्य जीवों से खचाखच भर गया था। सहसा इस हाथी ने अपने शरीर को खुजलाने के लिए एक पैर ऊँचा उठाया। तभी एक खरगोश आया, जिसे मंडल में कहीं जगह न मिलने से इस हाथी के उठाए हुए, पैर के नीचे दुबककर बैठ गया। ज्यों ही हाथी पैर नीचे रखने लगा, त्यों ही उसके पैर को इस खरगोश का कोमल स्पर्श हुआ। हाथी ने देखा कि एक खरगोश उसके पैर की खाली जगह में बैठा है। अगर वह पैर नीचे रखेगा तो बेचारा यह खरगोश कुचलकर मर जाएगा। मृत्यु के भय से बचने के लिए ही तो बेचारा इस सुरक्षित स्थान में उसकी शरण में आया है। इस हाथी का हृदय करुणा से भर आया। उसने २० पहर तक यानी ढाई दिन तक अपना पैर ऊँचा रहने दिया, नीचे न रखा। तीसरे दिन दावानल शान्त हो गया। पशु-पक्षी सब अपने-अपने मनोनीत स्थलों को रवाना हो गए। मण्डल खाली देखकर यह हाथी ज्यों ही अपना पैर नीचे रखने लगा, त्यों ही धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा, क्योंकि तीन दिन तक पैरों से खड़े रहने के कारण उसके पैरों में खून जम गया था। उसी समय हाथी ने करुणापूर्ण शुभभावों से अपना शरीर छोड़ा और मर कर मनुष्य जन्म में श्रेणिक राजा के यहाँ राजकुमार मेघ के रूप में जन्म लिया।

यह है अभयदान के प्रथम पहलू का ज्वलन्त उदाहरण। इसी अभयदान के फलस्वरूप मेघकुमार की आत्मा पशु योनि से मुक्त होकर एक राजकुमार के रूप में अवतरित हुई।

इसी के अन्तर्गत अभयदान का एक पहलू है—संकट के समय जनता की रक्षा करके भयमुक्त करने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देना।

बर्मा में एक बहुत बड़ा बाँध था। वह नगर के पास ही था। अचानक एक बार बड़ी भारी वर्षा हुई, जिसके कारण उस बंध में छोटा-सा छेद हो गया। छेद में पानी तेजी से निकल रहा था। और ऐसी सम्भावना थी कि अगर छेद चौड़ा हो गया तो वह सारे नगर को ले डूबेगा। अनेकों के प्राण संकट में पड़ जाएँगे। यह दृश्य देखा—वहाँ घूमते हुए 'मांग' नाम के एक लड़के ने। उसने सोचा कि अगर वह नगर तक लोगों को बुलाने जाएगा, तब तक तो यह छेद काफी चौड़ा हो जाएगा। इस विषम परिस्थिति में लड़के को यही उचित लगा कि वह स्वयं ही उस छेद के आगे जम कर बैठ जाए। लड़का वहीं सूराख के पास अपने शरीर को सटा कर बैठ गया। ठंडी हवा एवं पानी में सारा शरीर डूबा रहने के कारण दिनभर में वह मूर्च्छित और मरणासन्न हो गया, फिर भी वह करुणामूर्ति बालक जीवन का मोह त्याग कर वहीं बैठा रहा, उठा नहीं। घर के लोग उसे ढूंढते हुए वहाँ पहुँचे तो लड़के को इस अवस्था में देखकर उसे निकाला और छेद को रोकने का दूसरा प्रबन्ध किया।

सचमुच 'मांग' ने अनेक लोगों के जीवन की रक्षा के लिए अपने प्राणों की

बाजी लगा दी। यह उस बालक के द्वारा बर्मी जनता को अभयदान देने का उज्ज्वल उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त अभयदान का एक पहलू है—अनेकों को प्राण-संकट से मुक्त कराकर अभय का संचार करना। वास्तव में ऐसे अभयदाता बहुत ही कम मिलते हैं। फिर भी यह बहुरत्ना वसुन्धरा है, इसमें ऐसे लोग भी हैं जो प्राणमोह का त्याग करके अनेकों को प्राण-संकट के भय से मुक्त कर देते हैं।

अभयदान का तीसरा पहलू है—मृत्यु से भयभीत प्राणी की रक्षा करना। यह तो स्पष्ट है कि मृत्यु कोई भी प्राणी नहीं चाहता, सभी प्राणी जीना चाहते हैं। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र मे स्पष्ट कहा है—

'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।'

अर्थात्—सभी जीव (सुख से) जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। आचारांग सूत्र में तो अन्तरात्मा की एकता के आधार पर इस बात को साफ-साफ बताया है, 'तू जिसको मारना चाहता है, वह और कोई नहीं, तू ही है। तू ही वह है, जिसे तू सताना चाहता है, तू ही वह है, जिसे गुलाम बनाकर बंधन में जकड़ना चाहता है, तू वही है, जिसे तू भयभीत करना चाहता है।' ये सब अभयदान के प्रेरणामंत्र हैं। अभयदानी दूसरे प्राणी की पीड़ा को अपनी पीड़ा जानता है, दूसरे के दुःख और भय को अपना दुःख और भय समझता है।

राजगृह में महाराज बिम्बसार[१] के महल के विशाल मैदान में यज्ञवेदी लगी हुई थी, जिसके चारों ओर ब्राह्मण जोर-जोर से वेद-मन्त्रों का उच्चारण कर रहे थे। पास में ही ऋत्विज् चमकती हुई छुरी हाथ में लिये खड़ा था। निर्दोष मेंढा थर-थर कांप रहा था। महाराज बिम्बसार दोनों हाथ जोड़े खड़े थे और आहुती की घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्योंही ऋत्विज् का छुरा पकड़ा हुआ दाहिना हाथ ऊँचा उठता है, त्योंही मेंढे के मुँह से चीख निकलती है। इतने में ही तथागत बुद्ध दौड़कर आते हैं और अपनी चादर में मेढे को छिपाते हुए कहते हैं—पुरोहित! ठहर पुरोहित!' सुडौल कान्तिमान शरीर वाले कुमार को देखते ही सब आश्चर्यमग्न होकर स्तब्ध हो जाते हैं। ऋत्विज् के हाथ से छुरा छूट कर नीचे गिर जाता है। कुछ देर बाद राजा बिम्बसार ने रोष भरे स्वर से कहा—'परम्परा से प्रचलित मगधराजकुल की प्रथा के विरुद्ध उंगली उठाने वाले मानव! बता तू कौन है? मगधेश्वर की उपस्थिति में साहस करने वाले नादान से मैं उत्तर चाहता हूँ। कितने प्रयत्नों से निकाले हुए शुभ मुहूर्त में दी जाने वाली आहुती की शुभ घड़ी को टालकर तूने कितना गम्भीर अपराध किया है? इसका कुछ भान है तुझे? इस अपराध की

---

१ ऐसे यज्ञ करके पशुओं की बलि देते थे, तब तक महाराजा बिम्बसार जैन धर्मावलम्बी नहीं थे।

सजा क्या हो सकती है, यह तो तू जानता है न ?' बुद्ध—'जानता हूँ राजन् ! इसका लेखा-जोखा मैंने पहले से कर लिया है। हजारों निर्दोष प्राणियों का उद्धार करने की मेरी हार्दिक पुकार के बदले में आप मेरा मस्तक मांगते हैं न ? अभी उतार देता हूँ, राजन् ! इन बेचारे मूक प्राणियों के अन्तर का आर्तनाद सुनकर तो आकाश में बैठे हुए देवों ने भी मुँह फिरा लिया है। मैं तो एक सामान्य मानव हूँ। इन बेचारे निर्दोष प्राणियों की अपेक्षा मेरा यह छोटा-सा मस्तक कोई कीमती नहीं है।' बिम्बसार—'(उच्च स्वर से) क्या कहा तूने ? क्या इस यज्ञ को देखकर देवों ने भी मुँह फिरा लिया ? जिन्हें प्रसन्न करने के लिए मैंने यह यज्ञ रचा, क्या वे देव भी मेरे इस धर्मकार्य से सन्तुष्ट नहीं हुए ?'

बुद्ध—'नहीं, राजन् ! जरा सोचिये तो सही। इन सब पशुओं का करुण आर्तनाद सुनकर मेरे जैसे साधारण मनुष्य भी कांप उठते हैं तो दयासागर देव कैसे प्रसन्न हो सकते हैं ?'

बिम्बसार—'तो क्या यह धर्मकार्य नहीं है। अनेक वर्षों पुरानी यह प्रथा क्या निष्फल है ?'

बुद्ध—'आपकी यह प्रथा अत्यन्त निष्फल, निकम्मी और हानिकारक भी सिद्ध हुई है।'

बिम्बसार—'कैसे ?'

बुद्ध—'राजन् ! इतना तो आप जानते हैं न ? जैसी आत्मा आपके अन्दर विराजमान है, वैसी ही मेरे अन्दर है, और वैसी ही आत्मा इस मेमने में है। मानव-मात्र में ही नहीं, दूर-सुदूर धरती पर बसने वाले सभी प्राणियों में वह आत्मा व्याप्त है। इस निर्दोष मेमने को मारने से आपकी आत्मा का भी तो हनन होगा। जो बात मैं कह रहा हूँ, उसे निर्दोष मेमने भी पुकारता है। जिह्वा से नहीं, नेत्रों से उठती हुई इसकी पुकार आपने कभी सुनी है, राजन् !'

बिम्बसार—(खड़े होकर कुमार को नमन करते हुए) 'इतनी छोटी-सी उम्र में प्राणिमात्र में विराजमान आत्मा के नवदर्शन कराने वाले आप जैसे सन्त के चरणों में अपना मस्तक झुकाता हूँ और आपको गुरुपद पर स्थापित करता हूँ, देव ! आज से मैं अपनी ऋद्धिसिद्धि आपके चरणों में अर्पित करता हूँ। आज से आप मगध के राजकुल के गुरु बने हैं। आज आपने जैसे मेरा जीवनपथ आलोकित किया है; वैसे मगध की प्रजा को भी आपके उपदेश का लाभ देने की कृपा कीजिए।'

बुद्ध—'अभी तो मैं सत्य की खोज में निकला हुआ एक सामान्य पथिक हूँ। यदि राजकुल में मुझे पड़े रहना होता तो मैं कपिलवस्तु की राजगद्दी क्यों छोड़ता ?'

बिम्बसार—(आश्चर्य से) हैं ! तो क्या आप स्वयं कपिलवस्तु के राज्य के उत्तराधिकारी थे ? क्या शाक्यकुल के भावी राजकुमार आप स्वयं ही हैं ?'

बुद्ध—'था·······एक दिन। पर आज तो परपीड़ा को मिटाते हुए मैं अपने अन्तर की पीड़ा का निवारण करने हेतु किसी सत्य की खोज में निकला हुआ एक सामान्य मनुष्य हूँ। ऐसी कोई शक्ति प्राप्त करके सत्य के दर्शन पाऊँगा, तब एक दिन अवश्य मैं आपके यहाँ आऊँगा। सभी में बसी हुई इस विराट् आत्मा के दर्शन पाऊँगा तो मैं सबको कराऊँगा। आज तो मैं जा रहा हूँ, राजन्! अहिंसा धर्म को भूलना मत।'

बिम्बसार—'अच्छा तो देव! जायेंगे। यह लीजिए आज से ही आपके सामने यह घोर हिंसक यज्ञ बन्द करता हूँ। मेरे जीवन का परिवर्तन करके आपने मेरा उद्धार किया। आपके पुनीत चरणों से मगध की धरती धन्य हो उठी। आपके द्वारा प्रतिबोधित अहिंसा धर्म को मैं कभी नहीं भूलूंगा।'

बुद्ध—'आपका यह निर्णय कल्याणकारी हो। आपके शुभ प्रयत्न श्रेयस्कर हो। आपको इन विराट् मूक आत्माओं का आशीर्वाद मिले।'

'यों कहकर बुद्ध वहाँ से प्रस्थान कर देते हैं।'

यह वह अभयदान है, जिसमें मृत्यु से भयभीत हजारों-लाखों प्राणियों की रक्षा का स्वर है। इस प्रकार के अनेक अभयदान प्राचीन आचार्यों ने, विशिष्ट प्रभावशाली सन्तों ने राजाओं, महाराजाओं, ठाकुरों, सामन्तों, रावतों एवं राजपूतों को उपदेश, प्रेरणा, प्रवचन आदि द्वारा करवाया है। मरते हुए या मारे जाने वाले पशु-पक्षियों को उनके पंजे से छुड़वा कर महान् पुण्य उपार्जन किया है। जैनाचार्य पूज्य अमरसिंह जी महाराज, ज्योतिर्धर आचार्य जीतमल जी महाराज, जैन दिवाकर श्री चौथमल जी महाराज, पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज आदि ने कई हिंसक लोगों को हिंसा छुड़वाई है; उन्हें अहिंसा के उज्ज्वल-पथ पर मोड़ा है।

प्राचीन काल में आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल राजा को हीरविजयसूरि जी ने अकबर बादशाह को प्रतिबोध देकर कई बार 'अमारिपटह' की उद्घोषणा करवाई थी। कई जगह अमुक पर्व, तिथि या दिन को अगते पलाए जाते थे। यानी उन दिनों में कोई भी व्यक्ति किसी जीव की कत्ल नहीं कर सकता था, और न शिकार कर सकता था। उन दिनों में मांस की दूकानें भी बन्द रखी जाती थी।

आचार्य श्री हीरविजयसूरिजी की प्रेरणा से अकबर बादशाह ने पर्युषणपर्व के दिनों में १२ दिन तक अमारिघोषणा के गुजरात देश मालव देश, अजमेर दिल्ली फतेहपुर सीकरी और लाहोर देश इन पांचों राज्यों सम्बन्धी तथा एक सर्व-साधारण यों ६ फरमान जारी किए थे।

एक बार आचार्य श्री का उपदेश सुनकर अकबर बादशाह को अपने आप पर बहुत पश्चात्ताप हुआ, उसने संसार सागर से तरने का उपाय पूछा तो आचार्य श्री ने तीन उपाय बताये—(१) सब जीवों पर दया करना, (२) सब जीवों पर क्षमा रखना। (३) सबकी सेवा करना।" फिर बादशाह ने जब पापों से छुटकारे का उपाय पूछा तो

उन्होंने कहा—"(१) किसी भी जीव को बेड़ी में डालने आदि का बन्धन न करना। (२) नदी, सरोवर आदि में जाल डलवाकर मछलियों वगैरह को न पकड़वाना। (३) चिड़ियों की जीभ न खाना, आदि। बादशाह ने ये बातें मंजूर कीं।

इस प्रकार मरते हुए या मारे जाने वाले प्राणियों की रक्षा करके अनेक जैन-मुनियों, आचार्यों आदि ने अभयदान का महान् कार्य किया।

अभयदान का चौथा पहलू है—संकट, दुःख, रोग या आफत में पड़े हुए प्राणी को उस अवस्था से मुक्त करा कर उन्हें सुरक्षा का आश्वासन देना-दिलाना। वास्तव में अभयदान के इस लक्षण पर जब हम विचार करते हैं तो ऐसा अभयदाता अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता, और न ही किसी प्रकार के सुखों की चिन्ता करता है।

इससे आगे अभयदान का पहलू है—अपराध या श्राप आदि किसी कारण से शंकित, भयभीत प्राणी को क्षमादान करना। क्षमादान भी अभयदान का एक प्रकार है, जो प्राणि जीवन के लिए बहुत अनिवार्य है। किसी जबर्दस्त और प्रभावशाली व्यक्ति से भयभीत व्यक्ति (चाहे वह श्राप दे देने, मार डालने या उसकी सम्पत्ति लूट लेने के डर से भयभीत हुआ हो) को क्षमा-दान देना भी जीवनदान देने के समान है।

जिन दिनों खलीफा उमर की ईरान के बादशाह के साथ लड़ाई हो रही थी, ईरानी फौज का एक सामन्त कैद करके खलीफा के सामने लाया गया। खलीफा ने उसे कत्ल किये जाने का हुक्म दे दिया। सामन्त ने अर्ज की—"ऐ खलीफा ! मैं बहुत प्यासा हूँ। थोड़ा-सा पानी मंगवा दीजिए।" पानी लाया गया। लेकिन सामन्त इतना भयातुर हो रहा था कि पानी उसके कण्ठ से नीचे न जा सका। खलीफा ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—"घबराओ मत। पानी पी लो। जब तक पानी पी चुकोगे, तुम्हारी गर्दन नहीं उतारी जाएगी।" सामन्त ने प्याला जमीन पर पटक दिया और बोला—अपने कौल का ख्याल रखिएगा।" खलीफा सन्नाटे में आ गए। लेकिन वचन दे चुके थे। उसका पालन करना आवश्यक था। अतः उस सामन्त को अभयदान किया गया। इसी प्रकार का जैन श्रावक राजिया-वजिया सेठ का उदाहरण प्रसिद्ध है कि उन्होंने समुद्री लुटेरों के सरदार चोरखोजगी को घबराई हुई हालत में क्षमा मांगते देखकर क्षमादान दिया। ऐसे अनेक उदाहरण विश्व के इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

इसके अनुसार अभयदान का एक पहलू, जो सर्वसम्मत है, वह है—शरणागत की रक्षा प्राणप्रण से करना।

जैन इतिहास में मेघरथ राजा का और वैदिक इतिहास में शिवि, और मेघवाहन राजा का शरण में आये बाज-बाज को कबूतर के बराबर अपने अंग का मांस

यहाँ तक कि जब कबूतर का वजन बढ गया तो अपने सारे अंग—देने को उद्यत होने का उदाहरण प्रसिद्ध है।

शरणागत रक्षा के लिये मर-मिटने वाले एक बालक का उदाहरण तो आश्चर्य में डालने वाला है। एक बार इंग्लैंड के राजा जेम्स द्वितीय के पुत्र चार्ल्स प्रथम जार्ज के सेनापति से परास्त होकर प्राण बचाने हेतु स्कॉटलैंड की पहाड़ियों में जा छिपे चार्ल्स का सिर काटकर लाने वाले को ४ लाख रुपये इनाम देने की घोषणा की गई। चारों ओर खोज शुरू हुई। कुछ समय बाद चार्ल्स को ढूंढने वाले एक कैप्टिन ने एक बालक से पूछा—'क्या तुमने प्रिंस चार्ल्स को देखा है?' बालक बोला—'हाँ, जाते हुए तो देखा है, लेकिन यह नहीं बताऊँगा कि कब और किस रास्ते से जाते हुए देखा है।' केप्टिन ने तलवार निकाली और बालक को डराया। इस पर भी जब वह भेद बताने को तैयार न हुआ तो उस पर तलवार का प्रहार भी किया गया। बालक का करुण क्रन्दन हुआ, लेकिन बालक ने कहा—'मैं मैक फरसन का पुत्र हूँ, इसलिए तलवार से डरने वाला नहीं। मुझे आप कितना ही कष्ट दीजिए, मैं संकट के समय शरण में आये हुए राजा को शत्रु के हाथों में फँसाने में सहायक नहीं बनूंगा। मैं अपने प्रण से विचलित नहीं होऊँगा।' केप्टिन उस वीर बालक की वीरता, साहस एवं दृढ़ता से प्रभावित हुआ और प्रसन्न होकर चाँदी का क्रॉस भेंट दिया।

सचमुच शरणागत की रक्षा करके उसे अभयदान देने वाला अपने प्राणों को भी संकट में डाल देता है।

इसके पश्चात् अभयदान के एक विशिष्ट पहलू की ओर हम पाठकों का ध्यान खींचना चाहते हैं। वह है—'किसी प्राणघातक बलिदान मांस भोज आदि कुप्रथा का निवारण कराकर प्राणियों में शान्ति एवं सुरक्षा की भावना पैदा करना।' कई जगह जनरंजन के निमित्त पशुबलि या नरबलि की अथवा विवाह आदि प्रसंगों पर समाज में या जाति में प्राणियों के मांस का भोज देने की कुप्रथा है। इस कुप्रथा को जब तक समाप्त नहीं कर दिया जाता, तब तक बेचारे वध्य पशु-पक्षियों या मानवों के हृदय में भीति और आतंक फैला रहता है। जो दयालु नरवीर अपने प्राणों की बाजी लगाकर उस कुप्रथा को समूल मिटाता है या मिटाने का सफल प्रयत्न करता है, उसका वह कार्य भी अभयदान की कोटि में ही आता है। गुजरात में कंटेश्वरी देवी के आगे नवरात्रि में दी जाने वाली पशुबलि की प्रथा को आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल राजा एवं प्रजा को युक्ति से समझाकर बन्द करवाई। यह उदाहरण पहले दिया जा चुका है। भगवान महावीर एवं तथागत बुद्ध के युग में यज्ञों में होने वाली पशुबलि प्रथा का निवारण दोनों महापुरुषों ने तथा उनके श्रमणों ने बन्द करवाने का प्रयत्न किया है। पशु बलि प्रथा बन्द कराने में उन्हें अनेक संकटों का परिचय देना पड़ा है।

भगवान अरिष्टनेमि के युग में यादवों में वैवाहिक प्रीतिभोज के अवसर पर

बरातियों को मांस खिलाने की भयंकर कुप्रथा थी। लेकिन करुणासागर भगवान अरिष्टनेमि ने दूल्हा बनकर रथारूढ़ होकर विवाह के लिए जाते समय एक बाड़े में बन्द पशु-पक्षियों को देखा, उनका आर्तनाद सुनकर नेमिकुमार का हृदय करुणा से द्रवित हो गया। सारथी से पूछने पर उन्हें पता लगा कि ये पशु-पक्षी उनके साथ आये हुए बरातियों को भोजन कराने के लिए बन्द किए गए हैं। तब तो वे और भी अधिक दुःखित होकर सारथी से कहने लगे—'खोल दो बेचारे इन पशु-पक्षियों को। मेरे निमित्त से यह संहार श्रेयस्कर नहीं है।' और समस्त प्राणियों को अभयदान दिलवा-कर वे तोरण पर पहुँचे बिना ही वापस लौटने लगे। बरातियों में खलबली मच गई कारण पूछने पर सारथी ने पूर्वोक्त वृत्तान्त सुनाया। यादव लोग नेमिनाथ से सुनने को उत्सुक थे। उन्होंने उपयुक्त अवसर जानकर यादवों को इस कुप्रथा का परित्याग करने का कहा। तब से यादव जाति में मांसाहार बन्द हो गया। सौराष्ट्र के जितने भी भरवाड़ या अहीर हैं, वे प्रायः सब के सब पूरे शाकाहारी हैं। अभयदान का कितना ज्वलन्त उदाहरण है यह।

इसी प्रकार रोम में होने वाली नरबलि प्रथा को वहाँ के एक सन्त टैलीमैक्स ने अपना बलिदान देकर बन्द करा दी। बंगाल में भयंकर रूप से प्रचलित सतीप्रथा में पति के मरने के बाद उसके पीछे उसकी पत्नी को जीते जी उसकी चिता के साथ जबरन जल मरना पड़ता था। अथवा यों कहिए कि समाज के क्रूर लोगों द्वारा जबरन उसे जला दिया जाता था। राजा राममोहन राय ने इस भयंकर कुप्रथा के विरुद्ध जेहाद छेड़ा और ब्रिटिश सरकार की सहायता से कानून बनवाकर इस कुप्रथा को बन्द कराया। इसी प्रकार काली देवी के आगे गर्भवती सुन्दरियों की जीते जी बलि दी जाने की भयंकर कुप्रथा थी, जिसका अन्त 'वारेन हेस्टिंग्ज' ने अपने शासन-काल में करा दिया।

इसी प्रकार की अनेक कुप्रथाओं का अन्त विभिन्न दयालु अभयदानियों ने अपना आत्मयोग देकर कराया है। यह भी उत्तम कोटि का अभयदान है।

इससे आगे अभयदान की एक कोटि है—समाज, राष्ट्र या विश्व की दृष्टि से अनेक प्राणियों की रक्षा के लिए अपना बलिदान कर देना, विशिष्ट त्याग करना अथवा समर्पण कर देना। इस प्रकार के अभयदान में व्यक्ति को बहुत कुछ त्याग करना होता है। वास्तव में अभयदान में जो कुछ तप या त्याग करना होता है, उसकी तुलना में बाह्य तप या त्याग का इतना महत्त्व नहीं है। ज्ञानसार में इसी बात को स्पष्ट बताया है—

> किं न तप्तं तपस्तेन, किं न दत्तं महात्मना।
> वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ॥८।५४

—जिस महापुरुष ने जीवों को प्रीति का आश्रय देकर अभयदान दिया, उस महान् आत्मा ने कौन-सा तप नहीं [illegible] और कौन-सा दान नहीं दिया?

अर्थात्—उस महात्मा ने समस्त तप एवं दान दिया है, क्योंकि अभयदान में सभी तप और दान समाविष्ट हो जाते हैं।

कभी-कभी व्यक्ति राष्ट्रहित की दृष्टि से राष्ट्रीय जनता के प्राणों पर संकट आने पर अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि प्राण भी अर्पण करके राष्ट्रजनों को अभयदान दे देता है।

चीन राष्ट्र के अधीन फार्मोसा द्वीप की बात है चीन के शहंशाह ने वहाँ का राज्य चलाने के लिए 'युफेंग' 'नामक युवक को चुना था। युफेंग ने आदिवासियों के कल्याण उनके प्रति शुभनिष्ठा और हितदृष्टि से फार्मोसा के समस्त आदिवासियों का हृदय जीत लिया था। उसने वहाँ की प्रजा को सन्मार्ग और संस्कृति के पथ पर चलाने का प्रयत्न किया। आदिवासियों में एक कुप्रथा थी—जीवित मनुष्यों का शिकार करके उनके सिर देवता को चढ़ाने की। युफेंग ने आदिवासियों को खुश करके इस कुप्रथा को बन्द करने के लिए बहुत समझाया, लेकिन वह इसे बन्द कराने में सफल न हो सका। एक बार उन आदिवासियों ने एक साथ ४० जीवित मनुष्यों का शिकार कर डाला। युफेंग का हृदय काँप उठा। उसने तुरन्त आदिवासियों को बुलाकर नम्र स्वर में कहा—'यदि तुम इनमें से प्रतिवर्ष एक-एक सिर देवता के चढ़ाओगे तो तुम्हारे लिए ये ४० वर्ष तक चलेंगे। इसलिए तुम लोग एक संकल्प कर लो कि वहाँ तक किसी नये मानव का शिकार नहीं करेंगे।' आदिवासियों ने युफेंग के प्रति प्रेम और आदर से प्रेरित होकर उनकी माँग कबूल करली। युफेंग ने सोचा ४० साल के लम्बे समय के बाद ये आदिवासी लोग इस कुप्रथा को भूल जायेंगे, पर बात उलटी हुई। ४० वर्ष बीत जाने के बाद आदिवासी नया मस्तक चढ़ाने के लिए युफेंग से कहने आए। युफेंग ने उन्हें वैसा न करने के लिए बहुत समझाया, पर व्यर्थ ! बहुत कुछ मन्थन के बाद युफेंग को एक रास्ता सूझा। तदनुसार उसने आदिवासियों से कहा—तुम्हें एक ही आदमी का सिर काटना है न। तो देखो कल कचहरी के चौक में लाल कपड़ों से सुसज्जित जिस मनुष्य को देखो, उसी का शिकार करना, इसके सिवाय किसी दूसरे का शिकार मत करना।' आदिवासियों ने बात मान ली। दूसरे दिन लाल वस्त्रों से सजधज कर युफेंग स्वयं ही कचहरी के चौक में खड़ा रहा। आदिवासी नशे में मस्त होकर आये और युफेंग को न पहिचान कर उन्होंने उसी का सिर उड़ा दिया। जब वे उसका कटा हुआ मस्तक लेकर अपने सरदार के पास पहुँचे तो उन्होंने कहा—तुम यह किसका सिर काट लाए ? अर् र ! यह तो गजब हो गया। हमने अपने परम उपकारी का सिर काट डाला। हाय ! हम लुट गये। हमने उनकी बात न मानी, इसीलिए उन्होंने अपना बलिदान देने की सोची होगी। बस, आज से हम मानव के शिकार की प्रथा को बन्द करते हैं।'

युफेंग ने मानव हत्या को रोककर उन हजारों मानवों को अभयदान दिलाने

हेतु आदिवासियों के सामने स्वयं बलिदान दे दिया। सचमुच ऐसा अभयदान उत्तम-कोटि का दान है।

इसी प्रकार जाति, समाज, राष्ट्र और विश्व के किसी भी मानव या प्राणिवर्ग पर आफत आने पर उससे उन्हें मुक्त करने के लिए अनेक नरवीरों ने अपने प्राणार्पण दिये, अपना सर्वस्व होमा है। वास्तव मे ऐसे अभयदान के लिए अभयदाता को कुछ न कुछ कीमत अवश्य चुकानी पड़ी है।

इसीलिए अभयदान का अन्तिम पहलू है, किसी भी भावी विपत्ति या आफत या संकट से जनता को बचाने के लिए अपने धन, माल, मकान, या प्राण तक का उत्सर्ग करना भी अभयदान है।

इसी प्रकार देश राष्ट्र एवं समाज की रक्षा के लिए अपने प्राणों को खतरे में डालना, अपने जीवन की बाजी लगा कर भी जनता की सुरक्षा करना, एवं जनता को अभयदान दिलाना बहुत ही कठिन तो है, परन्तु है वह उत्कृष्ट दान। एक ज्वलन्त उदाहरण लीजिए—

कपिल वस्तु के महानाम के रोम-रोम में परोपकार एवं करुणा की भावना रमी हुई थी। जब उन्हें यह खबर मिली कि श्रावस्ती के राजा विडुडभ ने कपिल वस्तु पर चढ़ाई कर दी है तो उसका हृदय रो उठा। सोचा—"इन सत्ता मदान्धों को क्या सूझा है। आज यहाँ, तो कल वहाँ चढ़ाई। निर्दोष प्रजाजनों पर इस प्रकार अत्याचार करने से क्या लाभ? यह विचार चल ही रहा था कि खबर मिली कि कपिलवस्तु का अग्रणी (शासक) डर कर भाग गया है।" महानाम बोला—'धिक्कार है, तेरे पौरुष को! ऐसे कायर भी कहीं शासन कर सकते हैं।' विजयी विडुडभ ने किला तोड़कर नगर में प्रवेश किया और आज्ञा दी—'सैनिको! आज मुझे विश्वास घात और अपमान का बदला लेना है। लूट लो, जितनी सम्पत्ति लूट सको।" सैनिक लोग यह खुली छूट मिलते ही लूटपाट, हत्या, अपहरण और अग्निकाण्ड में प्रवृत्त हो गए। चारों ओर हाहाकार मच गया। दीन-हीन प्रजा भयभीत होकर चारों ओर भागने लगी। महानाम को पौरजनों की लूटपाट, हत्याकाण्ड आदि देखकर बहुत आघात लगा। वेदना से व्यथित महानाम को एक बात याद आई। वह तुरंत विजयोन्मत्त विडुडभ राजा के पास पहुँचा। 'राजन् मुझे पहिचानते हैं?" राजा के अनुचरों द्वारा दिये गए आसन पर बैठते हुए महानाम ने पूछा—'आपको कौन नहीं पहिचानता? आप ज्ञान, शील, सत्कार और सभ्यता से नागरिकों मे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है, इसी से पौरजन आपको महानाम कहते है।' राजा विडुडभ ने महानाम को श्रद्धा-पूर्वक कहा।

महानाम—"यों नही, मैं इस तरह परिचय निकाल कर किसी स्वार्थलाभ की आशा से नही आया हूँ। मैं तो यह पूछता हूँ कि आपका और मेरा कोई सम्बन्ध है या नही?" 'सम्बन्ध' शब्द पर जोर देते हुए अभय महानाम ने प्रश्न किया।

भरावदार चेहरा, दुग्धधवल दाढ़ी, सलिल पूर्ण सरोवर की तरह करुणापूर्ण आँखें, संयम से सशक्त देह महानाम की प्रतिभा में वृद्धि कर रहे थे।

इस प्रतिभासम्पन्न विभूति के शब्दों पर विचार करता हुआ राजा भूतकाल के सोपानों को पार करता हुआ ठेठ बाल्यकाल के किनारे तक पहुँचा—'श्रावस्ती के राजा प्रसेनदिन ने कन्या मांगी थी, परन्तु अभिमानी नागरिकों ने इन्कार कर दिया। इससे वातावरण युद्ध में परिणत हो जाता, पर इस महानाम ने अपनी दासी पुत्री को देकर प्रसेनदिन को शान्त किया। इसी दासीपुत्री का पुत्र विड्डभ था। पर इस षड्यंत्र ने खुद के कलंक लगाया, उसका बदला वह लेना चाहता था। महानाम इसके नाना लगते थे, फिर बचपन में वह ननिहाल आया था, तब इसी नाना के पास एक वर्ष तक विद्याध्ययन किया था। इस दृष्टि से यह विद्यागुरु भी थे। विड्डभ ने शान्त होकर बरबस उद्गार निकाले—"नाना और गुरुदेव !"

महानाम—"राजन् ! मैं तुम्हें एक बात की याद दिलाने आया हूँ। विद्याध्ययन के बाद जब तुम गुरु दक्षिणा का आग्रह कर रहे थे, तब मैंने तुमसे उसे अमानत रखने का कहा था।"

विड्डभ—"हाँ, मैं समझ गया ! आप न मांगे तो भी मैं आपको दक्षिणा देना अपना धर्म समझता हूँ। आपका कोई बाल भी बांका नहीं करेगा। आप सर्वथा निर्भय हैं।" राजा ने शीघ्र ही सेनापति को आदेश दिया—"शीघ्र जाओ। सैनिक कहीं महानाम के घर लूट के लिए न पहुँच जायं, उन्हें रोको। इनका घर सुरक्षित रहना चाहिए। बाकी के कपिलवस्तु से मेरा पुराना वैर है। इसके अभिमान को चूर किये बिना मैं हटूंगा नहीं।"

करुणापूर्ण हाथ ऊँचे करते हुए महानाम ने कहा—ठहरो ! मैं ऐसा स्वार्थी नहीं कि अपनी रक्षा चाहूं। मैं तो सारी नगरी की रक्षा चाहता हूँ।" विड्डभ (भूकम्प की तरह गर्जते हुए) "गुरुदेव ! ऐसा आग्रह न करिये, मैं जिस आग में जल रहा हूँ, वह हजारों उपदेश वृष्टियों से शान्त होने वाली नहीं। यह तो सर्वस्व भस्म करके ही दम लेगी।"

महानाम—"मेरे लिए मान जा ! यह कत्ले आम मेरे से सही नहीं जाती। क्षमाकर भाई ! इस आग को अब बंद कर।"

विड्डभ—"आज तो अगली-पिछली तमाम बातों का भुगतान एक साथ कर लेना चाहता हूँ। हाँ, बाल्यकाल की देखी हुई आपकी जलक्रीड़ा मुझे याद आ रही है। इसलिए इस तालाब में आप जितनी देर तक डुबकी मारे रहेंगे, उतनी देर के लिए मैं कत्लेआम बंद करा देता हूँ।" जो भागना चाहते हों, उन्हें उतनी देर तक भागने दूंगा।"

महानाम—"अच्छा ! इतना तो कर ! रक्तपात जितना कम हो, उतना

अच्छा ! महानाम की वृद्ध आँखों में चमक आई। उन्होंने कुछ सोचा और तुरन्त तालाब के पास आए।

विडुडभ ने सोचा—यह बूढ़ा आखिर कितनी देर तक सांस रोके रहेगा। इतनी देर में कितने आदमी बचेंगे ? पर जो हो, इससे गुरुवचन का भी पालन होगा, मेरी वैरपिपासा भी शान्त होगी।" इधर पौरजन भयग्रस्त थे। फिर भी यह खुशखबर सुनकर वे इस दृश्य को देखने के लिए सरोवर तट पर श्रद्धापूर्वक आ पहुँचे। नगर में घोषणा हो रही थी कि 'जब तक महानाम सरोवर में डुबकी लगाए रहेंगे, तब तक के लिए सबको अभय है।' तब तक महानाम डुबकी मार चुके थे। तालाब के बीचोबीच जो कीर्तिस्तम्भ था, उससे अपने शरीर को उत्तरीय से बाँध कर जल समाधि ले रहे थे। महानाम के हृदय में वात्सल्य था, करुणा और सर्वकल्याण भावना थी। वे प्राणार्पण भावना से सदा के लिए जल में अपने को लीन कर चुके थे। क्षण, दो क्षण, घंटा, दो घंटे हुए, अभी तक महानाम पानी की सतह पर न आए, सो न आए। विजयी विडुडभ और लूट की कामना वाले सैनिक प्रतीक्षा करते-करते थक गए, पर वे ऊपर न आए। विडुडभ चतुर था। वह इस घटना का मर्म समझ गया। उसे वज्रपात-सा आघात लगा। वैराग्नि शान्त हो गई। 'क्या नाना ने पौरजनों की रक्षा के लिए प्राण समर्पण कर दिये।' यह बात सुनकर कपिलवस्तु के युवक-युवती दौड़कर आए। कीर्तिस्तम्भ के साथ बंधे हुए उनके पुण्य शरीर को बाहर निकाला। पौरजनों ने अश्रुपूरित नेत्रों से श्रद्धांजलि दी। नगरी ने एक महामानव खोया, जिसने कपिलवस्तु के प्रजाजनों को जीवितदान दिया।

वास्तव में परमकारुणिक महानाम ने अपने प्राणों को खोकर भी कपिलवस्तु के भयत्रस्त नागरिकों को संकटमुक्त एवं भयमुक्त किया। हजारों के प्राण बचाए, धन-जन की रक्षा की।

अभयदान की दो कोटियाँ

अभयदान के उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है, कि अभयदान सब दानों में श्रेष्ठ दान है। अभयदान देने वाला दूसरे पदार्थों के दाताओं की अपेक्षा अधिक त्याग करता है, उत्सर्ग करता है और अपने जीवन को दया और करुणा की भावना से ओतप्रोत करके कार्य करता है। परन्तु सभी अभयदानी एक सरीखे नहीं होते। कई अभयदानी अपने जीवन में एक या दो प्रसंगों पर ही अभयदान दे पाते हैं, ऐसे लोग जो प्रायः गृहस्थी के चक्र में हैं, वे सभी इतनी उच्चकोटि का त्याग या उत्सर्ग कर नहीं सकते। हाँ, कई धनाढ्य गृहस्थ जीवों को अभयदान प्रत्यक्ष नहीं दे सकते, परन्तु परोक्षरूप से दूसरों को पैसा देकर अभयदान दिला सकते हैं। हालांकि उन्हें भी अभयदानी कहा जा सकता है, परन्तु वे इतनी उच्चकोटि के अभयदानी नहीं माने जा सकते। इसलिए हम अभयदान को दो कोटियों में विभाजित कर देते हैं—

(१) पूर्ण अभयदान।

(२) प्रासंगिक अभयदान।

पूर्ण अभयदान वह है, जिसमें अभयदाता वही हो सकता है, जो आजीवन अभयदाता बनकर किसी भी जीव को न तो स्वयं पीड़ा पहुंचाता है और न दूसरों से पीड़ा दिलाता है और न ही पीड़ा देने वालों का समर्थन करता है। साथ ही वह जिंदगी भर के लिए ऐसे अभयदान के प्रसंगों के लिए उत्तरदायी रहता है। पूर्ण अभयदानी बनने के लिए स्वयं निर्भय होना और दूसरों को भयमुक्त करना अत्यावश्यक है। स्वयं निर्भय होने के लिए व्यक्ति में अहिंसा, सत्य, आत्मबल और आत्म-विश्वास पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है। साथ ही परमात्मा में उसकी पूर्ण आस्था होनी चाहिए। दूसरों को भयमुक्त बनाने के लिए व्यक्ति को शस्त्रास्त्र, अन्याय, अत्याचार, शोषण, निर्दयता, ज्यादती आदि भयवर्द्धक बातों का त्याग करना आवश्यक है। पूर्ण अभयदानी को छोटे से छोटे जन्तु के प्रति भी आत्मीयता होनी चाहिए। भगवद्गीता में अभयदानी भक्त का लक्षण बताते हुए यही बात कही है—

"यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥"

—"जिससे जगत् भय न पाता हो, साथ ही जो स्वयं जगत् से भय न खाता हो, तथा जो हर्ष, क्रोध और भय के उद्वेगों से मुक्त हो, वही भक्त मुझे प्रिय है।"

जो व्यक्ति ऐसे प्रसंगों पर अपने आपको संतुलित रख सकता हो, परिणामों में किसी प्रकार की चंचलता न लाता हो, वही पूर्ण अभयदानी बन सकता है। संत तुकाराम के जीवन का एक प्रसंग है—

एक बार वे विठोबा की यात्रा को जा रहे थे। रास्ते में एक चौक में कबूतरों का बड़ा दल बिखेरे हुए जुआर के दाने चुग रहे थे। ज्यों ही तुकाराम वहाँ से गुजरे तो सभी कबूतर एक साथ उड़ गए। तुकाराम के मन में विचार हुआ कि मेरे से इन्हें भय लगा इससे ये उड़ गए। मेरे अन्दर भय लगने जैसा कुछ है, इसीलिए ये कबूतर घबराते हैं, डरते हैं। सचमुच मैं अभी पूरा भक्त नहीं। गीता में 'यस्मान्नोद् विजते लोको……' कहा है, पर मेरे से भय पाते हैं। यद्यपि दिखने में मैं मनुष्य हूँ। अपने को भक्त मानता हूँ, पर मेरे में भय उत्पन्न करने वाली पाशवी वृत्ति—पापवृत्ति अभी तक भरी हुई है, जिससे इन कबूतरों को मुझ पर प्रतीति न हुई। ये मुझ से डर गए। मेरे रोम में अभी तक जहर भरा है। इस विचार से संत तुकाराम की आत्मा तिल-मिलाने लगी। उन्होंने सकल्प किया—"कबूतरों को मुझ पर विश्वास आए और वे निःशंक होकर मेरे कन्धे पर बैठें, तभी मुझे यहाँ से आगे कदम बढ़ाना है। और तब तक खाना भी हराम है।" बस, ऐसा संकल्प करके तुकाराम खड़े हो गए। उन्होंने अन्तर का मैल दूर करने का प्रयास शुरू किया। उनके हृदय से प्रेम और करुणा के झरने बहने लगे। अन्धकार के आवरण दूर होने लगे, प्रकाश चारों ओर फैलने लगा।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की अखण्ड धुन चलने लगी एकपहर, दोपहर, एक रात, दो रात, यों करते-करते तीन रातें बीत गईं। तीन दिन तक वे प्रायः खड़े रहे। उनके पैर स्तम्भ की तरह जड़वत् हो गए थे। तीसरे दिन कबूतर आकर तुकाराम के कंधे पर बैठने लगे। यहाँ तक कि तुकाराम उन्हें उड़ाते, पकड़ते, फिर भी उन्हें कबूतरों को उनसे कोई भय नहीं होता था। संत तुकाराम ने कबूतरों का विश्वास जीत लिया। अहिंसा और अभयदान की शक्ति गजब की होती है।

हाँ तो इस प्रकार से अभयदानी जब सभी प्राणियों का विश्वास जीत लेता है, प्राणी उससे कोई खतरा नहीं मानते हों, तभी वह पूर्ण अभयदानी बनता है। वीतराग प्ररूपित मार्ग पर चलने वाले समस्त साधु-साध्वी निर्भय और निःशस्त्र होकर दूसरों को किसी प्रकार का भय न देते हुए इस भूमण्डल पर विचरण करते हैं। शक्रस्तव में तीर्थंकर प्रभु की स्तुति करते हुए उन वीतराग महापुरुष के लिए एक विशेषण प्रयुक्त किया गया है—अभयदयाणं उसका अर्थ होता है—जगत् के समस्त प्राणियों को अभयदान देने वाले।

संसारी प्राणी, जो किसी न किसी भय से ग्रस्त हैं, उन्हें अपने व्यवहार से पूर्ण निर्भय, निःशंक बनाना, उनके किसी भयोत्पादक व्यवहार से स्वयं न डरना और संकट आदि के अवसर पर उनमें निर्भयता के संचार का प्रयत्न करना पूर्ण अभयदानी का लक्षण है। ऐसा अभयदाता भयभ्रान्त प्राणी के हृदय से भय निकाल देता है। भय की भ्रान्ति भी वह अपने सद्व्यवहार व आत्मीयतापूर्ण व्यवहार के द्वारा निकाल देता है। अभयदाता में जो निर्भयता कूट-कूट कर भरी होती है, उसमें से वह भयभीत प्राणियों को निर्भयता प्रदान कर देता है, जिससे वे भी अभय हो जाते हैं। महात्मा गाँधीजी ने तो व्रतबद्ध लोक-सेवकों (रचनात्मक कार्यकर्ताओं) के लिए 'अभय' नामक एक व्रत ही रखा है, जिसमें इसी प्रकार की प्रेरणा निहित है।

अमितगति श्रावकाचार में आचार्य अमित गति ने पूर्ण अभयदान का माहात्म्य बताते हुए, उसे उत्तम फल से युक्त बताया है—

'शरीरं ध्रियते येन, शमतेव महाव्रतम्।'
कस्तस्याऽभयदानस्य फलं शक्नोति भाषितुम्॥'

—जैसे समभाव महाव्रत का धारण-पोषण करता है, वैसे ही अभयदान से जीवों के शरीर का पोषण होता है, उस अभयदान के फल को कौन कह सकता है। अर्थात् उस (पूर्ण) अभयदान का फल अनिर्वचनीय है।

पूर्णरूप से अभयदान में निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों से अभयदान होता है। परमात्म प्रकाश में इस विषय को अधिक स्पष्ट कर दिया है—

'निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्प-स्वसंवेदनपरिणामरूपमभयप्रदानम् स्वकीय जीवस्य, व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदानं परजीवानाम्।'

अर्थात्—निश्चयनय से वीतराग, निर्विकल्प, स्वसंवेदन-परिणामरूप जो निज

आत्मभावों का अभयदान है, वह अपनी आत्मा की रक्षारूप है, जबकि व्यवहारनय से पर-प्राणियों के प्राणों की रक्षारूप अभयदान है, इस प्रकार अभयदान स्वदया-परदयास्वरूप होता है।

फिर पूर्ण अभयदान मन-वचन-काया तीनों की शुद्धिपूर्वक ही हो सकता है। मन में चंचलता, विकलता, घबराहट, भय हो तो उससे अभयदान नहीं हो सकता, वचन में अशुद्ध, भयोत्पादक या बेचैनी के वचन हों तो भी अभयदान उससे नहीं हो सकता, इसी तरह काया की चेष्टाएँ भयभीत जैसी हों, या अंगोपांगों से भय दिखाता हो, वहाँ भी अभयदान नहीं हो सकता। अभयदान में मन, वचन, काया तीनों की सशुद्धि आवश्यक है। चारित्रसार में स्पष्ट कहा है—

'दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानम्।'

अर्थात्—'जिन पर अनुकम्पापूर्वक अनुग्रह करना है, उन प्राणियों को मन-वचन-काया की शुद्धता से अभयदान देना दयादत्ति है।' यही कारण है कि अभयदान में पारंगत पुरुष के पास प्राणी निर्भयतापूर्वक विचरण करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में संयतीराजर्षि के जीवन की घटना इस सम्बन्ध में सुन्दर प्रकाश डालती है—

राजा संयती अपनी मंडली को लेकर वन में निर्दोष वन्य पशुओं का शिकार करने गया। उसने एक हिरन को निर्दयतापूर्वक खींचकर तीर मारा। हिरन घायल होकर गिर पड़ा। अभी उस पर मौत का खतरा सवार था। अतः वह वहाँ से भयभीत होकर अपने प्राण बचाने के लिए भागा, और ध्यानस्थ गर्दभिल्ल मुनि के पास जाकर बैठ गया। मुनियों की गोद तो सबको शरण देने और निर्भय बनाने वाली होती है, यह वन्य पशु भी समझते थे।

संयती राजा ने दूर से ही जब अपने शिकार—मृग को एक शान्त निर्भीक मुनि के पास बैठे देखा तो वह जरा सहम गया। तेजस्वी और प्रभावशाली व्यक्ति के सामने हिंसक, क्रूर और पापी व्यक्ति भी लज्जावश झुक जाता है और अपने दुष्कृत्य को उस समय तो बन्द कर देता है। संयती राजा भी शिकार बन्द करके अपने साथियों सहित गर्दभिल्ल मुनि के पास पहुँचा, जहाँ हिरन बैठा था। राजा मन में भयभीत भी हो रहा था कि शायद यह मृग मुनि का होगा। मैंने मुनि के इस मृग को सताया और मारने का सोचा, इसलिए ये कहीं कोई श्राप न दे बैठे। वैसे तो समभावी मुनि के लिए सभी प्राणी अपने ही होते हैं। उनका वात्सल्यभाव सब पर होता है। वे निरपराध प्राणी को सताने वाले के प्रति भी वात्सल्य बरसा कर उसकी बुरी या हिंसक वृत्ति को छुड़ा देते हैं।

संयती राजा हाथ जोड़कर मुनि से अभय और क्षमा की याचना करने लगा। मुनि ध्यान खोलते ही सारी परिस्थिति समझ गए। उन्होंने संयती राजा को समझाते हुए कहा—

अभओ पत्थिवा तुज्झं, अभयदाया भवाहि य ।

अर्थात्—हे राजन् ! तुम्हें मेरी ओर से अभय है (किसी प्रकार का भय नहीं है) परन्तु तुम (आज से) इन निर्दोष प्राणियों के अभयदाता बनो। ये बेचारे घास-पात खाकर, मुँह में तिनका दबाकर तुम्हारी शरण में आते हैं तो तुम्हें उन्हें अभय बनाना चाहिए।

बस, इस अकुतोभय गर्दभिल्ल मुनि का संयती राजा पर इतना जबर्दस्त प्रभाव पड़ा कि वह महामुनि के चरणों में दीक्षित होकर सदा के लिए सब प्राणियों के लिए पूर्ण अभयदाता बन गया।

इसलिए पूर्ण अभयदाता तो प्रायः साधु-साध्वी या संन्यासी, भक्त या महात्मा हो सकते हैं किन्तु सामान्य रूप से एक-दूसरे को न्यूनाधिक रूप से अभयदान को हम आंशिक अभयदान कहते हैं। ऐसा अभयदान तो प्रायः सभी मनुष्य एक-दूसरे को दे सकते हैं।

अभयदान भी अलौकिक और लौकिक

अभयदान भी पूर्वोक्त आहारदान, औषधदान एवं ज्ञानदान की तरह अलौकिक और लौकिक दो प्रकार का है। अलौकिक अभयदान साधु-साध्वियों, महाव्रतियों, श्रमण-श्रमणियों, संन्यासियों आदि के द्वारा होता है, अथवा अलौकिक अभयदान वह हो सकता है, जिसमें किसी प्रकार की लौकिक आकांक्षा या आसक्ति न हो। जिस अभयदान के पीछे किसी प्रकार की कामना-वासना, प्रसिद्धि नामवरी अथवा यश-कीर्ति की लालसा न हो अथवा किसी प्रकार का स्वार्थ, पक्षपात या संकीर्णता न हो, वह अलौकिक अभयदान कहलाता है। जिस अभयदान का दायरा किसी अमुक जाति-विशेष, प्रान्तविशेष या राष्ट्रविशेष के व्यक्तियों तक सीमित कर दिया जाता है। अथवा जिसकी सीमा अमुक जाति, प्रान्त या राष्ट्र में आबद्ध हो, वह लौकिक अभय-दान है, चूँकि लौकिक अभयदान अमुक सीमा में ही आबद्ध होता है, इसलिए उसमें कुछ न कुछ राग, आसक्ति, पक्षपात या आकांक्षा का अंश रहता ही है। अलौकिक अभयदान में ऐसी बात नहीं होती। वह असीम भावना को लेकर दिया जाता है। उस अलौकिक अभयदान का द्वार किसी जाति, धर्म-सम्प्रदाय, प्रान्त या राष्ट्र में ही बन्द न होकर, सारे संसार के प्राणियों के लिए, समस्त मानवों के लिए खुला रहता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि वह समग्र विश्व के, समस्त प्राणियों तक अपने एक शरीर से पहुँच न पाता हो, परन्तु वह अपने सामने आये हुए प्रसंगों पर इस प्रकार की सीमा या संकीर्णता नहीं लाता। उसके मन में सारा विश्व होता है, उसकी दृष्टि में प्रत्यक्ष प्रसंग होता है और उसके व्यवहार में भी सामने जो अवसर आ जाता है, वहीं अभयदान की प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार दान के पूर्वोक्त चार भेदों पर काफी विस्तृत विवेचन लौकिक और अलौकिक दोनों दृष्टियों से किया गया है।

☆

16
दान के विविध पहलू

दान के सम्बन्ध में विचार चिन्तन किया जा रहा है। वह काफी व्यापक और विस्तृत हो गया है। दान के प्रत्येक पहलू को अनेक दृष्टिकोण से सोचने और समझने का प्रयत्न हम कर चुके हैं। सच तो यह है कि प्राचीन जैन मनीषियों ने दान के सम्बन्ध में बड़ा ही सूक्ष्म और सार्वदेशिक चिन्तन किया है। अनेकांतवाद के अनुगामी होने के कारण यह सहज ही है कि वे अन्य वस्तुओं की भांति दान जैसे जीवन से सम्बन्धित विषय पर भी अनेक दृष्टिबिन्दुओं से अनेक पक्ष-विपक्ष के पहलुओं पर चिन्तन करें।

इसी शृंखला मे दान के कुछ अन्य पहलुओं पर भी हम चिन्तन करेंगे।

दान के अन्य भेद

दान के पूर्वोक्त चार भेद (या तीन भेदों में समाविष्ट चार भेद) अलौकिक और लौकिक दोनों दृष्टियों से होते हैं। परन्तु कुछ आचार्यों ने दान के ऐसे भेद भी बताये हैं, जो सिर्फ उत्तम पात्रों के लिए ही विहित हैं, अन्य के लिए नहीं, जैसे उपदेश माला और दानप्रदीप में दान के ८ भेद इस प्रकार किये हैं—(१) वसतिदान, (२) शयनदान, (३) आसनदान, (४) भक्त (भोजन) दान, (५) पानीयदान, (६) भैषज-दान, (७) वस्त्रदान, (८) पात्रदान।

वसतिदान से मतलब है—ऐसा स्थान या मकान साधु-साध्वियों या महाव्रतियों को निवास के लिए देना, जो उनके लिए कल्पनीय, उनके लिए न बनाया गया हो, सादा हो, साधु के लिए रात्रि में जहाँ स्त्री-पशु-नपुंसक का निवास न हो, साध्वी के लिए पुरुष, पशु, नपुंसक के निवास से रहित हो। जिस मकान के पास में अब्रह्मचर्यवर्द्धक वातावरण न हो, वेश्याओं या दुश्चारिणी स्त्रियों व पुरुषों का पड़ौस न हो, जो संयमपोषक हो, इस प्रकार का स्थान देना वसतिदान है।

शयनदान से तात्पर्य है—सोने, बैठने के लिए तख्त, पट्टा, फलक आदि तथा चटाई आदि साधु-साध्वियों या उत्तम पात्रों को देना। ये भी कल्पनीय, निर्दोष तथा जीव-जन्तु से रहित हों, संयम साधना-पोषक हो, उन्हें देना ही शयनदान है।

शासनदान का अर्थ है—बैठने के लिए चौकी, छोटा स्टूल, छोटी मेज या अन्य लकड़ी आदि की प्रासुक वस्तु का देना बैठने के लिए जो भी चौकी आदि हो, वह लचीली, स्प्रिंगदार या गुदगुदी न हो, उसमें जीवों का डेरा न हो, या दीमक आदि लगी हुई न हो।

भक्तदान से मतलब है—साधु-साध्वियों को न्यायागत, कल्पनीय, शुद्ध, ऐषणीय ४२ दोषों से रहित अशन, पान, खादिम, स्वादिम इन चारों प्रकार का आहार देना। जिस वस्तु से धर्मवृद्धि हो, संयम साधना निराबाध हो सके, वैसी खाद्य-वस्तुएँ देना ही भक्तदान है।

पानीयदान का अर्थ है—साधु साध्वियों को प्रासुक, ऐषणीय, कल्पनीय, भिक्षा के दोषों से रहित निर्दोष जल देना।

भैषज्यदान का अर्थ है—साधु-साध्वियों को किसी प्रकार रोग या शरीर में असाता पैदा होने पर किसी प्रकार पीड़ा, व्यथा या व्याधि होने पर औषध भैषज्य (दवा, पथ्यपरहेज) आदि देना-दिलाना। औषधादि ऐसी न हों, जिनमें अण्डे आदि का रस पड़ा हो, चर्बी हो, रक्त हो, मांस हो, शराब हो, अथवा कोई मछली का तेल आदि दूषित पदार्थ उसमें पड़ा हो, इस प्रकार की औषधि नहीं देना चाहिए।

वस्त्रदान का अर्थ है—शुद्ध, ऐषणीय, कल्पनीय वस्त्र साधु-साध्वियों को उनकी आवश्यकतानुसार देना-दिलाना।

पात्रदान का अर्थ है—महाव्रतियों या साधु-साध्वियों को उनके लिए कल्पनीय और आहार-पानी आदि के लिए आवश्यक काष्ठ, तुम्बा या मिट्टी आदि के पात्र आवश्यकतानुसार देना।

आवश्यक चूर्णि में दान के १० भेद बताए गए हैं, वे भी उत्तम पात्र के लिए दान से सम्बन्धित हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) यथाप्रवृत्तदान, (२) अन्नदान, (३) पात्रदान, (४) वस्त्रदान, (५) औषधदान, (६) भैषज्यदान, (७) पीठदान, (८) फलकदान, (९) शय्यादान और (१०) संस्तारक दान।

यथा प्रवृत्तदान से तात्पर्य है कि साधुसाध्वी या संयमी पुरुष जिस शुभ कार्य में प्रवृत्त हों, उसके लिए जो भी आवश्यक साधन हों, उनका देना अथवा उस शुभ कार्य में योगदान देना। और दानों का अर्थ प्रायः स्पष्ट है। औषधदान और भैषज्य-दान दोनों में थोड़ा-सा अन्तर है। औषधदान कहते हैं, वह पदार्थ, जो साधुसाध्वियों के लिए काष्ठादिदवा के रूप में सेवन करने के काम में आते हों, ऐसे पदार्थों का दान करना; जबकि भैषज्य दान का मतलब ऊपरी उपचार लेप, गर्म पानी का सेक, निदान, तथा पथ्य-परहेज। औषध और भैषज्य में दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि औषध में एक ही वस्तु होती [illegible] कि भैषज्य में अनेक औषधियों का [illegible]

श्रण होता है, अनुपान आदि के लिए जो पदार्थ आवश्यक हों, उन्हें देना। पीठदान और फलक दान में भी जरा-सा अन्तर है। पीठदान का मतलब है, चौकी, बाजोट, पटड़ा, या स्टूल या समतल कुर्सी आदि बैठने योग्य वस्तु देना। जबकि फलकदान से, तात्पर्य है—पट्टा, तख्त आदि वस्तुएँ, जो व्याख्यान आदि के समय बैठने के काम आती हों, उन्हें देना। इसी प्रकार शय्यादान और संस्तारक दान में भी थोड़ा अन्तर है। शय्यादान से मतलब है—शयन करने के लिए तख्त पट्टा आदि देना, तथा संस्तारकदान से मतलब है—तख्त पर बिछाने के लिए ऊन या सूत का वस्त्र, नारियल की जटा, घास, चटाई आदि बिछाने के लिए पदार्थ देना।

इसके अतिरिक्त आवश्यक सूत्र, उपासकदशांगसूत्र,[1] सूत्रकृतांग[2] सूत्र एवं भगवती सूत्र[3] आदि में दान के उत्तम पात्रों को देने की दृष्टि से १४ भेद बताये हैं—(१) अशन, (२) पान, (३) खादिम, (४) स्वादिम, (५) वस्त्र, (६) पात्र, (७) कम्बल, (८) पादप्रोंछन, (९) पीठ, (१०) फलक, (११) शय्या, (१२) संस्तारक, (१३) औषध और (१४) भैषज्य। ये १४ प्रकार की धर्मपालन के लिए आवश्यक कल्पनीय, उचित निर्दोष ऐषणीय वस्तु साधु-साध्वियों को देना दान है। आहार के यहाँ ४ भेद कर दिये हैं—अशन—भूख मिटाने के लिए जो चीज खाई जाए, पान— जो वस्तु पीने के उपयोग में आती हो, खादिम-दलिया, खिचड़ी, धूली आदि जो पदार्थ सीझे हुए हों, तथा स्वादिम खाने के पश्चात् मुखवास के रूप में जो वस्तु सेवन की जाती हो। इन चारों प्रकार के आहार साधु-साध्वियों को प्रासुक, एषणीय, कल्पनीय हो तो देना अशनादिदान है। बाकी सबके अर्थ स्पष्ट हैं।

मतलब यह है कि ये १४ प्रकार की वस्तुएँ प्रासुक, ऐषणीय, कल्पनीय निर्दोष, (भिक्षा दोषों से रहित) हों तो साधुसाध्वी या संयमी सुपात्र को देना-दिलाना तथा प्रकार के १४ दान हैं।

विविध प्रकीर्णक दान

इन सब पूर्वोक्त दानों के अतिरिक्त कुछ दान और हैं, जिनका उल्लेख विविध धर्मग्रन्थों में मिलता है, उनके विषय में भी लगे हाथों थोड़ा-सा विचार करलें।

उचितदान

किसी आचार्य ने दान के ५ भेद बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) अभयदान, (२) सुपात्रदान, (३) अनुकम्पादान, (४) कीर्तिदान और (५) उचितदान। इन पांच प्रकार के दानों में से अभयदान, अनुकम्पादान और कीर्तिदान के विषय में पिछले पृष्ठों में हम विस्तृत रूप से विवेचन कर आए हैं। सुपात्रदान के विषय में

---

१ उपासक० १।५८
२ सूत्रकृतांग २।२।३६
३ भगवती २।५

दान की विशिष्ट मर्यादाओं में विस्तार से चर्चा करेंगे। अब रहा उचितदान। उसके विषय में यहाँ विचार कर लेते हैं।

उचितदान वैसे तो पूर्वोक्त १० प्रकार के दानों में समानदान या अन्वयदत्ति में समाविष्ट हो जाता है। किन्तु अगर इसका पृथक् रूप से विश्लेषण करें तो अर्थ यह निकलता है कि अपने कुटुम्बीजनों, सगे-सम्बन्धियों, जाति भाइयों, नौकर-चाकरों, मुनीम-गुमाश्तों, बहन-बेटियों, पुत्रों, दामादों आदि को या संस्था, समाज, प्रान्त, नगर या राष्ट्र के किसी सेवक को किसी अच्छे कार्य, वफादारी, खुशी, त्योहार, पुत्रजन्म या अन्य किसी उत्सव के उपलक्ष में इनाम के रूप में, कर्तव्य के नाते धन या साधन आदि देना उचितदान है। उचितदान में एक प्रकार से गुणों को प्रोत्साहन गुणज्ञ का सम्मान तथा कर्तव्य पालन की भावना छिपी रहती है और कर्तव्य में तो परस्पर विनिमय (लें-दें) की भावना निहित है। सामाजिक, जातीय या कौटुम्बिक व्यवहार के नाते सगे-सम्बन्धियों या जाति-भाइयों को दिया जाता है, उस समय कई दफा प्रत्युपकार की भावना भी होती है, जिसे कृतदान के अन्तर्गत समाया जा सकता है।

प्रत्युपकार की भावना के समय देने वाला सोचता है—'इसने अमुक अवसर पर दिया है तो मुझे भी देना चाहिए। और मैं दूंगा तो उसके फला अवसर पर यह मुझे देगा ही,' इस प्रकार की प्रतिदान की या प्रतिफल की भावनाएं भी उचितदान होता है।

इसी प्रकार नौकर-चाकरों, कर्मचारियों या मुनीम-गुमाश्तों को अमुक खुशी के अवसर पर या उनकी विशिष्ट सेवाओं से प्रसन्न होकर जो दिया जाता है, वह भी अपने घर या व्यवसाय सम्बन्धी कामों में प्रोत्साहन देने के ख्याल से दिया जाता है। प्रान्त, नगर या राष्ट्र के किसी वफादार या विशिष्ट व्यक्ति या सेवक को पारितोषिक या पुरस्कार भी अपने कार्य में प्रोत्साहन देने के लिहाज से दिया जाता है।

जैसे हमारे राष्ट्र में किसी कलाकार, विशिष्ट व्यापारी या राष्ट्रसेवक को पद्मविभूषण, आदि पद या वीरचक्र आदि पदक व नकद रुपये दिये जाते हैं। स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों को उनकी देशसेवा के कारण प्रतिमास पेंशन के रूप में पुरस्कार दिया जाता है। कई अध्यापकों को अपने उत्तम कार्य के लिए पद एवं पारितोषिक प्रदान किया जाता है।

इस दान में उचित पद या सम्मान का दान भी आ जाता है। जो राष्ट्र के किसी पुरुष या महिला को उसके सत्कार्य करने या राष्ट्र-गौरव बढ़ाने के उपलक्ष में दिया जाता है। जैन जगत् मई १९३४ में एक समाचार प्रकाशित हुआ था—

अमरीका की एक युनिवर्सिटी ने मिसेज एलीजर कोम्पटन नामक ८० वर्षीया महिला को देश के लिए उपयोगी एवं विद्वान सन्तान को जन्म देने तथा माता के रूप में सन्तान की उत्तम सेवा करने और उनमें उत्तम गुणों की वृद्धि करने के उपलक्ष

में सम्मानपूर्वक एल० एल० डी० की पदवी प्रदान की। पदवी-वितरण करते समय कुलपति ने कहा था—आपने देश को विद्वान् और उपयोगी सन्तान दिये हैं, इसलिए आपको यह सम्मान प्रदान किया जाता है। आपने गृहिणी तथा माता के रूप में देश की उत्तम सेवा की है. उत्तम गुणों की वृद्धि की है। आपके बड़े पुत्र प्रो० कार्ल मासाच्युसेट के प्रसिद्ध उद्योग मन्दिर के प्रमुख हैं, दूसरे पुत्र विल्सन अर्थशास्त्री, वकील तथा बड़े व्यापारी हैं, तीसरे पुत्र आर्थर शिकागो युनिवर्सिटी पदार्थशास्त्र (फिजिक्स) के प्राध्यापक हैं, आपको अभी एक शोध के उपलक्ष में नोबल प्राइज मिला है। आपके तीनों पुत्र प्रिंसटन युनिवर्सिटी के डॉक्टर हैं। आपके पतिदेव अमेरिका युनिवर्सिटी के एक कॉलेज में ४५ वर्ष तक प्राध्यापक एवं बाद में २० वर्ष तक प्रिंसिपल रहे हैं। आपने हमारे देश में उत्तम मनुष्यों की वृद्धि की है। अतः हम आपके ऋणी हैं और प्रणाम करके आपको युनिवर्सिटी की सबसे बड़ी उपाधि से सम्मानित कर रहे हैं।"

सचमुच इस प्रकार का पदवीदान भी योग्यता का मूल्यांकन करने हेतु उचित दान की कोटि में गिना जा सकता है। औचित्य की सीमा तक किसी व्यक्ति को उसकी सेवा, योग्यता, सत्कार्य या सद्गुण को प्रोत्साहित करने हेतु दान देना उचितदान है। परन्तु जब औचित्य की सीमा का अतिक्रमण करके किसी ऐसे-वैसे अयोग्य और दुर्गुणी व्यक्ति को दान दिया जाता है, तब उसे उचितदान नहीं कहा जा सकता। जैसे अन्तकृद्दशांग सूत्र में अर्जुनमाली के प्रसंग में राजगृह नगर के ६ ललितगोष्ठी पुरुषों का जिक्र आता है, जिन्हें राजगृह नरेश ने उनके किसी कार्य से प्रसन्न होकर इनाम भी दिया था और मनमानी करने की छूट भी दे दी थी। ऐसे दान को उचितदान नहीं कहा जा सकता। ऐसे गुण्डे या बदमाशों को दान देकर उन्हें सद्गुणों के प्रति प्रोत्साहित करने के बजाय, उनके दुर्गुणों को बढ़ावा देना है।

इसी प्रकार सामाजिक कुप्रथाओं का पोषण करने के लिए जब अपने किसी सम्बन्धी को औचित्य का उल्लंघन करके, अपने गरीब मध्यमवर्गीय भाइयों की दुर्दशा की ओर ध्यान न देकर दिया जाता है। इतना दिया जाता है, कि उसमें कोई विवेक नहीं रखा जाता। इस प्रकार आँखें मूँदकर अन्धाधुन्ध खर्च करना उचितदान की कोटि में कथमपि नहीं आ सकता।

उचित दान से न तो पुण्य होता है और न ही पाप या अधर्म। धर्म के दायरे में तो यह दान आता ही नहीं है। इससे केवल सामाजिक, जातीय, कौटुम्बिक या राष्ट्रीय व्यवहार की एवं व्यवस्था की रक्षा होती है।

क्षायिकदान क्या किस में और कैसे ?

दिगम्बर जैन ग्रन्थों में क्षायिकदान की चर्चा आती है। क्षायिकदान वास्तव में दानान्तराय आदि के अत्यन्त क्षय होने से होता है, और दानान्तराय आदि का सर्वथा क्षय अर्हन्तों और वीतरागों—केवलज्ञानियों के ही होता है, जो १२वें, १३वें

गुणस्थान पर पहुँच जाते हैं। परन्तु एक सवाल उठता है कि ऐसे उच्चगुणस्थानवर्ती महापुरुष तो यथाख्यातचारित्री, क्षीणमोहनीय या सयोगीकेवली होते हैं, उनके पास उस समय देने को क्या होता है? न तो वे धन दे सकते हैं, न अन्न ही और न अन्य कोई वस्तु ही दे सकते हैं। तब वे दान किस बात का करते हैं? इसका समाधान करते हुए आवश्यक निर्युक्ति (११०३) में कहा है—

जं तेहिं दायव्वं तं दिन्नं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दसण-नाण-चरित्तस्स, एस तिविहस्स उवएसो॥

—तीर्थंकरों ने जो कुछ देने योग्य था सब दे दिया है। वह समग्रदान है—दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उपदेश।

वास्तव में तीर्थंकर और केवलज्ञानी जब तक सिद्ध नहीं होते, उससे पहले-पहले शरीर से जितना भी उपकार संसारी जीवों का कर सकते है, करते हैं। परन्तु वे धन, खाद्यपदार्थ, वस्त्र या अन्य कोई चीज स्वयं रखते नहीं, वे स्वयं आहारादि जिस वस्तु का उपयोग करते हैं, वह भी संग्रह करके रखते नहीं, और वह भी गृहस्थ से याचना करके लेते हैं. इसलिए याचित वस्तु का दान वे कैसे कर सकते हैं? जो जिस वस्तु का याचक है, वह उस वस्तु का दाता कैसे बन सकता है? इसीलिए *तीर्थंकरों के पास जो वस्तुएँ हैं—ज्ञान, धर्म, अभय, बोधि आदि उसी का वे दान कर* सकते हैं; और करते हैं। इसीलिए शक्रस्तव (नमोत्थुणं) के पाठ में अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं अभयदानदाता, चक्षु (ज्ञान) ज्ञान-दाता, मार्ग के दाता) (राहबर-पथ प्रदर्शक) बोधि (सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन) के दाता, धर्म (श्रुत-चारित्ररूप धर्म) के दाता उन्हें कहा गया है। यही कारण है कि तत्वार्थ-सूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका (२।४।१५४।४) में आचार्य पूज्यपाद ने तथा राजवार्तिक (२।४।२।१०५।२८) में क्षायिकदान का लक्षण इस प्रकार किया है—

"दानान्तरायस्यात्यन्तक्षयादनन्त प्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम्।"

अर्थात्—दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणिगणों का उपकार करने वाला अभयदानरूप क्षायिकदान होता है।

एक प्रश्न इस सम्बन्ध में फिर उठाया जाता है कि[1] अरिहन्तों के दानान्तराय कर्म का तो सर्वथा क्षय हो गया है, फिर वे सभी जीवों को इच्छित अर्थ क्यों नहीं दे देते? माना कि वे अपने पास धन आदि पदार्थ नहीं रखते, किन्तु वे दूसरों को उपदेश देकर या कहकर तो दिला ही सकते हैं। इसका उत्तर षट्खण्डागम की धवला टीका में दिया गया है—उन जीवों को अरिहंत न तो बाह्यपदार्थों का दान दे सकते हैं और न

---

१ अरहंता खीणदाणंतराइया सव्वेसिं जीवाणं मिच्छिदत्थे किण्ण देंति? ण, तेसिं जीवाणं लाहंतराइयभावादो॥ —धवला १४।५, ६; १८।१७।१

ही दिला सकते हैं, क्योंकि उनके अभी लाभान्तरायकर्म का उदय है, इसलिए बाह्य पदार्थों का लाभ (प्राप्ति) उन्हें नहीं हो सकता।"

क्षायिकदान के सम्बन्ध में एक और प्रश्न उठाया गया है कि[1] क्षायिकदान जैसे अरिहंतों में होता है, वैसे सिद्धों में भी होना सम्भव है, क्योंकि वे भी दानान्तराय आदि सभी कर्मों का सर्वथा क्षय कर चुकते हैं, फिर वे संसारी जीवों को अभयदानादि क्यों नहीं देते ? इस प्रकार की शंका सर्वार्थसिद्धि (टीका) में उठाई गई है, जिसका समाधान वहाँ किया गया है कि सिद्धों में क्षायिकदानादि होते हुए भी अभयदानादि का प्रसंग प्राप्त नहीं होता, क्योंकि अभयदानादि के होने में शरीरनामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म के उदय की अपेक्षा रहती है, मगर सिद्धों के शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म नहीं होते, अतः उनमें अभयदानादि प्राप्त नहीं होते।'

इसी से सम्बन्धित एक शंका फिर उठाई गई है कि[2] जब सिद्धों के ये शरीर तीर्थंकरादि नामकर्म नहीं होते, इसलिए उनमें अभयदानादि नहीं पाये जाते, किन्तु सिद्धों में क्षायिकदानादि तो होते हैं, फिर उन भावों का सद्भाव कैसे माना जाय ? इसका समाधान किया गया है कि जिस प्रकार सिद्धों के केवलज्ञान रूप से अनन्त वीर्य का सद्भाव माना गया है, उसी प्रकार परमानन्द के अव्याबाध रूप से ही क्षायिक का दानादि का सिद्धों में सद्भाव है।

बौद्धशास्त्रों में वर्णित दो दान

यद्यपि बौद्ध साहित्य में विविध दृष्टियों से दान के अनेक भेद बताए हैं, किन्तु अंगुत्तरनिकाय (२।१३।१) में महात्मा बुद्ध ने मुख्यतया दो प्रकार के दान बताए हैं—

"भिक्षुओ ! दो दान हैं—भौतिकदान और धर्मदान (आमिसदानं च धम्मदानं च)। इन दोनों में धर्मदान श्रेष्ठ है। धर्मदान की महिमा बताते हुए धम्मपद (२४।२१) में कहा गया है—

> 'सब्बं दानं धम्मदानं जिनाति
> सब्बं रसं धम्म रसो जिनाति।

अर्थात्—धर्मदान सब दानों में बढ़कर है। धर्म का रस सब रसों से श्रेष्ठ है।

---

१ यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि, सिद्धेष्वपि, तत्प्रसंगः।
नैष दोषः, शरीरनामतीर्थंकरनाम कर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् तेषां तदभावे तदप्रसंगः॥
—सर्वार्थसिद्धि २।४।१२१

२ कथं तर्हि सिद्धेषु तेषां वृत्तिः ? परमानन्दाव्याबाधरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः।
केवलज्ञान रूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत्।
—सर्वार्थसिद्धि २।४।१५४

धर्मदान के तीन रूप हैं—अभयदान, संयति (सुपात्र) दान और ज्ञानदान। भौतिक (आमिष) दान वह है, जो इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्धित हो। वस्तुतः जो दान वस्तुनिष्ठ हो, वह आमिषदान कहलाता है, परन्तु जो दान भावनिष्ठ हो, वह धर्मदान कहलाता है। भाव या अभय का दान अधिक लाभदायक, आत्मा के लिए वस्तु की अपेक्षा विचार, ज्ञान, हितकारक और जीवन निर्माणकारी होता है।

धर्मदान की सर्वश्रेष्ठता तो सभी धर्मों मे बताई गई है। पिछले पृष्ठों में हम यह बता चुके हैं कि धर्मदान श्रेष्ठदान है। क्योंकि जिसे अभयदान दिया जाता है। वह भौतिक पदार्थों की अपेक्षा अपने जीवित को अधिक चाहता है, जीवन सब को प्यारा है। एक ओर सोने-चांदी या रत्नों का ढेर हो और दूसरी ओर केवल अभय हो या ज्ञान अथवा विचार हो तो प्रत्येक प्राणी, खासतौर से मनुष्य तो जिन्दगी को ही अधिक चाहता है। ☆

17
वर्तमान में प्रचलित दान : एक मीमांसा

वर्तमान युग में प्रचलित दान

दान के विषय में जब इतना विशद विश्लेषण किया जा रहा है, तब वर्तमान युग में सर्वोदय नेता संत विनोबा भावे द्वारा प्रचारित कुछ दानों का जिक्र न करना उचित नहीं होगा। एतदर्थ हम यहाँ प्रसंगवश उन दानों पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—

भूदान—यद्यपि प्राचीनकाल में भी राजाओं, क्षत्रियों या जमींदारों द्वारा किसी शौर्य, वीरता, विशिष्ट कार्य या मन्दिर आदि के निर्वाहार्थ जमीन दान दी जाती थी। कभी-कभी शासक लोग खुश होकर ब्राह्मणों, कवियों, भाटों या चारणों आदि को भूमि दान दे दिया करते थे। परन्तु उस भूमिदान में और राष्ट्र संत विनोबा द्वारा प्रचलित भूमिदान में बहुत ही अन्तर है। राष्ट्र संत विनोबाजी का उद्देश्य भूमिदान के पीछे यह है कि जिन लोगों के पास अनाप-सनाप जमीनें हैं, अथवा परिवार पोषण से अधिक भूमि है, उन लोगों को स्वेच्छा से उन भूमिहीनों को अपनी भूमि में से कम से कम छठा हिस्सा दान देना चाहिए, ताकि निर्धन भूमिहीन या अत्यल्प भूमिधर का भी निर्वाह हो सके। समाज में विषमता तभी फैलती है, जब एक ओर एक व्यक्ति के पास इतनी अधिक जमीन हो कि न तो वह स्वयं उतनी जमीन जोत सकता है, और न इतनी जमीन पर होने वाली अत्यधिक उपज की उसे और उसके परिवार को जरूरत है, दूसरी ओर भूमि के अभाव में गाँव में कई परिवार कष्ट से अपना गुजारा चलाते हैं, मेहनत-मजदूरी के काम भी बारहों महीने मिलते नहीं और मजदूरी का दर भी बहुत कम है, जिससे उनके परिवार का पर्याप्त रूप से निर्वाह नहीं होता। ऐसी दशा में अगर उन भूमिहीन या अत्यल्प भूमिधर परिवारों को स्वेच्छा से अधिक भूमिधर व्यक्ति नहीं देंगे तो वे भूखे मरते हुए या तो चोरी करेंगे, या किसी अनैतिक धन्धे में प्रवृत्त होंगे, अथवा किसी राजनीतिज्ञ के चक्कर में आकर उन अत्यधिक भूमिवानों का सफाया करने पर उतारू होंगे। भूखा आदमी धर्म-मर्यादा, शर्म, लिहाज या स्नेह-सद्भाव को ताक में रख देता है, उस समय उसे सिवा लूट-खसोट या सम्पन्नों पर आक्रमण के और कुछ सूझता नहीं। बहुत ही विरले लोग ऐसे समय में धैर्य रखकर नैतिकता और ईमानदारी पर दृढ़ रह

पाते हैं। इसलिए संत विनोबाजी ने सन् १९५० से पोचमपल्ली (हैदराबाद जिले) में एक ही रात में कई जमींदारों की हुई हत्या के बाद उक्त परिस्थिति पर गम्भीरता से मन्थन करके भूदान का आविष्कार किया। तब से लेकर सारे हिन्दुस्तान में भूदान की गंगा प्रवाहित हुई। सर्वोदय नेता एवं सर्वोदय के कार्यकर्ता जगह-जगह भूमिहीनों के लिए भूमिधरों से जमीन मांगते और जमींदार भूमिवान लोग स्वेच्छा से अपनी जमीन में से यथेष्ट भूमिदान के रूप में देने लगे। बाद में दान में प्राप्त उस जमीन का भूदान कार्यकर्ता भूमिहीनों में वितरण करा देते, सरकार उसका पट्टा भूमिहीन के लिए कर देती और इस प्रकार लाखों भूमिहीनों को भूदान प्राप्त होने से राहत मिली। वे भूमिदान पाकर स्वावलम्बी हो गए। यह एक विशिष्ट कार्य हुआ। बहुत से अल्पभूमिवानों ने भी अपनी-अपनी जमीन में अमुक-अमुक हिस्सा भूमिहीनों के लिए दान किया।

सम्पत्तिदान—किन्तु केवल भूमिदान से ही उन गरीबों का कार्य पूर्ण नहीं होता था, बहुत-से लोग कृषिजीवी नहीं थे, वंश-परम्परा से अन्य धंधा या पेशा अपनाया हुआ था, उन्हें भूमिदान से इतना लाभ नहीं हुआ। अतः संत विनोबाजी ने जनता को समझा-बुझाकर ऐसे लोगों को कोई उद्योग-धन्धा दिलाकर या गाँवों में जिसके उद्योग कल-कारखानों के आने के कारण नष्ट हो गए या छिन गए, उन्हें भी पुनः उन उद्योगों को संजीवित कराने हेतु सम्बन्धित दीन-हीन, बेकार लोगों को स्वेच्छा से सम्पत्ति दिलाई। अथवा जनता से स्वेच्छा से सम्पत्तिदान करवाकर ऐसे ग्रामीण लोगों को अपने धंधे में राहत दिलाई। सम्पत्तिदान का उद्देश्य भी अच्छा है। इससे भी समाज में व्याप्त विषमता का अन्त आ सकता है। ईशोपनिषद् में तो ऋषि स्पष्ट कहते हैं—

"तेन त्यक्तेन भुंजीथाः, मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।"

—तुम्हें जो भी प्राप्त हुआ है, उसमें से त्याग करके फिर उपभोग करो। केवल धन को बटोर-बटोर कर उस पर मूर्च्छा रख कर मत बैठो, यह बताओ कि धन किसके पास या किसका बनकर रहा है?

साधन दान—जिन भूमिहीनों को खेती के लिए जमीन दी गई थी, उनमें से कई तो इतने निर्धन और साधनहीन थे कि उन्हें भूमि दिला देने के बावजूद भी वे खेती नहीं कर पाते थे, क्योंकि उनके पास जमीन जोतने और बोने आदि के लिए हल, बैल आदि अनिवार्य साधन नहीं थे, इसलिए संत विनोबा ने साधनदान का आविष्कार किया। सम्पन्न व्यक्तियों को समझाकर उनसे साधनदान लिया गया। संत विनोबाजी का यह कहना था कि अगर एक घर में किसी सम्पन्न गृहस्थ के पांच पुत्र हैं तो छठा पुत्र दरिद्र नारायण को समझ लें, और उसी श्रद्धा के साथ अपनी भूमि, सम्पत्ति या साधन में से छठा हिस्सा निकाल कर उसे भूमि, सम्पत्ति या

साधन से हीन लोगों को स्वेच्छा से दान दे। इस प्रकार सर्वोदय नेताओं एवं कार्यकर्त्ताओं द्वारा देश की बढ़ती हुई गरीबी और उसके कारण फैलती हुई अनैतिकता और हिंसा की जड़ों को ढीली करने में और उसकी रोकथाम करने में भूदान, सम्पत्तिदान और साधन दान ने बहुत अंशों में काम किया। भारत की लोकश्रद्धा को दान के रूप में पुनः जागृत किया, जनता में दान की सन्निष्ठा बढ़ाई। व्यवस्थित ढंग से लोगों को दान की व्याख्या समझाई। इसका प्रभाव केवल भारत में ही नहीं, विदेशों पर भी पड़ा और वे लोग भी भारत में लाखों एकड़ जमीन स्वेच्छा से दान के रूप में लोगों को देते देखकर आश्चर्य से दाँतों तले अंगुलि दबाने लगे। बहुत-से विदेशी लोगों ने भारत में आ-आकर इस स्वेच्छा से भूमिदान की प्रक्रिया को देखा। क्योंकि भारतवर्ष में जहाँ दुर्योधन जैसे उद्दण्ड शासकों के उद्गार थे—सूच्यग्रं नैव दास्यामि, विना युद्धेन, केशव !" (सूई की नोक पर आए, इतनी जमीन भी युद्ध के बिना नहीं दे सकता) तथा जमीन के लिए हजारों युद्ध हुए, रक्तपात हुआ, एक-एक इंच भूमि के लिए खून बहाया गया, वहाँ लोग स्वेच्छा से भूमिदान देने लगे, यह नवयुग का सूत्रपात था।

श्रमदान—जिन लोगों के पास न तो जमीन थी, न अधिक धन था, न अत्यधिक साधन थे, वे लोग समाज सेवा में कैसे योगदान दें, समाज सेवा और परोपकार का पुण्य कैसे वे उपार्जित करें, इसके लिए संत विनोबा ने श्रमदान की प्रेरणा दी। स्वेच्छा से निःस्वार्थभाव से या परोपकारभाव से बिना किसी बदले की आशा से श्रमदान करना भी एक प्रकार का पुण्य है। कायपुण्य के रूप में हम श्रमदान को भी गिन सकते हैं। श्रमदान से ग्रामों की श्री-वृद्धि हुई है, कई जगह गाँवों की समृद्धि बढ़ी है, श्रमदान से कई तालाब, सड़क, बाँध आदि निर्माण करके ग्रामीण लोगों ने अपने कर्त्तव्य या ग्रामधर्म का परिचय दिया है।

बुद्धिदान—कई व्यक्ति ऐसे भी हैं, जिनका शरीर श्रम के लायक नहीं है, जो प्रायः वैभव में पले-पुसे हैं, या जिन्हें कठोर श्रम करने की आदत नहीं है, अथवा जो अपाहिज या अंगविकल हैं, उनमें बौद्धिक शक्ति और दूसरों को विचार समझाने की शक्ति अच्छी है, उनकी बुद्धि उर्वरा है, ऐसे व्यक्तियों को अनायास पुण्योपार्जन करने, समाज सेवा करने या समाज की विशिष्ट उन्नति के कार्य में योगदान देने हेतु संत विनोबाजी ने बुद्धिदान की प्रेरणा दी। यद्यपि इस कार्य को प्राचीनकाल से ऋषिमुनि या ब्राह्मण-श्रमण करते आए हैं, वे सदा से धर्म कार्य में मार्गदर्शन, प्रेरणा एवं उपदेश देते रहे हैं। परन्तु उनका क्षेत्र धर्मसम्प्रदायों या जातियों तक ही प्रायः सीमित रहा है। वे व्यावहारिक क्षेत्र में स्वयं तथाकथित विषय से अनभिज्ञ तथा दूर होने से मार्गदर्शन या परामर्श नहीं दे सकते। इसलिए संत विनोबाजी ने बुद्धिदान को व्यापक रूप प्रदान किया, इसमें जो भी व्यक्ति चाहे अपनी बौद्धिक प्रतिभा का निःस्वार्थदान दे सकता है।

एक अध्यापक है, उसकी बुद्धि अच्छी है। अगर वह बुद्धिहीन, अथवा पढ़ने में कमजोर, मन्दबुद्धि छात्रों या प्रौढ़ों को मुफ्त मे पढ़ाकर बुद्धिदान देता है। ग्रीष्मावकाश या अन्य अवकाश के दिवसों में वह अपनी बुद्धि के द्वारा अनाथ, निर्धन, मन्दबुद्धि बालकों को फ्री पढ़ाकर उनकी बौद्धिक शक्ति में और वृद्धि करता है, तो यह भी बुद्धिदान का ही प्रकार है।

गुजरात में आनन्द के प्रशिक्षण कॉलेज के ५० नये बी. टी. अध्यापकों के एक जत्थे ने सन् १९६८ के ग्रीष्मावकाश के दौरान ग्रामीण क्षेत्रों में मुफ्त में एस. एस. सी. की कक्षाएँ लेने और विद्यार्थियों को पढ़ाने का निश्चय किया। खेड़ा जिले के जिन हाईस्कूलों का परीक्षाफल खराब रहा अथवा जहाँ-जहाँ के विद्यार्थी मन्दबुद्धि रहे, उन-उन गांवों मे जाकर कुछ अध्यापकों के जत्थों ने पढ़ाया। प्रशिक्षण कॉलेज के प्रिंसिपल ने यह अनोखा विचार (बुद्धिदान का) प्रशिक्षण के लिए आये हुए अपने छात्र-अध्यापकों के सामने रखा और उन्होंने यह सहर्ष स्वीकार किया तथा श्रद्धा और स्नेह भावना से उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर बुद्धिदान के इस कार्य को निष्ठापूर्वक किया।

इसी प्रकार अपाहिज या रोगी व्यक्ति भी अपनी बौद्धिकशक्ति से दूसरों का उपकार करके बुद्धिदान का उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है। मनुष्य के पास अनेक शक्तियाँ होती हैं। यदि आत्मविश्वास हो तो वह पैसे या साधन के अभाव में बुद्धि से भी बहुत-से महत्त्वपूर्ण परोपकार के कार्य कर दिखाता है।

'जॉन मेक रुक्वायर' बहुत साधारण स्थिति का न्यूयार्क की नुवेले न्यू हॉस्पिटल का एक रोगी था। उसके हाथ-पैर भी काम नही करते थे। पैरों से अपंग होने के कारण वह पहियेवाली गाड़ी में बैठकर घूमता-फिरता था। उन्हीं दिनों जॉन के मन में अन्तःस्फुरणा हुई मैंने जो कुछ सहा है, वह दूसरे रोगियों को न सहना पड़े, इसके लिए मैं जो कुछ कर सकूं, अपने अनुभव दे सकूं, लोगों को सुन्दर विचार देकर उनकी निराशा खत्म कर दूं, जो जिन्दगी भर रोगी रहे हैं, जिनके हाथ-पैरों में शक्ति नही हैं, या जिनके हाथ-पैर कट गये हों। सन् १९६१ से जॉन पहियेदार गाड़ी में बैठकर उन रोगियो के पास जाने लगा। उन्हें मानव जीवन की श्रेष्ठता समझाता, उन्हें धैर्य बंधाता, परमात्मभक्ति या नाम स्मरण करने का तरीका बताता, उन्हें अपनी वर्तमान परिस्थिति से निराश न होकर उसी स्थिति मे भी सत्कार्य या परोपकर के क्या-क्या कार्य हो सकते हैं, यह समझाता, उनकी चिन्ताएँ दूर करके उन्हें प्रसन्न और प्रफुल्ल रखता। "उनमें आत्मशक्ति प्रगट करता और आत्मशक्ति प्रगट करने के उपाय बताता।" इस प्रकार जॉन ने चार ही वर्षों में अनेक रोगियों, अपाहिजों को बुद्धिदान देकर नवजीवन दिया। उनमे आत्मशक्ति प्रगट कर दी, परमात्मा के प्रति श्रद्धा जगाई।"

समयदान—बुद्धि भी किसी व्यक्ति में न हो, शारीरिक श्रम देने की भी शक्ति

न हो, परन्तु समय तो हर व्यक्ति के पास रहता है। वह समयदान देकर भी बहुत-सा परोपकार का कार्य कर सकता है। वास्तव में समयदान देना भी महान् पुण्यकार्य है। किन्तु समयदान का यह अर्थ नहीं है कि किसी व्यक्ति के पास घन्टों बैठकर उसका मनोरंजन करने में समय बिताये, उसके व्यसन पोषण या ताश आदि खेलों के लिए अपना अमूल्य समय दे। समयदान का अर्थ है—व्यक्ति अपनी दिनचर्या में से अमुक समय निकालकर निःस्वार्थ भाव से परोपकार या भलाई के कार्य में लगाए या दे। ग्रीष्मावकाश या अन्य छुट्टियों के दिन अध्यापक या कर्मचारी आदि किसी भी सत्कार्य के लिए समय देकर अपने समय का दान कर सकते हैं।

अमेरिका के एक डॉक्टर विलियम मोरगन जो नाक, कान और गले के विशेषज्ञ हैं। एक बार अपने मित्र के आमंत्रण पर 'डोमिनिकन रिपब्लिकन' बन्दरगाह पर बने टापू पहुँचे। वहाँ वे अपने तीन सप्ताह छुट्टियों के बिताने आये थे। किन्तु अनेक गले के रोगियों की उन्होंने मी जांच की। पहले-पहल तो लोग ऑपरेशन से डरते थे, किन्तु धीरे-धीरे सन् १९३८ के बाद डॉ० मोरगन इसी टापू पर तीन सप्ताह का अवकाश बिताने और रोगियों की की चिकित्सा करने के लिए आने लगे। और प्रतिवर्ष ३००-४०० रोगियों के गले आदि के ऑपरेशन भी कर जाते थे। अन्य रोगियों का इलाज भी करने लगे। पिछले १२ वर्षों में इस समयदानी डॉक्टर ने ग्रीष्मावकाश का समय रोगियों को देकर लगभग ५००० से अधिक रोगियों के ऑपरेशन किये हैं। अब तो वे प्रतिवर्ष इस डॉक्टर का यहाँ के टापूनिवासी लोग हजारों की संख्या में फूलमालाएं लिए डॉक्टर मोरगन का अभिनन्दन एवं स्वागत करने के लिए खड़े रहते हैं। इसी प्रकार अन्य देशों के लोग भी अपना समयदान देकर जीवन को कृतार्थ कर सकते हैं।

इसके अनन्तर सन्त विनोबाजी ने भूदान के ही उत्कट रूप ग्रामदान और सर्वस्व दान की भावना के साथ कर्तव्यपरायण बनकर जीवनदान की प्रेरणा दी है। इन दोनों का भी संक्षिप्त परिचय पा लेना भी आवश्यक है।

ग्रामदान—वह कहलाता है, जिसमें सर्वोदय कार्यकर्ताओं की प्रेरणा से सारा गाँव मिलकर गाँव की भूमि को ग्रामसभा को दे देता हो, सारा गाँव नहीं दे तो, गाँव में ८० प्रतिशत लोग इसके लिए सहमत हों, तो भी ग्रामदान हो जाता है। ग्रामदान में ग्रामसभा को मिली हुई जमीन सारे गाँव की मानी जाती है, फिर ग्रामसभा सारे परिवारों का सर्वेक्षण करके जिस परिवार को जितनी भूमि, साधन, आदि की जरूरत होती है, वह उसे देती है, वह जमीन बेची नहीं जा सकती, न रहन रखी जा सकती है, सिर्फ उस जमीन को जोत-बोकर उसकी उपज ली जा सकती है। उपज में से अमुक हिस्सा ग्रामकोष में ग्रामसभा में जमा कराया जाता है। इसके अतिरिक्त सरकार भी सामूहिक रूप से उक्त ग्राम दानी गाँव की उन्नति के लिए सब प्रकार का प्रदान करती है, मदद करती है। इस दृष्टि से ग्रामदान ग्राम के प्रति

कर्तव्यपालन होने से, ग्रामधर्म के अनुकूल एक प्रकार का समानदान के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार के कई ग्राम-दान उड़ीसा के कोटापुर जिले में तथा बिहार आदि में हुए हैं। मगरौठ का ग्रामदान भी बहुत सफल हुआ था।

जीवनदान—जीवनदान का अर्थ है—व्यक्ति अपना सर्वस्व समाज-सेवा के लिए अर्पित कर दे और समाज से सिर्फ अपने निर्वाह के लिए उचित रूप में ले। परन्तु इस प्रकार के सच्चे जीवनदानी संत विनोबा, जयप्रकाश नारायण आदि इने-गिने ही साबित हुए हैं। वैसे जीवनदान की प्रक्रिया तो अच्छी है। और इस प्रकार का सेवाव्रती जीवनदानी अपना जीवन सर्वस्व समाज के चरणों में अर्पित करके महान् पुण्य उपार्जन करता है। वास्तव में, ऐसे सच्चे जीवनदानी तो सच्चे निःस्पृही त्यागी संत, श्रमण, ऋषि, मुनि आदि होते हैं, जो अपना घरबार, धनसम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि सर्वस्व छोड़कर अपना-जीवन स्व-पर-कल्याण में लगा देते हैं।

आधुनिक दानों में भूदान से लेकर जीवनदान तक जितने भी दान हैं, वे एक तरह से पुण्य के अन्तर्गत आ जाते हैं, बशर्ते कि ये दान अपने उद्देश्य के अनुरूप मानवता की भलाई के लिए हों, पक्षपात, भाई-भतीजावाद, स्वार्थ एवं बेईमानी आदि दोषों से दूर हों। वैसे लोकश्रद्धा और बड़े-बड़े धनिकों या जमींदारों की सद्भावना प्रगट करने में इन दानों ने काफी प्रेरणात्मक कार्य किया है। कई लोगों के दिलों में दान का चिराग जलाया है। जैसे वारिया (गुजरात) के भूतपूर्व नरेश और गुजरात विधानसभा के असन्तुष्ट स्वतन्त्र नेता श्री जगदीपसिंह जी ने अपना वारियास्थित महल एवं लगभग ५० एकड़ का विशाल भूमि-खण्ड कृषि-अनुसन्धान के लिए एक सार्वजनिक ट्रस्ट को दान दे दिया। महल व जमीन की कीमत लगभग ४० लाख रु० से अधिक की होगी। श्री जगदीपसिंह जी स्वयं एक छोटी-सी कुटिया में रहने लगे।

इसी प्रकार नेताजी सुभाषबाबू जब बर्मा पहुँचे तो उन्होंने भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के लिए आजाद हिन्द फौज बनाई। उस समय वे इस स्वतन्त्रता यज्ञ के लिए घूमते-घूमते एक बुढ़िया के यहाँ पहुँचे। वह बहुत धनाढ्य थी। उसने पूछा—"बेटा ! तुम कौन हो ?"

सुभाषबाबू—"मैं सुभाष हूँ माँ !"

बुढ़िया—"क्या वही सुभाष हो, जिसने भारत को आजादी दिलाने के लिए आजाद-हिन्द फौज बनाई है ? बोलो क्या चाहिए ?"

"सुभाषबाबू—"सेना के लिए कुछ सहायता चाहिए, माँ !"

बुढ़िया—"अरे, इसमें क्या ! लो, मैं अपनी सर्वस्व सम्पत्ति १० लाख तुम्हारे देश सेवा कार्य के लिए दे देती हूँ।"

सुभाष—"माँ ! फिर तुम्हारा गुजारा कैसे होगा ?"

बुढ़िया— देश के लिए जब तुम इतना त्याग कर रहे हो तो क्या मैं जरा-सा भी अपना सुख नहीं छोड़ सकती ?" और बुढ़िया ने तुरन्त १० लाख रुपये का चैक सुभाषबाबू को दे दिया।

यह है, सम्पत्तिदान का आदर्श उदाहरण !

महात्मा गाँधी जी जमनालाल जी बजाज से बहुत कम मिलते थे। और न ही कट्टर सनातनी होने के नाते छुआछूत आदि के संस्कारों के कारण उनका भी गाँधी जी के कार्यों की ओर ध्यान था। परन्तु गाँधी जी जो कार्य स्वराज्य के लिए कर रहे थे, उसे वे अच्छा समझते थे। एक बार गाँधी जी को किसी सार्वजनिक कार्य के लिए धन की आवश्यकता थी, इसलिए घूमते-घूमते वे जमनालाल जी के यहाँ पहुँच गए। जमनालाल जी उन्हें देखते ही समझ गए कि बापू आज कुछ न कुछ लेने आये हैं। ये अपने मुँह से कुछ कहेंगे नहीं। अतः जमनालाल जी ने वह गद्दी जिस पर वे बैठे थे गांधीजी के लिए छोड़ दी और स्वयं एक दूसरी गद्दी पर बैठ गए। गाँधी जी के गद्दी पर बैठने के बाद उन्होंने पूछा—'कहिये बापू ! आज किस प्रयोजन से पधारने की कृपा की ? मेरे योग्य सेवा कार्य हो सो कहिए।' गाँधी जी ने सारी बात खोलकर कही। इस पर जमनालाल जी ने कहा—'बापू ! मैंने आपको पहले से ही यह गद्दी समर्पित कर दी है। इस गद्दी में खर्च के बाद जितनी भी आमदनी बचेगी, वह सब आपके कार्यों के लिए समर्पित है। आप मुझे आज्ञा दीजिए कि किसको कितना और क्या देना है ?' गाँधी जी समझ गए। जमनालाल जी ने उस गद्दी के हिसाब में खर्च के बाद जितना रुपया बचा, सारा गाँधीजी के द्वारा प्रेरित सार्वजनिक कार्यों में दे दिया।

इसी प्रकार निःस्वार्थ भाव से दिया गया श्रमदान भी बड़ा मूल्यवान होता है। इसे पैसो में नहीं आंका जा सकता। बंगाल के एक रेल्वे स्टेशन पर गाड़ी रुकी। उतरने वाले उतर गए और चढ़ने वाले चढ़ गए। इसी डिब्बे में एक बुढ़िया थी, जिसे इसी स्टेशन पर उतरना था। उसके पास वजनदार पेटी थी। बुढ़िया अपनी पेटी को डिब्बे के द्वार तक घसीट लाई, पर उसे उठाकर नीचे न उतार सकी। बहुत-से लोग उस पेटी को लांघकर डिब्बे मे चढ़े और उतरे, लेकिन मांजी के यह कहने पर भी कि 'भाई ! यह पेटी जरा मेरे सिर पर रख दो, अभी गाड़ी रवाना होगी, मैं रह जाऊँगी' किसी ने ध्यान नही दिया। गाड़ी रवाना होने का समय हो गया। बुढ़िया घबराकर इधर-उधर सहायता के लिए ताकने लगी, पर किसी ने दया न दिखाई, न मदद की। बुढ़िया की आंखो मे आँसू बहने लगे। पास ही में फर्स्ट क्लास का डिब्बा था, उसकी खिड़की के पास ही एक सज्जन बैठे हुए थे। उनकी नजर गिड़गिड़ाती हुई बुढ़िया पर पड़ी। गाड़ी रवाना होने का समय हो आया। घन्टी लगी। गार्ड ने सीटी बजाई, हरी झंडी दिखाई। पर उस सज्जन ने इसकी चिन्ता किए बिना तुरन्त अपने डिब्बे से उतर कर बुढ़िया की पेटी उठाई और उसके माथे पर धीरे से

रख दी। बुढ़िया ने अन्तर से आशीर्वाद दिये। वे सज्जन तुरन्त अपने डिब्बे में जा बैठे और उसी समय गाड़ी रवाना हो गई; वे सज्जन थे—कासिम बाजार के राजा माणिक्यचन्द्र नन्दी। वास्तव में वे सच्चे राजा थे।

इसे हम श्रमदान का नमूना कह सकते हैं। किन्तु वर्तमान श्रमदान, प्रायः सामूहिक रूप से सार्वजनिक कार्यों में निःस्वार्थ भाव से अपना श्रम देने के अर्थों में प्रयुक्त होता है।

उक्त दानों में पवित्रता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि ये सभी दान निःस्वार्थ भाव से अथवा मानवीय दृष्टि से हों। अगर इनमें स्वार्थ, प्रदर्शन और नेतागिरी की भावना आ गई तो फिर उन दानों से कोई भी पुण्य या लाभ नहीं होने वाला है।

दान के ये और इस तरह के सभी प्रकारों का वर्णन लगभग आ गया है। वास्तव में देखा जाय तो दान भावना पर निर्भर होने से उसके अनेक प्रकार हो सकते हैं, वस्तु की अपेक्षा से, पात्र की अपेक्षा से, आवश्यकता की अपेक्षा से और जीवन निर्माण की अपेक्षा से। अतः इनका वर्गीकरण करके पूर्वपृष्ठों में यत्र-तत्र धर्मशास्त्रों, ग्रन्थों एवं महान् व्यक्तियों द्वारा निर्दिष्ट एवं प्रचलित दानों का उल्लेख एवं उन पर सांगोपांग विवेचन किया जा चुका है। ☆

18
दान और अतिथि सत्कार

अतिथि-सत्कार

भारतीय संस्कृति में अतिथि को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। उपनिषदों में 'अतिथि देवो भव' का मन्त्र यही बताता है कि प्रत्येक गृहस्थ को अतिथि को देवता मानकर चलना चाहिए। अतिथि का निराश होकर किसी के घर से लौट जाना पुण्य राशि का लौट जाना है। इसीलिए नीतिकार इस बात की एक स्वर से उद्घोषणा करते हैं—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गेहात्प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा, पुण्यमादाय गच्छति॥

—'जिसके घर से अतिथि हताश होकर लौट जाता है, समझ लो, वह उसे पाप देकर और पुण्य को लेकर लौटता है।' प्रश्न होता है कि अतिथि निराश होकर लौटता है, वह पुण्य लेकर और पाप देकर कैसे चला जाता है? इसका समाधान यह है कि अतिथि सत्कार करने से जिन नौ प्रकार के पुण्यों का उपार्जन वह गृहस्थ कर सकता था। उसके बदले यदि वह अतिथि को रूखा उत्तर देकर, टरकाकर या हताश करके या अपमानित करके अपने घर से निकाल देता है तो वह गृहस्थ उस पुण्य से तो वंचित ही रहा, और अतिथि को खाली हाथ लौटाने या अपमानित करने का पाप और उसके पल्ले पड़ गया। इस प्रकार पुण्य के बदले वह गृहस्थ पाप का भागी बन जाता है, जो अतिथि को खाली लौटा देता है।

इस दृष्टि से जब हम अतिथि सत्कार पर विचार करते हैं, तो शास्त्रोक्त ६ पुण्यों का उसके साथ गहन सम्बन्ध जुड़ जाता है। अतिथि जब किसी के घर में प्रवेश करता है तो सर्वप्रथम उसे नमस्कार किया जाता है या राम-राम या जयजिनेन्द्र, जयश्रीकृष्ण आदि किया जाता है, फिर वचन से उसे 'आओ, पधारो, स्वागत है आपका', कहकर स्वागत किया जाता है। मन से भी अतिथि को अपने घर आया देखकर गृहस्थ अपना अहोभाग्य समझता है, और राजस्थान की कहावत—'घर आयो माँ को जायो' समझकर मन ही मन अपने भाग्य को सराहता है कि उसके यहाँ दिव्य पुरुष—पुण्य का अवसरदाता—आ गया। और फिर अतिथि को भोजन के समय

उत्तम भोजन देता है, अन्य पेय-पदार्थ तथा स्वच्छ छना हुआ ठंडा जल पिलाता है। साथ ही अतिथि के निवास का प्रबन्ध करता है, अतिथि को सोने के लिए चारपाई, या पलंग देता है, ओढ़ने-बिछाने के लिए वस्त्र देता है। इस प्रकार अतिथि सत्कार करने या अतिथि को आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करने में नौ ही प्रकार के पुण्य प्राप्त हो जाते हैं।

पूर्वोक्त नवविध पुण्यों के साथ अतिथि-सत्कार का वर्णन पढ़कर पाठक अवश्य ही इस नतीजे पर पहुँच सकेंगे कि अतिथि-सत्कार से नवविध पुण्योपार्जन अनायास ही किया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति में अतिथि-सत्कार के लिए प्रारम्भिक रूप से चार बातें आवश्यक मानी जाती थीं—

१. खड़े होकर स्वागत करना।

२. बैठने के लिए आसन देना।

३. कुशल प्रश्न पूछकर भोजन आदि की मनुहार करना

४. जाते समय आदरपूर्वक विदा करना।

मनुस्मृति में सद्गृहस्थ के लिए अतिथि सम्मान आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। और सद्गृहस्थ को इसके लिए प्रेरणा दी गई है—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥३/१०१॥

—अर्थात् अतिथि के लिए तृणासन (चटाई), ठहरने की जगह, पैर धोने के लिए या पीने के लिए पानी, और मधुर एवं सत्य (हितकर) वाणी, इन चार वस्तुओं की कमी तो सद्गृहस्थों के यहाँ कभी नहीं होती।

प्राचीनकाल में कुछ सद्गृहस्थ तो इस प्रकार का नियम ले लेते थे कि अतिथि को खिलाए बिना मैं कुछ नहीं खाऊँगा। अथवा अतिथि जिस दिन हमारे घर में भोजन नहीं करेगा, उस दिन हम भूखे रहेंगे।' इस नियम की कभी-कभी तो बड़ी कसौटी हुआ करती थी। कभी-कभी तो सद्गृहस्थ को कई दिनों तक इधर-उधर ढूंढने पर भी अतिथि नहीं मिलता था। अतः उसे भूखे रहना पड़ता था। कई-कई बार तो अतिथि की विचित्र मांग होती, उसे भी सद्गृहस्थ पूरी करता था।

गुजरात में जगाशा नामक एक प्रसिद्ध धनिक वैश्य हो गया है, जिसका यह नियम था कि 'जब तक अतिथि को नहीं खिला दूंगा, तब तक स्वयं भोजन नहीं करूंगा' जिस दिन कोई अतिथि नहीं मिलता, उस दिन वह स्वयं भूखा रहता था। आजकल की तरह उस समय भिखमंगों या भिखारियों की बाढ़ नहीं थी, और न इतने भंगेड़ी, गंजेड़ी, निठल्ले, या पेशेवर याचकों की पलटन थी। बड़ी मुश्किल से ढूंढने पर कोई ऐसा व्यक्ति मिलता था, जो आतिथ्य स्वीकार करने के लिए तैयार होता था।

एक बार कई दिनों तक सगालशा सेठ को कोई अतिथि नहीं मिला। फलतः वे अपने नियम के अनुसार भूखे रहे। कई दिनों बाद उन्हें एक तपस्वी मिले। उनसे सगालशा सेठ ने प्रार्थना की—'तपस्विन् ! कृपा करके आज मेरे घर पधारिए और कुछ आतिथ्य स्वीकार कर मुझे भी कुछ लाभ दीजिए।'

तपस्वी ने कहा—'भाई ! मैं तो बीमार साधु हूँ। अतः तुम्हारे यहाँ मैं कैसे भोजन कर सकूंगा ?' इस पर सगालशा सेठ ने आग्रहपूर्वक प्रार्थना करते हुए कहा—'भगवन् ! आप जो कहेंगे, वैसा भोजन आपके लिए प्रस्तुत कर दूंगा। अतः आज तो आपको मेरा घर पावन करना ही होगा, आप केवल अपने चरण ही मेरे घर में डाल दें। सेठ की अत्यन्त भक्ति देखकर तपस्वी सन्त उसके यहाँ चलने को तैयार हो गए। दोनों ही व्यक्ति चलकर घर आए। तपस्वी संत ने सेठ की परीक्षा लेने के लिए कहा—'सेठ जी ! अगर आप अपने लड़के को मार-पीट कर मुझे देंगे तो मैं वह भोजन ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।' सेठ सगालशा अपने लड़के को पीटने के लिए तैयार हो गए। तपस्वी संत शीघ्र समझ गए कि सेठ की भक्ति में दिखावा नहीं है। अतः उन्होंने सेठ जी को ऐसा करने से रोका और उनके यहां का भोजन स्वीकार किया।

वास्तव में उत्तम अतिथि सत्कार में किसी प्रकार का वर्ण, जाति, रंग, देश, प्रान्त, धर्म, आदि का भेद नहीं किया जाता। वहाँ तो यही देखा जाता है कि अतिथि चाहे कोई भी हो, वह बड़ा है, देवमय है, पूज्य है। देखिए, भारतीय मनीषियों ने अतिथि-सेवा पर कितना गहनतम एवं उदार चिन्तन है—

—"अपने घर पर आया हुआ व्यक्ति चाहे बालक हो चाहे युवक हो अथवा वृद्ध हो, उन सबकी पूजा (सत्कार-सेवा) करनी चाहिए, क्योंकि अतिथि सबसे बड़ा माना जाता है।

—उत्तम वर्ण के या नीच कुल के भी घर पर आए हुए व्यक्ति की यथायोग्य पूजा (सेवा-सत्कार) करनी चाहिए, क्योंकि अतिथि सर्वदेवमय होता है।

—"कोई भूख और प्यास से पीड़ित हो, या किसी के द्वारा सताया हुआ हो, वह अपने घर आ जाय, तो उसे अतिथि समझना चाहिए और मनीषी पुरुष को उसकी सेवा, या पूजा विशेष रूप से करनी चाहिए।

जिसके कुल या नाम का पता नहीं है, दूसरी जगह से आया है, एक (अपने) गाँव का निवासी नहीं है, ऐसे अतिथि की भी भलीभाँति पूजा (सेवा-सत्कार) करनी चाहिए।

—"न तो अतिथि के जन्म (जाति) के सम्बन्ध में पूछना चाहिए और न ही उसके गोत्र या आचार के सम्बन्ध में और न ही उसके गुणों या समृद्धि के विषय में प्रश्न करना चाहिए; क्योंकि अतिथि धर्म तो सर्वधर्ममय (समस्त धर्मों में घुला-मिला) होता है।

—"दूर से आए हुए, मार्ग में थके हुए या किसी व्यथा से त्रस्त व्यक्ति को अपने घर पर आये देखकर जो उसकी सेवा (पूजा या सत्कार) किये बिना ही स्वयं भोजन कर लेता है, वह चाण्डाल कहलाता है।

—"शत्रु भी अपने घर पर आ जाय तो उसका भी उचित आतिथ्य करना चाहिए। वृक्ष भी अपने को काटने वाले पर से अपनी छाया समेट (हटा) नहीं लेता।

—देवयोग से यदि अतिथि के रूप में देव का घर में निवास या प्रवेश हो तो उसे खिलाये-पिलाये बिना अकेले अमृतपान करना भी शोभा नहीं देता।[1]

अतिथि सेवा के इस उदार चिन्तन के प्रमाण के रूप में निम्नोक्त घटना पढ़िए—

भूदेव महामहोपाध्याय अपने घर से घूमने के लिए निकले। रास्ते में एक मौलवी साहब से बातचीत करते हुए वे घर तक आ गए। मौलवी साहब को प्यास लगी थी। उन्होंने भूदेव महामहोपाध्याय से पानी माँगा। एक गिलास में स्वच्छ ठंडा पानी भर कर उन्हें पीने के लिए दिया गया। पानी पीने के बाद झूठा गिलास मौलवी साहब पास में खड़े हुए बालक को देने लगे। बालक ने सोचा—मुसलमान फकीर का झूठा गिलास मैं कैसे लूं?' तब महामहोपाध्याय जी ने आँख के इशारे से उसे झूठा गिलास ले लेने को कहा। बालक ने गिलास ले लिया। मौलवी साहब के चले जाने के बाद महामहोपाध्यायजी ने बालक को समझाया—हिन्दूधर्म के नाते

---

१ बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः।
तस्य पूजा विधातव्या, सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥
उत्तमस्याऽपि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः॥
आर्त्तस्तृष्णाक्षुधाभ्यां यो वित्रस्तो वा स्वमन्दिरम्।
आगतः सोऽतिथिः पूज्यो विशेषेण मनीषिणा॥
अज्ञातकुलनामानमन्यतः समुपागतम्।
पूजयेदतिथिं सम्यग् नैकग्रामनिवासिनम्॥
न प्रश्नो जन्मनः कार्यो, न गोत्राचारयोरपि।
नाऽपि गुणसमृद्धीना सर्वधर्ममयोऽतिथिः॥
दूरागतं पथिश्रान्तव्यथागृहआगतम्।
अनर्चयित्वा यो भुंक्ते, स वै चाण्डाल उच्यते॥
अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते।
छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः॥
यदि दैवाद् गृहे वासो देवस्यातिथिरूपिणः।
पीयूषस्याऽपि पानं हि, तं विना नैव शोभते॥ —(करल ६।२)

इस प्रकार झूठा गिलास लेने में तुम्हें दुःख अवश्य हुआ होगा। किन्तु याद रखना चाहिए कि अपने घर पर कोई अतिथि आ जाए तो उसका सत्कार करने में जाति व धर्म का विचार नहीं करना चाहिए। अतिथि को साक्षात् ब्रह्मा या विष्णु समझ कर सत्कार करना चाहिए। अतिथि सत्कार में यदि तनिक भी कमी पड़े तो समझना चाहिए हिन्दूधर्म का वास्तविक रूप में पालन नहीं हुआ है। यदि हम इस प्रकार अतिथि सत्कार न करें तो सद्गृहस्थ ब्राह्मण की श्रेणी में भी नहीं आ सकते। तुमने मुसलमान को झूठे गिलास का स्पर्श किया, इससे तुम्हें कोई दोष नहीं लगा। हाँ, यदि तुम मौलवी साहब का उचित सत्कार नहीं करते तो बहुत बड़ी मात्रा में कर्तव्य-हीन की श्रेणी में गिने जाते और पाप के भागी होते।'

यह है 'अतिथि देवो भव' का उदात्त एवं प्रत्यक्ष उदाहरण ! वैसे देखा जाय तो अतिथि धर्म में बहुत-से धर्म, कर्तव्य या दायित्व आ जाते हैं। भारत में बहुत से फाहियान ह्वेनसांग जैसे विदेशी यात्री आए और उन्होंने भारत की यात्रा का वर्णन अपने-अपने ढंग से लिखा। उसमें भारत की एक विशेषता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा कि भारत के लोग अतिथि सत्कार में सब देशों से आगे हैं। यहाँ घरों में पानी माँगने पर दूध हाजिर किया जाता है, और दूध न लें तो शर्बत या गुड़ तो गरीब से गरीब घर में अतिथि को दिया जाता है।' भारत के लोग कैसी भी कठिन परिस्थिति में होने पर भी अतिथि को खाली हाथ नहीं लौटने देते थे।

जिन दिनों महाराणा प्रताप अपने परिवार सहित चित्तौड़ को छोड़कर अरावलीपर्वतों में निवास कर रहे थे। अकबर की शक्तिशाली सेना उनके पीछे पड़ी हुई थी। जंगल में रहने का उनका कोई एक निश्चित स्थान नहीं था, कभी कहीं और कभी कहीं रात बिताते थे। उस वन में खाने के लिए न कोई फल या कन्द मिलते थे। सिर्फ घास के बीज पत्थर पर बांटकर उसकी रोटी बनाकर खाते थे। कई दिनों से निराहार रहने के कारण राणा और रानी जी का शरीर सूख गया था। दोनों बच्चों को आधी-आधी रोटी दी गई। राजकुमार अबोध था, उसने अपनी आधी रोटी उसी समय खा ली। लेकिन राजकुमारी कुछ सयानी व समझदार थी, उसने अपनी आधी रोटी न खाकर एक पत्थर के नीचे दबाकर अपने भाई के लिए सुरक्षित रख दी। उन्हीं दिनों वन में राणा के पास एक अतिथि आ गये। उन्हें पत्ते बिछाकर एक शिला पर सोने-बैठने का आसन दिया। पैर धोने को पानी दिया। फिर वे इधर-उधर देखने लगे। मेवाड़ाधिपति के पास आज अतिथि को देने के लिए दो दाने भी न थे। लेकिन राजकुमारी ने पिता का आशय समझ लिया। वह अपने हिस्से का रोटी का टुकड़ा एक पत्ते पर रखकर लाई और अतिथि के सामने रखकर बोली—'हमारे पास आपका सत्कार करने योग्य आज और कुछ नहीं है, आप इसे ही स्वीकार करें। अतिथि ने वह आधी रोटी खाई, जल पिया और विदा हो गए। मेवाड़ाधिपति की आँखों में आँसू आ गये कि मैं एक अतिथि को भी नहीं खिला सका, और बच्चों का पिता होकर इन्हें भी भरपेट न दे सका, खेद है।'

महाराष्ट्र में यशवन्त नामक एक गृहस्थ अतिथि-धर्म का पालक हो गया है। वह अपने यहाँ आए हुए अतिथि को हर्गिज जाने नहीं देता था। एक बार उसके यहाँ एक विद्वान् आया। यशवन्त उसकी बहुत खातिर-तवज्जह करने लगा। आतिथ्य में उसने कोई कोरकसर न रखी। अतिथि ने यशवंत से कहा—मैं तुम्हारे यहाँ चार दिन तक रहना चाहता हूँ। परन्तु मैं इसी शर्त पर रह सकता हूँ कि तुम मुझे अपने घर के आदमी की तरह रखो। अन्यथा, मैं धर्मशाला में रह जाता हूँ।' यशवंत ने अपने स्वभाव के अनुसार आगन्तुक की बात मान ली, उसे अन्यत्र हर्गिज नहीं जाने दिया। वह अतिथि अब घर के लोगों से घुल-मिल गया। घर में जो भी काम उसे सूझता, वह करता रहता। तथा यशवंत से भी पूछता—'बोलिए, क्या लाऊँ आपके लिए?' तीन दिन यशवंत के यहाँ रहकर जब वह चौथे दिन जाने लगा तो यशवंत ने पूछा—'बोलो, आपकी भावना के अनुसार काम हो गया न! मुझ से कोई गलती हुई हो तो माफ करना।' अतिथि ने कहा—'मैं तो अपने घर की तरह ही तुम्हारे यहाँ रहा हूँ। गलती क्या हो सकती है, तुम से?' यह है, अतिथि-पूजा का रहस्य! अतिथि के लिए गृहस्थ सर्वस्व न्योछावर कर देता है, यहाँ तक कि संकटग्रस्त होने पर भी अतिथि सेवा करना नहीं छोड़ता।

एक बात और है, जो अतिथि सत्कार के साथ विचारणीय है, वह यह है कि अतिथि सेवा या अतिथि सत्कार से नौ प्रकार के पुण्य का लाभ सर्वांशतः तभी मिल सकता है, जबकि पूर्ण विधिपूर्वक अतिथि का सत्कार किया जाए, जिसमें उक्त नौ भेद पुण्य के (पूर्वोक्त रीति से) आ जाएँ। अर्थात् अतिथि के आगमन, भोजन और विदाई के समय पूर्ण शिष्टाचार और निश्छल उदार व्यवहार रखना चाहिए। इन तीनों प्रसंगों के सम्बन्ध में पंचतन्त्र, मनुस्मृति एवं चन्द्रचरित्र में भली-भाँति निर्देश किया गया है। वे श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं—

> एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं, कस्माच्चिराद् दृश्यसे।
> का वार्ता तनुदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्।
> एवं नीचजनेऽपि युज्यति गृहं प्राप्ते सतां सर्वदा।
> धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः स्मार्तैर्लघुस्वर्गदः।

—पंचतन्त्र १।२।७६

—'आओ, पधारो, इस आसन पर बैठो, इस बार तो बहुत दिनों में दर्शन दिये। क्या हालचाल हैं? कमजोर कैसे दिखाई दे रहे हैं? स्त्री-बच्चों सहित कुशल तो हैं न? आपके दर्शन पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। इस प्रकार साधारण (नीचा) व्यक्ति भी सज्जनों के घर में पहुँच जाय तो उसका सदा मधुर वाणी से स्वागत-सत्कार करना उचित है। मनु आदि स्मृतिकारों ने इसे गृहस्थ धर्म कहा है, तथा शीघ्र स्वर्ग-दायक भी बताया है।

अतिथि सेवा करने से नौ प्रकार का पुण्य कैसे उपार्जित हो जाता है, और

उस पुण्य संचय के फलस्वरूप वह शीघ्र स्वर्ग में या मनुष्यगति में भी उत्तम कुल में कैसे जन्म ले लेता है, इसके लिए उदाहरण देखिए—

प्रतिष्ठानपुर का राजा सातवाहन एक बार आखेट के लिए वन में गया। उसके सैनिक उससे बहुत आगे निकल गये, राजा रास्ता भूल जाने से बहुत पीछे रह गया। राजा को वन में भटकते-भटकते भील की एक झोंपड़ी मिली। भील ने राजा को नहीं पहिचाना। उसने अतिथि समझकर राजा का बहुत स्वागत किया। स्वच्छ जल तथा सत्तू जो कुछ अपने पास था, भील ने सारा का सारा राजा को दे दिया। राजा अत्यन्त भूखा था, इसलिए सत्तू खाकर तृप्त हुआ। झोंपड़ी बहुत ही छोटी थी, और जाड़े के दिन थे। जंगल में कड़ाके की ठंड पड़ती थी। भील ने राजा को झोंपड़ी में सुलाया, और स्वयं बाहर सर्दी में ठिठुरता रहा। भील ने अत्यन्त ठंड लग जाने के कारण वहीं दम तोड़ दिया। प्रातःकाल सैनिक राजा को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते भील की झोंपड़ी पर पहुँचे। राजा ने अपने उपकारी भील को मृत देखकर उसकी ससम्मान अन्त्येष्टि क्रिया की। भील की पत्नी का पता लगाकर उसे भी जीवन-निर्वाह के लिए बहुत धन दिया। यह सब करके राजा सातवाहन नगर को लौटे, लेकिन मन में पश्चात्ताप चल रहा था कि मेरे कारण बेचारे भील की मृत्यु हो गई। राजा को चिन्तातुर देखकर महापंडित ज्योतिर्विद वररुचि उसे लेकर नगर सेठ के यहाँ पहुँचे। नगर सेठ का नवजात पुत्र जब राजा के सामने लाया गया तो पण्डितजी के आदेश पर बोल उठा—"मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। आपको सत्तू देने तथा आतिथ्य करने के कारण ही मैं मरकर यहाँ नगर सेठ का पुत्र बना हूँ। और उसी पुण्य प्रभाव से मुझे पूर्वजन्म का स्मरण (ज्ञान) हुआ है।"[१]

अतिथि के आगमन के समय किस प्रकार आतिथ्य करना चाहिए, यह स्पष्ट है। बल्कि अतिथि के आगमन पर जो स्वागत नहीं करता, उसके सम्बन्ध में भी स्मृतिकार कहते हैं—

—"जिस घर में अतिथि के आने पर कोई उठकर स्वागत नहीं करता न बातचीत ही करता है, न मीठे वचन बोलता है, गुण-दोष की चर्चा न हो, उस घर में जाना भी नहीं चाहिए।[२]

याज्ञवल्क्य स्मृति में तो निर्धन या साधारण गृहस्थ के लिए भी अतिथि-सत्कार का अनिवार्य विधान बताया है—

'अतिथित्वेन वर्णानां देयं शक्त्याऽनुपूर्वशः।'

—चारों वर्णों के लोगों को अतिथि रूप में पाकर क्रमशः यथाशक्ति देना चाहिए।

---

१ ऐसी ही घटना राजा विक्रमादित्य के पूर्व भव के विषय में प्रसिद्ध है।
२ नाभ्युत्थानक्रिया यत्र, नालापो मधुराक्षरः।
गुणदोष-कथा नैव तत्र हर्म्ये न गम्यते॥

मैं मध्यप्रदेश का गवर्नर था, तब लार्ड माउंटबेटन मेरे यहाँ अतिथि हुए। इससे पूर्व उनके सेक्रेटरी का पत्र आया था, जिसमें उनकी अनुकूल व्यवस्थाओं का दिग्दर्शन था। ब्रांडी की व्यवस्था के लिए विशेष रूप से संकेत था। मेरे लिए यह एक समस्या थी कि लिखे जाने पर भी घर आने वाले मान्य अतिथि की मैं व्यवस्था न करूँ? यह कैसा लगेगा उसे?' आखिर मैंने महात्मा गांधीजी से इस सम्बन्ध में मार्गदर्शन माँगा। उन्होंने स्पष्ट लिखा—'जिस वस्तु को तुम बुरा समझते हो, वह वस्तु अपने मान्य अतिथि को कैसे दोगे?' मैंने सेक्रेटरी को उत्तर लिख दिया—'आपके लिखे अनुसार और सब व्यवस्थाएं हो जाएँगी, लेकिन खेद है कि मैं ब्रांडी की व्यवस्था नहीं कर सकूँगा, क्योंकि मैं इसे बुरी चीज मानता हूँ, यह मैं अपने सम्मान्य अतिथि को दूँ, यह मुझे उचित नहीं लगता।' मेरे यहाँ लार्ड माउंटबेटन तीन दिन ठहरे और मेरी सिद्धांत-प्रियता के लिए मुझे धन्यवाद दिया।

इसीलिए अतिथि के विषय में जो पूर्वोक्त लक्षण दिया गया है, उसकी कसौटी पर उसे कस लेना अच्छा है। भावुकता में बहकर सिद्धान्त और नैतिकता को ताक में रख देना अतिथि-सत्कार नहीं है। जैसे विदेशों में ऐसी प्रथा है कि अतिथि के साथ गृहस्थ के घर की गृहणियाँ ताश खेलती हैं, अंग-कुचेष्टा करती हैं, विकारवर्द्धक हँसी-मजाक भी करती हैं। पर भारतीय संस्कृति में अतिथि के लिए यह स्पष्ट बताया है—

—'जो स्नान-श्रृंगार (छैलछबीला बनने हेतु) न करता हो, अपनी पूजा-प्रतिष्ठा न कराता हो, आभूषणों से सजधज न आया हो, मद्य-मांस से निवृत्त हो, ऐसा गुणवान् को ही वास्तविक अतिथि समझना चाहिए।'[1]

जो स्वयं छैल छबीला हो, मौज-शौक के लिए किसी के घर जब-तब आ धमकता हो, शराब-मांस का सेवन करता हो, या बनठन कर गृहस्वामी के घर की स्त्रियों को अपने मोहजाल में फँसाने हेतु आता हो, आकर्षित करने हेतु गहने और श्रृंगार करके चला आता हो, ऐसे सम्पन्न या उद्धत व्यक्ति को अतिथि समझना भूल है और उसे देने से भी कोई पुण्य नहीं प्राप्त होता। अतिथियों को देने से पुण्य की बात फैलाने से मध्ययुग में अतिथियों की बहुत-सी कतारें प्रत्येक घर के आगे लग जातीं। इसीलिए अतिथि का स्पष्टार्थ किया गया।

—'जिस महान् आत्मा ने अपने आने की कोई तिथि या कोई पर्व मुकर्रर नहीं किया है, तथा गृहस्थ के यहाँ जैसा भी मिल जाय, उसमें न हर्ष है, न शोक है, उसे

---

१ स्नानोपभोगरहितः पूजालंकारवर्जितः।
मधु-मांस-निवृत्तश्च गुणवानतिथिर्भवेत्॥

ही बुद्धिमानों को अतिथि समझना चाहिए, इसके अतिरिक्त जो है, उसे पाहुना कहा जा सकता है।'[1]

इसी से मिलता जुलता एक श्लोक[2] मिलता है।

इसीलिए बाद के आचार्यों ने अतिथि शब्द की व्याख्या भी त्यागी या ब्रह्मचारी परक करदी।

—'जिसके आने की कोई प्रतिपदा आदि तिथि निश्चित नहीं है, वह अतिथि है। अथवा जो संयम को विनष्ट होने से बचाकर जो महान् आत्मा दूसरों के यहाँ भिक्षा या आहार के लिए भ्रमण करता है, जाता है या घूमता है, वह अतिथि है।'[3]

—'अथवा संयम के लाभ के लिए जो घूमता है अथवा उत्कटचर्या करता है, वह अतिथि है।'[4]

—जो तप और शील से युक्त हो, ब्रह्मचारी हो अपने गृहीत व्रतों पर दृढ़ हो, निर्लोभी हो, एवं संसार के प्रपंचों को छोड़ चुका हो, ऐसा ही महानुभाव अतिथि है।[5]

इसीलिए अतिथि संविभागव्रत में अतिथि के रूप में इसी महानुभाव को लिया गया है, जो साधु हो, गृहत्यागी मुनि हो। हालांकि इसमें भी तीन प्रकार के पात्र अतिथि के लिए संविभाग में जघन्यपात्र, पात्र और सुपात्र सबके लिए बता दिया है। अतः इसकी विशेष चर्चा आगे पात्र-सुपात्र के विषय में दान के वर्णन के समय करेंगे।

यहाँ तो हमें इतना निष्कर्ष यह समझ लेना चाहिए कि गृहागत व्यक्ति अगर पूर्वोक्त लक्षणों के प्रकाश में देखने पर वास्तव में अतिथि है, तो उसे आहारादि देने से नौ प्रकार के पुण्यों का उपार्जन सम्भव है। इसके विपरीत अतिथि की ओट में किसी लोभी, चोर, उचक्के या लफंगे को अथवा किसी मक्कार को बार-बार घर में आने पर अतिथि समझकर अज्ञानपूर्वक अथवा अविवेकपूर्वक अपनी कुल-मर्यादा, धर्ममर्यादा या नियम, व्रत आदि तोड़कर दान देने से नवविध पुण्य नहीं हो सकता, बल्कि गलत आदमी को भावुकता में आकर देने से पश्चात्ताप ही पल्ले पड़ता है, चित्त प्रफुल्लित नहीं होता। अतः अतिथि सत्कार में भी विवेक की आवश्यकता है। ☆

---

1 तिथि-पर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना ।
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः ॥"

2 तिथिपर्व-हर्षशोकास्त्यक्ता येन महात्मना ।
धीमद्भिः सोऽतिथिर्ज्ञेयः, परः प्राघूर्णिको मतः ॥

3 नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनियतकालागमन इत्यर्थः ।
संयममविनाशयन् अततीत्यतिथिः ।
—सर्वार्थसिद्धि ७।२१।३६२

4 संयमलाभार्थमतति गच्छति उद्दण्डचर्यां करोतीत्यतिथिर्यतिः ।
—चारित्रपाहुड टीका २५।४५

5 तपःशीलसमायुक्तो ब्रह्मचारी दृढव्रती ।
निर्लोभस्त्यक्तसंसारी ह्यतिथिर्मान्यो भवेत ॥

19

दान और पुण्य : एक चर्चा

भारतीय संस्कृति के सभी चिन्तकों ने पुण्य-पाप के सम्बन्ध में विस्तार से चिन्तन किया है। मीमांसक दर्शन ने पुण्य-साधन पर अत्यधिक बल दिया है। उनका अभिमत है कि पुण्य से स्वर्ग के अनुपम सुख प्राप्त होते हैं। उन स्वर्गीय सुखों का उपभोग करना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, पर जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है—पुण्य-पाप रूप समस्त कर्मों से मुक्ति पाना।[1] यह देहातीत या संसारातीत अवस्था है। जब तक प्राणी संसार में रहता है, देह धारण किये हुए है तब तक उसे संसार व्यवहार चलाना पड़ता है और उसके लिए पुण्य कर्म का सहारा लेना पड़ता है। पाप कर्म से प्राणी दुखी होता है, पुण्य कर्म से सुखी। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, स्वस्थ शरीर, दीर्घ आयुष्य, धन-वैभव, परिवार, यश-प्रतिष्ठा—आदि की कामना प्राणी मात्र की है। सुख की कामना करने से सुख नहीं मिलता, किन्तु सुख प्राप्ति के कार्य-सत्कर्म (धर्माचरण) करने से ही सुख मिलता है। उस सत्कर्म को ही शुभयोग कहते हैं। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः[2]

—शुद्ध योग पुण्य का आस्रव(आगमन)करता है, और अशुद्ध योग पाप का।

शुभयोग, शुभभाव अथवा शुभपरिणाम तथा सत्कर्म-प्रायः एक ही अर्थ रखते हैं। केवल शब्द-व्यवहार का अन्तर है।

मतलब यह हुआ कि सुख चाहने वाले को शुभयोग का आश्रय लेना होगा। शुभयोग से ही पुण्यबंध होता है। एक बार कालोदायी श्रमण ने भगवान महावीर से पूछा—कि 'जीवों को सुख रूप शुभफल (पुण्य) की प्राप्ति कैसे होती है?

उत्तर में भगवान महावीर ने बताया—

कालोदाई! जीवाणं कल्लाणाकम्मा कल्लाणफलविवाग संजुत्ता कज्जंति।[3]

---

१ कृत्स्नकर्म वियोग लक्षणो मोक्षः।—तत्त्वार्थ १/४ (सर्वार्थसिद्धि)
२ उमास्वातीय नवतत्त्व प्रकरणं (आस्रवतत्त्व प्रकरण),
३ भगवती सूत्र ७।१०

—कालोदायी ! जीवों द्वारा किये गये शुभ कर्म ही उनके लिए शुभ फल देने वाले होते हैं।

वास्तव मे धर्म क्रिया द्वारा, शुभप्रवृत्ति द्वारा दो कार्य निष्पन्न होते हैं—अशुभ कर्म की निर्जरा और शुभकर्म का बंध। अर्थात् पाप का क्षय और पुण्य का बंध। पाप-क्षय से आत्मा उज्ज्वल होती है और पुण्य बंध से जीव को सुख की प्राप्ति होती है। पुण्य की परिभाषा ही यही है—

सुहहेउ कम्मपगइ पुन्नं[1]

—सुख की हेतुभूत कर्म प्रकृति पुण्य है।

पुण्य के सम्बन्ध में पहली एक सर्वसम्मत मान्यता तो यह है कि पुण्य भी बंध है, कर्म संग्रह है और मोक्षकामी जीव के लिए वह बंधन रूप होने से त्याज्य ही है। पाप लोहे की बेड़ी है और पुण्य सोने की बेड़ी है। बेड़ी टूटने से ही मुक्ति होगी चाहे सोने की हो या लोहे की। किन्तु यह भी सभी आचार्यों ने माना है कि पहले लोहे की बेड़ी तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् पाप नाश के लिए ही पुरुषार्थ करना चाहिए। पुण्य क्षय के लिए कोई भी समझदार व्यक्ति प्रयत्न नही करता और न यह उचित ही है। क्योंकि पुण्य का भोग ही पुण्य का स्वतः क्षय करता है अतः मुक्ति-कामी को भी पुण्य के विषय में अधिक चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। अपितु पुण्य बंध के हेतु भूत— शुभ कर्मों का आचरण करना चाहिए।

दूसरी एक मान्यता है जिसमें दो मत है। एक परम्परा है—जो शुभकर्म, धर्माचरण दान, सेवा, दया, उपकार आदि कार्य से धर्म भी मानती है और पुण्य भी। जैसे व्रती, संयती आदि को दान देना, उनकी सेवा करना धर्म है, इससे संवर तथा निर्जरा रूप धर्म की वृद्धि होती है। अशुभ कर्म का निरोध होना संवर है, बंधे हुए अशुभ कर्मो का क्षय होना निर्जरा है—और नये शुभ कर्म का बंधना पुण्य है। तो संयती आदि को दान आदि देने से संवर-निर्जरा रूप धर्म भी होता है और शुभकर्म बंध रूप पुण्य भी होता है। किन्तु जो पूर्णव्रती नही है संयतासंयति या असंयति है फिर भी दान या सेवा के पात्र हैं, तो उनको दान देने से, उन पर अनुकम्पा करने से, उनकी सेवा करने से भले ही संवर रूप धर्म न हों, किन्तु पुण्य का बंध अवश्य होता है। उस सेवा-दान-अनुकम्पा आदि के फलस्वरूप जीव को पुण्य की प्राप्ति होती है। जैसा कि आचार्य उमास्वाति ने बताया है—

—"भूत अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान, सराग-संयम क्षांति और शौच—ये छह साता वेदनीय कर्म (सुख) के हेतु हैं।[2]

---

१ श्री देवेन्द्रसूरि कृत नवतत्त्व प्रकरण, गा० २८
२ तत्त्वार्थसूत्र ६।१२

दूसरी मान्यता के अनुसार जिस प्रवृत्ति में धर्म नहीं उसमें पुण्य भी नहीं।[1] व्रती, संयमी को दान देना, उनकी सेवा करना इसी में धर्म है और इसी में पुण्य है। अव्रती तथा व्रताव्रती की सेवा तथा दान में धर्म भी नहीं और पुण्य भी नहीं।

यह मान्यता सिर्फ एक संप्रदाय की है, जैन जगत के प्रायः मूर्धन्य विचारकों और विद्वानों ने इस धारणा का डटकर खण्डन किया है। क्योंकि इससे दान सेवा आदि का क्षेत्र बहुत ही संकुचित हो जाता है, सिर्फ साधु को दान देना ही उनकी दृष्टि में धर्म है, पुण्य है, बाकी सब पाप है। पाप शब्द की जगह भले ही वे 'लोक व्यवहार' अथवा 'सामाजिक कर्तव्य' आदि मधुर शब्दों का प्रयोग करते हों, किन्तु इनसे उनका आशय तो 'पाप' ही है। उनसे पूछा जाय कि पाप-पुण्य के अलावा तीसरा कोई तत्त्व है क्या ? जिस कार्य में आप पुण्य नहीं मानते उससे विपरीत उसे 'पाप' कहने में क्यों हिचकते हैं ? अगर वास्तव में ही संयती के अतिरिक्त किसी को देना पाप है तो उसे स्पष्ट रूप से, निर्भीक होकर मानना और कहना चाहिए अन्यथा मान्यता में परिष्कार करना चाहिए। वह सिद्धान्त क्या काम का, जिसे स्पष्ट कहने में भी डर लगे, जीभ अटके और जी कतराये ? फिर आगम की कसौटी पर भी तो वह कहाँ खरा उतरेगा ?

आगमों में बताया है—तीर्थंकरदेव दीक्षा लेने से पहले वर्षीदान देते हैं ?[2] यह दान कौन लेते हैं ? क्या त्यागी श्रमण, संयती यह दान लेने जाते हैं ? नहीं। यह दान लेने जाते हैं—कृपण, दीन, भिक्षुक, अनाथ आदि ऐसे व्यक्ति जिन्हें स्वर्ण-मणि आदि की आवश्यकता या कामना है ? और वे तो स्पष्ट ही अव्रती या व्रताव्रती (श्रावक) की कोटि में ही आयेंगे। तो क्या उन लोगों को दान देने में तीर्थंकर देव को संवर रूप धर्म होता है ? नहीं, किन्तु हमारे पड़ोसी संप्रदाय की मान्यता के अनुसार अगर उसमें धर्म नहीं है तो एकान्त पाप ही है ? जबकि अन्य समस्त जैनाचार्यों ने इस दान को पुण्य हेतुक माना है। और वास्तव में ही वह पुण्य है। अगर पुण्य नहीं होता तो तीर्थंकर देव—भगवान महावीर आदि दीक्षा लेने के पूर्व इतना बड़ा पाप कृत्य क्यों करते ? इधर तो करोड़ों अरबों-खरबों स्वर्णमुद्राओं का दान और इधर पाप का बंधन। क्या समझदारी है ? अतः इस एक उदाहरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कार्य में धर्म नहीं हो, उसमें भी पुण्य हो सकता है। बहुत से कृत्य धर्मवर्द्धक नहीं है, किन्तु पुण्यकारक है, जैसे तीर्थंकरों का वर्षीदान।

रायप्रसेणी सूत्र में राजा प्रदेशी का जीवनवृत्त है। वह जब केशीकुमार श्रमण से श्रावकधर्म अंगीकार करता है तब अपने राज्य कोष को चार भागों में बाँटता है। जिसके एक भाग में वह अपने राज्य में दानशालाएँ, भोजनशालाएँ, औषधालय, कुएँ

---

१ आचार्य भिक्षुकृत-नव पदार्थ (पुण्य पदार्थ गा० ५४-५६)
२ आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध

अनाथाश्रम आदि खुलवाता है जहाँ हजारों अनाथ, रुग्ण, भिक्षुक आदि आकर आश्रय लेते हैं, अपनी क्षुधापिपासा शांत करते हैं और औषधि आदि प्राप्त कर स्वास्थ्य लाभ लेते हैं। अगर इन प्रवृत्तियों में पुण्य नहीं होता तो केशीकुमार श्रमण अपने श्रावक राजा प्रदेशी को स्पष्ट ही कह देते—यह कार्य पुण्य का नहीं है, अतः करने में क्या लाभ है ? और फिर श्रावक व्रतधारी चतुर राजा भी यह सब आयोजन क्यों करता ? अतः आगम की इस घटना से भी स्पष्ट सूचित होता है कि बहुत से अनुकम्पापूर्ण कार्यों में धर्म भले ही न हो, किन्तु पुण्यबंध तो होता ही है और इसी पुण्य हेतु व्यक्ति शुभ आचरण करता है। ताकि दीन-अनाथ अनुकम्पा पात्र व्यक्तियों को सुख-साता पहुँचे।

पुण्य के नौ भेद

पुण्य की चर्चा में अधिक गहरे नहीं जाकर हम अपने विषय क्षेत्र में ही रहना चाहते हैं। क्योंकि दान का प्रकरण चल रहा है और इस प्रकरण में हमें दान और पुण्य पर कुछ विचार करना है। क्या दान में एकान्त धर्म ही होता है, या जहाँ धर्म नहीं, वहाँ पुण्य भी हो सकता है ? यह प्रश्न हमारे सामने है। और इसी संदर्भ में हमने उक्त विचार प्रकट किये हैं कि आगमों में उक्त दोनों विचारों का स्पष्ट समर्थन मिलता है।

स्थानांग सूत्र में पुण्य के नौ स्थान (कारण) बताये हैं—जैसे[1]—

१. अन्न पुण्णे	६. मण पुण्णे
२. पाण पुण्णे	७. वयण पुण्णे
३. वत्थ पुण्णे	८. काय पुण्णे
४. लयण पुण्णे	९. नमोक्कार पुण्णे
५. सयण पुण्णे	

यहाँ पुण्य का अर्थ है पुण्य कर्म की उत्पत्ति के हेतु कार्य। अन्न, पान (पानी) स्थान, शयन (बिछौना) वस्त्र आदि के दान से तथा मन, वचन, काया आदि की शुभ (परोपकार प्रधान) प्रवृत्ति से एवं योग्य गुणी को नमस्कार करने से पुण्य प्रकृति का बंध होता है। ये पुण्य के कारण हैं, कारण में कार्य का उपचार कर इन कारणों को पुण्य की संज्ञा दी गई है। अर्थात् अन्नदान से अन्न पुण्य, पान (जल) दान से पान पुण्य इसी प्रकार अमुक कारण से जो पुण्य होगा उसे वही संज्ञा दी गई है।

इस संदर्भ में टीकाकार आचार्य अभयदेव ने उक्त आगम पाठ के साथ ही एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है—

अन्नं पानं च वस्त्रं च आलयः शयनासनम्।
शुश्रूषा वंदनं तुष्टिः पुण्यं नवविधं स्मृतम्॥

---

१ स्थानांग सूत्र ९।३।६७६

इसमें छह कारण तो मूल आगम-वर्णित ही है किन्तु मन-वचन और काया के स्थान पर—आसन पुण्य, शुश्रूषा पुण्य और तुष्टि पुण्य का उल्लेख किया है जो संभवतः उस समय की एक मान्यता रही हो।

दिगम्बर विद्वानों ने भी नौ पुण्य माने हैं किन्तु उनके स्वरूप में काफी अन्तर है। वे इस प्रकार हैं—

१. प्रतिग्रहण, २. उच्चस्थापन, ३. पाद-प्रक्षालन, ४. अर्चन, ५. प्रणाम, ६. मनःशुद्धि, ७. वचनशुद्धि, ८. कायशुद्धि और ९. एषणशुद्धि।[१]

वास्तव में ये नौ पुण्य एक ही क्रिया से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। सागारधर्मामृत के[२] अनुसार दाता दान देते समय मुनिजनों के प्रति बहुमान प्रदर्शित करता है तब ये नौ विधियाँ सम्पन्न करनी चाहिए। इन्हीं नौ विधियों को नौ प्रकार का पुण्य माना है।

यहाँ हम स्थानांग सूत्र वर्णित नौ पुण्यों पर ही विचार करेंगे। इन नौ पुण्यों पर विवेचन करते हुए टीकाकार अभयदेवसूरि लिखते हैं—

पात्रायान्नदानाद् यस्तीर्थंकर नामादि पुण्यप्रकृतिबन्ध स्तदन्नपुण्यमेवं……सर्वत्र……।[३]

अर्थात् पात्र को दान देने से तीर्थंकर नामकर्म आदि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है। अतः अन्नदान को अन्न पुण्य कहा है। वैसे ही पानदान को पान पुण्य जानना चाहिए।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पात्र को अन्नदान करने से ही तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बंध होता है या अन्य किसी को? तथा क्या सभी जगह पात्रदान से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बंध होता है?

यहाँ इन दोनों प्रश्नों पर विचार करना है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, वह प्रत्येक प्रश्न पर अनेकान्तदृष्टि से विचार करता है। पात्र के भी कई भेद हैं। सुपात्र, पात्र; अपात्र, कुपात्र।

सुपात्र को देने से महान फल की प्राप्ति होती है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, स्थविर, मुनि आदि पंच महाव्रतधारी सुपात्र हैं।[४] देशविरत गृहस्थ तथा सम्यक् दृष्टि पात्र है। दीन, करुणा पात्र, अंगोपांग से

---

१ पडिगहणमुच्चठाणं पादोदकमच्चणं च पणमं च।
मणवयण कायसुद्धि एसण सुद्धी य णयविहं पुण्णं॥

२ सागारधर्मामृत ५।४५

३ स्थानांग टीका ९

४ श्रीनवतत्त्व प्रकरण (सुमंगला टीका—पृ० ४८)

हीन व्यक्ति भी पात्र है।[1] इनके अतिरिक्त सभी अपात्र हैं। तथा दुर्व्यसनी, हिंसक आदि कुपात्र हैं।

तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बंध सुपात्र को देने से ही होता है। किन्तु यह भी कोई नियम नहीं है। जब त्रिकरण शुद्धि के साथ दाता को उत्कृष्ट भावना आती है, अर्थात् भावधारा अत्यंत शुद्ध उच्चतम श्रेणी पर चढ़ती है तभी उस दान के महाफल रूप तीर्थंकर नाम प्रकृति का बंध होता है। सामान्य भावस्थिति में शुभ कर्मों का बंध होता है जिसमें शुभ दीर्घ आयुष्य का बंध भी होता है[2] तथा शुभ मनुष्य आयु का भी बंध होता है।[3]

तो, सुपात्र के सिवाय जब सामान्य पात्र (सम्यक्दृष्टि गृहस्थ या करुणा पात्र दीन व्यक्ति) को अनुकंपा, वत्सलता, उपकार आदि कोमल भावना से प्रेरित होकर अन्न आदि का दान किया जाता है, तब वह भले ही संयमवृद्धि कारक न हो, किन्तु पुण्यवृद्धि कारक तो है ही क्योंकि हृदय में जब कोमलता, उदारता, अनुकंपा आदि भावों की धारा उमड़ती है, तो आत्म-प्रदेशों में निश्चित ही स्पन्दन होता है, शुभ योग की वृद्धि होती है और तब शुभयोग से पुण्य बंध भी होता है। अगर सुपात्र (संयमी) के सिवाय अन्न आदि देना पुण्य कारक न होता तो भरत चक्रवर्ती श्रावकों के लिए भोजनालय क्यों चलाते और क्यों प्रदेशी राजा राज्य में दानशालाएँ खुलवाता। आगमों के प्राचीन उदाहरण इस बात को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं कि अनुकंपा आदि शुभ भाव के साथ दिया गया अन्नदान, पानदान, वस्त्रदान, अन्न पुण्य, पानपुण्य, वस्त्र पुण्य की कोटि में आता है।

नवतत्त्व प्रकरण की सुमंगला टीका में विस्तारपूर्वक पात्रापात्र का विवेचन करके बताया है[4]—

—'सुपात्रों को धर्मबुद्धि से दिये गये प्रासुक अशनादि के दान से अशुभ कर्मों की महती निर्जरा तथा महान् पुण्य बंध होता है।'

—'देशविरति तथा सम्यक् दृष्टि श्रावकों को अन्नादि देने से मुनियों के दान की अपेक्षा अल्प पुण्य बंध तथा अल्प निर्जरा होती है।'

—'अंगविहीनादि को अनुकम्पा की बुद्धि से दान देने से श्रावकों को दान देने की अपेक्षा अल्पतर पुण्यबंध होता है।'

—'कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति किसी के घर दान के लिए

१ वही, पृष्ठ ४६
२ (क) स्थानांग ३।१।१२५ (ख) भगवती सूत्र ५।६
३ देखिए सुखविपाक; सुबाहु कुमार का प्रकरण।
४ नवतत्त्व प्रकरणम् (सुमंगला टीका, पृष्ठ ४६)।

जाता है और उसे यह सोचकर दान देना पड़ता है कि अपने घर आये इस व्यक्ति को यदि कुछ नहीं देता हूँ तो इससे अपने अर्हत् धर्म की लघुता होगी। ऐसा सोचकर दान देने वाले व्यक्ति को भी अल्पतम पुण्य बंध होता है।'

—'करुणा के वशीभूत होकर कुत्ते, कबूतर प्रभृति पशुओं को अभयदान तथा अन्नदान देने से पात्रत्व के अभाव में भी करुणा के कारण निश्चित रूप पुण्यबंध होगा ही।'

सुमंगला टीका के उपर्युक्त अवतरण पर विचार करने से यह स्पष्ट घोषित होता है कि संयती के सिवाय अन्य व्यक्तियों को, करुणा, वत्सलता, धर्म-प्रभावना आदि भावना के साथ अन्न आदि का दान करने से निश्चित ही पुण्य बंध होता है। हाँ, पुण्य की मात्रा (अल्प या अधिक) तो पात्र की अपेक्षा भाव पर अधिक निर्भर करती है। भावना में जितनी पवित्रता, कोमलता, करुणा रहेगी पुण्य बंध उसी अनुपात में होगा। किन्तु यह आग्रह करना गलत है कि अन्नपुण्य आदि सिर्फ सुपात्र को देने से ही होता है। पात्र का दायरा बहुत विस्तृत है, उसकी कोई एक कसौटी नहीं हो सकती। मुख्य बात है देने वाले की सद्भावना और लेने वाला उस दान के लिए योग्य हो।

यहाँ पर हम सामान्य पात्र की दृष्टि से ही अन्नपुण्य आदि नौ पुण्यों पर विचार करेंगे। क्योंकि सुपात्र को अन्न आदि देने में पुण्य है यह तो पहले ही बताया जा चुका है, किन्तु उसके अतिरिक्त भी जो पात्र हों उनको अन्न आदि देने से पुण्य होता है, यही यहाँ पर विवेचनीय है।

अन्नपुण्य—अन्नपुण्य का अर्थ पीछे बताया जा चुका है कि अन्न का दान करना अन्नपुण्य है। त्यागी संयतियों को शुद्ध अन्नदान करना महान् पुण्य है। साथ ही क्षुधापीड़ित, अभावग्रस्त व्यक्ति को अन्नदान करना भी अन्नपुण्य है। क्योंकि क्षुधा-पीड़ित को देखकर सर्वप्रथम मन में अनुकम्पा जाग्रत होती है। मन में कोमल भावनाएँ उठती हैं। दुखी का दुख दूर करने की सहयोग भावना उमड़ती है। और दाता जब इस प्रकार की सद्भावधारा में अवगाहन करता है और पात्र को शुभभावों से अन्न-दान देता है तो वहाँ पुण्यबन्ध अवश्य ही होता है। लेने वाले के आधार से भी सद्भावनापूर्वक आशीर्वाद की वर्षा होती है। इसलिए अन्न देने से पुण्य अवश्य होता है।

पानपुण्य—पानपुण्य से मतलब है, प्यासे एवं पिपासाकुल व्यक्तियों को पीने के लिए पानी या पेयपदार्थ देने से पुण्य होता है। कई धनिक लोग ऐसे स्थलों पर प्याऊ लगवाते हैं, बावड़ी या तालाब खुदवाते हैं, जहाँ रेगिस्तान होता है, पानी की कमी होती है, या दूर-दूर तक यात्री को पानी नहीं मिलता। पानी का दान भी पुण्य का कारण बनता है। क्योंकि जलदान के पीछे भी करुणा और सहानुभूति की भावना होती है। बीकानेर एवं जोधपुर रियासत में कई जगह उदार धनी लोगों द्वारा प्याऊ

खोली जाती हैं, और ये गर्मी के दिनों में प्रायः हर साल चलाई जाती हैं। सौराष्ट्र के एक गांव में एक उदार सद्गृहस्थ ने छाछ का सदाव्रत खोला। छाछ गांव का जीवन है। अतः इस छाछसत्र की गांव में सर्वत्र प्रशंसा हुई। सब ओर से उस सद्गृहस्थ को आशीर्वाद मिलने लगा। यह भी पानपुण्य है।

इसी प्रकार साबरमती—रामनगर में श्री धारशी भाई हीराणी (जैन) ने अपनी पत्नी की स्मृति में भी छाछ का सत्र खोला। वे स्वयं आगन्तुकों और जरूरत-मन्दों को अपने हाथों से छाछ दिया करते थे।

इसी प्रकार गर्मी से व्याकुल एवं पिपासापीड़ित व्यक्ति को सान्त्वना देकर पानी पिलाना भी पानपुण्य है।

लयनपुण्य—लयन का अर्थ है—मकान, रहने का स्थान। कोई भूला-भटका, बेघरबार या सर्दी या गर्मी से पीड़ित व्यक्ति को अगर ठहरने के लिए सद्भावना से मकान या स्थान दिया जाता है, वहाँ लयनपुण्य होता है। कई लोग बड़ी-बड़ी धर्म-शालाएँ यात्रियों एवं मुसाफिरों के लिए बनवाते हैं, कई जगह दूरस्थ प्रान्त या राष्ट्र के व्यक्तियों के लिए, जिनका उस नगर में कोई परिचित नहीं होता, ऐसी धर्मशाला या अतिथिगृह अथवा यात्रीगृह बनवाते हैं। यह सब लयनपुण्य की कोटि में आता है।

प्राचीनकाल में भी राजगृह के नन्दनमणियार तथा अन्य कई उदारचेता व्यक्तियों ने जगह-जगह अतिथिशाला, धर्मशाला, विश्रामगृह बनवाए थे।

देशबन्धु चित्तरंजनदास के दादा जगबन्धुदास बहुत ही परोपकारी हो गये हैं। व दूसरों के लिए स्वयं कष्ट उठाने में नहीं हिचकिचाते थे। एक बार जगबन्धुदास पालकी में बैठकर कहीं जा रहे थे कि रास्ते में एक ब्राह्मण मिला, जो बहुत दूर से चलकर आ रहा था। वह धूप के कारण अत्यन्त थक भी गया था। जगबन्धुदास उस थके हुए ब्राह्मण को देखकर स्वयं पालकी से उतर पड़े और उस ब्राह्मण को आदर-पूर्वक पालकी में बिठा दिया। इसी घटना के पश्चात् जगबन्धुदास के मन में यह भी विचार आया कि इस प्रकार के थके हुए व्यक्तियों के विश्राम हेतु एक विश्रामगृह की आवश्यकता है। उसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने एक धर्मशाला बनवाई, जिसमें थके हुए पथिक व निराश्रित व्यक्ति आश्रय पाते व विश्राम करते थे। श्री जगबन्धुदास का यह कार्य लयनदान होने से लयन पुण्य की सीमा में आता है।

बहुधा यह देखा जाता है कि शहरों में कई मकान यों ही खाली पड़े रहते हैं, न तो वे किसी को आश्रय देने या थकेमांदे को विश्राम के लिए दिये जाते हैं और न ही उनका चिकित्सालय, विद्यालय या अन्य किसी सार्वजनिक सेवा के कार्य में उपयोग होता है, और न वे किसी को किराये पर दिये जाते हैं। आखिर वे वर्षा, आँधी या भूकम्प के धक्कों से या मरम्मत न होने से ढह जाते हैं या उनमें चमगादड़ अपना बसेरा कर लेती हैं, चूहे अपने बिल बनाकर रहने लगते हैं या कबूतर अपना निवास-

स्थान बना लेते हैं। ऐसे उदारचेता बहुत ही कम मिलते हैं, जो उस मकान को किसी सार्वजनिक संस्था के उपयोग के लिए दे दे। जो व्यक्ति उदारतापूर्वक इस प्रकार के मकान को किसी सार्वजनिक सेवा या महापुरुषों के रहने के लिए दे देता है, वह महान् पुण्य का उपार्जन करता है।

भगवती सूत्र में श्रमणोपासिका जयन्ती श्राविका का वर्णन आता है जिसने भगवान महावीर से जीवन और दर्शन सम्बन्धी विविध प्रश्न किये और भगवान महावीर का सचोट उत्तर सुनकर अत्यधिक प्रमुदित हुई। वह जयन्ती श्राविका साधुओं के लिए प्रथम शय्यातर के रूप में विश्रुत थी—'वेसाली सावयाणं अरहंताणं पुव्वसिज्जायरी जयन्ती णामं समणोवासिया होत्था'[1]

उसके मकान का उपयोग साधु मुनिराजों के ठहरने एवं गृहस्थों के धर्मध्यान करने में होता था। वर्तमान में भी इसी प्रकार कई जगह कई उदार महानुभावों ने अपनी जगह या मकान ऐसे ही सार्वजनिक धर्मकार्यों के हेतु दे दिये हैं।

एक छोटी-सी घटना इस पर मार्मिक प्रकाश डालती है—

रात का समय था। बड़े जोर की बरसात हो रही थी। गाँव के बाहर छोटी-सी कुटिया थी। कुटिया का मालिक दरवाजा बन्द करके सोया हुआ था। भीगता हुआ एक व्यक्ति आया और उसने कहा—'मेहरबानी करके किवाड़ खोलो। मैं पूरी तरह भीग रहा हूँ।' आवाज सुनकर मकान मालिक उठा और बोला—'इस छोटी-सी झोंपड़ी में एक सो सकता है, दो बैठ सकते हैं। आओ, तुम्हारा स्वागत है।' वे पूरे बैठ भी नहीं पाए थे, तभी एक व्यक्ति दौड़ा हुआ आया और विवशतापूर्वक पुकारने लगा—'द्वार खोलिए, मैं वर्षा की ठंड से ठिठुर रहा हूँ।' कुटिया के स्वामी ने किवाड़ खोला तो आगन्तुक विस्मय विमुग्ध होकर बोला—'मैं कहाँ बैठूँगा? इसमें तो तुम दोनों भी मुश्किल से बैठे हो?' घर के मालिक ने कहा 'इसमें एक सो सकता है, दो बैठ सकते हैं और तीन खड़े रह सकते हैं। आओ तुम्हारा स्वागत है।' इस प्रकार उदार गृहस्वामी ने अपनी कठिनाई की परवाह न करके दोनों आगन्तुकों को कुटिया में स्थान देकर लयनपुण्य उपार्जित कर लिया।

और जो अनगार हैं, जिनका कोई घरबार, जमीन जायदाद नहीं है, ऐसे अप्रतिबद्धविहारी साधु-साध्वियों को जो निवास के लिए भक्तिभावपूर्वक मकान देता है, उसके पुण्योपार्जन का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। वह तो महाभाग्यशाली है। शास्त्र में उसे शय्यातर (शय्या देने से तरने वाला) अथवा शय्याधर (मकान का मालिक) कहा है। किन्तु यह पुण्य तभी उपार्जित होता है, जब मकान किसी अनुकम्पा पात्र, सुपात्र या मध्यम पात्र को दिया जाता है, किसी चोर, बदमाश व्यभिचारी,

---

१ भगवती १२।उद्दे० २

गुंडे या वेश्या आदि को मकान देने या उसमें आश्रय देने से पुण्य तो क्या, पाप का उपार्जन ही होता है।

शयनपुण्य—किसी निराश्रित या अनाथ अथवा बीमार आदि को अनुकम्पा लाकर शय्या (खाट, पलंग, तख्त या पट्टा आदि) देना, अथवा चटाई, बिछौना, दरी आदि देना भी शयनपुण्य है। सर्दी का मौसम है। कड़ाके की ठंड पड़ रही है। ऐसे समय में कोई ठिठुरता हुआ व्यक्ति सोने के लिए मामूली बिछौना, बोरी या खाट आदि मांगता है, अथवा किसी अत्यन्त रुग्ण व्यक्ति को, जिसका और कोई सहारा नहीं है, सेवाशुश्रूषा करने वाला नहीं है, उसे सोने या आराम करने के लिए खाट, तख्त या चटाई की सख्त जरूरत है, ऐसे समय में सद्भावपूर्वक उसे देना शयनपुण्य है। साधु-सन्तों को तख्त, पट्टे आदि शयन के लिए देना भी शयनपुण्य हो।

कई बार अस्पतालों में रोगियों के लिए कई उदार महानुभाव अपनी ओर से पलंग, गद्दा, तकिया, चादर आदि दान देते हैं। कई लोग नेत्रदान शिविर के समय चक्षुरोगियों के सोने व बिछाने के लिए भी पलंग, बिछौना आदि प्रसन्नतापूर्वक दान देते हैं। यह भी शयनपुण्य है। अपनी पुत्री के विवाह प्रसंग पर आए हुए बरातियों को सोने-बिछाने के लिए पलंग, गद्दा तकिया आदि देना शयनपुण्य नहीं है, वह तो कर्तव्य है। क्योंकि उसमें करुणा की भावना नहीं, कर्तव्य पालन अथवा सांसारिक स्वार्थ तथा आदान-प्रदान की भावना है।

वस्त्रपुण्य—ठण्ड से ठिठुरते हुए या फटेहाल पुरुष या स्त्री पर अनुकम्पा लाकर वस्त्र देना वस्त्रपुण्य है। जिस समय चारों ओर बर्फीली हवाएँ सनसनाती हुई कलेजे को चीरती हुई चल रही हों, अथवा वर्षा से सारा शरीर भीगने से शरीर ज्वाराक्रान्त हो गया हो, अथवा रुग्ण व्यक्ति वस्त्र के अभाव में अधिकाधिक रोग पीड़ित हो रहा हो, ऐसे समय में वस्त्रदान का कितना मूल्य है, यह सहृदय, भुक्त-भोगी या उदार व्यक्ति ही समझ सकता है। जिनके पास पेटियों पर पेटियाँ कपड़े से भरी हुई पड़ी हों, न तो उतने कपड़े पहने जाते हैं, न किसी को हाथ से दिये ही जाते हैं, कई बार तो उन कपड़ों में कीड़े लग जाते हैं, वे दीमकों का आहार बन जाते हैं। इसलिए अगर सम्पन्न व्यक्ति चाहे तो वस्त्रपुण्य तो अनायास ही अर्जित कर सकता है।

डिप्टी कलेक्टर श्री रामचरणवसु वैद्यनाथधाम में अपने गुरु बालानन्द स्वामी के साथ रहते थे। एक बार उन्होंने स्वामी जी को कीमती दुशाला भेंट में दिया। स्वामी जी ओढ़कर बाहर गए। मार्ग में एक आदमी सर्दी से कांप रहा था। उन्हें दया आई। और वह दुशाला उन्होंने उसे ओढ़ा दिया। स्वामी जी के घर लौटने पर उसने कंधे पर दुशाला नहीं देखा। अतः उसके बारे में पूछा तो स्वामी जी ने कहा—तुमने मुझे जो दुशाला दिया था, वह क्या केवल मजदूर की तरह उठाए फिरने के लिए दिया था?

रामचरण—'नहीं, महाराज ! मैंने तो आपको बिलकुल समर्पण कर दिया था।'

बालानन्द स्वामी—'तो फिर उस दुशाले का क्या हुआ, क्या नहीं, इसकी पंचायत तुम क्यों करते हो ?'

सचमुच परदुःख निवारक स्वामी जी ने शीत पीड़ित व्यक्ति को वस्त्रदान देकर पुण्य उपार्जन कर लिया।

इसी प्रकार हिन्दी के उच्चतम कवि निराला भी अत्यन्त दयालु प्रसिद्ध हुए हैं। एक बार उन्हें सर्दी में ठिठुरते देखकर महादेवी वर्मा का हृदय भर आया। वे उनके लिए एक गर्म कोट सिलवाकर लाई और कहा—'यह कोट आपका नहीं, मेरा है। मैंने सिर्फ आपके शरीर की रक्षा के लिए बनवाया है। अतः मेरी अनुमति के बिना इस कोट का और कोई उपयोग मत करना।' कुछ दिनों बाद निराला जी महादेवी जी की दृष्टि से दूर रहने लगे। एक दिन सामने से जाते देख महादेवी जी ने उन्हें पूछा—'निराला जी ! कोट क्यों नहीं पहिना आपने ?' पहले तो उन्होंने टालमटूल करना चाहा। परन्तु महादेवी जी ने जब खोलकर पूछा तो उन्होंने कहा—'कुछ दिन पहले एक नग्न भिखारी ठंड से कांप रहा था। मुझे लगा कि मुझसे ज्यादा उसे कोट की जरूरत है। अतः निद्रामग्न उस भिखारी को मैं वह कोट ओढ़ाकर चला आया।'

यह था सहृदय कवि निराला जी द्वारा वस्त्रपुण्य का उपार्जन !

मनपुण्य—इसके बाद मनपुण्य का क्रम आता है। मन से शुभ विचारों का दान देना, मन से प्रेमभाव, वात्सल्य, या आशीर्वाद देना, अन्तर से किसी के प्रति शुभकामना प्रगट करना, कल्याणकामना एवं मंगलभावना का हृदय से दान देना मनपुण्य है।[1] इन और ऐसी ही शुभ भावनाओं का दान पुण्य का अर्जन करने में बहुत ही सहायक होता है। व्यक्ति के जीवन में मन भी पुण्योपार्जन कराने में बहुत बड़ा सहायक है। हाँ, मन से अशुभ विचार, दुर्भावना, अन्तर की आहें, बददुआएँ आदि भी प्रकट की जाती हैं, तब पुण्य के बदले पाप-कर्म का बन्ध ही होता है। परन्तु दूसरे के प्रति, योग्य पात्र के प्रति मन से शुभकामना अथवा अन्तर की आशीष देने से पुण्य का उपार्जन अनायास ही हो जाता है।

शुभ विचारों में बहुत बड़ा बल होता है। कई प्रभावशाली व्यक्ति परोपकार की दृष्टि से रोगी, दुःखी और पीड़ित व्यक्ति को शुभभावनात्मक संकल्प बल एवं मंत्र शक्ति के बल से स्वस्थ, सुखी और शान्तिमय बना सकते हैं, वे इस प्रकार के अनुकम्पा योग्य पात्र के प्रति अपने प्रबल शुभ संकल्पमय मंत्रबल से स्वस्थ और सुखी बनाकर एक प्रकार से मनोदान देते हैं।

---

१ मनसः शुभ संकल्पः—नवतत्त्व सुमंगला टीका।

चांदा की एक सम्पन्न परिवार की महिला मदनबाई है। स्वयं धनाढ्य होते हुए भी वह नन्हे-नन्हें अनाथ बच्चों को अपने यहाँ रखकर शिक्षा और उत्तम संस्कार देती है। शिक्षा और संस्कार देने वाली तो बहुत-सी किंडरगार्टन स्कूलें हैं। पर यह सेठानी मदनबाई बालकों के प्रति मन में वात्सल्यभाव रखती हैं। बच्चों की माँ बनकर उनको मन से वात्सल्यदान देती है। स्वयं भी सदा प्रसन्नचित्त रहती है।

इसी प्रकार मन की पवित्रता बढ़ाने के लिए प्राचीन काल में एक श्लोक बोला जाता था जो आज भी यत्र तत्र गूंजता सुनाई देता है—

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥'

—सभी प्राणी सुखी हों, सभी निरोग हों, सब में कल्याण की भावना प्रगट हो, कोई भी प्राणी दुःखित न हो।

कितनी सुन्दर भावनाओं से ओतप्रोत मन हो जाता है? और इस प्रकार की भावनाओं से सचमुच महान् कार्य हो जाता है, पुण्य भी उपार्जित होता है। वास्तव में मन को पवित्र, दयार्द्र और शुभभावनाओं से अनुरंजित रखना मनः पुण्य है।

ये कुछ उदाहरण मनोपुण्य के प्रस्तुत हैं, जिनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि मन के द्वारा शुभ भावों, विचारों एवं शुभ संकल्पों के दान से भी व्यक्ति महान् पुण्य उपार्जित कर सकता है।

वचनपुण्य— वचनपुण्य का अर्थ है—वचन के दान द्वारा उपार्जित होने वाला पुण्य। तात्पर्य यह है कि जहाँ अपने वचन द्वारा व्यक्ति दूसरों की भलाई के काम करता है, अपने वचन द्वारा अच्छी सलाह देता है, वचन द्वारा सच्चा न्याय देता है, वचन द्वारा किसी दीन-दुःखी को आश्वासन देता है, वचन से दूसरों को त्याग एवं कल्याण के मार्ग पर लगाता है, वहाँ एक प्रकार से व्यक्ति वचन का दान ही करता है, और उस दान के फलस्वरूप वह महान् पुण्य कमाता है, उसे ही यहाँ वचनदान कहा जाएगा। जो वचन से झूठ बोलकर, चापलूसी करके दूसरों का काम बनाता है, मनोरंजन करता है, झूठा इन्साफ देता है, या झूठी सलाह देकर किसी को प्रसन्न करता है, वहाँ वचनपुण्य हर्गिज नहीं होगा।

वचनदान का एक पहलू है—दूसरे को सच्ची सलाह देना, सन्मार्ग बताना। जैसाकि दुर्योधन द्वारा युधिष्ठिर से अपनी रक्षा का उपाय पूछा गया और उत्तर में युधिष्ठिर ने सच्ची सलाह दी, भले ही उससे अपने पक्ष की हानि हुई फिर भी सत्य सलाह दी।

वचनदान का दूसरा पहलू है—पारस्परिक द्वेष, वैर-विरोध या मनोमालिन्य से भविष्य में होने वाले सर्वनाश को वचन (युक्तिसंगत वाणी) द्वारा रोक देना अथवा

परस्पर फूट, कलह आदि को वचन द्वारा मिटाना भी एक तरह से वचनदान है, जिससे महान् पुण्य का उपार्जन किया जा सकता है।

जैसे मंथरा दासी ने कैकेयी रानी को अपनी चातुर्ययुक्त वाणी द्वारा उलटा पाठ पढ़ाकर भाई-भाइयों में परस्पर फूट डालने की सलाह दी, उससे राम के परिवार में महान् अनर्थ होने की सम्भावना थी, यह वचनदान पाप का कारण है, किन्तु सुमित्रा माता ने लक्ष्मण को अपने बड़े भाई राम की सेवा में जाने की सलाह दी, तथा सीता और राम को माता-पिता तुल्य मानने और जंगल को अयोध्या समझने की जो शिक्षा दी, वह वचनदान—पुण्य-उपार्जन का कारण हुआ।

बौद्ध साहित्य में श्रमण नारद के जीवन की एक घटना है—

एक बार वे वाराणसी जा रहे थे, रास्ते में पाण्डु जौहरी घोड़ागाड़ी में बैठ कर जाता हुआ मिला। पांडु जौहरी ने उन्हें घोड़ागाड़ी में बैठने के लिए बहुत आग्रह किया। बहुत आग्रहवश श्रमण नारद उसकी घोड़ागाड़ी में बैठ गये। रास्ते में एक बैलगाड़ी, जो चावलों के बोरों से लदी हुई थी, कीचड़ में धंसी हुई मिली। गाड़ीवान बहुत जोर लगा रहा था, मगर बैल इतने भार को लेकर गाड़ी को कीचड़ से पार करने में असमर्थ हो रहे थे। रास्ता संकड़ा ही था। इसलिए घोड़ागाड़ी जब वहाँ आकर रुकी तो पांडु जौहरी झल्लाकर कहने लगा—'सारा रास्ता रोके हुए खड़ा है, हटा गाड़ी को एक तरफ।' वह बेचारा मिन्नत करने लगा, पर सेठ का पारा गर्म हो गया। उसने घोड़ागाड़ी हांकने वाले से कहा—'नीचे उतरकर, इसकी गाड़ी एक तरफ कर दो, ताकि हमारी घोड़ागाड़ी निकल सके।' पांडु सेठ की आज्ञा से साईस ने बैल-गाड़ी को धक्का लगाकर दलदल से निकालने के बजाय, एक ओर करदी, जिससे चावलों के बोरे कीचड़ में पड़ गये। चावल बिखर गये। किन्तु घोड़ागाड़ी को साईस ने रास्ता करके निकाल ली। बेचारा गाड़ीवान किसान दाँत पीसता रह गया। उसे सेठ के व्यवहार पर बहुत गुस्सा आया। श्रमण नारद तो पांडु सेठ का व्यवहार देख-कर बहुत खिन्न हुए। उन्होंने सेठ से कहा भी कि इस बेचारे की गाड़ी धक्का दिलवा कर दलदल से निकलवा दीजिए। पर सेठ ने न मानी। अतः श्रमण नारद वहीं उतर गये, जहाँ बैलगाड़ी फंसी हुई थी। उन्होंने गाड़ीवान को आश्वासन देकर बैलों को पुचकारा और सहायता देकर उस किसान की बैलगाड़ी को दलदल से निकलवा दिया। गाड़ीवान बहुत प्रसन्न हुआ और अन्तर से श्रमण-नारद को आशीर्वाद देने लगा।

इसी बीच एक घटना और हो गई, रास्ते में रुपयों से भरी कमर पर बांधी जाने वाली एक नौली घोड़ागाड़ी से गिर पड़ी बैलों ने उसे अन्धेरे में सर्पाकार देखा तो वे भयभीत होकर वहीं रुक गये। गाड़ीवान ने देखा तो रुपयों से भरी नौली! उसने पराया धन समझ उठाना न चाहा। परन्तु श्रमण नारद ने अनुमान लगाया कि हो न हो, यह पांडु जौहरी की घोड़ागाड़ी से गिर गई होगी, सेठ बेचारा हैरान

होगा। अतः उन्होंने किसान से कहा—'यह पांडु सेठ की थैली मालूम होती है, तुम अमानत के तौर पर इसे अपने पास रख लो और वाराणसी पहुँचकर उसे दे देना।' यह सुनते ही किसान गुस्से में आकर बोला—'उस नीच दुष्ट की यह थैली मैं नहीं उठाता। उसने मेरा बहुत नुकसान करवा दिया। मैं उसे ले जाकर नहीं दूँगा यह!' श्रमणनारद ने उसे समझाया—'भाई, ऐसा मत करो। पांडु सेठ के प्रति द्वेष और दुर्भाव की गांठ बांधना ठीक नहीं है। उनका क्या दोष है? दोष तो तुम्हारे कर्मों का है। लो, यह उठा लो और उसे सौंप देना।' श्रमणनारद के बहुत समझाने से किसान मान गया और वह थैली उठाकर अपने पास रख ली। इधर किसान को यह चिन्ता हो रही थी कि इतने चावल में मेरे चावल कौन खरीदेगा? परन्तु संयोगवश एक व्यापारी ने राजकुमारी के विवाह पर चावल देने का राजा के साथ सौदा किया। उसे बाजार में कहीं चावल न मिला। उसे पता लगा कि एक गाड़ी चावल आ रहा है तो वह सामने चलाकर गया और वहीं उसने बाजार भाव से डेढ़ गुने दाम अधिक देकर चावल का सौदा तय कर लिया। किसान प्रसन्न हो उठा। इधर पांडु जौहरी जब घर पहुँचा तो घोड़ागाड़ी में रुपयों की थैली न देखकर अपने मर्दन से पूछा। मर्दन ने कहा—'मुझे कुछ भी पता नहीं है। कहीं रास्ते में ही वह गिर गई होगी।' परन्तु सेठ नहीं माना। उसे मर्दन पर शक हो गया। उसने बहुत धमकाया मर्दन को। पर बेचारा मर्दन इन्कार करता कि मैंने थैली नहीं ली है। इस पर सेठ ने गुस्से में आकर उसे पुलिस के हवाले करके खूब पिटाई कराई। मर्दन को मारपीट कर पुलिस ने छोड़ दिया। परन्तु मर्दन के मन में सेठ के प्रति दुर्भावना जागी, वैर की गांठ बंध गई। उधर किसान ने श्रमणनारद के कहने से पांडु जौहरी को वह रुपयों की थैली दे आकर सौंपी। पांडु जौहरी प्रसन्न हो गया और श्रमण नारद के समझाने पर उसने किसान के साथ जो दुर्व्यवहार किया था, उसके लिए क्षमा मांगी, किसान ने भी क्षमा प्रदान की।

मर्दन के प्रति पाण्डुजौहरी का जो दुर्भाव था, वह बहुत अंशों में हट गया, किन्तु मर्दन के मन से पाण्डुसेठ के प्रति दुर्भाव नहीं मिटा। उसे पता लगा कि पाण्डुसेठ ने फलां दिन राजकन्या के लिए अमुक-अमुक हीरे एवं जवाहरात से जड़े हुए कीमती गहने बनवाकर राजा को देने का वादा किया है, इसलिए उसने चोरों को तैयार करके पाण्डुसेठ के यहाँ उसी रात को चोरी करने की सलाह दी। वह भी उन चोरों के साथ मिल गया। चोरों को वह सारा माल पाण्डुसेठ के यहाँ मिल गया। गठड़ी बांधकर सभी चोर वहाँ से भागे। वे सब एक पेड़ के नीचे उस माल का बँटवारा करने बैठे। लेकिन बँटवारे में किसी बात पर इस भू. पू. मर्दन से झगड़ा हो गया। सबको इस पर वहम हो गया कि यह सेठ से जाकर कह देगा और हमें गिरफ्तार करवाएगा। इसलिए सभी उस पर पिल पड़े और उसे मार-मारकर अधमरा करके वहीं छोड़कर भाग गये। सुबह हुआ। श्रमणनारद उधर से गुजरे और उन्होंने मर्दन की मरणासन्न स्थिति देखी तो उसके पास पहुँचे। उसे आश्वासन दिया

और इलाज करवाकर ठीक करा देने का कहा। पर उसने कहा—"भंते ! मैं अब थोड़ी ही देर का मेहमान हूँ। मैंने अपने किये का फल पा लिया। पाण्डुसेठ के यहाँ चोरी कराकर मैंने उस कुकर्म का फल भोग लिया।"

श्रमणनारद—"क्या पाण्डुसेठ से तुम्हें क्षमायाचना करनी है या इस वैर-विरोध या द्वेष की गांठ को साथ ही ले जानी है ?"

सईस—"अब पाण्डुसेठ क्या मुझे क्षमादान देंगे, जबकि मैंने उनका इतना नुकसान करवा दिया है ?"

श्रमण—"मैं प्रयत्न करूँगा, पाण्डुसेठ को यहाँ लाने का और तुमसे क्षमायाचना करवाने का। तुम तो क्षमायाचना करने के लिए तैयार हो न ?"

भू॰ पू॰ सईस—हाँ, भंते ! मैं तो बिलकुल तैयार हूँ। मैं उनके सामने अपना पश्चात्ताप भी प्रकट करूँगा और उन्हें वह चोरी का माल भी, जिसे चोर यहाँ छिपा गए हैं, बता दूंगा। आप उन्हें जल्दी ले आइए।"

श्रमणनारद पाण्डुजौहरी के यहाँ पहुँचे। वहाँ रात्रि को जो आभूषणों की चोरी हुई, उसके बारे में सभी चिन्तित और उदास होकर चर्चा कर रहे थे। श्रमण-नारद ने पाण्डुजौहरी को एक ओर बुलाकर कहा—"सेठ ! चिन्ता मत करो। सब ठीक होगा। पहले यह तो बताओ कि उस सईस के प्रति आपके मन में कोई दुर्भाव रहा है ?"

पाण्डुसेठ—"भंते ! मेरा दुर्भाव तो समाप्त होने जा रहा था, लेकिन मुझे शक है कि उसी ने चोरों को भेद बताकर यह चोरी करवाई है। इसलिए फिर दुर्भाव बन गया है।"

श्रमण नारद—"अब आप उसके प्रति दुर्भाव छोड़िए। यह तो सब कर्मों का खेल है। आप मेरे साथ चलिए। वह आपका भू. पू. सईस मरणासन्न स्थिति में है। अपने किये का पश्चात्ताप कर रहा है और आपसे क्षमायाचना करने को तैयार है। और सम्भव है, वह आपको चुराए गए माल का भी पता बता दे।" पाण्डुसेठ की आशा बंधी। उसने कहा—"भंते ! अगर ऐसी बात है तो मैं खुशी से चलने को तैयार हूँ। उससे मैं स्वयं क्षमायाचना करूँगा।" इस प्रकार श्रमणनारद के कहने से उनके साथ पाण्डुसेठ वहीं पहुँचा, जहाँ भू. पू. सईस मरणासन्न पड़ा था। पाण्डुसेठ ने आते ही उसकी हालत देखकर अफसोस प्रकट किया, फिर उससे क्षमायाचना की। उसने भी पाण्डुसेठ से क्षमायाचना करते हुए कहा—"सेठजी ! मुझे माफ कर दें। मैंने आपका बहुत अहित किया। अब मेरा जीवनदीप बुझने को है। आप मेरे निकट आएँ, मैं आपको वह माल बता दूँ, जो चोरों ने आपके यहाँ से चुराया था।" सेठ निकट आए। सईस को दोनों हाथों के सहारे से बिठाया। उसने सेठ के कान में सारा रहस्य खोल दिया। चुराए हुए माल का पता-ठिकाना बता दिया। कुछ ही देर से उक्त सईस के प्राणपखेरू उड़ गए। सेठ ने उस स्थान को खोदकर सारा माल

निकाला और एक गठड़ी में बांधकर अपनी घोड़ा-गाड़ी में रखकर ले आया। उसने श्रमणनारद के प्रति आभार प्रगट करते हुए कहा—"भंते ! आपने मेरे जीवन का उद्धार कर दिया। अन्यथा, वह गाड़ीवान किसान और यह सईस दोनों के प्रति मेरे हृदय में वैर-विरोध की गांठ बनी रहती और पाप-कर्म की ओर अधिक वृद्धि कर बैठता। पर आपने अपने वचन से मुझे सत्य परामर्शदान देकर मेरा पूर्वाग्रह छुड़वाया, मुझे उनके साथ क्षमायाचना करवा दी। आपको कोटिशः धन्यवाद।

वास्तव में श्रमणनारद ने अपने वचनों से किसान, सईस और पाण्डुजौहरी इन तीनों के मन में बंधे हुए पूर्वाग्रह और तज्जनित द्वेष और वैर को समाप्त करवाकर बहुत बड़ा पुण्यकार्य किया। क्या इस प्रकार का वचनदान महापुण्य-कारक नहीं हो सकता ?

जैन जगत में ऐसे अनेक ज्योतिर्धर जैनाचार्य व सन्त हुए हैं जिन्होंने अनेकों जगह समाज और जाति में पड़ी हुई फूट, द्वेष और वैर-विरोध को अपने वचनों के प्रभाव से समाप्त कराकर महान् पुण्य का उपार्जन किया।

कई ऐसे भी पुण्यशाली मानव होते हैं, जो अपने वचन के द्वारा किसी उन्मार्गगामी, शराबी, जुआरी, रिश्वतखोर, हत्यारे आदि को बोध देकर सन्मार्ग पर लगाते हैं, वे भी महान् पुण्य के भागी बनते हैं।

इसी प्रकार वचन के द्वारा किसी संकटग्रस्त को, उलझन पड़े हुए व्यक्ति को संकट से मुक्त कराना, उसकी उलझी हुई गुत्थी सुलझाना भी पुण्य का कार्य है। किसी को किसी ने सहायता का वचन दे दिया, तथा किसी रोगी, दुःखी या पीड़ित को आश्वासनदायक वचन दिया, और वह पूरा कर दिया, यह भी पुण्य का कार्य है।

बिना किसी प्रकार की लागलपेट के निष्पक्ष भाव से सच्चा इन्साफ या न्याय देना भी वचन पुण्य में माना जाएगा। क्योंकि सच्चा, निष्पक्ष और शुद्ध न्याय गरीबों को प्रायः नहीं मिल पाता। उसे जबर्दस्त आदमियों द्वारा दबा दिया जाता है, उसकी कोई सुनवाई नहीं होती, या रिश्वतखोर, लोभी एवं पक्षपाती लोग न्याय का खून कर देते हैं, किन्तु जब भी कोई व्यक्ति शीघ्र सच्चा और निष्पक्ष न्याय देता है, तो वह अन्याय पीड़ितों की बहुत अधिक दुआएँ पाता है, उन्हें बहुत अधिक राहत मिलती है, और किसी को राहत या शाता पहुँचाना पुण्य का कारण है। इस दृष्टि से न्यायदान भी वचनपुण्य के अन्तर्गत आ जाता है।

कहते है, राजा विक्रमादित्य शुद्ध और निष्पक्ष न्याय देता था। वह जब न्याय के सिंहासन पर बैठता था तो किसी का साहस नहीं होता था कि उसके सामने झूठ बोलकर बात की हेरा-फेरी कर दे। वह गरीबों और अन्याय पीड़ितों के साथ हमदर्दी रखता था और उनकी बातें ध्यानपूर्वक सुनकर जो भी न्याय होता, वह बिना किसी लागलपेट के दे देता था।

कायपुण्य—वचनपुण्य के बाद कायपुण्य का नम्बर आता है। कायपुण्य काया

से जो परोपकार का कार्य, निःस्वार्थ कार्य करके पुण्योपार्जन किया जाता है, उसे कहा जा सकता है। सेवा भावना से किसी गरीब की सेवा करना, श्रमदान करना, अपने शरीर से किसी वृद्ध एवं जर्जर का बोझ उठाकर सेवा करना, दूसरे के लिए अपनी काया को कष्ट में डालना, शरीर से स्वयं परिश्रम करके किसी अपाहिज, विकलांग, अन्धे, लूले लंगड़े आदि को सहायता पहुँचाना, किसी अनाथ एवं निराधार बालक की सेवा करना इत्यादि कार्य काय पुण्य के अन्तर्गत आते हैं। कायपुण्य भी अपने-आप में महान् एवं विशिष्ट पुण्य है। किसी व्यक्ति के पास धन न हो, साधन न हो, बुद्धि न हो अथवा वाचिक शक्ति न हो तो भी काया के दान द्वारा वह महान् पुण्योपार्जन कर सकता है। विश्व इतिहास में ऐसे कई उज्ज्वल व्यक्तित्व के धनी प्रसिद्ध हुए हैं, जिन्होंने शरीर के द्वारा निःस्वार्थ भाव से दूसरे प्राणी को सुखसाता पहुँचाई है और विशिष्ट पुण्य का उपार्जन किया है। कभी-कभी धन और अन्न देने की अपेक्षा भी काया से सेवा देने का महत्त्व अधिक हो जाता है।

मारवाड़ का एक प्रसंग है। एक पण्डितजी, सेठजी और ऊँटवाला तीनों ऊँट पर बैठकर कहीं जा रहे थे। रास्ते में जोर से आँधी आई कि उनका छाता उड़ गया। काफी दूर चलने पर उन्होंने रास्ते में पड़े हुए एक बीमार को कराहते हुए देखा। उसमें उठने की भी शक्ति नहीं थी कि कहीं चलकर जा सके और अपना इलाज करा सके। इन तीनों ने उसे देखा तो ऊँट को रोका। सर्वप्रथम पण्डित जी उसके पास पहुँचे और लगे उपदेश देने—'भाई! यह तो कर्मों का फल है। जैसा मनुष्य कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। इत्यादि।' पर उपदेश सुनना उस समय उसके बस की बात नहीं थी। उसके बाद सेठजी भी दयावश होकर उसके पास पहुँचे। अपनी जेब में हाथ डाला और २-३ रुपये की जो रेजगारी थी, उसे उस अशक्त बीमार के सामने फेंककर कहा—'ले, ये पैसे ले। इनसे इलाज करा लेना।' परन्तु उस रोगी की हालत इतनी खराब थी कि पैसों को देखकर उसकी आँखों में थोड़ी चमक तो आई, लेकिन पैसे से उसका क्या बनता? पैसों को हाथ से उठाने की भी उसमें शक्ति न थी। वह टुकुर-टुकुर देखता रह गया। उसे उपदेश या पैसे की आवश्यकता नहीं थी, उसे आवश्यकता थी, शरीर से सेवा की। वह उन दोनों ने दी नहीं। अन्त में, ऊँटवाले को दया आई। उसने पण्डितजी और सेठजी से कहा—'यहाँ उपदेश और पैसे का काम नहीं है, यहाँ तो इसे सेवा की जरूरत है। वह आपके बस की बात नहीं। अतः आप दोनों आगे चलिए, गाँव में पहुँचिये ऊँट लेकर। मैं इसे कहीं अस्पताल में भर्ती कराकर आता हूँ। पण्डितजी और सेठजी दोनों ऊँट लेकर आगे चल दिये। ऊँटवाले ने उस रोगी को धीरे से उठाकर अपनी पीठ पर रखा, वे पैसे बटोर कर उसकी धोती के पल्ले में बाँधे और वहाँ से कोई दो मील पर एक कस्बे में जो अस्पताल था, उसमें डॉक्टरों से कह-सुनकर भर्ती कराया। डॉक्टरों से उसका अच्छी तरह इलाज करने को कहा और वे पैसे उसे सौंपकर उसने उस रुग्ण व्यक्ति से इजाजत मांगी—'भैया! अब मैं जाता हूँ। तुम प्रसन्नता से रहना

और इलाज कराना।' उसने हृदय से आशीर्वाद बरसाते हुए कहा—'भाई। आपने मेरी बहुत सेवा की। आपको बार-बार धन्यवाद देता हूँ। अब आप भले ही पधारें।'

यह है, उपदेश और धन की अपेक्षा भी काया से सेवादान का महत्त्व। वास्तव में यह शारीरिक सेवा महान् पुण्य का कारण है।

जैन संस्कृति का एक चमकता हुआ पृष्ठ है—मर्यादा पुरुषोत्तम कर्मयोगी श्रीकृष्ण जी के जीवन का। वे सन्तों, श्रमणों और त्यागियों के परम भक्त थे ही, यह जैन, बौद्ध, वैदिक तीनों के धर्मशास्त्रों में प्रसिद्ध है। एक बार वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि (जो उनके चचेरे भाई थे, और श्रमण बन गये थे) को वन्दना करने और अपने लघुभ्राता गजसुकुमार मुनि (जो कल ही दीक्षित हुए थे) को भी वन्दन करने जा रहे थे। रास्ते में जब उनकी सवारी नगर के बीच में होकर जा रही थी, तो उन्होंने एक अत्यन्त कृशकाय जराजीर्ण बूढ़े को देखा, जिसके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं, बाल सफेद थे और काँपते हुए हाथों से ईंटों के एक ढेर में से एक-एक ईंट उठाकर बड़ी मुश्किल से अन्दर रख रहा था। श्रीकृष्ण जी ने जब उसकी हालत देखी तो उनकी करुणा छलक उठी, उन्होंने बूढ़े को अनुकम्पनीय दृष्टि से एवं सहानुभूति-पूर्वक देखा और अनुकम्पा लाकर स्वयं अपने हाथ से ईंटों के ढेर में से एक ईंट उठाई और अन्दर रखी। श्रीकृष्णजी द्वारा एक ईंट के रखे जाने ही उनके साथ जो राज-दरबारी एवं अधिकारी आदि थे, उन सबने हाथोंहाथ वे ईंटें उठाकर अन्दर रख दी बूढ़े का कार्य बहुत हल्का कर दिया। वृद्ध श्रीकृष्ण जी के प्रति आभार मानता हुआ अन्तर से आशीर्वाद देने लगा। वह श्रीकृष्ण जी को अत्यन्त श्रद्धा, आदर और अहो-भाव से देखने लगा।

क्या श्रीकृष्णजी के द्वारा अनुकम्पापूर्वक वृद्ध को दिया गया श्रमदान कितना महत्त्वपूर्ण और पुण्यवृद्धि का कारण नहीं था? क्या किसी को श्रीकृष्ण जी के इस शरीर से सेवा के कार्य को कायपुण्य कहने में हिचक हो सकती है?

इसी प्रकार काया से सेवाभावना से श्रमदान देना भी पुण्योपार्जन का कारण होने से उसे भी कायपुण्य कहा जा सकता है।

इसी प्रकार कई लोग किसी वृद्ध, अपाहिज या चक्षु विकल व्यक्ति पर दया लाकर उसका बोझ उठा लेते हैं, उसे सहायता देते हैं। यह भी कायपुण्य का ही एक प्रकार है।

नमस्कारपुण्य—अन्तिम पुण्य है—नमस्कारपुण्य। नमस्कार करने से भी पुण्य अर्जित होता है। प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त ८ प्रकार के पुण्य के साथ तो दान का सम्बन्ध एक या दूसरे प्रकार से जुड़ा है और वह सबकी समझ में भी आ सकता है

किन्तु नमस्कार का दान कैसे सम्भव हो सकता है ? और दान के पूर्वोक्त लक्षण अनुसार नमस्कार में किस पर क्या और कैसे अनुग्रह है ? वास्तव में, नमस्कारपुण्य साथ दान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अहंकार का दान किये बिना, अभिमा का विसर्जन किए बिना नमस्कार होता नहीं। इसलिए अहंकार या अहंभाव का दा ही प्रकारान्तर से नमस्कार पुण्य है। अहंकार के दान करने से आत्मा पर तो अनुग्र होता ही है, दूसरों पर भी बहुत बड़ा अनुग्रह होता है। क्योंकि अहंकार का त्या (दान) करने वाले व्यक्ति को देखकर अनेक व्यक्तियों को अहंकार-त्याग की प्रेरण मिलेगी। और फिर नमन भी अपने से महान् व्यक्ति को, बड़े आदमी को—जो उ में, गुणों में या चारित्र में या ज्ञान में बड़ा हो, आगे बढ़ा हुआ हो उसे किया जात है। ऐसे व्यक्ति के सामने अपने अहंकार का विसर्जन करने से उनका अनुग्रह भी मिलता है, इसलिए 'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'—अपने पर अनुग्रह के लिए अपने अहं को मेरेपन को भूल जाना—छोड़ देना—ही दान है, यह लक्षण भी घटित हो जाता है।

अपने से उत्कृष्ट व्यक्ति के प्रति नमन करते समय जीवन में प्रविष्ट अभिमान, द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार, ममत्व आदि विकार को उक्त महान् नमस्करणीय व्यक्ति के चरणों में चढ़ा देना होता है। इस प्रकार का नमस्कार दान अपनी आत्मा को तो पुण्य से ओतप्रोत बनाता ही है, अन्य अनेकों के लिए प्रेरणादाता होने से भी लाभदायक है।

मानव-जीवन में अहंकार अनेक अनिष्टों को पैदा करता है। गृहस्थजीवन में तो पद-पद पर जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि का मद मनुष्य को पतन के मार्ग पर ले जाता है। मद के कारण दुनिया में बड़े-बड़े युद्ध, कलह, क्लेश, झगड़े, संघर्ष, वैरविरोध होते हैं, जिनके फलस्वरूप राग, द्वेष, मोह, घृणा आदि कर्मबन्धों के उत्पादक विकार बढ़ते जाते हैं। इनको दान करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका है—वीतराग प्रभु के चरणों में सर्वस्व समर्पित कर देना; भगवान को अपने अहंत्व-ममत्व आदि चढ़ा देना, वास्तव में वही अहंकार शून्य होता है। इससे व्यक्ति को स्वयं को लाभ तो है ही, उस व्यक्ति के कारण कई झगड़े, क्लेश, युद्ध, कलह आदि होने वाले थे, उनसे सबको राहत मिल जाती है, शान्ति का अनुभव होता है। और दूसरों को साता, शान्ति या राहत पहुँचाने से पुण्य उपार्जित होता है।

इस दृष्टि से नमस्कार पुण्य का एक अर्थ यह भी फलित होता है कि जब राष्ट्र-राष्ट्र में, प्रान्त-प्रान्त में या जनपद-जनपद में या धर्म सम्प्रदायों में परस्पर रस्साकसी चल रही हो, संघर्ष, वैर-विरोध, उग्रविवाद, कलह, युद्ध या द्वेषभाव चल रहा हो, उस समय उसके अग्रगण्य या नेता द्वारा अपने अहंत्व-ममत्व को हटाकर झुक जाना, उस विवाद या कलह आदि को समाप्त कर देना, इससे भविष्य में अनेक गुना फैलती हुई अशान्ति, मनोमालिन्य, कर्मबन्ध, संक्लेश, आदि जो बढ़ते, उनके रुक जाने से

शान्ति हो गई। यह भी बहुत बड़ा पुण्य का कारण हुआ या किसी महापुरुष के चरणों में नमस्कार करके उनका आदेश मानकर वैरविरोध को वहीं समाप्त कर देना भी नमस्कार जनित-पुण्य है। इस अर्थ की दृष्टि से देखा जाय तो मुख्यतया व्यक्ति के अहंत्व—ममत्व का दान नमस्कारजनित पुण्य का कारण बनता है।

तथागत बुद्ध के जमाने की एक घटना है। एक बार ग्रीष्मऋतु में सूर्य के प्रचण्ड ताप से नदी, नाले, सरोवर, पोखर आदि सब जलाशय सूख गए थे। पानी के अभाव में लोग सर्वत्र आकुल-व्याकुल थे। इस भयंकर गर्मी से रोहिणी नदी जो कपिल वस्तु और कोलिय नगर की सीमा पर बहती थी, सिमटकर अत्यन्त छोटी-सी धारा के रूप में बहने लगी। कपिलवस्तु और कोलिय नगर की सीमा पर बहने वाली रोहिणी नदी की धारा के उपयोग के बारे में शाक्यों और कोलियों में विवाद छिड़ गया। शाक्यों ने पानी का उपयोग सिर्फ अपने ही खेतों के लिए करने का आग्रह किया, जबकि कोलियों ने उस पर अपना हक बतलाते हुए स्वयं ही उस पानी का उपयोग करने की जिद ठान ली। दोनों राजकुलों मे विवाद छिड़ गया। बढ़ते-बढ़ते क्रोधाग्नि इतनी अधिक प्रज्वलित हो उठी कि प्रतिस्पर्धा के आवेश मे दोनों ओर की तलवारें खिच कर म्यान से बाहर आने को उतारू हो रही थी।

तथागत बुद्ध उस समय रोहिणी के तटपर कपिलवस्तु में चारिका कर रहे थे। बुद्ध ने आमने-समाने डटे हुए सैनिकों से पूछा—"किस बात का कलह है ?"

रोहिणी के पानी का झगड़ा है, भंते !" दोनों ओर के लोगों से उत्तर मिला।

"पानी का क्या मूल्य है ? महाराजो !" तथागत ने दोनों सेनापतियों की ओर देख कर उद्बोधन किया।

"कुछ भी नहीं, भंते ! पानी बिना मूल्य कहीं पर भी मिल सकता है ?" शाक्यों और कोलियों का उत्तर था।

"क्षत्रियों का क्या मूल्य है, महाराजो !" तथागत की गंभीर वाणी प्रस्फुटित हुई। दोनों ओर से उत्तर मिला—"क्षत्रियों का मूल्य नहीं आंका जा सकता, भंते ! यह अनमोल है।"

"क्या अनमोल क्षत्रियों का रक्त साधारण पानी के लिए बहाना उचित है ?" तथागत के इस प्रश्न पर सभी मौन और नतशिर थे। बुद्ध का प्रेममय सन्देश मुखरित हो उठा—"शत्रुओं में अशत्रु होकर जीना परम सुख है। वैरियों में अवैरी होकर रहना परम शम है।" बुद्ध के इस प्रेममय सन्देश पर दोनों दलों मे समझौता हो गया। दोनों दलों के अग्रगण्यों ने तथागत बुद्ध के चरण छूकर नमस्कार किया और अपने अहंत्व और तज्जनित कलह को समर्पित करते हुए बोले—"भंते ! आज से हम कभी इसी प्रकार वैर-विरोध करके नहीं लड़ेंगे।"

इस नमस्कारजनित आचरण का प्रभाव दोनों नगर के निवासियों और खास-तौर से क्षत्रियों पर इतना अधिक पड़ा कि दोनों जगह अशान्ति का जो ज्वालामुखी फूटने वाला था, वह वहीं शान्त हो गया। क्या यह नमस्कारजनित पुण्य कम प्रभाव-जनक है? नमन का अर्थ झुक जाना भी होता है, इस दृष्टि से बुद्ध जैसे महापुरुष के चरणों में दोनों दल झुक गए, दोनों ने अपनी-अपनी हठ छोड़ दी; और भविष्य में वैर-विरोध न करने का प्रण किया। क्या यह नमस्कार-जनित पुण्य का प्रभाव नहीं है?

इसी प्रकार नमस्कारपुण्य का एक फलितार्थ यह भी होता है कि समस्त प्राणियों में परमात्मभाव को देखकर, उसे परम-आत्मा समझ कर देना; ऊपर का चोला न देखकर अन्तरात्मा को ही देखकर श्रद्धाभाव से नमनपूर्वक देना। यानी-प्रत्येक संकटग्रस्त या क्षुधा आदि पीड़ा से ग्रस्त आत्मा को परमात्मा का रूप समझ कर नमनपूर्वक दान देना नमस्कारपूर्वक दान से उपार्जित होने वाला पुण्य है।

नवविध पुण्यजनक दान : एक चर्चा

कुछ लोगों का कहना है कि पूर्वोक्त नौ प्रकार के पुण्य तो केवल महाव्रती साधु-साध्वियों को देने से ही फलित होता है, अन्य को देने से नहीं। उनका यह तर्क है, अगर गृहस्थ को देने से पुण्य होता तो वहाँ धनपुण्य, हस्तिपुण्य या वाहनपुण्य आदि का भी उल्लेख होता; परन्तु ऐसा उल्लेख नहीं है। वहाँ साधुवर्ग के लिए कल्पनीय, ऐषणीय या ग्राह्य वस्तुओं का ही उल्लेख है। इसका समाधान यह है कि अन्य दानों की गणना तो दस प्रकार के दानों में आ ही जाती है, सिर्फ वे दान, जिनसे कर्मक्षय न होकर पुण्यबन्ध होता है, उनका उल्लेख करना शेष रह गया था, इसलिए सद्गृहस्थों को या अनुकम्पा पात्रों को देने योग्य सामान्य वस्तुएँ गिनाई गई हैं। धन या हाथी की अपेक्षा मुसीबत में पड़े मनुष्य को अन्न, वस्त्र और आवास की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। इसलिए नौ प्रकार के पुण्योत्पादक दान सर्वसाधारण अनुकम्पापात्र या तथाविध पात्र के लिए हैं। और फिर साधु-साध्वी को ये वस्तुएँ देने से तो पुण्य बन्ध से भी आगे बढ़कर कर्म-निर्जरा होती है जिसका साक्षी भगवती सूत्र का पाठ है अन्न की अपेक्षा उनके लिए अभीष्ट चतुर्विध आहार का दान कल्पनीय होता है। इस दृष्टि से भी साधु वर्ग की अपेक्षा सद्गृहस्थ या अनुकम्पा पात्र को देने से नवविध पुण्य का होना अधिक प्रमाणित या संभावित है। अगर साधुवर्ग को देने में ही इस नवविध पुण्य को परिसमाप्त कर दिया जाएगा, तो फिर जहाँ साधु वर्ग नहीं पहुँच पाता है, जहाँ उसके दर्शन भी दुर्लभ हैं, वहाँ तो पुण्य वृद्धि या पुण्यो-पार्जन का कोई कारण नहीं रहेगा। वहाँ के लोग तो पूर्वपुण्य क्षीण कर देंगे, नये पुण्य का उपार्जन नहीं कर सकेंगे। फिर तो उनके लिए पुण्योपार्जन की कहीं भी कोई गुंजाइश नहीं रहेगी। परन्तु ऐसा है नहीं। नौ प्रकार के पुण्य तो सर्वसाधारण

योग्य पात्र को सार्वजनिक रूप में या व्यक्तिगत रूप में दान करने से उपार्जित हो सकते हैं, होते है, हुए है। ऐसा अर्थ ही अधिक संगत मालूम होता है।

इस अर्थ से प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म-सम्प्रदाय, जाति-कौम, या देश-कुल का हो, अपने स्थान या क्षेत्र में रह कर भी पुण्य उपार्जित कर सकता है। शास्त्र में जैसे पापोपार्जन के १८ प्रकार बताए हैं, वैसे ही पुण्योपार्जन के ये ९ भेद बताये हैं। इन्हीं ९ प्रकारो में संसार के सभी प्रमुख पदार्थ आ जाते हैं, जिनसे पुण्योपार्जन किया जाता है, बशर्ते कि ये ९ पदार्थ तद्योग्य पात्र को परिस्थिति देखकर दिये जाएँ। इसी कारण हमने दान के प्रकारो में इन नवविध पुण्योत्पादक दानों का उल्लेख और विश्लेषण किया है।

इस नमस्कारजनित आचरण का प्रभाव दोनों नगर के निवासियों और ख तौर से क्षत्रियों पर इतना अधिक पड़ा कि दोनों जगह अशान्ति का जो ज्वालामु फूटने वाला था, वह वहीं शान्त हो गया। क्या यह नमस्कारजनित पुण्य कम प्रभ जनक है ? नमन का अर्थ झुक जाना भी होता है, इस दृष्टि से बुद्ध जैसे महापुरुष चरणों मे दोनों दल झुक गए, दोनों ने अपनी-अपनी हठ छोड़ दी; और भविष्य वैर-विरोध न करने का प्रण किया। क्या यह नमस्कार-जनित पुण्य का प्रभ नही है ?

इसी प्रकार नमस्कारपुण्य का एक फलितार्थ यह भी होता है कि समः प्राणियों में परमात्मभाव को देखकर, उसे परम-आत्मा समझ कर देना;, ऊपर चोला न देखकर अन्तरात्मा को ही देखकर श्रद्धाभाव से नमनपूर्वक देना। यानि प्रत्येक संकटग्रस्त या क्षुधा आदि पीड़ा से ग्रस्त आत्मा' को परमात्मा रूप समझ कर नमनपूर्वक दान देना नमस्कारपूर्वक दान से उपार्जित होने वाल पुण्य है।

नवविध पुण्यजनक दान : एक चर्चा

कुछ लोगों का कहना है कि पूर्वोक्त नौ प्रकार के पुण्य तो केवल महाव्रती साधु-साध्वियों को देने से ही फलित होता है, अन्य को देने से नहीं। उनका यह तर्क है, अगर गृहस्थ को देने से पुण्य होता तो वहाँ धनपुण्य, हस्तिपुण्य या वाहनपुण्य आदि का भी उल्लेख होता; परन्तु ऐसा उल्लेख नहीं है। वहाँ साधुवर्ग के लिए कल्पनीय, ऐषणीय या ग्राह्य वस्तुओं का ही उल्लेख है। इसका समाधान यह है कि अन्य दानों की गणना तो दस प्रकार के दानों में आ ही जाती है, सिर्फ वे दान, जिनसे कर्मक्षय न होकर पुण्यबन्ध होता है, उनका उल्लेख करना शेष रह गया था, इसलिए सद्गृहस्थों को या अनुकम्पा पात्रों को देने योग्य सामान्य वस्तुएँ गिनाई गई हैं। धन या हाथी की अपेक्षा मुसीबत में पड़े मनुष्य को अन्न, वस्त्र और आवास की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। इसलिए नौ प्रकार के पुण्योत्पादक दान सर्वसाधारण अनुकम्पापात्र या तथाविध पात्र के लिए हैं। और फिर साधु-साध्वी को ये वस्तुएँ देने से तो पुण्य बन्ध से भी आगे बढ़कर कर्म-निर्जरा होती है जिसका साक्षी भगवती सूत्र का पाठ है अन्न की अपेक्षा उनके लिए अभीष्ट चतुर्विध आहार का दान कल्पनीय होता है। इस दृष्टि से भी साधु वर्ग की अपेक्षा सद्गृहस्थ या अनुकम्पा पात्र को देने से नवविध पुण्य का होना अधिक प्रमाणित या संभावित है। अगर साधुवर्ग को देने में ही इस नवविध पुण्य को परिसमाप्त कर दिया जाएगा, तो फिर जहाँ साधु वर्ग नहीं पहुँच पाता है, जहाँ उसके दर्शन भी दुर्लभ हैं, वहाँ तो पुण्य वृद्धि या पुण्योपार्जन का कोई कारण नहीं रहेगा। वहाँ के लोग तो पूर्वपुण्य क्षीण कर देंगे, नये पुण्य का उपार्जन नहीं कर सकेंगे। फिर तो उनके लिए पुण्योपार्जन की कहीं भी कोई गुंजाइश नहीं रहेगी। परन्तु ऐसा है नहीं। नौ प्रकार के पुण्य तो सर्वसाधारण

योग्य पात्र को सार्वजनिक रूप मे या व्यक्तिगत रूप मे दान करने से उपार्जित हो सकते हैं, होते है, हुए है। ऐसा अर्थ ही अधिक संगत मालूम होता है।

इस अर्थ से प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म-सम्प्रदाय, जाति-कौम, या देश-कुल का हो, अपने स्थान या क्षेत्र मे रह कर भी पुण्य उपार्जित कर सकता है। शास्त्र मे जैसे पापोपार्जन के १८ प्रकार बताए हैं, वैसे ही पुण्योपार्जन के ये ९ भेद बताये हैं। इन्हीं ९ प्रकारो में संसार के सभी प्रमुख पदार्थ आ जाते हैं, जिनसे पुण्योपार्जन किया जाता है, बशर्ते कि ये ९ पदार्थ तद्योग्य पात्र को परिस्थिति देखकर दिये जाएँ। इसी कारण हमने दान के प्रकारों में इन नवविध पुण्योत्पादक दानों का उल्लेख और विश्लेषण किया है।

आतिथ्य-पूर्ण-माहात्म्य-वर्णने न क्षमा वयम् ।
दातृ-पात्र-विधि द्रव्यैस्तस्मिन्नस्ति विशेषता ॥

—अतिथि दान या अतिथि-सेवा की महत्ता पूर्ण करने में समर्थ नहीं है, उसके पुण्य का परिमाण भी हम नहीं बता सकते, किन्तु यह तो कहेंगे कि उस अतिथिदान में दाता, पात्र, विधि और द्रव्य के कारण न्यूनाधिकता रहती है ।

तृतीय अध्याय

दान :
प्रक्रिया और पात्र

1

दान की कला

मानव संसार का सर्वोत्तम विचारशील प्राणी है। वह किसी भी कार्य को करने से पहले विचार करता है कि उस कार्य में उसे लाभ होगा या अलाभ ? अगर लाभ होगा तो कितना होगा ? किस कार्य में अधिक लाभ होगा ? अमुक कार्य की अपेक्षा अमुक कार्य मे विशेष लाभ होगा या नहीं ? इस प्रकार के विकल्प उसके मन में उठा करते हैं। यह बात दूसरी है कि वह उन विकल्पों की आवाज को सुनी-अनसुनी कर दे या विस्मृत हो जाय, प्रमादी होकर अन्तर की आवाज को सुने ही नहीं। क्योंकि मनुष्य का लक्षण ही यह है—मत्वा कार्याणि सीव्यतीति मनुष्यः (जो मनन करके, विचार करके कार्य में प्रवृत्त होता है, वह मनुष्य है)। इस दृष्टि से दान की क्रिया को करने से पहले भी वह यह अवश्य सोचता है कि यह दान लाभदायक होगा कि नहीं ? क्या इसकी अपेक्षा भी और कोई दान की विधि लाभदायक हो सकती है ? किस विधि से या किसप्रकार से अथवा किस रूप में, किस द्रव्य को, किसको देने से दान से अधिक लाभ हो सकता है ? इस प्रकार दान की कला और लाभ के विचार से सम्पन्नव्यक्ति उसी तरीके से दान देता है, जिससे उसके दान से अधिकाधिक लाभ हो। हाँ, किसी समय वैसा सुपात्र न मिले तो अनुकम्पा पात्र को भी वह दान देता है, परन्तु उसमें भी अविधि से होने वाले अलाभ से बचकर देता है, ताकि वह विधिपूर्वक दान से लाभ उठा सके।

मनुष्य कई बार दूर दृष्टि से सोचता है, तो उसे यह ध्यान में आ जाता है कि दान दिया हुआ, कभी निष्फल नहीं जाता। वह किसी न किसी रूप में, यहाँ और वहाँ फल देता ही है।

दान कभी व्यर्थ तो नहीं जाता, उसका फल यहाँ भी मिलता है, वहाँ भी, लेकिन देखना यह है कि सत्कारपूर्वक विशिष्ट भावना से विशिष्ट द्रव्य का उतना ही दान देकर एक दानकला का विशेषज्ञ उस व्यक्ति से विशेष लाभ उठा सकता है, जितना कि एक दानकला से अनभिज्ञ व्यक्ति बेढंगेपन से, अनादरपूर्वक, उसी द्रव्य का उतना ही दान देकर या प्रसिद्धि, नाम या अन्य किसी स्वार्थ की आकांक्षा से देकर उतना लाभ खो देता है। इसलिए दानकला निपुण व्यक्ति के दान देने में

कला से अनभिज्ञ के दान देने में चाहे वस्तु और क्रिया में अन्तर न हो, किन्तु भावना और फल में, लाभ और विधि में अन्तर हो जाता है।

यहाँ हमें पाठकों को वही रहस्य बताना है कि दान की कला से व्यक्ति कितना अधिक लाभ थोड़ी-सी वस्तु देकर प्राप्त कर लेता है और दान की कला से विहीन व्यक्ति उस लाभ को किस प्रकार कौड़ी के मोल में गंवा बैठता है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में (७।३९) में आचार्य उमास्वाति ने प्रकाश डाला है—

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात् तद्विशेषः।

—'विधि, देयवस्तु, दाता और पात्र (दान लेने वाले) की विशेषता से दान से होने वाले लाभ में विशेषता आ जाती है।

दान एक प्रकार का सोना है, अपने आप में वह मलिन नहीं होता, किन्तु फूहड़पन से, अनादर से, अविधि से या अनवसर से, दान देने से उक्त दान पर दोष की कालिमा चढ़ जाती है, और निपुणता से, सुघड़पन से, सत्कारपूर्वक, अवसर पर, विधिपूर्वक दान देने पर दान में विशेष चमक आ जाती है। दानदाता के जीवन में आया हुआ समस्त कालुष्य भी उसके सहारे से धुल जाता है।

इसीलिए कुरल (९१७) में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

—"हम आए हुए अतिथि को दान देने या अतिथि-सेवा के माहात्म्य का पूर्णतया वर्णन करने में समर्थ नहीं है कि उसमें कितना पुण्य है? किन्तु यह बात अवश्य कहेंगे कि उस अतिथियज्ञ (दान) में विशेषता दाता, पात्र, विधि और द्रव्य को लेकर न्यूनाधिक होती है।[1]

दान-कला की निपुणता को अभिव्यक्त करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

सुखविपाक सूत्र में इसी बात को स्पष्टतया प्रतिपादित करते हुए कहा है कि आदर्श श्रमणोपासक सुबाहुकुमार ने हस्तिनापुर नगरनिवासी सुमुख गृहपति के भव (पूर्वजन्म) में एक दिन धर्मघोष स्थविर के सुशिष्य सुदत्त नामक अनगार को, जोकि एक मासिक उपवास (मासक्षपणक तप) करते थे, जब मासक्षपण तप के पारणे के लिए अपने (सुमुख के) घर की ओर पधारते देखा। देखते ही वह मन ही मन अत्यन्त हर्षित और तुष्ट हुआ। अपने आसन से उठा, चौकी पर पैर रखा एवं वहाँ से उतर कर एक-साटिक उत्तरासंग किया (उत्तरीय लगाया) और सुमुख अनगार की ओर सात-आठ कदम सामने गया, उन्हें तीन बार प्रदक्षिणा करके विधिपूर्वक (तिक्खुत्तो के पाठ से) वन्दन-नमस्कार किया और जहाँ अपना भोजनगृह था, वहाँ उन्हें सम्मानपूर्वक लेकर

---

१ आतिथ्य-पूर्ण माहात्म्य-वर्णने न क्षमा वयम्।
दातृपात्रविधिद्रव्यैस्तस्मिन्नस्ति विशेषता॥

आया। फिर अपने हाथों से विपुल अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम चारों प्रकार के आहार देने की उत्कट भावना से उन्हें आहार दिया। आहार देने से पहले, आहार देते समय और आहार देने के बाद तीनों समय सुमुख गृहपति के चित्त में अतीव प्रसन्नता और सन्तुष्टि थी।

उसके बाद उस सुमुख गृहपति ने उक्त दान में द्रव्यशुद्धि, दाता की शुद्धि और पात्र की शुद्धि इस प्रकार मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप त्रिकरण शुद्धि पूर्वक सुदत्त नामक अनगार को प्रतिलाभित करने (दान देने) से अपना संसार (जन्म-मरण का चक्र) सीमित कर लिया। मनुष्यायु का बँध किया। उसके घर में ये पाँच दिव्य प्रादुर्भूत हुए—धन की धारा की वर्षा हुई, पाँच वर्ण की पुष्पवृष्टि हुई, देवों ने वस्त्र भी आकाश से डाले, देवदुन्दुभियाँ बजीं और बीच-बीच में आकाश से अहोदानं, अहोदानं की घोषणा भी की।'[1]

जैनशास्त्रों में इस प्रकार की दानकला के विशिष्ट लाभों का वर्णन करने वाले अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। परन्तु उन सब में सिर्फ दाता और पात्र के नाम अलग-अलग हैं, या देय, द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु दान देने की कला और उसके फल-स्वरूप दान की विधि में तथा उसके कारण प्राप्त होने वाले दान के फल में कोई अन्तर नहीं है।

भगवतीसूत्र शतक १४ में विधिपूर्वक दान का इसी रूप में निरूपण किया है—

---

१ तेणं कालेणं तेणं समए णं इहेव जंबूदीवे दीवे भारहेवासे हत्थिणाउरे णाम णयरे······सुमुहे णामं गाहावइ परिवसई।·········धम्मघोसाणं थेराणं अंतेवासी सुदत्ते नामं अणगारे मासखमणपारणगंसि·········धम्मघोसं थेरं आपुच्छइ जाव अडमाणे सुमुहस्स गाहावइस्स गिहं अणुपविट्ठे। तएणं से सुमुहे गाहावई सुदत्तं अणगारं एज्जमाणं··· पासइ हट्ठतुट्ठे, आसणाओ अब्भुट्ठेइ,···· पायपीढाओ पच्चोरुहइ···, पाउयाओ ओमुयति···· एगासाडियं उत्तरासंगं करेइ···· सुदत्तं अणगारं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ···· तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ ····वंदइ णमंसइ···· जेणेव भत्तए तेणेव उवागच्छइ··· सयहत्थेण विउल असण पाणं खाइमं साइमं पडिलाभिस्सामित्ति कट्टु तुट्ठे, पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे, पडिलाभिएत्ति तुट्ठे।

तएणं तस्स सुमुहस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिगाहय सुद्धेणं तिविहेणं तिकरण सुद्धेणं सुदत्ते अणगारे पडिलाभिए समाणे संसारे परित्तीकए, माणुसाउए निबद्धे; गिहंसिय से इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं। तंजहा—(१) वसुहारा वुट्ठा, (२) दसद्धवण्णे कुसुमे निवाइए, (३) चेलुक्खेवे कए, (४) आहयाओ देवदुन्दुभीओ य, (५) अंतरावि य णं आगासंसि अहोदाणं घुट्ठं य।···"

—"द्रव्य (देयवस्तु) की पवित्रता से, दाता की पवित्रता से और पात्र (दान लेने वाले) की पवित्रता से मन-वचन-काया के योगपूर्वक त्रिकरण शुद्धि से दान देने से दान में विशेषता पैदा होती है।[1]

तात्पर्य यह है कि देयवस्तु, दाता, पात्र एवं विधि इनमें से एक भी दूषित हो या न्यून हो तो दान में चमक पैदा नहीं होती। दान में चमक आती है, उक्त तीनों की निर्मलता से। शास्त्रकार मूलपाठ में ही इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि तीनों में से एक की भी शुद्धि न हो या न्यून हो तो दान का उत्कृष्ट लाभ प्राप्त नहीं होता। जैसे तिपाई के तीनों पायों में से एक भी पाया टूट जाए, तो वह टिक नहीं सकती, वैसे ही दान में पूर्वोक्त शुद्धि के त्रिपाद में से एक भी कम हो तो वह शुद्धि खण्डित हो जाती है।

बौद्ध धर्मशास्त्र संयुत्त निकाय के दसरथसूत्र (३।३।४) में भी दान के तीन उपकरण माने गए हैं—(१) दान की इच्छा, (२) दान की वस्तु और (३) दान लेने वाला।

एक बार तथागत बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन के विहार मे विराजित थे। उस समय राजा प्रसेनजित् उनके दर्शनार्थ आया। बातचीत के सिलसिले में तथागत बुद्ध से राजा प्रसेनजित् के इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए—

प्रसेनजित्—'भंते ! किसे दान देना चाहिए ?'

बुद्ध—'राजन् ! जिसके मन में श्रद्धा हो।'

प्रसेनजित्—'भंते ! किसको दान देने से महाफल होता है ?'

बुद्ध—'राजन् ! शीलवान को दिए गए दान का महाफल होता है।'

दान में चार तत्त्वों से विशेषता

जैसे जैनसूत्रों में द्रव्यशुद्धि, दाता की शुद्धि और पात्रशुद्धि इस शुद्धित्रय की दान में विशेष अपेक्षा रखी गई है वैसे ही तत्त्वार्थ सूत्रकार आदि आचार्यों ने उसी के विशद रूप में दान की विशेषता के लिए चार तत्त्वों का होना आवश्यक माना है—(१) विधि, (२) द्रव्य, (३) दाता और (४) पात्र। यद्यपि पूर्वोक्त तीनों तत्त्वों में ही ये चार तत्त्व आ जाते हैं, फिर भी विशेष स्पष्टता की दृष्टि से ये चार तत्त्व दान में हों तो पूर्वोक्त कथन से विरुद्ध नहीं हैं।

तात्पर्य यह है कि दान का पूर्ण और यथेष्ट लाभ तभी प्राप्त हो सकता है, जब दान की विधि पर पहले गम्भीरतापूर्वक सोचा जाय। दान की विधि पर विचार करते समय पात्रानुसार, आवश्यकतानुसार, योग्यतानुसार, औचित्य के अनुरूप और सत्कार-सम्मान आदि श्रद्धा-भक्तिपूर्वक दान का विचार करना सर्वप्रथम अनिवार्य है।

---

१ 'दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिग्गहसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं……'

तदनन्तर देय द्रव्य पर विचार करना जरूरी है कि मैं जो वस्तु दे रहा हूँ, वह इस व्यक्ति के योग्य या अनुरूप है या नहीं ? तदनन्तर दाता अपने आप में ठीक है या नहीं ? तत्पश्चात् लेने वाला पात्र कैसा है ? इसका विचार कर लेना ठीक है। यानी इन चारों का सम्यक् विचार करके दिया गया दान लाभ की दृष्टि से भी उत्तम होता है और वह दूसरों के लिए आदर्श प्रकाशमान दान बनता है।

इन चारों की शुद्धता से मतलब है—चारों किसी स्वार्थ, पक्षपात, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, फलाकांक्षा, निदान या अन्य किसी अनादर क्रोध आदि दोषों से दूषित न हों, इसी प्रकार देय द्रव्य सड़ा, बासी, फैंकने लायक न हो, वह किसी से छीनकर, हड़पकर, अन्याय-अनीति से लूट-चोरी या जारी से प्राप्त न हो, इसी प्रकार दाता भी उपर्युक्त किसी अशुद्धि से लिप्त न हो, तथैव पात्र भी शराबी, जुआरी, हत्यारा, चोर, उचक्का आदि न हो। हाँ, ऐसे लोग भी अगर अत्यन्त मरणासन्न या विपन्न हो, तो अनुकम्पाबुद्धि से दाता उसे देता है वहाँ उक्त दोष नहीं।

जैनदर्शन में लाभालाभ की दृष्टि से दान के सम्बन्ध में चित्त, वित्त और पात्र की महत्ता पर बहुत प्रकाश डाला गया है। क्योंकि दान के लिए चित्त, वित्त और पात्र इन तीन त्रिपुटियों का उत्कृष्ट होना परम आवश्यक है। सभी लोगों के पास यह त्रिपुटी नहीं होती। इस त्रिपुटी में से किसी के पास चित्त शुद्ध होता है तो वित्त नहीं होता या होता है तो शुद्ध नहीं होता। किसी के पास वित्त होता है तो उदारचित्त नहीं होता। किसी के पास चित्त और वित्त होते हैं, किन्तु वैसे सुपात्र का योग नहीं मिलता। इसीलिए एक जैनाचार्य ने कहा है—

"केसिं च होइ वित्तं, चित्तं केसिंपि उभयमन्नेसिं।
चित्तं वित्तं च पत्तं च तिन्नि लभंति पुण्णेहिं॥"

अर्थात्—कई लोगों के पास धन या देय द्रव्य (साधन) तो होता है, परन्तु उनका चित्त इतना उदार या दान के लिए उत्साहित नहीं होता। कई लोगों के पास दिल उदार और उत्साहित होता है, उनके हृदय में दान देने की श्रद्धा और भावनाएँ उमड़ती हैं, लेकिन उनके पास देने को द्रव्य या साधन नहीं होता। इसलिए वे बेचारे मन मसोस कर, अपनी उमंगें मन की मन में दबाकर रह जाते हैं। अथवा कई लोगों के पास चित्त तो शुद्ध और उदार होता है, किन्तु उनके पास धन या साधन शुद्ध एवं न्यायप्राप्त नहीं होते या अत्यन्त अल्प होते हैं, पर्याप्त मात्रा में नहीं होते। कई लोगों के पास धन या साधन भी पर्याप्त मात्रा में होते हैं, शुद्ध होते हैं, और उनका हृदय भी उदार एवं शुद्ध होता है, लेकिन उन्हें योग्य सुपात्र का योग नहीं मिलता। इस-लिए पर्याप्त एवं शुद्ध द्रव्य (धन या साधन), उदार एवं शुद्ध हृदय तथा सुपात्र इन तीनों का संयोग प्रबल पुण्यों से ही मिलता है। मोदक बनाने में जैसे घी, शक्कर और आटा तीनों की आवश्यकता होती है, तथैव विशिष्ट दान में चित्त, वित्त और पात्र तीनों की आवश्यकता होती है।

तात्पर्य यह है कि चित्त, वित्त और पात्र इस त्रिपुटी की पूर्वोक्त शास्त्रकथित द्रव्य, दाता और पात्र की शुद्धि से संगति हो जाती है।

इसीलिए आचारांग सूत्र की टीका में बताया गया है कि विधि, द्रव्य, दाता और पात्र चारों अंगों के सहित दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान विशिष्ट फल लाता है—

'दानं सत्पुरुषेषु स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन।
वटकणिकेव महान्तं न्यग्रोधं सत्फलं कुरुते॥'
न्यायात्तं स्वल्पमपि हि भृत्यानुपरोधतो महादानम्।
दीन-तपस्व्यादौ गुर्वनुज्ञया दानमन्यत् तु॥',

अर्थात्—गुणों में अधिक सत्पुरुषों को विनयपूर्वक दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान सत्फल प्राप्त कराता है। जैसे वटवृक्ष का छोटा-सा बोया हुआ बीज एक दिन महान् वटवृक्ष के रूप में सत्फलीभूत हो जाता है। न्याय से उपार्जित थोड़ा-सा भी दान अपने आश्रितों के भरण-पोषण के लिए देने के बाद अपने परिवार के बड़ों की आज्ञा से दीन, तपस्वी आदि को दिया जाता है तो वह भी महादान है। इससे भिन्न जो दिया जाता है, वह केवल दान है।

भगवद्गीता में भी सात्त्विकदान के लक्षणों में बताया गया है कि देश, काल और पात्र को देखकर निःस्वार्थ भाव से दिया गया दान ही वास्तव में सच्चा दान है। महाभारत में ऐसे दान को ही अनन्त फल जनक कहा गया है, जो उक्त चारों अंगों से परिपूर्ण हो। देखिये वह श्लोक—

काले पात्रे तथा देशे, धनं न्यायागतं तथा।
यद् दत्तं ब्राह्मणश्रेष्ठा स्तदनन्तं प्रकीर्तितम्॥

अर्थात्—'जो द्रव्य (धन या साधन) न्यायोपार्जित हो, और योग्य देश, काल और पात्र में दिया जाता हो, हे विप्रवरो! वही दान 'अनन्त' (अनन्त गुना फल देने वाला) कहलाता है।'

निष्कर्ष यह है कि दान के विशेष और यथेष्ट लाभ की दृष्टि से वही दान उचित कहलाता है, जिसमें विधि, द्रव्य, दाता और पात्र चारों अंग परिपूर्ण, शुद्ध, उदार एवं न्यायोचित हों। इन चारों अंगों की विद्यमानता से दान, चाहे वह थोड़ी मात्रा में ही दिया गया हो, उत्कृष्ट फलजनक होता है।

आगे के पृष्ठों में हम इन चारों अंगों पर क्रमशः सांगोपांग विश्लेषण करेंगे।

एक दिन रात को देवदत्त सोया हुआ था। लक्ष्मी जी आकर उससे बोली—'मैं कैदी की तरह तुम्हारे घर में बन्द रहना पसन्द नहीं करती।' सेठ देवदत्त बोला—'ऐं! क्या कहा? लक्ष्मी जी! क्या आप मेरे घर से चली जाएँगी? तब तो बड़ा गजब हो जाएगा। मैं आपके बिना कैसे रह सकूँगा? इसलिए कृपा करके आप सात दिन और ठहर जाएँ। अगर आप तिजोरी में सुरक्षित रहना नहीं चाहतीं तो मैं आपको बाहर की हवा भी खिलाऊँगा।'

लक्ष्मी ने सोचा— सात दिन की मुद्दत दे देने में हर्ज ही क्या है? सात दिन में यह मूँजी क्या दान-पुण्य कर लेगा?' अतः लक्ष्मी ने सात दिन और रहना मंजूर कर लिया।

सेठ ने जब लक्ष्मी के जाने की बात सेठानी से कही तो वह सुनकर हक्की-बक्की हो गई। बोली—'लक्ष्मी चली जाएगी तो मेरा क्या हाल होगा? हाय! मैं तो मजदूरिन की तरह काम करते-करते मर जाऊँगी!' दूसरे दिन सूर्योदय होते ही देवदत्त ने दानपुण्य करना शुरू कर दिया। उसने जिस किसी को योग्य पात्र समझा या सार्वजनिक सेवा करने वाली संस्था को देखा, उसे दिल खोलकर सम्मानपूर्वक दान दिया। अनाथालय, गुरुकुल, छात्रावास, विद्यालय, सेवासंघ, औषधालय आदि सभी धर्मार्थ संस्थाओं को उसने श्रद्धा और सम्मानपूर्वक सहायता दी। सात दिन में तो देवदत्त ने घर की सारी पूँजी दान कर दी।

सातवीं रात्रि को लक्ष्मी आई और उसने आवाज दी—'देवदत्त! जागते हो या सो रहे हो?' देवदत्त दो बार आवाज देने पर भी बोला नहीं, तब लक्ष्मी ने तीसरी बार फिर कहा—'देवदत्त! मैं आ गई हूँ।' देवदत्त ने अनमने भाव से उत्तर दिया—'लक्ष्मी! एक सप्ताह पूरा हो गया। अब तुम जाना चाहो तो जा सकती हो! मैं तुम्हें अब बाँधकर रखना नहीं चाहता।' परन्तु लक्ष्मी ने उत्तर दिया—'अरे देवदत्त! यह क्या कह रहे हो? अब मैं तुम जैसे परोपकारी और दानी को छोड़कर कहाँ जाऊँगी? मैं तो यहीं रहूँगी।' देवदत्त बोला—'यहाँ रहकर क्या करोगी, लक्ष्मी! यहाँ तो चूहों को एकादशी करने का समय आ गया है।'

लक्ष्मी—'देवदत्त! मेरे आने के बहुत-से रास्ते हैं। कल तुम नदी के किनारे जाना, वहाँ जो भी महात्मा मिलें, उन्हें सत्कारपूर्वक घर पर लाकर ससम्मान भोजन कराना और भोजन के बाद लोहे के एक डंडे से उनके शरीर को स्पर्श कराना। उनका सारा शरीर सोने का हो जाएगा। यानी सोने की पुरुषाकार मूर्ति बन जाएगी। तुम उसके पैर की ओर सोना काट कर बेच देना। रात को वह फिर वैसा का वैसा हो जाएगा।'

देवदत्त ने दूसरे दिन वैसा ही किया। अब तो देवदत्त के पास कुछ ही दिनों में ६६ करोड़ तो क्या ६६ अरब से भी अधिक का सोना हो गया। किन्तु देवदत्त अब धनाढ्य हो जाने पर फिर पहले की तरह दानपुण्य करने लगा। देवदत्त सेठ के

पड़ौस में ही एक नाई रहता था। उसने सुना कि देवदत्त ने तो अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे दी थी, फिर भी यह कुछ ही दिनों में मालदार हो गया। उसने इस रहस्य का पता लगाने के लिए अपनी पत्नी से कहा। चतुर नाइन सेठानी के पास आई। बहुत ही अनुनय-विनय के पश्चात् मधुर शब्दों में बोली—'सेठानी जी ! आप तो हमारी मालकिन हैं। एक बात आपसे पूछना चाहती हूँ। सुना है, आपने तो अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दी थी, फिर कुछ ही दिनों में उससे भी अधिक धन कहाँ से और कैसे आगया ? मुझे अपनी छोटी बहन समझ कर आप बता दीजिए। मैं किसी से नहीं कहूँगी।' सेठानी भोली थी, चतुर नाइन के वाक्जाल में फंस गई। उसने आदि से लेकर अन्त तक सारी बात नाइन को कह दी कि लक्ष्मी आई थी, उसके कहे अनुसार एक महात्मा को भोजन कराया, फिर उसके शरीर के लोहे का डंडा लगाया आदि। यह सुनकर नाइन के पैरों मे पंख लग गए। वह हर्ष के मारे उछलती हुई घर आई और अपने पति से सारी बातें कह दी, फिर कहा—'कल आप भी नदी तट पर जाकर एक महात्मा को भोजन के लिए ले आना और फिर इसी तरह करना, जिससे हम भी मालामाल हो जायेंगे।'

नाई को भी यह सस्ता सौदा पसन्द आ गया। सूर्योदय होते ही वह नदी के किनारे गया। संयोगवश वहाँ एक महात्मा मिले। नाई ने महात्माजी को अपने घर पधार कर भोजन का न्यौता दिया। महात्माजी नाई के साथ उसके घर आए। नाइन ने आदरपूर्वक उन्हें भोजन कराया। और भोजन करने के बाद महात्माजी के शरीर पर लोहे का डंडा छुआने के बदले नाई ने जोर से डंडा मारा। बेचारा महात्मा चिल्लाये—'अरे दुष्ट ! मुझे तू क्यों मार रहा है ?' ज्यों-ज्यों महात्मा मना करते गए, त्यों-त्यों वह जोर-जोर से डंडे मारने लगा। महात्मा जोर से चिल्लाये—हाय ! मरा रे ! दौड़ो-दौड़ो भक्तो ! यह दुष्ट मुझे मार रहा है।' शोर सुनकर एकदम पुलिस आ पहुँची और उसने नाई को गिरफ्तार करके राजा के सामने हाजिर किया। पुलिस ने राजा से शिकायत की कि नाई ने एक महात्मा को लोहे के डंडे मारकर अधमरा कर दिया। अतः इसे हम आपके सामने लाए हैं।' राजा ने पूछा—'अबे ! महात्मा को क्यों पीट रहा था, लोहे के डंडे से ?' नाई ने कहा—'हजूर ! गुनाह माफ हो। मेरे पड़ौसी सेठ देवदत्त ने अपनी सारी सम्पत्ति दानपुण्य कर दी। फिर उसने एक महात्मा को भोजन कराया, उसके बाद उस महात्मा के शरीर पर लोहे का डंडा लगाया, जिससे वह सोने का पुरुषाकार बुत बन गया था। मै भी इसी तरह कर रहा था; ताकि मै भी सोना प्राप्त कर मालामाल बन जाऊँ।'

राजा ने तुरन्त देवदत्त सेठ को बुलाया और उससे सारी बात पूछी। देवदत्त ने सारी बात सत्य-सत्य कह दी। इस पर राजा ने नाई से कहा—'अरे मूर्ख ! तूने सिर्फ नकल ही की, पर अपनी अकल नहीं दौड़ाई कि इस सेठ ने तो अपनी ६६ करोड़ की सर्वस्व सम्पत्ति दान कर दी, तब इसे लक्ष्मीजी के प्रताप से महात्मा के शरीर पर लोहे का डंडा छुआने से सोने का पोरसा मिला। मगर तूने तो अपनी कोई

सम्पत्ति दान नहीं दी, और न ही कोई परोपकार का काम किया, तू तो केवल बाल उतारता है, भला तुझ पर लक्ष्मी कैसे प्रसन्न हो जाती और हर किसी महात्मा को घर पर लाकर भोजन कराने से तथा बाद में शरीर पर डंडा छुआने के बदले जोर से डंडा मारने से कैसे सोना बन जाता। सेठ की बराबरी तो करने चला, पर सेठ के द्वारा अपनाई हुई विधि को तो तूने नहीं अपनाया, जा, इतना भयंकर अपराध करने पर भी तूने अपना अपराध सच-सच स्वीकार कर लिया, इससे तुझे छोड़ता हूँ, भविष्य में ऐसा अपराध कभी मत करना।'

उपर्युक्त दृष्टान्त ही अपने आप में स्पष्ट बोल रहा है कि सेठ ने तो सारा कार्य विधिपूर्वक किया था, इसलिए उसे यथेष्ट लाभ मिला, लेकिन नाई ने कोई भी काम विधिपूर्वक नहीं किया, केवल लोभवश महात्मा को लाकर लोहे का डंडा फटकारा, यह कोई विधि नहीं थी, केवल अनुकरण मात्र था। इसी प्रकार कई लोग दान के महान फल का वर्णन सुनकर चाहे जैसे अंटसंट ढंग से, लोभ के वशीभूत होकर फल की आकांक्षा से प्रेरित होकर दान देने लगते हैं। वे न तो दान की विधि पर विचार करते हैं, न कोई त्याग करते हैं और न जीवन में और कोई धर्माचरण करते हैं, तब भला अविधिपूर्वक, चाहे वह अधिक मात्रा में ही दिया गया हो, दिया गया दान फल में उस विधियुक्त दान की समता कैसे कर सकता है? केवल लोभाविष्ट होकर किसी पद, प्रतिष्ठा, नामवरी या सत्ता की आकांक्षा से प्रेरित होकर दान करना अविधिपूर्वक दान है। ऐसे लोग दान की विधि से अनभिज्ञ होकर चाहे जिस व्यक्ति को, उसकी मर्यादा के विपरीत अयोग्य वस्तुएँ देकर या उसकी चापलूसी करके उसके आचार के प्रतिकूल दान देकर बदले में बहुत अधिक भौतिक लाभ या इन्द्रिय सुखरूप फल चाहते हैं, परन्तु दान का फल चाहना या बदले की आकांक्षा रखना दान नहीं, एक प्रकार की सौदेबाजी है, व्यापार है। और यह सौदा भी तो घाटे का सौदा है। अगर उतनी ही मात्रा में या अल्प मात्रा में भी वही वस्तु किसी प्रकार के फल की आकांक्षा किये बिना लोभरहित होकर किसी योग्यपात्र को विधिपूर्वक देता तो उस दान का यथेष्ट और पर्याप्तफल मिलता। इसीलिए दक्षस्मृति (३/२५) में विधिपूर्वक दान देने की स्पष्ट प्रेरणा दी गई है—

दानं हि विधिना देयं, काले पात्रे गुणान्विते।

अर्थात्—गुणवान् पात्र को उचित समय पर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक दान देना चाहिए।

विधि के विभिन्न अर्थ

सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि विधि क्या है? दान में विधि शब्द का प्रयोग किन-किन अर्थों में हुआ है? इस पर गहराई से विचार कर लेना आवश्यक है।

विधि का व्युत्पत्ति से अर्थ होता है—विशेष रूप से धारण करना—ग्रहण करना या बुद्धि लगाना। तात्पर्य यह है कि विशेष रूप से विवेक करना विधि है।

इसमें से फलितार्थ यह निकलता है कि यह विवेक करना कि किस व्यक्ति या संस्था को, कब, कितना और किस पदार्थ का दान करना है ? तथा किस व्यक्ति को, कब, क्यों, कितना और किस पदार्थ का दान नहीं करना है ? यह दान की विधि है। भगवद्गीता में अविधिपूर्वक दिये गये दान को तामसदान बतलाया है—

"अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥"

अर्थात्—जो दान अनुचित देश और काल में, तथा अपात्रों को दिया जाता है, तिरस्कार और अवज्ञापूर्वक दिया जाता है, उसे तामसदान कहा गया है। जिस देश में दुष्काल पड़ा है, जहाँ लोग भूख से छटपटा रहे हैं, वहाँ तो अन्न का एक दाना भी नहीं देना और जहाँ सुकाल है, लोग खा-पीकर सुखी हैं, वहाँ अपनी प्रसिद्धि के लिए हजारों मन अन्न लुटा देना—अविधिपूर्वक दान है। उदाहरण के लिए—तथागत बुद्ध के समय में एक बार श्रावस्ती में दुष्काल पड़ गया था, उस समय बुद्ध के साधुओं को अन्य सुभिक्षयुक्त प्रदेश में भोजन देने के लिए प्रसिद्धि लूटने हेतु कई श्रेष्ठी तैयार थे, लेकिन जब बुद्ध के शिष्य आनन्द ने दुष्काल पीड़ित क्षेत्र में क्षुधा-पीड़ितों को अन्न देने के लिए कहा तो केवल तेरह वर्ष की एक लड़की सुप्रिया के सिवाय कोई भी तैयार न हुआ। एक पाश्चात्य विचारक ने भी कहा है—

Liberality does not Consist in Giving much, but in going at the right moment.

अर्थात्—बहुत अधिक देने से उदारता सिद्ध नहीं होती, किन्तु ठीक अवसर पर आवश्यकता के क्षणों में सहायता प्रदान करना ही सच्ची उदारता है।

महात्मा बुद्ध ने आवश्यक समय पर दान देने का अत्यन्त महत्व बताया है। इसीलिए उन्होंने दान के भेदों में 'कालदान' का अलग से उल्लेख किया है और उसके ४ प्रकार बताये हैं—(१) आगन्तुक को दान देना, (२) जाने वाले को दान देना, (३) ग्लान (रोगी, वृद्ध, अशक्त) को दान देना और (४) दुर्भिक्ष के समय दान देना।

इसलिए समय पर दिया हुआ दान सविधि दान है और समय बीत जाने पर फिर दान देना अविधियुक्त दान है। कथासरित्सागर में समय पर दान देने को श्रेष्ठ बताया है—

काले दत्तं वरं ह्यल्पमकाले बहुनाऽपि किम् ?

—समय पर दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान श्रेष्ठ है, जबकि बिना समय बहुत देने से भी क्या लाभ है ?

पच्चीस हजार की मोटर में बैठकर एक सेठानी साध्वीजी के दर्शनार्थ आई। उससे कहा गया कि 'आपके पास बहुत धन है। बेचारी यह गरीब बहन इस समय दुःख और अभाव से पीड़ित है, इसे कुछ मदद दें।' इस पर सेठानी ने तमककर

कहा—'ऊँट की लम्बी गर्दन काटने के लिए थोड़े ही है। मेरा धन यों लुटाने के लिए नहीं है।' हुआ यह कि इस बात के कुछ दिनों बाद ही उसका पुत्र ब्लेक (काला बाजार) करता हुआ पकड़ा गया, उसमें उसे अपने पास से हजारों रुपये निकालकर देने पड़े।'

इसी प्रकार किसको, किस पदार्थ की, कितनी मात्रा में जरूरत है, इसका विवेक करना विधियुक्त दान है और इसका विवेक न करना अविधियुक्त दान है। जैसे भगवान् ऋषभदेव मुनि-रूप में जब आहार के लिए भिक्षाटन कर रहे थे, उस समय अयोध्या की जनता ने दानविधि न जानने के कारण उन्हें जिस वस्तु की जरूरत नहीं थी, जो चीज उनके लिए कल्पनीय (ग्राह्य) नहीं थी, ऐसी-ऐसी चीजें—हाथी, घोड़ा, रथ, अलंकृत कन्या आदि या सुन्दर आभूषण, हीरे-मोती आदि लाकर भेंट (दान) करने लगे। किन्तु उन सब चीजों की उन्हें न तो जरूरत थी और न उनके लिए वे कल्पनीय थीं, इस कारण उन्होंने उन्हें ग्रहण नहीं की और आगे बढ़ गये।

कई बार व्यक्ति जरूरतमन्द अभावग्रस्त मनुष्यों को दान देने में बिलकुल अश्रद्धालु हो जाता है। और जिन्हें जरूरत नहीं है, जो उस दान की कोई कीमत ही नहीं समझते, उन्हें दान देकर अविवेक का परिचय देते हैं। इसलिए विधियुक्त दान में यह विवेक होना चाहिए कि किस व्यक्ति को किस चीज की जरूरत है और कितनी मात्रा में जरूरत है।

अकसर यह देखा जाता है कि जो लोग अन्याय, अनीति या झूठ-फरेब से धन कमाते हैं, उनकी सम्पत्ति का दान उचित ढंग से, उचित क्षेत्र में नहीं होता।

सन् १९६३ जून में इन्दौर के एक मिल कामदार ने अपने पालतू कुत्ते को अपना उत्तराधिकारी घोषित करके उसके नाम का वसीयतनामा कर दिया। अनेक लोगों ने ऐसा अविवेक न करने के लिए उसे बहुत समझाया, परन्तु उनका प्रयास निष्फल गया। उसने उनसे कहा—'अब मुझे मानव जाति से विश्वास उठ गया है। क्योंकि मेरे अपने ही लोगों ने मेरे प्राण लेने के लिए विश्वासघात का षड्यन्त्र रचा, उस समय मेरे प्राण मेरे प्रिय कुत्ते ने ही बचाए हैं। इसलिए मेरा कुत्ता ही मेरा असली उत्तराधिकारी होगा।'

भला, बताइए, कुत्ते को उत्तराधिकारी घोषित करने के बावजूद क्या कुत्ता उसे दिये गये धन-साधन का कुछ उपयोग कर सका? यह तो नादानी से दिया गया दान है।

इसी प्रकार जहाँ जिसको जिस पदार्थ की जरूरत नहीं, वहाँ उसे अधिकाधिक देना भी दान का अविवेक है। जैसा कि महाभारत में कहा है—

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः, क्षुधार्ते भोजनं यथा।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ॥

—जहाँ पानी से लबालब जलाशय भरे हों, वहाँ वर्षा व्यर्थ है, वर्षा का उपयोग मरुभूमि में है, जहाँ सूखी धरती है। इसी प्रकार जिसने पहले ही छककर भरपेट खा लिया है, उसे और अधिक ठूंस-ठूंस कर खिलाने से क्या लाभ? जो बेचारा भूखा हो, क्षुधा पीड़ित हो उसे ही आहार-दान देना सफल है। इसी प्रकार जो व्यक्ति दीन-हीन, अभाव पीड़ित हो उसे ही देने से लाभ है। इसलिए दान की विधि में यह विवेक भी समाविष्ट है कि किसको किस वस्तु की, कितनी मात्रा में और किस रूप में आवश्यकता है। जैसे राजहंस के सामने मोती के दाने रखने पर ही वह सेवन करेगा, वह चाहे भूखा होगा, तो भी अन्य अन्नकण नहीं खाएगा। इसी प्रकार चातक चाहे जितना प्यासा हो, स्वाति नक्षत्र का जल बिन्दु ही पीएगा। इसी प्रकार पंचमहाव्रतधारी मुनिवर अपनी साधु मर्यादानुसार कल्पनीय, एषणीय और स्वप्रकृति अनुकूल, एवं सीमित मात्रा में ही अमुक विधि से ही आहार ग्रहण करते हैं।[1] अगर मुनियों को उनके कल्प एवं नियम के विरुद्ध जीवहिंसाजन्य भोज्य पदार्थ दिया जाता है, तो वे कदापि ग्रहण नहीं करते। इसीप्रकार आमिष भोजन एवं मदिरा भी उनको कोई आहार-पानी के नाम पर देने लगे तो यह अविधि है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति साधु-संन्यासी को स्त्री देने लगे, हाथी, घोड़े, रथ या सोना-चाँदी आदि अथवा जवाहरात देने लगे तो वे उसे कदापि स्वीकार नहीं करेंगे। क्योंकि यह उनके लिए अविधि है। इसीलिए महाव्रती साधु के लिए तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य में स्पष्ट कहा है—

"न्यायागतानां कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणां दानम्।"

---

१ नौ प्रकार की दानविधि:

निर्ग्रन्थ मुनियों को, चाहे वे दिगम्बर मुनि हों या श्वेताम्बर, दान देने की विधि विचारणीय है दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनियों को दान देने की विधि आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में इस प्रकार बताई है—'प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः। प्रतिग्रहादिष्वादरानादरकृतो भेदः।' अर्थात्—मुनियों को नवधाभक्तिपूर्वक प्रतिग्रह आदि (पडगाहने आदि) का जो क्रम है, वह दान की विशिष्ट विधि है। प्रतिग्रह आदि में आदर और अनादर होने से जो भेद होता है, वह विधि-विशेष है। श्वेताम्बर जैन आचार्यों ने वह विधि इस प्रकार बताई है—

संग्रहमुच्चस्थानं पादवन्दनं भक्तिः प्रणाम च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणा शुद्धिश्च विधिमाहुः॥

अर्थात्—(१) सर्वप्रथम तो आदाता के योग्य वस्तुओं का संग्रह घर में रखना चाहिए ताकि दान देते समय इन्कार करने का प्रसंग न आवे। अथवा इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रासुक या अचित्त देय वस्तुएँ, देखभाल कर ऐसी जगह संग्रह करके रखनी चाहिए, जहाँ कोई किसी सचित्त वस्तु (हरी वनस्पति, कच्चा पानी, अग्नि) आदि का संघट्टा-स्पर्श न हो।

'महाव्रती साधुसाध्वियों को न्याय प्राप्त कल्पनीय अन्न, पानी आदि द्रव्यों क दान देना चाहिए।

इसी प्रकार आचार्य अमितगति ने श्रावकाचार में इस विषय में प्रकाश डाला है—

"वस्त्रपात्राश्रयादीनि पराण्यपि यथोचितं दातव्यानि विधानेन रत्नत्रितयवृद्धये।"

—साधु-साध्वियों को वस्त्र, पात्र, उपाश्रय आदि अन्य वस्तुएँ भी यथोचित रूप में सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की वृद्धि के लिए विधिपूर्वक देनी चाहिए। आगे हम बताएँगे कि साधु-साध्वियों को उनके लिए योग्य वस्तु दान देने की विधि क्या है?

सद्गृहस्थ भी, जो अभाव पीड़ित, कष्ट पीड़ित, आजीविका रहित या क्षुधा-ग्रस्त हो, वह चाहे साधर्मी हो अथवा अन्यधर्मी हो, उसे भी हिंसाजनित वस्तुएँ नहीं देनी चाहिए। न उनको शस्त्र, अस्त्र, लाठी, तीर अथवा हिंसा वृद्धि में सहायक उपकरण आदि देने चाहिए। हाँ, धर्मोपकरण आदि धर्मवृद्धि के कारणभूत उपकरण दिये जा सकते हैं। इसीलिए श्रावक के ८ वें अनर्थदण्डविरमणव्रत में 'हिंसप्पयाणं' हिंसाजनक वस्तु के दान को अतिचार (दोष) में परिगणित किया है। इसी प्रकार किसी अनुचित (हिंसा, व्यभिचार, चोरी आदि अनैतिक धन्धे) कार्य के हेतु दान देना भी अविधि है। इसके विपरीत उचित कार्य के हेतु, धर्मवृद्धि या रत्नत्रय वृद्धि के हेतु या आध्यात्मिक विकास हेतु दान देना विधि है।

---

(२) जो पात्र (दान ग्रहण करने वाले योग्य व्यक्ति) पधारें, उन्हें उच्च स्थान दें।
(३) फिर उनके चरणों में वन्दन करके गुणानुवाद करे कि आपने मुझ पर बड़ी कृपा की, मुझे यह लाभ दिया, और मेरे घर को पावन करने पधारे इत्यादि।
(४) यथायोग्य सविधि नमस्कार करे।
(५) दोनों हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक अपने यहाँ जिस-जिस वस्तु का योग हो, उसकी आमन्त्रणा करे कि यह लीजिए, कृपा कीजिए।
(६) परिणामों में उल्लास, हर्ष, उदारता रखें। मन में किसी प्रकार का विपरीत भाव या हिचकिचाहट न आने दे।
(७) दान देने के पश्चात् प्रमोदभाव युक्त कहे—आज मैं धन्य हुआ, मेरा अहोभाग्य है, कि मेरी वस्तु सार्थक हुई इत्यादि।
(८) दानेच्छुक को अपने हाथ से ही दान देना उचित है। कहावत भी है—'हाथे सो साथे' जो अपने हाथ से दिया जाता है, वही पुण्य साथ आता है
(९) दान देते समय घबराए नहीं। जो वस्तु देने योग्य हो, उसे भली-भांति देखकर यत्नाचार युक्त होकर दे। अर्थात् देय वस्तु सड़ी-गली, बासी, दुर्गन्धयुक्त या आदाता की प्रकृति के प्रतिकूल अथवा विकारोत्तेजक या संयम में विघातक न हो। यह दान देने की नवधा भक्ति—नौ प्रकार की विधि है।

कई बार व्यक्ति दान तो देता है, किन्तु अनुचित कार्य के लिए देखादेखी या शर्मा-शर्मी लिहाज में आकर दे देता है, यह उचित नहीं। इसीलिए यहूदी धर्म ग्रन्थ मिदराश निर्गमन, (रब्ब ३१।१८) में इस अविधि युक्त दान को गलत बताया है—

'अनुचित काम करने के लिए एवं अपने स्वार्थ या सुख-सुविधा के लिए दान देना गलत है।' महाभारत शान्तिपर्व (३६।३६) में भी धार्मिक और विवेकी व्यक्ति को दान विधि के विषय में स्पष्ट चेतावनी दी है—

'न दद्याद् यशसे दानं, न भयान्नापकारिणे।
न नृत्यगीतशीलेषु, हासकेषु न धार्मिकः॥"

अर्थात्—धार्मिक पुरुष को यशकीर्ति के लिए दान न देना चाहिए, न ही किसी भय से भयभीत होकर देना चाहिए। इसी प्रकार अपने या दूसरे का अपकार (बुरा) करने वाले नाचने-गाने वालों, विदूषकों (हँसाने वाले भाण्डों) को दान नहीं देना चाहिए।

इन सबके विपरीत बिना किसी यशोलिप्सा प्रतिष्ठा, पद एवं सत्ता की लालसा के किसी स्वार्थ एवं आकांक्षा से रहित होकर निर्भय एवं निश्चिन्त होकर प्रसन्नतापूर्वक दान देना दान की विधि है। ☆

3

निरपेक्षदान अथवा गुप्तदान

कई लोग दान देने के साथ बहुत-सी लौकिक आकांक्षाएँ, पद-प्रतिष्ठा को
जोड़कर दान के फल में मीठा जहर मिला देते हैं। दान के साथ इस मीठे जहर से
बचने पर मनुष्य दान का असीम फल प्राप्त कर सकता है। पर लोग इस पद-प्रतिष्ठा
की लिप्सा को छोड़ें तब न? दान के साथ नाम और प्रतिष्ठा की आसक्ति भी दाता
को पतन की ओर ले जाती है। इस सम्बन्ध में ज्ञाताधर्मकथासूत्र में उल्लिखित नंदन
मणिहार का प्रसंग गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है। नन्दनमणिहार ने प्याऊ, धर्मशाला
चिकित्सालय वापिका आदि सत्कार्यों में बहुत-सा धन दान किया था। परन्तु उसे भी
इसी प्रकार अपनी बड़ाई, नामवरी और प्रसिद्धि की आसक्ति लगी। यहाँ तक कि
पौषधव्रत के समय भी उसका यही चिन्तन चलता रहा। शास्त्रकार कहते हैं इसी के
फलस्वरूप वह मरकर अपनी ही बनाई हुई वापिका में मेंढक बना। यह उसके दान
का फल नहीं था, अपितु दान के साथ आसक्ति का फल था, जिसका भान उसे बाद
में जाति-स्मरण ज्ञान होने से हुआ। और उसने मेंढक के जीवन में भी अपनी पूर्व
जन्म में लगे हुए आसक्ति-दोष की आलोचना की, शुद्ध होकर श्रमणव्रत ग्रहण किये।
और भगवान महावीर के दर्शन करने जाते समय घोड़ों की टाप के नीचे दब जाने
से वहीं प्राणान्त हो गया। शुभ भावना में मरने से वह मेंढक भी स्वर्ग में गया।

महात्मा गांधीजी से एक बार एक व्यक्ति ने आकर शिकायत की—"बापू!
यह दुनिया कितनी स्वार्थी है। मैंने ५० हजार रुपये खर्च करके यह धर्मशाला
बनवाई। पर आज लोगों ने मुझे इसकी कमेटी में से निकाल फेंका है। मानो, मेरी
कोई कीमत ही नहीं है। मैं तो अत्यन्त निराश हो गया हूँ, इस प्रकार के दान से!"
महात्मा जी ने उन्हें साफ-साफ सुनाया—"भाई! तुमने दान का सही अर्थ समझा
ही नहीं है। दान देने वाले को सामने वाले (आदाता) पक्ष से किसी प्रकार की
अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। कोई चीज देकर बदले में कुछ पाने की इच्छा रखना
दान नहीं, व्यापार है, तुमने तो व्यापार ही किया है, दान नहीं; इसीलिए तो तुम्हें
यह लाभ-हानि की चिन्ता हो रही है।"

इसलिए दान के साथ किसी प्रकार की सौदेबाजी करना, शर्त या प्रतिबन्ध

लगाना, या किसी प्रकार के बदले की आशा रखना अविधि है। इसीप्रकार किसी प्रकार की फलाकांक्षा या लाभ की आकांक्षा को भी दान के साथ जोड़ना अविधि है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा (२०) में इस सम्बन्ध में सुन्दर प्रेरणा दी गई है—

एवं जो जाणित्ता विहलिय लोयाण धम्मजुत्ताणं।
णिरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीवियं सहलं॥

—इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य जानकर जो निर्धन उसे धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है, बदले में किसी प्रत्युपकार की वाञ्छा नहीं करता, उसी का जीवन सफल है।

कई लोग किसी तपस्वी, विद्वान् या आध्यात्मिक मुनि या साधु को अपने घर पर लेजाकर बहुत ही स्वादिष्ट आहार देते हैं, अन्य वस्तुएँ भी देते हैं, किन्तु बदले में उनसे धन प्राप्ति या अन्य किसी स्वार्थसिद्धि की कामना से यंत्र, मंत्र, तंत्र या आशीर्वाद आदि कुछ पाने की इच्छा रखते हैं। यह ठीक नहीं है। बिना किसी आकांक्षा या लाभ की इच्छा के साधु-संतों को देना या उनकी भक्ति करना चाहिए। उनके नियमानुसार ही उनको देना विधियुक्त दान है।

कई लोग दानशाला चलाते हैं, उसमें हजारों रुपये लगाते हैं, परन्तु उसके पीछे उनके मन के कोने में सुषुप्त या तीव्र यशोलिप्सा रहती है। यशोलिप्सा की यह डाइन बड़े-बड़े दानी महानुभावों का पिंड नहीं छोड़ती। इस कारण यशोलिप्सा से रहित जो दान विधियुक्त होने से महाफल का कारण बन सकता था, उस फल को यशोलिप्सा की डाइन चूस जाती है। यशकीर्ति के भूखे मानव प्रसिद्धि, नामवरी या यशकीर्ति का नशा चढ़ाकर वश में किये जाते हैं, और उनसे अधिकाधिक रुपये दान के रूप में झाड़े जाते हैं। यश का नशा चढ़ाने वाले उनके नाम की तख्ती या शिला-लेख लगा देते हैं, उनका नाम अखबारों में मोटी-मोटी सूर्खियों में छपवा देते हैं, उन्हें दानवीर या दानशिरोमणि पद देकर अथवा उनकी जय बोलकर, उन्हें अभिनन्दन-पत्र से सम्मानित करते हैं। और उनसे बहुत अधिक रकम ऐंठी जाती है। यों तो वे देने को तैयार हो जाते हैं, लेकिन उन्हें यह कहा जाय या यह पता लग जाय कि अमुक जगह निःस्वार्थ या निष्कांक्षभाव से दान देना है, तो कोई न कोई बहाना बनाकर छिटकने की कोशिश करेंगे या फिर वे परोक्षरूप से बीमारी आदि का कोई बहाना बनाकर विधियुक्त एवं महाफलदायक दान से छुटकारा पाने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु इस बहुरत्ना वसुन्धरा में ऐसे भी माई के लाल हैं, जो किसी भी स्वार्थ या आकांक्षा के बिना चुपचाप जरूरतमंद को देकर अपना कर्त्तव्य अदा करते हैं।

स्व० दीनबन्धु एण्ड्रयूज बहुत ही उदारमना एवं परोपकारी थे। एक बार शिमला जाते समय उनके एक मित्र ने उन्हें १५०) दिये थे। जब एण्ड्रयूज स्टेशन पर पहुँचे तो एक प्रवासी भारतीय से उनकी भेंट हो गई। उसने अपनी विपत्ति की करुण कहानी सुनाते हुए कहा—"मैं आप ही की तलाश में आया था। बालबच्चों के भूखों मरने की नौबत आ गई है। एण्ड्रयूज महोदय का हृदय करुणा से द्रवित हो

उठा। उन्होंने उसी समय उन्हें वे १५०) रुपये दे दिए और जरूरत पड़ने पर पत्र लिखने की सलाह भी दी। अगले दिन उनके मित्र को सारी कहानी मालूम हुई तो वे स्वयं स्टेशन पर आए, टिकिट खरीदी और एण्ड्रयूज महोदय को गाड़ी में बिठाकर घर लौटे।

आकांक्षा, फिर चाहे वह किसी पद की हो, सत्ता की हो या अन्य किसी वस्तु की हो, दान के साथ जोड़ना, दान की आत्मा का गला घोंटना है। दान आकांक्षा की मोहिनी से दूषित हो जाता है। जैसे मन भर दूध में जरा-सी नींबू की खटाई डालते ही वह फट जाता है, वैसे ही बड़े-से बड़े दान में आकांक्षा की खटाई पड़ते ही दान फट जाता है, उसकी स्निग्धता समाप्त हो जाती है। कई व्यक्तियों को दान के साथ नामवरी या प्रसिद्धि की बड़ी भूख होती है, जब तक उनका नाम दानवीरों की सूची में प्रकाशित नहीं होगा, तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ेगा। परन्तु जो विवेकशील व्यक्ति हैं, सच्चे दानी हैं, वे नामवरी या प्रसिद्धि को 'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा' (प्रतिष्ठा सूअर की विष्ठा है) समझ कर उससे सौ कोस दूर रहने का प्रयत्न करते हैं।

जमशेदजी मेहता करांची शहर के प्रतिष्ठित एवं उदार नागरिक थे। उनका जीवन साधुचरित एवं प्रेरणाप्रद था। करांची में एक प्रसिद्ध सार्वजनिक अस्पताल था—'लेडी डफरीन हॉस्पिटल'। लोगों ने जमशेदजी मेहता को हॉस्पिटल की कमेटी में लिया और एक बार हॉस्पिटल के लिए फंड एकत्र करने का विचार किया। कमेटी ने यह तय किया कि जो हॉस्पिटल को दस हजार रुपये दान देगा, उसके नाम का संगमरमर का बोर्ड खुदवाकर हॉस्पिटल की दीवार पर लगाया जाएगा। अनेक सुखी गृहस्थों ने बड़ी-बड़ी रकमें फंड में लिखाईं। जमशेदजी ने भी बड़ी रकम दान में दी, परन्तु दस हजार रुपये में १०-१२ रुपये कम दिये। यह देखकर एक भाई ने आश्चर्य-सहित पूछा—'मेहता साहब आपने दस हजार पूरे न देकर कुछ रुपये कम क्यों दिये ? अगर १० हजार पूरे दे देते तो आपके नाम का बोर्ड हॉस्पिटल में लगाया जाता !' जमशेदजी मेहता ने नम्रतापूर्वक कहा—'प्रभु ने जो कुछ मुझे दिया है, उसका उपयोग लोकसेवा में मेरे हाथ से हो, इसी में मुझे आनन्द है। अपने नाम का बोर्ड लगवाने में नहीं। मेरे नाम का बोर्ड न लगाया जाय, इसीलिए तो मैंने १० हजार में कुछ रकम कम दी है।'

सचमुच नामवरी और प्रसिद्धि की लिप्सा की आग को बुझाने के लिए यह उदाहरण अग्निशामकयन्त्र रूप है। यही दान विधियुक्त है।

कई बार दानकर्ता लोग अपने दान को प्रसिद्धि या नामवरी के चौखट से बाहर निकाल कर चौहट तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने दान के साथ जब तक ढिंढोरा नहीं पिटवा लेंगे, अथवा दान को आडम्बर के आंगन में प्रतिष्ठित नहीं कर लेंगे, तब तक संतुष्ट नहीं होंगे। वे दान को बाजारू वेश्या की तरह सजा-संवार कर आम जनता में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, आम जनता के हृदय पर वे

उनके दान की मुहर छाप लगा देना चाहते हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्त्वचिन्तक स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

'न दत्त्वा परिकीर्तयेत्'

—दान देकर उसका बखान मत करो। फारसी में एक कहावत है कि दान इस प्रकार दो कि दाहिना हाथ दे और बाँया हाथ न जाने।' मनुस्मृति में तो इस प्रकार दान का ढिंढोरा पीटने से उसका फल नष्ट होने की बात कही है—

''यज्ञोऽनृतेन क्षरति, तपः क्षरति विस्मयात्।
आयुर्विप्रापवादेन, दानं च परिकीर्तनात्॥''

अर्थात्—झूठ से यज्ञ नष्ट हो जाता है, तपस्या विस्मय से नष्ट हो जाती है, ब्राह्मण एवं साधु आदि की निन्दा करने से आयु घट जाती है और दान का जगह-जगह बखान करने से या कहने से वह निष्फल हो जाता है।

दान देकर उसका प्रदर्शन करना धन को बार-बार पेटी में से निकालकर दिखाने के समान भयावह है। दान का प्रदर्शन फल को तो नष्ट करेगा जब करेगा, किन्तु दान के प्रदर्शन से चोर, डाकू या लुटेरों को पता लगने पर कि अमुक व्यक्ति के पास बहुत धन है, उसका गला दबा सकते हैं या उसे मारपीट कर धन छीन सकते हैं, लूट सकते हैं अथवा चुरा सकते हैं। इसलिए दान का दिखावा या आडम्बर जीवन के लिए खतरनाक है। व्यक्ति किसी चीज का दिखावा तभी करता है, जब उस चीज से रिक्त होता है। एक कहावत है—

'थोथा चना बाजे घना''

इसी प्रकार अंग्रेजी में एक कहावत है—

Empty vessel sounds much

—खाली बर्तन आवाज बहुत करता है।' इसी प्रकार जो गुणों या अन्य बातों से रिक्त (अतृप्त) होता, वह थोथा प्रदर्शन करके लोगों की वाहवाही से अपने मन को झूठा सन्तोष देने का प्रयत्न करता है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने गुप्त दान की बहुत महिमा बताई है। बिना किसी आडम्बर, समारोह, प्रतिष्ठा या ढिंढोरे, या प्रदर्शन के या तख्ती, बोर्ड या अखबारों में प्रकाशन के चुपचाप अपना कर्तव्य समझ कर या अपने पाप के प्रायश्चित्त के रूप में गुप्त रूप से दान करना गुप्तदान है। संदूकची में इस प्रकार डालना कि न देने वाला जाने और न लेने वाला जाने। गुप्त दान से सबसे बड़ा लाभ यह है कि देने वाले में अहंभाव नहीं आता और न प्रसिद्धि की भूख होती है, तथा लेने वाले में हीन भावना या अपने को दबने या नीचा देखने की वृत्ति पैदा नहीं होती। लेने वाले की तेजस्विता तब समाप्त हो जाती है, जब देने वाला सबके सामने जाहिर में उसे देकर कायल कर देता है और तब तो लेने वाला बिल्कुल पानी-पानी हो जाता है, मृतवत् हो जाता है, जब देने वाला एहसान जताता है, झूठा रोब गाँठता है, अपने मुँह से बड़ाई हाँकता है और यह कहकर अपने अहं का झूठा प्रदर्शन करता है कि मैंने तुझे अमुक समय पर न दिया होता या सहायता न दी

उठा। उन्होंने उसी समय उन्हें वे १५०) रुपये दे दिए और जरूरत पड़ने पर पत्र लिखने की सलाह भी दी। अगले दिन उनके मित्र को सारी कहानी मालूम हुई तो वे स्वयं स्टेशन पर आए, टिकिट खरीदी और एण्ड्रूज महोदय को गाड़ी में बिठाकर घर लौटे।

आकांक्षा, फिर चाहे वह किसी पद की हो, सत्ता की हो या अन्य किसी वस्तु की हो, दान के साथ जोड़ना, दान की आत्मा का गला घोंटना है। दान आकांक्षा की मोहिनी से दूषित हो जाता है। जैसे मन भर दूध में जरा-सी नींबू की खटाई डालते ही वह फट जाता है, वैसे ही बड़े-से बड़े दान में आकांक्षा की खटाई पड़ते ही दान फट जाता है, उसकी स्निग्धता समाप्त हो जाती है। कई व्यक्तियों को दान के साथ नामबरी या प्रसिद्धि की बड़ी भूख होती है, जब तक उनका नाम दानवीरों की सूची में प्रकाशित नहीं होगा, तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ेगा। परन्तु जो विवेकशील व्यक्ति हैं, सच्चे दानी हैं, वे नामबरी या प्रसिद्धि को 'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा' (प्रतिष्ठा सूअर की विष्ठा है) समझ कर उससे सौ कोस दूर रहने का प्रयत्न करते हैं।

जमशेदजी मेहता करांची शहर के प्रतिष्ठित एवं उदार नागरिक थे। उनका जीवन साधुचरित एवं प्रेरणाप्रद था। करांची में एक प्रसिद्ध सार्वजनिक अस्पताल था—'लेडी डफरीन हॉस्पिटल'। लोगों ने जमशेदजी मेहता को हॉस्पिटल की कमेटी में लिया और एक बार हॉस्पिटल के लिए फंड एकत्र करने का विचार किया। कमेटी ने यह तय किया कि जो हॉस्पिटल को दस हजार रुपये दान देगा, उसके नाम का संगमरमर का बोर्ड खुदवाकर हॉस्पिटल की दीवार पर लगाया जाएगा। अनेक सुखी गृहस्थों ने बड़ी-बड़ी रकमें फंड में लिखाईं। जमशेदजी ने भी बड़ी रकम दान में दी, परन्तु दस हजार रुपये में १०-१२ रुपये कम दिये। यह देखकर एक भाई ने आश्चर्य-सहित पूछा—'मेहता साहब आपने दस हजार पूरे न देकर कुछ रुपये कम क्यों दिये? अगर १० हजार पूरे दे देते तो आपके नाम का बोर्ड हॉस्पिटल में लगाया जाता!' जमशेदजी मेहता ने नम्रतापूर्वक कहा—'प्रभु ने जो कुछ मुझे दिया है, उसका उपयोग लोकसेवा में मेरे हाथ से हो, इसी में मुझे आनन्द है। अपने नाम का बोर्ड लगवाने में नहीं। मेरे नाम का बोर्ड न लगाया जाय, इसीलिए तो मैंने १० हजार में कुछ रकम कम दी है।'

सचमुच नामबरी और प्रसिद्धि की लिप्सा की आग को बुझाने के लिए यह उदाहरण अग्निशामकयन्त्र रूप है। यही दान विधियुक्त है।

कई बार दानकर्ता लोग अपने दान को प्रसिद्धि या नामबरी के चौखट से बाहर निकाल कर चौहट तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने दान के साथ जब तक ढिंढोरा नहीं पिटवा लेंगे, अथवा दान को आडम्बर के आंगन में प्रतिष्ठित नहीं कर लेंगे, तब तक संतुष्ट नहीं होंगे। वे दान को बाजारू वेश्या की तरह सजा-संवार कर आम जनता में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, आम जनता के हृदय पर वे

अपने दान की मुहर छाप लगा देना चाहते हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति के प्रबुद्ध तत्त्वचिन्तक स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

'न दत्त्वा परिकीर्तयेत्'

—दान देकर उसका बखान मत करो। फारसी में एक कहावत है कि दान इस प्रकार दो कि दाहिना हाथ दे और बाँया हाथ न जाने।' मनुस्मृति में तो इस प्रकार दान का ढिंढोरा पीटने से उसका फल नष्ट होने की बात कही है—

''यज्ञोऽनृतेन क्षरति, तपः क्षरति विस्मयात्।
आयुर्विप्रापवादेन, दानं च परिकीर्तनात्॥''

अर्थात्—झूठ से यज्ञ नष्ट हो जाता है, तपस्या विस्मय से नष्ट हो जाती है, ब्राह्मण एवं साधु आदि की निन्दा करने से आयु घट जाती है और दान का जगह-जगह बखान करने से व कहने से वह निष्फल हो जाता है।

दान देकर उसका प्रदर्शन करना रत्न को बार-बार पेटी में से निकालकर दिखाने के समान भयावह है। दान का प्रदर्शन फल को तो नष्ट करेगा, जब करेगा, किन्तु दान के प्रदर्शन से चोर, डाकू या लुटेरों को पता लगने पर कि अमुक व्यक्ति के पास बहुत धन है, उसका गला दबा सकते हैं या उसे मारपीट कर धन छीन सकते हैं, लूट सकते हैं अथवा चुरा सकते हैं। इसलिए दान का दिखावा या आडम्बर जीवन के लिए खतरनाक है। व्यक्ति किसी चीज का दिखावा तभी करता है, जब उस चीज से रिक्त होता है। एक कहावत है—

'थोथा चना बाजे घना'

इसी प्रकार अंग्रेजी में एक कहावत है—

Impty vessel sounds much.

—खाली बर्तन आवाज बहुत करता है।' इसी प्रकार जो गुणों या अन्य बातों से रिक्त (अतृप्त) होगा, वह थोथा प्रदर्शन करके लोगों की वाहवाही से अपने मन को झूठा सन्तोष देने का प्रयत्न करता है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने गुप्त दान की बहुत महिमा बताई है। बिना किसी आडम्बर, समारोह, प्रतिष्ठा या ढिंढोरे, या प्रदर्शन के या तख्ती, बोर्ड या अखबारों में प्रकाशन के चुपचाप अपना कर्त्तव्य समझ कर या अपने पाप के प्रायश्चित्त के रूप में गुप्त रूप से दान करना गुप्तदान है। संदूकची में इस प्रकार डालना कि न देने वाला जाने और न लेने वाला जाने। गुप्त दान से सबसे बड़ा लाभ यह है कि देने वाले में अहंभाव नहीं आता और न प्रसिद्धि की भूख होती है, तथा लेने वाले में हीन भावना या अपने को दबने या नीचा देखने की वृत्ति पैदा नहीं होती। लेने वाले की तेजस्विता तब समाप्त हो जाती है, जब देने वाला सबके सामने जाहिर में उसे देकर कायल कर देता है और तब तो लेने वाला बिल्कुल पानी-पानी हो जाता है, मृतवत् हो जाता है, जब देने वाला एहसान जताता है, झूठा रौब गांठता है, अपने मुँह से बड़ाई हांकता है और यह कहकर अपने अहं का झूठा प्रदर्शन करता है कि मैंने तुम्हें अमुक समय पर न दिया होता या पहुँचाता न तो

होती तो तेरी क्या दशा होती ? तू भूखे मर जाता ? और इससे भी आगे बढ़कर जब दाता उससे स्पष्ट कहकर प्रत्युपकार की याचना करने लगता है, तब तो लेने वाले की आत्मा मर जाती है। इसीलिए रहीम ने एक छोटे-से दोहे में मांगने वाले और देने वाले की मृतदशा का वर्णन कर दिया है—

> रहीमन वे नर मर चुके, जो कहुँ मांगन जाहीं।
> उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहीं ॥[१]

अर्थ स्पष्ट है—जब दाता गुप्तदान नहीं देता, तब याचक को उसके पास मांगने जाना पड़ता है, अपनी कष्टकथा सुनानी पड़ती है और प्रगट में देने वाला व्यक्ति अभिमानी, अहंकारी बन जाता है, जिससे उसका दान अत्यन्त दूषित हो जाता है। इसीलिए रहीम ने ऐसे याचक और ऐसे कृपण दाता दोनों को मृतवत् बताया है। ऐसा अहंकारी दाता भी अवसरवादी बन जाता है। वह जिधर यश या प्रसिद्धि का पलड़ा भारी देखता है, उधर ही दान धारा को मोड़ देता है, अन्यथा इन्कार कर देता है, दान देने से। इसीलिए गुप्तदान लौकिक और लोकोत्तर दोनों कोटि के दानों में उत्कृष्ट है।

लखनऊ के एक नवाब आसफुद्दौला के विषय में कहा जाता है कि वे गुप्तरूप से दान दिया करते थे। जब कोई मनुष्य उनके महल के पास से थाली में कुछ लेकर निकलता तो वे सिफ्त से उसमें सोने की एक अशर्फी डाल देते थे कि थाली ले जाने वाले को बिलकुल पता नहीं लगता था। जब वह व्यक्ति घर पहुँचता और अपनी थाली में सोने की अशर्फी देखता तो उसे बहुत खुशी होती थी। नवाब की दान-शीलता देखकर किसी ने उनसे कहा—'आप बहुत सुखी (उदार) आदमी हैं।' तब आसफुद्दौला कहते—मुझे कोई मनुष्य दानी और उदार न कहे, इसीलिए तो मैं गुप्त-रीति से दान देता हूँ।'

गुप्तदान दान के साथ चुपके से घुस जाने वाले अहंकार को मिटाने के लिए है।

जयपुर राज्य के दीवान अमरचन्द जी जैन हजारों रुपये गुप्तदान में दिया करते थे। उन्हें पता चला कि कोई दीन-दरिद्री व्यक्ति हैं, तो उनके लिए बोरियों में अनाज भरकर उनमें मुहरें दबाकर भेज देते थे। एक बार राजा ने उनके दान की प्रशंसा करते हुए कहा—

> निर्मोही दीवान ! तुम्हारा धन्य धन्य यह जीवन।
> परहित में नित करते रहते, तन-धन जीवन अर्पण ॥'

---

१ इसी से मिलता-जुलता एक दोहा और प्रसिद्ध है—
मांगण गया सो मर गया, मरे सो मांगण जाय।
सगलां पहली वो मरैं, जो होतां नट जाय ॥'

यह सुनकर दीवान ने उत्तर दिया—

दान-धन-पसन कभी न अपना, यह जगद्रव्य पराया।
अपना क्या देते हैं इसमें ? कौन इन्हें दे पाया ?'

यह आध्यात्मिक उत्तर सुनकर राजा गद्गद हो गये।

बीकानेर में सेठ गणेशलालजी मालू भी ऐसे ही गुप्तदानी थे। वे जिस किसी को गरीब देखते उसे अपने यहाँ से छाछ ले जाने का कहते थे, और वह जब छाछ लेने आता तो छाछ के बर्तन में रुपये डाल देते थे और सम्मानपूर्वक उसे छाछ से भरकर बर्तन दे देते थे। जब वह घर जाकर देखता तो वापिस लौटाने आता, तब आप उसे प्रेम से कह देते—'यह तुम्हारा ही है, भैया! हमारा कुछ नहीं है।' ऐसे उदार गुप्तदानी थे।

वास्तव में भारतीय मनीषी गुप्तदान के पक्ष में ही अधिक थे। दान के विषय में उनका मन्तव्य था कि एक विवेकी किसान खेत में अनाज बोने के लिए बास की नली में से डालता है और दूसरा अविवेकी किसान मुट्ठी भर-भर कर खेत में दाने उछाल देता है। इन दोनों में से विवेकी किसान के तो सैकड़ों-हजारों मन अन्न हो जाता है, जबकि दूसरे अविवेकी किसान का फेंका हुआ अनाज यों ही उड़ जाता है, या बह जाता है। यही बात दान के सम्बन्ध में है। विधिपूर्वक गुप्त रूप से दिया गया दान सफल होता है और प्रदर्शन करके आडम्बर सहित दिया गया अनेकों रुपयों का दान निष्फल चला जाता है। इसलिए दान देकर उसका प्रदर्शन मत करो।

दान के साथ अहंकार, एहसान, अभिमान, नाम एवं प्रसिद्धि का ममत्व आदि विकारों को मिटाने के लिए गुप्तदान रामबाण औषध है। यही कारण है कि दान की अविधि के अन्तर्गत उन विकारों को भी गिनाया है, जो प्रकट में, अधिक आडम्बर एवं विज्ञापन करके दान देने से सम्बन्धित हैं।

कुरानेशरीफ (२।२६४) में भी दान की विधि पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

'ऐ ईमानवालो! अपने दान को एहसान जताकर या तकलीफ पहुँचाकर बर्बाद मत करो।'

जब व्यक्ति दान के साथ एहसान जताता है, तब वहाँ दान के साथ अहंकार आसक्ति या बड़प्पन का भाव आ जाता है, जो दान का विकार है। इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक हुट्टन ने कहा है—

'जो दान अपनी कीर्तिगाथा गाने को उतावला हो जाता है, वह दान नहीं, अहंकार एवं आडम्बर मात्र है।'

लेने वाले (आदाता, पात्र या याचक) के प्रति क्रोध, खीझ या अनादर भी अहंकार का ही रूपान्तर है। जब दाता के मन में दान लेने वाले के प्रति नम्रता

श्रद्धा, सद्भावना, सत्कार और कृतज्ञता की दृष्टि नहीं रहती, तब उसमें अहंकार तर्क, बहसबाजी, विमुखता, रुक्षता, अनादर और रोष पैदा होती है। ऐसा व्यक्ति किसी के दबाव में आकर या शर्माशर्मी दान देता है, उसे दान देने का आनन्द नहीं आता, जबकि देय वस्तु वह पर्याप्त मात्रा में देता है।

बौद्ध धर्मशास्त्र में दान की विधि के चार अंग बताए हैं—

'सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, और ठीक तरह से दोष रहित दान दो।'[१]

इसके विपरीत किसी को तिरस्कारपूर्वक, उपेक्षाभाव से, रूखेपन से, लापरवाही से, विलम्ब से, क्रुद्ध होकर, रोषपूर्वक या कटुवचन कहकर या पश्चात्ताप से अथवा मात्सर्य से दान नहीं देना चाहिए। क्योंकि ये सब दान के दोष हैं, जो अविधि में शुमार हैं। भारतीय ऋषियों ने इस प्रकार के दान को तामसदान कहा है और अविधि युक्त होने का संकेत किया है—

क्रोधाद् बलाभियोगाद् वा मनोभावं विनाऽपि वा।
यद्दीयते हितं वस्तु तद्दानं तामसं स्मृतम्॥

अर्थात्—क्रोध से, जबर्दस्ती से छीनकर, बल प्रयोग से, मन की भावना के बिना भी जो हितकर वस्तु दी जाती है, उस दान को तामसदान कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति से जबरन छीनकर, लूटकर या क्रोध से, बल प्रयोग से या मन में दान देने की बिलकुल इच्छा न हो, केवल औपचारिक रूप से दिया जाय तो ऐसा दान न तो दाता के लिए ही लाभदायक है और न लेने वाले के लिए ही। ऐसे दान से दोनों के मानस में संक्लेश रहता है। इसलिए ऐसा दान भी विधियुक्त नहीं है।

बौद्ध धर्मशास्त्र अंगुत्तर-निकाय (१।१।३२) में भी स्पष्ट कहा है—

'मच्छेरा च पमादा च, एवं दानं न दीयति।'

—मात्सर्य और प्रमाद से दान नहीं देना चाहिए।

उपर्युक्त सभी दोष प्रायः प्रमाद के अन्तर्गत आ जाते हैं। क्योंकि अविवेक भी प्रमाद का ही एक अंग है।

कई बार व्यक्ति अपने आय-व्यय का तथा अपने पर चढ़े हुए कर्ज का विचार न करके, एवं नौकरों को पूरी नौकरी न देकर या अपने आश्रितों का ठीक तरह से भरण-पोषण न करके मान, बड़ाई, देखा-देखी, ईर्ष्या या डाह के वशीभूत होकर या प्रसिद्धि पाने के लिए बड़ी-बड़ी रकम दान में दे देता है। ऐसे व्यक्ति के परिवार

---

१ सक्कच्चं दानं देथ, सहत्था दानं देथ।
चित्तीकतं दानं देथ, अनपविद्धं दानं देथ॥ —दीर्घ निकाय २।१०।५

वाले उसे कोसते रहते हैं, साहूकार उससे कर्ज चुकाने के लिए तकाजा करते रहते हैं, उधर घर के नौकर-चाकर वेतन चुकाने के लिए चिल्लाते रहते हैं, ऐसे व्यक्ति को दान देने से मानसिक शान्ति भी नहीं मिलती। फलतः उसका दान अविवेकपूर्ण होने से अविधि में परिगणित होता है। इसीलिए यहूदी धर्मग्रन्थ—तालमुद शिमे ओनी (प्रो० ६४७) में कहा है—

'अपना कर्ज न चुकाकर या अपने नौकरों को पूरी तनख्वाह न देकर दान देना गलत है।'

इसी सन्दर्भ में सम्भव है, भारतीय नीतिकारों ने अपनी हैसियत से उपरान्त दान देने को उचित नहीं बताया है। जैसा कि चाणक्यनीति में कहा है—

'अतिदानाद् बलिर्बद्धः'

—शक्ति से अधिक दान से बलि बांधा गया। क्योंकि बलि के मन में दान-वीरता का अभिमान आ गया था। इसलिए विष्णु ने उसका अभिमान उतारने के लिए वामन रूप बनाकर उसे वचनबद्ध कर लिया था, और पाताल लोक में भेज दिया था, ऐसा पुराणकार का कहना है। तो इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि दान देने में विधि का ध्यान रखा जाय, मन को सरल, नम्र और विवेक के प्रकाश से जागृत कर फिर दान दिया जाय और दान देकर उसके विषय में मुँह को बन्द रखें। ☆

4

दान के दूषण और भूषण

इस संसार में बहुत से लोग दान की विधि एवं दान की कला से अनभिज्ञ होने के कारण दान के वास्तविक फल और उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर पाते। ऐसे दाता वस्तु तो उतनी ही देते हैं, जितनी दानकलापटु देते हैं, परन्तु दान के साथ विवेक, अनासक्ति, सात्त्विक बुद्धि और निःस्वार्थता एवं आदरभाव उनमें नहीं होता, इस कारण किया-कराया सब गुड़-गोबर हो जाता है। इसीलिए एक जैनाचार्य ने दान के निम्नोक्त पाँच दूषण बताए हैं—

> 'अनादरो विलम्बश्च वैमुख्यं विप्रियं वचः।
> पश्चात्तापश्च दातुः स्याद् दानदूषणपंचकम् ॥

अर्थात्—दान देते समय लेने वाले का अनादर करना, देने में विलम्ब करना, दान देने में अरुचि या बेरुखी बताना, लेने वाले को अपशब्द कहकर, डांट-डपट कर, या गालियों की बौछार करके देना, दान देने के बाद दाता के मन में प्रसन्नता के बदले पश्चात्ताप या रंज होना ये दान के पाँच दूषण हैं, जिनसे बचना बहुत आवश्यक है।

कई लोगों की आदत होती है कि वे दान देते समय लेने वाले के साथ इस प्रकार से व्यवहार करते हैं, जिससे उसका अपमान या तिरस्कार हो जाय, अथवा दान लेने वाले को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे अपना बड़प्पन जाहिर हो अथवा वे दान देते समय ही इस प्रकार की तानाकशी करेंगे, जिससे लेने वाला अपमानित या लज्जित हो जाय।

एक साहूकार की माता ने अपने पुत्र से कहा—'बेटा! तुम लाखों रुपयों का लेनदेन करते हो, पर मैंने आज तक एक लाख रुपया एक स्थान पर रखा हुआ नहीं देखा। बेटा ने चाँदी के एक लाख रुपयों का एक जगह ढेर करके बराबर समतल जमाकर उन लाख रुपयों का चबूतरा-सा बनवा दिया। माताजी को लाख रुपये के चबूतरे पर बैठने के लिए कहा। माताजी बैठीं। साहूकार ने सोचा—'माताजी जिस पर बैठी हों, वह तो दान करना चाहिए। अतः एक ब्राह्मण को बुलाया और अभिमानपूर्वक कहा—'पण्डितजी! दाता तो आपको बहुत मिले होंगे, लेकिन मेरे जैसा

एक साथ एक लाख रुपये देने वाला नहीं मिला होगा।' इस तरह अपना अहंकार प्रदर्शित करके उसने प्रकारान्तर से ब्राह्मण को हीन और नीचा बताने का भाव दिखाया, तो भिक्षुकवृत्ति का न होने से स्वाभिमानी ब्राह्मण ने भी जेब से एक रुपया निकाल कर उस चबूतरे पर डाला और बोला—'तुम्हारे सरीखे दाता तो बहुत-से मिल जाएँगे, लेकिन मेरे सरीखे एक लाख को ठोकर मारकर कुछ अपनी ओर से मिलाकर चल देने वाले विरले ही मिलेगे।' यों कहते हुए वह चल दिया।

इसी प्रकार किसी को व्यंग्य वचन कहकर अनादृत करना भी दान का दूषण है। कई लोग दान देते समय बहुत बकझक करते हैं। वे लेने वाले से कहते हैं—'यों रोज-रोज चले आते हो! यहाँ तुम्हारा कुछ रखा हुआ है, जिसे लेने के लिए आ जाते हो। लो, इतना ही मिलेगा; लेना हो तो ले जाओ, नहीं तो रास्ता नापो। अधिक कहाँ से दे दूंगा। यों मैं सबको दान देने लगूं तो मेरा तो दीवाला निकल जाय। एक अश्रद्धालु दानदाता ने याचकों के प्रति दान के प्रति अश्रद्धा और दान लेने वालों के प्रति बेरुखी बताई थी, उसका एक नीतिज्ञ ने कितना सुन्दर उत्तर दिया है देखिए—

—'इस भूतल पर मैं अकेला ही राजा (दाता) हूँ, और याचक एवं भिक्षुक तो लाखों हैं। मैं किसको और क्या-क्या दे सकूंगा? इस प्रकार की चिन्ता करना व्यर्थ है। क्या इस संसार में प्रत्येक याचक को देने के लिए एक-एक कल्पवृक्ष है? क्या प्रत्येक कमल को खिलाने के लिए एक-एक सूर्य है? अथवा प्रत्येक चातक को पानी पिलाने के लिए अथवा प्रत्येक लता और पौधे को सींचने के लिए एक-एक बादल है? निश्चित है कि संसार में ऐसा कुछ नहीं है। प्रत्युत एक ही कल्पवृक्ष अनेक याचकों की चिन्ता मिटाकर यथेष्ट वस्तु दे देता है। एक ही सूर्य लाखों कमलों को अकेला विकसित कर देता है और एक ही मेघ अनेक चातकों की पिपासा मिटा देता है तथा अनेक बेलों एवं पौधों को अपना पानी देकर उन्हें समृद्ध बना देता है।'

इसलिए दान देने वाले के मन में यह चिन्ता भी व्यर्थ है, कि मैं अकेला कैसे इतने याचकों को दे सकता हूँ? इस कारण उनका तिरस्कार करना या उन्हें अपमानित करके रो-रोकर दान देना दान का बहुत बड़ा कलंक है।

आचार्य बृहस्पति ने भारतीय संस्कृति का स्वर मुखरित करते हुए दाता को सुन्दर परामर्श दिया है[२]—

---

१ एकोऽयं पृथिवीपतिः क्षितितले, लक्षाधिका भिक्षुकाः।
किं कस्मै वितरिष्यतीति किमहो एतद्वृथा चिन्त्यते॥
आस्ते किं प्रतियाचकं सुरतरुः प्रत्यम्बुजं किं रविः?
किं वाऽस्ति प्रतिचातकं, प्रतिलतागुल्मञ्च धाराधरः?

२ स्तोकादपि च दातव्यमदीनेनान्तरात्मना।
अहन्यहनि यत्किञ्चित्कार्पण्यं न तत्स्मृतम्॥

—अपने पास थोड़ा-सा पदार्थ हो तो उसकी चिन्ता मत करो, उस थोड़े-से में से भी थोड़ा-थोड़ा रोज दो, पर दो अदीन मन से, मन में ग्लानि न लाते हुए, दीनता प्रदर्शित न करते हुए या स्पष्ट शब्दों में कहें तो अपने अभावों का रोना न रोते हुए दो। थोड़ा देने में तुम्हारी कृपणता नहीं कही जाएगी। कृपणता तो तब है, जब अपने पास होते हुए भी इन्कार कर जाए, दे नहीं। अथवा दे भी तो रोते-रोते या अपने अभावों की दुःखकथा कहकर दे। इस प्रकार दान में विमुखता, बेरूखापन लाना दान का दूषण है। कई लोगों की आदत होती है, कि वे दानी तो बनना चाहते हैं, किन्तु जिस समय किसी को देने लगेंगे, उस समय बड़ी लम्बी-चौड़ी बहसबाजी करेंगे, मानो उसका इण्टरव्यू ले रहे हों या परीक्षक बनकर परीक्षा ले रहे हों। वे उस समय लेने वाले से पूछेंगे—इतना किसलिए चाहिए? घर में कितने प्राणी हैं? ऐसा एकदम अभाव कैसे हो गया? क्या तुमने जुआ खेला था? तुम्हारे पास तो बहुत धन था, तुम एकदम दरिद्र कैसे बन गए? तुम्हारे पास तो अब भी काफी धन होगा, उसे खर्च न करने के लिए यहाँ याचक बनकर चले आए हो। तुम्हें तो बहुत-से दाता मिल सकते हैं, फिर मेरे पास ही क्यों आते हो? बताओ, तुम्हारी कितनी आमदनी है और खर्च कितना है? जिससे तुम्हारे बारे में निर्णय कर सकूँ कि तुम्हें दिया जाय या नहीं। इस प्रकार प्याज के छिलके उतारने की तरह तर्क-वितर्क करके लेने वाले को कायल करके दान देना, दान के वैमुख्य नामक दोष के अन्तर्गत है। इस प्रकार दान देना भी रो-धोकर देना है, प्रसन्नचित्त से, हर्षपूर्वक देना नहीं है। इससे दान का बाग सूख जाता है। इस सम्बन्ध में बुद्ध के जीवन का एक प्रसंग अत्यन्त प्रेरणादायक है—

एक बार तथागत बुद्ध अपने संघसहित कौशल में पधारे। वहाँ एक जमीदार ने उन्हें भोजन के लिए ससंघ आमन्त्रित किया। भोजन के बाद वह बुद्धसहित सब लोगों को अपने बाग की सैर कराने ले गया। बाग बहुत बड़ा और सुन्दर था। उसके बीचोबीच एक बड़ा-सा स्थान था, जहाँ एक भी पेड़ न था। संघ के लोगों ने जमींदार से पूछा—'अजी! क्या बात है? इस स्थान पर एक भी पेड़ क्यों नहीं लगाया गया?' जमीदार ने नम्रतापूर्वक कहा—'महात्मागण! बात यह थी कि जिन दिनों यह बाग लगाया जा रहा था, उन दिनों मैंने एक लड़के को वृक्षों को सींचने के लिए नियुक्त किया था। पहले तो वह सब वृक्षों को एक समान पानी देता रहा। बाद में उसने सोचा—'इससे क्या लाभ? जिस पौधे की जड़ जितनी लम्बी हो, उसे उतना ही कम पानी दिया जाय, यही बेहतर रहेगा।' अतः वह सिंचाई से पहले प्रत्येक पौधे की जड़ उखाड़ कर उसकी लम्बाई देखता, तत्पश्चात् उसे पुनः गाड़कर उसी अनुपात में उस पौधे को पानी देता। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में सभी पौधे सूख गए। इसी कारण इस जगह कोई पेड़ नहीं रहा। मैंने उस जड़ उखाड़ कर देखने वाले लड़के को निकाल दिया।" इस पर महात्मा बुद्ध ने उपस्थित जमींदार, उसके कर्मचारी एवं अपने संघ के लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा—'जिस प्रकार बार-बार जड़ें उखाड़ने से पेड़ सूख गए, हराभरा बाग सूख गया, उसी प्रकार दान देते समय भी तर्क-

वितर्क या ज्यादा पूछताछी नहीं करनी चाहिए। सहज भाव से, अपनी शक्ति अनुसार जिसको जो कुछ देना हो तुरन्त दे डालिए। अधिक विकल्पजाल या विचारों की उधेड़बुन में पड़ने से दान का राग सूख जाता है। किसी याचक (आदाता) के साथ लम्बी बहस करके उसकी जड़ें उखाड़ कर देखने का प्रयत्न ठीक नहीं है। किसी का गुप्त भेद खुलवाने से क्या फायदा है? जो कुछ विचार करना हो, वह दान देने से दो-चार दिन पहले विचार कर लेना चाहिए, दान देते समय इस प्रकार का विचार करना अथवा वाद-विवाद या बक-झक करना ठीक नहीं। एक जैनाचार्य ने तो स्पष्ट कह दिया है—[1]

—'दान देते समय महाश्रेष्ठियों को पात्र-अपात्र की चिन्ता करने से क्या लाभ है?" आवश्यकचूर्णि, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आदि में वर्णन है भगवान् महावीर ने जब देखा कि एक दीन-हीन ब्राह्मण गिड़गिड़ाकर अपनी दीनावस्था प्रगट कर रहा है, तब उसके साथ तर्क-वितर्क नहीं की, न यह कहा कि यह (दारिद्र्य) तो तेरे कर्मों का फल है, मैं क्या कर सकता हूँ या तू तो सुपात्र नहीं है, आदि, किन्तु अनुकम्पा लाकर अपने कन्धे पर पड़े हुए देवदूष्य वस्त्र का आधा हिस्सा उसे दे दिया।

इसी प्रकार दान देते समय विलम्ब या टालमटूल मत करो। कई लोगों की आदत होती है, दान तो देना चाहते हैं, किन्तु देते समय याचक को बहुत देर तक अपने द्वार पर प्रतीक्षा करायेंगे, उसे खड़ा रखेंगे, झटपट न देकर कहेंगे—अभी घण्टे भर की देर है। वे ऐसा इसलिए करते हैं, ताकि दान लेने वाला यहाँ से टरक जाय, निराश होकर अपने आप हार थककर वहाँ से रवाना हो जाय, किन्तु इस प्रकार विलम्ब करना या दान के लिए किसी को टरकाना दान का दूषण है। दान में विलम्ब करने का मतलब है—दान देने की आन्तरिक इच्छा या उत्साह नहीं है, बिना मन से, वेगारीपन से दान दिया जा रहा है, अथवा अपने द्रव्य के प्रति उसका ममत्व गाढ़ है, उसका ममत्व छूटा नहीं है, देय द्रव्य के प्रति।

रामकृष्ण परमहंस के पास एक दिन एक साधक आया और कहने लगा—"स्वामी जी! मुझे संसार छोड़ना है। मैं आपसे संन्यास लेना चाहता हूँ। और आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ। मैं अपनी कमाई की सर्वस्व पूंजी एक हजार रुपये लाया हूँ, उन्हें आपके चरणों में अर्पण करना चाहता हूँ। आप इसका जैसा उपयोग करना चाहें, करें।" परमहंस ने एक हजार की थैली ग्रहण किये बिना ही आगन्तुक से कहा—"मैं यह ठीक समझता हूँ कि इस थैली को गंगा-मैया (नदी) की भेंट कर आओ।" साधक ने इस अप्रत्याशित उत्तर से चकित होकर पूछा—"क्या गंगा मैया को?" परमहंस ने वही वाक्य दोहराया। बेचारा साधक भारी कदमों से गंगा नदी

---

१ "दानकाले महेभ्यानां किं पात्रापात्रचिन्तया।
दीनाय देवदूष्यार्द्धं यथाऽदात् कृपया प्रभुः॥"

की ओर चला। गुरु की आज्ञा जो हुई थी ! किसी तरह अनमने भाव से गंगा तट पर बैठ कर उसने थैली का मुंह खोला और उसमें से एक रुपया निकाला औ गंगा मे फेंक दिया, फिर दूसरा रुपया निकाला, और उसे भी फेंका। इस प्रका एक-एक करके उसने सब रुपये नदी में फेंक दिये। खाली थैली लेकर वह परमह के पास लौटा और कहने लगा—"आपके आदेशानुसार सारे रुपये गंगाजी में डा आया हूँ। परमहंस ने पूछा—"इतनी देर कहाँ और कैसे लगा दी, इन रुपयों फेंकने में ?' 'मैंने एक-एक रुपया निकाला और फेंका था, इसी से इतनी देर हो गई। साधक ने कुछ हिचकते हुए उत्तर दिया।

परमहंस बोला—"तब तुम हमारे काम के नही हो।" साधक समझ रहा थ कि 'मैंने बहुत बड़ा त्याग किया है, इसलिए गुरुजी मुझ पर बहुत प्रसन्न होंगे। किन्तु जब उसने गुरुजी का निर्णय सुना तो भौंचक्का-सा प्रश्न-सूचक की दृष्टि से गुरु की ओर देखने लगा। परमहंस ने उसे समझाया—"जो काम तुम्हें एक बार में कर लेना चाहिए था, उसे तुमने हजारबार में किया। जितनी देर में तुमने एक रुपया फेंका, उतनी ही देर मे तुम शेष ९९९ रुपये फेंक सकते थे। फिर सबके सब रुपये एक साथ क्यों नहीं फेंक दिए ? इससे मालूम होता है कि तुम्हारी ममता मरी नहीं है। तुम ममत्व के विष को जल्दी नहीं छोड़ सकते। अभी जागृति पूरी नहीं आई। इसलिए अभी तुम संन्यास के अयोग्य हो यहाँ दान और त्याग मे विलम्ब करने वालों की गुजर नहीं।"

यह प्रेरणात्मक जीवनगाथा स्वयं बोल रही है कि दान में विलम्ब करना, दान के महत्त्व को घटाना है। इसलिए विलम्ब को दान का दूषण माना गया है। एक भारतीय कहावत प्रसिद्ध है—'तुरन्त दान महापुण्य', उसका भी आशय यही है कि शीघ्र दान देना महापुण्य का काम है। कई बार लोग प्रवचनकार के जोशीले प्रवचन एवं व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जोश में आकर दान की रकम की घोषणा कर देते हैं, अथवा अमुक अर्थराशि देने का वचन दे देते हैं, किन्तु बाद में जब कार्यकर्ता उनके पास लेने जाता है, तो वे आज-कल करते हुए महीनों घुला देते हैं, और इस प्रकार आगे से आगे टरका देते हैं। कभी-कभी तो वर्षों तक घोषित रकम देते नहीं हैं, संस्था को लटकाये रखते हैं और अन्त में बिलकुल मुकर भी जाते हैं कि मैंने कब कहा था कि मैं इतनी रकम तुम्हारी संस्था को दूंगा। संस्था के कार्यकर्ता वसूली करते-करते हैरान हो जाते हैं, और दान के लिए वचन देने वाला आगे से आगे टरकाता जाता है। यह नीति ठीक नहीं है। दान का उत्साह इससे खत्म हो जाता है। दाता और आदाता दोनों के मन में सक्लेश पैदा होता है। इससे न देने वाले को आनन्द आता है, न लेने वाले को। जैन समाज के एक दानी सद्गृहस्थ श्री सोहनलाल जी दुगड़ की यह खासियत थी कि वे दान की रकम घोषणा करते ही तुरन्त उतने रुपये निकाल कर दे देते थे। वे कहते थे—"जिन्दगी का कोई भरोसा

नहीं है। अभी मैंने दान की घोषणा की है, किन्तु बाद में मैं न दे सका तो कर्जदार बना रहूँगा। दूसरी बात यह कि मैं सटोरिया हूँ। इस समय मेरे पास इतनी रकम है, कल को सट्टे में नुकसान लग जाय तो फिर मैं कहाँ से दूंगा, इतनी रकम ?"

एक तरह से घोषित दान की रकम तुरन्त दे देना, बहुत ही अच्छा है।

झंडू फार्मेसी के संस्थापक वैद्यराज झंडुभट्ट जामसाहब के राजवैद्य थे। जामसाहब विभाजी के स्मारक बनाने हेतु चंदा एकत्र किया जा रहा था। जिस पर चन्दा लिखा जा रहा था, वह पत्रक पहले झंडुभट्ट के हाथ में दिया गया, उन्होंने एक हजार कोटी (एक चाँदी का सिक्का) लिख दी। इसके बाद जब नगर सेठ के हाथ में वह पत्रक दिया गया तो उन्होंने १० हजार कोटी लिखने के बजाय एक हजार कोटी ही लिखी। इस पर भट्टजी ने तुरन्त वह पत्रक लेकर १० हजार कोटी लिख दी। इस पर नगर सेठ ने कहा—'भट्टजी तो एकलाख कोटी भी दे सकते हैं, इन पर तो जाम साहब के हाथ हैं, पर मैं तो १० हजार से अधिक नही दे सकूंगा। इस पर भट्टजी ने वह पत्रक लेकर एक शून्य और बढ़ा दिया, इससे नगर सेठ को भी एक लाख कोटी लिखनी पड़ी। परन्तु लोगों में यह चर्चा चली कि इस समय भट्टजी का हाथ तंग है, कैसे ये एक लाख कोटी भरेंगे ?' यह चर्चा भट्टजी द्वारा बचपन में उपकृत सेठ अब्दुल्ला सुन रहा था। उसने अपनी दूकान पर जाकर तुरन्तु अपने मुनीम से कहा—'भट्टजी के यहाँ १ लाख कोटी दे आओ। उन्होंने जामसाहब के स्मारक फंड में एक लाख कोटी लिखी हैं। तुरन्त मुनीम भट्टजी के यहाँ पहुँचा और भट्टजी की अनुपस्थिति मे ही उनके मुनीम भाई शंकर को कार में बिठाकर दूकान पर लाया। एक लाख कोटी (दो हजार गिन्नियां) गिनकर सेठ अब्दुला ने भट्टजी के मुनीम को दे दीं। शाम को भट्टजी ने जब अपने मुनीम जी से इस एक लाख कोटी की बात सुनी तो भट्टजी ने प्रभु की कृपा मानते हुए मुनीम से कहा—'भाई शंकर ! कल सुबह ही इन एक लाख कोटियों को राजकोष में जमा करा देना। पराई अमानत रखने से क्या लाभ ? यह तो घोषित दान की रकम है, जितनी शीघ्र दी जा सके दी जानी चाहिए।'

सचमुच, दान के विषय में विलम्बकारी नीति दान के रस को खत्म कर देती है और शीघ्रकारी नीति दान के उत्साह को द्विगुणित कर देती है।

इसके साथ ही दान के दूषणों में एक बहुत ही खटकने वाला दूषण है—अप्रिय वचन। दान के साथ जब कटुवचन और गालियों की बौछार प्रारम्भ होती है, तब तो दान का सारा मजा किरकिरा हो जाता है। वह दान ही सारा जहरीला बन जाता है, जो दान के प्राण को ही खत्म कर देता है। दान दिया जाता है—प्रसन्नता से, प्रेम से, आत्मीयता से, मन की उमंग से, या श्रद्धा-भक्ति से, उत्साहपूर्वक। किन्तु ये सब बातें न होकर दान, केवल तीखे वाक्य बाणों के साथ दिया जाता है, तब तो उसमें बिना मजमून के कोरे लिफाफे के समान केवल नाम का ही दान रह जाता है। उसमें से दान की आत्मा निकल जाती है, और केवल दान का कलेवर रह जाता

है। यह कितना असत्य है कि व्यक्ति दान भी देता है, अपने द्रव्य का व्यय भी करता है, किन्तु कटुता के खारेपन के कारण दान भी कड़वा और बेस्वाद हो जाता है।

यह दान नहीं, दान का मजाक है, जिससे दान करके भी व्यक्ति उसका प्रतिफल ठीक रूप में प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए आचार्य सोमदेवसूरि ने नीतिवाक्यामृत में स्पष्ट कह दिया—

'तत् किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः।'

—'वह कैसा दान है, जिसमें सत्कार नहीं है?

इसीलिए भारतीय संस्कृति के मनीषी महर्षियों के प्रतिनिधि गोस्वामी तुलसीदासजी ने जहाँ दान के साथ कटुता हो, वहाँ से दान लेने का ही नहीं, उस घर में जाने का भी निषेध किया है—

आव नहीं, आदर नहीं, नहीं नैनों में नेह।
तुलसी या घर न जाइए, कंचन बरसे मेह॥

गालियों और अपशब्दों के साथ जहाँ दान मिलता हो, वहाँ भला कौन स्वाभिमानी पुरुष दूसरी बार जाना चाहेगा? रामायण का एक सुन्दर प्रसंग इस सम्बन्ध में अतीव प्रेरणादायक है—

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम वनवास से लौटे। राज्याभिषेक के शुभ अवसर पर एक दानशाला का निर्माण किया गया। दानशाला के व्यवस्थापक के तौर पर श्री हनुमान जी को नियुक्त किया गया। श्रीराम ने उन्हें यह हिदायत दी कि याचक जो माँगे, वही दें। दानशाला से कोई भी याचक खाली न लौटने पाए। चूँकि प्राचीन युग का याचक भिखारी के रूप में नहीं, अतिथि के रूप में देखा जाता था। अतः श्रीराम जी ने हनुमानजी को 'अतिथि देवो भव' की मंगल प्रेरणा दी। श्री हनुमान जी ने आदेश का पालन किया राज्य के कोने-कोने से याचकगण आने लगे और हनुमान जी दिल खोलकर दान देने लगे। किन्तु याचकों की कतार बहुत लम्बी होने लगी। भीड़ प्रतिदिन दूनी होने लगी। वे सबकी माँगों को सुनते और यथोचित रूप में पूरी करते। पर प्रतिदिन बढ़ती हुई इस भीड़ को देखकर श्री हनुमान जी का धैर्य जवाब देने लगा। अतः दान के साथ उनकी कुछ झुंझलाहट भी बढ़ने लगी। कुछ दिन बीते, झुंझलाहट के साथ कुछ गालियों की बौछार भी होने लगी। वस्तुओं के साथ गालियों का प्रवाह भी मुक्तरूप से बहने लगा। वस्तुओं के कोष में कमी आ सकती थी, परन्तु गालियों का कोष तो अक्षय था। और गालियों के पुरजोश प्रवाह में याचकों की भीड़ छट गई। मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम के कानों में ये समाचार पहुँचे। अपनी दानशाला की यह दुर्दशा देखकर श्रीराम जी का दिल दहल उठा। पर प्रिय सेवक हनुमान को कुछ कहा भी नहीं जा सकता था।

एक दिन सन्ध्या को श्रीराम वन-विहार को चले। साथ में हनुमानजी भी थे। श्रीराम ने कुछ तेज कदम उठाए, अतः हनुमान पीछे रह गए। आगे चलकर

हनुमान ने देखा कि एक कुटिया में एक सन्त बैठे हैं। उनका विचित्र रूप देखकर हनुमान दंग रह गए। मुनि की सारी देह सोने-सी चमक रही थी; परन्तु ऊपर देखा तो उनका मुँह सूअर-सा था। हनुमान जी आश्चर्य में डूबते-उतराते हुए निकट आए। मुनि की देह को आँखें तरेर कर वे देखने लगे। मुनि बोले—'हनुमान! देह को क्या देख रहे हो? देखना हो तो आत्मा को देखो।' हनुमान ने पूछा—'मुने! ऐसा विचित्र रूप तो मैंने कभी कहीं नहीं देखा। ऐसा रूप मिलने का क्या कोई कारण भी है?'

मुनि—'अच्छा! सुनना ही चाहते हो तो सुनो। मैं पूर्वभव में एक गृहस्थ था। सम्राट् की ओर से दानशाला पर नियुक्त था। उस दानशाला में वर्षों तक मैंने दान दिया। हजारों याचक आते और मैं उन्हें दिल खोलकर देता। इन हाथों ने लाखों का दान दिया है, लेकिन इस जीभ ने मधुर वाक्यों का दान नहीं दिया, अपितु दान के साथ घृणा बरसाई। याचकों का अपशब्द से तिरस्कार किया। और आज उस दान का फल साकार हुआ है। हाथों ने दान दिया, इसलिए यह सोने-सा शरीर मिला है, मगर जीभ ने घृणा बरसाई, अतः मुँह सूअर-सा मिला है।' उन्हीं के शब्दों में—

"नाना धान्यं मया दत्तं, रत्नानि विविधानि च।
न दत्तं मधुरं वाक्यं, तेनाऽहं शूकरमुखः॥"

हनुमान जी सब कुछ समझ गए और तुरन्त अपनी भूल स्वीकार की तथा भविष्य में ऐसी गलती न करने का वचन दिया। श्रीराम को सन्तोष हुआ।

सचमुच, दान के साथ मधुर वाक्य अमृत का-सा काम करते हैं और दाता को यशस्वी, आशीर्वाद से युक्त, सद्भावना से सम्पन्न बनाते हैं, जबकि कटुवाक्य विष का-सा काम करते हैं, घृणा फैलाते हैं और भविष्य में द्वेष और वैर भी बढ़ा देते हैं।

और दान का पाँचवाँ दूषण है—पश्चात्ताप। दाता के मन में दान देने के बाद उसका पश्चात्ताप होना भी दान के फल को मिट्टी में मिलाना है। कई कृपणवृत्ति के लोगों की आदत होती है कि वे पहले तो किसी स्वार्थ या लोभ के वश किसी व्यक्ति को दान देने में प्रवृत्त होता है, किन्तु जब उसका स्वार्थ या लोभ पूर्ण नहीं होता या उसकी आकांक्षा पूरी नहीं होती, तब वे दिये गये दान के विषय में पछतावा करते हैं। उनका मानसिक सन्ताप इतना बढ़ जाता है कि वे भविष्य में किसी भी व्यक्ति को दान देने के लिए उत्साहित नहीं होते।

राजगृही के मम्मण सेठ के पास ९९ करोड़ की सम्पत्ति थी, फिर भी उसकी तृष्णा मिटी नहीं। उसने अपने सब लड़कों को थोड़ी-थोड़ी पूंजी देकर अलग व्यापार करने और अपना गुजारा चलाने के लिए अलग कर दिया। सब लड़के मम्मण सेठ के संकुचित रवैये से तंग आकर अपने स्त्री-बच्चों सहित अर्थोपार्जन के लिए परदेश चले गये। बाद में मम्मण ने अपनी सारी सम्पत्ति को हीरे-पन्नों आदि से जटित बैल बनाने में लगा दी। उस बैल को देखकर उसके मन में उसकी जोड़ी का दूसरा बैल बनाने की धुन लगी और इसके लिए वह सर्दी, गर्मी, बरसात एवं अँधेरी रात की परवाह

है। यह कितना असत्य है कि व्यक्ति दान भी देता है, अपने द्रव्य का व्यय भी करता है, किन्तु कटुता के खारेपन के कारण दान भी कड़वा और बेस्वाद हो जाता है।

यह दान नहीं, दान का मजाक है, जिससे दान करके भी व्यक्ति उसका प्रतिफल ठीक रूप में प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए आचार्य सोमदेवसूरि ने नीतिवाक्यामृत में स्पष्ट कह दिया—

'तत् कि दानं यत्र नास्ति सत्कारः।'

—'वह कैसा दान है, जिसमें सत्कार नहीं है ?

इसीलिए भारतीय संस्कृति के मनीषी महर्षियों के प्रतिनिधि गोस्वामी तुलसीदासजी ने जहाँ दान के साथ कटुता हो, वहाँ से दान लेने का ही नहीं, उस घर में जाने का भी निषेध किया है—

आव नहीं, आदर नहीं, नहीं नैनों में नेह।
तुलसी या घर न जाइए, कंचन बरसे मेह॥

गालियों और अपशब्दों के साथ जहाँ दान मिलता हो, वहाँ भला कौन स्वाभिमानी पुरुष दूसरी बार जाना चाहेगा ? रामायण का एक सुन्दर प्रसंग इस सम्बन्ध में अतीव प्रेरणादायक है—

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम वनवास से लौटे। राज्याभिषेक के शुभ अवसर पर एक दानशाला का निर्माण किया गया। दानशाला के व्यवस्थापक के तौर पर श्री हनुमान जी को नियुक्त किया गया। श्रीराम ने उन्हें यह हिदायत दी कि याचक जो माँगे, वही दें। दानशाला से कोई भी याचक खाली न लौटने पाए। चूँकि प्राचीन युग का याचक भिखारी के रूप में नहीं, अतिथि के रूप में देखा जाता था। अतः श्रीराम जी ने हनुमानजी को 'अतिथि देवो भव' की मंगल प्रेरणा दी। श्री हनुमान जी ने आदेश का पालन किया राज्य के कोने-कोने से याचकगण आने लगे और हनुमान जी दिल खोलकर दान देने लगे। किन्तु याचकों की कतार बहुत लम्बी होने लगी। भीड़ प्रतिदिन दूनी होने लगी। वे सबकी माँगों को सुनते और यथोचित रूप में पूरी करते। पर प्रतिदिन बढ़ती हुई इस भीड़ को देखकर श्री हनुमान जी का धैर्य जवाब देने लगा। अतः दान के साथ उनकी कुछ झुंझलाहट भी बढ़ने लगी। कुछ दिन बीते, झुंझलाहट के साथ कुछ गालियों की बौछार भी होने लगी। वस्तुओं के साथ गालियों का प्रवाह भी मुक्तरूप से बहने लगा। वस्तुओं के कोष में कमी आ सकती थी, परन्तु गालियों का कोष तो अक्षय था। और गालियों के पुरजोश प्रवाह में याचकों की भीड़ छट गई। मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम के कानों में ये समाचार पहुँचे। अपनी दानशाला की यह दुर्दशा देखकर श्रीराम जी का दिल दहल उठा। पर प्रिय सेवक हनुमान को कुछ कहा भी नहीं जा सकता था।

एक दिन सन्ध्या को श्रीराम वन-विहार को चले। साथ में हनुमानजी भी थे। श्रीराम ने कुछ तेज कदम उठाए, अतः हनुमान पीछे रह गए। आगे चलकर

हनुमान ने देखा कि एक कुटिया में एक सन्त बैठे हैं। उनका विचित्र रूप देखकर हनुमान दंग रह गए। मुनि की सारी देह सोने-सी चमक रही थी; परन्तु ऊपर देखा तो उनका मुँह सूअर-सा था। हनुमान जी आश्चर्य में डूबते-उतराते हुए निकट आए। मुनि की देह को आँखें तरेर कर वे देखने लगे। मुनि बोले—'हनुमान ! देह को क्या देख रहे हो ? देखना हो तो आत्मा को देखो।' हनुमान ने पूछा—'मुने ! ऐसा विचित्र रूप तो मैंने कभी कहीं नहीं देखा। ऐसा रूप मिलने का क्या कोई कारण भी है ?'

मुनि—'अच्छा ! सुनना ही चाहते हो तो सुनो। मैं पूर्वभव में एक गृहस्थ था। सम्राट् की ओर से दानशाला पर नियुक्त था। उस दानशाला में वर्षों तक मैंने दान दिया। हजारों याचक आते और मैं उन्हें दिल खोलकर देता। इन हाथों ने लाखों का दान दिया है, लेकिन इस जीभ ने मधुर वाक्यों का दान नहीं दिया, अपितु दान के साथ घृणा बरसाई। याचकों का अपशब्द से तिरस्कार किया। और आज उस दान का फल साकार हुआ है। हाथों ने दान दिया, इसलिए यह सोने-सा शरीर मिला है, मगर जीभ ने घृणा बरसाई, अतः मुँह सूअर-सा मिला है।' उन्हीं के शब्दों में—

"नाना दानं मया दत्तं, रत्नानि विविधानि च।
न दत्तं मधुरं वाक्यं, तेनाऽहं शूकरमुखः॥"

हनुमान जी सब कुछ समझ गए और तुरन्त अपनी भूल स्वीकार की तथा भविष्य में ऐसी गलती न करने का वचन दिया। श्रीराम को सन्तोष हुआ।

सचमुच, दान के साथ मधुर वाक्य अमृत का-सा काम करते हैं और दाता को यशस्वी, आशीर्वाद से युक्त, सद्भावना से सम्पन्न बनाते हैं, जबकि कटुवाक्य विष का-सा काम करते हैं, घृणा फैलाते हैं और भविष्य में द्वेष और वैर भी बढ़ा देते हैं।

और दान का पाँचवाँ दूषण है—पश्चात्ताप। दाता के मन में दान देने के बाद उसका पश्चात्ताप होना भी दान के फल को मिट्टी में मिलाना है। कई कृपणवृत्ति के लोगों की आदत होती है कि वे पहले तो किसी स्वार्थ या लोभ के वश किसी व्यक्ति को दान देने में प्रवृत्त होता है, किन्तु जब उसका स्वार्थ या लोभ पूर्ण नहीं होता या उसकी आकांक्षा पूरी नहीं होती, तब वे दिये गये दान के विषय में पछतावा करते हैं। उनका मानसिक सन्ताप इतना बढ़ जाता है कि वे भविष्य में किसी भी व्यक्ति को दान देने के लिए उत्साहित नहीं होते।

राजगृही के मम्मण सेठ के पास ९९ करोड़ की सम्पत्ति थी, फिर भी उसकी तृष्णा मिटी नहीं। उसने अपने सब लड़कों को थोड़ी-थोड़ी पूंजी देकर अलग व्यापार करने और अपना गुजारा चलाने के लिए अलग कर दिया। सब लड़के मम्मण सेठ के संकुचित रवैये से तंग आकर अपने स्त्री-बच्चों सहित अर्थोपार्जन के लिए परदेश चले गये। बाद में मम्मण ने अपनी सारी सम्पत्ति को हीरे-पन्नों आदि से जटित बैल बनाने में लगा दी। उस बैल को देखकर उसके मन में उसकी जोड़ी का दूसरा बैल बनाने की धुन लगी और इसके लिए वह सर्दी, गर्मी, बरसात एवं अँधेरी रात की

न करके कस कर मेहनत करने लगा। राजा श्रेणिक को जब पता लगा तो उसे दरबार में बुलाकर उसे बढ़िया बैल देने का कहा, पर वह उस बैल से कहाँ सन्तोष हो सकता था? उसने राजा श्रेणिक को अपने यहाँ ले जाकर तलघर में हीरे-पन्ने आदि से जटित बैल बताया और उसकी जोड़ी का बैल राजा से चाहा। आखिर उसकी माँग की पूर्ति न हो सकी।

राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर से मम्मण सेठ की ऐसी वृत्ति का कारण पूछा तो उन्होने उसकी पूर्वजन्म की घटना सुनाई—'मम्मण सेठ पूर्वजन्म में बहुत गरीब था। एक बार बिरादरी में भोज हुआ, उसमें लड्डू दिये गये। इसने अपने हिस्से का लड्डू रख लिया। सोचा—'भूख लगेगी, तब खाऊँगा।' जब वह गाँव के बाहर आकर एक तालाब के किनारे उस लड्डू को खाने बैठा। तभी उसे एक मासोपवास की तपस्या वाले साधु आते दिखाई दिये। इसके जी में आया—'आज अच्छा मौका मिल गया है, साधु को आहारदान दूं।' यह सोचकर उसने मुनि को आहार लेने के लिए अत्यधिक आग्रह किया। मुनि ने कहा—तुम्हारी इच्छा है तो इसमें से थोड़ा-सा दे दो।' किन्तु उसकी भावना उस समय इतनी उत्कृष्ट थी कि मुनि के अत्यधिक मना करने पर भी उसने वह सारा लड्डू मुनि को दे दिया। मुनि लेकर चल दिये, उसके घर के पास में एक व्यक्ति रहता था जिसके मन में साधुओं के प्रति घृणा थी उसने उसके पास आकर कहा कि आज तुम्हारे यहाँ पर एक मोटा साधु आया था तुमने उसे क्या दिया?

उसने उसका प्रतिवाद करते हुए कहा—जरा सभ्यता से बोलो, तपस्वी सन्त भगवंत को तुच्छ शब्दों से पुकारना उचित नहीं है। मेरे पास है भी क्या, जो मैं उन्हें देता। आज मेरे सद्भाग्य थे कि लहानी का लड्डू आया था और इधर तपस्वी सन्त भगवन्त पधार गये, मुझे सहज रूप से लाभ मिल गया। उसने कहा—जरा तेने लड्डू चखा भी है या नहीं, इतना बढ़िया लड्डू तो मैंने अपने जीवन में पहली बार देखा, क्या उसका स्वाद है! उसके कहने से उसने थाली में पड़े लड्डू के कणों को खाया। वे लड्डू के कण बड़े स्वादिष्ट थे। लड्डू की उस मिठास ने मुनि को दान के उसके रस को बिगाड़ दिया। उसके हर्ष को विषाद में परिणत कर दिया। वह लगा सोचने—'कहाँ से आ गये ये? इन्हें भी आज ही आना था! यह तो सन्त हैं, इन्हें तो रोज-रोज ही लड्डू मिल सकते हैं, मुझे कौन-से रोज मिलते हैं। इन्हें भी आज ही आने की सूझी। आज तक तो मेरे यहाँ आये नहीं, और आये तो भी आज आए। मैंने व्यर्थ ही इन्हें लड्डू दे दिया।' इस प्रकार लड्डू देने के लिए पश्चात्ताप करने लगा वह। उसी पश्चात्ताप का परिणाम है कि आज इसके पास ९९ करोड़ की सम्पत्ति होते हुए भी उस दानान्तराय कर्मबन्धन के फलस्वरूप दान नहीं कर सकता; सत्कार्यों में खर्च नहीं सकता।'

यह दान देकर पश्चात्ताप करने की मुँह बोलती घटना है। इसी प्रकार दान

देकर पश्चात्ताप करना, दान के रस को बिगाड़ना है। उदार व्यक्ति दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, चाहे दान मे उसने कीमती से कीमती चीज दे दी हो; बल्कि उसे दान देने के बाद हर्ष होता है कि मुझे अपनी प्रिय वस्तु देने का उत्तम अवसर मिला, आदाता ने अनुग्रहपूर्वक दान लेकर मुझे कृतार्थ किया।

कहते हैं, राणा संग्रामसिंह जी ने राजघराने के व्यय से सम्बन्धित एक गांव किसी को दान दे दिया। राणा के द्वारा रसोड़ा, जेब खर्च, वस्त्र या अन्य वस्तु, यहाँ तक कि प्रत्येक रानी के खर्च के लिए निश्चित रकम न बाँधकर एक-एक भूभाग निश्चित था, जिसे 'थूआ' कहा जाता था। प्रत्येक भूभाग का अधिकारी 'थूआदार' कहलाता था। ये राणा के प्रधानमन्त्री के प्रति उत्तरदायी होते थे। एक दिन राणाजी एक सामन्त के साथ रसोड़े में भोजन कर रहे थे। अन्यान्य सामग्री के साथ उनकी थाली में दही भी परोसा गया। राणा को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि दही के साथ मीठा क्यों नहीं आया? राजपूतों के भोजन में दही के साथ मीठा खाने का रिवाज है। राणा ने रसोड़े के प्रधान से मीठा न आने का कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया—'अन्नदाता! मंत्रीजी कहते हैं कि श्रीमान् ने मीठे के लिए नियत गाँव किसी को दान कर दिये हैं।' राणा ने सुनते ही कहा—'ठीक है!' और बिना किसी प्रकार की नुक्ताचीनी या पश्चात्ताप किये वे भोजन करके उठ गये; उन्हें मीठे के लिए नियत गाँव के दान देने का कभी भी पश्चात्ताप न हुआ।

दान देने का पश्चात्ताप उसे ही होता है, जो व्यक्ति अनुदार हो, अपने विषय-सुखों या दैहिक सुविधाओं के प्रति आसक्त हो। अतः विधियुक्त दान के लिए पूर्वोक्त ५ दूषणों से बचना चाहिए।

दान के पाँच भूषण

जैसे दान के पांच दूषण बताये, वैसे ही विधियुक्त दान के लिए दान के पांच भूषण भी जैनाचार्य ने इस प्रकार बताये हैं—

> आनन्दाश्रूणि रोमाञ्चो, बहुमानं प्रियं वचः।
> तथाऽनुमोदना पात्रे दानभूषण-पञ्चकम् ॥

अर्थात्—दान देते समय आनन्दातिरेक से आंसू उमड़ आना, पात्र को देखते ही रोमाञ्च हो जाना, आदाता (पात्र) का बहुमान करना, प्रिय वचनों से उसका स्वागत-सत्कार करना, तथा दान के योग्य पात्र का अनुमोदन (समर्थन) करना, ताकि दूसरों को उसे दान देने की प्रेरणा मिले; ये दान के पाँच भूषण हैं। इनसे दान की शोभा बढ़ती है। दान में विशेषता (चमक) आ जाती है।

अन्तकृद्दशांग सूत्र में वर्णन आता है कि जिस समय सुलसा के यहाँ पले-पुसे मुनि बने हुए देवकी महारानी के छह पुत्र दो-दो के युगल में बार-बार उसी के यहाँ भिक्षा के लिए आये तो उनके बार-बार आने का भ्रम होने पर भी देवकी ने मुनियों

को आहार देने में किसी प्रकार की अरुचि नहीं दिखाई, बल्कि अत्यन्त उमंग और उत्साहपूर्वक मुनियों के तीनों युगलों को आहार दिया। बल्कि उनको आहार देते समय हर्ष उमड़ता था। मुनियों को अपने राजमहल की ओर आते देखकर देवकी के मन में आनन्द की लहर पैदा हो आई और वह अपने सिंहासन से उठकर स्वयं सात-आठ कदम सामने जाकर उनका स्वागत किया और अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के साथ उन्हें भोजनगृह में पधारने की प्रार्थना करके उसने सिंह केसरिया मोदक उनके भिक्षापात्र में दिये। इस प्रकार दान देने से पहले देने के बाद और देते समय बहुत उच्च भावना थी। हृदय में उसके हर्ष नहीं समा रहा था। वह अपने को धन्य मान रही थी।'[1]

यह है दान के पांचों भूषणों का प्रतीकात्मक उदाहरण ! दान की विधि के अन्तर्गत ही ये पांचों भूषण समझने चाहिए। केवल महाव्रती साधु को ही नहीं, समस्त दान पात्रों को दान देते समय ये पांचों भूषण दाता के व्यवहार में आने चाहिए।

गुजरात के एक छोटे-से गाँव की घटना है। एक हरिजन बहन के पीहर में कोई न होने से वह अपने बीमार पति को लेकर ससुराल के गाँव में शीघ्र पहुँचने हेतु पीहर के गाँव से बाहर होकर जा रही थी। ग्राम निवासी आयर पटेल ने उसे देखा तो अत्यन्त प्रेम से सम्बोधित करते हुए कहा—"बेटी ! यह कैसे हो सकता है ? बाप का घर छोड़कर यों ही कैसे जा सकती हो ? इस प्रेम के आगे अस्पृश्यता की दीवार कहाँ टिक सकती है ? फलतः वह हरिजन लड़की और उसका पति दोनों वापिस लौटे। आयर पटेल दोनों को अपने घर लाया। पटेल ने दोनों को अनाज की गठड़ी भर कर भेंट की और कहा—'बेटी ! यह भी तेरा घर है। फिर दूसरी मौसम में आना।' इस दान के पीछे न तो नाम की भूख थी, और न अहंपन की खुमारी। इस दान के पीछे हर्षपूर्वक कर्तव्य का आनन्द था। प्रियवचन और बहुमान तो थे ही।

इसीलिए नीतिज्ञों ने दान के साथ प्रियवचन को मानव का सहज गुण बताया है—

> दातृत्वं प्रियवक्तृत्वम् धीरत्वमुचितज्ञता।
> अभ्यासेन न लभ्यन्ते, चत्वारो सहजा गुणाः॥

---

१ 'तत्थणं एगे संघाडए बारवतीए नयरीए······भिक्खारियाए अडमाणे २ वसुदेवस्स रण्णो देवतीए गेहे अणुपविट्ठे। तते णं सा देवती देवी से अणगारे एज्जमाणे पासति पासित्ता हट्ठ जाव हियया आसणा तो अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठित्ता सत्तट्ठ-पयाइं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदति, णमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागया, सीहकेसराणं मोयगाणं थालं भरेति, ते अणगारे पडिलाभेति, वंदति णमंसंतित्ता पडिविसज्जेइ'

—अन्तकृद्दशांग सूत्र वर्ग ३

—'दान देना, प्रियवचन कहना, धीरता रखना और उचित का ज्ञान होना, ये चारों गुण अभ्यास से प्राप्त नहीं होते, ये चारों सहज गुण हैं।'

दान के भूषण के सन्दर्भ में दान की चार श्रेणियों का वर्णन कर देना उचित है।

पाराशरस्मृति में दान की इन चारों श्रेणियों का सुन्दर विश्लेषण किया गया है—

—[illegible] पात्र के सामने जाकर देना उत्तम दान है, उसे बुलाकर देना मध्यमदान है, उसके मांगने पर देना अधमदान है। और मांगने पर भी न देकर अपनी चाकरी कराकर देना निष्फलदान है।[1]

दान का भलीभाँति मूल्यांकन और परिमाण करने के हेतु यह एक ही श्लोक बहुत-सी प्रेरणा दे देता है।

दान के पांच भूषणों के सिलसिले में दान की आठ कोटियों पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। वर्तमान के अधिकांश लोगों का दान देने का तरीका गलत है। वे या तो देखादेखी या शर्माशर्मी देते हैं, या नामवरी के लिए देते हैं, वे कदाचित् हाथ से देते हैं, परन्तु हृदय से नहीं। इसलिए दानियों के लिए ये आठ कोटि के दान-सूत्र अत्यन्त प्रेरणादायक हैं जिनसे वे अपने दान को टटोल सकें। इस दृष्टि से, दान की आठ सीढ़ियाँ निम्नलिखित प्रकार से बनती हैं—

(१) दान देना, पर इच्छा से नहीं, हाथ से देना, पर हृदय से नहीं।
(२) प्रसन्नता से देना, पर दुःखी की आवश्यकतानुसार न देना।
(३) प्रसन्नता से देना, आवश्यकतानुसार भी देना, पर बिना मांगे न देना।
(४) प्रसन्नतापूर्वक आवश्यकतानुसार और मांगने से पहले ही देना, पर देना सबके सामने जिससे लेने वाले को लज्जित होना पड़े।
(५) एकान्त में देना, जिसे देने वाला और लेने वाला जाने।
(६) देने वाला जाने, पर लेने वाला न जाने। गुप्त दान देना।
(७) न देने वाला जाने और न लेने वाला ही। संदूकची में गुप्तदान देना।
(८) दान का ऐसा प्रबन्ध करना, जिससे दरिद्रता कभी आने ही न पाए।

वास्तव दाता को दानविधि का ज्ञान करते समय दान की इन आठ सीढ़ियों को अवश्य ध्यान में लेना चाहिए।

इसी दृष्टि से दान के दूषण (अतिथिसंविभागव्रत) के सन्दर्भ में शास्त्रकारों ने पांच अतिचार (दोष) बताए हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है।

'सचित्तनिक्षेप-पिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालातिक्रमाः।'

---

१ "अभिगम्योत्तमं दानमाहूयैव तु मध्यमम्।
अधमं याचमानाय सेवादानं तु निष्फलम्॥"

—'देय वस्तु सचित्तपदार्थ पर रख देना, सचित्त वस्तु से ढक देना या आदाता लेने आए, उस समय उस पर कपड़ा आदि कोई पदार्थ ढक कर उसे छिपा देना, देय वस्तु दूसरे के स्वामित्व की बताना, ताकि आदाता को टरकाया जा सके, दान देने वाले से डाह (ईर्ष्या) करना, जलना, और भोजन के समय में दरवाजा बंद करके टाल देना, बाद में खोलना, इस तरह कालातिक्रम करके आदाता को टरका देना।

ये पांचों अतिचार दान देने के नाटक हैं। जहाँ व्यक्ति दान हृदय से नहीं देना चाहता, वहाँ दान देने की औपचारिकता होती है। जिस व्यक्ति को जैसा दान चाहिए, वैसा उमंग और उत्साह से नहीं दिया जाता कई दफा तो दान न देने के लिए बहाना बना लिया जाता है कि देय वस्तु सचित्त वस्तु पर रखी हुई है चूंकि जैन मुनि सचित्त (सजीव) वस्तु पर रखी हुई कोई वस्तु ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिए न देने का कहने के बजाय अनायास ही निषेध हो जाएगा। परन्तु जघन्य और मध्यम अतिथि के लिए भी अमुक आहार न देना हो तो सचित्त (नहीं पके या न सीझे हुए) के साथ रख-कर यों बहाना भी किया जा सकता है कि महाशय! अमुक वस्तु तो अभी सीझी हुई या पकी हुई नहीं है, आपको कहाँ से देदें।' इसी प्रकार पिधान का अर्थ देय वस्तु को सचित्त वस्तु से ढक देना है, वह भी साधु के लिए कल्पनीय या ग्राह्य नहीं होती। परन्तु गृहस्थपात्र के लिए पिधान का अर्थ छिपा देना होगा, जिससे वह बहाना बना सके कि "वस्तु तो है ही नहीं, दे कहाँ से दूं?' या पिधान का अर्थ यह भी हो सकता है कि द्वार बंदकर लेना, जिससे दान न देना पड़े। बंद दरवाजा देखकर कोई भी अतिथि घुस नहीं सकता। इसी प्रकार अन्य अतिचार भी साधु के लिए तो स्पष्ट है, लेकिन गृहस्थ पात्र के लिए जरा-सा लक्षणा से अर्थ करना होगा। परव्यपदेश का अर्थ तो स्पष्ट ही बहाना बनाना है। जब व्यक्ति को कोई चीज देने की इच्छा नहीं होती है तो वह अपनी चीज को भी झूठ बोलकर दूसरे की बता देता है. अगर देता है तो भी रोते-रोते, दूसरों की चीज कहकर देता है। जैसे श्रेणिक राजा की कपिला दासी से कहा गया तू अपने हाथ से दान दे, किन्तु उसने जब साफ इन्कार कर दिया कि मैं कदापि नहीं दे सकती। इन हाथों से मैं पराई चीज कैसे दे दूं? तब उसके हाथों के चाटु बाँध दिये, और उससे दान देने का आग्रह किया गया, तो भी उसने यही कहते हुए दान दिया कि मैं नहीं दे रही हूँ, मेरा चाटु दे रहा है।' यह दान नहीं, दान की विडम्बना थी। साधु को दान देने के लिए कालातिक्रम का अर्थ है—साधु के आने का जो समय हो, उस समय को टालकर दूसरे समय में आहार आदि ग्रहण करने की प्रार्थना करना। यह भी एक एक तरह से टालमटूल करना है। गृहस्थ को देने के सम्बन्ध में इसका अर्थ है—दान का वचन देकर बार-बार कल, परसों, तरसों, अमुक दिन आने का कहकर दान में विलम्ब करना अथवा जिस समय दान देने का कहा हो, उस समय कहीं इधर-उधर चले जाना। और मात्सर्य का अर्थ है—दान देने वालों से ईर्ष्या करना। दान देने की भावना न होते हुए भी किसी दाता की बड़ाई सुनकर उसके दान से आगे बढ़ने की कोशिश करना। अथवा यों कह कर देना कि उस

भिखारी के पास क्या देने को है ? लो, मैं आपको उससे बढ़िया पदार्थ देता हूँ। इस प्रकार ईर्ष्यावश अपनी हैसियत को न देखकर भी कई लोग दान देने को तैयार हो जाते हैं। दूसरों की देखादेखी, कर्ज करके या अपने आश्रितों या सेवकों की तनख्वाह काटकर बचत करके उससे दान देना भी दान का दूषण है।

सुपात्र दान के बयालीस दोष

दान की विधि के प्रसंग में इस बात की भी चर्चा कर लेनी उचित है कि अतिथि-संविभाग व्रत के अनुसार उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अतिथि (पात्र) के अनुरूप विधि से आहारादि दे।

मध्यम अतिथि व्रतधारी श्रावक होता है. उसके आहार ग्रहण करने के इतने नियम नहीं हैं, और न ही जघन्य अतिथि बुभुक्षित, आगन्तुक, पीड़ित, रोगी, अंग-विकल आदि के लिए आहार ग्रहण करने की विधि के विषय में सोचना है। आहार ग्रहण करने की विधि साधुसाध्वियों के लिए विचारणीय होती है। वे आहार के ४२ दोष वर्जित करके एषणीय, कल्पनीय, अचित्त आहार का ग्रहण करते हैं, इसलिए उन्हें आहारादि दान देते समय दाता को उनकी विधि के विषय मे विचार करके ही आहार देना उचित है। वही दान विधिपूर्वक दान कहलाता है।

शास्त्र में व पिण्डनिर्युक्ति में मुनियों के लिए आहारग्रहण करते समय ४२ दोष वर्जनीय बताए हैं। उनमें से १६ उद्गम के दोष हैं, १६ उत्पादना के और १० एषणा के दोष हैं। सर्वप्रथम उद्गम के जो दोष हैं, वे दानदाता और दान लेने वाला दोनों से सम्बन्धित हैं। इसलिए खासकर दाता को मुनियों को आहार देते समय इन १६ दोषों को छोड़ने का विवेक करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

आहाकम्मुद्देसिय-पूइकम्मेय मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाऊअर-कीय-पामिच्चे ॥
परियट्टिए अभिहडे अभिन्ने मालोहडइ य।
अणिच्छे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥

—"आधाकर्म, औद्देशिक पूतिकर्म, मिश्रजात, स्थापना, प्राभृतिका, प्रादुष्कर, क्रीत, पामित्य, परिवर्तित, अभिहृत, अभिन्न, मालोपहृत, अनिच्छ, अनिसृष्ट, अध्यवपूरक यां १६ उद्गम के दोष हैं। जो दान की अविधि के द्योतक हैं।

१. आधाकम्म— आधाकर्म साधुओं के निमित्त से आहार बनाना।

२. उद्देसिय—औद्देशिक-सामान्य याचकों के लिए बनाना, अथवा किसी खास साधु-साध्वी को लक्ष्य करके बनाना।

३. पूइकम्म—पूतिकर्म—शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित करना।

४. मीसजाय—मिश्रजात-अपने और साधु के लिए एक साथ बनाना।

५. ठवणा—स्थापना-साधु के लिए अलग निकाल कर रख देना।

६. पाहुडिया—प्राभृतिका-साधु को गाँव में आया जानकर उन्हें विशिष्ट आहार बहराने के लिए पाहुनों या मेहमानों आदि के जीमनवार का समय आगे-पीछे करना।

७. पाओअर—प्रादुष्कर-अन्धकारयुक्त स्थान से दीपक आदि का प्रकाश करके भोजन आदि देना।

८. कीअ—क्रीत-साधु के लिए खरीद कर आहारादि देना।

९. पामिच्च—पामित्य-साधु के लिए उधार लाकर देना।

१०. परिअट्टिय—परिवर्तित-साधु के लिए आटा-साटा करना।

११. अभिहड—अभिहृत-साधु के लिए दूर से लाकर देना।

१२. उब्भिन्न—उद्भिन्न-लिप्त पात्र का मुँह खोलकर घृत आदि देना।

१३. मालोहड—मालापहृत-ऊपर की मंजिल से या छींके वगैरह से सीढ़ी आदि से उतार कर देना।

१४. अच्छिज्ज—आच्छेद्य-दुर्बल आदि से छीनकर, जबरन लेकर साधु को देना।

१५. अणिसिट्ठ—अनिसृष्ट-साझे की चीज दूसरे साथी की अनुमति के बिना ही देना।

१६. अज्झोयरए—अध्युपपूरक-साधु को गाँव में आया जानकर अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में और अधिक डालकर बढ़ा देना और फिर देना।

ये दोष मुख्यतया दाता से लगते हैं। इसलिए दाता को साधु-साध्वी को आहारादि भिक्षा देते समय इन दोषों से वर्जित आहार ही देना अच्छा है। भावुकता के वश या साधु-साध्वियों या तपस्वियों को विधि या अविधि किसी प्रकार से आहारादि दूँगा तो मुझे पुण्यलाभ होगा, मेरे भाग्य खुल जाएँगे, वारे-न्यारे हो जाएँगे, यदि ये साधु प्रसन्न हो गए तो, अथवा मुनिराज प्रसन्न होकर मुझे कोई अर्थ प्राप्ति आदि के लिए मन्त्रादि दे देंगे। परन्तु ऐसा आहारादि दान अविधि युक्त होने से उससे न केवल उन साधु-साध्वियों का ही अहित होता है, देने वाले का भी अप्रासुक अनेषणीय, अकल्पनीय आहार देने से अल्पायु का बन्ध होता है।

जो १६ उत्पादना के दोष हैं, ये साधु-साध्वियों से लगते हैं, इसलिए इस विषय में आदाता (पात्र) के नाते उन्हें अपने दोषों को ध्यान रखकर वर्जित करना चाहिए। और एषणा के दस दोष भी खासकर साधु द्वारा ही लगते हैं, इसलिए उन दोषों से भी साधु-साध्वियों को सावधान रहने की आवश्यकता है। ☆

5

दान और भावना

दान-विधि के प्रसंग में यह बताया गया है कि द्रव्य शुद्धि व दायक शुद्धि और पात्र शुद्धि तीनों की शुद्धता हो तभी दान शुद्ध कहलाता है। भिक्षुक को घर पर आता देखें तो कैसे, किस प्रकार उसका स्वागत करे, किस विधि से उसे आहारादि दे? इस विषय में हम पहले ज्ञातासूत्र, अन्तकृत्, सुखविपाक आदि सूत्रों के उद्धरण देकर भली-भांति स्पष्टीकरण कर आए हैं। आगमों में अनेक स्थानों पर भिक्षादान की यह विधि बताई गई है। श्रावक का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार से विधिपूर्वक साधु-साध्वियों को भिक्षा दे। यह नहीं कि मुनि घर पर भिक्षा के लिए आएँ, उस समय गृहस्थ लापरवाही से बैठा रहे, जैसे कोई भिखारी आया हो, मिले तो ले जाए, न मिले तो खाली लौट जाए। उपेक्षापूर्वक लापरवाही से दान देने में वह आनन्द भी नहीं मिलता और न ही उत्तम फल प्राप्त होता है। उत्तम फल तभी मिलता है, जब खुशी से एवं सत्कार से दान दिया जाय। अन्यथा वह दान अतिथि-संविभाग व्रत के पूर्वोक्त पांच अतिचारों (दोषों) में से किसी भी दोष से युक्त होता है।

शुद्ध विधियुक्त भावनापूर्वक दिये गए दान को महाभारत के अनुशासन पर्व (७१६) में इसे महायज्ञ बता कर इसके पांच अंग बताए हैं—

> चक्षुर्दद्यात् मनोदद्यात् वाचं दद्याच्च सुनृताम्।
> अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः॥

—"घर पर आए हुए अतिथि का पाँच प्रकार से स्वागत करना चाहिए। अतिथि को आते देखकर प्रफुल्लित आँखों से उसका स्वागत करे, फिर प्रसन्न मन से मीठी वाणी बोले, किस वस्तु की उसे आवश्यकता है, यह जाने और उस वस्तु को देकर उसकी सेवा करे, जब अतिथि इच्छा पूर्ण होने पर जाने लगे तो घर के बाहर तक उसे छोड़ने जाए। इन पाँचों विधियों से अतिथि का सत्कार करना अतिथियज्ञ की सच्ची दक्षिणा है।

दान-विधि में भावना की मुख्यता

वास्तव में देखा जाय तो दान में देय द्रव्य अधिक दिया या कम दिया? बहुमूल्य दिया या अल्पमूल्य दिया। धनिक ने दिया या निर्धन ने दिया? इसका

इतना महत्त्व नहीं, जितना महत्त्व दानविधि के साथ भावना का है। राजकुमारी चन्दनबाला ने दासी के रूप में भगवान महावीर को दीर्घकालीन अभिग्रह तप के पारणे में क्या दिया था ? केवल थोड़े से उड़द के बाकुले ही तो दिये थे, और वह भी थोड़े से तथा रूखे थे और एक दासी के द्वारा दिये गए थे। विदुर पत्नी ने श्री कृष्ण को केवल केले के छिलके ही दिये थे और शबरी ने श्रीराम को केवल झूठे बेर ही तो दिये। परन्तु इन सबके पीछे दाता की श्रद्धा, भक्ति, भावना देने की विधि बहुत ही उत्तम थी, इसलिए ये तुच्छदान भी बहुत महत्त्वपूर्ण और विश्व प्रसिद्ध बन गए।

दूसरी बात यह थी कि इन दाताओं ने न तो कोई आडम्बर ही किया, न अपनी नामबरी या प्रसिद्धि के लिए लालायित हुए, और न ही अपने दान के पीछे अहंत्व-ममत्व की भावना से प्रेरित होकर आदाताओं पर अपना एहसान ही जताया।

हमने पिछले पृष्ठों में भगवान महावीर को दान देने की प्रबल भावना से ओतप्रोत, किन्तु दान न दे पाने वाले पूरणश्रेष्ठी का उदाहरण अंकित किया है, वह भी भावना के महत्त्व को ही द्योतित करता है।

महात्मा बुद्ध को जब विशेष ज्ञान हुआ तो उनसे उनके शिष्य अनाथ पिण्ड ने प्रार्थना की—'भंते ! आप अपने ज्ञान का लाभ संसार को भी दीजिए, जिससे उसका भी कल्याण हो।' बुद्ध ने कहा—'संसार के लोग इस ज्ञान के पात्र हों, तब न ?' अनाथपिण्ड—'इस ज्ञान का पात्र कैसा होना चाहिए ?' बुद्ध—'जो अपना सर्वस्व दान कर सके, वही इस ज्ञान का पात्र हो सकता है।' अनाथपिण्ड—'भंते ! आपके लिए ऐसे सर्वस्वदान देने वाले अनेक लोग निकलेंगे। आप मुझे आज्ञा दें तो मैं अभी जाकर आपके लिए सर्वस्वदान ले आऊँ।'

बुद्ध—'तू तो अनेक की बात कहता है, यदि एक भी व्यक्ति मिल जाय तो मेरा कार्य हो जाय। पर मैं सर्वस्वदान चाहता हूँ, यह बात किसी पर प्रगट मत करना।'

अनाथपिण्ड पात्र लेकर कौशाम्बी आया। अभी सूर्योदय होने में कुछ देर थी। लोग बिस्तर पर ही पड़े थे। तभी अनाथपिण्ड ने आवाज लगाई—"तथागत बुद्ध सर्वस्वदान लेना चाहते हैं। यदि कोई सर्वस्वदान दाता हो तो वह मुझे दे।' लोगों ने आवाज सुनी। कहने लगे—'अनाथपिण्ड तथागत बुद्ध के लिए सर्वस्वदान लेने आया है, इसे खाली नहीं जाने देना चाहिए।' अतः अनेक स्त्री, पुरुष, वृद्ध, युवक आभूषण, रत्न, बहुमूल्य वस्त्र आदि लेकर दौड़े और अनाथपिण्ड के पात्र में डालने लगे। किन्तु अनाथपिण्ड अपने पात्र को औंधा करके उन सब चीजों को नीचे गिरा देता और कहता—मैं तो सर्वस्वदान चाहता हूँ, ऐसा दान नहीं। लोग निराश होकर नीचे गिरी हुई अपनी-अपनी चीज उठाकर घर लौट जाते। अनाथपिण्ड सारी कौशाम्बी में

पूर्ववत् आवाज लगाता हुआ घूमा, मगर कोई भी सर्वस्वदाता न मिला। चलते-चलते वह नगर के बाहर जंगल में आ गया। सोचा, नगर में कोई नहीं मिला, तो जंगल में सर्वस्वदानी कहाँ से मिलेगा? फिर भी आशान्वित होकर आवाज लगाता हुआ घूमने लगा। एक महादरिद्र, किन्तु भावनाशील महिला ने अनाथपिण्ड की यह आवाज सुनी। उसके न तो घरबार था, न उसके पास सिर्फ एक फटे वस्त्र के सिवाय और कोई कुछ धनादि था। उसने सोचा—'तथागत बुद्ध सर्वस्वदान चाहते हैं। मेरा सर्वस्व यही वस्त्र है। ऐसा उत्तम पात्र फिर कब मिलेगा? मुझे इस स्वर्ण सुयोग का लाभ उठा लेना चाहिए।' ऐसा सोचकर उसने भिक्षु को आवाज दी—'ओ भिक्षु! आओ, मैं तुम्हें सर्वस्वदान देती हूँ।' इस प्रकार जिस मार्ग से अनाथपिण्ड आ रहा था, उसी मार्ग पर स्थित एक पुराने वृक्ष के खोखले में स्वयं उतर गई और अपना एकमात्र वस्त्र हाथ में लेकर अनाथपिण्ड से कहा—'लो, यह सर्वस्वदान लो। अपने गुरु महात्मा बुद्ध को दो, उनकी इच्छा पूर्ण करो।' अनाथपिण्ड ने उस स्त्री का दिया हुआ वह वस्त्र हर्षपूर्वक अपने पात्र में लिया और गद्गद् होकर उससे कहने लगा—'माता! आपकी तरह सर्वस्वदान देने वाला संसार में और कौन होगा? एकमात्र वस्त्र, जो आपके पास लज्जा निवारणार्थ था, उसे भी आपने उतार कर स्वयं तरुकोटर में प्रवेश करके दे दिया। यही आपका सर्वस्व था। मुझे बहुमूल्य वस्त्राभूषण, रत्न आदि देने वाले अनेक दाता मिले, लेकिन वह सर्वस्वदान न था। परन्तु आपको धन्य है, आपने सर्वस्वदान दे दिया।' इस प्रकार उस महिला की प्रशंसा करके अनाथपिण्ड तथागत बुद्ध के पास पहुँचा। उसने सर्वस्वदान के रूप में प्राप्त वह वस्त्र उन्हें देकर कहा—'भंते! यह लीजिए, सर्वस्वदान।' और उसने कौशाम्बी नगरी में सर्वस्वदान न मिलने और वन में एक महिला द्वारा सर्वस्वदान मिलने का आद्योपान्त वृत्तान्त सुनाया। बुद्ध उस वस्त्र को पाकर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने वह वस्त्र मस्तक पर चढ़ाकर कहा—'मेरी प्रतिज्ञा अब पूर्ण हुई। अब मैं लोगों को अवश्य ही वह ज्ञान सुनाऊँगा, जो मुझे प्राप्त हुआ है।'

सचमुच इस प्रकार के सर्वस्वदान को ही पूर्वोक्त गुण से युक्त विधिवत् दान माना गया है। इसी प्रकार का दान एक गरीब वृद्धा के हाथ से बुद्ध को आहारदान था। इस दान के पीछे भी न कोई प्रसिद्धि थी, न प्रतिष्ठा पाने की होड़ थी और न ही कोई स्वार्थसिद्धि की तमन्ना थी।

तथागत बुद्ध राजगृह के पूर्वी द्वार की ओर आये तो नगर के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नर-नारी उत्सुकता से देख रहे थे। वे सब बुद्ध की अगवानी के लिए खड़े थे। तभी महात्मा बुद्ध शनैः-शनैः आते हुए दिखाई दिये। सभी के अन्तःकरण प्रफुल्लित हो गए। बुद्ध धर्म और संघ की शरण के स्वर से आकाश गूंज रहा था। बुद्ध के आगे-पीछे सैकड़ों श्रेष्ठी, राजपुत्र और राजा आदि विनीत मुद्रा में चल रहे थे। नगर के द्वार पर सम्राट बिम्बसार ने हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हुए उनका स्वागत किया और प्रार्थना की—'भंते! आज के भोजन के लिए मेरे यहाँ पधारने

की स्वीकृति दीजिए।' तथागत—'राजन्! भिक्षुओं को जहाँ तक सम्भव हो, किसी के घर पर बैठ कर भोजन नहीं करना चाहिए। न एक घर से सारी भिक्षा-सामग्री ही लेनी चाहिए। हम लोग सार्वजनिक भिक्षाटन के लिए आयेंगे, उस समय आप भी कुछ दे दें।'

इसी नगर में एक गरीब वृद्धा रहती थी। उसने महात्मा बुद्ध का नाम बहुत दिनों से सुन रखा था। परन्तु गया और सारनाथ जाकर दर्शन करने की उसके पास शक्ति और सुविधा नहीं थी। अब जब सुना कि तथागत अपने शिष्यों के साथ उसके नगर में आ रहे हैं, तो हर्षविभोर हो गई। उसने सुना था कि बौद्ध भिक्षु नंगे पैर चलते हैं, उनके पैरों में काँटे चुभ जाते हैं। वह प्रतिदिन राजमार्ग में बुहारी देती थी और काँटे चुगती थी। राह चलते हुए बच्चे उसे छेड़ते और उसे पगली समझते थे। पर उसे इन बातों की कोई परवाह ही नहीं थी।

बुद्ध अपने शिष्यों सहित भिक्षा के लिए नगर में पधारे। लोगों में होड़ लगी हुई थी, कि ज्यादा से ज्यादा स्वादिष्ट भोजन दिया जाय।

बेचारी वृद्धा थकी-मांदी एक ओर खड़ी ताक रही थी। उसके पास एक ही रोटी बची थी। दूसरे लोगों को नाना प्रकार की मिठाइयों को देखकर उसे अपनी सूखी रोटी देते हुए झेंप और लज्जा हो रही थी। तथागत ने उसे भीड़ में खड़ी हुई देखी। पास में जाकर कहा—'माई! भिक्षा दे दो।' बड़े प्रेम से गद्गद होकर उस वृद्धा ने पूरी रोटी इनकी झोली में डाल दी। उसने सोचा कि नाना प्रकार के व्यंजनों के रहते, मेरी इस रोटी को कौन पूछेगा? फिर भी उसका मन नहीं माना और जब तथागत बुद्ध अपने शिष्यों सहित एक वृक्ष के नीचे बैठकर आहार करने की तैयारी करने लगे तो वह एक तरफ खड़ी ताकने लगी। दूसरे शिष्यों को अन्य सामग्री बांटने के बाद तथागत ने स्वयं उस वृद्धा की रोटी से पारणा किया।

यह देखकर उस गरीब वृद्धा की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी सोचा—आज मेरा जीवन धन्य और सार्थक हो गया।

वस्तुतः दान का महत्त्व और मूल्य भावना में निहित होता है। कौन, कितनी और कैसी वस्तु देता है, इसका महत्त्व नहीं; महत्त्व है वस्तु देने के पीछे व्यक्ति की श्रद्धा-भक्ति और हृदय की अर्पण भावना का। इसी कारण तुच्छ वस्तु का दान भी श्रद्धा-भावना के कारण महामूल्यवान हो जाता है, और इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित एवं प्रसिद्ध हो जाता है। ईसाई धर्म की पुस्तकों के दरिद्रता में दिये गये दान की महिमा गाई गई है। एक जैनाचार्य भी कहते हैं—'दाणं दरिद्दस्स पहुस्स खंती' दरिद्र द्वारा दिया गया दान और समर्थ द्वारा की गई क्षमा महत्त्वपूर्ण है।

एक बार कहीं दुष्काल पड़ा तो वहाँ के दुष्काल पीड़ितों के लिए चन्दा होने लगा। चन्दा करने वाले ईसामसीह थे। इसलिए उनके व्यक्तित्व को देखकर लोग बड़ी-बड़ी रकमें देने लगे। एक बुढ़िया ने बड़ी भावना से दुष्काल पीड़ित सहायक फंड

में अपना सर्वस्व बचत—एक पैसा दे दिया। ईसा ने बड़े प्रेम से उससे पैसा लेकर उपस्थित जनता को सम्बोधित करते हुए कहा—'बन्धुओ ! यद्यपि तुम सबने हजारों-लाखों रुपये दिये हैं, लेकिन इस बुढ़िया के दिये हुए पैसे की तुलना नहीं कर सकते। क्योंकि तुमने तो थोड़ा देकर बहुत-सा अपने पास रखा है, जबकि इसने तीन पैसे रोज की कमाई और तीन ही पैसे के खर्च में कतरब्योंत करके एक पैसा दिया है।

यही हाल पूणिया का था। वह कुछ ही पैसे रोज कमाता था। और उसी से पति-पत्नी निर्वाह करते थे। जिस दिन कोई अतिथि आ जाता तो उसके आतिथ्य में सब कुछ व्यय करके स्वयं पति-पत्नी उपवास कर लेते थे।

रायल सीमा दुष्काल राहत का फंड इकट्ठा किया जा रहा था। चारों ओर से कपड़ों, पैसों और अन्न की वर्षा हो रही थी। अमीर-गरीब सभी दे रहे थे, किसी को नाम का मोह था तो किसी को नहीं। घूमते-घूमते फंड की झोली एक सिंधी बुढ़िया के पास आई। उसने पूछा—'बच्चा क्या है?' 'दुष्काल' उत्तर मिला। तुरन्त फटे हुए कपड़े के अंचल में बँधा हुआ एक टका (दो पैसे का) निकालकर प्रेम से हाथ जोड़कर झोली में डालते हुए कहा—'बाबा ! हमारी इतनी ही शक्ति है। फंड इकट्ठा करने वालों की आंखों में हर्षाश्रु उमड़ पड़े। वह बोला—'माई !' आपने दो पैसे नहीं, दो लाख रुपये दिये हैं, अपना सर्वस्व देकर।'

एक बार ईसामसीह ने देखा तो चर्च की दानपेटी में श्रीमंत लोग अपने-अपने दान की राशि डाल रहे थे। तभी एक कंगाल विधवा को उसे दो दम्बू डालते देख उन्होंने कहा—सबसे अधिक दान तो इस बुढ़िया ने दिया है। दूसरों ने तो अपनी बचत में से थोड़ा-सा दिया है, लेकिन इसने तो अपनी तंग हालत में, जो कुछ पास में था, वह सर्वस्व दे दिया।

इस्लाम धर्म के कुछ लोगों ने अपनी तंगी हालत में भी अपने पास जो कुछ था, वह गरीबों के लिए दे डाला था।

इसलिए दानविधि में और सब कुछ देखने की अपेक्षा, सबसे अधिक ध्यान दाता की भावना, आस्था, श्रद्धा और भक्ति पर ही दिया जाना चाहिए। ऐसी दशा में वह तुच्छ दान भी महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान होकर चमक उठेगा। हजारों-लाखों रुपयों के दान को भी ऐसा दान चुनौती देने वाला होगा।

✡

6
दान के लिए संग्रह : एक चिंतन

कई लोग दान देने से किसी इहलौकिक या पारलौकिक आकांक्षा की पूर्ति हो जाएगी, धन, पुत्र या अन्य सांसारिक लाभ हो जाएगा, इस स्वार्थसिद्धि की आशा से दान के लिए येन-केन-प्रकारेण धन कमाने का प्रयत्न करते हैं, और फिर दान देते हैं, यह दान भी विधियुक्त नहीं कहा जा सकता। सहज भाव से जो न्याययुक्त आजीविका से प्राप्त हो, उसे देना तो उचित है, पर इस प्रकार से किसी लोभ या स्वार्थ से प्रेरित होकर दान देने के लिए धन बटोरना शुभावह नहीं है। नीतिज्ञों ने इसे निन्दनीय बताया है—

> "धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्य सा न शुभावहा।
> प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥"

—धर्मार्थ या दान-पुण्य करने के लिए जिसकी धन-संग्रह की इच्छा है, वह भी शुभकारक नहीं है। वह तो कपड़े को कीचड़ में डाल कर फिर धोने के समान वृत्ति है। धन संग्रह करने के लिए पहले तो पाप पंक में अपने को डालना, और फिर उसे धोने के लिए दान देना कथमपि शुभावह और सहज प्रवृत्ति नहीं है।

आचार्य पूज्यपाद ने भी इस विषय में स्पष्ट कहा है—

—'जो निर्धन मनुष्य पात्रदान, देवपूजा आदि प्रशस्त कार्यों के हेतु अपूर्व पुण्य प्राप्ति और पाप विनाश की आशा से नौकरी, कृषि, वाणिज्य आदि कार्यों द्वारा धनोपार्जन करता है, वह मनुष्य 'बाद में नहा लूंगा', इस आशा से अपने निर्मल शरीर पर कीचड़ लपेट लेता है।"[1]

चूंकि यह दान सहज भाव से नहीं होता, इसमें दान के लिए प्रायः व्यक्ति अन्याय, अनीति, पापकर्म, झूठ-फरेब करके पहले धन बटोरता है, उसके बाद उस धन को दान देता है, इसे जैनाचार्यों ने अच्छा नहीं कहा। आत्मानुशासन में इस विषय में स्पष्ट निर्देश है—

---

१ त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलुम्पति॥ —इष्टोपदेश १६

—"कोई विद्वान मनुष्य विषयों को तिनके के समान तुच्छ समझकर याचकों के लिए लक्ष्मी देता है, कोई पापरूप समझकर किसी को बिना दिये ही लक्ष्मी का त्याग कर देता है, किन्तु सबसे उत्तम वह है कि लक्ष्मी को पहिले से ही अकल्याण-कारी जान कर ग्रहण नहीं करता।"[2]

जैनशास्त्र उत्तराध्ययन सूत्र में भी भगवान् महावीर ने इसी अर्थ में संकेत किया है—

जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्स वि संजमो सेओ अदितस्स वि किंचण।

अर्थात्—जो प्रतिमास लाखों गायों का दान करता है, उसकी अपेक्षा भी जो अकिंचन अपरिग्रही बनकर कुछ भी नहीं देता, उसका संयम भी श्रेयस्कर है।

इसका मतलब यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जो परोपकारी व्यक्ति न्याय-नीति से धन उपार्जित करके उसके दानगृह बनाता है या दान-परोपकार-सेवा आदि कार्य करता है, वह भी अकल्याणकर है। अपितु इस प्रकार का दान जो निःस्पृहभाव से, बिना किसी नामवरी, प्रसिद्धि या आडम्बर के न्यायनीति से धन प्राप्त करके दिया जाता है, वह कल्याणकर है। जैसा कि कुरल (२३।६) में स्पष्ट कहा है—

आर्तेभ्यो क्षुधितानां च निर्गमोऽयं शुभावहः।
कार्यश्चो धनिभिर्नित्यमालये वित्तसंग्रहः॥

—'पीड़ितों और क्षुधार्तों की पीड़ा और भूख मिटाने के लिए यही मार्ग शुभा-वह है कि धनिकों को अपने घर में नित्य विशेष करके धन संग्रह कर रखना चाहिए। इसी प्रकार नीतिमान गृहस्थ के लिए मार्गानुसारी के गुणों में अपनी आय में से उचित धन दान करने के लिए या धर्मकार्य में लगाने के लिए निकालने का विधान है। सागारधर्मामृत, धर्म संग्रह तथा योगशास्त्र आदि की टीका में इस प्रकार के कर्तव्य के सम्बन्ध में दो श्लोक मिलते हैं—

पादमायान्निधिं कुर्यात् पादं वित्ताय वर्द्धयेत्।
धर्मोपभोगयोः पादं, पादं भर्तव्यपोषणे॥
आयार्धं च नियुञ्जीत, धर्मे समाधिकं ततः।
शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम्॥

---

२ अविस्मयस्तृणवद् विनिन्द्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्।
पापं तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्॥
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत्।
एते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः॥१०२॥

अर्थात्—सद्गृहस्थ को अपनी न्यायनीति युक्त कमाई के चार भाग करने चाहिए—एक भाग जमा रखे, दूसरा भाग आजीविकादि के कार्य में लगाए, तीसरे भाग से दान-धर्मादि कार्य तथा अपने भोग-उपभोग के कार्य चलाए और चौथे भाग से अपने आश्रितों का पालन-पोषण करे। अथवा अपने कमाये हुए धन का आधा अथवा कुछ अधिक धर्मकार्य में खर्च करे और बचे हुए द्रव्य से यत्नपूर्वक इहलौकिक (कुटुम्ब निर्वाह आदि) सब कार्य करे।

7
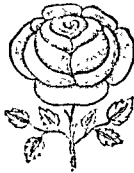
देय-द्रव्य शुद्धि

दान की विशेषता में दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु है—देय द्रव्य का विचार। देय वस्तु मूल्यवान हो, यह महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, किन्तु वह लेने वाले के लिए योग्य, हितकर, सुखकर और कल्पनीय है या नहीं? उस देय द्रव्य से उसे कोई शारीरिक या मानसिक हानि तो नहीं पहुँचेगी? अगर देय द्रव्य कीमती है, किन्तु उससे लेने वाला सन्तुष्ट नहीं है, या वह लेने से आनाकानी करता है तो वह देय द्रव्य उत्तम नहीं है। पाराशर स्मृति में स्पष्ट कहा है—

—कोई दाता किसी त्यागी, तपस्वी, निःस्पृह श्रमण या संन्यासी को सोना दान में देता है, किसी ब्रह्मचारी को शृंगार योग्य वस्तु या ताम्बूल देता है, और चोर आदि दुष्टजनों को शस्त्रादि या अभयदान देता है तो ऐसा दाता नरक में जाता है।[1]

इसी प्रकार कोई व्यक्ति अन्याय-अत्याचार से धन कमाकर या दूसरे से छीन-झपटकर, उस द्रव्य का दान किसी योग्य व्यक्ति को करता है, तो वह देयद्रव्य शुभ नहीं माना जाता। उससे आदाता की भी बुद्धि बिगड़ती है और दाता को भी पुण्य-लाभ नहीं होता।

महाभारत में कौरव सेनापति भीष्मपितामह जब अर्जुन के बाणों से घायल होकर रणभूमि में गिर पड़े तो सारे कुरुक्षेत्र में हाहाकार मच गया। कौरव-पाण्डव पारस्परिक वैर भूलकर उनके पास कुशल पूछने आए। धर्मराज ने रोते हुए रुद्ध कंठ से कहा—"पितामह! हम ईर्ष्यालु पुत्रों को, इस अन्त समय में, जीवन मे उतारा हुआ कुछ ऐसा उपदेश देते जाइए जिससे हम मनुष्य जीवन की सार्थकता प्राप्त कर सकें।" पितामह यह सुनकर होंठ खोलने ही वाले थे कि द्रौपदी के मुख पर एक हास्यरेखा देख कर सभी विचलित हो उठे और वे इस बेतुके हास्य से रोष भरे नेत्रों से द्रौपदी की ओर देखने लगे। पितामह इस हास्य का मर्म समझ गए। वे बोले—"बेटी द्रौपदी! तेरे हास्य का मर्म मैं जानता हूँ। तूने सोचा है—"जब भरे दरबार

---

१ यतिने कांचनं दत्त्वे, ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे।
चौरेभ्योऽप्यभयं दत्त्वे, स दाता नरकं व्रजेत्॥

में दुर्योधन ने साड़ी खींची, तब उपदेश देते न बना। वनों में पशुतुल्य जीवन व्यतीत कर रहे थे, तब सहानुभूति का एक भी शब्द न निकला। कीचक द्वारा लात मारे जाने के समाचार भी शान्तभाव से सुन लिए। रहने योग्य स्थान और क्षुधानिवृत्ति के लिए भोजन मांगने पर कौरवों ने हमें दुत्कार दिया। तब उपदेश याद न आया। सत्य, न्याय और अधिकार की रक्षा के लिए पाण्डव युद्ध करने को विवश हुए, तब सहयोग देना तो दूर रहा, कौरवों के सेनापति बनकर हमारे रक्त के प्यासे हो उठे हैं। और अब, जब पाण्डवों द्वारा मार खाकर जमीन सूंघ रहे हैं, मृत्यु की घड़ियाँ गिन रहे हैं, तब हमें उपदेश देने की हूक उठी है। बेटी! तेरा यह सोचना सत्य है। तू मुझ पर जितना हँसे, उतना ही कम है। परन्तु पुत्री! उस समय पापात्मा कौरवों का दिया हुआ अन्न खाने से मेरी बुद्धि मलिन हो गई थी। किन्तु अब वह अपवित्र रक्त अर्जुन के बाणों ने निकाल दिया है। अतः आज मुझे सन्मार्ग बताने का साहस हो सका है।"

निष्कर्ष यह है कि अन्याय-अनीति से उपार्जित द्रव्य के दान से आदाता की बुद्धि बिगड़ती है। इसलिए देयद्रव्य में यह विवेक तो होना ही चाहिए। साधु-साध्वियों और त्यागियों को दिये जाने वाले द्रव्य के विषय में भी यह विवेक बताया गया है—

—'न्यायागत, कल्पनीय, एषणीय और प्रासुक आहारादि उत्कृष्ट अतिथियों को देना चाहिए।[1]

इसी प्रकार द्रव्य विशेष के लिए तत्त्वार्थभाष्य में संकेत है—

—'अन्न आदि द्रव्यों की श्रेष्ठ जाति और उत्तम गुण से युक्त द्रव्य देना द्रव्य विशेष है।'[2]

सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपाद ने द्रव्य विशेष का लक्षण किया है—

—'जिससे तप और स्वाध्याय आदि की वृद्धि होती है, वह द्रव्य विशेष है।[3]

इसी प्रकार चारित्रसार में भी इस विषय में सुन्दर स्पष्टीकरण किया है—

—'भिक्षा में जो अन्न दिया जाता है, वह यदि आहार लेने वाले साधु के तपश्चरण, स्वाध्याय आदि को बढ़ाने वाला हो तो वही द्रव्य की विशेषता कहलाती है।[4]

मुनियों को जो भी वस्तु दी जाय, उसके लिए रयणसार में विशिष्ट चिन्तन दिया है—

---

१. न्यायागतानां कल्पनीयानामन्नपानादीनां द्रव्याणा……दानम्। —तत्त्वार्थभाष्य
२. द्रव्य विशेषोऽन्नादीनामेव सारजातिगुणोत्कर्षयोगः। —तत्त्वार्थ भाष्य
३. तपः स्वाध्याय परिवृद्धि हेतुत्वादिद्रव्यविशेषः। —त० सर्वार्थ सिद्धि
४. दीयमानेऽन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तपः स्वाध्याय परिवृद्धिकरणत्वाद् द्रव्यविशेषः।

—"हित, मित, प्रासुक, शुद्ध अन्न, पान, निर्दोष हितकारी औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान योग्य वस्तुओं को आवश्यकतानुसार सुपात्र को देता है, वह मोक्षमार्ग में अग्रगामी होता है। औषधदान के विषय में देयद्रव्य का मुनिवरों को किस प्रकार दान देना चाहिए ?[1] इस विषय में कहा है—

(१) मुनिराज की प्रकृति शीत, उष्ण, वायु, श्लेष्म, या पित्तरूप में से कौन-सी है ? कायोत्सर्ग या गमनागमन से कितना श्रम हुआ है ? शरीर में ज्वरादि पीड़ा तो नहीं है ? उपवास से कण्ठ शुष्क तो नहीं है ? इत्यादि बातों का विचार करके उसके उपचारस्वरूप दान देना चाहिए।[2]

(२) प्रासुक, एषणीय, कल्पनीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन, प्रतिग्रह (पात्र), पीठ, फलक (पट्टा), शय्या-संस्तारक (स्थान या आसन), औषध, भैषज्य आदि १४ प्रकार के पदार्थ साधु-साध्वियों को देने योग्य हैं। श्रमणोपासक इन १४ प्रकार के द्रव्य साधु-साध्वियों को प्रतिलाभित करता (देता) हुआ विचरण करता है।[3]

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय और अमितगति श्रावकाचार में भी देयद्रव्य के सम्बन्ध में विवेक बताया है—

(३) जिन वस्तुओं के देने से राग, द्वेष, मान, दुःख, भय आदि पापों की उत्पत्ति होती है, वे पदार्थ दान देने योग्य नहीं हैं।[4] जिन वस्तुओं के देने से तपश्चरण, पठन-पाठन, स्वाध्यायादि कार्यों में वृद्धि होती है, वे ही देने योग्य हैं। वही देयवस्तु प्रशस्त है, जिससे रागनाश होता हो, धर्मवृद्धि होती हो, संयम-साधना का पोषण हो, विवेक जाग्रत होता हो, आत्मा उपशान्त होती हो।

दान ऐसी वस्तु का नहीं देना चाहिए, जो लेने वाले के लिए घातक हो, अहितकारक हो या हानिकारक हो।

जैसे कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु दान में दे देता है, जो सड़ी, बासी या दुर्गन्धयुक्त

---

१ हियमियमन्नपाणं णिरवज्जोसहिं णिराउलं ठाणं।
सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देइ मोक्खपहो॥ —र० सा० २४

२ सीउण्हवाउविउलं सिलेसियं तह परीसमव्वाहिं।
कायकिलेसुव्वासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं॥

३ फासुय-एसणिज्जं, कप्प असण-पाणं-खाइमं, साइमं, वत्थ, कंबल-पडिग्गह-पाय-पुंछणपीढ-फलग, सेज्जा-संथारएणं ओसह-भेसज्जेण पडिलाभेमाणे विहरइ।
—(सूत्र० भगवती, एवं उपासकदशा में)

४ राग-द्वेषासंयम-मद-दुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम्॥ —पु० सि० उ० १७०

हो, उससे लेने वाले का स्वास्थ्य खराब होता है, देने वाले की भी भावना विपरीत होती है इस प्रकार सड़ी चीज दान देने वाले को भविष्य में उसका कटुफल भोगना पड़ता है। लेने वाला कई बार अपनी जरूरत के मारे ले लेता है, परन्तु अगर वह खाद्यवस्तु बिगड़ी हुई हो तो उसके स्वास्थ्य को बहुत बड़ी क्षति पहुँचाती है। उसे लेने के देने पड़ जाते हैं। परन्तु कुछ दाता अपनी कृपणता की वृत्ति से लोभवश जो चीज सड़ी-गली बासी या फेंकने लायक चीजों को दान दे देता है, जिससे नाम भी हो और फेंकनी भी न पड़े। परन्तु ऐसे कृपण या लोभी दानियों को भी कभी-कभी किसी विचारवान की प्रेरणा मिल जाती है।

काशी की पुण्यभूमि मे सेठ लक्ष्मीदत्त का अन्न सत्र चलता था। वहाँ सैकड़ों अभावग्रस्त व्यक्ति भोजन करते थे। कुछ लोग आटा आदि लेकर स्वयं अपने हाथ से पकाते थे। लोगों की भीड़ को देखकर और प्रशंसा सुनकर सेठजी फूले नहीं समाते थे। सेठ के अनाज का व्यापार था। गोदाम में पुराना सड़ा-गला अनाज बचा रहता। सेठजी पुण्य लूटने एवं प्रशंसा पाने के लिए यही सड़ा अनाज अपने अन्नसत्र में भेज देते थे। उन्हें दान का यह तरीका लाभप्रद प्रतीत होता था। सेठजी के पुत्र का विवाह हुआ। घर में बहू आई, बड़ी विनीता, विचक्षणा और धर्ममर्मज्ञा। उसने कुछ ही दिनों में घर का सारा कामकाज सम्भाल लिया। एक दिन वह सेठजी के अन्नसत्र पर पहुँच गई। उसने देखा कि जो रोटियाँ अन्नसत्र मे दी जाती हैं वे काली मोटे-आटे की और रद्दी-सी दी जाती है और आटा भी वैसा ही दिये जा रहा है। उसने अन्नसत्र के प्रबन्धक से बातचीत की तो वह बोला—सेठजी गोदाम से ऐसा ही अनाज भेजते हैं, हम क्या करें ?" पुत्रवधू को सेठजी के इस व्यवहार से बड़ा खेद हुआ। वह अन्नसत्र से थोड़ा-सा आटा अपने साथ घर पर ले आई और उसी सड़े आटे की मोटी काली रोटी बनाकर उसने सेठजी की थाली में परोसी। पहला कौर मुंह में लेते ही थू-थू करते हुए सेठ लक्ष्मीदत्त बोले—"बेटी ! क्या घर में और आटा नहीं है ? यह सड़ी जवार का आटा तूने कहाँ से मंगवा लिया ? क्या घर में अच्छा आटा समाप्त हो गया ?" बहू ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहा—"पिताजी ! आपने जो यहाँ अन्नसत्र खोल रखा है, मैं कल उसे देखने गई थी। वहाँ तो भूखों व याचकों को ऐसे ही आटे की रोटी बनाकर दी जाती है। मैंने सुना है कि परलोक में वैसा ही मिलता है, जैसा यहाँ दिया जाता है। दानवीर कहलाने के लिए वर्ष के अन्त में आपकी दूकान में जो न बिकने योग्य घुन लगा हुआ सड़ा अन्न बचा रहता है, उसे ही अन्नसत्र में भेजते हैं। बेचारे भूखे लोग पेट की आग बुझाने के लिए खा लेते हैं। किन्तु मुझे विचार आता है कि आप उसे कैसे खा सकेंगे, जब परलोक में आपको भी ऐसी ही रोटी सदा मिला करेगी। इसलिए आज मैंने अन्नसत्र से आटा मंगाकर उसकी रोटी बनाकर परोसी है, जिससे आपको अभी से ऐसी रोटी खाने का अभ्यास हो जाय और परलोक में भी अगर ऐसी रोटी मिलेगी तो आपको उससे घृणा नहीं होगी।" बहू की इस बात का सेठजी के हृदय पर इतना अच्छा प्रभाव

पड़ा कि उसी समय उन्होंने अन्नसत्र का सारा अन्न फिकवा दिया और अच्छे अन्न का प्रबन्ध कर दिया।" इस प्रकार पुत्रवधू के विनयपूर्ण साहस ने सेठ का हृदय बदल दिया। उनका अहंभाव भी नष्ट हो गया और सात्त्विक दान धारा प्रवहमान हो उठी।

इसी प्रकार दान में ऐसी वस्तु भी न दी जाये जो पात्र के लिए हानिकारक हो, प्राण-घातक हो। कई बार लोग अपनी दानवीरता की प्रसिद्धि के लिए ऐसी हानिकारक एवं फालतू जमीन, अन्य पदार्थ या खाने की चीजें दे दिया करते हैं। भूदान के सिलसिले में जब सन्तविनोबा और उनके कार्यकर्ता भारत के विभिन्न प्रान्तों में पदयात्रा करते हुए लोगों को भूमिदान की प्रेरणा देते थे, तब बहुत-से जमींदारों ने अपनी फालतू पड़ी हुई बंजरभूमि भूदान में दे दी। बहुत-से लोग अन्धे या विक्षिप्त याचकों को अपने पास फालतू पड़े हुए और न चलने वाले खोटे सिक्के दे देते हैं। कई बार ऐसे दान, जो प्राणघातक होते हैं, दाता और आदाता दोनों का अनिष्ट कर डालते हैं। आदाता का तो उस प्रकार के पदार्थ के खाने से एक ही बार प्राणान्त होता है, लेकिन दाता को तो उस कुत्सित दान के फलस्वरूप बार-बार अनन्त संसार में असंख्य वर्षों तक जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण और दारुण दुःख का सामना करना पड़ता है। ज्ञाताधर्मकथांग में उल्लिखित नागश्री ब्राह्मणी के द्वारा धर्मरुचि जैसे पवित्र महान् अनगार को कड़वा तुम्बा दान में देने का जिक्र हम पहले कर चुके हैं। नागश्री के द्वारा यद्यपि उत्कृष्ट सुपात्र को दान दिया गया था, किन्तु देय वस्तु प्राणघातक तक थी, और दाता नागश्री के भाव भी कुत्सित थे, इसलिए देय-वस्तु के घृणित होने से सारा दान दूषित हो गया। और उसे नरक की यात्रा करनी पड़ी। जैसे गंजे व्यक्ति को कंघा देना और अन्धे व्यक्ति को दर्पण देना निरर्थक है, इसी प्रकार जो वस्तु जिसके लिए योग्य न हो, उसे उन अयोग्य अनावश्यक और अनुपयोगी वस्तुओं का दान देना भी निरर्थक है।

जो वस्तु स्वयं श्रम से अर्जित हो, न्यायप्राप्त हो, नीति की कमाई से मिली हो, वह देय वस्तु अधिक बेहतर है, बनिस्पत उसके कि जो अन्याय-अनीति से उपार्जित हो या दूसरों की मेहनत से निष्पन्न हो या दूसरों के हाथ से बनी हुई हो। आचार्य हेमचन्द्र को सांभर नगर में निर्धन धन्ना श्राविका द्वारा अपने हाथ से काते हुए सूत की बनी हुई मोटी खुरदरी खादी की चादर का भावपूर्वक दिया गया दान कुमारपाल राजा के रेशमी चादर के दान की अपेक्षा भी बेहतर लगा। वास्तव में धन्ना श्राविका द्वारा दी गई चादर के पीछे उसका अपना श्रम, श्रद्धा और भक्तिभाव था।

देय वस्तु के दान के पीछे भी दाता की मनोवृत्ति उदार और निःस्वार्थी होनी चाहिए, न कि अनुदार और दान के बदले में कुछ पाने की लालसा से युक्त।

मनुष्य का सद्भाव और दुर्भाव देयद्रव्य के दान को सफल या विफल बना देता है। जगत् में ऐसे बहुत-से लोग हैं, जो किसी आकांक्षा, वाञ्छा, स्वार्थ या प्रसिद्धि

आदि की आशा से हिचकते हुए देय द्रव्य देते हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जो उदार भावना के साथ, किसी प्रकार की स्पृहा या आकांक्षा के बिना करुणा या श्रद्धा से प्रेरित होकर उमंग से देय द्रव्य देते हैं। पहले का देय द्रव्य विकार भाव मिश्रित होने से फलीभूत नहीं होता, जबकि दूसरे का देय द्रव्य निर्विकार भाव से युक्त होने से सफल हो जाता है।

ये देयद्रव्य अधिक फलवान नहीं

बहुत-से लोग अपना बड़प्पन प्रगट करने के लिए अथवा कुल परम्परागत, वर्णपरम्परागत एवं कुरूढ़िगत बातों को लेकर प्राचीनकाल में ब्राह्मणों को हाथी, घोड़े, क्षत्रियों को शस्त्र-अस्त्र आदि दान दिये जाते थे। परन्तु इस प्रकार के देय-द्रव्य का दान मोक्ष फलदायक तो होता ही नहीं। प्रायः पुण्यफलदायक भी नहीं होता। क्योंकि पुण्यफल प्राप्ति के लिए भी शुभ भावना का होना अनिवार्य है।

इसीलिए पद्मनन्दिपंचविंशतिका में इस विषय में स्पष्ट संकेत किया है—'आहारादि चतुर्विध दान के अतिरिक्त गाय, (अन्य पशु) सोना, पृथ्वी, रथ, स्त्री आदि के दान महान् फल को देने वाले नहीं हैं।[1]

बहुत-से लोग दान शब्द की महिमा सुनकर या दान से प्रसिद्धि प्राप्त होती देखकर स्त्री, या कन्या का दान, स्त्रियों को ऋतुदान, पुत्रदान आदि विषय-वासना-वर्द्धक वस्तुओं के दान में प्रवृत्त होते हैं। कुछ धर्म और धर्मशास्त्रों के तथाकथित उपदेशक भी कन्यादान, स्त्रीदान, ऋतुदान, पुत्रदान आदि लौकिक स्वार्थवर्द्धक बातों को पुण्यफलजनक बताकर विषयलोलुप जीवों को भ्रम में डालकर इस प्रकार के दान की महिमा बताते हैं, अथवा भोलेभाले लोगों को ऐसे दानों का महत्व समझाकर स्वयं इस प्रकार के दान लेने में प्रवृत्त हो जाते हैं किन्तु जिन वस्तुओं के देने से हिंसा(प्राणिघात) विषयवृद्धि, वासनावृद्धि, ममत्व, मोह, कषाय, कलह आदि की पापकर्म-वृद्धि होती हो, उन देयद्रव्यों का दान निष्फल और साथ ही पापवर्द्धक समझना चाहिए।

तीर्थस्थानों में कुलपरम्परागत रूढ़िवश गोदान या अन्य दानों का महत्त्व बताकर कुछ स्वार्थी लोग दान लेते हैं, उनसे प्रत्येक धर्मपरायण, दानविवेकी दाता को सावधान रहना है। जैनश्रावक के लिए तो यह प्रत्यक्ष मिथ्यात्व है। इसी प्रकार हिंसक या पशुबलि वाले तथाकथित देवी-देवों के स्थानों में बकरे, भैंसे आदि का दान भी पापकर्म-वर्द्धक है। युद्ध या अन्य किसी व्यक्ति का वध करने के लिए दिया गया शस्त्र-अस्त्र, मूसल आदि का दान भी दाता और आदाता दोनों के लिए हितकर नहीं है। इसी कारण सागारधर्मामृत में नैष्ठिक श्रावक के लिए हिंसा के निमित्त भूत पदार्थों का दान निषिद्ध किया है—'नैष्ठिक श्रावक प्राणिहिंसा के निमित्तभूत हों ऐसे

---

१ नान्यानि गो-कनक-भूमि-रथांगनादिदानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात्।
—पद्मनन्दि पंचविंशति २/५०

भूमि, घर, लोहा, शस्त्र, गौ, बैल, घोड़ा वगैरह पशु, ग्रहण, संक्रान्ति, श्राद्धादि परम्परागत रूढ़िगत दान में ऐसे द्रव्यों को न दें।[1]

इन सबका निष्कर्ष यह है कि विवेकी दाता ऐसे द्रव्यों का दान कदापि न करे, जो प्राणिहिंसाजनित हों, अथवा जीववध का निमित्त हो, यानी जिससे दान लेने वाला व्यक्ति किसी प्रकार की हिंसा करे, या अन्य कोई पापकर्म करे। जो पुरुष ऐसे पदार्थ दान देते हैं, जिनसे लेने वाले के द्वारा उन वस्तुओं के सेवन में जीवहिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, ममत्ववृद्धि, विषयवासना वृद्धि, कषायोत्तेजना, मोहवृद्धि आदि अनेक पापकर्मों का उपार्जन होता हो, वे दाता और उनको इस प्रकार के पापोत्तेजक द्रव्यों के दान की प्रेरणा करने वाले एवं पापकर्म में सहायक पाप के अधिकारी माने जाते हैं। इसलिए दाता को दान के योग्य-अयोग्य पदार्थों का पूर्ण विवेक करके ही दान देने में प्रवृत्त होना चाहिए।

सच तो यह है कि देयद्रव्य भी दान की महिमा एवं फल को बढ़ाने-घटाने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा करता है। इसीलिए विशिष्ट देयद्रव्य के देने से दान में विशेषता आ जाती है। योग्य और विशिष्ट देयद्रव्य के कारण दान में चमक आ जाती है। जैसे मिट्टी मिले हुए सोने को शुद्ध करके पॉलिश कर देने पर उसमें चमक-दमक आ जाती है, वैसे ही देयद्रव्य में विवेक और भावों की पॉलिश चढ़ा देने पर दान में भी चमक-दमक आ जाती है। संगम ग्वाले ने केवल खीर ही तो दी थी, किन्तु उस खीर के दान पर उदात्तभावों की पॉलिश लग जाने के कारण खीर का वह दान पुण्य की प्रबलता को लेकर चमक उठा। वह जैन इतिहास में प्रसिद्ध हो गया। उसका परिणाम शालिभद्र के रूप में साकार हो उठा।

---

१ हिंसार्थत्वान्न भू-गेह-लोह, गोऽश्वादि नैष्ठिकः।
न दद्याद् ग्रह-संक्रान्ति-श्राद्धादौ वा सदृग् द्रुहि ॥ —सा० धर्मामृत ५/५३

8
दान में दाता का स्थान

संसार में दाता का बहुत बड़ा स्थान है। उसका नाम भी प्रातःस्मरणीय होता है। कृपण का नाम सुबह-सुबह कोई नहीं लेना चाहता। दाता का नाम सभी की जबान पर चढ़ जाता है। उससे किसी को प्रायः द्वेष या वैर नहीं होता। यह स्वाभाविक है कि दाता सदैव याचक या आदाता से उच्च स्थान पाता है। जिस समय वह दान देने लगता है, उस समय की स्थिति को देखिए, दाता का हाथ ऊपर रहेगा, आदाता (लेने वाले) का हाथ नीचे। अभिज्ञान शाकुन्तल में इसी बात को सूचित करते हुए कहा है—[1]"एक (दाता) का हाथ ऊँचा रहता है और एक (याचक) का हाथ नीचा रहता है। ऊँचा-नीचा रहकर हाथों ने दाता और याचक का अन्तर दिखला दिया कि दाता का स्थान ऊँचा है और याचक का नीचा।" प्रकृति जगत् में भी देखा जाता है कि जो दाता है, उसका स्थान ऊँचा रहता है और जो केवल संग्रह करके ही रखता है, उसका नीचा है। बादल अपनी जल सम्पदा को लुटाता रहता है, प्यासी धरती को, पेड़ों को, पशु-पक्षियों को, मनुष्यों को, यहाँ तक कि समस्त प्राणियों को अपनी जल-सम्पदा बरसा-कर अपनी उदारता का परिचय देता है, बदले में उनसे कुछ नहीं चाहता। इसीलिए[2] जलदाता मेघ का स्थान आकाश में ऊँचा है और जो अपनी जलनिधि को देता नहीं, संचित ही संचित करके रखता है। नदियों से, तालाबों से, बादलों से या अन्य जलाशयों या जलस्रोतों से जितना भी पानी मिलता है, लेता ही लेता रहता है, उस जलधि—समुद्र का क्या हाल होता है? वह नीचा ही रहता है, पृथ्वी पर ही स्थित रहता है।

दूसरी बात यह है कि जो देता है, उसकी वह सम्पदा भी मधुर रहती है, जबकि जो देता नहीं, संग्रह करके रखता है, उसकी सम्पदा भी खारी (कटु) हो जाती है। बादल देता है, इसलिए उसकी जलसम्पदा मधुर रहती है, शुद्ध रहती है,

---

१ एकेन तिष्ठताऽधस्तादेकेनोपरितिष्ठता।
दातृ-याचकयोर्भेदः कराभ्यामेव सूचितः॥

२ स्थितिरुच्चैः पयोदानां पयोधीनामधःस्थितिः।
गौरवं प्राप्यते दानात्, न तु वित्तस्य संचयात्॥

लेकिन समुद्र देता नहीं, संग्रह करके रखता है, इसलिए उसे मीठा जल मिलने पर भी उसकी जलसम्पदा खारी हो जाती है। उसमें अनेक खनिज पदार्थ मिल जाते हैं, जिससे उसका पानी भी दूषित हो जाता है। झरने और नदी आदि अपना पानी देते रहते हैं, इसलिए उनका पानी भी निर्मल रहता है और मधुर रहता है। इसी प्रकार दाता का स्थान भी समाज और राष्ट्र में सदैव ऊँचा रहता है। उसका व्यवहार प्रायः मधुर रहता है, इससे उसकी धन-सम्पदा भी प्रायः मधुर और वर्धमान रहती है। जबकि कृपण एवं धन जोड़-जोड़ कर रखने वाले का स्थान सभा-सोसाइटियों में कभी ऊँचा नहीं रहा। कोई उसे उच्च पद या उच्चस्थान देना नहीं चाहता। और उसका व्यवहार भी साधारण जनता के साथ प्रायः मधुर नहीं होता, इसलिए उसकी धनसम्पदा के साथ परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लोगों की मानसिक कटुता रहती है, उसे सुपात्रों या पात्रों के आशीर्वाद नहीं मिलते। प्रायः कृपण के पास शोषण और अनीति से धन जमा होता है, इसलिए उसके धन के साथ शोषितों और पीड़ितों के अन्तर की आहें जुड़ी रहती हैं।

सूर्य और चन्द्रमा सारे संसार को प्रकाश देते हैं, इसलिए उनका स्थान आकाश में ऊँचा है। दीपक और बल्ब आदि भी प्रकाश देते हैं, इसलिए इनके प्रकाश से लाभ उठाने वाले या प्रकाश लेने वाले लोग इन्हें ऊँचे स्थान पर रखते हैं, तभी इनसे ठीक तरह से प्रकाश ग्रहण किया जा सकता है। यही बात जगत् में दाता के सम्बन्ध में है, सभा-सोसाइटियों में दाता को सम्मानप्रद उच्च स्थान पर नियुक्त करके या उच्च स्थान पर बिठा कर ही उससे धन का लाभ लिया जाता है। ऋग्वेद में दाता की महिमा बताते हुए कहा है—

(१) दानियों के पास अनेक प्रकार का ऐश्वर्य होता है। दाता के लिए ही आकाश में सूर्य प्रकाशमान है। दानी अपने दान से अमृत पाता है, वह अत्यन्त दीर्घायु प्राप्त करता है।[1] महाभारत में बताया गया है कि (२) "इस संसार में कई प्रकार के शूर होते हैं, अन्य बातों में शूरवीर तो इस लोक में सैकड़ों की संख्या में गिन सकते हैं, लेकिन उनकी गिनती करते समय दानशूर ही विशेषता की गणना में आते हैं।"[2] नीतिकारों ने उदार व्यक्ति को मनुष्यों में अग्रगण्य बताते हुए कहा—(३) 'वही एकमात्र मनुष्यों में अग्रणी है, जो त्याग (दान) से युक्त हाथ से याचकों (प्रार्थियों) के प्रार्थना के कारण धूलिधूसरित विवर्ण मुख को पोंछता है।'[3] मतलब

---

१ दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा, दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते, दक्षिणावन्त प्रतिरन्त आयुः ॥ १।१२५।६

२ शूरा वीराश्च शतशः सन्ति लोके युधिष्ठिरः।
तेषां संख्यायमानानां दानशूरो विशिष्यते ॥

३ नृणां धुरि स एवैको यः कश्चित्त्यागपाणिना।
निर्माष्टि प्रार्थनापांसुधूसरं मुखमर्थिनाम् ॥

यह है कि जो दीनदुःखियों को अपने हाथ से भावपूर्वक दान देकर उनके आँसू पोंछता है, वही अग्रगण्य मनुष्यों की गणना में आता है।

राजा कर्ण संसार का बहुत बड़ा दानी हो गया है। भारतवर्ष में हिन्दू समाज में प्रायः आम मान्यता प्रचलित है कि प्रातःकाल की वेला राजा कर्ण का नाम लेने की है, इस अमृतवेला में कलह, झगड़ा, कटुकथन या क्रोधादि नहीं करना चाहिए। कर्मयोगी श्रीकृष्ण भी कर्ण की दानवीरता की प्रशंसा करते थे। कहते हैं—राजा कर्ण ने एक याचक को अपने पास आए देख, सोचा—"इस समय मेरे पास और तो कुछ नहीं है, क्या दूं! सोचते-सोचते उसे विचार आया कि महल के कपाटों में लगा हुआ चन्दन तो है, इसे ही क्यों न दे दिया जाए। अतः उन्होंने अपने सेवक से कहकर महल तुड़वाया और कपाटों में लगा चन्दन याचक को देकर सन्तुष्ट किया।

महाभारत में जिक्र आता है कि एक बार इन्द्र ब्राह्मण रूप में कर्ण के पास पहुँचे और उसके कवच और कुण्डल माँगे, जो उसके प्राणसमान थे, तथा सूर्य से प्राप्त हुए थे। फिर भी दानवीर कर्ण ने याचक इन्द्र को वे दोनों बहुमूल्य पदार्थ प्रसन्नता पूर्वक दे दिये।

वास्तव में कर्ण का दान अद्‌भुत था। इसी कारण वह मनुष्यों में ही नहीं, दानियों में भी शिरोमणि माना गया था। उदारदाता के हृदय में याचक के प्रति करुणा भी होती है, और यह श्रद्धा भी होती है कि कौन किसके द्वार पर याचना करने आता है। जब यह बड़ी आशा से आया है तो इसे निराश करके लौटाना अच्छा नहीं है। और तीसरी विशेषता जो उनके जीवन में होती है, वह यह कि वह सुपात्र या पात्र याचक को देखकर सोचता है, मुझे इस महानुभाव ने अपनी सम्पत्ति या साधनों का दान देकर सदुपयोग करने का उत्तम अवसर दिया, यह भी मुझ पर महान् अनुग्रह किया है। इसीलिए नीतिकार कहते हैं—

'याचक को इन्कार करने के लिए सत्पुरुषों की जीभ जड़ हो जाती है।'[1]

'कर्ण ने त्वचा, शिबि ने मांस, जीमूतवाहन ने जीव और दधीचि ऋषि ने अपनी हड्डियाँ दान में दे दी क्योंकि महापुरुषों के पास न देने योग्य कुछ होता ही नहीं।'[2]

महान् दाता : प्रत्याशा से दूर

दाता के विषय में विचार करते समय यह तो मानकर चलना चाहिए कि वही दाता अपने दान में सफल होगा जो विधि, द्रव्य और पात्र उत्तम होने के बावजूद भी अपने आप में निःस्वार्थ, निष्काम और सच्चा होगा। जो दाता पात्र से किसी न

---

१ 'याचितारं निराकर्तुं सतां जिह्वा जड़ायते'।

२ कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः।
दधौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम्॥

किसी प्रकार की स्पृहा या लौकिक स्वार्थ अथवा इहलौकिक या पारलौकिक फला-कांक्षा रख कर दान देगा, वह वास्तव में सच्चा दाता नहीं माना जाएगा। नीति-वाक्यामृत में कहा गया है—'वही दाता महान है जिसका मन प्रत्याशा से उपहत नहीं है।'[1]

ऐसा दाता अगर नीचे स्थान में भी बैठा होगा, अथवा निम्न कुल में भी पैदा होगा, तो भी जनता उसकी सेवा में पहुँच जाएगी। प्रसंग रत्नावली में कहा है—'दाता छोटा होने पर भी उसकी सेवा की जाती है, लेकिन फल न देने वाले महान् व्यक्ति की नहीं की जाती। यह प्रत्यक्ष देख लो, जल पीने का इच्छुक समुद्र को छोड़ कुएँ की सेवा करता है, भले ही जमीन में बहुत नीचा और गहरा हो।[2]

जो वृक्ष फलदार हो, वह चाहे बड़ा न हो, सघन न हो फिर भी लोग उसकी सेवा में पहुँच जाते हैं, किन्तु जो वृक्ष केवल घना हो, फल न देता हो, उसके पास बहुधा नहीं जाते। जो गाय दूध देने वाली होती है, उसके पास दुग्धार्थी पहुँच जाते हैं, उसका सत्कार भी करते हैं, किन्तु जो गाय बूढ़ी व दूध न देने वाली होती है, उसकी सेवा कम ही करते हैं। इसी प्रकार निम्न जातीय दाता भी उच्च भावना के फलस्वरूप उच्च कोटि का दाता कहलाता है, वह मानवतावादी होता है और अपने गाढ़े पसीने की कमाई से प्राप्त धन में से दान देता है।

यह सच है कि दाता अगर स्वावलम्बी, श्रमनिष्ठ हो, मानवता युक्त हो तो वह चाहे जिस जाति का हो, सर्वत्र सम्मानित होता है।

किन्तु ऐसे सच्चे दाता विरले ही होते हैं। अधिकांश दाता तो सम्मान चाहते है, कोई न कोई स्वार्थ सिद्धि करना चाहते हैं अथवा किसी स्पृहा से देते हैं। इसीलिए तो स्मृतिकार व्यास को कहना पड़ा—'शूरवीर सौ में से एक होता है, पण्डित हजार में से एक होता है, और वक्ता दस हजार में से एक होता है, लेकिन दाता तो क्वचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता।'[3]

प्रश्न होता है—दाता इतना दुर्लभ क्यों? इसके उत्तर में यही कहना होगा कि वैसे तो बरसाती मेंढकों की तरह किसी न किसी स्वार्थ, पुण्योपार्जन या किसी मतलब से हजारों दाता मिल जायेंगे पर सच्चा निःस्पृहदाता कोई विरला ही मिलेगा।

चन्दचरित्र में दाताओं का वर्गीकरण तीन भागों में किया गया है, इस पर से पाठक अनुमान लगा सकेंगे कि उच्च कोटि का दाता कैसा होता है?

---

१ स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहतं चेतः।

२ दाता नीचोऽपि सेव्यः स्यात् निष्फलो न महानपि।
जलार्थी वारिधिं त्यक्त्वा, पश्य कूपं निषेवते॥

३ शतेषु जायते शूरः, सहस्रेषु च पण्डितः।
वक्ता दशसहस्रेषु, दाता भवति [illegible]।

'उत्तमदाता याचक के बिना माँगे ही देता है, मध्यम माँगने पर देता है, किन्तु वह अधमाधम है, जो माँगने पर भी नहीं देता।'[1]

उत्कृष्ट दाता के रूप में हम राजा हर्षवर्धन का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं—राजा हर्षवर्धन (शिलादित्य) स्वयं को राजा न मानकर स्वयं को अपनी बहन राज्यश्री का प्रतिनिधि मानते थे। राज्यश्री का कहना था—प्रयाग की पावनभूमि महादानभूमि है। यहाँ से कुछ भी घर लौटा ले जाना अनुचित है। प्रयाग में कुम्भ मेले पर राजा द्वारा मोक्ष सभा के आयोजन में देश के विभिन्न प्रान्तों से समागत बौद्ध भिक्षुओं, विद्वान् सनातनी साधुओं, ब्राह्मणों एवं सन्यासियों के आवास-भोजनादि की व्यवस्था की जाती थी। एक महीने तक धर्मचर्चा चलती थी। राज्यश्री ने हर्ष राजा के द्वारा सर्वस्वदान की घोषणानुसार धन, आभूषण, वस्त्र, वाहन आदि सर्वस्व दान कर दिया। अधोवस्त्र के सिवाय शरीर पर पहने हुए वस्त्र तक राज्यश्री ने सेवकों को दे दिये। लेकिन उसे तब चौंकना पड़ा, जब उसके भाई सम्राट् हर्ष केवल धोती पहने उत्तरीय वस्त्राभूषणरहित उसके सम्मुख आकर बोले—'बहन! हर्ष तुम्हारा राज्यसेवक है। यह अधोवस्त्र नापित को दे देने का संकल्प कर चुका है। क्या अपने सेवक को एक वस्त्र नहीं दोगी?' सुनकर राज्यश्री के नेत्र भर आए। उसके स्वयं के शरीर पर सिर्फ एक साड़ी बची थी, लज्जा निवारणार्थ। ढूँढ़ा तो एक फटा-पुराना वस्त्र शिविर में पड़ा मिला, वह वस्त्र हर्ष ने ले लिया, और उसने अपनी धोती नापित को दे दी। इसके बाद तो यह परम्परा ही चल पड़ी, हर छठे वर्ष राज्यश्री से माँग कर हर्ष एक चिथड़ा लपेट लेते। भारत का वह सम्राट् अनावृत देह कुम्भ की भरी भीड़ में बहन के साथ पैदल विदा होता, उस समय उस महादानी की शोभा दर्शनीय होती थी।

जैन आगम एवं ग्रन्थों में ऐसे उत्तम दाताओं के अनेक उदाहरण आते हैं जिन्होंने उत्तम पात्र को पाकर अपना सब कुछ जो सबसे अत्यन्त प्रिय था वह भी दे डाला। शालिभद्र पूर्वभव में संगम ग्वाला था और उसने मुनि को खीर का जो दान दिया वह वास्तव में ही उत्तम दान था जिसके प्रभाव से वह अपार ऐश्वर्यशाली बना। उसके दान में प्रतिदान व प्रतिफल की कोई आकांक्षा नहीं थी, सिर्फ पवित्र भावना की एक लहर थी जो आत्म-सागर से उठी और उसी में लीन होगई।

मध्यमदाता याचक को भावना से देता है, जरूरत के अनुसार देता है, योग्य वस्तु भी देता है, पर देता है—याचक के माँगने पर। इसमें याचक जरा अपमान महसूस करता है, और दाता में थोड़ा-सा गर्व का लेश भी आ जाता है। हालांकि वह याचक (आदाता) का अपमान नहीं करता, किन्तु याचना के बाद ही दान धारा की वृष्टि दान की विशेषता को कुछ फीकी कर देती है।

---

१ उत्तमोऽप्रार्थितो दत्ते, मध्यमः प्रार्थितः पुनः।
याचकैर्याच्यमानोऽपि, दत्ते न त्वधमाधमः॥

एक बार पं० मदनमोहन मालवीय मद्रास के एक धनाढ्य के यहाँ 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' के लिए चंदा लेने गये। उस धनिक ने मालवीय को ४० हजार रु० का चैक काटकर दे दिया। मालवीय जी ने वह चैक देखा नहीं, उसे लेकर वे सीधे अपने निवासस्थान पर आए। वहाँ जब उन्होंने चैक देखा तो नौकर के साथ तुरन्त वह चैक वापिस लौटाया, साथ ही एक पत्र भी लिखा कि 'बहुत बड़ी आशा से मैं आपके यहाँ आया था।' धनिक ने मालवीयजी का पत्र पढ़कर उस चैक में एक शून्य बढ़ा दिया। अर्थात् दान की रकम ४० हजार के बदले ४ लाख हो गई। इस चैक के मिलते ही मालवीय जी ने उस उदार धनिक के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए लिखा—'एक जबर्दस्त शून्य बढ़ाने के लिए मेरे धन्यवाद स्वीकारिये।' सचमुच यह दान भी कम महत्त्वपूर्ण न था।

किन्तु कई मम्मण सेठ सरीखे अनुदार और कृपण भी होते हैं, जो दान से दूर और बटोरने में शूर होते हैं। वे न तो किसी को देना जानते हैं, और न ही स्वयं अपने शरीर के लिए आवश्यक खर्च करते हैं। ऐसे लोग मरने के बाद एक ही साथ सारा धन दे जाते हैं, क्योंकि वह सारा धन उनके मरने के बाद यहीं पड़ा रह जाता है। व्यास स्मृति में कृपण के लिए व्यंग्य कसा गया है—

अदाता कृपणस्त्यागी, धनं संत्यज्य गच्छति।
दातारं कृपणं मन्ये, न मृतोऽप्यथ मुंचति॥"

अदाता-कृपण पुरुष ही वास्तव में त्यागी है, क्योंकि वह धन को यहीं छोड़कर चला जाता है, दाता को तो मैं कृपण मानता हूँ, क्योंकि वह मरने पर भी धन को नहीं छोड़ता; अर्थात् पुण्य रूप धन उसके साथ ही जाता है।

वृत्ति के अनुसार तीन प्रकार के दाता

इसी प्रकार वृत्ति के अनुसार दाता के तीन प्रकार बताये गये हैं—

(१) ऐसा दाता, जो स्वयं तो सुस्वादु भोजन करे, परन्तु दूसरों को अस्वादु भोजन दे, वह दानदास है।

(२) जो जिस प्रकार का स्वयं खाता है, वैसा ही दूसरों को देता है, या खिलाता है, वह दानसहाय है और।

(३) जो स्वयं जैसा खाता है उससे अच्छा दूसरों को खिलाता या देता है, वह दानपति है।

वास्तव में वही दानवीर है, जो स्वयं कष्ट सह कर या रूखासूखा खाकर या स्वैच्छिक गरीबी में रहकर दूसरों को सुख देता है, अपना धन मुक्तहस्त से योग्यपात्र को देता रहता है। इस संसार में कई प्रकार की रुचि, वृत्ति और दृष्टि के लोग होते हैं। कई लोग ऐसे होते हैं, जो दाता बनने का दम भरते हैं, लेकिन उनके जी से अच्छी चीज उतरती नहीं। वे दान देते समय सौदेबाजी या कंजूसी करते हैं।

एक पण्डितजी थे। एक भक्त से उन्हें दान-दक्षिणा लेनी थी। इसलिए चन्दन के तिलक के बदले भक्त के मिट्टी का तिलक करते हुए बोले—'गंगाजी की मृत्तिका, चन्दन करके मान।" भक्त भी कम नहीं था। उसने भी पण्डित को दक्षिणा में मेंढकी देते हुए कहा—"गंगाजी की मेंढकी, गैया करके जान।' तात्पर्य यह कि जैसा आदाता था, वैसा ही दाता मिल गया।

खलीफा ऊमर, जो हजरत मुहम्मद साहब के शिष्य थे। उनके समय में ईरान देश जीता गया था। सेना नायक ने जीत में मिला हुआ सारा धन खलीफा के आगे रखा। खलीफा ने स्वयं एक कौड़ी भी न रखकर सारा धन गरीबों को बांट दिया। उसमें मणि-जटित एक कीमती गलीचा था, जिसे सेनापति ने उन्हें नमाज पढ़ने के लिए रख लेने का आग्रह किया। परन्तु खलीफा को उस कीमती गलीचे पर बैठकर नमाज पढ़ने में ग्लानि आती थी, उन्हें दो तीन दिन तक नींद भी न आई। अतः उन्होंने उसे भी यहूदी व्यापारियों को बेच डाला और उसके जो रुपये मिले, उन्हें समानरूप से गरीबों में बाँट दिये। स्वयं ऊँट के बने कंबल पर बैठकर नमाज पढ़ने लगे। यह था दानसहाय दाता का रूप!

कुछ दाता ऐसे भी होते हैं, जो स्वयं धनिक होते हैं, उनके अपने व्यापार धन्धे में आमदनी भी अच्छी होती है, फिर भी वे स्वयं किसी प्रकार की मेहनत करके यह आय गरीबों में बांट देते हैं। वे भी दानसहाय दाता की कोटि में ही गिने जायेंगे।

कहा जाता है कि मेवाड़ के राणा भीमसिंहजी एक बार संकट में पड़ गए। तब किसी ने उन्हें सलाह दी कि 'अब अपनी दानशीलता में कटौती करो।' इस पर उन्होंने कहा—'मैं भोजन व कपड़ों में कमी कर सकता हूँ, पर दान देने में नहीं।'

वि० संवत् १६५३ में जब भयंकर दुष्काल पड़ा, उस समय देवगढ़ के राव साहब किसनसिंहजी थे, उनके कोठार में कामदार थे—चन्दनमलजी मेहता। अन्न के दाने के लिए तरसते हुए लोगों ने मेहताजी से कहा—'किसी तरह हमें बचाओ, अन्न दो।'

मेहताजी दयालु थे, उन्होंने अपने मातहत नौकरों व पहरेदारों से कह दिया—जो लोग अनाज ले जाते हों, उन्होंने ले जाने दो। बेचारों की किसी तरह दुष्काल संकट से रक्षा हो।' इस प्रकार मेहताजी ने जरूरतमंदों को पूछ-पूछकर अनाज देना शुरू किया। लगभग १६०० मन अनाज उन्होंने सरकारी कोठार से दिया। कुछ सरकारी लोगों ने राव साहब से शिकायत की कि हजूर! १६०० मन अनाज कोठार में कम उतरा है, आप मेहता साहब से पूछें कि इतना अनाज कहाँ गया?' दूसरे दिन जब चन्दनमलजी मेहता राव साहब को मुजरा करने आये तो उन्होंने पूछा—'मेहतासाहब! यह १६०० मन अनाज कहाँ गया?' मेहता साहब मुंह से कुछ नहीं बोले। इससे पहले ही रावणा राजपूतों की औरतों और पुरुषों ने कहा—'अन्नदाता! मेहता साहब

अपने घर में तो इसमें से एक छटांक अन्न नहीं ले गये हैं, अन्न तो हम प्रजा में बांटा है, हमारे पेट में पड़ा है। इससे हमारा दुष्काल का समय गुजर गया, नहीं तो बेमौत मारे जाते। मेहता साहब ने हमें अन्न देकर बचाया है।" राव साहब भी भद्र प्रकृति के थे। उन्होंने कहा—'अच्छा जाओ, कोई बात नहीं, दे दिया तो। इतना खर्च खाते जिरा दो।' सचमुच चन्दनमलजी मेहता ने अपने को संकट में डालकर भी कष्ट पीड़ित प्रजा को अन्न देकर बचाया। यह उत्कृष्टदातृत्व का उदाहरण है।

दाता की पात्रता

वास्तव में दानदाता में विशेषता तभी आती है, जब दाता में शराब, जुआ, व्यभिचार या मांसाहार आदि दुर्व्यसन न हो। जिस दाता में ये दुर्व्यसन होते हैं, वह चाहे कितना ही अच्छा योग्य द्रव्य दे दे, उत्तम पात्र को चाहे विधिपूर्वक ही क्यों न दे दे, उसका दान उत्तम फलदायक नहीं होता। प्रायः ऐसे दाता कभी-कभी अपने ऐबों या बुरी आदतों अथवा दुर्व्यसनों किंवा पापों को छिपाने के लिए या उन पर पर्दा डालकर जनता की दृष्टि में प्रतिष्ठा-भाजन बनने के लिए भी दान देते रहते हैं। कई दफा तो लेने वाले पात्र भी ऐसे लोगों से दान लेने से इन्कार कर देते हैं।

आगरा के दयालबाग में राधास्वामी सम्प्रदाय की ओर से कई औद्योगिक संस्थान चल रहे हैं। एक बार एक अमरीकन दम्पती यह देखने के लिए आये। वे सारी संस्था, दयालबाग के भव्य सत्संगभवन, मन्दिर आदि देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और संस्था को उन्होंने १० हजार डालर दान देना चाहा। इस पर दयालबाग के अधिकारी ने कहा—'साहब ! माफ करिये, हम उसी दाता से दान लेते हैं, जो शराब और मांसाहार से परहेज करता हो।' कुछ क्षण विचार कर वे बोले—'तो हम आज से मांसाहार का त्याग कर देते हैं, परन्तु शराब तो हमारी आदत व ठंडी आबहवा के कारण हमें थोड़ी-सी लेनी पड़ती है अब तो हम से दान लीजिएगा न ?' अधिकारी—"नहीं, साहब ! दोनों चीजों का त्याग करने पर ही रकम ली जा सकती है। दाता में इतनी पात्रता तो होनी ही चाहिए।' बेचारे निराश होकर चले गए। दाता की पात्रता देखने का कितना अद्‌भुत प्रसंग है यह। यही कारण है कि भगवान महावीर ने साधुसाध्वियों को दान देने वाले गृहस्थ नर-नारियों के लिए पहले श्रावक के ११ व्रत बताए हैं, और अन्तिम व्रत बताया है—अतिथिसंविभागव्रत। इसका रहस्य यह है कि उक्त गृहस्थ दाता में श्रमणोपासक या श्रावक धर्म की योग्यता आ जानी चाहिए। ग्यारह व्रतों के सम्यक् पालन से वह व्यक्ति (दाता) इस प्रकार की योग्यता एवं पात्रता अर्जित कर लेता है कि उसके दान में किसी प्रकार का दोष—पापांश या अनिष्ट फलप्रदायी तत्त्व नहीं रहता। □

9
दाता के गुण-दोष

दाता की योग्यता के विषय में आचार्यों ने अनेक प्रकार से विचार किया है। उसकी पात्रता तथा गुण-दोषों पर यहाँ कुछ और चिन्तन प्रस्तुत है।

दाता में कौन-कौन-से गुण होने चाहिए? इसके लिए आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में निम्नलिखित श्लोक द्वारा दाता के विशिष्ट गुण बताए हैं—

'ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिर्निष्कपटताऽनसूयत्वम्।
अविषादित्व-मुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥१६६॥

अर्थात्—इहलोक सम्बन्धी किसी फल की इच्छा न करना, क्षमा, निष्कपटता अनुसूयता, अविषादिता, मुदिता, निरहंकारिता; ये ७ गुण दाता में होने चाहिए।

१. फलनिरपेक्षता—दाता में सबसे पहला गुण होना चाहिए—फलाकांक्षा से रहितता। दान के साथ किसी स्वार्थ या प्रसिद्धि, धन, पुत्र या अन्य किसी बात की लालसा दाता में नहीं होनी चाहिए, तभी उसके दान में विशेषता पैदा होती है। अत किसी प्रकार के बदले की आशा से रहित होकर निष्कांक्ष भाव से ही दान करना चाहिए। लोक व्यवहार में भी जो लोग ऑनरेरी (अवैतनिक) सेवा देते हैं, उनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर समाज उन्हें उनके परिश्रम से अनेक गुना अधिक लाभ दे देती है, परन्तु वेतन लेकर सेवा करने वाले पूरा कार्य समय पर नहीं करते हैं तो उनसे संस्था के अधिकारी भी असन्तुष्ट रहते हैं, वे दण्ड भी पाते हैं। यही बात दान के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए। फल निरपेक्ष दान का लाभ पिछले पृष्ठों में शालिभद्रजी की ऋद्धि, सुबाहुकुमार की महासम्पदा, धन्नासार्थवाह का तीर्थंकरत्व के रूप में दान का फल अनन्तगुणा अधिक मिलता है, यह उल्लेख करके बता आये हैं। कहा भी है—

व्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं, व्यापारे तु चतुर्गुणम्।
क्षेत्रे शतगुणं ज्ञेयं, दाने चानन्तगुणं मतम् ॥

अर्थात्—लगाया हुआ द्रव्य ब्याज से दुगुना हो जाता है, व्यापार में चौगुना

हो जाता है, खेती में सौ गुना और दान में—सत्पात्र में दान देकर लगाया हुआ द्रव्य अनन्त गुना हो जाता है।

अतः दाता को ऐसे अनन्तगुने लाभ देने वाले दान को तुच्छ वस्तु की वांछा के बदले में बेचकर नष्ट नहीं करना चाहिए।

२. क्षमाशीलता—दाता याचक के आते ही झुंझलाए नहीं, धैर्य न खोए, उसे क्षमाशील बनकर धैर्य से सभी प्रकार के पात्रों को यथायोग्य देना चाहिए। अगर वह उत्तम पात्र (साधु-साध्वी) को ही दान देने का आग्रही बनकर कोई मध्यम पात्र श्रावक आदि आ जाते हैं, या करुणापात्र आ जाते हैं, उनको असहिष्णु बनकर डांट-फटकार कर निकाल देता है, यह उसके लिए शोभास्पद नहीं। क्योंकि साधु-साध्वियों का योग सदा और सर्वत्र नहीं मिलता। अतः सहनशील बनकर पात्रानुसार उसे दानधर्म करते रहना चाहिए। कई तपस्वी या रुग्ण साधकों की प्रकृति उग्र होती है, ऐसे समय में दाता को सहनशीलता रखनी आवश्यक है। पात्रों के चित्त में किंचित् मात्र भी अशान्ति पैदा न करते हुए, उन्हें सन्तुष्ट रखना, उनका अनादर न करना दाता का मुख्य कर्त्तव्य है। व्यास स्मृति में बताया है कि[1] केवल अर्थ (धन) दे देने से कोई दाता नहीं होता, दाता होता है, दूसरों को सम्मान देने से। जो दाता पात्र को सम्मानपूर्वक दान देकर, पात्रों की ओर से कोई आघात हो तो उसे समभावपूर्वक सहन करके दान धर्मरूप कर्तव्य की वृद्धि करता है, उसका दान भी सफल होता है, उसकी कीर्ति भी फैलती है।

३. निष्कपटता—दाता में किसी प्रकार का कपट या छल-छिद्र नहीं होना चाहिए, उसके स्वभाव में सरलता होनी चाहिए। जो कपटपूर्वक दान देता है, वह अपने गौरव या बड़प्पन का प्रदर्शन करने हेतु छाछ का दान देकर लोगों के सामने दूध देने का ढिंढोरा पीटेगा। कपटपूर्वक दिया गया दान उत्तम फलदायी नहीं होता। जब उस तथाकथित दाता का कपट प्रगट हो जाता है तो उसकी कीर्ति भी धुल जाती है, और साथ ही दान का फल भी नष्ट हो जाता है।

४. अनसूयता—दाता में ईर्ष्याभाव नहीं होना चाहिए। दाता बनना अपने धन या साधनों की शक्ति पर निर्भर है। अपनी हैसियत न देखकर दूसरों की देखा-देखी, प्रतियोगिता करना, दूसरों को नीचा दिखाने और स्वयं उच्च दानवीर कहलाने की दृष्टि से होड़ में उतरना ठीक नहीं होता। जो लोग दूसरों से ईर्ष्या करके दान देते हैं, अर्थात् अमुक ने इतना दान दिया है तो मैं भी इतना या इससे अधिक दूं अथवा यह इतना दान क्यों करता है, ऐसा सोचकर उसे रोकना या उसके दान देने में रुकावट डालना दाता का दुर्गुण है। बल्कि अपने से अधिक दान देने वाले या शक्तिहीन होने पर भी थोड़ा-बहुत दान करता हो, उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। ऐसा ईर्ष्यारहित दाता ही दान को सफल करता है।

---

१ 'न दाता चार्थदानतः', "....दाता सम्मानदानतः।"—व्यास स्मृति ५।५९-६०

५. अविषादिता—दाता को अपने यहाँ अतिथि, साधु-संत या याचक आने पर किसी प्रकार से खिन्न नहीं होना चाहिए। 'मेरी जान को यह झगड़ा लग गया, सब मेरा नाम सुनकर मेरे पास ही आते हैं, मैं किस-किस को दूं ? इन्कार करूं तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे मेरी इज्जत में बट्टा लगेगा।" इस प्रकार का विषाद न करे, न ही किसी के सामने व्यर्थ का रोना रोए न देकर पश्चात्ताप करे। क्योंकि इस प्रकार से दान देने से पहले खेद करने से और दान देने के बाद पश्चात्ताप करने से दानान्तराय कर्म का बन्ध हो जाता है। दानान्तराय कर्म का उदय तभी होता है, जब किसी व्यक्ति के पास धन और साधन होते हुए भी दान देने का उत्साह न हो, दान देता हुआ हिचकिचाता हो, दान का नाम भी जिसे न सुहाता हो। रोते-रोते दूसरों को कोसकर, सिर पीटकर या दस बातें सुनाकर या बहसबाजी करके दान देने में दान का फल तो खत्म हो जाता है, न दान का आनन्द देने वाले को आता है और न लेने वाले को भी प्रसन्नता होती है। शर्माशर्मी, लिहाज से, रूढ़ि-परम्परा से, औपचारिकता से देना कोई देना नहीं है। अथवा दान देते समय, यह दें, कि यह दें, इस पशोपेश में पड़कर अच्छी-अच्छी वस्तु छिपा ले, वस्तु होते हुए भी इन्कार कर दे, देता-देता रुक जाए, थोड़ा-थोड़ा दे, देने के बाद हिसाब लगाने बैठे कि इतना दे दिया, अब मेरे लिए पीछे बहुत ही कम बचा है! हाय! अब मैं क्या करूंगा ? इस प्रकार के खिन्न भावों से दान देने वाले दाता को दान का वास्तविक फल नहीं मिलता। फल भी ऐसे दान का विपरीत आता है। इसलिए दान देने से पहले उत्साह हो, देते समय प्रसन्नता हो और देने के बाद भी हृदय में हर्ष हो। प्रमोदभाव हो, वही दाता दान का यथार्थ फल प्राप्त करता है।

६. मुदिता—दाता के हृदय में दान देने का उत्साह एवं उल्लास होना चाहिए। पात्र को देखकर उसे यह नहीं सोचना चाहिए—आज तो मेरे भाग्य फूट गये! यह बाबा कहाँ से आ मरा ? इसे यहीं आना था ? इसे अन्यत्र कहीं जाना चाहिए था। इस प्रकार पात्र को देखकर नाराजी या अप्रसन्नता प्रकट करे। या देते समय याचक या पात्र पर क्रोध करके बरस पड़े, उसे भला-बुरा कहे, यह दाता की असफलता है। पात्र को देखते ही दाता के मन में उत्साह की बिजली चमक उठे, वह तुरन्त प्रसन्न होकर सोचे—मेरा अहोभाग्य है, ऐसे महान् पुरुष स्वयमेव पधार कर मेरा घर पावन कर रहे हैं। दान ग्रहण कर मेरा द्रव्य सार्थक करते हैं। मुझे तारने के लिए घर बैठे यह धर्म-जहाज आई है। अगर ये नहीं पधारते, तो मेरी सम्पत्ति या साधनों का क्या उपयोग होता ? जितना पात्र में पड़ जाय, उतना ही द्रव्य मेरा है, बाकी का द्रव्य या तो यहीं पड़ा रहेगा, या दूसरे लोग मालिक बन जाएँगे। अतः प्राप्त द्रव्य का सुलाभ लेने का यही उत्तम अवसर मेरे हाथ लगा है। इस प्रकार चढ़ते परिणामों से दान दे।

बरार के सेवाभावी श्रीमंत दादा साहब खापड़े एक उदार सज्जन थे। एक

बार उनके यहाँ एक प्रवासी ब्राह्मण आया और कहने लगा—"सेठ जी ! मेरे पास पानी पीने के लिए लोटा नहीं है। अगर कोई तांबे का लोटा दिलाएँ तो बड़ी कृपा होगी।" दादासाहब ने अपने नौकर से पानी का लोटा लाने का कहा। नौकर जल्दी में था, उसने सोचा—दादा साहब को पानी पीना है, इसलिए सेठानी को कहकर किसी जरूरी काम से चला गया। सेठानी ने दूसरे नौकर के साथ चांदी का लोटा पानी भर कर भेजा। दादासाहब तांबे के बदले चांदी का लोटा देख मुस्कराए और स्नानादि से निवृत्त होकर आए तब तक वह गरीब ब्राह्मण तांबे के लोटे की प्रतीक्षा में बैठा था। काफी देर होने से अधीर होकर उस गरीब ब्राह्मण ने कहा—"साहब ! आपने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया ?" इस पर वह बोले—"वह लोटा, जो रखा है, तुम्हारे लिए ही तो रखा है, ले जाओ।" गरीब ब्राह्मण तो दादासाहब की उदारता और चढ़ते भावों को देख कर दंग रह गया। वह तांबे के बदले चांदी का लोटा पाकर प्रसन्न हो उठा। ऐसी मुदिता दाता में होनी चाहिए।

७. निरहंकारिता—दाता को निरभिमानी होना चाहिए। तीर्थंकर दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष में ३ अरब, ७४ करोड़ ४० लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान देते हैं, ऐसे दानेश्वरियों के सामने मैं किस बिसात में हूँ। मेरा तो जरा-सा तुच्छ दान है। मैं क्या दे सकता हूँ ? इत्यादि विचारों से अहंकार शून्य होकर दान दे। कई बार दाता का अहंकार दान का मजा किरकिरा कर देता है। जबकि दाता की नम्रता दान को विशिष्ट फलवान बना देती है।

दाता में ये सात विशिष्ट गुण होने चाहिए।

महापुराण में दानपति (श्रेष्ठदानी) के सात गुण इस प्रकार बतलाए हैं—[1] श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और त्याग। श्रद्धा कहते हैं—आस्तिक्य को। आस्तिक बुद्धि न होने पर दान देने में अनादर हो सकता है। दान देने में आलस्य न करना शक्ति नामक गुण है। पात्र के गुणों के प्रति आदर करना भक्ति नामक गुण है। दान देने आदि के क्रम का ज्ञान होना—विधि या कल्प्याकल्प्य, एषणीय-अनेषणीय, प्रासुक-अप्रासुक का ज्ञान होना विज्ञान है। दान के प्रति किसी प्रकार की फलाकांक्षा न रखना अलुब्धता है। सहनशीलता होना क्षमा नामक गुण है और दान में उत्तम द्रव्य देना, त्याग है। इस प्रकार जो दाता उपर्युक्त सात गुणों से युक्त है, और निदानादि दोषों से रहित होकर पात्र रूपी सम्पदा में दान देता है, वह दाता मोक्ष प्राप्ति के लिए उद्यत होता है।[2]

---

१ श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानञ्चाप्यलुब्धता।
क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः ॥ —महा पुराण २०।

इसी प्रकार के दाता के ७ गुण गुणभद्रश्रावकाचार[1] में बताए गए हैं और ये ही ७ गुण चारित्रसार[2] में वसुनन्दि श्रावकाचार से उद्धृत किये गये हैं। परन्तु पहले बताए हुए सात गुणों में और इन दो जगह बताए गये सात गुणों में एक-एक गुण का अन्तर है। जैसे पूर्वोक्त सात गुणों में एक गुण त्याग है, उसके बदले यहाँ सन्तोष-गुण है और चारित्रसार में इसके बदले दया गुण है। यों एक-एक गुण का अन्तर है। सन्तोष और दया ये दो गुण दाता में होने ही चाहिए। त्याग का गुण अलुब्धता के अन्तर्गत आ जाता है, तथैव सन्तोष का गुण भी अलुब्धता के अन्तर्गत आ जाता है। दयागुण को ही विशेष समझना चाहिए। थोड़े-से अन्तर के साथ सागारधर्मामृत में विशुद्ध दाता का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

भक्ति-श्रद्धा-सत्त्व-तुष्टि-ज्ञानालौल्यक्षमागुणः।
नवकोटी विशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः॥ —सा० ध० ५।४७

अर्थात्—भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलोलुपता और क्षमा इनके साथ असाधारण गुण सहित जो श्रावक मन-वचन-काया तथा कृत-कारित-अनुमोदित इन नौ कोटियों से विशुद्ध दान का अर्थात् देने योग्य द्रव्य का स्वामी होता है, वही सच्चा दाता कहलाता है। दाता की विशेषताएँ बताते हुए राजवार्तिक में इस प्रकार कहा है

—'पात्र में ईर्ष्या न होना, त्याग में विषाद न होना, देने के इच्छुक तथा देने वालों पर तथा जिसने दान दिया है, उन सब पर प्रीति का होना, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फल की अपेक्षा न करना, निदान न करना, किसी से विसंवाद न करना आदि दाता की विशेषताएँ हैं। ये ही बातें सर्वार्थ-सिद्धि में बताई हैं।[3]

---

२ श्रद्धाऽऽस्तिक्यमनास्तिक्ये प्रदाने स्यादनादरः।
भवेच्छक्तिरनालस्यं, भक्तिः स्यात्तद् गुणादरः॥८३॥
विज्ञानं स्यात् क्रमज्ञत्वं, देयासक्तिरलुब्धता।
क्षमा तितिक्षा ददतस्त्यागः सद्व्ययशीलता॥८४॥
इति सप्तगुणोपेतो दाता स्यात् पात्र सम्पदि।
व्यपेतश्च निदानादेः दोषान्निःश्रेयसोद्यतः॥८५॥ —महापुराण

१ श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं, पुष्टिः शक्तिरलुब्धता।
क्षमा च यत्र सप्तैते गुणाः दाता प्रशस्यते॥

२ श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं, भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा।
इति श्रद्धादयः सप्त गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम्॥ २६।६

३ प्रतिगृहीतरि अनसूया, त्यागे विषादः दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः कुशलाभिसन्धिता दृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादिः दातृविशेषोऽवसेयः।
—राजवार्तिक ७।३९।४।५५९।२९
—सर्वार्थसिद्धिः ७।३९।६७३।६

वास्तव में श्रेष्ठ दाता वही है, जो अपनी थोड़ी-सी कमाई में से श्रद्धाभाव से विधिपूर्वक योग्य पात्र को दे। अपनी करोड़ों की कमाई में से थोड़ा-सा हिस्सा दान में दे, वह दाता अवश्य है, किन्तु श्रेष्ठदाता नहीं। और वह भी अच्छा दाता नहीं कहलाता, जो दान देने के साथ अहंकार, कृपणता आदि दोषों से लिप्त हो जाय। इसीलिए धर्मसंग्रह श्रावकाचार के परिशिष्ट में कहा गया है—

शान्तिको निरहंकारी विनयादृतसादरः।
सम्यक्त्वालंकृतो दाता ख्यातो भुवनोत्तमः॥

—'जो शान्तिक, निरहंकारी, विनयान्वित (शिष्ट) से सादर और सम्यक्त्वी दाता होता है, वही लोक में उत्तम कहा गया है।'

चार प्रकार के बादलों के समान चार प्रकार के दाता

भगवान् महावीर ने प्रकृति की अनुपम वस्तुओं से भी बहुत कुछ प्रेरणा ली है; और संसार को बताया है कि दान, पुण्य या परोपकार के लिए प्रकृति की खुली पोथी पढ़ो, और उससे प्रेरणा लो। स्थानांग सूत्र के चतुर्थ स्थान में श्रमण-शिरोमणि भगवान् महावीर ने चार प्रकार के मेघ बताए हैं, वे इस प्रकार हैं[1]—

(१) कुछ बादल गर्जते हैं, पर बरसते नहीं।
(२) कई बादल बरसते हैं, पर गर्जते नहीं।
(३) कई बादल गर्जते भी हैं, बरसते भी हैं।
(४) कई बादल न गर्जते हैं, न बरसते हैं।

इसी प्रकार संसार में चार प्रकार के दाता कहलाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) कई दाता गर्जते बहुत हैं, पर बरसते बिलकुल नहीं।
(२) कई दाता चुपचाप बरसते जाते हैं, गर्जते नहीं।
(३) कई दाता गर्जते भी हैं, बरसते भी हैं।
(४) कई दाता न तो गर्जते हैं, न उदारभाव से बरसते हैं।

भगवान् महावीर मानव-प्रकृति के बहुत बड़े पारखी थे। उन्होंने बताया कि कई दाता संसार में ऐसे होते हैं, जिनसे कोई भी व्यक्ति कुछ मांगे या उनके द्वार पर खड़ा हो जाय अथवा किसी सार्वजनिक संस्था के हेतु दान देने का कहे तो वे बहुत लम्बी चौड़ी बातें बनाएँगे, गाल बहुत बजायेंगे, अपनी प्रशंसा के बहुत लम्बे-चौड़े गीत गायेंगे, अर्थात् वे छप्पड़ फाड़ बातें करेंगे, पर जब देने का समय आएगा, तब अंगूठा बता देंगे, या कोई न कोई बहाना बना लेंगे, या दूसरे पर सरका देंगे। ऐसे व्यक्ति वाणीदान में

---

१ चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा-गज्जित्ता णाममेगे णो वासित्ता, वासित्ता णाममेगे णो गज्जित्ता, एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि, एगे णो गज्जित्ता णो वासित्ता॥ एवामेव चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता

—स्थानांगसूत्र स्थान ४, सू० उ० ४ सू० ५३३

शूर होते हैं, पदार्थदान में नहीं। वे जोर-जोर से गर्ज कर अपना आडम्बर एवं पटाटोप बहुत दिखायेंगे, पर उनके हाथ से दानजल की एक भी बूंद बरसेगी नहीं। परन्तु दूसरे प्रकार के बादल के समान कई दाता ऐसे होते हैं, जो गर्जन-तर्जन, आडम्बर या लम्बी-चौड़ी बातें नहीं करेंगे, चुपचाप दानधारा बरसा कर याचक या आदाता की पिपासा शान्त कर देंगे। ऐसे दाता न तो अपनी प्रसिद्धि चाहते हैं, न आडम्बर और न ही दान का ढिंढोरा पीटते हैं, जो कुछ देना हो, चुपचाप योग्य पात्र देखकर तदनुसार दे देते हैं। कई ऐसे दाता होते हैं, जो दान देते हैं, लेकिन पात्र को डाँट-डपट कर गर्जन-तर्जन करके देते हैं। अरबस्तान में एक धनाढ्य आदमी गरीबों को एक-एक मुट्ठी अन्न का दान कर रहा था। एक फकीर ने वहाँ जाकर हाथ पसारा तो उस दाता ने मुट्ठी भर अन्न दे दिया। फकीर ने दूसरी बार फिर हाथ फैलाया तो दाता क्रोधान्ध हो फकीर को धमकाने लगा। पहरेदारों से कहा—'इस मुक्खड़ को बाहर निकालो।' इस पर फकीर ने शान्तभाव से कहा—'मैंने हातिम का दान देखा था, इसलिए दूसरी बार हाथ फैलाया था।' दाता बोला—'यह बात मानी नहीं जा सकती।' फकीर—'मेरी बात पर विश्वास न हो तो चलो मेरे साथ।' धनाढ्य और फकीर दोनों हातिम के यहाँ पहुँचे। फकीर ने हातिम के दान भण्डार से लगातार चालीस बार भिक्षा माँगी, लेकिन प्रत्येक बार आदरपूर्वक भिक्षा मिलती गई। यह देखकर वह धनाढ्य दाता शर्मिन्दा हो गया।

तात्पर्य यह है कि कई दाता इस धनाढ्य की तरह गर्जते बहुत हैं, लेकिन इतने बरसते नहीं, जबकि हातिम जैसे कई दाता गर्जते नहीं, सदा ही बरसते रहते हैं।

तीसरे प्रकार के दाताओं में दोनों गुण होते हैं—वे मेघ के समान गर्जते भी हैं तो बरसते भी हैं। वे लोगों में दान देने की घोषणा भी करते हैं, वे याचकों अथवा पात्रों को दान लेकर अपने पर अनुग्रह करने के लिए, उद्घोषणा करके सावधान भी करते हैं और मुक्तहस्त से देते भी हैं। वे कोरे गर्ज-गर्ज कर याचकों को धोखे में नहीं रखते। वे बरसते हैं तो ऐसे बरसते हैं कि फिर पात्रों या याचकों को तृप्त कर देते हैं। वे गरजते भी हैं तो, इसलिए नहीं कि अपनी प्रसिद्धि या आडम्बर करें, केवल नाम का ढिंढोरा पीटें। उनका गर्जन पात्रों को आह्वान करने के लिए प्रायः होता है। वे नहीं चाहते कि पात्र, कहीं अन्यत्र ऐसी जगह चला जाय, जहाँ उसे केवल थोथी वाक्यावली ही सुनने को मिले, उसे खाली हाथ लौटना पड़े, पात्र का अपमान हो, वह निराश होकर लौट जाय। और चौथे नम्बर के दाता—दाता क्या नाम के दाता—कृपण के अवतार और दान से कोसों दूर, बटोरने में शूर ऐसे लोग हैं, जो न तो दान शब्द का नाम ही कानों से सुनना और मुख से कहना चाहते हैं, और न ही इन हाथों से दानधारा बरसाना चाहते हैं। हाँ, कवि की भाषा में उसके सरीखा दानी संसार में और कोई नहीं है। प्रसंग रत्नावलि में बताया है—

कृपणेन समो दाता, न भूतो न भविष्यति ।
अस्पृशन्नेव वित्तानि, यः परेभ्यः प्रयच्छति ॥

अर्थात्—कृपण के समान दाता न तो हुआ है, और न ही होगा, जो अपने सारे धन को बिना ही छुए, ज्यों का त्यों दूसरों को दे देता है। यानी छोड़ कर परलोक को विदा हो जाता है।

ऐसा कृपण न तो कभी दान का नाम लेकर ही लोगों के सामने दान की या दानी की प्रशंसा करता है, बल्कि दूसरों को दान करते देखकर कृपण का कलेजा धर्रा उठता है। वह सोचने लगता है कि कहीं दान का ज्यादा बखान कर दिया तो याचकों की मेरे यहाँ जमघट हो जाएगी। किस-किस को दूँगा और किसे इन्कार करूँगा। इसीलिए वह 'द कार' का नाम भी सुनना और लेना नहीं चाहता। एक कवि ने कृपण की खूब चुटकी ली है—

देवता को सुर औ असुर कहे दानव को,
दाई को सुवाय, तिया दार को कहत है।
दर्पण को आरसी त्यों, दाम को मुनफा कहे,
दास को खवास आमखारा उचरत है।
देवी को भवानी और देहरा को मठ कहै
याही विधि 'घासीराम' रीति आचरत है।
दाना को चबीना दीपमाला को चिरागजाल,
देबे के डर कभी दद्दो ना कहत है।

हाँ, तो ऐसा मृत्यु के बाद का दाता अर्थात् कृपण न तो कभी गरजता है, और न ही बरसता है।

इन चारों प्रकार के दाताओं में दूसरे और तीसरे नंबर के दाता अच्छे हैं, परन्तु पहले और चौथे नंबर के दाता तो दा+न वाले अर्थात् नहीं देने वाले हैं, निकृष्ट और अनुदार प्रकृति के हैं।

प्रथम नम्बर के दाता उस ढपोरशंख के समान हैं, जिसे पाकर बेचारा दरिद्र ब्राह्मण पछताया था। उससे लाख रुपये मांगने पर वह कहता—'ले दो लाख, ले ले चार लाख।' परन्तु जब उससे याचक कहता—'अच्छा ला, एक लाख ही दे दे।' तब वह कहता—'अहं ढपोरशंखोऽस्मि, वदाम्येव ददामि न'—मैं तो ढपोरशंख हूँ, केवल कहता हूँ, देता कुछ नहीं हूँ।" वैसे ही व्यक्ति प्रथम नम्बर के बादल के समान हैं। दूसरे नम्बर के बादल के समान व्यक्ति गुप्त दानी, अहंत्व-ममत्वरहित दानदाता हैं। वे याचक (पात्र) के बिना मांगे ही, उसकी आवश्यकतानुसार दे देते हैं। और तीसरे नम्बर के मेघ के समान दाता भी दानशाला खुलवा कर देने वाले राजा प्रदेशी, नन्दन मणिहार आदि [illegible] न याचकों को पुकार-पुकार कर देने वाले [illegible]

और चौथे नम्बर के मेघ के समान दाता—मरणोपरान्त दाता—मम्मण सेठ के भाई होते हैं, जो 'चमड़ी जाय, पर दमड़ी न जाय' वाली कहावत चरितार्थ करते हैं।

वाद्यों की तरह दानप्रेरित दाता के चार प्रकार

पूर्वोक्त लक्षणों से सम्पन्न दाता वर्तमान युग में बहुत ही विरले मिलते हैं। अधिकतर दानी किसी न किसी प्रेरणा से प्रेरित होकर दान देते हैं। उन्हें अगर कोई प्रेरणा न दे या किसी प्रकार की प्रेरणा न मिले तो वे दान से विरत हो जाते हैं। क्योंकि वर्तमानयुग में स्वार्थ, आकांक्षा, फलेच्छा आदि का बाजार गर्म है। अधिकांश सेवाभावी सार्वजनिक संस्थाएं, जो दान के आधार पर चलती हैं, किसी न किसी प्रकार की प्रेरणा दाता को दी जाती है, तभी वे दान के लिए थैली का मुँह खोलते हैं। अगर उन लोगों को प्रेरणा न दी जाए तो उनके द्वारा दान के रूप में फंड इकट्ठा करना कठिन हो जाता है। स्वतः प्रेरणा से दान देने वाले बहुत ही कम होते हैं। अतः देखना यह है कि वे प्रेरणाएँ—जो दानदाताओं को दी जाती हैं कितने प्रकार की हैं। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के वाद्यों का वर्णन किया है—

(१) आतोद्य, (२) झणझणित, (३) स्वस्य और (४) स्पृश्य।

आतोद्य का अर्थ है—कष्ट देने—पीटने पर बजने वाले वाद्य, जैसे—ढोल, तबला, नगारा आदि। इन्हें कभी अंगुलियों से थपथपाया जाता है, कभी हथेली या डंडों से पीटा जाता है।

झणझणित का अर्थ है—वे वाद्य, जो परस्पर टकराने पर बजते हैं, जैसे—मंजीरा, झांझर, खड़ताल आदि।

स्वस्य वे वाद्य हैं, जो फूंक मारने पर बजते हैं, जैसे—मुरली, नफीरी, बिगुल आदि।

और स्पृश्य वाद्य वे हैं, जो तनिक-सा छूने पर बज उठते हैं, जैसे—वीणा, सितार, सारंगी आदि तार वाले वाद्य।

इन चार प्रकार के वाद्यों के समान दाता भी चार प्रकार की प्रेरणा से प्रेरित होते हैं। कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिनसे दान लेने के लिए ताड़ने की आवश्यकता होती है। उन्हें आतोद्य कहा जा सकता है। जब तक उनमें भय उत्पन्न नहीं किया जाता या वे विवशता का अनुभव नहीं करते, तब तक दान के लिए तैयार नहीं होते, जो पुलिस, सरकारी अधिकारी आदि के डर से रिश्वत के रूप में देते हैं, उन्हें दाता की कोटि में नहीं गिना जा सकता। उनके सिवाय ऐसे लोग जिन्हें नरक का डर दिखाकर या यहाँ चोरी-डकैती होने या सरकार के द्वारा गिरफ्तारी होने का डर दिखाकर किसी संस्था के लिए दान देने की प्रेरणा देकर दान लिया जाता है।

दूसरा प्रकार उन प्रेरित दाताओं का है, जिनसे झणझणित वाद्य के समान

परस्पर टकराकर, प्रतिस्पर्द्धा पैदा करके दान लिया जाता है। कहीं साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्द्धा पैदा की जाती है, कहीं जातीय, और कहीं प्रान्तीय तो कहीं भाषाकीय एवं कहीं इसी प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न की जाती है, और प्रतिस्पर्द्धा के माध्यम से दान के लिए उकसाकर दान लिया जाता है। वैसे तो किसी को देते नहीं, किन्तु प्रतियोगिता या प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न करने पर वे अनायास ही धन देने लगते हैं। फिर उन्हें कहने की आवश्यकता नहीं। उनसे अलग-अलग बुलाकर ऐसी बातें कही जाती हैं कि अमुक व्यक्ति इतने रुपये दे रहा है, बोलो तुम लगाना चाहो तो तुम्हारा नाम सर्वोपरि आयगा, शिलापट्ट पर तुम्हारा नाम लिखा जाएगा। अथवा यों कहा जाता है कि अमुक सम्प्रदाय या जाति वाले अपनी सम्प्रदाय या जाति के लिए इतने खर्च करने तुले हुए हैं, अगर तुम्हें अपनी सम्प्रदाय या जाति की शान रखनी है तो इससे ज्यादा खर्च करके अच्छा काम करके दिखाओ। अपनी नाक ऊँची रखो, अपनी सम्प्रदाय या जाति उससे सवाई रहे, उन्नति में अग्रगण्य कहलाए, ऐसा काम करना हो तो उदारतापूर्वक इतना दान करो।

तीसरा प्रकार उन प्रेरित दानियों का है, जिन्हें स्वस्य वाद्य की तरह फूंक मारने की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ है, सच्ची-झूठी प्रशंसा और प्रशस्तिगान द्वारा उनके अहंकार को जाग्रत करना। उनके मन में अपनी प्रशंसा सुनते ही फौरन दान देने की भावना पैदा हो जाती है। प्रशंसा से फूल कर वह अनायास ही शीघ्र दान के लिए तैयार हो जाता है।

और चौथा प्रकार उन प्रेरित दानियों का है, जो स्पृश्य वाद्य के समान जरा-से गुदगुदाते हैं, दान के लिए तैयार हो जाते हैं। उनके प्रति स्नेह की अभिव्यक्ति की जाती है। ज्योंही उन्हें यह ज्ञात हो जाता है, कि अमुक महान् व्यक्ति हमसे प्रेम रखता है, अमुक संस्था के लिए उनकी प्रेरणा है, तो वे उक्त महापुरुष के प्रेम से अभिभूत होकर उसे निभाने के लिए हर सम्भव सब कुछ देने को तैयार हो जाते हैं। वे अपने आपको भूल जाते हैं और प्रेमी की प्रसन्नता के लिए कठोर परिश्रम करने में आनन्द मानते हैं। उनके हृदय को महान् व्यक्ति के प्रेम का संस्पर्श ही दान देने का उत्साह एवं बल प्रदान करता है। किन्तु चारों प्रकार के ये दाता स्वतः प्रेरित नहीं होते, वे पर प्रेरित होते हैं, इसी कारण उनके द्वारा दिया गया दान सहजभाव का दान नहीं होता। जैनशास्त्र की भाषा में कहें तो यह अपनी लब्धि का दान नहीं, परलब्धि का दान है।

जाति आदि देखकर देना—दाता का दोष

जैनागमों में जहाँ कहीं भी मुनियों या साधु-साध्वियों को दान देने की चर्चा है, वहाँ यह स्पष्ट रूप से बता दिया गया है कि 'दव्वसुद्धेणं, दायगसुद्धेणं पडिग्गहसुद्धेणं'—यानी द्रव्य शुद्धि से, दाता की शुद्धि से और पात्र की शुद्धि से अमुक व्यक्ति का दान सफल हुआ। इसका मतलब यह हुआ कि दाता की शुद्धि भी दान की

सफलता के लिए अनिवार्य है। दाता की शुद्धि के लिए पिछले पृष्ठों में हम दाता के गुण बता आये हैं, फिर भी एक-दो बातें और रह गई हैं, जिन्हें बताना आवश्यक है। वे ये हैं कि दाता को जब उत्तम मध्यम या जघन्य कोई भी पात्र मिले, उस समय जाति-पांति, धर्म-सम्प्रदाय या प्रान्त आदि की दीवारें नहीं खींचनी चाहिए। उस समय यह नहीं सोचना चाहिए कि यह तो हमारे प्रान्त का व्यक्ति नहीं है, अथवा यह नीची मानी जाने वाली जाति का है, अमुक नीचे कुल का है, अथवा यह हमारे सम्प्रदाय का नहीं है, या हमारे गुरु का शिष्य या भक्त नहीं है, इसकी वेश-भूषा, या तिलकछापे दूसरे ढंग के हैं, इसलिए पराये व्यक्ति को कैसे दान दे सकते हैं ? अथवा दाता मुंह देखकर तिलक निकालने के प्रयत्न करता है, अर्थात् अपने जाने-माने सम्प्रदाय आदि का हो तो उसे अत्यन्त भावनापूर्वक अच्छी-अच्छी वस्तुएँ देता है और अन्य सम्प्रदाय आदि का कोई पात्र हो तो उसे रूखी-सूखी या ऐसी-वैसी, रद्दी चीज देकर बला टाले। यह दाता का बहुत बड़ा दोष है। जो प्रायः आधुनिक युग के दाताओं में पाया जाता है। दान देते समय पात्र अवश्य देखना चाहिए, पात्र के अनुरूप वस्तु देना चाहिए, उसमें अवश्य विवेक करना चाहिए, परन्तु भावना में किसी प्रकार की कमी नहीं आने देनी चाहिए। यदि अपने-पराये तेरे-मेरे, अमुक जाति-सम्प्रदाय-प्रान्त आदि के लेबल देख-देखकर दान दिया गया तो वह दान स्वार्थ दोष से दूषित हो जाएगा। उसमें अहं का विष मिल जाएगा, जिससे वह सारे ही दान को दूषित कर देगा। ऐसे भेदभावों से साम्प्रदायिकता की संकीर्णवृत्ति से दान देने पर दाता के मन में राग-द्वेष का कालुष्य आने की सम्भावना रहती है।

दाता के दोष : साधुवर्ग को दान की दृष्टि से

दाता चाहे जितना गुणी हो, परन्तु आहारादि देय वस्तु सुपात्र साधु-साध्वियों को निर्दोष नहीं देता है, फलासक्ति में पड़कर, या साधुसाध्वियों के प्रति अन्धभक्ति के प्रवाह में बहकर सदोष आहारादि देता है तो वह भी दाता का दोष समझा जाता है।

यद्यपि साधु-साध्वियों को स्वयं आहार लेते समय गवेषणा और छानबीन करके लेना चाहिए, परन्तु कभी-कभी वे भी भावुक भक्तों की भक्ति देख कर अधिक छानबीन नहीं करते, उनके विश्वास पर ही ग्रहण कर लेते हैं। इस दृष्टि से कुछ हद तक दाता की अपेक्षा आदाता (पात्र) का भी दोष है। फिर भी दाता को सुपात्र साधु-साध्वियों को आहारादि देते समय इन दोषों का पूरा ध्यान रखना चाहिए। ऐसे दोष जो कि साधु-साध्वियों को भिक्षाचरी के समय लगते हैं, यद्यपि ४२ हैं, परन्तु उनमें दस दोस एषणादि दोष हैं, जिनका श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के शास्त्रों में उल्लेख है। वे दस दोष इस प्रकार हैं[१]—

---

१ संकिय-मक्खिय-निक्खित्त-पिहिय-साहरिय-दायगुम्मीसे।
अपरिणय-लित्त-छड्डिय, एसणदोसा दस हवंति ॥

(१) शंकित—यह चारों प्रकार का आहार आगमानुसार साधु-साध्वियों के लेने योग्य है या नहीं, इस प्रकार की या आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी आहार लेना।

(२) म्रक्षित—बर्तन, कुड़छी, हाथ आदि आहार देते समय सचित्त वस्तु के स्पर्श युक्त हों।

(३) निक्षिप्त—अप्रासुक, सचित्त जल, अग्नि, मिट्टी, हरित वनस्पति आदि पर रखा हुआ आहार देना।

(४) पिहित—आहारादि, अप्रासुक (सचित्त) वस्तु से ढका हुआ हो।

(५) संव्यवहरण—(संहृत) बिना देखे हुए उतावली या हड़बड़ी में भोजनादि देना अथवा पात्र में पहले से रखे हुए अकल्प्य आहार को निकालकर उसी पात्र से देना।

(६) दायकदोष—दाता स्वयं लूला, लंगड़ा, अत्यन्त वृद्ध, अत्यन्त बालक, अंग कांप रहे हों, ज्वरित, भूतप्रेतादिग्रस्त, मदिरा पीया हुआ हो, वमन कर रहा हो, रक्त से लिप्त हो, दान देने वाली बहन शिशु को स्तनपान करा रही हो, पूरे मास की गर्भवती हो, आसन्न प्रसवा हो, चूल्हा फूंक रही हो, अग्नि बुझा रही हो आदि दोषों से युक्त होकर जो दान देता है वह दायक-दोष कहलाता है।

(७) उन्मिश्र—सचित्त मिट्टी, जल, वनस्पति या द्वीन्द्रियादि त्रसजीव आदि से मिला हुआ आहार देना।

(८) अपरिणत—आहार-पानी आदि पूरी तरह शस्त्र परिणत न हुआ हो, उसे देना।

(९) लिप्त—गेरु, हड़ताल, खड़िया, मैनसिल, कच्चा पानी, हरी वनस्पति आदि से लिप्त हाथ या बर्तन से आहार देना।

(१०) छर्दित (त्यक्त)—जिस वस्तु में अधिक भाग फेंकने योग्य हो उसे देना, अथवा आहारादि तरल पदार्थ के छींटे नीचे गिराता हुआ दे।

दान के लिए अनधिकारी दाता

इसीप्रकार चालीस प्रकार के दायक-दोष भी श्वेताम्बर शास्त्रों में बताए गए हैं, प्रकारान्तर से इसी प्रकार के दायक दोष भगवती-आराधना एवं अनगारधर्मामृत आदि दिगम्बर शास्त्रों में निरूपित हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) बाल—अत्यन्त छोटा बच्चा दान दे तो,
(२) वृद्ध—अत्यन्त वृद्ध, जराजीर्ण, जिसके अंग कांप रहे हों दे तो,
(३) मत्त—मदिरादि नशीली वस्तु का सेवन किया हुआ हो,
(४) उन्मत्त—पागल हो, अथवा उन्माद प्राप्त हो या भूतादिग्रह से गृहीत हो,
(५) वेपमान—शरीर कांप रहा हो, ऐसा व्यक्ति,

(६) ज्वरित—ज्वर से अत्यन्त पीड़ित हो,

(७) अन्धा—आँखों से रहित हो,

(८) गलित कुष्टरोगी,

(६) आरूढ़—किसी सवारी पर चढ़ा हुआ हो, ऊँचे स्थान पर खड़ा हो, या चमड़े के जूते आदि पहने हुए हो,

(१०) बद्ध—हथकड़ियों-बेड़ियों आदि के बंधन में जकड़ा हुआ हो,

(११) छिन्न—जिसके हाथ-पैर आदि कटे हुए हों,

(१२) वर्जित—हाथों या अन्य अंगों से रहित हों, या वे काम न करते हों,

(१३) नपुंसक हो,

(१४) गर्भवती या आसन्न प्रसवा हो,

(१५) बालवत्सा—दूध पीते छोटे बच्चे वाली हो,

(१६) भुंजाना—भोजन कर रही हो,

(१७) घुसुलंती—दही आदि बिलो रही हो,

(१८) भर्जमान—चूल्हे आदि में कुछ भून रही हो,

(१९) दलन्ती—गेहूँ आदि अनाज पीस रही हो;

(२०) कंडयन्ती—ऊखल आदि में अनाज कूट रही हो,

(२१) पीषन्ती—शिला आदि पर चटनी, तिल आदि कुछ बांट रही हो,

(२२) रुयन्ती—कपास आदि लोड़ रही हो,

(२३) पिजन्ती—रुई आदि पीज रही हो,

(२४) कृतन्ती—कैंची आदि से कुछ कतर या काट रही हो,

(२५) प्रमुद्नन्ती—कपास में से कपासिये निकाल रही हो,

(२६) षट्कायव्यग्रहस्ता—सचित्त वस्तु से हाथ भरे हों,

(२७) निक्षिप्यददती—श्रमणों के लिए आहार देते समय सचित्त वस्तु नीचे रखती हो,

(२८) चालयन्ती—छह-काया के जीवों को पैरों से कुचलती हुई भिक्षा देती हो,

(२९) संघट्यंती—सचित्त वस्तु के संघट्ट (स्पर्श) से युक्त आहार देती हो,

(३०) आरभमाणा—सचित्त या छकाया के जीवों की विराधना करती हुई, आरम्भ समारम्भ करके आहार देती हो,

(३१) संसक्तहस्ता—दही आदि द्रव्यों से हाथ लिप्त हों, उन्हीं से आहार दे रही हो

(३२) संसक्तपात्रा—उन्हीं सचित्तादि से बर्तन लिप्त हों, उन्हीं से आहार देती हो,

(३३) उद्वर्तयंददती—भारी भरकम पेटी आदि उतार कर या सरका कर आहार देती हो,

(३४) साधारण बहुसत्का—अनेक लोगों के साझे का अन्न उनसे बिना पूछे देती हो,

(३५) चोरितं ददती—चुराई हुई चीज देती हो,

(३६) मुंचती—अग्नि में थाली आदि में निकालकर देती हो,

(३७) सप्रत्यपाया—जिसके देने से झगड़ा होता हो, ऐसा आहार देती हो,

(३८) स्थापितं ददती—किसी साधु के उद्देश्य से स्थापित आहार देती हो,

(३९) आभोगेन अशुद्धं ददती—जान-बूझकर अकल्प-अशुद्ध आहार देती हो।

(४०) अनाभोगेन ददती—अनजाने, सहसा अशुद्ध वस्तु देती हो।[1]

ये ४० प्रकार के व्यक्ति दान के लिए अधिकारी हैं। बहुधा ये दोष दाता के द्वारा नहीं, साधु-साध्वियों द्वारा भिक्षा ग्रहण करते समय लगते हैं, किन्तु दाता के अमुक अवस्थागत दोष हैं। इसलिए ऐसे दाता से साधु-साध्वियों को आहारादि नहीं लेना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के अवस्था विशेषगतदाता से आहार लेने से संघ और साधु-वर्ग की अवहेलना, निन्दा आदि होती है।

मुधादायी और मुधाजीवी

विधि, द्रव्य, दाता और पात्र, इन चारों में से दो के साथ अगर दाता और पात्र उत्तम न हों तो दान का यथेष्ट फल प्राप्त नहीं होता। इसीलिए जैनशास्त्र में दोनों की विशेषता का उल्लेख बहुत ही गौरव के साथ किया गया है। वहाँ इन दोनों का योग मिलना बहुत दुर्लभ बताया गया है।

> दुल्लहाओ मुहादाई मुहाजीवि वि दुल्लहा।
> मुहादाई मुहाजीवी दोवि गच्छंति सुग्गइं ॥[2]

---

१ बाले वुड्ढे मत्ते, उम्मत्ते वेविए य जरिए य।
अंधेल्लए, पगलिए, आरूढे पाउयाहिं च ॥६०३
हत्थंदुनियलबद्धे, विवज्जए चेव हत्थपाएहिं।
तेरासि गुव्विणी बालवच्छ भुंजंती घुसुलंती ॥६०४॥
भज्जंती या दलंती कंडंती चेव तह य पीसंती।
पिंजंती रुंचंती, कत्तंती पमद्दमाणी य ॥६०५॥
छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव।
ते चेवोगाहंती, संघट्टंताऽरंभंतीय ॥६०६ ॥
संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था य लित्तमत्ता य।
उव्वत्तंती साहारण व दिंतीय चोरियगं ॥६०७॥
पाहुडियं च ठवंती, सपच्चवाया परं च उद्दिस्स।
आभोगमणाभोगेण दलंती वज्जणिज्जा य ॥६०८॥ —पिण्डनिर्युक्ति

२ दशवैकालिक ५।१।१०३

अर्थात्—किसी प्रकार के प्रतिफल की कामना के बिना निःस्वार्थ भाव से देने वाला मुधादायी तथा निष्कामभाव से भिक्षाचरी पर जीने वाला मुधाजीवी—दोनों ही (दाता और पात्र) संसार में दुर्लभ हैं। ऐसे मुधादायी और मुधाजीवी दोनों ही सद्गति में जाते हैं। मुधादायी का एक अर्थ यह भी किया गया है कि जो दाता में किसी प्रकार के प्रतिफल की कामना न रखें कि मैं भिक्षा देता हूँ, तो मुझे अमुक फल की प्राप्ति हो, अथवा मेरा अमुक कार्य भिक्षा लेने वाला कर दे। इसी प्रकार मुधाजीवी का अर्थ यह है कि जो निःस्पृहतापूर्वक धर्म साधना और धर्मोपदेश करते हुए जीता है, वह मुधाजीवी है।

मुधादायी दाता कैसा होता है? इस सम्बन्ध में दशवैकालिक सूत्र की हारिभद्रीया वृत्ति में एक उदाहरण दिया है—

एक संन्यासी था। वह एक बार एक भक्त (भागवत) के यहाँ पहुँचा और बोला—"मैं तुम्हारे यहाँ चातुर्मास काल व्यतीत करना चाहता हूँ। क्या तुम मेरे निर्वाह का भार उठा सकोगे?"

भागवत ने कहा—"आप मेरे यहाँ चातुर्मास व्यतीत करेंगे, इससे मुझे बहुत खुशी होगी, किन्तु मेरी एक शर्त है, जो आपको स्वीकार हो तो आप प्रसन्नतापूर्वक मेरे यहाँ चातुर्मास कीजिए।"

संन्यासी ने कहा—"क्या शर्त है?"

भागवत—"मैं यथाशक्ति आपकी सेवा करूँगा, लेकिन बदले में आप मेरा कोई भी कार्य नहीं करेंगे। क्योंकि प्रत्युपकार की भावना रखने से मेरी सेवा का फल क्षीण हो जाएगा।"

सन्यासी ने उस भागवत की शर्त मान ली। और वह उसके यहाँ ठहर गया। भागवत भी भोजन आदि से संन्यासी की सेवा करने लगा। एक दिन रात को भागवत के यहाँ चोर आए। चोरों के हाथ और कुछ नहीं लगा तो वे भागवत का घोड़ा चुराकर ही ले गए। जाते-जाते सवेरा होने लगा तो चोरों को डर लगा कि कहीं किसी ने देख लिया तो पकड़े जाएँगे। अतः उन्होंने घोड़े को नदी तट पर एक पेड़ से बाँध दिया और आगे चल पड़े।

संन्यासी प्रात. नियमानुसार उसी नदी के तट पर स्नान करने पहुँचे तो उसने वहाँ भागवत का घोड़ा बँधा देखा। वह तुरन्त खबर देने भागवत के घर पर आए। किन्तु सहसा उसे अपनी प्रतिज्ञा याद आई। इस कारण को छुपाते हुए उसने भागवत से कहा—"मैं नदी के किनारे अपना वस्त्र भूल आया, अतः नौकर को भेजकर वस्त्र मँगवा दो।" भागवत ने नौकर को नदी के किनारे से संन्यासी का वस्त्र ले आने का कहा। नौकर वहाँ पहुँचा तो उसने मालिक का घोड़ा नदी तट पर बँधा देखा। वह दौड़ कर मालिक के पास आया और उससे सारी बात कही।

भागवत संन्यासी की यह होशियारी ताड़ गया। उसने संन्यासी से कहा—"महाराज! आपने मेरा कुछ भी काम न करने की प्रतिज्ञा की थी, पर अब आपसे नहीं रहा गया। आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़ बैठे। अतः अब मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता। क्योंकि किसी से सेवा लेकर बदले में उसकी सेवा करने का फल बहुत ही अल्प होता है। मैं तो आपकी निष्काम सेवा करना चाहता था।

इस उदाहरण से सहज ही यह प्रतिध्वनित होता है कि जो दाता अपने पात्र से दान के बदले में किसी प्रकार की स्पृहा, बदले की आशा, धन, पुत्र, पद आदि की प्राप्ति की आकांक्षा, अथवा स्वर्गादि प्राप्त होने की कामना नहीं रखता, वह तो सिर्फ सुपात्र समझ कर उसके ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उन्नति और तप-संयम की आराधना की दृष्टि से देता है। वही मुधादायी सर्वश्रेष्ठ दाता होता है।

इस प्रकार का श्रेष्ठदाता जहाँ भी होगा, अपने जीवन को सफल बनाएगा और अपने दान से पात्र को भी प्रभावित करेगा। ☆

10
दान के साथ पात्र का विचार

दान में पात्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। देय द्रव्य भी अच्छा और योग्य हो, दाता भी योग्य हो, विधि भी ठीक हो, किन्तु दान लेने वाला पात्र अच्छा न हो, दुर्गुणी हो तो दिया हुआ सारा दान निष्फल जाता है, अथवा साधारण-सा फल प्राप्त होता है।

किसान खेत में बीज बोते समय बीज की योग्यता देखता है कि यह बोने योग्य है या नहीं, यह कहीं व्यर्थ तो नहीं जाएगा? इसी तरह वह यह भी देखता है कि इस बीज के अंकुरित होने के लिए जितनी मात्रा में वर्षा या पानी अथवा सूर्य की धूप, हवा आदि की जरूरत है, उतनी मात्रा में है या नहीं? इसके साथ ही वह बीज बोने वाले स्वयं या दूसरे (जिसके द्वारा बीजवपन कराया जाता है) में कुशलता, योग्यता अथवा विवेक है या नहीं? और इन सबके साथ ही वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह देखता है कि बीज जहाँ बोया जा रहा है, वह भूमि शुद्ध सम और उपजाऊ है या नहीं? अगर भूमि कंकरीली, पथरीली, या ऊपर (बंजर) होती है तो वहाँ किसान बीज नहीं बोता, क्योंकि वहाँ बीज बोने से उसके पल्ले कुछ भी अनाज नहीं पड़ता, उसका श्रम भी व्यर्थ जाता है। चतुर किसान इतनी मूर्खता नहीं कर सकता कि वह बीज बोये जाने वाली भूमि का भली-भाँति निरीक्षण-परीक्षण न करे। यही बात दान के सम्बन्ध में है—दान देते समय भी विधि, द्रव्य और दाता के सम्बन्ध में विचार करने के साथ-साथ दाता को दान लेने वाले पात्र का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे किसान बीज बोने से पूर्व खेत की परीक्षा करता है कि इस खेत में बोया हुआ बीज फलप्रद होगा या नहीं? होगा तो कितना फलदायक होगा? वैसे ही दानार्थी को भी दान देने से पूर्व पात्र का निरीक्षण-परीक्षण करना चाहिए और यह विचार भी करना चाहिए कि किस पात्र को दिये गये दान का कितना लाभ होगा? उत्तराध्ययन सूत्र के हरिकेशीय अध्ययन में ब्राह्मणों को हरिकेशी मुनि की ओर से उनका सेवक यक्ष उत्तर देता है—

> थलेसु बीयाइं ववंति कासगा, तहेव निन्नेसु य आससाए।
> एयाए सद्धाए दलाह मज्झं, आराहए पुण्णमिणं तु खित्तं॥

—किसान लोग अच्छे स्थलों (खेतों) को देखकर बीज बोते हैं, और सुफल

पाकर आश्वस्त होते हैं। इसी श्रद्धा (विश्वास) से मुझे (आहार) दान दीजिए, और इस पुण्यशाली क्षेत्र की आराधना कीजिए।

यह तो असंदिग्ध बात है कि पात्र को दिया हुआ स्वल्पदान भी विशिष्ट फलदायक होता है। अत्यन्त कीमती और बढ़िया वस्तु भी अच्छे योग्य दाता के द्वारा बहुत मात्रा में अत्यन्त सावधानी के साथ भी कुपात्र या अपात्र के दी जाने पर भी वह विपरीत फलदायिनी होती है, जबकि तुच्छ वस्तु थोड़ी-सी मात्रा में भी योग्यदाता द्वारा विधिपूर्वक सुपात्र या पात्र को दी जाए तो वह शुभ फलदायिनी बनती है। हरिवंशपुराण अमितगति श्रावकाचार एवं वसुनन्दीश्रावकाचार में इस सम्बन्ध में काफी चिन्तन मिलता है—[1] 'जिस प्रकार नीम के वृक्ष में पड़ा हुआ पानी कड़वा हो जाता है, कोदों में दिया हुआ पानी मदकारक हो जाता है और सर्प के मुख में पड़ा हुआ दूध विष हो जाता है, उसी प्रकार अपात्र में दिया हुआ दान विपरीत रूप में परिणत हो जाता है, विपरीत फल लाता है। "जिस प्रकार ऊसर खेत में बोया हुआ बीज जरा भी नहीं उगता, उसी प्रकार अपात्र में दिया हुआ दान भी फलरहित समझना चाहिए।" इसीलिए महर्षि व्यास ने कहा है— पात्र और अपात्र में गाय और सांप जितना अन्तर है। गाय को खिलाये हुए तुच्छ घास के तिनकों से दूध बनता है और सांप को पिलाये हुए दूध से जहर बनता है।[2] नीतिवाक्यामृत में भी कहा कि अपात्र में धन खर्च करना राख में हवन करने के समान है।[3] याज्ञवल्क्यस्मृति में भी पात्रापात्र-विवेक के विषय में चिन्तन मिलता है—'एक ही भूमि और एक ही पानी होने पर भी नीम और आम में जो अन्तर है' वह बीज रूप पात्र की ही विशेषता है।[4]

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि थोड़ी मात्रा में तुच्छ वस्तु के दान से इतना विशिष्ट फल कैसे प्राप्त हो जाता है? जबकि बहुत अधिक मात्रा में बहुमूल्य वस्तु के दान से अत्यल्प फल प्राप्त क्यों होता है, इसके उत्तर में हम आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्डकश्रावकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचार एव चारित्रसार का चिन्तन प्रस्तुत करते हैं—[5] 'पात्र में दिया हुआ थोड़ा-सा तुच्छ दान भी समय पर भूमि में बोये

---

१ (क) अम्बु निम्बद्रुमे रौद्रं कोद्रवे मदकृत् यथा।
विषं व्यालमुखे क्षीरमपात्रे पतितं तथा ॥११८॥ —हरिवंश पुराण

(ख) 'जह ऊसरम्मि खेते पइण्णबीयं न किंपि रुहेइ।
फलवज्जियं वियाणइ अपत्तदिण्णं तहादाणं ॥२४२॥—वसुनन्दिश्रावकाचार

२ पात्रापात्र विवेकोऽस्ति, धेनु-पन्नगयोरिव।
तृणात्संजायते क्षीरं, क्षीरात्संजायते विषम् ॥ —व्यास

३ भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वार्थव्ययः। —नीतिवाक्यामृत १।११

४ सैव भूमिस्तदेवाम्भः पश्य पात्र विशेषता। —याज्ञवल्क्यस्मृति

५ क्षितिगतमिव वटबीजं, पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलति च्छाया विभवं, बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ —र० क० श्रा, ११६

हुए वटबीज से छाया वैभव से सम्पन्न हुए विशालवट वृक्ष की तरह मनोवाञ्छित महाफल दाताओं को देता है।'

आचारांगसूत्र की टीका (श्रु० १, उ० ८, सू० २) में भी इस विषय में प्रकाश डाला गया है—

दुःख समुद्रं प्राज्ञास्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन।
लघुनैव मकरनिलयं वणिजः सद्यानपात्रेण॥

—'जैसे वणिक् लोग छोटे-से अच्छे यानपात्र से समुद्र को पार कर लेते हैं, वैसे ही प्राज्ञजन पात्र को दिये हुए दान के प्रभाव से दुःखसमुद्र को पार कर लेते हैं।'

कहने का तात्पर्य यह है कि[1] "ऊपर भूमि में बोये हुए अच्छे से अच्छे बीज निष्फल चले जाते हैं, वैसे ही कुपात्रों को दिया हुआ दान निष्फल जाता है।" "अपात्र में दिया हुआ दान सात कुल तक का नाश कर देता है, क्योंकि सर्प को पिलाया हुआ दूध आखिरकार जहर ही हो जाता है।"

वास्तव में अपात्र या कुपात्र को दिया हुआ दान न तो दाता को लौकिक लाभ दिलाता है, न लोकोत्तर ही। अपात्रदान से प्रायः पुण्यबन्ध भी नहीं होता, कभी-कभी अपात्र को जरा-सा कम दिया या कुछ हलकी चीज दे दी तो वह हल्ला मचाकर लोगों में दाता का उपकार मानने के बदले फजीहत करता है, दाता को व्यर्थ ही बदनाम करता रहता है। इस दृष्टि से अपात्रदान या कुपात्रदान संक्लेशकारक और आर्त्तध्यानकारक हो जाता है। इसीलिए महाभारत में अपात्र को दी हुई विद्या के सम्बन्ध में कहा है[2]—"कुत्ते की चमड़ी में गंगा का पानी रखा जाय, दूध को मद्य के घड़े में रखा जाय तो पवित्रता सुरक्षित नहीं रख सकते।" इसी प्रकार कुपात्र में निहित विद्या भी कोई पवित्रता नहीं रख सकती, न भला कर सकती है। कोई भी क्रिया अपात्र या कुपात्र (कुद्रव्य) में की हुई उसी तरह सफल नहीं हो सकती, जिस तरह सैकड़ों उपाय करने पर भी बगुले को तोते की तरह पढ़ाया नहीं जा सकता।"[3] तात्पर्य यह है कि सुपात्र में ही दी हुई विद्या फलित होती है, रखी हुई वस्तु

---

१. सुबीजमूषरे यद्वदुप्तं नैव प्ररोहति।
तद्वद्दत्तं कुपात्रेषु दानं भवति निष्फलम्॥ १५९॥
अपात्रे चापि यद्दानं दहत्यासप्तमं कुलम्।
दुग्धं हि दंदशूकाय विषमेव प्रजायते॥ १६०।

—धर्मसर्वस्वाधिकार

२. श्वानचर्मगता गंगा, क्षीरं मद्यघटस्थितम्।
कुपात्रे पतिता विद्या, किं करोति युधिष्ठिर!
नाद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।
नव्यापारशतेनाऽपि शुकवत्पाठ्यते बकः॥

सुरक्षित रहती है। सुपात्र को दिया हुआ दान सफल होता है। इसीलिए व्यासस्मृति (४९) में बार-बार सुपात्र दान की प्रेरणा दी गई है—

सुक्षेत्रे वापयेद् बीजं, सुपात्रे वापयेद् धनम्।
सुक्षेत्रे सुपात्रे च, क्षिप्तं नैव हि दुष्यति॥

अर्थात्—सुक्षेत्र और सुपात्र में डाला हुआ द्रव्य नष्ट नहीं होता, अतः सुक्षेत्र में बीज बोओ और सुपात्र को दान दो।

सूत्रकृतांगसूत्र की टीका में बताया गया है कि दान के सम्बन्ध में दाता यह जान ले कि मेरा दान दोषों का पोषण करने वाला है, फिर भी उसकी उपेक्षा करके बदस्तूर दान की यथाकथंचित क्रिया जारी रखता है, वह चन्दन को जलाकर उसके कोयले बनाकर जीविका करता है।[1] इसलिए सौ बातों की एक बात है कि दान देने से पहले, चतुर दाता को पात्रापात्र का विवेक स्वयं विचक्षण बुद्धि से करना चाहिए।

पात्र तीन प्रकार के हैं—(१) मुनि, (२) श्रावक और (३) सम्यग्दृष्टि। इन तीनों प्रकार के पात्रों को दान देना, उनके गुणों की प्रशंसा करना, औचित्य तथा अनतिक्रम की बुद्धि (दृष्टि) से यही दान सर्वसम्पत्कर माना गया है।[2]

अमितगति-श्रावकाचार (परि० ११) में कहा गया है[3]—जो व्यक्ति असंयतात्मा को दान देकर पुण्यफल की इच्छा करता है, वह जलती हुई अग्नि में बीज डालकर धान्य उत्पन्न करने की स्पृहा करता है। जो व्यक्ति कुपात्र हैं, या अपात्र हैं, हिंसा आदि विपरीत मार्ग पर चलाते हैं, उन्हें कोई दाता, चाहे कितनी ही शुद्ध भावना से दान देता है, किन्तु वे कुपात्र या अपात्र तो अपनी आदत एवं प्रकृति के अनुसार उलटे ही रास्ते चलकर अपराधी बनते हैं।[4]

एक उर्दू शेर में कहा है—

'जो देगा शरीरों को तू माल-दौलत,
गुनहगार होंगे वे तेरी बदौलत।'

---

१. दोषपोषकतां ज्ञात्वा तामुपेक्ष्य स्वयं क्रिया।
प्रज्वाल्य चन्दनं कुर्यात् कष्टामंगारजीविकाम्॥ —सूत्रकृतांग टीका

२. अतः पात्रं परीक्षेत दानशौण्डः स्वयं धिया।
तत् त्रिधा स्यान्मुनिः श्राद्धः सम्यग्दृष्टिस्तथा परम्॥
एतेषां दानमेतत्स्य-गुणानामनुमोदनात्।
औचित्यानुतिवृत्या च सर्वसंपत्करं मतम्॥ —अभिधानराजेन्द्रकोष

४. वितीर्य दानं त्वसंयतात्मने, जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके, समीहते सस्यमपास्तलक्षणम्॥
—अ० श्रा० प० ११

हुए वटबीज से छाया वैभव से सम्पन्न हुए विशालवट वृक्ष की तरह मनोवाञ्छित महाफल दाताओं को देता है।'

आचारांगसूत्र की टीका (श्रु० १, उ० ८, सू० २) में भी इस विषय में प्रकाश डाला गया है—

दुःख समुद्रं प्राज्ञास्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन।
लघुनेव मकरनिलयं वणिजः सद्यानपात्रेण॥

—'जैसे वणिक् लोग छोटे-से अच्छे यानपात्र से समुद्र को पार कर लेते हैं, वैसे ही प्राज्ञजन पात्र को दिये हुए दान के प्रभाव से दुःखसमुद्र को पार कर लेते हैं।"

कहने का तात्पर्य यह है कि[1] "ऊपर भूमि में बोये हुए अच्छे से अच्छे बीज निष्फल चले जाते हैं, वैसे ही कुपात्रों को दिया हुआ दान निष्फल जाता है।" "अपात्र में दिया हुआ दान सात कुल तक का नाश कर देता है, क्योंकि सर्प को पिलाया हुआ दूध आखिरकार जहर ही हो जाता है।"

वास्तव में अपात्र या कुपात्र को दिया हुआ दान न तो दाता को लौकिक लाभ दिलाता है, न लोकोत्तर ही। अपात्रदान से प्रायः पुण्यबन्ध भी नहीं होता, कभी-कभी अपात्र को जरा-सा कम दिया या कुछ हलकी चीज दे दी तो वह हल्ला मचाकर लोगों में दाता का उपकार मानने के बदले फजीहत करता है, दाता को व्यर्थ ही बदनाम करता रहता है। इस दृष्टि से अपात्रदान या कुपात्रदान संक्लेशकारक और आर्त्तध्यानकारक हो जाता है। इसीलिए महाभारत में अपात्र को दी हुई विद्या के सम्बन्ध में कहा है[2]—"कुत्ते की चमड़ी में गंगा का पानी रखा जाय, दूध को मद्य के घड़े में रखा जाय तो पवित्रता सुरक्षित नहीं रख सकते।" इसी प्रकार कुपात्र में निहित विद्या भी कोई पवित्रता नहीं रख सकती, न भला कर सकती है। कोई भी क्रिया अपात्र या कुपात्र (कुद्रव्य) में की हुई उसी तरह सफल नहीं हो सकती, जिस तरह सैकड़ों उपाय करने पर भी बगुले को तोते की तरह पढ़ाया नहीं जा सकता।"[3] तात्पर्य यह है कि सुपात्र में ही दी हुई विद्या फलित होती है, रखी हुई वस्तु

---

१. सुबीजमूषरे यद्वदुप्तं नैव प्ररोहति।
तद्वद्दत्तं कुपात्रेषु दानं भवति निष्फलम्॥ १५६॥
अपात्रे चापि यद्दानं दहत्यासप्तमं कुलम्।
दुग्धं हि दंदशूकाय विषमेव प्रजायते॥ १६०।

—धर्मसर्वस्वाधिकार

२. श्वानचर्मगता गंगा, क्षीरं मद्यघटस्थितम्।
कुपात्रे पतिता विद्या, किं करोति युधिष्ठिर!
नाद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्।
नव्यापारशतेनाऽपि शुकवत्पाठ्यते बकः॥

सुरक्षित रहती है। सुपात्र को दिया हुआ दान सफल होता है। इसीलिए व्यासस्मृति (४६) में बार-बार सुपात्र दान की प्रेरणा दी गई है—

> सुक्षेत्रे वापयेद् बीजं, सुपात्रे वापयेद् धनम्।
> सुक्षेत्रे सुपात्रे च, क्षिप्रं नैव हि दुष्यति ॥

अर्थात्—सुक्षेत्र और सुपात्र में डाला हुआ द्रव्य नष्ट नहीं होता, अतः सुक्षेत्र में बीज बोओ और सुपात्र को दान दो।

सूत्रकृतांगसूत्र की टीका में बताया गया है कि दान के सम्बन्ध में दाता यह जान ले कि मेरा दान दोषों का पोषण करने वाला है, फिर भी उसकी उपेक्षा करके बदस्तूर दान की तथाकथित क्रिया जारी रखता है, वह चन्दन को जलाकर उसके कोयले बनाकर जीविका करता है।[1] इसलिए सौ बातों की एक बात है कि दान देने से पहले, चतुर दाता को पात्रापात्र का विवेक स्वयं विचक्षण बुद्धि से करना चाहिए।

पात्र तीन प्रकार के हैं—(१) मुनि, (२) श्रावक और (३) सम्यग्दृष्टि। इन तीनों प्रकार के पात्रों को दान देना, उनके गुणों की प्रशंसा करना, औचित्य तथा अनतिक्रम की बुद्धि (दृष्टि) से यही दान सर्वसम्पत्कर माना गया है।[2]

अमितगति-श्रावकाचार (परि० ११) में कहा गया है[3]—जो व्यक्ति असंयतात्मा को दान देकर पुण्यफल की इच्छा करता है, वह जलती हुई अग्नि में बीज डालकर धान्य उत्पन्न करने की स्पृहा करता है। जो व्यक्ति कुपात्र हैं, या अपात्र हैं, हिंसा आदि विपरीत मार्ग पर चलते हैं, उन्हें कोई दाता, चाहे कितनी ही शुद्ध भावना से दान देता है, किन्तु वे कुपात्र या अपात्र तो अपनी आदत एवं प्रकृति के अनुसार उलटे ही रास्ते चलकर अपराधी बनते हैं।[4]

एक उर्दू शेर में कहा है—

> 'न दे देना शरीरों को तू माल-दौलत,
> गुनहगार होंगे ये तेरी बदौलत।'

---

१. दोषपोषकर्तां ज्ञात्वा तामुपेक्ष्य स्वयं क्रिया।
प्रज्वाल्य चन्दनं कुर्यात् कष्टामंगारजीविकाम् ॥ —सूत्रकृतांग टीका

२. अतः पात्रं परीक्षेत दानशौण्डः स्वयं धिया।
तत् त्रिधा स्यान्मुनिः श्राद्धः सम्यग्दृष्टिस्तथा परम् ॥
एतेषां दानमेतरस्य-गुणानामनुमोदनात्।
औचित्यानुतिवृत्त्या च सर्वसंपत्करं मतम् ॥ —अभिधानराजेन्द्रकोष

४. वितीर्य दानं त्वसंयतात्मने, जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके, समीहते सस्यमपास्तलक्षणम् ॥
—अ० श्रा० प० ११

इन सब दृष्टिकोणों से यह निर्विवाद कहा जा सकता है, कि दान देते समय जैसे उसकी विधि तथा द्रव्य एवं दाता के सम्बन्ध में विचार किया जाता है, वैसे ही पात्र के सम्बन्ध में विचार करना भी अत्यन्त आवश्यक है, ताकि दान देने के पश्चात् पश्चात्ताप करने और सुपात्र या पात्र के प्रति भी अथवा दान देने के प्रति भी अश्रद्धा प्रगट करने का अवसर न आये। इसीलिए भगवद्गीता में दान के साथ चेतावनी दी गई है कि—देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः—यानी देश, काल और पात्र को दिया हुआ दान ही सात्त्विक माना जाता है। अदेशकाल या अपात्र को दिया हुआ दान तामसदान माना जाता है। साथ ही महाभारत में "उसी दान को अनन्त कहा गया है जो देश, काल, न्यायागत धन और पात्र में दिया गया है।[1]

इन सब तथ्यों पर विचार करके हमें अनेकांतदृष्टि से पात्र का विचार करना चाहिए और विवेक पूर्वक दान करना चाहिए। ☆

---

१ काले पात्रे तथा देशे धनं न्यायागतं तथा।
यद् दत्तं ब्राह्मणश्रेष्ठास्तदनन्तं प्रकीर्तितम्॥

11

सुपात्र दान का फल

पूर्वोक्त अध्यायों में विभिन्न रूप से दान के फल बताए गए थे, परन्तु यहाँ पात्र, सुपात्र, कुपात्र और अपात्र के अनुसार दान देने के फल में कुछ तारतम्य मालूम होता है। दूध एक ही प्रकार का है, लेकिन सांप के मुँह में पड़कर वह जहर बन जाता है, जबकि मनुष्य के पेट में पड़ कर वह अमृत-का-सा काम करता है। इसी प्रकार कुपात्र और अपात्र को दिये गए पदार्थ का तथा पात्र व सुपात्र को दिये गए पदार्थ का परिणाम नजर आता है। जैनाचार्यों, वैदिक धर्म के महापुरुषों एवं विभिन्न धर्म के विचारकों ने इस विषय पर बहुत सुन्दर और स्पष्ट चिन्तन प्रस्तुत किया है।

रत्नसार में बताया गया है कि[1] "सत्पुरुषों को यथाविधि दिया गया दान कल्पवृक्ष के समान फलप्रद होता है और कुपात्रों को दिया गया दान शव के विमान को शृंगारित करने के समान शोभा देने वाला यानी क्षणिक कीर्ति दिलाने वाला होता है, विशेष लाभ का कारण नहीं होता।"

सर्वप्रथम हम विविध पात्रों को दान देने के फल का तारतम्य बता देते हैं, जिससे पाठकों को भलीभांति विदित हो जाय कि विविध पात्रों को दिये गये दान का क्या परिणाम आता है?

(१) हजार मिथ्यात्वियों के पोषण की अपेक्षा एक अविरति सम्यग्दृष्टि के पोषण (दान) का फल अधिक होता है।

(२) हजार अविरति सम्यग्दृष्टियों के पोषण की अपेक्षा एक व्रतधारी श्रावक के पोषण से अधिक फल प्राप्त होता है।

(३) हजार व्रतधारी श्रावकों के पोषण से भी अधिक फल एक महाव्रतधारी साधु या साध्वी के पोषण का होता है। और

(४) हजार महाव्रतधारियों के पोषण की अपेक्षा जिनेन्द्र भगवान को देने से अधिक फल होता है।

---

१ "सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरुणां फलाणसोहं वा।
लोहिणं दाणं जइ विमाण सोहा सवस्स जाणेह॥"

इस तारतम्य का कारण यह है कि गृहस्थ सम्यक्त्वी या श्रावक को दिया गया दान तो उसका अपना ही पोषण और कल्याण करता है, जबकि एक महाव्रती अथवा महाव्रतियों में भी शिरोमणि वीतराग प्रभु को दिया गया दान केवल अपना ही पोषण और कल्याण नहीं करता, वरन् उस दाता का भी कल्याण करता है। वास्तव में जैसे दाता, द्रव्य और विधि के उत्कृष्ट-निकृष्ट होने के कारण दान के फल में अन्तर हो जाता है, वैसे ही पात्र के भी उत्कृष्ट-निकृष्ट के कारण दान के फल में भी अन्तर हो जाता है।

अनगारधर्मामृत में इसी के सम्बन्ध में एक श्लोक पर्याप्त प्रकाश डालता है—'जो आहार गृहस्थ ने स्वयं अपने लिए बनाया हो, जो प्रासुक हो या त्रस एवं स्थावर जीवों से रहित हो, ऐसे भक्त-पानादि को गृहस्थ के द्वारा दिये जाने पर आत्मकल्याणार्थ ग्रहण करने वाला महाव्रती साधु केवल अपना ही नहीं, अपितु उस दाता का भी कल्याण करता है। यदि दाता सम्यग्दृष्टि है तो उसे स्वर्ग या मोक्ष रूपी लक्ष्मी के योग्य बना देता है और यदि दाता मिथ्यादृष्टि है तो उसे अभीष्ट विषयों की प्राप्ति करा देता है।[1]

सुपात्र दान के फल के विषय में आगमों में एक संवाद है। पूछा गया है—

'भंते ! श्रमणोपासक (श्रावक) यदि तथारूप श्रमण-माहन को प्रासुक-एषणीय आहार देता है, तो उसे क्या लाभ होता है?'[2]

'गौतम ! वह एकान्त (सर्वथा) कर्मनिर्जरा (कर्मक्षय) करता है, लेकिन किञ्चित्मात्र भी पापकर्म का बन्ध नहीं करता।

एक जैनाचार्य सिन्दूरप्रकरण (७७) में भी इसी बात का समर्थन करते हैं—'सुपात्र को दिया हुआ पवित्र धन (द्रव्य) मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने वाला होता है।'[3]

---

१ यद्भक्तं गृहिणाऽत्मने कृतमपैतैकाक्षजीवं त्रसैर्,
निर्जीवैरपि वर्जितं तदशनाद्यात्मार्थसिद्ध्यै यतिः।
युञ्जनुद्धरति स्वयमेव, न परं किं, तर्हि सम्यग्दृशम्,
दातारं द्युशिवश्रिया च युङ्क्ते भोगैश्च मिथ्यादृशम्॥

—सागारधर्मामृत, अ० ५ श्लोक ६६

२ समणोवासगस्सणं भंते ! तहारुवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलामेमाणस्स किं कज्जइ ?
गोयमा एगंतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थिय से पावे कम्मे कज्जइ।

—भगवती सूत्र ८।६

३ निर्वाणश्रियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रं धनम्।

अभिधान राजेन्द्रकोष[1] के अनुसार सामान्य रूप से सुपात्र को दान देकर दाता पुण्यानुबन्धी पुण्य का उपार्जन करता है, किन्तु पापानुबन्धी पुण्य या पापानुबन्धी पापकर्म का बन्ध नहीं करता, बल्कि पूर्वबद्ध पापकर्म से मुक्त हो जाता है। आगे उसमें यहाँ तक कहा गया है कि पात्र विशेष को या तथाविध गाढ़ कारण उपस्थित होने पर जो आहारादि देता है, वह शुद्ध हो या अशुद्ध हो, उससे पूर्वबद्ध पापकर्म तो छूट ही जाता है, नया कोई भी पापकर्म या पापानुबन्धी या पुण्यानुबन्धी कर्म नहीं बाँधता। अर्थात् वह कर्मक्षय ही करता है। जैसे विष (शोधित) भी अमुक रोग में योग्य व्यक्ति लेता है तो वह अमृत रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही अशुद्ध आहार भी सुपात्र को कारण विशेष में देने पर वह भी दाता के लिए अशुभ-परिणामकारक नहीं होता।

भगवतीसूत्र में श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर और गौतम का इस सम्बन्ध में एक और संवाद मिलता है। गौतम गणधर भगवान् महावीर से पूछते हैं—'भगवन् ! जीव शुभ (सुखोपभोग सहित, अकालमृत्यु से रहित) दीर्घ आयुष्य किन-किन कारणों से प्राप्त करता है ?' इसके उत्तर में वे फरमाते हैं—'गौतम ! जो व्यक्ति जीवहिंसा नहीं करता, असत्य नहीं बोलता, श्रमण श्रावकों का गुणानुवाद या सत्कार-सम्मान करता है, उन्हें मनोज्ञ पथ्यकारक भोजन-पानी, पक्वान्न, मुखवास आदि चतुर्विध आहार देता है; वह सुखपूर्वक पूर्ण करने योग्य दीर्घायु प्राप्त करता है।[2] सूत्रकृतांग में बताया है कि श्रमण निर्ग्रन्थों का शुद्ध निर्दोष आहार आदि १४ प्रकार का दान देने वाला सद्गृहस्थ दाता (श्रमणोपासक) आयुष्य पूरा होने पर स्वर्ग में महान् ऋद्धि सम्पन्न सुख-वैभवशाली देव होता है।[3]

सुपात्रदान का लौकिक लाभ

सुपात्रदान का फल जहाँ पारलौकिक एवं परमार्थरूप-फल अनेक जैनशास्त्रों में बताया गया है, वहाँ उसका इहलौकिक फल भी कम नहीं है। ऐसा नहीं होता कि

---

१ शुद्धं दत्वा सुपात्राय सानुबन्धशुभार्जनात् ।
सानुबन्धं न बध्नाति, पापंबद्धं च मुंचति ॥
भवेत्पात्रविशेषे वा, कारणे वा तथाविधे ।
अशुद्धस्यापि दानं हि, द्वयोर्लाभायनान्यथा ॥

—पृष्ठ २४९८

२ "कहण्णं भंते ! जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?" गोयमा ! नो पाणे अइवाइत्ता, नो मुसं वाइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता जाव पज्जुवासित्ता जाव अन्नयरेणं पीइकारएणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभित्ता एवं खलु जीवा जाव पकरेंति ।" - भगवतीसूत्र श० ५, उ० ६

३ सूत्रकृतांग— २।२।३९—महइड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्खेसु··· ।

सुपात्रदान देने वाला दान धुरंधर मरने के बाद परलोक में ही सुखोपभोग प्राप्त करता हो, यहाँ उसे अपने दान के फलस्वरूप कुछ भी सुफल न मिलता हो। हालांकि श्रेष्ठ-दाता किसी भी प्रकार के इहलौकिक या पारलौकिक ही नहीं, लोकोत्तर फल की भी इच्छा और आकांक्षा अपने दान के पीछे नहीं रखता, वह तो निष्काम और निःस्वार्थ होकर ही सुपात्र को दान देता है, किन्तु उसके दानादि शुभ कार्य उसका फल तो अवश्य ही देते हैं। 'रयणसार' में इस विषय में विशद वर्णन मिलता है। वहाँ बताया गया है कि—"सुपात्र को दान देने से भोगभूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है और क्रमशः मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य उत्तम खेत में अच्छे बीज बोता है, उसे उसका मनोवांछित फल पूर्णरूप से मिलता है; इसी प्रकार उत्तम पात्र में जो विधिपूर्वक दान देता है उसे सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है।[1] 'जिन जीवों ने एक बार भी सुपात्र को आहारदान दिया है, वे मिथ्यादृष्टि होते हुए भी भोगभूमि के सुखों का उपभोग कर स्वर्ग सुख को प्राप्त करते हैं।'[2] सुपात्रदान के फल के सम्बन्ध जैनशास्त्रों में अनेक उदाहरण मिलते हैं, कुछ का उल्लेख तो हम पहले कर चुके हैं। फिर भी यहाँ एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा, जिससे पाठक इसे भली-भाँति हृदयंगम करलें।

दान का महाफल

महाविदेह क्षेत्र मे हर समय तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं। उनके अनुयायी श्रमण-श्रमणी भी रहते हैं। एक बार मुनियों का एक समुदाय विहार करता हुआ चला जा रहा था। उनमें से एक मुनि पीछे रह गये। वे मार्ग भूल गये। पशुओं के पदचिह्नों को देखते-देखते वे चलने लगे। परन्तु आगे चलकर वह रास्ता भी बन्द हो गया। मुनि एक भयंकर जंगल में फँस गये। रास्ता भूल जाने की परेशानी के साथ ही असह्य गर्मी के कारण उनका कण्ठ प्यास से सूखा जा रहा था। थकान भी थी। पैर भी चलने से जवाब दे रहे थे। निर्जन वन में कोई मनुष्य भी नही दिखाई दे रहा था, जिससे वे रास्ता पूछ लें। मुनि ने सोचा—'अब यह शरीर रहने वाला नहीं। इसलिए समाधिमरणपूर्वक ही इसे छोड़ना उत्तम है। उन्होने एक वृक्ष के नीचे भूमि का प्रमार्जन (सफाई) किया और संथारा (अनशन) करने का विचार किया। जड़-चेतन के भेद की बातें करने वाले बहुत हैं, पर देहाध्यास छोड़ने वाले बिरले हैं। देहा-

---

१ दिण्णइ सुपत्तदाणं विससतो होइ भोगसग्गमही।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं॥
खेत्तविसमे काले ववियं सुबीयं फलं जहा विउलं।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं॥ —रयणसार १६-१७

२ सारैकदानभोगेन दृष्टिहीना नरा गताः।
देवालयं सुमुक्त्वाऽपि भोगभूम्यादिजं सुखं॥ —प्रश्नोत्तरश्रावकाचार

भ्यास तो दूर, शिष्याभ्यास, पात्रादि साधनाभ्यास छोड़ना भी दुष्कर है। अचानक एक बढ़ई उधर से आ निकला। उसने भयंकर वन में मुनि को देखा तो सोचा—'यहाँ यह मुनि कैसे बैठे हैं ?' देखते ही उसका हृदय हर्षित हो उठा। पास में आकर वन्दन करके बोला—'स्वामिन् ! आप यहाँ कैसे पधार गये ? पधारिए मेरे साथ शुद्ध आहार-पानी ग्रहण करिए।' मुनि बोले—'भाई ! मैं रास्ता भूल गया। इस घोर जंगल में फँस गया। मैं तो अब अनशन करने ही वाला था, इतने में तुम आ गये। तुम कौन हो ? यहाँ कैसे आए ?' बढ़ई बोला—'मुनिवर ! मैं बढ़ई हूँ। यहाँ जंगल में लकड़ियाँ काटने आया हूँ। मेरे साथ बहुत बड़ा काफला है। आप मेरे डेरे पर पधारिये और अपने लिए लाए हुए हमारे भोजन में से कुछ ग्रहण कीजिए।' मुनि उसके साथ उसके डेरे पर पहुँचे और शुद्ध आहार-पानी ग्रहण किया। बढ़ई ने भक्ति-भावपूर्वक आहार-पानी दिया। दान के बदले उसे कुछ भी पाने की भावना न थी। दान देकर बदले में कुछ न चाहना बहुत कठिन है। जैन साधु न तो आशीर्वाद देते हैं और आहारादि न मिलने पर पश्चात्ताप भी नहीं करते। लेने-देने वाला शुद्धभाव से लेन्दे तो सुपात्रदान दाता संसारपरित्त करके कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी हो जाता है, मिथ्यात्व से हटकर सम्यक्त्व में आ जाता है।

मुनि ने आहार किया और पेड़ के नीचे बैठकर उस श्रद्धालु बढ़ई को उपदेश दिया। उपदेश क्या था—शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान का बोध था—त्याग में ही सुख है, तृष्णा में दुःख है। आत्मा को समझ कर अपने आत्मस्वरूप में रमण करने से ही भवभ्रमण मिट सकता है। जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ अधर्म है, वीतरागता ही धर्म है। समस्त प्राणियों को आत्मभूत समझो। किसी भी जीव की हिंसा, असत्य, चोरी, आदि करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है।.......' मुनि का उपदेश सुनते-सुनते बढ़ई तन्मय हो गया। वह उनकी हितैषिता, निःस्पृहता, त्यागभाव, अपरिग्रहवृत्ति आदि पर मुग्ध हो गया। मन ही मन कहा—'सच्चे साधु तो ये हैं। जो बिना कुछ पैसा लिये यथार्थ मार्ग बताते हैं।' अतः भावविभोर होकर बढ़ई ने कहा—पधारो मुनिराज ! मैं आपके साथ रास्ता बताने चल रहा हूँ। यह पहाड़ी मार्ग है। बिना बताए आप पार नहीं कर सकेंगे।' मोक्षमार्ग बताने वाले मुनि को द्रव्यमार्ग बताने बढ़ई साथ में चला। काफी दूर चलने के बाद मुनि ने कहा—'भाई ! अब आगे मैं स्वयं चला जाऊँगा। अब तुम्हें मेरे साथ आने की जरूरत नहीं। मैंने मार्ग समझ लिया है। इस भयानक जंगल में जैसे तुमने मुझे मार्ग बताया है, वैसे मैं भी तुम्हें संसारसागर से तिरने का मार्ग बताता हूँ। सम्यग्दर्शन रूपी बीज देता हूँ। इसे सुरक्षित रखना। इससे तुम्हारा भवभ्रमण मिट जाएगा, हृदय में सुदेव, सुगुरु और सद्धर्म की शरण लेना, तुम्हारा उद्धार हो जाएगा।' मुनि ने बोध देकर बढ़ई के हृदय में सुधर्म के बीज बो दिये।

इस सुपात्रदान के फलस्वरूप बढ़ई सम्यग्दर्शन पाकर वहाँ से शरीर छोड़कर

वैमानिक देव बना। सम्यक्त्वी जीव नीच स्त्रीवेद और नीची कोटि के देवभवों का बंध नहीं करता।

देवलोक से च्यव कर भगवान ऋषभदेव के पौत्र के रूप में उस बढ़ई के जीव ने जन्म लिया। भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरीचिकुमार बना। चक्री का पुत्र और तीर्थंकर का पौत्र बनना कितने महान् पुण्य का फल है। यह कालचक्र के तीसरी आरे की बात है। भ० ऋषभदेव ने यौगलिक जनता को मार्गदर्शन दिया, समाज और राज्य की व्यवस्था की, फिर वे स्वयं मुनि बन गये। भ० ऋषभदेव के साथ ही ४००० कुमारों ने दीक्षा ग्रहण की, उनमें से मरीचि भी एक था। किन्तु मरीचि ने आगे चल कर त्रिदण्डी संन्यासी का मार्ग अपनाया।

एक दिन भगवान ऋषभदेव से भरत चक्रवर्ती ने पूछा—'भगवन्! इस धर्म परिषद् में क्या कोई योग्यतम महापुरुष है?' "परिषद् के बाहर तुम्हारा पुत्र मरीचिकुमार मेरे ही समान चौबीसवाँ तीर्थंकर बनेगा।"—यह है सुपात्रदान का फल। इसी प्रकार भगवान् ऋषभदेव को एक वर्ष के दीर्घकालीन अभिग्रह (तप) के पारणा में इक्षुरस का दान श्रेयांसकुमार (उन्हीं के पौत्र) ने दिया था, जिसका महाफल भी उन्हें प्राप्त हुआ।

वास्तव मे सुपात्रदान का फल महापुण्य के रूप में मिलता ही है, किन्तु कर्मों की महान् निर्जरा (कर्मक्षय) के फलस्वरूप एक दिन मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है।

आचार्यों ने सुपात्रदान का विविध फल बताते हुए कहा है—

—"अच्छे माता-पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि कुटुम्ब-परिवार का सुख और धन-धान्य, वस्त्र-अलंकार, हाथी, रथ, महल तथा महाविभूति आदि का सुख सुपात्रदान का फल है। सात प्रकार के राज्यांग, नौ निधियाँ, चौदह रत्न, माल, खजाना, गाय, हाथी, घोड़े, सात प्रकार की सेना, षट्खण्ड का राज्य, और ९६ हजार रानियाँ, ये सब सुपात्रदान के ही फल हैं। उत्तम कुल, सुन्दर रूप, शुभ लक्षण, श्रेष्ठ तीक्ष्ण बुद्धि, उत्तम निर्दोष शिक्षण, उत्तम शील, उत्कृष्ट गुण, सम्यक् चारित्र, शुभ लेश्या, शुभ नाम और समस्त प्रकार के भोगोपभोग की सामग्री आदि सब सुख के साधन सुपात्रदान के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं।"[1]

---

१ मादु-पिदु-पुत्त-मित्तं कलत्त-धण-धण्ण-वत्थु-वाहण-विसयं।
संसारसोक्ख जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥१९॥
सत्तंगरज्ज-णवणिहिभंडार-सडंग-बल-चउद्दहरयणं।
छण्णवदिसहस्सिच्छिविहउ जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥२०॥
सुकुल-सुरूव-सुलक्खण-सुमइ-सुसिक्खा-सुसील-सुगुणचारित्तं।
सुहलेसं सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाणफलं ॥२१॥
—रयणसार १९।२०।२१

इसी प्रकार पात्रदान का माहात्म्य पद्मनन्दिपंचविंशतिका में भी स्पष्टतः बताकर पात्रदान की प्रेरणा दी गई है—[1]'सौभाग्य, शूरवीरता, सुख, सौन्दर्य, विवेक, बुद्धि, आदि विद्या, शरीर, धन और महल तथा उत्तम कुलों में जन्म होना यह सब पात्रदान के द्वारा ही प्राप्त होता है। फिर हे भव्यजन ! तुम इस पात्रदान के विषय में प्रयत्न क्यों नहीं करते ?'

सचमुच सुपात्रदान में लौकिक और लोकोत्तर सभी प्रकार के सुख साधन प्राप्त होते हैं। सुपात्रदान देने वाला व्यक्ति उस समय अल्प धन होते हुए मन में निर्धनता महसूस नहीं करता। जैसे बादल एकदम बरस कर खाली हो जाते हैं, सारे का सारा पानी वर्षा कर देने पर भी वे अपने में भरे के भरे रहते हैं, उसी प्रकार सुपात्रदान देने वाला प्रचुर दान या सर्वस्व दान दे देने पर भी जीवन में रिक्तता या अभाव का अनुभव नहीं करता। इसीलिए ऐसे महान् सुपात्रदाता को दान देने के पश्चात् कभी ग्लानि या पश्चात्ताप नहीं होता, और न ही अपने आपका कष्ट महसूस होता है, क्योंकि वह दूसरों को भरा देखकर स्वयं प्रसन्न होता है। इसीलिए अमित गति श्रावकाचार में कहा है—जो सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे अगर उच्च भावों से सुपात्र को विधिपूर्वक दान करते हैं तो वे समाधिपूर्वक मरकर अच्युतपर्यन्त देवलोक की दिव्यभूमि में उत्पन्न होते हैं।[2]

[3]इस प्रकार सुखदायिनी लक्ष्मी का उपभोग करके दो-तीन भवों में समस्त कर्मों को ध्यान रूपी अग्नि से जलाकर वह पुण्यात्मा आपत्तियों से रहित (निराबाध) मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दृष्टि के द्वारा प्रदत्त सुपात्रदान निराला ही होता है। उसकी हृदयभूमि में उदारता की उत्तुंग तरंगें उछलती रहती हैं।[4] किन्तु जिसने मिथ्यात्व अवस्था में ही पहले मनुष्यायु का बंध कर लिया है, बाद में जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है। ऐसे मनुष्य पात्रदान देने से तथा ऐसे ही तिर्यञ्च पात्रदान की अनुमोदना करने से निश्चय

---

१ सौभाग्य-शौर्य-सुखरूप-विवेकिताद्या, विद्यावपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म।
सम्पद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात्, तस्मात् किमत्र सततं क्रियते न यत्नः ?
—पद्मनन्दिपंचविंशति २।४४

२ पात्राय विधिना दत्त्वा दानं मृत्वा समाधिना।
अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टयः॥
—अमितगति श्रावकाचार ११।१०२

३ निषेव्य लक्ष्मीमिति शर्मकारिणी, प्रथीयसी द्वि-त्रिभवेषु कल्मषम्।
प्रदह्यते ध्यानकृशानुनाखिलं श्रयन्ति सिद्धिं विधुतापदं सदा॥१२३॥
—अमित श्रा

४ बद्धाउगा सुदिट्ठी अणुमोयणेण तिरिया वि।
णियमेणुववज्जंति य ते उत्तमभोगभूमीसु॥वसु० श्रा० २४९॥

ही भोगभूमियों में उत्पन्न होते हैं।" उत्कृष्ट पात्र बलभद्र मुनि को जंगल में आहार की दलाली करने वाला पुण्यात्मा मृग इसी कारण शुभ भावों से मरकर देवलोक में गया था। "जो अविरत सम्यग्दृष्टि और देश संयत (श्रावक व्रती) जीव होते हैं, वे तीनों प्रकार के पात्रों को दान देने के फलस्वरूप स्वर्ग मे महर्द्धिक देव होते हैं। उक्त प्रकार सभी जीव यदि मनुष्य भव में आते हैं तो चक्रवर्ती आदि होते हैं। तब कोई वैराग्य का निमित्त पाकर प्रतिबुद्ध हो जाते हैं, कोई राज्यलक्ष्मी को छोड़कर संयम ग्रहण करते हैं और क्रमशः केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्व को पुनः-पुनः प्राप्त कर सात-आठ भवों में नियम से कर्मक्षय कर लेते हैं।"[१] उत्तम पात्र को दान देने या उनको दान देने की अनुमोदना करने से जिस भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं, वहाँ जीवन पर्यन्त नीरोग रहकर सुख से बढ़ते रहते हैं।[२]

यह है सुपात्रदान के फलों का लेखा-जोखा! असल मे सुपात्रदान देने वाला स्वयं तो इन फलों के चक्कर में पड़ता नहीं, न वह फल प्राप्ति के लिए उतावला और अधीर ही होता है, वह तो कर्मयोगी की तरह सुपात्र को देखते ही जो उनके ग्रहण करने योग्य होता है, वह सब कुछ उनको दे देता है, फल की ओर आँखें उठा कर नहीं देखता। किन्तु ज्ञानी पुरुष तो उस सुपात्र दान का फल बताते ही हैं।

सुपात्र की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन कोटियाँ और उनमें भी कई स्तर होते हैं। इसलिए विविध धर्मग्रन्थों में बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया गया है। तीनों कोटि के सुपात्रों को मिथ्यादृष्टि द्वारा दान देने का अलग-अलग फल भी अमित गति-श्रावकाचार एवं वसुनन्दिश्रावकाचार में बताया है—"जो मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट पात्र को दान देता है, वह दानी महोदय उत्कृष्ट भोग भूमियों में जाता है।[३]" जो मिथ्यादृष्टि मध्यम पात्र को दान देता है, वह जीव मध्यम भोगभूमि में उत्पन्न

---

१ जे पुण समाइट्ठी विरयाविरया वि तिविहपत्तस्स।
जायंति दाणफलओ कप्पेसु महड्ढिया देवा ॥२६५॥
पडिबुद्धिऊण चइऊण णिवसिरिं, संजमं च छित्तूण।
उप्पाइऊण णाणं, केई गच्छंति णिव्वाणं ॥२६८॥
अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणो पुणो लहिऊण।
सत्तट्ठभवेहि तओ तरंति कम्मक्खयं णियमा ॥२६९॥
—वसुनन्दी श्रावकाचार

२ दानाद् दानानुमोदनाद् वा यत्र पात्रसमाश्रितात्।
प्राणिनः सुखमेधन्ते यावज्जीवमनामयाः॥
—महापुराण ९।

३ पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टिः प्रयच्छति।
स याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदयः ॥९२॥ अमित० श्रा०

होता है। और जो उक्त प्रकार का मिथ्यादृष्टि मनुष्य जघन्य पात्र को भी दान देता है, वह जीव उस दान के फलस्वरूप जघन्य भोग भूमियों में उत्पन्न होता है।"[1]

किन्तु इन सबके विपरीत अगर कोई कुपात्र को दान देता है तो उसका फल उसे मोक्षफल के रूप में नहीं प्राप्त होता, अपितु वह पुण्य बन्धरूप फल को प्राप्त होता है। प्रवचनसार, हरिवंशपुराण, अमितगतिश्रावकाचार तथा सुभाषित रत्न भाण्डागार आदि में कुपात्रदान का इहलौकिक एवं पारलौकिक फल भी विशदरूप से बताया गया है—'जो जीव छद्मस्थविहित वस्तुओं में (छद्मस्थ देव-गुरु-धर्म आदि पात्रों) में व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दान में रत होता है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता। किन्तु सातात्मक (सातावेदनीय कर्म के पुण्य-फलस्वरूप) भाव को प्राप्त होता है।"[2] कुपात्रदान के प्रभाव से मनुष्य भोगभूमियों में तिर्यञ्च होता है। अथवा कुमानुष कुलों में उत्पन्न होकर अन्तर्द्वीपों का उपभोग करते हैं।"[3] "कुपात्रदान से जीव कुभोगभूमि को पाते हैं। खराब खेत में बीज बोने पर कौन सुक्षेत्र का फल प्राप्त कर सकता है? कोई भी नहीं।"[4] "जो अन्तर्द्वीपों (५६ अन्तर्द्वीपों) के म्लेच्छ-खण्डों में पैदा होते हैं या हुए हैं, समझ लो, वे सब कुपात्रदान के प्रभाव से होते हैं। जो मनुष्यलोक में आर्यखण्ड में दासी, दास, हाथी, म्लेच्छ, कुत्ते आदि भोगवन्त जीव दिखाई देते हैं, समझ लो, उनका भोग प्रत्यक्षतः कुपात्रदान का प्रभाव है। यहाँ

---

१ जो मज्झिमम्मि पत्तम्मि देइ दाणं खु वामदिट्ठी वि।
सो मज्झिमासु जीवो, उपज्जइ भोगभूमीसु ॥२४६॥
जो पुण जहण्ण पत्तम्मि देइ दाणं तहाविहो वि णरो।
जायइ फलेण जहण्ण सुभोयभूमीसु सो जीवो ॥२४७॥ —वसु० श्रा०

२ छद्मत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भाव, भाव सादप्पगं लहदि॥ —प्रवचनसार मू० २५६

३ कुपात्रदानतो भूत्वा तिर्यञ्चो भोगभूमिसु।
संभुञ्जतेऽन्तरं द्वीपं कुमानुषकुलेषु वा॥ —हरिवंशपुराण ७।११५

४ कुपात्रदानतो याति कुत्सितां भोगमेदिनीम्।
उप्ते क्वःकुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते ॥८४॥
येऽन्तरद्वीपजाःसन्ति ये नरा म्लेच्छखण्डजाः।
कुपात्रदानतः सर्वे ते भवन्ति यथायथम् ॥८५॥
दासीदास द्विप म्लेच्छ सारमेयादयोऽत्र ये।
कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम् ॥८७॥
दृश्यन्ते नीचजातीनां ये भोगा भोगिनामिह।
सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदयाः ॥८८॥
वर्यमध्यमजघन्यासु तिर्यञ्चः सन्ति भूमिषु।
कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुञ्जते तेऽखिलाः फलम् ॥८६॥ —अमित० श्रावकाचार

ही भोगभूमियों में उत्पन्न होते हैं।" उत्कृष्ट पात्र बलभद्र मुनि को जंगल में आहार की दलाली करने वाला पुण्यात्मा मृग इसी कारण शुभ भावों से मरकर देवलोक में गया था। "जो अविरत सम्यग्दृष्टि और देश संयत (श्रावक व्रती) जीव होते हैं, वे तीनों प्रकार के पात्रों को दान देने के फलस्वरूप स्वर्ग में महर्द्धिक देव होते हैं। उक्त प्रकार सभी जीव यदि मनुष्य भव में आते हैं तो चक्रवर्ती आदि होते हैं। तब कोई वैराग्य का निमित्त पाकर प्रतिबुद्ध हो जाते हैं, कोई राज्यलक्ष्मी को छोड़कर संयम ग्रहण करते हैं और क्रमशः केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्व को पुनः-पुनः प्राप्त कर सात-आठ भवों में नियम से कर्मक्षय कर लेते हैं।"[1] उत्तम पात्र को दान देने या उनको दान देने की अनुमोदना करने से जिस भोगभूमि मे उत्पन्न होते हैं, वहाँ जीवन पर्यन्त नीरोग रहकर सुख से बढ़ते रहते हैं।[2]

यह है सुपात्रदान के फलों का लेखा-जोखा! असल में सुपात्रदान देने वाला स्वयं तो इन फलों के चक्कर में पड़ता नहीं, न वह फल प्राप्ति के लिए उतावला और अधीर ही होता है, वह तो कर्मयोगी की तरह सुपात्र को देखते ही जो उनके ग्रहण करने योग्य होता है, वह सब कुछ उनको दे देता है, फल की ओर आँखें उठा कर नहीं देखता। किन्तु ज्ञानी पुरुष तो उस सुपात्र दान का फल बताते ही हैं।

सुपात्र की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन कोटियाँ और उनमें भी कई स्तर होते हैं। इसलिए विविध धर्मग्रन्थों में बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया गया है। तीनों कोटि के सुपात्रों को मिथ्यादृष्टि द्वारा दान देने का अलग-अलग फल भी अमित गति-श्रावकाचार एवं वसुनन्दिश्रावकाचार में बताया है—"जो मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट पात्र को दान देता है, वह दानी महोदय उत्कृष्ट भोग भूमियों में जाता है।[3]" जो मिथ्यादृष्टि मध्यम पात्र को दान देता है, वह जीव मध्यम भोगभूमि में उत्पन्न

---

१ जे पुण समाइट्ठी विरयाविरया वि तिविहपत्तस्स।
जायंति दाणफलओ कप्पेसु महड्ढिया देवा ॥२६५॥
पडिबुद्धिऊण चइऊण णिवसिरिं, संजमं च घित्तूण।
उप्पाइऊण णाणं, केई गच्छंति णिव्वाणं ॥२६८॥
अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणो पुणो लहिऊण।
सत्तट्ठभवेहि तओ तरंति कम्मक्खयं णियमा ॥२६९॥

—वसुनन्दी श्रावकाचार

२ दानाद् दानानुमोदनाद् वा यत्र पात्रसमाश्रितात्।
प्राणिनः सुखमेधन्ते यावज्जीवमनामयाः ॥

—महापुराण ९।८५

३ पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टिः प्रयच्छति।
स याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदयः ॥६२॥ अमित० श्रा०

होता है। और जो उक्त प्रकार का मिथ्यादृष्टि मनुष्य जघन्य पात्र को भी दान देता है, वह जीव उस दान के फलस्वरूप जघन्य भोग भूमियों में उत्पन्न होता है।"[1]

किन्तु इन सबके विपरीत अगर कोई कुपात्र को दान देता है तो उसका फल उसे मोक्षफल के रूप में नहीं प्राप्त होता, अपितु वह पुण्य बन्धरूप फल को प्राप्त होता है। प्रवचनसार, हरिवंशपुराण, अमितगतिश्रावकाचार तथा सुभाषित रत्न भाण्डागार आदि में कुपात्रदान का इहलौकिक एवं पारलौकिक फल भी विशदरूप से बताया गया है—'जो जीव छद्मस्थविहित वस्तुओं में (छद्मस्थ देव-गुरु-धर्म आदि पात्रों) में व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दान में रत होता है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता। किन्तु सातात्मक (सातावेदनीय कर्म के पुण्य-फलस्वरूप) भाव को प्राप्त होता है।"[2] कुपात्रदान के प्रभाव से मनुष्य भोगभूमियों में तिर्यञ्च होता है। अथवा कुमानुष कुलों में उत्पन्न होकर अन्तर्द्वीपों का उपभोग करते हैं।"[3] "कुपात्रदान से जीव कुभोगभूमि को पाते हैं। खराब खेत में बीज बोने पर कौन सुक्षेत्र का फल प्राप्त कर सकता है? कोई भी नहीं।"[4] "जो अन्तर्द्वीपों (५६ अन्तर्द्वीपों) के म्लेच्छ-खण्डों में पैदा होते हैं या हुए हैं, समझ लो, वे सब कुपात्रदान के प्रभाव से होते हैं। जो मनुष्यलोक में आर्यखण्ड में दासी, दास, हाथी, म्लेच्छ, कुत्ते आदि भोगवन्त जीव दिखाई देते हैं, समझ लो, उनका भोग प्रत्यक्षतः कुपात्रदान का प्रभाव है। यहाँ

---

१ जो मज्झिमम्मि पत्तम्मि देइ दाणं खु वामदिट्ठी वि।
सो मज्झिमासु जीवो, उप्पज्जइ भोगभूमीसु ॥२४६॥
जो पुण जहण्ण पत्तम्मि देइ दाणं तहाविहो वि णरो।
जायइ फलेण जहण्ण सुभोयभूमीसु सो जीवो ॥२४७॥ —वसु० श्रा०

२ छद्मत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं, भावं सादप्पगं लहदि ॥ —प्रवचनसार सू० २५६

३ कुपात्रदानतो भूत्वा तिर्यञ्चो भोगभूमिषु।
संभुञ्जतेऽन्तरं द्वीपं कुमानुषकुलेषु वा ॥ —हरिवंशपुराण ७।११५

४ कुपात्रदानतो याति कुत्सितां भोगमेदिनीम्।
उप्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते ॥८४॥
येऽन्तरद्वीपजाः सन्ति ये नरा म्लेच्छखण्डजाः।
कुपात्रदानतः सर्वे ते भवन्ति यथायथम् ॥८५॥
दासीदास द्विप म्लेच्छ सारमेयादयोऽत्र ये।
कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम् ॥८७॥
दृश्यन्ते नीचजातीनां ये भोगा भोगिनामिह।
सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदयाः ॥८८॥
वर्यमध्यमजघन्यासु तिर्यञ्चः सन्ति भूमिषु।
कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुञ्जते तेऽखिलाः फलम् ॥८६॥ —अमित० श्रावकाचार

आर्यखण्ड में नीच जाति के भोगी जीवों के महोदयरूप जो भोग दिखाई देते हैं, वे सब कुपात्रदान के प्रभाव से दिये जाते हैं। उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमियों में जो तिर्यंच हैं, वे सब कुपात्रदानरूपी वृक्ष के फल भोग रहे हैं।

इसी प्रकार सुभाषित रत्न भाण्डागार में कुपात्रदान का फल अत्यन्त निकृष्ट बताया गया है कि कुपात्रदान से प्राणी दरिद्र होता है। दरिद्र होकर पाप करता है और पाप करके नरक में जाता है। इस प्रकार बार-बार कुपात्रदानी दरिद्र एवं पापी बनता रहता है।

कुपात्र दान का निषेध नहीं !

श्वेताम्बर जैनागम भगवती सूत्र में कुपात्रदान के विषय में श्रमण भगवान् महावीर और गणधर गौतम का एक संवाद मिलता है। श्री गणधर गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर से पूछा—"भंते ! तथारूप असयत, अविरत, पापकर्म से अनिवृत्त व्यक्ति (पात्र) को प्रासुक, अप्रासुक, ऐषणीय या अनेषणीय अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूप चार प्रकार आहार देने से श्रावक को क्या फल होता है ?" श्रमण भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—"गौतम ! उसे एकान्त पाप होता है, उसे किसी प्रकार की कर्मों की निर्जरा नहीं होती।

सचमुच कुपात्रदान का फल बहुत कटु है। परन्तु जैनधर्म इतना निष्ठुर नहीं है, और न ही निष्ठुर बनना सिखाता है। उसका आशय कुपात्रदान के पीछे यही है कि कुपात्र को जहाँ गुरुबुद्धि से, धर्मबुद्धि से, या मोक्षफल प्राप्ति की दृष्टि से दिया जाता है, वही उसका फल एकान्त पाप कर्मबन्ध के रूप मे आता है। जहाँ अपात्र या कुपात्र भी संकट में पड़ा हो, अथवा विषम परिस्थिति में हो, रोगग्रस्त हो, दयनीय हालत मे हो, अत्यन्त निर्धन, अंग-विकल, असहाय एवं पराश्रित हो, वह सुधरना चाहता हो, पात्र या सुपात्र बनने की भूमिका पर हो, वहाँ उसे देने से एकान्त पाप नही होता। प्रमाण के लिए देखिये अभिधान राजेन्द्र कोष के वे श्लोक—

> शुद्धं वा यदशुद्धं वाऽसंयताय प्रदीयते।
> गुरुत्वबुद्ध्या तत्कर्म बन्धकृन्नानुकम्पया॥
> अथवा यो गृही मुग्धो, लुब्धकज्ञातभावितः।
> तस्य तत् स्वल्पबन्धाय बहुनिर्जरणाय च॥

—'आहारादि शुद्ध हो या अशुद्ध यदि असयमी को गुरुबुद्धि से दिया जाता है, तो वह कर्मबन्ध कारक होता है, अनुकम्पाबुद्धि से दिया जाता है तो वह कर्मबन्ध-कर्ता नहीं होता। अथवा जो भोलाभाला गृहस्थ किसी अपात्र या कुपात्र का भविष्य उज्ज्वल जान कर उसके गुणों से लुब्ध होकर उसे दान देता है, वह दान भी उसके लिए अल्पकर्मबन्धकारक तथा बहुत निर्जराकारक होता है।

इसी प्रकार जो असंयती, अव्रती हैं, पापकर्मकर्ता हैं, वेशधारी मिथ्या दृष्टि हैं। उन अपात्रों या कुपात्रों को भी गुरुबुद्धि या धर्मबुद्धि से दान देना तो कर्मबन्ध कारक है ही, लेकिन उनको संकटग्रस्त देखकर अनुकम्पाबुद्धि से दान देने में पापकर्म

का बन्ध नहीं होता। देखिये भगवतीसूत्र की वृत्ति में तथा अन्यत्र भी इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है—

मोक्खत्थं च जे दाणं एसवियत्ता मोक्खाओ।
अणुकंपादाण पण जिणेहि कहिं वि न पडिसिद्धं॥

अर्थात्—मिथ्यात्वी या असंयती कुपात्रों या अपात्रों को गुरुबुद्धि से या मोक्षफल की बुद्धि से यदि श्रमणोपासक दान देता है तो उसके सम्यक्त्व में दोष लगता है और उस दान का फल भी अशुभ कर्मबन्ध होता है, किन्तु अगर वह सिर्फ अनुकम्पाबुद्धि से देता है, तो वहाँ वह पुण्योपार्जन ही करता है। इसलिए अनुकम्पादान (अपात्रों या कुपात्रों को) देने का जिनेश्वरों ने कहीं निषेध नहीं किया है।

इस वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है कि संयमी, व्रती, साधु तथा गुरुजनों को गुरुबुद्धि अथवा श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए, साधर्मिक देशविरत सद्गृहस्थ, सम्यक्त्वी श्रमणोपासक को वात्सल्यभाव के साथ देना चाहिए, और अन्य (अव्रती आदि) को अनुकम्पा बुद्धि से दान देना चाहिए।

वीतराग भगवन्तों ने तो कुपात्रों या अपात्रों को गुरुबुद्धि अथवा मोक्षबुद्धि से दान देने का फल पापबन्ध बताया है किन्तु अनुकम्पाबुद्धि से नहीं। उन्होंने मनुष्य की मानवता नहीं निकाल दी है कि कोई अपात्र या कुपात्र संकट में पड़ा हो, दयनीय स्थिति में हो उस समय उस पर दया भी न करो, उसे कुछ भी न दो, उसे मरने दो, रुग्णशय्या पर पड़ा-पड़ा रहने दो, उसे आर्तध्यान में पीड़ित देखकर उसकी पुकार भी न सुनो, उससे बात भी न करो, उसकी दर्द की कराह सुनी-अनसुनी कर दो, मरने दो या अपने कुकर्मों का फल भोगने दो! जो जिनेश्वर मनुष्यों ही नहीं, समस्त प्राणियों के प्रति दयालु हैं, वे ऐसा कदापि नहीं कह सकते, न कदापि मानवता और दया निकाल कर जनता को क्रूरता का पाठ सिखा सकते हैं।

हाँ, जो मिथ्यादृष्टि सशक्त, स्वस्थ, सम्पन्न हो, जो वेश धारण करके भी व्रतों का पालन न करता हो, दम्भ और ढोंग करके भोलीभाली जनता को ठगता हो, जो मिथ्यात्व या पापकर्म का प्रसार करता हो, स्वयं पापाचरण-करता हो, लोगों को पापकर्म में प्रेरित करता हो, किसी प्रकार की दयनीय स्थिति में न हो, ऐसे धर्मध्वजी, पाखण्डी (कुपात्र) या पापीकर्मी (अपात्र) को देना तो एकान्त पाप है ही, और फिर गुरुत्वबुद्धि से या मोक्ष बुद्धि से देना तो और भी ज्यादा गुनाह है। इसी दृष्टि से मनुस्मृति में बताया है—

न वार्यपि प्रयच्छेत् बैडालवृत्तिके द्विजे।
न बकवृत्तिके विप्रे, नावेदविदि धर्मवित्॥ ४-१९२॥

अर्थात्—धर्मज्ञ पुरुष को बिडालवृत्ति वाले दम्भी को, बकवृत्ति वाले ढोंगी एवं पाखण्डी व्यक्ति को और वेदों (धर्मशास्त्रों) को नहीं जानने वाले ब्राह्मण को पानी भी नहीं पिलाना चाहिए।

कई लोग कुपात्र या अपात्र को दान का अत्यन्त निकृष्ट फल जानकर कुपात्र या अपात्र को देखते ही भड़क उठते हैं, वह दयनीय स्थिति में पड़ा हो तो भी पापकर्म के लगने के डर से या तथाकथित गुरुओं की उलटी प्रेरणा से, वहाँ से भाग खड़े होते हैं भोजन करते समय भी द्वार बंद कर लेंगे, किन्तु वे जिनेन्द्रों के आशय से अनभिज्ञ हैं। आचार्यों ने उनके आशय को स्पष्ट किया है—

नेव दारं पिहावेइ भुंजमाणो सुसावओ।
अणुकंपा जिणेहिं सड्ढाण न निवारिआ॥
सव्वेहिंपि जिणेहिं दुज्जयजिय राग-दोस-मोहेहिं।
अणुकंपादाणं सड्ढयाणं न कहिं वि पडिसिद्धं॥

अर्थात्— सुश्रावक को भोजन करते समय द्वार बंद नहीं करना चाहिए, जिनेन्द्रों ने श्रावकों के लिए अनुकम्पा का कहीं निषेध नहीं किया है। दुर्जय राग-द्वेष-मोह के विजेता समस्त जिनेश्वरों ने श्रावकों के अनुकम्पादान का कहीं भी निषेध नहीं किया है। यहाँ तक कि विशेष परिस्थिति (अवस्था विशेष) में साधुओं को असंयती को दान देना भी दोष युक्त नहीं है, जैसे भगवान् महावीर प्रभु ने दीन ब्राह्मण को वस्त्रदान दिया था।

फिर भी जो कुपात्र या अपात्र को दान का अशुभ फल बताया है, वह अनुकम्पाबुद्धि से देने का नहीं बताया है। यह तो उपर्युक्त दृष्टि से बताया है। समुच्चय में अपात्रदान का फल भी देखिए—"जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है, और जो विषय-कषायों में अधिक रचेपचे हैं, ऐसे पुरुषों के प्रति उपकार, सेवा या दान का फल कुदेव रूप में या कुमानुष रूप में आता है।"[1] सर्प के मुख में पड़े हुए दूध या ऊपर खेत में बोये हुए बीज के समान अपात्र को दिया हुआ दान विपरीत फल लाता है। परन्तु अपात्र या कुपात्र को विषशोधन या ऊपर भूमि से शुद्धि की तरह शुद्ध कर लेने पर उसे देने का यह अनिष्ट फल नहीं है।

पात्र-अपात्र-विवेक के विषय में एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

'ज्ञान, विवेक, शक्ति और भक्ति परमात्मा सत्पात्र को देता है; अज्ञ और अन्धकार में डूबे हुओं को नहीं।"—'रब्बीजोसे बेन' के इतना कहते ही एक महिला झल्लाकर बोली—"इसमें परमात्मा की क्या विशेषता रही ? होना तो यह चाहिए था कि वह असभ्य व्यक्तियों को यह सब देता, उनसे संसार में अच्छाई का विकास तो होता।" रब्बीजोसे उस समय तो मौन हो गए। बात जहाँ थी, वहीं समाप्त कर दी।

बड़े सबेरे उन्होंने मुहल्ले के एक मूर्ख व्यक्ति को बुलाकर कहा—'अमुक स्त्री से जाकर आभूषण मांग लाओ।' मूर्ख वहाँ गया और आभूषण मांगे तो उसने न

---

१. अविदिदपरमत्थेसु य विसय-कसायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं, फलदि कुदेवेसु मणुवेसु॥ —प्रवचनसार मू० २५७

दान देना है। हम तो अपना सौदा बेचेंगे तो सर्वोत्तम ग्राहक (पात्र) को ही बेचेंगे। परन्तु ऐसे लोग एक प्रकार से सौदेबाज हैं, फलाकांक्षी हैं और बहुत बड़े लाभ से वंचित रह जाते हैं। क्योंकि उत्कृष्ट सुपात्र तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों, उपाध्यायों या सुसाधुओं का योग तो प्रत्येक क्षेत्र में सदा सर्वदा नहीं मिलता। कई क्षेत्रों (गाँवों या कस्बों) में तो साधुसाध्वी पहुँच ही नहीं पाते। ऐसा संकल्प करने वाला दाता अन्य सुपात्रों या पात्रों को दान देने के लाभ से वंचित हो जाता है।

व्यापारिक जगत् का यह अनुभव सूत्र है कि दूकान पर सर्वोत्तम और प्रचुर माल लेने वाले ग्राहक विरले ही और कभी-कभी आते हैं। हमेशा सौदा लेने आने वाले ग्राहक या तो मध्यम दर्जे के आते हैं या नीचे दर्जे के बहुत थोड़ा सौदा लेने वाले खुदरा और सस्ते माल के ग्राहक आते हैं। बल्कि अधिकतर संख्या तो सस्ता और खुदरा माल लेने वाले तीसरे दर्जे के ग्राहकों की होती है। यदि दूकानदार यही सोच ले कि मैं तो अपना माल ऊँचे दर्जे को थोक और बढ़िया माल लेने वाले ग्राहक को ही बेचूंगा, मध्यम दर्जे के या नीचे दर्जे के ग्राहकों को नहीं, तो उसका माल बहुत कम बिकेगा और मुनाफा भी बहुत कम होगा। इसलिए विवेकशील रिटेल का दूकानदार हर तरह का कीमती, कम कीमती सभी किस्म का माल रखता है, बल्कि कम कीमत का माल ज्यादा खपने के कारण अधिक मात्रा में रखता है। तभी वह साल भर में खर्च निकाल कर काफी अच्छा मुनाफा कमाता है। यही बात दानदाता के सम्बन्ध में है—उसे भी यह जिद् ठानकर नहीं बैठना चाहिए कि मैं दूंगा तो उत्कृष्ट सुपात्र को ही दूंगा, अन्य कम लाभ वाले मध्यम दर्जे के या निम्न दर्जे के पात्रों को हर्गिज दान नहीं दूंगा। क्योंकि ऐसा करने से वह अपनी जिन्दगी में बहुत-से महालाभ से वंचित रह जायेगा। उसे पात्र के अनुरूप हर किस्म के साधन अपने यहाँ रखने चाहिए और पात्र की योग्यता, आवश्यकता तथा उसके कल्प-नियम, मर्यादा के अनुरूप श्रद्धा, सत्कार एवं विधिपूर्वक देना चाहिए। अगर कोई दाता केवल उत्कृष्ट सुपात्र की खोज में ही बैठा रहेगा तो वह अन्य सुपात्रों से तो वंचित रहेगा ही साथ ही, उत्कृष्ट सुपात्र के सुयोग से भी वंचित रहेगा, क्योंकि उत्कृष्ट का सुयोग भी सदा नहीं मिलता। फिर एक बात यह भी है कि जहाँ अन्य याचकों या पात्रों को दान देने का सिलसिला जारी रहता है, वहाँ उत्कृष्ट सुपात्र भी उसकी दानवृत्ति की प्रशंसा या महिमा सुनकर अनायास ही कभी-कभी आ पहुँच सकता है। अन्यथा एकमात्र उत्कृष्ट सुपात्र की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठा रहने वाले की उदारता, दानवृत्ति या भावना का उत्कृष्ट सुपात्र को पता न लगने के कारण वे प्रसिद्ध दाता के यहाँ ही अनायास पहुँचेंगे, और ऐसा होना स्वाभाविक है। जैसे—अन्तकृद्दशांगसूत्र में वर्णित वे छहों मुनि और कहीं न जाकर देवकी महारानी के यहाँ नाम प्रसिद्धि एवं दानवृत्ति सुनकर पधारे थे। वे अन्यत्र नहीं गये, इसके पीछे भी यही रहस्य होना सम्भव है। वर्तमान युग के साधु-साध्वी भी किसी अपरिचित या परिचित शहर या कस्बे में पहुँचते हैं तो जो विशेष उदार और प्रसिद्ध व परिचित

गृहस्थ (दाता) होता है, उसी के यहाँ भिक्षा के लिए पहुँच जाते हैं। कोई अप्रसिद्ध व्यक्ति कस्बे या शहर में होता भी है तो वह कोने में दुबका पड़ा रहता है, वहाँ साधु-साध्वी सहज में पहुँच भी नहीं पाते।

भौंरा उसी फूल के पास जाता है, जिस फूल के पास कुछ सुगन्ध, पराग या रस हो, वह उस फूल के पास नहीं जाता, जहाँ न सुगन्ध हो, न पराग हो और न ही रस हो। और यह बात भी है, जहाँ अन्य पुष्पग्राहक उड़ने वाले जानवर जिस फूल पर सदा बैठते होंगे, वहीं भौंरा भी पहुँच जायेगा। अन्यथा वह भी उस पुष्प के पास नहीं पहुँचता। राजहंस प्रायः वहीं पहुँचता है, जहाँ दूसरे पक्षी दाने चुग रहे हों।

इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए—

एक राजा था। उसकी हथेली में एक जहरीला छाला हो गया। राजा पीड़ा से कराह उठा। उसने अनेक नामी-गिरामी वैद्यों का इलाज कराया। किन्तु फोड़ा ठीक न हुआ। आखिर एक बूढ़े अनुभवी वैद्य ने कहा—"राजा का फोड़ा तभी ठीक हो सकता है, जब इस फोड़े को राजहंस चोंच मारकर फोड़ दे।" अब समस्या यह खड़ी हुई कि राजहंस कैसे आये ? और राजा के छाले पर चोंच कैसे मारे ? किसी बुद्धिमान ने सलाह दी कि राजहंस तभी आ सकता है, जब पहले दूसरे पक्षी आयें। इसके लिए एक छत पर जुआर के दाने डाले जायँ और साथ में मोती भी डाले जायँ तो दूसरे पक्षियों को देखकर सम्भव है, कभी राजहंस भी चला आये। फिर एक काम करो। राजा की खाट इसी छत के नीचे डाल कर उन्हें लिटा दिया जाय। छत में एक सुराख ऐसा बनाया जाय जिससे राजा की सिर्फ हथेली टिक सके। ताकि राजहंस आकर वहाँ मोती के बहाने हथेली पर चोंच मार दे। राजा के आदेश से फौरन यह सब काम हो गया। राजा के लेटने की व्यवस्था उसी छत के नीचे कर दी गई और राजा की हथेली एक सुराख के ठीक नीचे टिका दी गई। रोजाना जुआर डालने से अब पक्षी आने लगे और चुगने लगे। एक दिन उड़ता-उड़ता एक राजहंस भी जा रहा था। राजमहल की छत पर ज्यों ही उसने अन्य पक्षियों को दाने चुगते हुए देखा और वहाँ सफेद-सफेद जुआर के साथ चमकते हुए मोती देखे तो उसने उधर ही उड़ान भरी और राजमहल की छत पर उतरा। राजहंस को देखकर लोगों को तसल्ली हो गई कि राजहंस आ गया है तो वह मोती चुगता-चुगता मोती-सरीखे फोड़े पर भी चोंच मार सकता है। हुआ ऐसा ही। राजहंस मोती चुगता हुआ आगे बढ़ता-बढ़ता झट राजा की हथेली के पास पहुँचा। उसने हथेली में पड़े हुए सफेद चमकते हुए छाले को मोती समझकर अपनी चोंच मारी। चोंच मारते ही राजा का फोड़ा फट गया। राजहंस तो उड़ गया। राजा का फोड़ा फूटने से पीड़ा शान्त हो गई और दो-चार दिनों में ही घाव ठीक हो गया।

यह दृष्टान्त है। ठीक यही स्थिति साधु रूपी राजहंस के आने की है। साधुरूपी राजहंस मुक्तारूपी भिक्षा के लिए तभी आ सकता है, जब उस द्वार पर

दान देना है। हम तो अपना सौदा बेचेंगे तो सर्वोत्तम ग्राहक (पात्र) को ही बेचेंगे। परन्तु ऐसे लोग एक प्रकार से सौदेबाज हैं, फलाकांक्षी हैं और बहुत बड़े लाभ से वंचित रह जाते हैं। क्योंकि उत्कृष्ट सुपात्र तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों, उपाध्यायों या सुसाधुओं का योग तो प्रत्येक क्षेत्र में सदा सर्वदा नहीं मिलता। कई क्षेत्रों (गाँवों या कस्बों) में तो साधुसाध्वी पहुँच ही नहीं पाते। ऐसा संकल्प करने वाला दाता अन्य सुपात्रों या पात्रों को दान देने के लाभ से वंचित हो जाता है।

व्यापारिक जगत् का यह अनुभव सूत्र है कि दूकान पर सर्वोत्तम और प्रचुर माल लेने वाले ग्राहक विरले ही और कभी-कभी आते हैं। हमेशा सौदा लेने आने वाले ग्राहक या तो मध्यम दर्जे के आते हैं या नीचे दर्जे के बहुत थोड़ा सौदा लेने वाले खुदरा और सस्ते माल के ग्राहक आते हैं। बल्कि अधिकतर संख्या तो सस्ता और खुदरा माल लेने वाले तीसरे दर्जे के ग्राहकों की होती है। यदि दूकानदार यही सोच ले कि मैं तो अपना माल ऊँचे दर्जे को थोक और बढ़िया माल लेने वाले ग्राहक को ही बेचूंगा, मध्यम दर्जे के या नीचे दर्जे के ग्राहकों को नहीं, तो उसका माल बहुत कम बिकेगा और मुनाफा भी बहुत कम होगा। इसलिए विवेकशील रिटेल का दूकानदार हर तरह का कीमती, कम कीमती सभी किस्म का माल रखता है, बल्कि कम कीमत का माल ज्यादा खपने के कारण अधिक मात्रा में रखता है। तभी वह साल भर में खर्च निकाल कर काफी अच्छा मुनाफा कमाता है। यही बात दानदाता के सम्बन्ध में है—उसे भी यह जिद् ठानकर नहीं बैठना चाहिए कि मैं दूंगा तो उत्कृष्ट सुपात्र को ही दूंगा, अन्य कम लाभ वाले मध्यम दर्जे के या निम्न दर्जे के पात्रों को हर्गिज दान नहीं दूंगा। क्योंकि ऐसा करने से वह अपनी जिन्दगी में बहुत-से महालाभ से वंचित रह जायेगा। उसे पात्र के अनुरूप हर किस्म के साधन अपने यहाँ रखने चाहिए और पात्र की योग्यता, आवश्यकता तथा उसके कल्प-नियम, मर्यादा के अनुरूप श्रद्धा, सत्कार एवं विधिपूर्वक देना चाहिए। अगर कोई दाता केवल उत्कृष्ट सुपात्र की खोज में ही बैठा रहेगा तो वह अन्य सुपात्रों से तो वंचित रहेगा ही साथ ही, उत्कृष्ट सुपात्र के सुयोग से भी वंचित रहेगा, क्योंकि उत्कृष्ट का सुयोग भी सदा नहीं मिलता। फिर एक बात यह भी है कि जहाँ अन्य याचकों या पात्रों को दान देने का सिलसिला जारी रहता है, वहाँ उत्कृष्ट सुपात्र भी उसकी दानवृत्ति की प्रशंसा या महिमा सुनकर अनायास ही कभी-कभी आ पहुँच सकता है। अन्यथा एकमात्र उत्कृष्ट सुपात्र की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठा रहने वाले की उदारता, दानवृत्ति या भावना का उत्कृष्ट सुपात्र को पता न लगने के कारण वे प्रसिद्ध दाता के यहाँ ही अनायास पहुँचेंगे, और ऐसा होना स्वाभाविक है। जैसे— अन्तकृद्दशांगसूत्र में वर्णित वे छहों मुनि और कहीं न जाकर देवकी महारानी के यहीं नाम प्रसिद्धि एवं दानवृत्ति सुनकर पधारे थे। वे अन्यत्र नहीं गये, इसके पीछे भी यही रहस्य होना सम्भव है। वर्तमान युग के साधु-साध्वी भी किसी अपरिचित या परिचित शहर या कस्बे में पहुँचते हैं तो जो विशेष उदार और प्रसिद्ध व परिचित

गृहस्थ (दाता) होता है, उसी के यहाँ भिक्षा के लिए पहुँच जाते हैं। कोई अप्रसिद्ध व्यक्ति रस्ते या शहर में होता भी है तो वह कोने में दुबका पड़ा रहता है, वहाँ साधु-सान्वी सहज में पहुँच भी नहीं पाते।

भौंरा उसी फूल के पास आता है, जिस फूल के पास कुछ सुगन्ध, पराग या रस हो, वह उस फूल के पास नहीं जाता, जहाँ न सुगन्ध हो, न पराग हो और न ही रस हो। और यह बात भी है, जहाँ अन्य पुष्परस का पान करने वाले जानवर जिस फूल पर सदा बैठते होंगे, वहीं भौंरा भी पहुँच जाएगा। अन्यथा वह भी उस पुष्प के पास नहीं पहुँचता। राजहंस प्रायः वहीं पहुँचता है, जहाँ दूसरे पक्षी दाने चुग रहे हों।

इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए—

एक राजा था। उसकी हथेली में एक जहरीला फोड़ा हो गया। राजा पीड़ा से छटपटा उठा। उसने अनेक नामी-गिरामी वैद्यों का इलाज कराया। किन्तु फोड़ा ठीक न हुआ। आखिर एक बूढ़े अनुभवी वैद्य ने कहा—"राजा का फोड़ा तभी ठीक हो सकता है, जब इस फोड़े को राजहंस चोंच मारकर फोड़ दे।" अब समस्या यह खड़ी हुई कि राजहंस कैसे आये? और राजा के फोड़े पर चोंच कैसे मारे? किसी बुद्धिमान ने सलाह दी कि राजहंस तभी आ सकता है, जब पहले दूसरे पक्षी आयें। इसके लिए महल पर जुआर के दाने डाले जायें और साथ में मोती भी डाले जायें तो दूसरे पक्षियों को देखकर सम्भव है, कभी राजहंस भी चला आये। फिर एक काम करो। राजा की खाट छत के नीचे डाल कर उन्हें लिटा दिया जाय। छत में एक सूराख ऐसा बनाया जाय जिसमें राजा की सिर्फ हथेली टिक सके। ताकि राजहंस आकर वहाँ मोती के बहाने हथेली पर चोंच मार दे। राजा के आदेश से फौरन यह सब काम हो गया। राजा के लेटने की व्यवस्था उसी छत के नीचे कर दी गई और राजा की हथेली एक सूराख के ठीक नीचे टिका दी गई। रोजाना जुआर चुगने के लिए पक्षी आने लगे और चुगने लगे। एक दिन उड़ता-उड़ता एक राजहंस भी आ पहुँचा। राजमहल की छत पर ज्यों ही उसने अन्य पक्षियों को दाने चुगते हुए देखा और वहीं सफेद-सफेद जुआर के साथ चमकते हुए मोती देखे तो उसने उधर ही उड़ान भरी और राजमहल की छत पर उतरा। राजहंस को देखकर लोगों को तसल्ली हो गई कि राजहंस आ गया है तो वह मोती चुगता-चुगता मोती-सरीखे फोड़े पर भी चोंच मार सकता है। हुआ ऐसा ही। राजहंस मोती चुगता हुआ आगे बढ़ता-बढ़ता झट राजा की हथेली के पास पहुँचा। उसने हथेली में पड़े हुए सफेद चमकते हुए छाले को मोती समझकर अपनी चोंच मारी। चोंच मारते ही राजा का फोड़ा फट गया। राजहंस तो उड़ गया। राजा का फोड़ा फूटने से पीड़ा शान्त हो गई और दो-चार दिनों में ही घाव ठीक हो गया।

यह दृष्टान्त है। ठीक यही स्थिति साधु रूपी राजहंस के आने की है। साधुरूपी राजहंस मुक्तारूपी भिक्षा के लिए तभी आ सकता है, जब उस द्वार पर

मध्यम और जघन्य सुपात्र हों, या पात्र खड़े हों, उन्हें दान उपलब्ध होता हो, उसे देखकर ही साधुरूपी राजहंस विचरण करता-करता दाता के यहाँ आ सकता है। अन्यथा, स्वाभिमानी एवं अमीरी भिक्षा करने वाला साधु कैसे आ सकता है? इसीलिए केवल उत्कृष्ट सुपात्र को अपने द्वार पर बुलाना हो तो पहले जघन्य और मध्यम सुपात्रों को प्रतिदिन दान का क्रम चालू रखना चाहिए, अनुकम्पापात्रों को भी प्रतिदिन उसके घर से दान दिया जाना चाहिए। तभी राजहंस सम उत्कृष्ट सुपात्र उसके द्वार पर भिक्षा के लिए घूमता-घूमता आ सकता है और मोह-ममता के छाले को फोड़ सकता है। अपनी वाणी से प्रेरणा करके आपका मोह-ममत्व कम करा सकता है।

इस प्रकार हमने सुपात्रदान के महाफल तथा पात्रों को दिये जाने वाले दान के फल पर एक विहंगम चर्चा यहाँ की है। वास्तव में तो इसका फल पात्र से भी अधिक भावना पर अवलम्बित है, किन्तु विवेकी व्यक्ति पात्र का भी विचार रखता ही है। ☆

12
पात्रापात्र-विवेक

पूर्वोक्त विवेचन के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किसे सुपात्र समझा जाय, किसे कुपात्र ? किसे पात्र माना जाय और किसे अपात्र ? तथा इन चारों के क्या-क्या लक्षण हैं। इन्हें किन व्यवहारों से पहिचाना जाय ? क्या अपात्र भी पात्र हो सकता है ? क्या अपात्र और कुपात्र को भी किसी परिस्थिति में दान दिया जा सकता है ? अथवा अपात्र और कुपात्र को दान का सर्वथा निषेध है ? जब तक इन सब प्रश्नों का समुचित समाधान नहीं हो जाता, तब तक सम्भ्रान्त और विवेकी व्यक्ति सहसा दान में प्रवृत्त होते हुए हिचकिचाता है। इसलिए अब हम क्रमशः इनके स्वरूप और लक्षणों पर प्रकाश डालेंगे। सर्वप्रथम पात्र शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ देखिये—

> पाकारेणोच्यते पापं, त्रकारस्त्राणवाचकः।
> अक्षरद्वयसंयोगे, पात्रमाहुर्मनीषिणः॥

अर्थात्—'पा' पाप का और 'त्र' रक्षण का वाचक है। इन दोनों अक्षरों के संयोग से विचारक लोग पात्र को पात्र कहते हैं। आशय यह है कि जो अपनी आत्मा को पापों से बचाता है, वह पात्र है।

वास्तव में जो व्यक्ति मोक्ष के कारणभूत गुणों से संयुक्त तथा ज्ञान, दर्शन व चारित्र एवं तप से सम्पन्न होकर अपनी आत्मा को पापों से बचाता है, वही पात्र है।[1] ऐसा पात्र किसी भी जाति, वर्ण, रंग, कुल, प्रान्त, देश या महाद्वीप में हो सकता है। जो लोग अमुक जाति सम्प्रदाय, कुल या अमुक देश आदि में ही पात्रता को सीमित कर देते हैं, वे पात्र लक्षण के ज्ञान से बिलकुल दूर हैं। या वे जान-बूझकर पात्र को अपने संकीर्ण साम्प्रदायिक या जातीय दायरे में बन्द कर देना चाहते हैं। जैनधर्म इतना अनुदार नहीं है कि वह अमुक सम्प्रदाय जाति-कुल आदि के दायरे में ही पात्रता को बन्द कर दे। यहाँ तो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न चाण्डाल को मिथ्यादृष्टि

---

१ (क) मोक्षकारणगुण संयोगः पात्रविशेषः (सर्वार्थसिद्धि ७।३९)
(ख) पात्रविशेषः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपः सम्पन्नता। (तत्वार्थभाष्य ७।३४)

चक्रवर्ती से भी बढ़कर उच्च माना है, पात्र माना है। मुँह देखकर तिलक निकालने वाली बात को यहाँ जरा भी स्थान नहीं है। जो व्यक्ति योग्य पात्र को देखकर जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदि के बाँटों से उसे तौलकर दान के अयोग्य ठहराता है, वह दाता स्वयं सम्यग्दृष्टि नहीं है। जो इस प्रकार की संकीर्णता को स्थान देता है, वह स्वयं अपने हाथों से दान में इन विषों को मिलाकर विषाक्त बना देता है, दान के प्राण निकाल देता है, ऐसा दान भी सफल नहीं होता। अपने माने हुए सम्प्रदाय, जाति, प्रान्त या राष्ट्र के अतिरिक्त किसी को भी पात्र न कहना तो सरासर अन्याय है। अगर पात्र का लक्षण ऐसा ही होता तो तीर्थंकरों के हाथ से सुसाधु के सिवाय अथवा व्रतधारी श्रावक के सिवाय कोई भी अन्य व्यक्ति दान नहीं ले सकता था, परन्तु तीर्थंकर एक वर्ष तक जो दान देते हैं, उसमें सभी प्रकार के पात्रों को दान मिलता है, उसमें किसी विशिष्ट जाति, धर्मसम्प्रदाय या राष्ट्र-प्रान्तादि का भेद नहीं करते। इसलिए किसी जाति, कुल, धर्मसम्प्रदाय, प्रान्त या राष्ट्र में पैदा हो जाने मात्र से पात्रता नहीं आ जाती, किन्तु जो व्यक्ति अज्ञान, हिंसा, असत्य, व्यभिचार, चोरी, हत्या आदि पापों से विरत होकर धर्म का पालन करता है, उसे ही पात्र कहना चाहिए। इसीलिए महाभारत में कहा गया है—'केवल विद्या पढ़े हुए होने से, विद्वान् बन जाने मात्र से कोई पात्र नहीं कहलाता, और न ही कोरी तपस्या या अज्ञानपूर्वक क्रियाकाण्ड करने से ही कोई पात्र कहला सकता है, प्रत्युत जिस व्यक्ति में विद्या (ज्ञान) और चारित्र हो उस ज्ञान-चारित्र सम्पन्न व्यक्ति को ही पात्र कहा जा सकता है। ऐसे पात्र को दान न देकर अथवा ऐसा योग्य व्यक्ति अन्य जाति-कुल-सम्प्रदायादि में पैदा होने के कारण उसे दान न देकर अपने माने हुए तथाकथित धर्म-सम्प्रदाय-जाति कुल आदि में समुत्पन्न अयोग्य अथवा धन-वैभव सम्पन्न, साधन सम्पन्न व्यक्ति को दान देने में जो प्रवृत्त होता है, वह कल्पवृक्ष को छोड़कर ऊपरी चमक-दमक वाले वृक्ष को सींचता है, अथवा ऐसा अविवेकी पुरुष पानी से लबालब भरे खारे समुद्र में वर्षा करता है, तृप्त मनुष्य को भोजन कराता है, दिन के खिलखिलाते सूर्य के प्रकाश को दीपक दिखाता है। इसलिए पात्र की परीक्षा किसी जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय, प्रान्त राष्ट्र आदि के आधार पर नहीं करनी चाहिए। ऐसा करने से उसके दान में अहंत्व-ममत्व एवं स्वार्थ के आने का बहुत बड़ा खतरा है।

पात्र-परीक्षा

पात्र शब्द में से ही सुपात्र, कुपात्र और अपात्र शब्द निष्पन्न हुए हैं। इसलिए पात्र शब्द का लक्षण भलीभाँति समझ लेने पर सुपात्र, अपात्र और कुपात्र का लक्षण भी शीघ्र ही समझ में आ जाएगा। फिर भी आचार्यों ने सुपात्र, कुपात्र और अपात्र के पृथक्-पृथक् लक्षण सर्वसाधारण के समझने के लिए दिये हैं। जैसे सुपात्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार किया है—'सु=अतिशयेन, पापात् त्रायते इति सुपात्रम्।' अर्थात्—जो अपनी आत्मा की पाप से भलीभाँति रक्षा करता है, वह सुपात्र है। जहाँ-जहाँ पापकर्मों के आने का अंदेशा होता है, वहाँ-वहाँ वह अपने

उत्तराध्ययन-सूत्र में सुपात्र को सुक्षेत्र कहा है और तदनुसार हरिकेशीय अध्ययन में यक्ष और ब्राह्मणों के संवाद के रूप में सुक्षेत्र और कुक्षेत्र का स्फुट लक्षण दिया गया है—

—'जो ब्राह्मण अथवा साधक जाति (चारित्र) और विद्या (ज्ञान) से युक्त हैं, वे ही क्षेत्र सुन्दर-शोभन क्षेत्र हैं। संयम के आग्नेय एवं उच्चावचपथों पर जो मुनि विचरण करते हैं, वे क्षेत्र सुशोभन क्षेत्र हैं।'[1]

—जिनके जीवन में क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चौर्य और परिग्रहवृत्ति घर की हुई है, वे जाति (चारित्र) और विद्या (ज्ञान) से विहीन तथाकथित माहण (ब्राह्मण या साधक) पापयुक्त कुक्षेत्र हैं।[2]

निष्कर्ष यह है कि जो साधक (गृहस्थ या साधु) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और अहिंसा सत्यादि सम्यक्चारित्र से युक्त हो, वह सुपात्र है, चाहे वह अणुव्रती हो या महाव्रती। किन्तु इसके विपरीत जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ तीव्र है, हिंसादि अव्रत हैं, अज्ञान और मिथ्यात्व (मिथ्यादृष्टि) से युक्त है, वह बाहर से चाहे जितना

ज्ञानं तु येषां हि तपो धनानां त्रिकालभावार्थसमग्रदर्शि।
त्रिलोकधर्मक्षपणप्रतिज्ञो, यान् दग्धुमीशो, न च कामवह्निः॥
येषां तु चारित्रमखण्डनीयं मोहान्धकारश्च विनाशितो यैः।
परीषहेभ्यो न चलन्ति ये च, ते पात्रभूता यतयो जिताशाः॥

—वरांगचरित्र ७।५०-५२

अर्थात्—जो मात्सर्य, मद, असूया से रहित हैं, सत्यव्रती हैं, क्षमा और दया से सम्पन्न हैं, संतुष्टशील हैं, पवित्र और विनीत हैं, वे निर्ग्रन्थ शूर ही यहाँ पात्र रूप हैं। जिन तपोधनियों का ज्ञान त्रिलोक के भावार्थ को समग्र प्रकार से देख लेता है, तीन लोक को धर्म से युक्त हैं, कर्मक्षय करने में दृढ़प्रतिज्ञ है, जिन्हें कामाग्नि जला नहीं सकती, जिनका चारित्र अखण्ड है, जिन्होंने मोह तिमिर का नाश कर डाला है, जो परीषहों से विचलित नहीं होते, ऐसे आशा-विजयी साधु ही पात्ररूप हैं।

१ जे माहणा जाइ-विज्जोववेया,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं।
....उच्चावयाइं मुणिणो चरंति,
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं।'
कोहो य माणो य वहो य जेसिं,
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइ-विज्जा-विहीणा,
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं॥

आडम्बर रच ले, बढ़िया कपड़े पहन ले, तिलक छापे लगाकर चाहे भक्त का स्वांग रच ले, चाहे वह दिन में १० बार मन्दिर या धर्मस्थान में क्यों न जाता हो, वह उपर्युक्त लक्षण के अनुसार सुपात्र या सुक्षेत्र नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि ऐसे व्यक्ति को, जो कि हिंसा आदि पापों में ओतप्रोत है, तीव्र कषायों से युक्त है, वह सुपात्र तो नहीं है, किन्तु अपात्र और कुपात्र इन दोनों में से क्या है? अतः हम 'दान शासन' के एक श्लोक द्वारा उत्कृष्ट पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र, अपात्र और कुपात्र का पृथक्करण करके इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

—"महाव्रती अनगार उत्कृष्ट पात्र है, अणुव्रती मध्यम पात्र है, व्रतरहित सम्यक्त्वी जघन्य पात्र है और सम्यग्दर्शनरहित व्रतों से युक्त व्यक्ति कुपात्र है तथा सम्यक्त्व और व्रत दोनों से रहित मनुष्य अपात्र है, यह समझना चाहिए।"[1]

अपात्र के सम्बन्ध में आचार्य अमितगति का एक स्पष्टीकरण और लीजिए—

"जो निर्दयी होकर प्राणियों की हिंसा करता है, कठोर वचन एवं झूठ बोलता है, बिना दिये हुए धन को अनेक प्रकार से हरण करता है, कामबाण से पीड़ित होकर स्त्री-प्रसंग करता है। अनेक दोषों के जनक परिग्रह से युक्त है, स्वच्छन्द होकर शराब पीता है, कीड़-जन्तुओं से व्याप्त मांस भी खाता है, पापकर्म करने में चतुर है, कुटुम्ब-परिग्रह के मजबूत पींजरे में जकड़ा हुआ है, शम, शील और गुणव्रतों से रहित है, और जो तीव्र कषायरूपी सर्पों से घिरा हुआ है ऐसे विषयलोलुपी को आचार्य ने 'अपात्र' कहा है।"[2]

पात्रादि के विविध प्रकार

पिछले पृष्ठों के विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि पात्र शब्द पर से

---

१ उत्कृष्ट पात्रमनगारमणुव्रताढ्यम्।
मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्॥
निर्दर्शनं व्रत निकाय-युतं कुपात्रम्।
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं तु विद्धि॥ —दान शासन

२ यत क्रुधः प्राणिहन्ति शरीरिणो, वदति यो वितथं परुषंवचः।
हरति वित्तमदत्तमनेकधा, मदनबाणहतो भजतेऽङ्गनाम्॥३६॥
विविध दोषविधायिपरिग्रहः, पिबति मद्यमयन्त्रितमानसः।
कृमिकुलाकुलितं ग्रसते पलं, कलुषकर्मविधान विशारदः॥३७॥
दृढ कुटुम्ब परिग्रहपंजरः प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः।
गुरुकषायभुजंगमसेवितं, विषय लोलमपात्रमुशंति तम्॥३८॥
—अमितगति श्रावकाचार अ.

ही 'सु', 'कु' और 'अ' लगकर सुपात्र, कुपात्र और अपात्र शब्द बनते हैं। किन्तु अपात्र के सिवाय ये सब पात्रों के ही भेद समझने चाहिए।

इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में पात्र के ही मुख्यतया तीन भेद बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

पात्रत्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टि विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥

अर्थात्—मोक्ष के कारणभूत गुणों के संयोग से दान लेने के योग्य मध्यात्मा पात्र तीन प्रकार के कहे हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। उत्तम पात्र सर्वचारित्री (साधु) हैं, मध्यम पात्र विरताविरत देशचारित्री श्रावक है और जघन्य पात्र अविरत (व्रतरहित) सम्यग्दृष्टि है। ये तीनों ही सुपात्र कहे जाते हैं। इन तीनों के तीन-तीन भेद करने से सुपात्र के ९ भेद हो जाते हैं—

(१) उत्तम-उत्तम पात्र—श्री तीर्थंकर भगवान्।
(२) उत्तम-मध्यम पात्र—छद्मस्थकालीन तीर्थंकर, गणधर या आचार्य।
(३) उत्तम-जघन्य पात्र—निर्ग्रन्थ साधु मुनिराज।
(४) मध्यम-उत्तम पात्र—प्रतिमाधारी श्रावक।
(५) मध्यम-मध्यम पात्र—बारह व्रतधारी श्रावक।
(६) मध्यम-जघन्य पात्र—यथाशक्ति थोड़े व्रत प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक
(७) जघन्य-उत्तम पात्र—क्षायिक सम्यग्दृष्टि
(८) जघन्य-मध्यम पात्र—क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि
(९) जघन्य-जघन्य पात्र—उपशम-सम्यक्त्वी

इन नौ ही पात्रों को यथायोग्यरीति से यथायोग्य वस्तुओं का दान देकर सन्तुष्ट करना चाहिए, ऐसी जिनेन्द्र देवों की आज्ञा है।

अपात्र के नौ प्रकार

इसी प्रकार कुपात्र या अपात्र के भी ९ भेद हो सकते हैं—

(१) उत्तम-उत्तम पात्र—जैन लिंगधारी साधु तो है, परन्तु मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का क्षयोपशम आदि न हुआ हो, या अभव्यत्व नामक पारिणामिक भाव का परिणाम न होने से भावलिंग को प्राप्त न हुआ हो।

(२) उत्तम-मध्यम पात्र—जो जैन श्रावक तो है, लेकिन अभव्य है।

(३) उत्तम-जघन्य पात्र—जो व्रतादि का पालन न करते हुए केवल नाम-मात्र का श्रावक है।

(४) मध्यम-उत्तम पात्र—जो मिथ्यात्वी है, लेकिन अज्ञानतप से आत्मदमन करता है।

(५) मध्यम-मध्यमपात्र—मिथ्यात्वी तो है, परन्तु लौकिक व्यवहार में शुद्धता के लिए कुछ व्रत-नियमों का पालन करता है और लोगों को उपदेश देता है।

(६) मध्यम-कनिष्ठ-पात्र—मिथ्यात्वी होकर भी अपने प्रयोजन के लिए सम्यक्त्वी का गुणानुवाद करता है।

(७) कनिष्ठ-उत्तम पात्र—अनाथ, अपाहिज, विधवा, असहाय भिक्षुक आदि।

(८) कनिष्ठ-मध्यमपात्र—कसाई आदि, जिसे धन देकर जीववध आदि का त्याग कराया जाय।

(६) कनिष्ठ-कनिष्ठपात्र—वेश्या, कसाई आदि पापात्मा

ये नौ प्रकार कुपात्र एवं अपात्र के होते हैं। इन्हें दान देने से भी पुण्य प्राप्ति, लौकिक व्यवहार की शुद्धि तथा यश आदि फल की प्राप्ति हो जाती है।

कुछ ग्रन्थों में द्रव्य पात्रों की उपमा देते हुए भावपात्रों का दूसरी दृष्टि से स्वरूप बताया है। ग्रन्थकारों ने (१) उत्तम सुपात्र को रत्न के पात्र की उपमा दी है। जैसे रत्न का पात्र सभी प्रकार के पात्रों में उत्तम माना जाता है, वैसे ही तीर्थंकर केवलज्ञानी भगवान सब पात्रों में परमोत्तम पात्र माने जाते हैं। (२) लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों में समभाव की वृत्ति रखने वाले तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र से युक्त महाव्रती साधु-साध्वी मुनिराज स्वर्णपात्र के समान हैं। (३) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न प्रतिमाधारी या व्रतधारी श्रावक रजतपात्र (चाँदी के पात्र) के समान हैं। (४) जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के तो धारक हैं, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणीय कर्म के उदय के कारण व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण नहीं कर सके, सिर्फ देव-गुरु-धर्म के प्रति सच्चे हृदय से श्रद्धा-भक्ति रखते हैं, वे ताम्रपात्र के समान हैं। (५) जो सम्यक्त्वगुण से तो रहित हैं, लेकिन मार्गानुसारी होने के कारण नीति, न्याय, मानवता, दया, दान आदि किंचित् गुणों के धारक हैं, गुणानुवादक हैं, वे लोहपात्र के समान हैं। (६) जो दीन-दुःखी, अंग-विकल, अनाथ, असहाय, क्षुधा आदि दुःखों से पीड़ित हैं, वे अनुकम्पापात्र प्राणी मृत्तिकापात्र के समान हैं। (७) पांच आश्रव तो सेवन करते हैं, लेकिन कोमल हृदय होने से उपदेश से श्रद्धापूर्वक छोड़ने के लिए तत्पर हो गये हैं, ऐसे व्यक्ति कांस्यपात्र के समान हैं। और (८) जो हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और प्रचुर परिग्रह (पंचाश्रव) का सेवन करते हैं, जिन पर सदुपदेशों का कोई असर नहीं होता, ऐसे मिथ्यादृष्टि, कदाग्रही, दुर्व्यसनी, अधर्मी, पापी एवं देव-गुरु-धर्म के निन्दक प्राणी अपात्र एवं कुपात्र हैं, वे दान के योग्य पात्र नहीं हैं।

दान लेने का अधिकारी कैसा हो ?

मोटे तौर पर प्रत्येक दाता को अपने दान को सफल बनाने के लिए पात्रापात्र का विचार तो करना ही चाहिए। बौद्ध धर्मशास्त्र 'संयुत्तनिकाय' के इसत्थसूत्र (३/३/४) में एक संवाद इस सम्बन्ध में मिलता है। तथागत बुद्ध से कोशलराज प्रसेनजित् ने श्रावस्ती में पूछा—'भंते ! किसे दान देना चाहिए ?'

बुद्ध—'राजन् ! जिसके मन में श्रद्धा हो।'

प्रसेनजित्—'भंते ! किसको दान देने से महाफल होता है ?'

बुद्ध—'राजन् ! शीलवान को दिये गए दान का महाफल होता है।'

इस संवाद पर से यह फलित होता है कि योग्य पात्र को दान देने से महाफल की प्राप्ति होती है।

महाभारत में भी युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि—'हे युधिष्ठिर ! जो व्यक्ति अयाचक (भिखारी नहीं) हैं, उत्तम आचरण-युक्त हैं, व्रत आदि से दीक्षित हैं, तपस्वी हैं, अहिंसक हैं, परिग्रहत्यागी हैं, उन व्यक्तियों को तुम (दान देकर) पोषण करो। तथा जो अपने पास द्रव्य नहीं रखते, योग्य हैं, दीक्षित, हैं, तपस्वी हैं, ब्रह्मचारी हैं, भिक्षाजीवी हैं, उनका तू पोषण कर। किन्तु जो व्रतादि दीक्षा से रहित हैं, परिग्रहधारी होते हुए भी जो विप्र भिक्षा करके खाता है, निःसन्देह वह अपने आप को नरक में ले जाता है, साथ ही दाता को भी ले जाता है।

अतिथि के रूप में पात्र की व्याख्या करते हुए धर्मसर्वस्वाधिकार में कहा है—'जो महानुभाव तप, शील (सदाचार) और समता से युक्त हैं, दृढ़ ब्रह्मचर्यधारी हैं, निर्लोभी, निःस्पृह और ममत्वरहित है, उसे अतिथि जानो। जो शृंगार की दृष्टि से स्नान और भोगविलास से दूर है, अपनी पूजा के प्रति निरपेक्ष है, आभूषण से रहित है, उग्रतपस्वी है, शम (शान्ति) से युक्त है, उसे अतिथि (सुपात्र) समझो। जिसे सोने, रत्नराशि, धन और धान्य का जरा भी लोभ नहीं है, उसे भी अतिथि (सुपात्र) समझना चाहिए। ऐसा अतिथि ही दान का सच्चा अधिकारी है।

पहले कहे अनुसार सुपात्रदान के अधिकारी तो केवल साधु-साध्वी ही होते हैं। किन्तु—जो व्रतबद्ध-समाजसेवक या सद्गृहस्थ भाई-बहन होते हैं, वे भी सुपात्र दानपात्र हैं। इसके अतिरिक्त जो व्रत से रहित हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि हैं, वे भी दानपात्र हैं। कई लोग सुपात्रदान के योग्य उन्हें ही समझते हैं, जिन पर अपने धर्मसम्प्रदाय, पंथ, जाति, कौम अथवा अपने प्रान्त या राष्ट्र का लेबल चिपका हो। स्वार्थ या स्वत्वमोह से घिरे ऐसे लोग अपने माने हुए सम्प्रदायपंथादि के लोगों को या उन्हीं संस्थाओं को दान देने में धर्म या पुण्य बताते हैं, उन्हें ही पुण्य बताते हैं। उनके अतिरिक्त धर्म-सम्प्रदाय, पंथ, जाति, प्रान्त, राष्ट्र आदि का कोई कितना ही अच्छा, उत्तम गुणी व्यक्ति हो, उसे, या उसकी संस्था को देने में धर्म या पुण्य नहीं मानते, उन्हें देने से हिचकिचाते हैं। परन्तु यह निरी भ्रान्ति है। सुपात्रदान में सम्प्रदाय, पंथ, जाति, कौम या प्रान्त की दीवारें नहीं खींचनी चाहिए। अन्यथा, वह दान भी सुपात्रदान न रहकर स्वसम्प्रदाय आदि संकीर्णपात्रयुक्त बन जाएगा।

कई लोग इस भ्रान्ति के भी शिकार हैं कि साधु-साध्वी वर्ग के सिवाय और उसमें भी हमारे पंथ, मत या सम्प्रदाय के, हमारे माने हुए तथाकथित साधु वर्ग के सिवाय अन्य सब कुपात्र हैं, और गृहस्थ तो कोई सुपात्र हो ही नहीं सकता। परन्तु यह भी सम्प्रदाय मोह के नशे का परिणाम है। ऐसी संकीर्णवृत्ति के लोग अपने हृदय की अनुदारता पर धर्म-सम्प्रदाय के वचनों का मुलम्मा चढ़ाकर अपने ही साधु वर्ग

को सुपात्र ठहराकर उन्हें ही पोसने को सुपात्रदान मानते या कहा करते हैं, परन्तु तीर्थंकरों की दृष्टि ऐसी संकीर्ण नहीं थी। उन्होने कहीं भी ऐसी संकीर्णवृत्ति का विधान नहीं किया है। तीर्थंकरों की ऐसी संकीर्ण दृष्टि होती तो तीर्थंकर बनने से पूर्व एक वर्ष तक स्वयं अपने हाथों से उनके माने हुए तथाकथित संकीर्ण दायरे के गृहस्थ वर्ग के अतिरिक्त समस्त सुयोग्य पात्रों (गृहस्थों) को दान कैसे देते? वे दान देते समय ही कह देते—'गृहस्थ तो कुपात्र है, जहर का कटोरा है, इसे दान देना मेरे लिए हितकर नहीं है।" सभी गृहस्थों को *एकान्त असंयती और अव्रती मानना* और कुपात्र सिद्ध करना भी दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सभी शास्त्रों से विरुद्ध है, भगवद्-व्यवहार से भी संगत नहीं है। क्योंकि जो गृहस्थ, व्रती या सम्यक्त्वी है, उसे सूत्रकृतांगसूत्र में 'आर्यस्थान' कहा है। उसे शास्त्रों में एकान्त असंयती, अव्रती नहीं कहकर संयमासंयमी, व्रताव्रती, विरताविरती, देशचारित्री, सम्यक्त्वी आदि कहा है, तब फिर वह एकान्त असंयमी, अव्रती, कुपात्र या अपात्र कैसे हो सकता है? जबकि जैनाचार्यों एवं जैनशास्त्रों के मन्तव्य के अनुसार व्रती श्रावक (व्रतबद्ध सद्गृहस्थ साधक) को *मध्यम सुपात्र और अविरतिसम्यग्दृष्टि श्रावक को जघन्यसुपात्र कोटि में* परिगणित किया गया है।

इतने शास्त्रीय प्रमाणों और आचार्यों के चिन्तन के अनुसार पात्र, सुपात्र, कुपात्र और अपात्र का स्पष्ट निर्णय होने के बावजूद भी कोई योग्य पात्र को या सुपात्र को अपनी संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण कुपात्र या अपात्र ठहराकर योग्य पात्र या सुपात्र को दान न दे या दान का निषेध करे और उसके बदले अपात्र को देने के लिए उत्साहित हो, वहाँ साम्प्रदायिक व्यामोह ही समझना चाहिए। विदुर-नीति में इसे न्यायार्जित धन व्यय-सम्बन्धी व्यतिक्रम (वैपरीत्य) बताया गया है—

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोधव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ १।६४

—न्याय से उपार्जित धन के व्यय सम्बन्धी ये दो अतिक्रम हैं, अर्थात् दुरुपयोग हैं—अपात्र को देना और पात्र को न देना।

एक बात और भी है कि जो संप्रदायवादी आज तक अपने साधु के (अपनी सम्प्रदाय के तथा वह भी अपने आचार्य की निश्रायवर्ती) सिवाय सभी को कुपात्र मानते आये हैं और कुपात्र को दान देने में एकान्त पाप की स्थापना करते आये हैं वे भी आज अपनी संस्थाओं, जोकि गृहस्थों के द्वारा संचालित हैं उनको लाखों रुपयों का दान करवाते हैं। अगर एकान्त पाप है तो फिर वे अपने श्रावकों का पैसा भी खर्च करते हैं और बदले में जहर का टुकड़ा देते हैं—यह दुहरी मार क्यों मारते हैं? इससे यह ध्वनित होता है कि भले ही वे साम्प्रदायिक व्यामोहवश आज तक पाप मानते आये हों, लेकिन अब अपनी मान्यताओं में, मिथ्या धारणाओं में सुधार कर रहे हैं और मानव-मानस विज्ञान के अनुसार अपनी दान मनोवृत्ति का परिष्कार कर रहे हैं।

चूंकि पात्र, सुपात्र या अनुकम्पा पात्र ही दान का अधिकारी है, इसलिए पात्र या सुपात्र के लक्षणों में संकीर्णता बरती जानी उचित नहीं है। यह बात दूसरी है कि किसी को या अपने माने-जाने सम्प्रदायादि से इतर पात्रों या सुपात्रों को देने की अपनी हैसियत न हो, परन्तु उसको लेकर अपनी मान्यता न बिगाड़ो, अपनी रुचि या श्रद्धा की ओट में सिद्धान्त की उस पर मुहर छाप न लगाओ; अन्य धर्मसम्प्रदाय, जाति आदि के सुयोग्य पात्रों या सुपात्रों को संकीर्ण दृष्टि के अनुसार अपात्र या कुपात्र मत ठहराओ।

कुपात्र या अपात्र भी सुपात्र या पात्र हो सकता है

कई व्यक्ति यह कह देते हैं कि कुपात्र या अपात्र सुपात्र या पात्र कदापि नहीं बन सकता। गधे को कितना ही मल-मलकर नहलाया जाय, वह कभी घोड़ा नहीं बन सकता, नीम को कितना ही गुड़ और घी से सींचा जाय, वह कभी मीठा नहीं हो सकता, कुत्ते की पूंछ को बारह वर्ष तक तेल लगा-लगाकर सीधी की जाय, वह पुनः टेढ़ी की टेढ़ी हो जाती है। मुस्लिम बादशाह अकबर ने जब हिन्दूधर्म अपनाकर मुस्लिम से हिन्दू बनना चाहा तो बीरबल ने इसी कुसंस्कारवश कह दिया था कि गधा घोड़ा नहीं हो सकता, इसी तरह मुसलमान कभी हिन्दू नहीं हो सकता। परन्तु भारतीय इतिहास के भी विद्यार्थी या प्राध्यापक से पूछने पर पता लग जाएगा कि भारत में बहुत-से हिन्दू राजपूत मुस्लिम बने हुए हैं, कई हरिजन या अन्य वर्ण के लोग भी ईसाई, मुस्लिम आदि बने हैं, कई रहीम, रसखान आदि मुस्लिम कवियों ने हिन्दू अवतारों की स्तुति, भक्ति की है। कई मुस्लिम भी हिन्दू बने हैं। गधे का घोड़ा बनना तो योनि परिवर्तन है, नीम भी मीठा हो सकता है, बशर्ते कि उसके अमुक पर्यायों को पलटा जाय। सुबुद्धिप्रधान ने एक खाई का गन्दे, सड़े हुए पानी को शुद्धिकारक द्रव्य डालकर सुगन्धित और पेय जल बना दिया था। आज भी खराब पानी को फिल्टर करके पेयजल के रूप में परिवर्तित किया जाता है। हिन्दू का मुसलमान बनना या मुस्लिम का हिन्दू बनना कोई योनिपरिवर्तन नहीं है, वह तो प्रकृति-परिवर्तन है। प्रकृति-परिवर्तन होना कोई असम्भव नहीं है, असाध्य नहीं है, दुःसाध्य या दुष्कर अवश्य है। इसी प्रकार कुपात्र या अपात्र का सुपात्र या पात्र बन जाना असम्भव अथवा असाध्य नहीं है, दुःसाध्य या दुष्कर हो सकता है।

उदाहरण के तौर पर—आज एक व्यक्ति चोर या डाकू है, बहुत ही खूंख्वार व हत्यारा है, लेकिन कल को उसे किसी महात्मा या संत का उपदेश लग गया, या उसे अपने जीवन में किसी आकस्मिक संकट विपत्ति पर से बोध प्राप्त हो गया, और वह चोर या डाकू से सन्त बन गया। और यह बात नामुमकिन नहीं है। प्राचीनकाल में भी चिलातीपुत्र अर्जुनमाली प्रभव आदि ५०० चोर जैसे कई चोर हत्यारे सन्त बन गये थे, रोहिणेय जैसे चोर भी बदल कर सद्गृहस्थ बन गये थे। वर्तमान काल में भी सन्त विनोबा और सर्वोदय नेता जयप्रकाश बाबू, आदि विशिष्ट व्यक्तियों की प्रेरणा

से बहुत-से डाकुओं ने आत्मसमर्पण कर दिया और वे अच्छे नागरिक-का-सा जीवन बिताने लगे हैं। इसलिए यह कोई असम्भव बात नहीं है कि कुपात्र सुपात्र न बन सके, अपात्र पात्र न बन सके। चोर, डाकू या हत्यारा आदि आज अपात्र हैं, किन्तु कल को अपरिग्रह, भिक्षाजीवी, निःस्पृही सन्त बन जाने पर तो वे सुपात्र बन गये न? स्थूलिभद्र एक दिन वेश्यागामी थे, लेकिन उन्हें आत्मबोध प्राप्त हो गया और वे एक दिन आचार्य सम्भूतिविजय के शिष्य बन गये। कामविजेता स्थूलिभद्र मुनि उत्कृष्ट ब्रह्मचारी सुपात्रों की कोटि में प्रसिद्ध हो गये। इसलिए आगम मर्मज्ञ शीलांकाचार्य ने आचारांगसूत्र की टीका में स्पष्ट बता दिया कि पात्र, सुपात्र, कुपात्र और अपात्र के स्वरूप को जानने के बावजूद भी दानचतुर दाता स्वयं अपनी प्रज्ञा से दान के योग्य पात्र का निरीक्षण-परीक्षण करे और यह भी पता लगा ले कि कौन उत्कृष्ट सुपात्र है कौन मध्यम सुपात्र और कौन जघन्य सुपात्र? बाह्य चिन्ह, स्थूल दृष्टि, बाह्य वेशभूषा, बाह्य क्रियाओं पर से सुपात्र-कुपात्र या पात्र-अपात्र का सहसा निर्णय न करके धैर्य से, सूक्ष्मदृष्टि से, भूतकाल के उसके जीवन से, भविष्य की उसकी सुसम्भावनाओं पर से निश्चित करे।

कभी ऐसा भी होता है कि जिस व्यक्ति को आप आज कुपात्र या अपात्र समझ रहे हैं, वह व्यक्ति संकट में पड़ गया है, व्याधिग्रस्त हो गया, मुसीबत में फँस गया, आकस्मिक दुर्घटना से घायल हो गया, क्षुधा या पिपासा से अत्यन्त पीड़ित है, जंगल में अकेला असहाय बेबस होकर पड़ा है, उसे आपकी सहायता की अपेक्षा है, वह आपसे कुछ मदद चाहता है, ऐसी हालत में भी आप उसे कुपात्र या अपात्र मानकर सहायता से इन्कार कर देते हैं, या यह जानकर उसकी उपेक्षा कर देते हैं कि यह कुपात्र या अपात्र है, इसको देने से लोग मुझे कहेंगे यह तो अमुक वेषधारी साधु (कुपात्र) का भक्त बन गया, उसे इसने गुरु बना लिया, अथवा अमुक कुपात्र को दान देकर इसने उसके कुकर्म को बढ़ावा दे दिया, यह अनुचित है, हृदय से अनुकम्पा को और परम्परा से सम्यक्त्व को विदा करना है। इसीलिए द्वात्रिंशिका में आचार्य हरिभद्र ने इसी से सम्बन्धित एक स्पष्टीकरण किया है। वह इस प्रकार है—

> लिङ्गिनः पात्रमपचाः विशिष्य स्वसिद्धान्तिनः ।
> दीनान्धकृपणादीनां वर्गः कार्यान्तराक्षमः ॥१२

—'जो किसी प्रकार का व्रतसूचक वेष धारण किये हुए हैं, स्वयं भोजन नहीं पकाते, विशेष रूप से अपनी परम्परा की क्रियाओं का पालन करते हैं, तथा जो अन्धे, दयनीय, व्याधिग्रस्त या निर्धन हैं; किसी आजीविका के कार्य को असमर्थ हैं, अशक्त हैं, वे सब पात्र हैं।

वास्तव में ऐसे लोग, जो कि दीन, अन्ध आदि हैं, वे तो अनुकम्पापात्र होने के कारण पात्र हैं ही, किन्तु ऐसे लोग, जो द्वेषी, द्रोही, ढोंगी नहीं हैं, सरल हैं, सम्यग्दर्शन के सम्मुख हैं या हो सकते हैं, वे भी

हाँ, कुपात्र को आप गुरुबुद्धि से न दीजिए, अपात्र को आप कुकर्म या दुर्व्यसन बढ़ाने की दृष्टि से न दीजिए, परन्तु अनुकम्पाबुद्धि से तो दीजिए। अनुकम्पाबुद्धि से तो दान हर व्यक्ति को दिया जा सकता है। अनुकम्पादान का तीर्थंकरों ने कहीं भी निषेध नहीं किया है।[1] पंचाध्यायी उत्तरार्ध (७३०) एवं लाटी संहिता (६।२२५) में स्पष्ट कहा है—

कुपात्रायाऽप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्।
पात्रबुद्धया निषिद्धं स्यान्न निषिद्धं कृपाधिया॥

अर्थात्—कुपात्र और अपात्र को भी (कष्टपीड़ित हो तो) यथायोग्य दान देना चाहिए, क्योंकि कुपात्र और अपात्र को केवल पात्र या सुपात्र बुद्धि से दान देना निषिद्ध है, करुणाबुद्धि से दान देना निषिद्ध नहीं है।

यही नहीं, दुःखित और बुभिक्षित या किसी कष्ट से पीड़ित व्यक्ति अनुकम्पा-पात्र होता है, उसे उस समय—केवल उस मौके के लिए न तो कुपात्र समझना चाहिए और न ही अपात्र। उसे अनुकम्पापात्र समझकर देने के लिए श्वेताम्बर और और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के शास्त्र एक स्वर से पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः॥

—करुणा के समुद्र श्रावकों या सद्गृहस्थों को अशुभकर्म के उदय से क्षुधा, तृषा आदि से पीड़ित, दुःखित शेष दीन प्राणियों को अभयदान व आहारादि दान देना चाहिए।

वास्तव में कोई भूखा अपने द्वार पर आ जाय तो उसे आहार देने में तो पात्र-अपात्र का विचार करना उचित नहीं है। इसी बात की समर्थक गाथा दिगम्बर शास्त्रों में मिलती है—

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं सदंसणे किं वियारेण॥"[2]

—पात्र को भोजन देने से गृहस्थ धन्य होता है। किन्तु आहार-दान के सम्बन्ध में पात्र-अपात्र की परीक्षा करना आगम में नहीं बताया है। अतः आहारदान के समय पात्रापात्र का विचार करने से क्या लाभ है?

इसके अतिरिक्त पात्र को भी, चाहे वह जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट पात्र हो

---

१ देखिये—सव्वे हिं पि जिणेहिं दुज्जयजिय राग-दोस-मोहेहिं।
सत्ताणुकंपट्ठा दाणं, न कहिंवि पडिसिद्धं॥
अणुकम्पादाणं पुण, जिणेहिं न कयाई पडिसिद्धं॥ —अभिधान राजेन्द्रकोष
२ पंचाध्यायी उत्तरार्ध ३०/७३१, लाटी संहिता ३/१६२

बदले में दान-दक्षिणा आदि लेने लगे। राजाओं, सेठों, धनिकों आदि से
प्रत्येक वर्ण और वर्ग के पीछे जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त ब्राह्मण वर्ग लगा
बात-बात में पद-पद पर दान-दक्षिणा, भेंट-पूजा से अपना घर भरने लगा।
ब्राह्मण वर्ग में सन्तोषवृत्ति के बदले लोभवृत्ति प्रविष्ट हो गई। मृत्यु के बाद
तर्पण करने, मृत पूर्वजों या पारिवारिक जनों को सद्गति पहुंचाने और प्र
व्यक्ति के पीछे श्राद्ध करने के नाम पर भोजन और दान-दक्षिणा दोनों ले
गाय तथा मृतक के पीछे के कर्म के नाम पर अन्य चीजें बटोरने लगा। ए
रोम में पोप लोगों द्वारा स्वर्ग की हुंडी लिखकर धनिक से प्रचुर धन प्राप्त
की तरह भारत में भी मृत स्वजनों के पाप अपने सिर पर ओढ़ कर ब्राह्मण
यजमान से लेने लगे।

यही मुफ्त में धन बटोरने का तरीका ब्राह्मण युग से यज्ञ, पूजापाठ
पर्व, श्राद्ध, विविध संस्कार (जन्म से मरण और मरणोत्तर काल तक) के द्वा
दक्षिणा की प्रणाली चली आ रही है। साथ ही ब्राह्मणों ने अपने लिए भिक्ष
सुरक्षित रखी। इस प्रकार कर्तव्यच्युत, समाज के धर्म और हितों की रक्षा के
से दूर रह कर ब्राह्मण वर्ग दान और भिक्षा का पात्र न रहते हुए भी
भिक्षा पर डटा रहा।

फलतः समाज का विवेक लुप्त हो गया, अधिकारी के बदले अनधि
और भिक्षा के बल पर जीने लगा इसीलिए आद्य शंकराचार्य ने संन्यासीपरम्प
करके सिर्फ संन्यासियों को ही भिक्षा लेने का अधिकार बताया। जैनधर्म के
और उनके अनुगामी आचार्यों ने तथा बौद्धधर्म के बुद्धों और उनके अनुगामी
एवं भिक्षुओं ने भिक्षा ग्रहण करने का मुख्य अधिकार उन्हीं का बताया, जो
जमीन-जायदाद या धन सम्पत्ति से मुक्त हों। परन्तु इस नियम में ब्राह्म
विकृतियाँ प्रविष्ट हो चुकी थीं, आचार्य हरिभद्र के युग में भी शिथिला
अवसरवादी लोग धन एवं साधन होते हुए भी भिक्षा का आश्रय ले रहे
उन्होंने उस युग के अनुसार भिक्षा के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रका
जिनमें अनधिकारी की भिक्षा को पौरुषघ्नी कह कर सख्त शब्दों में नि
देखिए उनके उद्गार—

त्रिधा भिक्षाऽपि तत्राद्या, सर्वसंपत्करी मता।
द्वितीया पौरुषघ्नी स्याद् वृत्तिभिक्षा तथान्तिमा॥

—भिक्षा तीन प्रकार की होती है—'प्रथम सर्वसंपत्करी भिक्षा मान
दूसरी भिक्षा पौरुषघ्नी होती है, और तीसरी है—वृत्ति भिक्षा।

सर्वसम्पत्करी भिक्षा वह है, जो साधु-संन्यासियों और त्यागियों द्वार
एवं निरपेक्षभाव से यथालाभ-संतोषवृत्ति से की जाती है। इसे अमीरी

13
दान और भिक्षा

दान या भिक्षा लेने के पात्र

भारतीय संस्कृति में दान लेने या भिक्षाग्रहण करने के पात्र के सम्बन्ध में काफी विचार किया गया है। यहाँ हर व्यक्ति को दान लेने या भिक्षा ग्रहण करने के लिए पात्र नहीं बताया गया है। बल्कि जो व्यक्ति आरम्भ-परिग्रह से युक्त हो, गृहस्थाश्रम में हो, सशक्त, अंगोपांगसहित, सबल और कमाने-खाने लायक हो, उसे दान लेने (मुफ्त में किसी से लेने) या भिक्षा ग्रहण करने का बिलकुल अधिकार नहीं दिया गया है। अगर वह भिक्षा मांगता है, हट्टाकट्टा होकर भी किसी से याचना करता है, भिखमंगापन करता है, भीख का पेशा अपनाता है, गिड़गिड़ाकर दान लेता है, तो उसे यहाँ निन्दनीय, नीच और घृणा का पात्र माना गया है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों धर्म की धाराओं में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि दान लेने या भिक्षा ग्रहण करने का जिसे अधिकार है, वही भिक्षा या दान स्वीकार करे, अन्यथा वह निन्द्य है और भारतीय धर्मों की आचार संहिताओं, या स्मृतियों में उसे दण्डनीय भी बताया गया है।

इसीलिए जैन, बौद्ध और वैदिक तीन धर्मों में घरबार, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद आदि सर्वस्व का त्याग करके अनगार, मुनि, श्रमण, भिक्षु निर्ग्रन्थ या संन्यासी बने हुए साधक को ही भिक्षा-जीवी बनने और भिक्षा मांगने या दान ग्रहण करने का अधिकार दिया गया था।

किन्तु एक युग ऐसा आया कि संन्यासियों से पूर्व ऋषि-मुनि जो गृहस्थाश्रमी या वानप्रस्थाश्रमी बन कर रहते थे, जो समाज या शासक के दान पर और कुछ अपनी कृषि, गोपालन या उञ्छवृत्ति अथवा जंगल के कंद-मूल, फल आदि पर ही निर्वाह कर लेते थे वे दान लेने के अधिकारी थे। लेकिन जब इसप्रकार के वैदिक ऋषि-मुनि भयंकर दुष्कालों के कारण नाम शेष हो गए, उसके बाद चिरकाल तक वैदिक ऋषि-मुनि या सन्यासी वर्ग प्रकाश मे नही आया। वैदिक ऋषि-मुनियो की व्यवस्था को कुछ अंशों में ब्राह्मण सम्भालते रहे। लेकिन वे वानप्रस्थी न रहकर बस्ती में अन्य गृहस्थाश्रमियों की तरह ही रहने लगे। समाज के हित-चिन्तन के बदले अपने पूजापाठ, पौरोहित्यकर्म, विवाह जन्मादि संस्कार आदि कराने लगे और उसके

बदले में दान-दक्षिणा आदि लेने लगे। राजाओं, सेठों, धनिकों आदि से ही नहीं, प्रत्येक वर्ण और वर्ग के पीछे जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त ब्राह्मण वर्ग लगा रहा और बात-बात में पद-पद पर दान-दक्षिणा, भेंट-पूजा से अपना घर भरने लगा। धीरे-धीरे ब्राह्मण वर्ग में सन्तोषवृत्ति के बदले लोभवृत्ति प्रविष्ट हो गई। मृत्यु के बाद भी पितृ-तर्पण करने, मृत पूर्वजों या पारिवारिक जनों को सद्गति पहुँचाने और प्रतिवर्ष मृत व्यक्ति के पीछे श्राद्ध करने के नाम पर भोजन और दान-दक्षिणा दोनों लेने लगा। गाय तथा मृतक के पीछे के कर्म के नाम पर अन्य चीजें बटोरने लगा। इस प्रकार रोम में पोप लोगों द्वारा स्वर्ग की हुंडी लिखकर धनिक से प्रचुर धन प्राप्त कर लेने की तरह भारत में भी मृत व्यक्ति के पाप अपने सिर पर ओढ कर ब्राह्मण प्रभूत धन यजमान से लेने लगे।

यही मुफ्त में धन बटोरने का तरीका ब्राह्मण युग में यज्ञ, पूजापाठ, तर्पण, पर्व, श्राद्ध, विविध संस्कार (जन्म से मरण और मरणोत्तर काल तक) के द्वारा दान-दक्षिणा की प्रणाली चली आ रही है। साथ ही ब्राह्मणों ने अपने लिए भिक्षावृत्ति भी सुरक्षित रखी। इस प्रकार कर्तव्यच्युत, समाज के धर्म और हितों की रक्षा के दायित्व से दूर रह कर ब्राह्मण वर्ग दान और भिक्षा का पात्र न रहते हुए भी दान और भिक्षा पर डटा रहा।

फलतः समाज का विवेक लुप्त हो गया, अधिकारी के बदले अनधिकारी दान और भिक्षा के बल पर जीने लगा इसीलिए आद्य शंकराचार्य ने सन्यासीपरम्परा कायम करके सिर्फ संन्यासियों को ही भिक्षा लेने का अधिकार बताया। जैनधर्म के तीर्थंकरों और उनके अनुगामी आचार्यों ने तथा बौद्धधर्म ने बुद्धों और उनके अनुगामी श्रमणों एवं भिक्षुओं ने भिक्षा ग्रहण करने का मुख्य अधिकार उन्हीं का बताया, जो घरबार, जमीन-जायदाद या धन सम्पत्ति से मुक्त हों। परन्तु इस नियम में ब्राह्मणकाल से विकृतियाँ प्रविष्ट हो चुकी थी, आचार्य हरिभद्र के युग में भी शिथिलाचारी एवं अवसरवादी लोग धन एवं साधन होते हुए भी भिक्षा का आश्रय ले रहे थे। अतः उन्होंने उस युग के अनुसार भिक्षा के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकार बताए, जिनमें अनधिकारी की भिक्षा को पौरुषघ्नी कह कर सख्त शब्दों में निन्दा की। देखिए उनके उद्गार—

> त्रिधा भिक्षाऽपि तत्राद्या, सर्वसंपत्करी मता।
> द्वितीया पौरुषघ्नी स्याद् वृत्तिभिक्षा तथान्तिमा॥

—भिक्षा तीन प्रकार की होती है—'प्रथम सर्वसंपत्करी भिक्षा मानी गई है, दूसरी भिक्षा पौरुषघ्नी होती है, और तीसरी है—वृत्ति भिक्षा।

सर्वसम्पत्करी भिक्षा वह है, जो साधु-संन्यासियों और त्यागियों द्वारा निःस्पृह एवं निरपेक्षभाव से यथालाभ-संतोषवृत्ति से की जाती है। इसे अमीरी एवं श्रेष्ठ भिक्षा कह सकते हैं।

13

दान और भिक्षा

दान या भिक्षा लेने के पात्र

भारतीय संस्कृति में दान लेने या भिक्षाग्रहण करने के पात्र के सम्बन्ध में काफी विचार किया गया है। यहाँ हर व्यक्ति को दान लेने या भिक्षा ग्रहण करने के लिए पात्र नहीं बताया गया है। बल्कि जो व्यक्ति आरम्भ-परिग्रह से युक्त हो, गृहस्थाश्रम में हो, सशक्त, अंगोपांगसहित, सबल और कमाने-खाने लायक हो, उसे दान लेने (मुफ्त में किसी से लेने) या भिक्षा ग्रहण करने का बिलकुल अधिकार नहीं दिया गया है। अगर वह भिक्षा मांगता है, हट्टाकट्टा होकर भी किसी से याचना करता है, भिखमंगापन करता है, भीख का पेशा अपनाता है, गिड़गिड़ाकर दान लेता है, तो उसे यहाँ निन्दनीय, नीच और घृणा का पात्र माना गया है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों धर्म की धाराओं में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि दान लेने या भिक्षा ग्रहण करने का जिसे अधिकार है, वही भिक्षा या दान स्वीकार करे, अन्यथा वह निन्द्य है और भारतीय धर्मों की आचार संहिताओं, या स्मृतियों में उसे दण्डनीय भी बताया गया है।

इसीलिए जैन, बौद्ध और वैदिक तीन धर्मों में घरबार, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद आदि सर्वस्व का त्याग करके अनगार, मुनि, श्रमण, भिक्षु निर्ग्रन्थ या संन्यासी बने हुए साधक को ही भिक्षा-जीवी बनने और भिक्षा मांगने या दान ग्रहण करने का अधिकार दिया गया था।

किन्तु एक युग ऐसा आया कि संन्यासियों से पूर्व ऋषि-मुनि जो गृहस्थाश्रमी या वानप्रस्थाश्रमी बन कर रहते थे, जो समाज या शासक के दान पर और कुछ अपनी कृषि, गोपालन या उञ्छवृत्ति अथवा जंगल के कंद-मूल, फल आदि पर ही निर्वाह कर लेते थे वे दान लेने के अधिकारी थे। लेकिन जब इसप्रकार के वैदिक ऋषि-मुनि भयकर दुष्कालों के कारण नाम शेष हो गए, उसके बाद चिरकाल तक वैदिक ऋषि-मुनि या संन्यासी वर्ग प्रकाश मे नहीं आया। वैदिक ऋषि-मुनियों की व्यवस्था को कुछ अंशों में ब्राह्मण सम्भालते रहे। लेकिन वे वानप्रस्थी न रहकर बस्ती में अन्य गृहस्थाश्रमियों की तरह ही रहने लगे। समाज के हित-चिन्तन के बदले [illegible] वाह जन्मादि संस्कार आदि कराने लगे और उसके

बदले में दान-दक्षिणा आदि लेने लगे। राजाओं, सेठों, धनिकों आदि से ही नहीं, प्रत्येक वर्ण और वर्ग के पीछे जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त ब्राह्मण वर्ग लगा रहा और बात-बात में पद-पद पर दान-दक्षिणा, भेंट-पूजा से अपना घर भरने लगा। धीरे-धीरे ब्राह्मण वर्ग में सन्तोषवृत्ति के बदले लोभवृत्ति प्रविष्ट हो गई। मृत्यु के बाद भी पितृ-तर्पण करने, मृत पुरखों या पारिवारिक जनों को सद्गति पहुँचाने और प्रतिवर्ष मृत व्यक्ति के पीछे श्राद्ध करने के नाम पर भोजन और दान-दक्षिणा दोनों लेने लगा। साथ तथा मृतक के पीछे के कर्म के नाम पर अन्य चीजें बटोरने लगा। इस प्रकार रोम में पोप लोगों द्वारा स्वर्ग की हुंडी लिखकर धनिक से प्रचुर धन प्राप्त कर लेने की तरह भारत में भी मृत व्यक्तियों के पाप अपने सिर पर ओढ़ कर ब्राह्मण प्रभूत धन यजमान से लेने लगे।

यही मुफ्त में धन बटोरने का तरीका ब्राह्मण युग से यज्ञ, पूजापाठ, तर्पण, पर्व, श्राद्ध, विविध संस्कार (जन्म से मरण और मरणोत्तर काल तक) के द्वारा दान-दक्षिणा की प्रणाली चली आ रही है। साथ ही ब्राह्मणों ने अपने लिए भिक्षावृत्ति भी सुरक्षित रखी। इस प्रकार कर्तव्यच्युत, समाज के धर्म और हितों की रक्षा के दायित्व से दूर रह कर ब्राह्मण वर्ग दान और भिक्षा का पात्र न रहते हुए भी दान और भिक्षा पर डटा रहा।

फलतः समाज का विवेक लुप्त हो गया, अधिकारी के बदले अनधिकारी दान और भिक्षा के बल पर जीने लगा इसीलिए आद्य शंकराचार्य ने सन्यासीपरम्परा कायम करके सिर्फ संन्यासियों को ही भिक्षा लेने का अधिकार बताया। जैनधर्म के तीर्थंकरों और उनके अनुगामी आचार्यों ने तथा बौद्धधर्म के बुद्धों और उनके अनुगामी श्रमणों एवं भिक्षुओं ने भिक्षा ग्रहण करने का मुख्य अधिकार उन्हीं का बताया, जो घरबार, जमीन-जायदाद या धन सम्पत्ति से मुक्त हों। परन्तु इस नियम में ब्राह्मणकाल से विकृतियाँ प्रविष्ट हो चुकी थी, आचार्य हरिभद्र के युग में भी शिथिलाचारी एवं अवसरवादी लोग धन एवं साधन होते हुए भी भिक्षा का आश्रय ले रहे थे। अतः उन्होंने उस युग के अनुसार भिक्षा के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकार बताए, जिसमें अनधिकारी की भिक्षा को पौरुषघ्नी कह कर सख्त शब्दों में निन्दा की। देखिए उनके उद्गार—

त्रिधा भिक्षाऽपि तत्राद्या, सर्वसंपत्करी मता।
द्वितीया पौरुषघ्नी स्याद् वृत्तिभिक्षा तथान्तिमा॥

—भिक्षा तीन प्रकार की होती है—'प्रथम सर्वसंपत्करी भिक्षा मानी गई है, दूसरी भिक्षा पौरुषघ्नी होती है, और तीसरी है—वृत्ति भिक्षा।

सर्वसम्पत्करी भिक्षा वह है, जो साधु-संन्यासियों और त्यागियों द्वारा निःस्पृह एवं निरपेक्षभाव से यथालाभ-संतोषवृत्ति से की जाती है। इसे अमीरी एवं श्रेष्ठ भिक्षा कह सकते हैं।

पौरुषघ्नी भिक्षा वह है, जो हट्टे-कट्टे, धन-धान्य सम्पन्न, सशक्त, अंगोपांगयुक्त कमाने-खाने की शक्ति वाले तथाकथित लोगों द्वारा केवल कुल-परम्परा के नाम पर की जाती है। ऐसी भिक्षा भिक्षाकर्ता के पुरुषार्थ का हनन करने वाली होने से पौरुषघ्नी बताई है। वृत्तिभिक्षा वह है—जो अन्धे, लूले, लँगड़े, अंगविकल, अशक्त, असहाय, असाध्य रोगग्रस्त अतिनिर्धन दयनीय लोगों द्वारा की जाती है। क्योंकि ऐसे लोग जो किसी भी तरह से कमाने-खाने लायक नहीं रहते, समाज की दया पर जीते हैं। इनमें भी जिनके परिवार में कोई पालन-पोषण करने वाला नहीं रहता, जो एकाकी और असहाय हैं, वे ही ऐसी भिक्षा पर जीते हैं। जिनका बस चलता है, वे ऐसी भिक्षा पर जीना नहीं चाहते।

वास्तव में भिक्षावृत्ति बहुत ही पवित्र और निर्दोष जीवन प्रणाली है। और इसका अधिकार सिर्फ त्यागियों और अकिंचन भिक्षुओं के लिए ही था। त्यागी श्रमणों, संन्यासियों और भिक्षुओं ने भिक्षावृत्ति के साथ कुछ ऐसी आचारसंहिता जोड़ दी, जिससे त्यागियों की भिक्षा किसी के लिए बोझरूप न रहे, गरीब से गरीब व्यक्ति भी अपनी रोटी में से थोड़ा-सा अंश भावना और श्रद्धापूर्वक दे सके। यों तो भिक्षा की आचार संहिता बहुत लम्बी है, किन्तु भिक्षा के कुछ प्रमुख नियम ये हैं, जिनसे प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है कि सर्वसंपत्करी भिक्षा न किसी पर बोझरूप है और न ही किसी के लिए अश्रद्धा भाजन—

(१) साधुओं की भिक्षावृत्ति पाप-रहित कही है।[1]

(२) निरवद्य एवं निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना सुदुष्कर है।[2]

(३) अकल्पनीय, अनैषणीय वस्तु न ले, कल्पनीय एषणीय ही ले।[3]

(४) भगवान् महावीर ने श्रमणों निर्ग्रन्थों के लिए नवकोटि विशुद्ध भिक्षा कही है।[4]

(५) ऊँच, नीच, मध्यम सभी कुलों में भिक्षाटन करते हुए विचरे।[5]

---

१ अहो ! जिणेहिं असावज्जा, वित्ति साहूण देसिया। —दश० ५।१।९२

२ अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं। —उत्त० १९।२७

३ अकप्पियं न गिण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं। —दश० ५।२।२७

४ समणेणं भगवया महावीरेणं, समणाणं निग्गंथाणं नवकोडीपरिसुद्धेभिक्खे पण्णत्ते, तंजहा—न हणइ, न हणावेइ, हणंतं नाणुजाणइ। न पयइ, न पयावेइ, पयंतं नाणुजाणइ। न किणइ, न किणावेइ, किणंतं नाणुजाणइ। —स्थानांग ९/६८१

५ (क) उच्चनीय मज्झिम कुलेसु अडमाणे······—अन्तकृद्दशांग सूत्र व ६ अ. १५

(ख) अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु।
पनयंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥४७॥

—मूलाचार अनगारभावनाधिकार

संत विनोबाजी ने मनुष्य के जीवन निर्वाह के विश्व में प्रचलित तीन प्रकार बताये हैं—भिक्षा, पेशा और चोरी।

भिक्षा का अर्थ है—समाज की अधिक से अधिक सेवा करके समाज से केवल शरीरयात्रा चलाने के लिए कम से कम लेना और वह भी लाचारीवश तथा उपकृत भाव से।

पेशा का अर्थ है—समाज की कोई विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला मांग लेना। पेशे में व्यक्ति उतना ही लेता है, जितनी मेहनत करता है। इससे अधिक कोई देना चाहे और अनुचित काम कराना चाहे तो वह इन्कार कर देता है। एक उदाहरण लीजिए—अहमदाबाद में हरिलाल सीतलवाड एक उच्च सरकारी अधिकारी थे। एक दिन एक भाई अपने फायदे के लिए उनसे अनुचित कार्य कराने हेतु उनके पास आया। कुछ देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद वह बोला—'आप सरकारी अधिकारी हैं। मेरे लाभ के लिए अगर आप इतना-सा काम कर देंगे तो मैं आपका एहसान कभी नहीं भूलूंगा। उसके बदले में मैं आपको गाड़ी भर रुपये भी दूंगा, जो साथ में लाया हूं।' हरिलाल बोले—'भाई! मुझसे यह काम नहीं होगा। जिसकी बात सच्ची होगी, मैं तो उसी के पक्ष में रहूँगा। अतः तुम अपने रुपये वापिस ले जाओ। मुझे कतई नहीं चाहिए, ये रुपये।' वह व्यक्ति फिर आग्रहपूर्वक कहने लगा—'साहब! समझ जाइए। ये रुपये कोई थोड़े-से नहीं, गाड़ी भर रुपये हैं। ऐसा लाभ मुफ्त में न जाने दें।' भले ही ऐसी २५ गाड़ी भरकर रुपये ले आएँ, मुझे रिश्वत लेकर अप्रामाणिक काम नहीं करना है। मुझे हराम की कमाई नहीं चाहिए।' इस पर आवेश में आकर आगन्तुक बोला—'अच्छा, तब याद रखना, इतनी बड़ी अर्थ राशि देने वाला आपको और कोई नहीं मिलेगा।' हरिलाल शान्त स्वर में बोले—'इतनी रकम देने वाला तो फिर भी कोई मिल सकता है, पर इसे लेने से इन्कार करने वाला मिलना मुश्किल है।

सचमुच प्रामाणिकता से पेशा करने वाला इस प्रकार का अनैतिक द्रव्य नहीं ले सकता। न इस प्रकार के द्रव्य के ग्रहण को दान लेना कहा जा सकता है।

चोरी का अर्थ है—समाज की कम से कम सेवा करके अथवा सेवा करने का ढोंग दिखाकर या बिलकुल सेवा किए बिना और किसी समय तो समाज की प्रत्यक्ष हानि करके भी समाज से अधिक से अधिक भोग विलास के साधन ले लेना। यह तो निर्विवाद है कि भिक्षा का अधिकार अनधिकृत लोगों ने जबरन लेकर धांधली मचा रखी है। यही कारण है कि भारत में ऐसे निठल्ले, समाज के लिए निकम्मे तथा समाज में दुर्व्यसन फैलाने वाले लगभग ७० लाख लोगों की फौज खड़ी हो गई है। इनमें कुछ योग्य एवं सच्चे माने में भिक्षा के अधिकारी भी होंगे, परन्तु हकीकत यह है कि अधिकांशतः भिक्षा के अनधिकारी भिक्षाजीवी बन गए। इसी कारण भिक्षा भी बदनाम और भारभूत बन गई।

इसीलिए सदाचारपरायण मर्यादाशील सद्गृहस्थ भूखा रह लेगा, किन्तु किसी से भिक्षा नहीं मांगेगा। भारतीय संस्कृति की मर्यादा उसके रग-रग में भरी होती है। भिक्षा भी एक प्रकार का दान लेना है, इसलिए इस सन्दर्भ में हमने इसकी चर्चा कर दी।

अब आइये, दान के अधिकारी की चर्चा पर। दान लेने के पूर्ण अधिकारी तो पूर्णत्यागी सन्त, साधु-संन्यासी ही हैं, इन पूर्वोक्त भारतीय संस्कृति के सुसंस्कारों के कारण सहसा कोई भी सद्गृहस्थ दान लेना अच्छा नहीं समझता। उच्चकुल के व्यक्ति 'प्रदानं प्रच्छन्नम्' चुपचाप दान देने के संस्कार से ओत-प्रोत होने के कारण दान लेना भी नहीं चाहता। यही कारण है कि कोई भी कुलीन सद्गृहस्थ किसी भी चीज को मुफ्त में लेना नहीं चाहता। दान में लेने का अर्थ ही मुफ्त में लेना है। इसी कारण कुछ विद्वान् और विवेकी ब्राह्मण भी दान लेना ठीक नहीं समझते थे। इसलिये वे दान में प्राप्त होने वाली रकम लेने से इन्कार देते हैं।

एक गांव में एक निःस्पृही पण्डित थे। आसपास के गांव में कहीं भी शास्त्र-सम्बन्धी कोई शंका होती तो लोग उनके पास आकर समाधान कर लेते, किन्तु वह महापण्डित बड़े दरिद्र थे। उन्हें एक टाइम खाने को मिलता और एक टाइम निराहार रहना पड़ता। उनकी यह हालत देखकर गांव के प्रमुख व्यक्ति ने राजा से कहा—"महाराज! आपके शासन में वैसे तो प्रजा सुखी है, प्रसन्न है, लेकिन हमारे गांव में एक महापण्डित हैं, उन्हें एक जून खाने को मिलता है, एक जून फाका ही करना पड़ता है। आपके लिए यह कलंक की बात होगी कि आपके राज्य में एक विद्वान भूखा रहे।" राजा ने प्रमुख व्यक्ति की बातें सुनकर शीघ्र स्वर्णमुद्राओं की थैली अपने सिपाहियों को उक्त महापण्डित को दे आने का आदेश दिया। सिपाही महापण्डित के घर पहुँचे और निवेदन किया—"पण्डित जी, राजाजी ने आपकी विद्वत्ता और अभाव पीड़ा को देखकर आपके लिए यह थैली उपहार में भेजी है, आप इसे स्वीकार कीजिए।" महापण्डित बोले—मैंने राजा का कृपापात्र बनने का कोई कार्य नहीं किया, इसलिए यह उपहार आप राजा को ही वापिस दे दीजिए।" सिपाही उस उपहार को लेकर वापिस लौट आए। पण्डितानी यह सब सुन रही थी। उसने उपालम्भ के स्वर में पण्डित जी से कहा—"आपने ऐसा क्यों किया? आए हुए धन को यों ठुकराना उचित था?" महापण्डित—"राजा ने किसी से मेरी प्रशंसा सुनकर यह उपहार भेजा है, कल को किसी ने उसके सामने मेरी निन्दा कर दी तो वह मेरा सिर भी कटवा सकता है, क्योंकि वह राजा है। उसके रुष्ट और तुष्ट होते देर नहीं लगती। दया और क्रोध दोनों उसमें समान रूप से रहते हैं।" महापण्डित की विवेकपूर्ण बात सुनकर पण्डितानी समझ गयी। उसने कहा—"हमें राजा की दी हुई मुफ्त की चीज न रखना ही ठीक था। आपने उपहार लौटा कर अच्छा किया। हमारे जब हाथ पैर चलते हैं तो हम क्यों किसी से दान लें?" पण्डित जी ने उसकी बात का समर्थन किया।

यह है, विद्वान् ब्राह्मण का दान लेने से इन्कार का ज्वलन्त उदाहरण। यह उदाहरण हमारे सामने भारतीय संस्कृति का स्पष्ट आदर्श प्रस्तुत करता है कि किसी का कार्य किये बिना कोई भी चीज मुफ्त में या दान में न लो! इसी प्रकार जो व्यक्ति स्वावलम्बी और सशक्त व पुरुषार्थी हैं, वे भी किसी से दान लेना परावलम्बन समझते हैं। वे लोग किसी से दान लेकर परावलम्बी बनना नहीं चाहते।

हातिमताई ने एक बार प्रीतिभोज दिया। उसमें सारा गाँव भोजन करने आया, पर एक लकड़हारा नहीं आया। शाम को जब लकड़हारा हातिमताई से मिला तो उन्होंने पूछा—"भाई! आज सारा गाँव मेरे यहाँ भोजन करने आया था, लेकिन तुम नहीं आये, इसका क्या कारण है?" लकड़हारे ने कहा—"जिसकी भुजाएँ सही सलामत हैं, वह हातिमताई के यहाँ क्यों जाये?" एक दिन हातिम से किसी ने पूछा— 'इस गाँव में श्रेष्ठ दाता कौन है?" उत्तर मिला—लकड़हारा, क्योंकि उसे अपने लिए दूसरों के सामने हाथ पसारना नहीं पड़ता। अतः वही श्रेष्ठ दाता और स्वावलम्बी है। वह किसी को लूटता नहीं तो किसी से स्पृहा भी नहीं रखता।"

यह है—स्वावलम्बी एवं सशक्त व्यक्ति का किसी से दान न लेने का आदर्श! एक स्वाभिमानी और स्वावलम्बी बुढ़िया लन्दन के एक उपनगर में पार्सलों का बोझ उठाये घूम रही थी और मुश्किल से रास्ता काट रही थी। सम्राट् सप्तम एडवर्ड उसकी यह दशा देखकर दयार्द्र हो उठे। उन्होंने पास जाकर कहा—"माँजी! तुम्हारी उम्र इस लायक नहीं कि तुम इतना बोझ उठाकर चल सको, फिर इतना कष्ट क्यों उठाती हो?" बुढ़िया ने उत्तर दिया—"मेरा पुत्र पार्सल पहुँचाने का काम करता था। अचानक उसकी मृत्यु हो गई। उसका कार्य मुझे करना पड़ रहा है। मुझे अपने पौत्र का भरणपोषण करना है, इसलिए मैंने संकल्प किया है कि मैं ही उसका भरणपोषण पूर्ववत् करती रहूँगी।" "माँ! तुम अपने पौत्र को अनाथालय में भर्ती क्यों नहीं करा देती?"—सम्राट् ने पूछा! बुढ़िया—"अनाथालय में वे ही बच्चे भर्ती किये जाते हैं, जो वास्तव में अनाथ हों। मेरा पौत्र अनाथ नहीं है। मेरे हाथ-पाँव अभी काम देते हैं। मैं उसे अनाथ बनाना नहीं चाहती, इसीलिए स्वयं श्रम से उसका भरणपोषण करती हूँ।" सम्राट् बहुत प्रसन्न हुआ। ऐसी संस्कारी बुढ़ियाएँ ही बच्चों में मुफ्त में न लेने और स्वावलम्बनपूर्वक जीने के संस्कार डाल सकती हैं।

जो स्वाभिमानी एवं स्वावलम्बी होते हैं, वे कष्ट में अपना जीवन गुजार देते हैं, लेकिन किसी से दान नहीं लेते, बल्कि वे दूसरों से मुफ्त में न माँगने की प्रेरणा देते हैं।

महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन के प्रणेता थे। वे खेतों में वैसे ही पड़े हुए अन्न-कणों को बीनकर उनसे गुजारा चलाते। एक बार राजा को यह मालूम पड़ा कि मेरे राज्य में एक विद्वान् ऋषि कण बीन कर गुजारा चलाता है तो उसने अपने कर्म-

चारियों को बहुत-सा धन देकर कणाद के पास भेजा। निःस्पृह ऋषि ने कहा—"तुम्हारे राजा का भेजा हुआ धन किसी गरीब को दे दो। मुझे उनका धन नहीं चाहिए।" कर्मचारी सुनकर चकित हो उठे। उन्होंने आकर राजा से कहा। राजा ने पहले से दुगुना धन देकर कर्मचारियों को भेजा, लेकिन इस बार भी उन्होंने ठुकरा दिया। तीसरी बार चौगुना धन व थाल-दुशाले लेकर राजा स्वयं आया। निःस्पृह कणाद ने पुनः कहा—"यह किसी कंगाल को दे दो, राजन्।" राजा ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! अपराध क्षमा करें। आप से बढ़कर और कंगाल कौन होगा?"……महात्मा ने तर्क न करके वही वाक्य दोहराया। लाचार होकर राजा महल की ओर चल दिया। रात को जब रानी से यह वृत्तान्त सुनाया तो समझदार रानी ने पति को उपालम्भ दिया—"आपने द्रव्य ले जाकर बड़ी भूल की। आपको ऋषि से कोई रसायन विद्या सीखनी चाहिए थी, जिससे गरीबों का भला होता। आप अभी जाइए।" राजा आधी रात को ही कणाद ऋषि की झोंपड़ी में पहुँचे। राजा ने ऋषि से अपने अपराध के लिए क्षमा याचना की। और फिर उसने ऋषि से रसायन विद्या देने के लिए कहा। ऋषि ने कहा—"राजन्! मैं तेरे घर दिन में भी कभी माँगने नहीं गया, परन्तु तू मेरी कुटिया पर आधी रात को भीख माँगने आया है। बता कंगाल कौन है? तू या मैं?" राजा ने ऋषि से क्षमा माँगी। ऋषि ने राजा के मस्तक पर हाथ रखकर ऐसी ब्रह्मविद्या सिखाई, जो नर को नारायण बना दे।

इसी प्रकार के और भी कई तेजस्वी विद्वान् ब्राह्मण हुए हैं, जिन्होंने कभी दूसरों के सामने हाथ नहीं फैलाया, राजा सामने चलाकर आया तो भी उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया दान लेने से।

संस्कृत के प्रगाढ़पण्डित कैयट की विद्वत्ता और उनकी खराब आर्थिक स्थिति देखकर तत्कालीन काश्मीर नरेश ने स्वयं उनकी सेवा में उपस्थित होकर निवेदन किया—"महाराज! आप विद्वान हैं और आप जानते हैं कि जिस राजा के राज्य में विद्वान् ब्राह्मण कष्ट में रहे, वह पापभागी होता है। अतः आप मुझ पर कृपा करें।" कैयटजी ने कमण्डलु उठाया और चटाई समेट कर बगल में दबाते हुए पत्नी से कहा—"चलो और कहीं चलें। हम यहाँ रहते हैं, इससे राजा को पाप लगता है। तुम ये मेरी पुस्तकें उठा लो।" महाराजा ने उनके चरणों में पड़कर कहा—'मेरे अपराध के लिए मुझे क्षमा कीजिए।' मैं तो सिर्फ मुझसे कोई सेवा हो सके तो करने की अपेक्षा से आपको निवेदन करने आया था। "तुम सेवा करना चाहते हो न! सबसे बड़ी सेवा यह होगी कि अब कभी मेरे पास न आना और न कभी अपने किसी कर्मचारी को भेजना। मुझे किसी वस्तु की जरूरत नहीं है। मेरे अध्ययन में विक्षेप न पड़े, यही मेरी सबसे बड़ी सेवा होगी।"

तात्पर्य यह है कि स्वाभिमानी, स्वावलम्बनजीवी एवं सशक्त व्यक्ति दान की कभी अपेक्षा नहीं रखते, वे मुफ्त में किसी से लेने में हिचकिचाते हैं। इसीलिए

मध्यम युग में कई धर्मात्मा एवं उदार दाता लोग तरसते रहते थे कि कोई दान लेने आये। सुपात्र की खोज में रहते थे। कई लोग तो इस प्रकार का व्रत ग्रहण कर लेते थे कि किसी आदाता को भोजन दिये बिना, मैं भोजन नहीं करूँगा।" सचमुच उन दिनों पात्र की बड़ी प्रतिष्ठा थी, वे दुर्लभ थे। आम आदमी दान लेने से कतराता था। वह दान देना पसन्द करता था, लेना नहीं। इसीलिए उस युग में पात्र-सुपात्र बड़े दुर्लभ थे। कहीं कोई भूलाभटका सुपात्र मिल जाता तो दाता उसे दान लिए बिना जाने नही देता था।

कुछ तेजस्वी और निःस्पृह पात्र दाता की पूरी कसौटी करके ही लेते थे। एक बार एक सुलतान जंगल मे पहुँच गया। वहाँ उसे एक फकीर मिला। सुलतान फकीर से बातचीत करके बहुत खुश हुआ। जाते समय अपनी भेंट स्वीकार करने का बहुत आग्रह किया। तब फकीर ने कहा—"ये सब वृक्ष मुझे खाने को फल देते हैं। यह गुफा मुझे रहने को जगह देती है। फिर मुझे आपकी भेंट की क्या जरूरत है?" सुलतान फकीर की निःस्पृहता से प्रभावित होकर बोला—'आप मेरे राज्य में पधारिए और मुझे पवित्र कीजिए।' सुलतान के अत्याग्रह से फकीर उसके नगर में गया। वहाँ सुलतान ने, जहाँ अपनी वैभव की सामग्री थी, वहाँ फकीर को बिठाकर कहा—आप जरा बैठिए! मैं खुदा की बन्दगी कर लूं।" सुलतान पास के कमरे में बन्दगी करने लगा—"हे खुदा! तू इससे भी ज्यादा सामग्री दे। अधिकाधिक पुत्र दे। मेरा शरीर नीरोग रख।" यह सुनते ही फकीर वहां से उठकर चल पड़ा। बादशाह उसके पीछे-पीछे दौड़ा और कहा—"सांई बाबा! खड़े रहिए। भोजन किये बिना न जाइए।" फकीर ने जवाब दिया—'तू खुद याचक है तो मैं तेरे से क्या मांगूं? मैं सब सामग्री सीधी ईश्वर से ही मांग लूंगा।" फकीर की निःस्पृहता देखकर सुलतान चकित हो गया।

निष्कर्ष यह है कि निस्पृह पात्र कभी किसी के दान की अपेक्षा नहीं रखता। वह दान लेता है तो दीनवृत्ति से नहीं, उदासीनवृत्ति (तटस्थवृत्ति) से लेता है। अगर पात्र दीनतापूर्वक लेता है और अनावश्यक रूप में लेता है तो भिक्षावृत्ति उचित नहीं कही जा सकती।

☆

14

विविध कसौटियाँ

पात्र की और दाता की परीक्षा

प्राचीनकाल में दान के योग्य पात्र अपने दाता की पूरी परीक्षा करने के बाद ही दान लेता था। अगर दाता उसकी कसौटी पर खरा नहीं उतरता था, तो वह उससे दान लेने से इन्कार कर देता था।

उपनिषद् काल में कैकय देश में अश्वपति नाम के राजा थे, जिन्हें प्रजा अपने हृदय मन्दिर का देव समझती थी। वे बड़े ही सद्गुणी थे। एक बार उनके यहाँ ऋषियों की एक मंडली आ गई। मंडली की अगवानी के लिए स्वयं अश्वपति नृप पधारे। राजा ने महर्षियों को महल में पधार कर भोजन करने की प्रार्थना की। परन्तु महर्षियों का राजा के अन्न खाने से इन्कार कर दिया। ऐसे समय में महाराजा अश्वपति ने प्रतिज्ञापूर्वक कहा—

"न कुम्भिलो, न कृपणो, न मद्यपो न यज्ञहीनो न बुधतरो जनः।
न मेऽस्ति राज्ये व्यभिचारी नर्षभः! कुतस्तदा स्त्री व्यभिचारिणी भवेत्?

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न च मद्यपो।
नानाहिताग्निर्नाऽविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

—ऋषिवरो! मेरे राज्य में न तो कोई मोटी तोंद वाला है न कोई कृपण है, न कोई शराबी है और न ही कोई व्यक्ति यज्ञ से रहित है। न कोई मंदबुद्धि है। मेरे राज्य में कोई व्यभिचारी नहीं है तो व्यभिचारिणी स्त्री कहां से होगी? मेरे जनपद में कोई चोर नहीं हैं, न दुष्ट है, न मद्यपायी है, न कोई ब्राह्मण अनाहिताग्नि है और न ही अविद्वान्। मेरे जनपद में कोई स्वच्छन्दी पुरुष नहीं है तो स्वच्छन्दिनी स्त्री कहाँ से होगी?

जब यह अश्वपति ने कहा तो ऋषियों ने प्रसन्नतापूर्वक राजा के यहाँ भोजन करना स्वीकार किया। कितनी कठोर कसौटी पात्र की ओर से दाता की की गई थी? कई बार पात्र दाता आश्रित या परावलम्बी और पराधीन बन जाने की आशंका से दान के रूप में बड़ी से बड़ी चीज लेने से इन्कार कर देता था।

उदयपुर राणा अपने दीवान चम्पालालजी को जागीरी देना चाहते थे, लेकिन

उन्होंने यह कहकर लेने से इन्कार कर दिया कि 'जागीरी ले लेने पर मुझे आपका गुलाम बनकर रहना पड़ेगा, आपकी हाँ में हाँ मिलानी पड़ेगी। फिर मैं आपकी किसी भी गलत बात का विरोध नहीं कर सकूँगा।'

कई व्यक्तियों की परमात्मा पर इतनी अटल श्रद्धा हो जाती है कि उन्हें फिर कोई बड़ी से बड़ी चीज भी राजा आदि देने लगें तो वह नहीं लेता। एक राजा ने किसी दूसरे राजा का राज्य जबरन छीनकर अपने कब्जे में कर लिया। कुछ अर्से बाद विजेता राजा ने अपने कर्मचारियों को पता लगाने भेजा कि उक्त राजा का कोई उत्तराधिकारी हो तो मैं उसे जीता हुआ राज्य वापिस देना चाहता हूँ। पर राज-कर्मचारियों ने पता लगाने के बाद राजा से कहा—'महाराज ! उस राजा का कोई निकट सम्बन्धी तो है नहीं। एक दूर का सगोत्री है, जो श्मशान में रहता है।' राजा ने श्मशान मे रहने वाले उस सगोत्री को बुला लाने को कहा। राजकर्मचारी उसके पास सन्देश लेकर गये, मगर वह नहीं आया। तब राजा स्वयं उसके पास पहुँचा और उसे राज्य ले लेने को कहा। परन्तु उसने राज्य लेने से साफ इन्कार कर दिया। राजा ने बहुत आग्रह किया तब उसने कहा—'मुझे राजगद्दी नहीं चाहिए।' इस पर राजा ने कहा—'और कुछ मांगो।' उसने कहा—'मुझे आपसे कुछ भी मांगना नहीं है।' राजा ने जब बहुत ही अनुरोध किया तो उसने कहा—मुझे तीन चीजें चाहिए, अगर दे सकते हों तो दे दें—

"(१) मुझे ऐसा जीवन चाहिए, जिसे पाने पर फिर मृत्यु न हो।
(२) मुझे ऐसा आनन्द चाहिए, जिसे पाने पर कभी दिलगीर न होना पड़े।
(३) मुझे ऐसी अवस्था चाहिए, जिससे कभी बुढ़ापा न आए।"

सुनकर राजा ने कहा—'ये तीनों चीजें देना, मेरी शक्ति से बाहर है। ये सब (कुदरत) के हाथ में है, मैं नही दे सकता।' उसने कहा—इसीलिए तो मैंने ईश्वर का आश्रय लिया है। तब मैं तुम्हारा राज्य लेकर क्या करूँ?'

सचमुच पात्र के द्वारा दाता की परीक्षा की यह मुँह बोलती घटना है। इसी-लिए दाता को कई बार कई अग्नि-परीक्षाओं में से पार होना पड़ता है।

कई बार दाता जबरन आदाता के पास जाकर दान के रूप में धन की थैली रख आते या कोई सामान रख आते या अपने आदमी के साथ भेज देते, मगर स्वाभि-मानी एवं निःस्पृही व्यक्ति उसे लेने से साफ इन्कार कर देते थे। वे दान की चीज को और उसमें भी धन को लेना बहुत बुरा समझते थे।

एक धनी पुरुष श्रीरामकृष्ण परमहंस के पास गये और कहने लगे—'मैं आप को निजी खर्च के लिए एक बड़ी रकम देना चाहता हूँ। यह लीजिए चैक!' यद्यपि उस धनिक ने अच्छी भावना से यह इच्छा प्रगट की थी। किन्तु परमहंस ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा—'जी नही, आपसे इतना पैसा लेने के बाद तो मैं उसी की चिन्ता में फँस जाऊँगा। अतः मैं इसे नहीं चाहता।' धनी ने फिर आग्रह करते हुए

कहा—'यह दान मैं किसी सुपात्र को देना चाहता हूँ। आप इन्कार क्यों कर रहे हैं। यदि आप स्वयं अपने पास इसे न रखना चाहें तो ऐसे व्यक्ति के नाम मुझे यह पैसा जमा कराने दीजिए, जो आपकी सेवा-शुश्रूषा करता रहता हो। आपको तो इसे छूने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। आप इन्कार न करें। मेरे पर कृपा करें।' मगर रामकृष्ण परमहंस ने कहा—'पैसा और सांप दोनों बराबर हैं, मैं इसके सम्पर्क में रहना नहीं चाहता।'

एक नगर के बाहर एक तपस्वी रहते थे। एक दिन वहाँ के राजा ने स्वर्ण-मुद्राओं से भरी हुई थैली ले जाकर तपस्वी के सामने रखी और उन्हें स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की। तपस्वी ने जब समाधि में से आँखें खोलीं तो सामने मुहरों की थैली देखकर कहा—"यह थैली उठा लो। मुझे इसमें से दुर्गन्ध आती है। मेरे दिमाग पर इसका बुरा असर पड़ेगा।" इस पर राजा ने कहा—'महात्मन् ! सोना तो पवित्र माना जाता है। इसमें दुर्गन्ध तो होती ही नहीं।' तपस्वी वहाँ से उठे और राजा को साथ लेकर वे बातें करते-करते चमारवास में चमड़े के कुण्ड के पास पहुँचे। राजा ने दुर्गन्ध रोकने के लिए नाक के आगे कपड़ा लगाया। तब तपस्वी ने कहा—'राजन् ! यहाँ दुर्गन्ध कहाँ है? अगर दुर्गन्ध होती तो यह चमार भी नाक के आगे वस्त्र लगाते। यह चमार हमेशा इस चर्मकुण्ड के पास रहता है, इसलिए अभ्यास हो जाने से इसे दुर्गन्ध नहीं लगती, पर आपको लगती है। इसी प्रकार आप सदा इन स्वर्ण-मुद्राओं के संसर्ग में रहते हैं, इसलिए आपको दुर्गन्ध नहीं लगती, पर मुझे इनमें दुर्गन्ध आती है। 'कनक (सोने की) कनक ते (धतूरे से) सौगुनी मादकता अधिकाय,' क्या यह कहावत आपको मालूम नहीं।' राजा तपस्वी की बात समझ गया और नमस्कार करके चल दिया।

दान के पात्र मिलने दुर्लभ हैं

इसीलिए दान के पात्र सहज में नहीं मिलते। आजकल जो लेने वालों की और उसमें भी मुफ्त में बिना योग्यता और पात्रता के लेने वालों की संख्या इतनी बढ़ गई है, उसका मुख्य कारण कलियुग का ही प्रभाव है। अन्यथा उत्कृष्ट सुपात्र तो मिल भी जाते हैं, और अनुकम्पापात्र भी मिल जाते हैं, लेकिन मध्यम सुपात्र व्रतबद्ध लोकसेवक या सद्गृहस्थ श्रावक मिलने बहुत ही दुर्लभ हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने साधर्मी को देने की अपेक्षा साधर्मी वात्सल्य को अधिक महत्त्व दिया है। इसीलिए सद्गृहस्थ श्रावक किसी के सामने बिना कारण या निष्प्रयोजन तो हाथ पसारेगा नहीं। उस पर जब कोई आकस्मिक संकट आ जाय, उसे संकट के कारण अपना देश, प्रान्त या जिला छोड़ना पड़े, बेकार और बेरोजगार, निर्धन होकर दर-दर भटकना पड़ जाय उस समय भी वह भिक्षा तो नहीं मांगेगा, परन्तु दान ले सकता है। ऐसी परिस्थिति में उसे दान लेने का अधिकार है। परन्तु साधर्मी भाई के नाते सम्पन्न और उदार सद्गृहस्थ को चाहिए कि उक्त साधर्मी भाई को संकट में देखते ही सहायता (दान) देना चाहिए। संकट और विपत्ति में पड़ा हुआ भी कुलीन व्यक्ति किसी से

कुछ माँगते हुए संकोच करता है। किन्तु उस समय सद्गृहस्थ कुलीन दाता को बिना माँगे ही किसी बहाने से या साधर्मि-वात्सल्य के नाते ही उसे मदद देना आवश्यक है। ऐसे पात्र को—चाहे वह सुपात्र की कोटि में हो या अनुकम्पा पात्र की कोटि में, हाथ से नहीं जाने देना चाहिए। वास्तव में मध्यम या जघन्य सुपात्रों में या अनुकम्पा पात्रों में ऐसे ही विपन्न व्यक्ति तत्काल दान के अधिकारी हैं। उनको दान देने में विलम्ब, टालमटूल या बहानेबाजी नहीं करनी चाहिए। वे यों सीधे दान न लेते हों तो गुप्त दान के रूप में भी उन्हें देना चाहिए।

याचक और पात्र

कई बार पात्र को मांगने वाला याचक और भिखारी समझ लिया जाता है, उसका अपमान भी होता है, कई दाता तो पात्र की कड़ी कसौटी करते हैं, उसे जली-कटी सुनाते हैं। इसीलिए एक कवि ने याचक के लिए कहा था—"सृष्टिकर्ता ने याचक और मशक (मच्छर) की वृत्ति एक सरीखी बना दी है। प्रायः दोनों प्रहार-भागी होते हैं, आहार भागी तो कभी-कभार मौका मिल जाता है तो हो पाते हैं।"[1]

याचक के लिए एक कवि ने व्यंग्य कसा है—"तिनका बहुत हल्का होता है, किन्तु तिनके से भी हल्की रुई होती है, मगर रुई से भी हल्का याचक होता है। प्रश्न होता है—जब याचक इतना हल्का होता है तो हवा उसे उड़ाकर क्यों नहीं ले जाती ? कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि हवा इस डर से उसे उड़ाकर नहीं ले जाती कि मेरे सम्पर्क में आने पर शायद याचक मुझसे ही याचना करने लगे अथवा मुझे ही मांग ले।"[2]

सचमुच याचना करना बड़ा कठिन काम है। याचना करते समय अपने अहंकार को तो एक तरफ रख देना होता है। दाता अगर दो बात कहे भी तो मन मसोस कर उसे सहनी पड़ती है। बौद्ध धर्म के भिक्षुओं का एक सम्मेलन सिगालकोट में हुआ था। तब एक प्रश्न प्रस्तुत किया था—'कौन भिक्षु ऐसा है जो उस विपरीत दृष्टि भिक्षुद्वेषी ब्राह्मण का हृदय-परिवर्तन कर सके ?' यह सुन सब भिक्षु एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। आखिर एक भिक्षु ने इस बात का बीड़ा उठाया। किन्तु वह लगातार एक दो दिन नहीं, दस-दस महीने तक प्रतिदिन उस ब्राह्मण के यहाँ जाता और केवल अपनी उपस्थिति प्रगट कर आता। उसे इन १० महीनों में केवल घृणा और उपेक्षा के सिवाय कुछ नहीं मिला। आखिरी दिन ब्राह्मणी ने मौन तोड़ा—'भिक्षु ! यहाँ तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा। पण्डितजी ने मनाही कर रखी है।' संयोगवश

---

१ याचके मशके तुल्यावृत्तिः सृष्टिकृता कृता।
प्रायः प्रहारभागित्वं क्वचिदाहारभागिता॥

२ तृणं लघु तृणात्तूलं तूलादपि च याचकः।
वायुना किं न नीतोऽसो, मामयं याचयिष्यति॥

उसी दिन रास्ते में उसी ब्राह्मण से भिक्षु की भेंट हो गई। आज ब्राह्मण पूछ ही बैठा। किन्तु भिक्षु के चेहरे पर जैसी पिछले १० महीनों में संतोष और शांति की रेखा थी, वैसी ही आज थी। भिक्षु की याचना-सहिष्णुता देखकर ब्राह्मण का हृदय परिवर्तित हो गया। उसने भिक्षा भी दी और बौद्धधर्म की गृहस्थ दीक्षा भी ली।

और जैन साधुओं के लिए तो याचना और अलाभ ये दो परीषह ही बताए गये हैं, जो दान लेने से सम्बन्धित हैं। वहाँ उसके लिए यह भी बताया गया है कि भिक्षो! याचना करने से तू कतरा मत! याचना करना तो तेरा धर्म है। तुम्हें सभी चीजें याचना से ही प्राप्त होती हैं,[1] याचना किये बिना कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं होती। तब तू याचना से और याचक बनने से कैसे बच सकता है?

उत्तराध्ययन[2] में हरिकेशी मुनि (चाण्डालकुलोत्पन्न) एवं जयघोष मुनि का ब्राह्मणों की यज्ञशाला में जाकर भिक्षा की याचना करने का उल्लेख आता है। परन्तु दोनों को याचना के बदले अपमान, भर्त्सना, घृणा और प्रहार मिलता है! परन्तु दोनों घबराये नहीं। दोनों याचना परीषह में उत्तीर्ण हुए। उसका प्रतिफल भी बहुत ही सुन्दररूप में आया। दोनों दाताओं के हृदय बदल गये। वे चरणों में नतमस्तक हो गए।

इसीलिए जैन और बौद्ध श्रमणों को भिक्षु (भिक्षाजीवी) भी कहा जाता है, और याचक भी। इसलिए याचक और पात्र में अन्तर कर दिया जाता है, मगर वह अन्तर तो उत्कृष्ट-मध्यम-निकृष्ट पात्र, सुपात्र एवं कुपात्र-अपात्र की तरह ही याचकों में है। उत्कृष्ट याचक दाता पर नाराज नहीं होता, न शाप देता है, न ही अपने मन में किसी प्रकार की दीनता लाता है, और न ही वह अपमान या उपेक्षा से तिलमिलाता है, झुंझलाता है। बल्कि धैर्य के साथ वह प्रतीक्षा करता है, न मिलने पर दाता को दोष नहीं देता, न कम देने पर कटुवचन कहता है, बल्कि दाता के द्वारा इन्कार करने पर धैर्य और शान्ति से वापिस लौट आता है, अपने ही लाभान्तराय कर्म का उदय समझता है। प्राप्त न होने पर वह अपने मन को समझा लेता है—आज प्राप्त नहीं हुआ तो क्या हुआ? कल प्राप्त हो जाएगा? मैं उपवास भी तो किया करता हूँ? उपवास ही सही।[3]

किन्तु एक बात की चेतावनी याचकों को कवियों ने जरूर दी है, और वह स्वाभिमानपूर्वक दान लेने वाले जैन-बौद्ध वैदिक तीनों धाराओं के भिक्षाजीवियों के लिए उचित है। वह यह है कि तू जहाँ-तहाँ, जिस किसी के सामने जिस किसी चीज की याचना मत कर। क्योंकि याचना के शब्द मुँह से निकलते ही हृदयस्थ श्री, धी,

---

१ 'सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं।' —उत्तराध्ययन २/२८

२ इसके विस्तृत विवरण के लिए देखो उत्तराध्ययन सूत्र १२वाँ, १५वाँ अध्ययन।

३ अज्जेवाऽहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया। —उत्तराध्ययन २/३१

ह्री, शान्ति, कीर्ति-ये पांच देवता निकल जाते हैं।"[१] जैन भिक्षुओं के लिए भी कई विधिविधान भिक्षा के लिए हैं, उनमें भी एक या दूसरे प्रकार से यह बात आ जाती है। महाकवि भर्तृहरि ने चातक (पपीहे) पर अन्योक्ति के रूप में याचक को चेतावनी दी है—'अरे मित्र चातक ! तू सावधानमनस्क होकर जरा मेरी बात तो सुन ! आकाश में बादल तो बहुत-से हैं, लेकिन सभी एक-सरीखे नहीं हैं। कई मेघ तो पानी बरसाकर पृथ्वी को तरबतर कर देते हैं और कई व्यर्थ ही गर्जना करके रह जाते हैं। इसलिए मित्र चातक ! जिस किसी को देखो, उसके सामने याचना के दीनवचन मत कहो।'[२] सचमुच याचक के लिए यह उत्तम शिक्षा है। उसमें दाता को परखने का गुण तो होना ही चाहिए, साथ ही प्रत्येक के सामने दीनतापूर्वक मांगने की वृत्ति नहीं होनी चाहिए। उसे मुंह से मांगने की जरूरत ही नहीं है, कि मुझे अमुक वस्तु दो। उसकी भिक्षा की झोली और पात्र ही दाता को बता देते हैं, कि यह साधु है, भिक्षा के लिए आया है, इसे आहारादि देना चाहिए। इस पर भी कोई दाता कर्तव्य-विमुख होकर अपमान करे तो उसे बर्दाश्त करना चाहिए। कई तो यहाँ तक कह देते हैं—'यहाँ क्या कुछ रख गया था, जो मांगने आया है ?' उस समय भिक्षु को शान्ति से उत्तर देना चाहिए, किन्तु उत्तर में दीनता के वचन बिलकुल भी नहीं आने चाहिए। यही उत्कृष्ट याचक की विशेषता है। 'जो सहजार्थी होते हैं, वे दाता को प्रसन्न दृष्टि, शुद्ध मन, मधुर वाणी, और विनत मस्तक से समझ लेते हैं कि वैभव के बिना ही सहजार्थी याचकों की यह पूजा है।[३]

किन्तु मध्यम और जघन्य याचक की क्या गति हो ? उन्हें तो भिक्षु की तरह किसी से मांगना नहीं है, परन्तु ऐसे याचकों को बहुत अच्छी सलाह कबीर जी ने दी है—

"मर जाऊँ मांगूं नहीं, अपने तन के काज।
पर कारज के कारणे, मांगत मोहि न लाज।"

मध्यम याचक (पात्र) और जघन्य याचक को अपने लिए तो मुख से मांगना लौकिक व्यवहार की दृष्टि से उचित नहीं है। क्योंकि गोरखनाथ की वाणी में साफ कहा है—

---

१ देहीति वचनं श्रुत्वा हृदिस्थाः पंच देवताः।
मुखान्निर्गत्य गच्छन्ति, श्री-ह्री-धी-शान्तिकीर्तयः॥ —अभिज्ञान शाकुन्तल

२ रे रे चातक सावधानमनसा मित्र ! क्षणं श्रूयताम्।
अम्भोदा बहवश्च सन्ति गगने, सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति धरणीं, गर्जन्ति केचिद् वृथा।
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो, मा ब्रूहि दीनंवचः॥ —नीतिशतक ५१

३ प्रसन्ना दृङ् मनःशुद्धं ललिता वाङ्-नतंशिरः।
सहजार्थिष्विमं पूजा विनाऽपि विभवं सताम्॥

सहज मिला सो दूध-बराबर, मांग लिया सो पानी।
खींच लिया सो रक्त-बराबर, कह गए गोरख वानी॥

इस दृष्टि से अत्यन्त असहाय, पराश्रित, विपन्न या विकलांग अवस्था के सिवाय सद्गृहस्थ व्रती या सम्यक्त्वी श्रावक या लोकसेवक का अपने लिए मांगना उचित नहीं है। अगर कोई दाता सहजभाव से उनकी स्थिति देखकर अपना कर्तव्य समझकर देता है तो लेने में कोई हर्ज भी नहीं है।

यह तो हुई अपने लिए मांगने की बात। समाज सेवा के कार्यों के लिए, सार्वजनिक संस्थाओं के लिए तथा धर्मसंस्थाओं के लिए मांगना पड़ता है,—परमार्थ के लिए मांगने में कोई हानि भी नहीं है। परन्तु उसके लिए भी मांगने का एक तरीका होता है। जो तेजस्वी सार्वजनिक संस्थाएं होती हैं, उनके लिए अगर निःस्पृही व्यक्ति मांगता है—या अपील करता है तो दाताओं की थैलियों का मुंह झटपट खुल जाता है। अगर स्वार्थी, अविश्वासी या बेईमान, मुफ्तखोर आदमी मांगता है तो लोगों का विश्वास उठ जाता है, कई दफा तो सदा के लिए लोग दान देने से हाथ खींच लेते हैं। इसलिए दानवृत्ति पर चलने वाली संस्थाओं के कार्यकर्ता प्रामाणिक होने चाहिए, जो पाई-पाई का हिसाब जनता के सामने प्रस्तुत कर सकें। अन्यथा, वे संस्थाएँ, जिनमें आर्थिक घोटाला होता है, चाहे सार्वजनिक ही क्यों न हों, ठप्प हो जाती हैं। लोग ऐसी संस्थाओं को दान नहीं देते। ऐसी भ्रष्ट संस्थाओं की बदौलत दूसरी अच्छी ईमानदार संस्थाओं के प्रति भी दाताओं का विश्वास उठ जाता है, उनकी श्रद्धा किसी भी संस्था को दान देने की नहीं रहती।

दूसरी बात यह है कि ऐसी संस्थाओं के दान लेने का सही तरीका तो यह है कि संस्थाओं के निःस्वार्थ, निःस्पृह कार्यकर्ता आम सभा में अपनी संस्था का उद्देश्य और कार्य प्रणाली तथा विशेषता लोगों को समझाएं और आवश्यकता की बात प्रगट करें। उसके बाद दाताओं से अपील करें, उन्हें कर्तव्य समझाएं, तब उनमें से जिसकी रुचि, श्रद्धा और भक्ति जगे, जो खुशी से जितना दे, उतना सहर्ष स्वीकार करे, उसकी प्राप्ति की रसीद दे।

ऐसी संस्थाओं के कार्यकर्ता किसी दाता का रवैया ऐसा देखें कि वह संस्था की या कार्यकर्ता की निन्दा करके, झिड़क कर, या अपमानित करके देना चाहता है तो उनसे न ले। तभी सार्वजनिक संस्थाओं की तेजस्विता और पात्रता रह सकती है। यदि सार्वजनिक संस्थाओं के तेजस्वी कार्यकर्ता ही दाता के सामने दीन वचन कहने लगेंगे, झूठी लल्लोचप्पो करने लगेंगे या गिड़गिड़ाने लगेंगे तो वहाँ न तो उस संस्था की दानपात्रता ही रहेगी, और न ही तेजस्विता। ऐसी सार्वजनिक संस्थाओं पर कीर्ति के भूखे, प्रशंसा और प्रसिद्धि के लोलुप कुछ थोड़े-से लोग हावी हो सकते हैं। और धीरे-धीरे वे ऐसी सार्वजनिक संस्थाओं को भी साम्प्रदायिकता, जातीयता, प्रान्तीयता या अन्य किसी संकीर्ण दायरे में बन्द करके मलिन एवं दूषित बना सकते

हैं। ऐसी दशा में सार्वजनिक संस्था की तेजस्विता समाप्त हो जाएगी। इसलिए सार्वजनिक संस्थाओं या धर्मसंस्थाओं को इस दूषण से बचाने के लिए अदीनवृत्ति से दान ग्रहण करना चाहिए।

माना कि ऐसी सार्वजनिक संस्थाएँ और धर्मसंस्थाएँ दान की पात्र हैं, दान लेने की अधिकारी हैं, और निःस्वार्थी, निःस्पृह व्यक्ति उनके लिए अपील भी कर सकता है, परन्तु जहाँ उनकी तेजस्विता खत्म होती हो या स्वाभिमान मरता हो, वहाँ उन्हें उस दाता से दान नहीं लेना चाहिए।

बौद्ध धर्म मे धार्मिक क्षेत्र में जिसे दान देना हो, वह संघ को दान दे, यह मुख्य विधान है। व्यक्ति के बदले वहाँ संघ को मुख्यता दी गई है।

वैशाली के राजा महासमन की पालितपुत्री आम्रपाली यौवन की देहली पर पैर रखते-रखते मगधसम्राट् बिम्बिसार की प्रणयिनी बन गई थी। राजा महासमन की मृत्यु के बाद आम्रपाली के पास सुख-सामग्री, वैभव विलास के साधन होते हुए भी उसे अपना जीवन नीरस लगता था। एक बार वैशाली में तथागत बुद्ध का पदार्पण हुआ। 'संघं सरणं गच्छामि' का नारा सुनते ही आम्रपाली का हृदय आनन्द से नाच उठा। वह महात्मा बुद्ध के चरणों में पहुँची और अश्रु-अभिषेक करती हुई बोली—"भंते ! मेरा उद्धार करें ? मैं अपने आपको आपके चरणों में समर्पित करती हूँ।" तथागत ने कहा—"बोल, सन्नारी ! तेरी क्या इच्छा है ?" उसने स्वस्थ होकर कहा—"भंते ! संघ सहित भिक्षा के लिए कल मुझ गरीबनी के यहाँ आपका पदार्पण हो।" तथागत ने स्वीकार किया और आम्रपाली की श्रद्धा और भक्ति को नया मोड़ दिया। उसे अपने जीवन को पवित्र बनाने की दीक्षा दी।

इससे मालूम होता है कि व्यक्तिगत दान की अपेक्षा धार्मिक क्षेत्र में संघ को दान देने का महत्त्व बौद्ध संघ में अधिक था। जो भी हो, मध्यम और जघन्य सुपात्र जैसे व्रतबद्ध सद्गृहस्थ श्रावक है, वैसे ही जनता या जनसेवकों की नीतिमय या व्रतनिष्ठ सार्वजनिक सेवाभावी संस्थाएँ भी दान लेने की अधिकारी हैं। समाज के उदार और सम्पन्न दाताओं को ऐसी संस्थाओं को दान देना चाहिए। ऐसी संस्थाओं को दान देने का मतलब है—उत्तम नीतिमान नागरिक, चारित्रवान व्रतबद्ध धर्मात्मा सद्गृहस्थ तैयार करना, उनका जीवननिर्माण करने में सहयोग देना, ऐसे व्रतबद्ध लोकसेवकों का पोषण करके उनके सेवा कार्यों को प्रोत्साहन देना।

दानपात्र के चार प्रकार

इससे पूर्व अध्याय में दाता की विशुद्धि दान के सन्दर्भ में आवश्यक बताई है, वैसे ही पात्र की विशुद्धि भी आवश्यक है। इस दृष्टि से कहीं दाता शुद्ध होता है तो दानपात्र इतना शुद्ध नहीं होता, कहीं दानपात्र शुद्धता होता है, तो दाता इतना शुद्ध नहीं होता। कहीं दोनों ही शुद्ध होते हैं और कहीं दोनों ही अशुद्ध। अतः दाता और दानपात्र की उत्कृष्टता-निकृष्टता की दृष्टि से बौद्ध धर्मशास्त्र में चार प्रकार प्रस्तुत

किये हैं—(१) दायक द्वारा दानविशुद्धि, (२) दानपात्र द्वारा दानविशुद्धि, (३) दायक और दानपात्र दोनों द्वारा विशुद्धि और (४) दायक और दानपात्र दोनों द्वारा अशुद्धि।

इन चारों में उत्कृष्ट दान तभी होता है, जब दानी और दानपात्र दोनों विशुद्ध हों।

मुधाजीवी दानपात्र का स्वरूप

उत्कृष्ट सुपात्र निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी को बताया गया है। उन्हें ही मुधाजीवी कहा जा सकता है। प्रश्न होता है कि ऐसे मुधाजीवी सुपात्र की क्या पहिचान है, क्या लक्षण है? जैनशास्त्रों में विस्तृत रूप से भिक्षाविधि बताई गई है, उस भिक्षाविधि के अनुसार वह भिक्षा करता है, शास्त्रोक्त ४२ दोष—जो भिक्षा सम्बन्धी हैं, उन्हें वर्जित करता है, फिर भी ऐसे कुछ सद्गुण या लक्षण रह जाते हैं, जिनका जानना जरूरी है।

आचार्य जिनदास ने मुधाजीवी सुपात्र की अमूर्च्छाभाव को गोवत्स के एक सुन्दर दृष्टान्त द्वारा समझाया है। जो इस प्रकार है—

किसी नगर में एक धनाढ्य सेठ था। उसने एक गाय पाल रखी थी। उस गाय के एक बछड़ा था। सेठ की पुत्रवधू बछड़े की बड़ी सेवा करती, उसे अपने हाथ से चारा डालती, पानी पिलाती और समय-समय पर उसकी संभाल रखती।

एक बार सेठ के यहाँ कोई उत्सव था। बाहर से अनेक मेहमान आए। घर के सभी लोग उत्सव की तैयारी और मेहमानों के स्वागत-सत्कार में जुट गए। उस दिन वे बछड़े का चारापानी भी भूल गए। सेठ की पुत्रवधू भी सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर मेहमानों का स्वागत-सत्कार कर रही थी। इधर भूख-प्यास के मारे बछड़ा बार-बार रंभाने लगा। बछड़े की आवाज सुनकर पुत्रवधू चौंकी। उसे याद आया— ओफ! आज तो बेचारे बछड़े को चारा-पानी भी नहीं दिया। वह झट से दौड़ी। उसके पैरों के नुपूर रुनझुन कर रहे थे। सौन्दर्य निखर रहा था। जैसे ही बछड़े के पास पहुँच कर उसने चारा-पानी डाला, बछड़ा एकदम खाने में प्रवृत्त हो गया। पुत्रवधू की सुन्दरता और साज-सज्जा से उसे कोई मतलब नहीं था। उसकी नजर तो बस अपने भोजन में लगी और वह उसी में मस्त हो गया।

इस दृष्टान्त के द्वारा आचार्य ने बताया कि सुपात्र साधु गृहस्थ के यहाँ आहार के लिए जाता है तो वहाँ विविध प्रकार के रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के आकर्षण रहते हैं, किन्तु सुपात्र साधु को बछड़े की तरह उन रूपादि विषयों से कोई लगाव नहीं होता, वह तो सिर्फ अपने भोजन की ओर ही (शुद्धाशुद्ध आहार की गवेषणा करने में ही) ध्यान देता है। उसे प्राप्त कर वह शीघ्र लौट जाता है।

इसी प्रकार मुधाजीवी का दूसरा लक्षण यह है कि वह गृहस्थ के सामने अपना परिचय देकर या जाति-कुल आदि बताकर अथवा गृहस्थाश्रम के पूर्व सम्बन्ध (रिश्ते-

नाते) बताकर उसमें सरस भोजन लेने की लालसा नहीं होती। वह जो भिक्षा पर निर्भर रहता है, वह तो सिर्फ धर्म के साधनभूत देह के पालन एवं संयमयात्रा के निर्वाह के लिए ही। मुधाजीवी साधक में रसलोलुपता, या स्वादिष्ट भोजन पाने की लालसा नहीं होती और इसीलिए वह गृहस्थों से परिचयादि का संसर्ग न रखकर यथालाभ सन्तुष्ट रहता है। आचार्य जिनदास ने मुधाजीवी की व्याख्या करते हुए बताया है कि 'जो जाति, कुल आदि के सहारे नहीं जीता, उसे ही मुधाजीवी कहा जा सकता है,[1] ऐसा मुधाजीवी निःस्पृहभाव से धर्मोपदेश, धर्मप्रेरणा देता है, अपनी धर्म-साधना करता है और इसी उद्देश्य से भिक्षा लेता है। उसके मन में यह विकल्प पैदा नहीं होता कि मैं अमुक लाभ गृहस्थ को बता दूं या अमुक कार्य सिद्ध करा दूं तो बदले में मेरी सेवा-पूजा अच्छी होगी, सरस स्वादिष्ट भोजन मिलेगा, वस्त्रादि साधन भी प्राप्त होंगे। मतलब यह है कि मुधाजीवी निःस्वार्थभाव से किसी भी प्रकार की कामना से रहित होकर सिर्फ कर्तव्यभाव से जीता है, उसी भाव से वह श्रद्धालु गृहस्थों से आहारादि ग्रहण करता है।

मुधाजीवी के सम्बन्ध में दशवैकालिक सूत्र की टीका में एक सुन्दर दृष्टान्त आया है—

एक राजा था। एक दिन उसके मन में धर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा पैदा हुई कि 'कौन-सा धर्म श्रेष्ठ है ?' उसने अपने मन्त्री से यही प्रश्न किया तो तटस्थ द्रष्टा मन्त्री ने निवेदन किया—'महाराज ! वैसे तो प्रत्येक धर्मगुरु अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ और मोक्ष का साधन बताते हैं, किन्तु हमें इसकी परीक्षा करके देखना चाहिए। धर्म की पहिचान धर्मगुरु पर से होती है। जो धर्मगुरु निःस्पृह, निष्काम एवं दुनियादारी से दूर, एवं अनासक्त होगा, वही उत्तम होगा और उसका बताया हुआ धर्म सच्चा तथा उत्कृष्ट होगा।' मन्त्री की बात राजा के गले उतर गई। उसने धर्मगुरुओं को बुलाने के लिए नगर में घोषणा करवाई—'राजा सभी धर्मगुरुओं से धर्म सुनना चाहता है और उन्हें मोदक-दान देना चाहता है। अतः आज सभी धर्मगुरुओं से राज-सभा में उपस्थित होने की प्रार्थना है।'[१]

राजा की घोषणा सुनकर बहुत-से धर्मगुरु राजसभा में पहुँचे। राजा ने दान के इच्छुक उन धर्मगुरुओं से पूछा—'आप लोग अपना जीवन निर्वाह किस तरह से करते हैं ?'

उपस्थित भिक्षुओं में एक भिक्षु बोला—'मैं अपना जीवन-निर्वाह मुख से करता हूँ।' दूसरे ने कहा—'मैं पैरों से निर्वाह करता हूँ।' तीसरे ने बताया—मैं हाथों से निर्वाह करता हूँ।' और चौथे ने कहा—'मैं लोकानुग्रह से निर्वाह करता हूँ।' सबसे अन्त में एक भिक्षु ने कहा—'मेरा क्या निर्वाह ? मैं तो मुधाजीवी हूँ।'

---

१ 'मुधाजीवी नाम जं जातिकुलादीहिं आजीवण विसेसेहिं परं न जीवति।'

राजा ने कहा—'आप लोगों के उत्तर से मैं पूरा समझ नहीं पाया। अतः स्पष्ट करके समझाइए।'

पहले भिक्षु ने कहा—'मैं कथावाचक हूँ। लोगों को कथा सुनाकर उनसे निर्वाह करता हूँ।' दूसरे ने स्पष्टीकरण किया—'मैं सन्देशवाहक हूँ। यात्रा करता रहता हूँ। लोगों के सन्देश इधर से उधर पहुँचाकर अपना निर्वाह करता हूँ।" तीसरे ने बताया—'मैं लिपिक (लेखक) हूँ। अतः हाथ से ग्रन्थों की प्रतिलिपि करके निर्वाह करता हूँ।' चौथे भिक्षु ने कहा—'मैं लोगों को प्रसन्न करके लोकरंजन करके उनका अनुग्रह प्राप्त करता हूँ। उसी से मेरा गुजारा चल जाता है। सबसे अन्त में मुधाजीवी भिक्षु बोला—'मैं संसार से विरक्त निर्ग्रन्थ भिक्षु हूं। मुझे जीवन निर्वाह की क्या चिन्ता? निःस्वार्थ बुद्धि से लोगों को उपदेश सुनाता हूँ और संयम निर्वाह के लिए थोड़ा-सा आहार शुद्ध रीति से लेता हूँ। मैं भोजन पाने के लिए किसी की स्तुति-प्रशंसा नहीं करता, न अपनी जाति-कुल आदि बताकर लेता हूँ, और न ही किसी प्रकार लोकरंजन करता हूँ। कर्त्तव्य के नाते जो हितकर प्रेरणा या उपदेश होता है, उसे सुनाता हूँ। अतः मैं मुधाजीवी हूँ।'

मुधाजीवी भिक्षु का कथन सुनकर राजा अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने सिर झुकाकर नमस्कार किया और कहा—'वास्तव में सच्चे धर्मगुरु आप ही हैं। मुझे धर्म का बोध दीजिए।' मुनि ने राजा को धर्म का उपदेश दिया। राजा प्रतिबुद्ध होकर उनका शिष्य बन गया।

वस्तुतः मुधाजीवी—निस्वार्थ भाव से लोगों का कल्याण करके भिक्षा प्राप्त करने वाला भिक्षु—ही आदर्श दानपात्र होता है। ऐसे मुधाजीवी भिक्षु की दुर्लभता बताते हुए ही आगम में कहा है—मुधादायी (किसी प्रकार के प्रतिफल की इच्छा के बिना निःस्वार्थभाव से योग्य पात्र को देने वाला) तथा मुधाजीवी निष्कामभाव से दान प्राप्त करके जीने वाला) दोनों संसार में दुर्लभ हैं। ऐसे मुधादायी और मुधा-जीवी दोनों ही सद्गति में जाते हैं।[1]

इस प्रकार के मुधाजीवी सुपात्र भिक्षु सिर्फ अपने शरीर को निभाने के लिए थोड़ा-सा आहार, सादे अल्प वस्त्र एवं कुछ पात्रादि धर्मोपकरण लेते हैं। उन्हें अगर कोई धन या हीरे-पन्ने देने लगे या बहुमूल्य वस्तु देने लगे तो वे उसे कदापि ग्रहण नहीं करते। वह वस्तु उनके लिए अयोग्य, अकल्प्य, अग्राह्य एवं अस्वीकार्य है। जो उसे ले लेता है, उसे मुधाजीवी समझना भूल है।

एक बार एक बादशाह कुछ उलझन में था। अतः उसने मनौती की कि यदि मुझे इस कार्य में सफलता मिली तो मैं इतना धन फकीरों में बाँट दूंगा। संयोगवश

---

१ दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सुग्गइं॥

—दशवै० ५।१।१००

कार्य सफल हो गया। अतः बादशाह ने इस मनौती के पूर्ण होने के उपलक्ष्य में अपने एक विश्वासपात्र नौकर के हाथ में अशर्फियों से भरी एक थैली देते हुए कहा—"इसे फकीरों में बाँट आओ।" नौकर सारे दिन सर्वत्र घूमा, फकीरों की तलाश की, शाम को घूम-फिर कर थैली लिये वापिस आया और बोला—'मुझे तो कहीं ऐसा फकीर नहीं मिला, जिसे मैं अशर्फियाँ दे देता। इसलिए इस थैली को ज्यों की त्यों वापस ले आया हूँ।" बादशाह ने कहा—"इस नगर में सौ से ऊपर फकीरों को तो मैं खुद पहिचानता हूँ। तुम उन्हें देकर क्यों नहीं आए?" नौकर ने जवाब दिया—"जहाँपनाह! जो फकीर हैं वे तो इस धन को छूते भी नहीं और जो धन लेते हैं, उन्हें फकीर समझना अनुचित है।"

यह है—मुधाजीवी की धन के प्रति पूर्ण निःस्पृहता का आदर्श! इसी प्रकार कई बाबा (वानप्रस्थी) जो समाज सेवा के कार्यों के लिए जनता से धन लेते भी हैं तो निःस्पृह भाव से। उस धन से एक भी पाई अपने निजी शारीरिक कार्य के लिए बिलकुल नहीं लेते, न उपभोग करते हैं।

इटावा में यमुनातट पर एक बाबा खटखटानन्द रहते थे। उनका यह नियम था कि वह एक सार्वजनिक पुस्तकालय के लिए एक रुपये से अधिक दान किसी से स्वीकार नहीं करते थे। और उसके साथ यह शर्त भी होती थी कि दाता पहले उनके पैर छुए और तब रुपया दान दे या भेंट करे, तो वे ग्रहण करते थे। सुनते हैं, एक बार ग्वालियर-नरेश बाबा के पास पहुँचे। उन्होंने पाँव छुए और हाथ जोड़ कर दस हजार रुपये देने लगे।" इस पर बाबा खटखटानन्द बोले—"तू तो हमारा पुस्तकालय मोल लेना चाहता है। पर हम उसे बेचते नहीं। एक रुपया चढ़ाना हो तो चढ़ा दे।" और बाबा ने एक रुपये से ज्यादा नहीं लिया।

अब बताइए—दानी बड़ा या दान लेने वाला? दान देने वाला ही कोई बड़ा नहीं होता। देने-लेने वालों में जिसकी मनःस्थिति जितनी ज्यादा उदारता, त्याग और निःस्पृहता को लिए हुए होगी, उतना ही वह बड़ा होगा, फिर चाहे वह किसी भी तरह का दान दे या किसी भी तरह का दान ले!

साधु में मुधाजीवी सुपात्र सद्गृहस्थों के बजाय अधिक मिल सकते हैं। परन्तु सद्गृहस्थों में भी कई ऐसे मुधाजीवी भी मिलते हैं, जो किसी संस्था के लिए दान लेते हैं, तो श्रद्धा और कर्तव्य भाव से देने पर ही निर्लेपभाव से लेते हैं।

वास्तव में मुधाजीवी पात्र ही दाता को मुधादायी बना देते हैं। उनका प्रभाव ही कुछ ऐसा होता है, कि दाता में आदाता की निःस्पृहता की झलक आने लगती है। जैसाकि पिछले पृष्ठ में एक बौद्धकथा दी गई थी कि एक मुधाजीवी भिक्षु ने अन्ततोगत्वा दस महीने के कठोर प्रयत्न के बाद आदाता को भी दाता बना दिया। यह मुधाजीवी की अद्भुत शक्ति का परिचायक है।

दान-दर्शन का निष्कर्ष

प्रस्तुत खण्ड में दान की विशिष्टता एवं तेजस्विता के लिए जिन चार बातों पर जोर दिया गया है, वे इस प्रकार हैं—

(१) दान की विधि की शुद्धि।
(२) दान देने के लिए देय वस्तु की शुद्धता।
(३) दानदाता की विशुद्धि।
(४) दान के योग्य पात्र की विशुद्धि।

इन चारों का संयोग ही दान को चमका देता है। जैनशास्त्रों में जहाँ भी ऐसे सद्दान का वर्णन आता है, वहाँ इन चारों–(कहीं-कहीं तीनों) की शुद्धता अवश्य बताई है और उस विशिष्ट दान का फल भी उच्च स्वर्ग अथवा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति बताया गया है। जो भी वर्णन मिलते हैं, वे सब इसी दृष्टिकोण से उल्लिखित हैं। इससे कोई यह न समझले कि विशिष्ट दान के इन चारों अंगों में से एक या दो अंगों से ही दान विशिष्ट बन जायगा। जैसे खीर के लिए चावल, दूध, चीनी और आग का संयोग आवश्यक है, इनमें से एक भी चीज कम हो तो खीर नहीं बन सकती, वैसे ही विशिष्ट फलदायक परिपक्व दान के लिए विधि, द्रव्य, दाता और पात्र विशेष ये चारों आवश्यक हैं।

वस्तुतः दान को सार्थक करना और उसे विशेष शक्तिशाली (Powerfull) बनाना दाता पर निर्भर है। दाता अगर विवेकवान है तो अपनी देय वस्तु का, विभिन्न प्रकार के पात्रों के अनुसार विभिन्न विधि का, अपना और विभिन्न पात्रों का पूरा विश्लेषण और विवेक करेगा।

अगर व्यक्ति के पास और कोई शक्ति नहीं है, कोई अन्य क्षमता नहीं है तो कोई हर्ज नहीं, अगर पिछले अध्यायों में बताये हुए विवेक और दान विज्ञानपूर्वक एकमात्र दान की साधना-आराधना ही कर ले तो उसका बेड़ा पार हो सकता है, वह क्रमशः मोक्षपद-परमात्मपद तक प्राप्त कर सकता है। इसीलिए इतने विस्तार से दान के सभी पहलुओं पर सांगोपांग विवेचन किया गया है। ☆

- ग्रन्थगत विशिष्ट शब्द सूची
- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

शब्दानुक्रमणिका

स

☆

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अ

अभिधान राजेन्द्रकोष
अत्रि संहिता
अमरकोष
अमितगति श्रावकाचार
अभिज्ञान शाकुन्तलम्
अनगार धर्मामृत

आ

आचारांग सूत्र
आवश्यकनिर्युक्ति
आवश्यकभाष्य
आदिपुराण—आचार्य जिनसेन
आवश्यकचूर्णि
आत्मानुशासन
आचारांगसूत्र टीका

इ

इष्टोपदेश

ई

ईशावस्य उपनिषद

उ

उपदेश तरंगिणी
उत्तराध्ययनसूत्र
उपासकदशांग
उपासकाध्ययन
उपदेशमाला

ऋ

ऋग्वेद

अं

अंगुत्तरनिकाय
अंतकृद्दशांग

क

कार्तिकेयानुप्रेक्षा
क्रियाकोष
कुरल (तमिल भाषा का वेद)
कल्पसूत्रवृत्ति
कठोपनिषद
कथासरित्सागर
कुरान-शरीफ (मुस्लिम धर्मग्रन्थ)

ग

गच्छाचार पइन्ना
गुणभद्र श्रावकाचार

च

चाणक्यनीति
चन्द्रचरित्रम्
चारित्रसार
चारित्रपाहुड

ज

जैन कथाएँ, भाग २२
जैन-सिद्धान्त दीपिका

त

तत्त्वार्थ सूत्र
तैत्तिरीय उपनिषद
तत्त्वार्थ राजवार्तिक
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक
तत्त्वार्थ भाष्य
तत्त्वार्थ सिद्धसेनीयावृत्ति
तत्त्वार्थसार
तत्त्वार्थ श्रुतसागरीयावृत्ति

☆

तत्त्वार्थसूत्रहारिभद्रीया वृत्ति

द

दानषट्त्रिंशिका
दीघनिकाय
दशवैकालिकसूत्र
दान-प्रदीप
दक्षस्मृति
दानशासन
दशवैकालिकसूत्र टीका

ध

धम्मपद अट्ठकथा
धवला, पु० १३,
धर्मरत्न
धर्म सर्वस्वाधिकार

न

निशीथचूर्णि
नीतिवाक्यामृतम्—सोमदेवसूरि
नवतत्वप्रकरण—उमास्वाति
नवतत्वप्रकरण—देवेन्द्रसूरि
नवपदार्थ—आचार्य भिक्षु
नवतत्वप्रकरण (सुमंगला टीका)
नीतिशतक—भर्तृहरि

प

पद्मनंदिपंचविंशतिका
परमात्मप्रकाश टीका
पंचाशक विवरण
पद्मपुराण
पंचतंत्र
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
प्रवचन-सारोद्धार
पाराशर स्मृति
परमात्मप्रकाश
पिंडनिर्युक्ति
प्रसंग रत्नावली
प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
प्रवचनसार
पउमचरियं
पद्मपुराण
पंचाध्यायी

ब

बाइबिल
बोस्तां (ईरान के महाकवि शेखसादी की रचना)

भ

भगवतीसूत्र
भागवत् (श्रीमद्)
भगवद्गीता
भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भगवतीसूत्रवृत्ति

म

महाभारत
महापुराण—आचार्य जिनसेन
मनुस्मृति
मार्कण्डेयपुराण
मिदराश निर्गमन (रब्द) [यहूदी धर्मग्रन्थ]
मूलाचार

य

योगशास्त्र
याज्ञवल्क्य स्मृति
यालकतशिमे ओनी (यहूदी धर्मग्रन्थ)
योगविंशिका—आचार्य हरिभद्र

र

रयणसार
रत्नाकर पच्चीसी
रायप्पसेणिय सुत्तं
रत्नकरंड श्रावकाचार
तत्त्वार्थ राजवार्तिक
रत्नसार

ल

लाटी संहिता

व

विसुद्धिमग्गो
वसुनन्दीश्रावकाचार
विपाकसूत्र
व्यासस्मृति
वरांगचरित्र
विदुरनीति

ष

षट्खंडागम

स

सप्ततिस्थानप्रकरण
सिन्दूरप्रकरण
स्थानांगसूत्र
सुत्तनिपात
सर्वार्थसिद्धि
सूत्रकृतांगसूत्र
सूत्रकृतांगवृत्ति
सुखविपाकसूत्र
सागारधर्मामृत
स्थानांग टीका
संयुत्त निकाय
सूत्रकृतांगसूत्र टीका
सुभाषित रत्न भांडागार

ह

हरिवंशपुराण

त्र

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र

ज्ञ

ज्ञातृ धर्मकथांगसूत्र
ज्ञानसार